हिन्दी नाट्यशास्त्र



चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

(अष्टाविंशत्यध्यायादारभ्य षट्त्रिंशदध्यायान्तश्चतुर्थो भागः)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२९५



श्रीभरतमुनिप्रणीतं सचित्रम्

नाट्यशास्त्रम्

'प्रदीप'-हिन्दीव्याख्या-टिप्पणी-परिशिष्ट-
प्रस्तावनादिभिर्विभूषितम्

(अष्टाविंशत्यध्यायादारभ्य षट्त्रिंशदध्यायान्तश्चतुर्थो भागः)

सम्पादक तथा व्याख्याकार

श्रीबाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

एम० ए०, साहित्याचार्यप्रभृति

[मध्यप्रदेश शासन साहित्य अकादमी सम्मानित]

आचार्य तथा अध्यक्ष, स्नातकोत्तर संस्कृत अध्यापन एवं अनुसन्धान विभाग,

शासकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्याल

आचार्य और अध्यक्ष कालि

उज्जैन (म० प्र०



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०४२, ई० १९८५

मूल्य : रु० १५०-००

फोन : ६५८८९

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पोस्ट बाक्स नं० १०८४

चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन ६५४४४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

215

*****

NĀṬYA ŚĀSTRA

BY

BHARAT MUNI

Critically edited with Pradīpa Hindi Commentary, Various readings, Introduction, Preface, Index and Critical notes

(PART FOURTH)

(Chapters 28 to 36)

By

Prof. BĀBŪ LĀLA ŚUKLA, ŚĀSTRĪ

M. A., Sāhityācārya

Honoured by the Madhya Pradesh Government Sahitya Academy, Professor and Head of Sanskrit Department, Government Girls Postgraduate College and Professor and head of advance Sanskrit Research Kalidas Academy

UJJAIN (M. P.)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Phone : 65889

First Edition : 1985

Price : Rs. 150-00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone : 65444

पुरोवाक्

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र के प्रदीप हिन्दी व्याख्यान आदि से युक्त समालोचनात्मक संस्करण के चतुर्थ तथा अन्तिम भाग को प्रस्तुतक्रम में प्रकाशित करते हुए आज परम प्रसन्नता और सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इसके तृतीय भाग के प्रकाशन के साथ ही प्रथम भाग का भी संवर्द्धित एवं परिशोधित द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हो गया जो इस ग्रन्थ की गुणग्राहिता एवं लोकप्रियता के लिये एक आधारभूत प्रमाण के रूप में प्रगतिक्रम में अवस्थित हो रहा है। इस द्वितीय संस्करण में सप्तम अध्याय की टिप्पणियों में विशेष विचारमय विवरण को रखा गया था जो अभिनव गुप्तपाद के लुप्त सप्तमाध्याय विवरण के कुछ प्राप्त अंशों को आधार मानकर लिखा गया था। तृतीय भाग के साथ ही यह सब हो जाना भगवान् महाकालेश्वर की मनीषा और अनुग्रह के कारण ही हो पाया यही मानना पड़ता है। इसका मुद्रण कार्य निरन्तर तीसरे भाग के पूर्ण करने के बाद चलता रहा तथा इसी कारण बहुत थोड़े समय में पूर्ण होकर सुधीजन के कर-कमलों में आया। इसका भी पूर्व के भागों की तरह स्वागत होकर अधिकाधिक प्रचार होगा ही यह दृढ़ विश्वास बन रहा है। इसके साथ ही अब नाट्यशास्त्र के इस उपक्रम को भी पूर्णता हो रही है तथा एक संकल्प की इस प्रकार पूर्ति भी कि अब एक विस्तीर्ण तथा सभी पक्षों को दिखलाने वाली हिन्दी व्याख्यान की उपलब्धि भी अनुशीलनकर्त्ताओं को हो।

नाट्यशास्त्र के प्रकृत भाग में भी अपने पूर्व के भागों की तरह ही प्रस्तावना में नाट्यशास्त्र के सम्बद्ध अध्याय में चर्चित विषयों की विवेचना रखी गयी है, जिससे इसके व्यापक अध्ययन में बढ़ावा मिलेगा। इसी प्रकार परिशिष्ट एक में पिछले भागों के अनुरूप ही अतिरिक्त व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ भी लगाई गयी हैं, जिनमें अभिनव गुप्त की व्याख्या के विवेच्य भाग का आधार लिया गया है। इसके साथ ही मूल पाठ को यथाशक्य सन्तुलित कर प्रायः सभी प्राकृत ध्रुवाओं की संस्कृत छाया तथा उनका हिन्दी रूपान्तर लगाया गया है। इस कार्य में पर्याप्त सावधानी और श्रम किया गया है, जो सुधी विद्वान् के लिये सन्तोषकारक होगा।

नाट्यशास्त्र की 'प्रदीप' हिन्दीव्याख्या के साथ प्रकाशित इस वाराणसेय संस्करण को सुधी पाठक तथा अनुशीलक मनीषीगण का सदा की तरह सहयोग, स्नेह तथा आशीष मिलता रहा है और इसकी इसी विशेषता के कारण संशोधित संस्करणों के साथ प्रकाशन चालू रहेगा, यों इसके द्वितीय भाग को मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् भोपाल से पुरस्कार भी मिला है तथा आगे भी अनेक प्रादेशिक पुरस्कारों में इसे रखा जाकर प्रोत्साहन मिलेगा परन्तु सबसे अधिक सम्मान इसका भारतीय जनता से आदर मिलना ही है, जो इसके निरन्तर विस्तार का आधार होगा। यह बात देश भर के सुधी एवं अनुशीलक विद्वानों के अतिरिक्त शोधार्थी एवं अभ्यासकों के द्वारा इसी संस्करण को निरन्तर रुचिपूर्वक लेने से तथा अनेक विश्वविद्यालयों, प्रतिष्ठानों तथा संस्थानों ने इसे अपने पाठ्यक्रम में लेकर तथा पुस्तकालयों में खरीद कर मुझे उपकृत किया है। इन संस्थानादि के इस उपयोग से इस संस्करण की लोकग्राहिता ऐसी सफलता को छू जाएगी जिससे नाट्यविद्या का जन-जन में प्रसार हो। एतदर्थ मैं सभी की कृपा और सहयोग की प्रार्थना के साथ अपनी कृतज्ञता भी व्यक्त कर रहा हूँ।

वाराणसी की गौरवमयी प्रकाशन संस्था 'चौखम्भा संस्कृत संस्थान' तथा इसके संचालक श्री भाई मोहनदास जी गुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' के शीघ्र प्रकाशन में अतिशय निष्ठा और त्वरा के साथ योगदान किया जिससे आज यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका। नाट्यशास्त्र के इस हिन्दी व्याख्यान के तत्वान्वेषणपरक स्वरूप को आगे अंग्रेजी भाषा में भी अपनी पूरी योजना से प्रस्तुत किया जाना भी अनेक कोणों से चाहा जा रहा है, तथा प्रकाशक भी इसे वैसे रूप में लाने को कृतसंकल्प बन रहे हैं—यह भी एक शुभवार्ता होगी तथा भविष्य में आकार ग्रहण करेगी। अतः सुधीजन इस उपयोग को अवश्य ही सहयोग और प्रोत्साहन देंगे यही आशा है। मैं इस ग्रन्थ के सभी भागों में रहने वाली त्रुटियों के लिये क्षमा के साथ यही प्रार्थना करता हूँ कि इस ओर भी अनुशीलनकर्त्ता विद्वान् मेरा ध्यान आकृष्ट करें, जिससे अगले संस्करणों में परिमार्जन हो सके। नाट्यशास्त्र के समग्र भाग को तत्परता से मुद्रण कर इसे पूर्णता तक ले जाने के कारण संचालक तथा उनके संपादन विभाग में रत श्री डॉ० तिवारी जी और डॉ० कपिलदेव गिरि विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं तथा अभिनन्दनार्ह भी।

सुधीजनकृपाकांक्षी

आषाणशुक्ल, पौर्णमासी
उज्जयिनी–२०४२

बाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

प्रस्तावना

नाट्य की उपरंजककला-संगीत, गीत तथा वाद्य

नाट्यशास्त्र के अनेक प्रसंगों में गीत वाद्य की चर्चा है, इसका कारण है, उनका नाट्य को महत्त्वपूर्ण योगदान रहना। इसका समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि भरत ने अट्ठाईस से चौतीसवें अध्याय तक के छः अध्यायों में गीत-वाद्य का विस्तार से विवरण दिया है। नाट्यप्रयोग के आदिम भाग या चरणरूप पूर्वरंग का मंगलारंभ भी गीत-वाद्य तथा नृत्य से रखा जाता है, तथा नाट्यप्रयोग के बीच में इन सभी का योग निरन्तर रखना पड़ता है। अंक के आरम्भ तथा समाप्ति के समय पर तो गीतादि रहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि भरत नाट्य में गीत वाद्यों की योजना एक सन्तुलित रूप तथा विधान से करने के पक्ष में हैं जिसे उनने **'अलात-चक्रप्रतिम'** कह कर निदर्शित किया। नाट्यप्रयोग की दृष्टि से गीत-वाद्यों के सन्तुलित प्रयोग की यह एक महत्वपूर्ण बात है तथा नाट्य का एक अपरिहार्य अंग भी गीत वाद्य है यह भी प्रमाणित हो जाता है। वास्तव में जब नाट्यप्रयोग में भाव तथा रस की संचार दशा को साधना हो तो गीत और वाद्य ही रागात्मकता को संदीपन देते हैं तथा नाट्यप्रयोग की रसवत्ता को उभारते हैं। अतः गीत का प्रयोग रसभाव के प्रकाशन हेतु अपना महत्वपूर्ण सहयोग रखते हैं यह भी भरत ने दिखलाया, जो इनके सन्तुलित प्रयोग के सिद्धान्त से होता है। भारतीय नाट्यप्रयोग में ऐसी गीत, वाद्य तथा नृत्य की योजना उसे विलक्षणता तो प्रदान करती ही है यही इसकी अभिज्ञानभूमि भी है। प्रायः सभी नाट्य शैली के प्रयोक्ता और समीक्षक नाट्यप्रयोग में गीत के महत्व तथा उपयोग को स्वीकार करते हैं। अतः गीतादि की योजना के कुशलतापूर्वक प्रस्तुत करने से दर्शक को रागप्राप्ति का प्रत्यक्ष आभास हो जाता है।

नाट्यशास्त्र के प्रकृतभाग का आरम्भक अध्याय अट्ठाईस है जिसे **'आतोद्य-विधानाध्याय'** कहा है तथा यह वाद्य संगीत का विवरण देने वाला अध्याय है। संगीतशास्त्र के स्वर, आतोद्य, वाद्यवृन्द तथा गीत के साथ इनके आगे अध्यायों में ताल, ध्रुवा और अवनद्धवाद्यों की विस्तार से चर्चा रखी गयी है। यहाँ प्रायः आतोद्य शब्द का प्रयोग मुनि ने वाद्य संगीत और गीत का यह प्रयोग वर्तमान में प्रचलित कण्ठसंगीत के लिये रखा है। नाट्यप्रयोग के अन्तर्गत रसभाव आदि की उद्रेकमयीदशा को उन्नत

दशा तक लाने में इन्हीं दो प्रकारों को आधार बनाकर इनके सहयोग से साधा जाता है जिससे वह सफल हो सके तथा नाट्यप्रयोग में सौन्दर्य भी बना रहे। इस प्रकार मुनि ने विस्तार से यह विधान दिखलाया है।

गीतवाद्य के प्रवर्तक भरतपूर्ववर्ती आचार्य—

भरतमुनि के पूर्व से ही वैदिकोत्तर काल में शास्त्रीय कलाओं के विषय में शास्त्रमीमांसा चलती रही है जिसे वैदिकोत्तरसंगीत कहा जाता है। भरतमुनि के पूर्व भी इस गान्धर्वशास्त्र का प्रतिपादन प्रपितामह ब्रह्मा या ब्रह्मभरत और उनके अनुगामी नारद, स्वाति आदि आचार्यों ने किया था जिसका संकेत स्वयं भरत ने किया है। इसकी टीका में आचार्य अभिनव गुप्त[1] ने उन तथ्यों को दिखलाया जहाँ भरत तथा सदाशिव भरत में भिन्नता रही। इसके साथ 'प्रपितामह'को ही गान्धर्व के प्रतिपादक के रूप में भी भरत ने बतलाया ('गान्धर्वमेतद् कथितं मया वः पूर्वं प्रदिष्टं प्रपितामहेन' ना० शा० ३२।५२५ में पाठान्तर में)। इसके अतिरिक्त अपने पूर्वभावी आचार्य नारद का भी भरत ने उल्लेख किया है। नारद ने संगीतशास्त्र के ग्रन्थ भी रचे थे तथा उनके द्वारा प्रतिपादित गान्धर्वशास्त्र का सिद्धान्त भी मान्य था। इसके अतिरिक्त ध्रुवा के स्वरूप आदि के प्रसंग में भी नारद आदि आचार्यों का भरत ने उल्लेख किया है। ध्रुवा के जिन पांच प्रभेदों को भरत ने बतलाया वे एक सांगीतिक गठन के रूप में परम्परा से आने वाले तत्त्व रहे हैं। इनकी रचना नारदादि पूर्व आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित गाथा पाणिका आदि के खण्डों को मिलाकर रची गयी थी जिसका प्रयोजन दर्शकों को विशेष रूप से मुग्ध करना तथा रञ्जन था। क्रमशः हम अब उन पर विचार करेंगे।

नारद—संगीतशास्त्र के भरत से लेकर अनेक उत्तरभावी ग्रन्थों में बहुशः नारद का उल्लेख मिलती है जिनसे इनके अति प्राचीन आचार्य होने की पुष्टि होती है। इनका प्राचीन ग्रन्थ है **नारदीयशिक्षा**। यह ग्रन्थ अति प्राचीनकाल का है जिससे पतञ्जलि ने भी उदाहरण दिये थे तथा कुछ पाठभेद के साथ जिसे पाणिनि ने भी स्वीकारा था। इसका सामगान के स्वरादि से सम्बन्ध भी रहा था जो कि संगीत सिद्धान्त से युक्त था। भरत ने अनेक स्थानों पर बिना नाम के भी नारद की बात कही तथा अनेक स्थानों पर नामोल्लेख भी किया। इनकी शिक्षा में सात स्वरों, तीन ग्रामों, मूर्च्छनाओं तथा ताल का विवरण दिया है जो भारतीय संगीत-शास्त्र से सम्बद्ध हैं तथा जो अपने समय में बड़े ही उन्नत रूप में रहा था। आचार्य अभिनवगुप्त पाद ने भी अपनी

१. द्र० अभि० भार० अध्या० २९।४३

व्याख्या में नारद को भरत का पूर्वभावी आचार्य माना। उनके द्वारा 'अत्यर्थ-मिष्टं देवानाम्' (ना० शा० २८।३) की व्याख्या में यह दिखलाया गया कि यह विवरण नारद के शब्दों में दिया गया है। इससे नारद के वाद्यसंगीत के प्राचीन एवं प्रमुख शास्त्रकार के रूप में मान्यता स्पष्ट है।

स्वाति—संगीतशास्त्र के एक महत्वपूर्ण प्रवर्तक एवं अधिकारी शास्त्रकार के रूप में 'स्वाति' का उल्लेख किया गया है। नाट्यशास्त्र में हस्तप्रहार या आघात से वादन किये जाने वाले अवनद्ध वाद्ययन्त्रों को बनाने की विधि के प्रवर्तक महर्षि स्वाति थे। तालमय ध्वनि के प्रकृतिजन्य रूप को स्वाति ने अपने अनुभव और विज्ञान के द्वारा आतोद्ययन्त्र का रूप दिया तथा दन्दुभि का भी आविष्कार किया गया। स्वाति ने विश्वकर्मा के सहयोग से अनेक अवनद्ध वाद्यों की सृष्टि की थी यह भी नाट्यशास्त्र में विवरण मिलता है। स्वाति का नारद के साथ भी उल्लेख मिलता है परन्तु नारद की तरह 'स्वाति' के किसी ग्रन्थ का उद्धरण अभी तक कहीं मिला नहीं अतः यह सभी ग्रन्थरूप लुप्त हो गया होगा यही प्रतीत होता है। दूसरे इससे यह भी कल्पना होती है कि 'स्वाति' का ग्रंथ संगीत परम्परा में प्रकरण ग्रन्थों में अन्तर्भूत किया जाकर केवल उनके मतों का विवरण ही शेष रह गया हो।

विशाखिल—वाद्यवादन के एक प्रामाणिक आचार्य के रूप में विशाखिल भी भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों में रहे थे। नाट्यशास्त्र के सांगीतिक स्वर, ताल, आश्रावणा, गान्धर्व आदि के प्रसंग में आचार्य अभिनवगुप्त ने विशाखिल का मत भी दिखलाया जो कि नाट्यशास्त्र के व्याख्यान प्रसंग में देखा जा सकता है।[1]

भरतमुनि और उनके समकालीन (नाट्यसंगीत के) आचार्य—भरत मुनि के समकालीन आचार्यों के विषय में यद्यपि नाट्यशास्त्र प्रथम भाग में **'कोहल'** तथा **नन्दिकेश्वर** के विषय में संक्षेप में कहा जा चुका है अतः हम नन्दिकेश्वर तथा कोहल की यहाँ चर्चा न कर **'काश्यप'** से यह क्रम आरम्भ कर रहे हैं।

काश्यप—आचार्य अभिनवगुप्त ने कोहल के समान ही 'काश्यप' को भी भरत के समकालीन मानकर तथा उनके मत को भरतमुनि के स्वमत में मिले हुए मान कर व्याख्या की है। काश्यप संगीतशास्त्र के महत्वपूर्ण आचार्य थे। विभिन्न रसों के प्रसंग में विभिन्न जातियों के प्रयोग के विषय में काश्यप

१. अभि० शा० २९।८४

का मत विशिष्टता रखता है यह बात अभिनवगुप्त की व्याख्या से (अ० २६।१४) प्रकट होती है। अभिनवभारती में काश्यप का एक लम्बा उद्धरण भी दिया गया जिससे इनके किसी ग्रन्थ की रचना का स्पष्ट प्रमाण मिला हैं। इस विवरण से 'काश्यप' संगीत के इतिहास में जाति के आधार आदि को लेकर परिस्थिति के अनुरूप राग के निष्पादक आचार्य के रूप में भी अपना महत्त्व प्राप्त करते हैं।

शाण्डिल्य तथा वात्स्य—नाट्यशास्त्र में शाण्डिल्य के साथ वात्स्य का नाट्यशास्त्र के आचार्य के रूप में उल्लेख मिलता है। इनका भरत पुत्रों में समावेश एक बाद की घटना प्रतीत होती है पर इस 'कल्पना' को भी निश्चय पूर्वक दिखलाना कठिन ही होगा। शाण्डिल्य के उद्धरण भी किन्ही प्राचीन संगीतनाट्यग्रंथों में नहीं मिलते परन्तु वाल्मीकीय रामायण की तिलक व्याख्या के रचयिता नामेश ने मूर्च्छना तथा जाति के विषय में शाडिल्य का मत दिखलाया है परन्तु वात्स्य का ऐसा मत कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

शार्दूल—ये भी भरत के समकालीन आचार्य थे। 'संगीतमेरु' ग्रन्थ में शार्दूल कोहल संवाद है जिसमें नृत्य की चर्चा है। ऐसा माना जाता है कि 'शार्दूल' ग्रामरागों के विषय में अधिकारी समझे जाते थे जो कदाचित् भरत के समसामयिक रहे थे तथा कोहल के भी।

दत्तिल (या दन्तिल)—संगीत शास्त्र के प्राचीन एवं अत्यन्त प्रामाणिक आचार्य दत्तिल रहे हैं जिसका समर्थन भी इनके अभिनवभारती में बहुशः उद्धृत होने से होता है।[1] नाट्यशास्त्र में इन्हें भरत पुत्र कह कर कोहल के बाद इन्हीं का नाम रखा गया। स्पष्ट ही इस प्रकार ये भरत के समकालिक हो जाते हैं। सरस्वती महल तंजौर में विद्यमान एक ग्रंथ 'दत्तिल-कोहलीयम्' सुरक्षित है जो नृत्य का ग्रन्थ है तथा जिसे कोहल और दत्तिल ने सम्मिलित रूप से लिखा था। अतः इससे भी दत्तिल का अतिशय प्रामाणिक और अग्रगण्य शास्त्रकार में निर्देश सिद्ध हो जाता है। 'दत्तिलम्' नामक वर्तमान काल में उपलब्ध ग्रन्थ अपनी रचनाशैली आदि से दत्तिल का प्राचीन ग्रंथ नहीं है ऐसा समीक्षकगण का विचार है। इसका कारण उनके नाट्यशास्त्रीय ज्ञान के जो विवरण उद्धृत हैं उनका इस ग्रंथ से विशेष मेल नहीं दिखता। मतंग ने दत्तिल के जो उद्धरण दिये तथा क्षीरस्वामी ने अपनी

---

१. द्र० अभि० भार० में गान्धर्व, ताल, हस्तांगुलिनिर्देश के प्रसंग जहाँ 'दत्तिल' का मत उद्धृत किया गया है। (ना० शा० २८ तथा २३।३० आदि की व्याख्या)

अमर टीका में जो दत्तिल के उद्धरण दिये नाट्यशास्त्र पर विस्तृत ग्रंथ की सूचना देते हैं।

भरत के उत्तरकालीन नाट्य एवं संगीत के शास्त्रकार—भरत के पश्चात् नाट्य और संगीतशास्त्रकार अनेक आचार्यों ने ग्रन्थ-रचना की थी। इस क्रम में हम दो प्रकार के आचार्य देखते हैं। इनमें कुछ ने नाट्य पर और प्रसंगतः संगीत पर लिखा और कुछ स्वतन्त्र रूप से संगीत पर ही रचना करते रहे। अब क्रमशः हम उनका विवरण देते हैं।

मतङ्ग—ये भरत के बाद होने वाले प्राचीन शास्त्रकार हैं जिनने भरत का मुनि के रूप में उल्लेख कर उनका मत दिखलाया है। उनका मत दिखलाते हुए मतंग ने बतलाया कि दो ग्रामों में षड्जग्राम प्रधान है जिसे भरत ने कहा था। मतंग ने अपने ग्रन्थ में देशी रागों को व्यवस्थित किया और 'बृहद्देशी' ग्रन्थ की रचना की। भरत ने देशी रागों का कोई विवरण नहीं दिया अतः मतंग ही इस तत्त्व को व्यवस्थित एवं विस्तार से देने वाले प्रमुख शास्त्रकार हैं।

विश्वावसु तुम्बुरू—'श्रुति' के विषय में मतङ्ग ने विश्वावसु का मत उद्धृत किया परन्तु यह गन्धर्वों का अधिपति तथा महाभारत में चर्चित गन्धर्व है जो एक उत्तम वीणावादक भी था यह निश्चय करना कठिन है। इसी प्रकार मतंग ने 'बृहद्देशी' में तुम्बुरु का भी मत दिखलाया परन्तु उद्धृत खण्ड के अस्पष्ट भाग के कारण इसे प्राचीन लेखकों की प्रवृत्ति ही समझना चाहिए। मतंग के इस उद्धृत अंश को ही संगीतरत्नाकर की टीका में कल्लिनाथ ने भी उद्धृत किया है।[1] तुम्बुरु ने किसी नाट्य या संगीतनृत्य की भी उद्भावना की थी जो उत्तरवर्ती संगीतग्रन्थों में उल्लिखित 'तुम्बुरुनाटक' पद से प्रतीत होता है।

कम्बल तथा अश्वतर—ये भरत के पुत्र तथा उनके उत्तरकालीन शास्त्रकार थे। इनके द्वारा भरतप्रोक्त पंचमी, मध्यमा तथा षड्ज मध्यमा जाति के विवरण का अधिक परिष्कार किया गया था। तदनुसार भरत के द्वारा प्रतिपादित तीन जातियों में तत्प्रयुक्त स्वर साधारण का प्रयोग अभीष्ट था परन्तु इनके मत में इनका प्रयोग राग भाषा आदि में भी किया जा सकता है।

आञ्जनेय—ये भी भरत के समकालीन शास्त्रकार थे जिनने देशी राग का स्वरूप निर्दशित किया था। इसके अतिरिक्त अभिनवभारती में आचार्य

१. सं० रत्ना—१-३।१३-१६।

अभिनवगुप्त ने संगीत के जिन प्रामाणिक शास्त्रकारों को दिखलाया उनमें भट्ट मातृगुप्त, लाटमुनि, दुर्मशक्ति आदि आते हैं। मध्यकालीन आकर ग्रन्थ संगीतरत्नाकर के लेखक शार्ङ्गदेव ने जिन प्राचीन शास्त्रकारों का उल्लेख किया उनमें उमापति, पार्श्वदेव तथा विश्वावसु हैं। इनके मत तथा रचनाओं का प्राचीन काल में अवश्य ही अस्तित्व तथा अनुशीलन होता रहा था जो स्पष्ट ही ऐसे विवरणों से प्रकट होता है।

मध्यकालीन सङ्गीतशास्त्रीय आचार्य—मध्यकालीन परवर्ती शास्त्रकारों के ग्रन्थों में **'सङ्गीतसमयसार'** है जिसके रचयिता कोई नारद हैं या यह नारदमत का प्रतिपादक ग्रन्थ है। शार्ङ्गदेव ने इसका उल्लेख किया है जिससे इसकी पूर्व भाविता निस्सन्दिग्ध है। इसमें रागों के विषय में विचार किया गया है पर यह नारदीय शिक्षा से मेल नहीं खाता। लोचन कविकृत 'रागतरंगिणी' भी संगीत का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसका लेखक बल्लालसेन की सभा का पण्डित था जिनका समय एकादशवीं शती का आरंभ है। इसमें भी इस शासक का राज्य ११७० ई० में रहा था। यह जयदेव के स्थितिकाल से एक सदी पूर्व में है। जयदेव प्रसिद्ध **'गीतगोविन्द'** के रचयिता थे। इनकी अन्य रचना है **'रामगीत संग्रह'** जिसमें बारह आधारभूत रागों का विवरण है। पार्श्वदेव कृत **'सङ्गीत-समयसार'** भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पार्श्वदेव जैन लेखक थे तथा ये कदाचित् शार्ङ्गदेव के कुछ ही पूर्व में हुये थे या फिर उनके समीपवर्ती काल में अवस्थित थे। इनका रागों का विवरण शार्ङ्गदेव की तुलना में कम विवेचन वाला है। जयदेव की प्रसिद्ध रचना है **'गीतगोविन्द'** ये बङ्गाल के शासक लक्ष्मणसेन की सभा के रत्नों में अन्यतम थे। भारतीय सङ्गीत के क्षेत्र में इनकी यह रचना अतिशय महत्त्व की है। यह ग्रन्थ अपने गीतों के शास्त्रीय राग तथा तालों के अतिरिक्त इन पदों के साथ चलने वाले नृत्यों के कारण भी महत्त्वशाली हो गया है। काव्य सौन्दर्य को काव्य सङ्गीत से संश्लिष्ट करना इनकी अपूर्व प्रतिभा से ही पाया है। निपुण गायकों तथा नृत्याचार्यों के द्वारा यह रचना निरन्तर प्रयुक्त की जा रही है, यही इसकी शाश्वत लोकप्रियता का भी परिचय देता है।

शार्ङ्गदेव—इनका काश्मीर के सन्त वार्षगण के वंश में जन्म हुआ था। इनके पूर्वज काश्मीर से दक्षिण चले गये थे जिनका नाम भास्कर था तथा जिनका सोढल नामक एक पुत्र हुआ। देवगिरि के शासक पल्लववंशीय सिंहलदेव (स्थितिकाल १२१० से १२४७ ई०) सोढल पण्डित की ख्याति

से आकृष्ट हुए तथा उनने इन्हें अपनी सभा का पण्डित बनाया। इन्हीं सोढल के पुत्र शार्ङ्गदेव थे जो बड़े विद्वान् तथा उदार थे। इनने अपनी विद्या से अनेक शिष्यों को उपकृत किया और निर्धन विप्रों को उदारता से दान किया तथा अनेक आतुरों को अपनी बहुमूल्य चिकित्सा तथा औषधियों से जीवन प्रदान किया। इस प्रकार ये श्री और सरस्वती के अप्रतिम कृपाभाजन पण्डित थे जिनका स्थितिकाल चौदहवीं शताब्दी था। इनकी मध्यकालीन सङ्गीतशास्त्र को महत्वपूर्ण देन के रूप में इनकी बेजोड़ रचना 'संगीतरत्नाकर' रही जिसकी चर्चा आवश्यक है।

'सङ्गीतरत्नाकर'—यह ग्रंथ भरत के नाट्यशास्त्र की परम्परा में उसी के समान दूसरा विश्वकोष के समान बृहदाकारी ग्रंथ है जो संगीतकला के पूर्वकालीन प्रामाणिक शास्त्रकारों के रचित ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन के आधार पर रचित है। इसमें संगीतकला के तीनों अंगों अर्थात् वागिन्द्रिय जनित गान या कण्ठ संगीत, वाद्ययन्त्रजनित गान या वाद्य संगीत तथा नृत्य की विशद विवेचना है। भरत की मान्यता और विवरणों को आधार बनाकर तथा उसे आगे बढ़ाते हुए शार्ङ्गदेव ने रागों के अनुरूप रसों की मीमांसा की तथा संगीत के सामान्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ उन्हें प्रस्तुत किया। इनने भरतमुनि से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक प्रचलित संगीतकला को सम्बद्ध कर एक सेतु का निर्माण किया। इस ग्रन्थ को विशेष महत्त्व इस कारण भी जाता है कि नाट्यशास्त्र के समालोचनात्मक अध्ययन के लिये यही ग्रन्थ गम्भीर अध्ययन का लक्ष्य बनता है तथा संगीतशास्त्र की सभी अपेक्षाओं की पूर्ति भी करता हे। इस ग्रन्थ में श्रुति, स्वर, ग्राम, राग, मूर्च्छना, तान, वर्ण, अलंकार, जाति एवं वादी, विवादी, अनुवादी, संवादी, स्वरों का बड़ी स्पष्टता के साथ विवेचन किया गया है तथा अपने पूर्व के आचार्यों के मतों का भी बड़ी कुशलता से समायोजन तथा संकेत किया गया है। इसमें भरत के उत्तरकालीन विकसित रागों का स्वरूप बहुत ही स्पष्ट और विस्तीर्ण रूप में रखा गया है। इस प्रकार भरतमुनि तथा मतङ्ग के ग्रन्थों से अधिक विस्तीर्ण संगीत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन संगीतरत्नाकर में प्राप्त होता है। यह ग्रंथ अत्यन्त आदरणीय इसलिये भी है कि संगीत कला के जिन रूपों तथा कृतियों की सत्ता उनके समय में रही थी उन सब की व्याख्या इस बृहदाकार ग्रन्थ में ही उपलब्ध होती है। अतः एक उपयोगी एवं पथप्रदर्शक के रूप में भी यही ग्रन्थ आता है। शार्ङ्गदेव संगीतशास्त्र के अतिरिक्त चिकित्साविज्ञान के भी पण्डित थे तथा इनके द्वारा

शरीरविज्ञान पर अध्यात्मविवेक नामक एक ग्रन्थ लिखा गया है जिसका उल्लेख स्वयं ही संगीतरत्नाकर में इनने किया है।

सङ्गीतरत्नाकर के व्याख्याकार—

नाट्यशास्त्र की परम्परा और प्रकृति के अनुरूप संगीतशास्त्र के विस्तीर्ण और समकक्ष ग्रन्थ के रूप में 'संगीतरत्नाकर' के होने से इस पर भी नाट्यशास्त्र की भांति अनेक व्याख्याएँ रची गयी थीं। इनमें चार व्याख्याओं का परिज्ञान प्राप्त है। इनमें (१) सिंहभूपाल कृत सुधाकर व्याख्या, (२) कल्लिनाथ चतुर कृत कलानिधि व्याख्या (३) केशव प्रणीत कौस्तुभव्याख्या जिसकी समीक्षा तथा उल्लेख सुधाकर व्याख्या में है तथा (४) पण्डित गंगाराम चतुर्वेदी कृत सेतुव्याख्या जो बृजभाषा हिन्दी में रचित है। अब प्रसंगानुसार इनका विचार करते हैं।

सिंहभूपाल प्रणीत सुधाकर व्याख्या—चौदहवीं शती ई० में विद्यमान श्रीसिंहभूपाल अनपोत नायक के पुत्र थे। ये सर्वतोमुखी प्रतिभा के विद्वान् थे जिनने रसार्णवसुधाकर जैसे नाट्यशास्त्रीय आकर ग्रंथ की रचना की तथा कुवलयावली नाटिका और कन्दर्पसंभव जैसे रूपक की भी रचना की थी। संगीतरत्नाकर की इस व्याख्या में परम्परा प्राप्त संगीतशास्त्र की गहन रुचि के साथ स्पष्ट व्याख्या कर इसे एक व्यापक राजमार्ग का दर्जा दिया जो इसके पूर्व बड़ा ही संकीर्ण और दुर्बोध था। इस टीका के कारण अगले टीकाकारों के मार्ग भी प्रशस्त हुए। इस टीकाकार ने शार्ङ्गदेव के द्वारा बतलाई प्राचीन आधारभूत सामग्री का सामग्रयेण परिशीलन किया था जो एक महत्त्वपूर्ण कार्य था।

चतुर कल्लिनाथ तथा उनकी कलानिधि टीका—कलानिधि पण्डित कर्नाट स्थित विद्यानगरी के यादववंशीय शासक इम्मडिदेव (समय १५ वीं शती का मध्य) के सभा पण्डित थे। संगीत के प्रति अनुराग रहने से इनके द्वारा संगीतकारों की एक सभा का गठन किया गया जिसमें कल्लिनाथ भी एक प्रतिष्ठित विद्वान् थे। अपनी इसी श्रेष्ठता के कारण इन्हें अभिनवभरत की उपाधि से तथा चतुर पण्डित के रूप में सम्मानित किया गया था। इनके गुरु का नाम चन्द्रभूषण पण्डित था। कल्लिनाथ के पिता का नाम लक्ष्मीधर तथा माता का नाम नारायणी था तथा पितामह का नाम तुत्तालेश्वर देव था। कल्लिनाथ सङ्गीतशास्त्र के जहाँ एक ओर पण्डित थे वहीं संगीतकला के निपुण प्रयोक्ता कलाविद् भी थे। सिंहभूपाल की टीका से इनकी कलानिधि व्याख्या इसी कारण विशिष्ट भी है, जहाँ इनने जातियों में वर्तमान विशेष स्वर-

संगठनों का भी विवरण दिया है तथा पूर्व व्याख्यानों की समीक्षा कर अपनी उत्तमता को संवलित एवं प्रमाणित किया था।

गंगाराम कृत सेतु—पण्डित गंगाराम मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण के वंश में उत्पन्न थे। इनने अपने आश्रयदाता तथा महान् शास्त्र तथा कलाओं के विज्ञाता राजा श्री विश्वनाथ सिंह देव (रीवाँ–म० प्र० के शासक, स्थितिकाल १८३४-१८५४ ई०) थे जिन्हें मूर्तिमान् राग कहकर उनकी कलादक्षता का तत्कालीन आचार्यों ने उल्लेख किया था। श्री चतुर्वेदी ने समकालीन संगीतकला के निष्णात एवं प्रयोक्ताओं के अभिप्रायों को पूर्णरूप से समझ कर इस सेतुटीका को ब्रजभाषा हिन्दी में सर्वप्रथम गद्य में लिखा था। इस टीका को सेतु कहने का कारण भी स्पष्टतः संगीतसागर के अगम्य पार को पहुँचाने के साधन के रूप में इसकी सहायता का कार्य रहना, जिससे संगीतकला के स्पष्ट ज्ञान की पूर्ति हो सके। पण्डित गंगाराम की व्याख्या बड़ी विशद तथा पूर्व व्याख्याओं का अनुशीलन प्रकट करती है। इस व्याख्या के अप्रकाशित रहने के कारण समुचित अनुशीलन नहीं हो पाया। इस व्याख्या की हस्तलिखित प्रतियाँ रीवाँ के महाराजा के व्यक्तिगत पुस्तकभण्डार में तथा सरस्वती महल ग्रन्थालय तंजोर में विद्यमान हैं तथा वे बड़ी उत्सुकता से योग्य सम्पादक की प्रतीक्षा कर रही है। यह समग्र ग्रन्थ स्वच्छ देव नागरी में लिखा हुआ है।

गीत-(स्वरूप तथा प्रकारादि विचार)—पराशक्ति ब्रह्म का प्रतीक नाद गीत का स्वर होता है। इस नाद के भेद रूप में श्रुति होती है। श्रवण होने के कारण तथाः श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण ध्वनि ही जो कि प्राण वायु के अभिघात से अभिव्यक्ति होती है। दर्पण में जैसे मुख विवर्तित हो ऐसे ही श्रुतियों में स्वर विवर्तित होकर प्रतिफलित होता है। दीप से पूर्व सिद्ध घट की अभिव्यक्ति की तरह ही श्रुतियों से स्वर की भी अभिव्यक्ति हो जाती है। इसीलिये श्रुतियों से उत्पन्न अनुरणनात्मक[1] स्वर कहलाता है जो श्रोता के मन का अनुरंजक होता है। विभिन्न श्रुतियों से उत्पन्न 'स्वर' बाईस श्रुतियों में विभाजित होकर अपना स्वरूप बतलाते हैं। अब क्रमशः हम उन पर विचार करते हैं।

स्वर—पूर्व कथित नाद के श्रवण से स्वर की उत्पत्ति मानी गयी है। जीवात्मा जब बोलने की इच्छा करता है तो उसे सर्वप्रथम मन की प्रेरणा

---

१. द्र० श्रुत्यनन्तरभावी यः शुद्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयते श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते ॥'.

मिलती है, मन शरीर में अवस्थित अग्नि को प्रेरित करता है, अग्नि पवन को तथा पवन नाभि स्थान से उद्भूत होते हुये क्रमशः हृदय, कण्ठ तथा शीर्ष स्थान में गति उत्पन्न करते हुए अन्त में मुख के मार्ग से निस्सृत हो ध्वनि उत्पन्न करता है। नाभि स्थान से उत्पन्न इस ध्वनि को हीं सूक्ष्मरूप में 'नाद' कहते हैं। शास्त्र में नाद के त्रिविध प्रभेद माने हैं—(१) मन्द्र, (२) मध्य तथा (३) तार। हृदय से उद्भूत को **'मन्द्र'**, कण्ठ से उद्भूत को **'मध्य'** तथा शीर्ष से उद्भूत नाद को **'तार'** कहा जाता है। इस नाद के अन्य भेदों की भी शास्त्रकार ने योजना की हैं जिन्हें 'श्रुति' कहेगें।

श्रुति—श्रवण के योग्य होकर नाद के जो विभाजन से बाइस भेद बनते हैं ये 'श्रुति' कहलाते हैं।[1] वह प्रथम श्रवण के रूप में होता है। प्राचीन आचार्यों ने श्रुति नामक श्रवणगम्य २२ स्वरान्तर माने हैं। श्रुतियाँ कण्ठ में उत्तरोत्तर तीव्रतर तथा वीणा में अधराधर या उच्चोच्चतर रहती हैं। ध्वनि के ये बाइस भेद क्यों हुये इस जिज्ञासा के उत्तर में कुछ आचार्यों के मत में हृदय के ऊर्ध्वभाग में ईडा तथा पिंगला नामक दो नाडियाँ है। इनसे दूसरी बाईस नाडियाँ उत्तरोत्तर संलग्न हुई होती हैं। इन नाडियों से जब नाभिस्थ पवन टकराता है तो इन नाडियों के मध्य में से मन्द्र, मध्य तथा तार स्वरों की उत्पत्ति होती है। मन्द्र स्थान हृदय होता है, जिसमें विद्यमान नाडी अतिशय धीमी होती है और अगली नाडी से उत्पन्न होने वाली श्रुति उत्तरोत्तर सहज ही ऊँची होती जाती हैं। और कण्ठ जो मध्य नाद का और शीर्ष जो तार नाद का स्थान होता है। इन तीन स्थानों से बाईस श्रुतियाँ अभिनिष्पन्न होती हैं।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार—श्रुतियाँ उच्चनीच होते हुये भी स्वराश्रित होती हैं। इसी कारण जब 'ऋषभस्त्रिश्रुति' कहा जाता है तो इसका आशय यह नहीं है कि तृतीय श्रुति या श्रुति पर ऋषभ है। क्योंकि श्रुतिरूप अवयवों से स्वर उत्पन्न नहीं होता और न ही यह श्रुतियों का संचय है। अतः तीनों श्रुतियों को 'ऋषभ' समझना चाहिये। इसकी अन्य व्याख्या भी है कि तन्त्री पर आघात करने पर आद्यक्षण में सुनाई देनेवाली ध्वनि 'श्रुति' होती है तथा उसके पश्चात् सुनाई देनेवाली अनुरणनात्मक ध्वनि 'स्वर' है। जिसे 'श्रुत्यनन्तरभावी' कहा भी है।[2]

भरत ने कण्ठ तथा वीणा पर उत्पन्न की जानेवाली वस्तु तथा क्रियाएँ दिखलाई है, जिनमें वीणागत वस्तु में श्रुति की गणना की है। आचार्य अभिनव-

---

१. तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणाच्छ्रुतयो मताः— सं० र०।
२. एवं कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतिर्द्वाविंशतिर्मताः। सं० र० १।३।

गुप्त ने इसे स्पष्ट करते हुए दिखलाया कि स्वर सारणा में तन्त्रियों को चढ़ाने-उतारने की क्रिया श्रुतियों के आधार पर रखी जाती है। अतः श्रुतियों का उपयोग वीणा में होता है। अतः वीणा पर श्रुतियों का प्रत्यक्षीकरण संभव है। भरत ने इसकी विधि भी बतलाई-तदनुसार चल वीणा पर मध्यम-ग्रामिक पञ्चम के आधार पर स्वरों के एक-एक बार एक-एक श्रुति उतार कर तथा ध्रुव वीणा के स्वरों के नाप उन उतारे हुए स्वरों की तुलना कर श्रुति के माप तथा श्रुति संख्या का निदर्शन प्रत्यक्षतः स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार श्रुति का माप संभव होता है। इन श्रुतियों की माप से एक प्रमाणवाली होना अभिनव गुप्त ने भी व्याख्या कर दिखलाया है।[1] अतः यह स्पष्ट ही है कि जैसे शरीर में ऊपर की ओर उच्च श्रुतियाँ होती हैं, वैसे ही वीणा में अधरोत्तर में उच्च श्रुतियाँ उत्पन्न होती हैं। अतः उस स्थान में ताडन से उत्पन्न होने वाला जो शब्द है वही 'श्रुति' है। इन श्रुतियों से स्वरों का उद्भव होता है।

स्वर—उपर्युक्त बाईस श्रुतियों से सात स्वरों की उत्पत्ति होती है जिसे 'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः सप्त' से दिखलाया है। इन स्वरों के नाम है—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद। इन नामों की व्युत्पत्ति भी होती है जैसे षड्ज के विषय में निम्न कथन—

'षण्णां स्वराणां जनकः षड्भिर्वा जन्यते स्वरैः।
षड्भ्या वा जायतेऽङ्गेभ्यो षड्ज इत्यभिधीयते॥'

यह छः स्वरों से प्रकाशित करता है। अंगभूत छः स्वरों से प्रकाशित होता है अथवा छः स्थानों या अंगों (नासिका, कण्ठ, उदर, तालु, जिह्वा तथा दन्त इन) से उत्पन्न होने के कारण यह **'षड्ज'** कहलाता है। इसी प्रकार अन्य स्वरों की व्युत्पत्ति भी सहेतुकी है। इन स्वरों की सामान्य व्यवहार में बोलने के लिये संकेत संज्ञा अक्षर में रखी गयी है। षड्ज की स, ऋषभ की 'रे' गान्धार—'ग' मध्यम—'म' पञ्चम—'प' धैवत–ध, निषाद—नि। स्वर का लक्षण भी आचार्यों ने इस प्रकार बतलाया कि यह श्रुति के अनन्तर उत्पन्न होने वाला, स्निग्ध या रूखेपन से रहित, अनुरणनात्मक तथा किसी की सहायता के बिना ही जो श्रोत्ररंजन ध्वनि हो वह 'स्वर' है।[2]

---

२. द्र० अभि० भा० ४—पृ० १२, १७, २१।

१. द्रष्टव्य—श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः। स्वतो रञ्जयते श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते। सं० रत्ना०।

इन स्वरों के स्वरूपज्ञान तथा ध्वनिसाम्य को भी आचार्यों ने मयूर आदि प्राणियों का उच्चारण का उदाहरण रखा है क्योंकि ये प्राणिजन इन स्वरों का उपयुक्त रूप दर्शाते हैं। यथा—मयूर-षड्ज, चातक-ऋषभ, अज-गान्धार, क्रौञ्च-मध्यम, कोकिल-पञ्चम, मण्डूक-धैवत तथा हाथी-निषाद।[1]

इन स्वरों के श्रुतिभेद से निर्मित चार प्रभेद हो जाते हैं यथा—वादी, विवादी, संवादी तथा अनुवादी स्वर। क्रमशः इन्हें बतलाते हैं—

वादी—रागाभिव्यंजना के लिये सभी स्वरों में प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण रहने के कारण यह 'वादी' कहलाता है। यह राजा की तरह मुख्य माना जाता है। इसकी व्युत्पत्ति है—'वदनाद् वादी स्वामिवत्' के अनुसार यह जाति रागों में प्रमुख होता है तथा अंश परिलक्षित या अंशवत् प्रधानता लिये हुए रहता है। एक ही जाति के अनेक अंश होते हैं तथा उनमें से प्रत्येक अंश क्रमशः वादी बन सकता है जैसे षाड्जी जाति में सा० ग० म० तथा ध० अंश हैं जिन्हें पर्यायशः या एक के बाद दूसरे को वादी और ग्रह बनाया जाता है। पर जो अंशों में से वादी नहीं बनता था उसे पर्यायांश माना जाता था। यह अधिक बार या रागों की अभिव्यक्ति के लिये आवृत्त किया जाता है और गीत के आदि और अन्त में प्रयुक्त होता है। ग्रह तथा न्यास स्वर का अन्तर्भाव वादी में करने को (भी) मान्यता है पर यह विनियोग शुद्ध जातियों में ही परिलक्षित होता है। इसी बात का आज भी सभी अनुसरण कर रहे हैं तथा हिन्दुस्तानी संगीत में इसी मत को माना गया।

संवादी—संवादी स्वर प्रधान का सहायक स्वर होता है तथा इसका स्थान मन्त्री जैसा होता है तथा इसकी सहायता से गीत का सृजन होता है। यह केवल वादी स्वर की अपेक्षा गौण होता है परन्तु अन्य स्वर इसी का अनुगमन करते हैं और उनकी अपेक्षा यह प्रमुखता रखता है। दो स्वरों के बीच परस्पर श्रुति को छोड़कर नौ या तेरह श्रुतियों के अन्तर से हों तो ये दोनों स्वर षड्जग्राम में 'संवादी' कहलाएँगे। जैसे—षड्ज तथा पंचम, ऋषभ तथा धैवत, गान्धार तथा निषाद, षड्ज और मध्यम ये परस्पर संवादी हैं। शार्ङ्गदेव के मत में इनके अन्तर की भिन्नता है तथा इनके मत

---

१. मयूर चातक छाग क्रौञ्च कोकिल दर्दुरः। गजश्च सप्त षड्जादीन् स्वरानुच्चारयन्त्यमी।' सं० र०।

में बारह और आठ श्रुतियों के अन्तर पर 'संवादी' है ।[1] इनके मत से संवादी स्वर वह जो वादी स्वर में राग का निर्वाह करने वाला हो, जो कि उत्पन्न हो । इसी से इसका नामकरण भी सार्थकता रखता है । यह सहायक होकर वादी के साथ मिलकर रहता है ।

विवादी—रागानुकूल स्वरों का बाधक स्वर 'विवादी' कहलाता है । इसमें परस्पर बीस श्रुति का अन्तर रहता है तथा यह वर्ज्य स्थिति रखता है, अतः 'शत्रु' स्थानीय होता है । जैसे—गान्धार और ऋषभ या ऋषभ-गान्धार तथा धैवत-निषाद ये विवादी हैं । यह स्वरों में आकस्मिक रूप में उत्पन्न होता है और इसके योग से प्रवर्तमान गीत के राग को आघाव लगता है, अतः इसकी गणना वर्ज्य स्वर में की जाती है । भरत के मत में स्वरों की न्यूनता का और अधिकता का निर्धारण तन्त्री के आधारभूत दण्ड एवं इन्द्रियों की विगुणता से होता है । इसके शत्रुवत् कहने का आशय इतना ही है कि इसका प्रयोग अल्प हो यह आचार्य अभिनवगुप्तपाद का मत है । विवादी पद का वर्ज्य यह आशय भी नहीं होता क्योंकि जातियों के स्वर प्रस्तार में ऋषभ के पश्चात् गान्धार या इसके विपरीत ग-रि को ग्रन्थकारों ने लिया है । यह एक विवाद पूर्ण बिन्दु है । (वर्तमान) प्रचलित क्रम में कोमल गान्धार वाले कुछ रागों में आरोह में गान्धार नहीं रहता तथा तीव्र गान्धार वाले रागों में आरोह में 'स रि ग प' तथा अवरोह में 'ग म रि सा' रखते हैं । इसी प्रकार दो निषादों वाले रागों में आरोह में तीव्र निषाद तथा अवरोह में कोमल निषाद की योजना रखी जाती है । इसी प्रकार का विधान अन्तर काकली के विषय में भी भरत ने दिया है । आचार्य **पार्श्वदेव** ने विवादी स्वर का स्वल्प प्रयोग का आशय उसकी प्रच्छादनीय स्थिति कहा जो कि अल्प स्पर्श की क्रिया से रखा जाए । यहाँ पार्श्वदेव का आशय वर्ज्य स्वरों की 'विवादिता' को लेकर है । उत्तरकालीन विद्वान् **वेंकट मखी** ने विवादी को वर्ज्य मान कर भी राग की रक्ति को बनाये रखकर उसके प्रयोग को रखने की बात कही जिससे चमत्कार उत्पन्न हो सके । इसी मान्यता को आधुनिक शास्त्रीय संगीत के उद्धारक श्री **भातखण्डे ने** भी आगे बढ़ाया ।[2] इनके मत में विवादी स्वर को प्रायः अवरोह में रखा जाना चाहिये । यह शास्त्र में दोषकारक नहीं होता और यही विधान है, और प्रमाणयुक्त

---

१. द्र०—श्रुतयो द्वादशाष्टौ वा ययोरन्तरगोचराः । मिथः संवादिनौ तौ स्तः' ।

२. द्र० लक्ष्य सं० पृ० ७४

विवादी का प्रयोग भी रक्तिमा या राग का रंजकरूप लाता है जैसे किसी सफेद वर्ण में कहीं काली बिन्दुओं का रख देना सौन्दर्य लाता हो। राग-बाह्य स्वरों का प्रयोग कुशलता से रखा जाए तो रक्तिमा रहेगी। यही इसका अतिरिक्त अर्थ भी होगा जैसा कि आजकल ठुमरी आदि सरल (सुगम) संगीत के कलाकार करते हैं। इस प्रसंग में अनेक बातें आगे आती हैं तथा विचार भी है जिन्हें हम यहीं समाप्त कर रहे हैं, आगे अवसर आने पर उन्हें रखेंगें।

अनुवादी—वादी, संवादी तथा विवादी के अतिरिक्त स्वर अनुवादी होंगें। इससे यह स्पष्ट है कि जो वादी और संवादी स्वर में अनुरक्ति उत्पन्न हुई है उसमें अनुकूल होने वाले 'अनुवादी' हैं। ये अनुवादी राजसेवक की तरह अनुगामी रहते हैं। प्रधान स्वरों की तुलना में इनका अनुगामी रूप होता है यह स्पष्ट है। जैसे—**षड्ज** के ऋषभ, गान्धार, धैवत तथा निषाद और ऋषभ के मध्यम, पञ्चम और निषाद 'अनुवादी' हैं। यह भरत का मत है तथा इसी का सभी ने अनुगमन किया। इस क्रम में (यह भी देखा जाता है कि) **गान्धार** के ऋषभ, पंचम, धैवत, **मध्यम** के धैवत, पंचम, निषाद, **पञ्चम** के धैवत तथा षड्ज, **धैवत** के षडज्, मध्यम तथा पंचम, ये षड्जग्राम में तथा मध्यम ग्राम में भी अनुवादी हैं। (परन्तु मध्यम का पंचम, धैवत, निषाद, पञ्चम का ऋषभ, षड्ज, गान्धार, धैवत का षड्ज, ऋषभ, गान्धार, निषाद का षड्ज, ऋषभ, गान्धार इनमें वादी स्वर मुख्य रहने से यहाँ अनुवादित्व नहीं है)।

रस तथा छन्दों के अनुगत स्वरों के प्रयोग की दशा में—वीर रस में तथा अद्‌भुत और रौद्र में भी (ऋषभ तथा षड्ज या) षड्ज तथा ऋषभ का प्रयोग रखा जाए। बीभत्स और भयानक में धैवत, करुण में गान्धार तथा निषाद तथा हास्य और शृङ्गार में मध्यम तथा पञ्चम स्वर का प्रयोग रखा जाता है।

छन्दों के विषय में भी षड्ज स्वर अनुष्टुप् में, ऋषभ गायत्री में, गान्धार में त्रिष्टुप्, मध्यम में बृहती, पञ्चम में पङ्क्ति, धैवत में उष्णिक् तथा निषाद में जगती छन्द की योजना रखी जाती है।

ग्राम—स्वरों का समूह या संयोग 'ग्राम' कहलाता है।[1] किन्तु स्वरसमूह मात्र को ग्राम कहने पर लौकिक तथा वैदिक वाक्यों में विद्वान् अति व्याप्ति दोष मानते हैं। मूर्च्छना तान, अलङ्कार तथा जाति आदि का आश्रय लेने

---

१. ग्रामं स्वरसमूहः स्यात् मूर्च्छनादेः समाश्रयः।

वाला स्वर समूह 'ग्राम' कहा। स्वर दो प्रकार के होते हैं, शुद्ध तथा विकृत। इनमें शुद्ध स्वरों के आश्रय वाला प्रमुख 'षड्जग्राम' तथा विकृत स्वर का आश्रय लेने वाला मध्यम ग्राम है। 'ग्राम' अर्थात् मूल स्वरसप्तक तथा संवाद स्वरसप्तक 'ग्राम' होगे। स्वरों की श्रुतियों से उत्पत्ति बतला आये हैं, अतः इन दोनों ग्रामों में स्थिर सात स्वरों की श्रुतियाँ समान संख्या वाली हैं। यथा—षड्ज चतुःश्रुति, ऋषभ त्रिश्रुति, गान्धार, द्विश्रुति मध्यम तथा पञ्चम चतुःश्रुति, धैवत त्रिश्रुति तथा निषाद-द्विश्रुति। जैसे किसी ग्राम में कुटुम्बिजन रहते हैं[1] इसलिये उस समूह को 'ग्राम' कहा जाता है अतः इसी के समान अन्वर्थ शब्द है जिसमें स्वर, श्रुतियाँ, मूर्च्छना, तान, जाति तथा राग आदि का व्यवस्थापन रहता है। राग में व्यवस्थापन में तो यह अतिशय सहायक है क्योंकि षड्जग्राम में षड्ज और पञ्चम स्वरों का तथा मध्यमग्राम में पञ्चम तथा ऋषभ स्वरों का संयोग रहता हैं। इन दो ग्रामों के अतिरिक्त तीसरा ग्राम गान्धार ग्राम भी है परन्तु आचार्यगण उसका लोक प्रचलन नहीं मानते और यह ग्राम केवल स्वर्गादि अन्य लोगों में ही प्रयुक्त होता है।

स्वरसंवाद तथा द्विश्रुतिक स्वर—भरत तथा अन्य आचार्यों ने स्वरों का ध्वनिमूल्य 'श्रुति' नामक बाईस सूक्ष्म स्वरान्तरों द्वारा दिखलाया है। अतः जब एक स्वर दूसरे स्वर से ९ या १३ वीं श्रुति पर रहे तो वे परस्पर संवादी होने पर समश्रुतिक स्वरों का भी संवाद माना जाता है। अभिनव गुप्त ने इस पर टिप्पणी कर कहा कि मध्यम से निषाद के ९ वीं श्रुति पर होने पर भी दोनों का संवाद नहीं होता तथा मध्यम ग्रामिक ऋषभ-धैवत का भी संवाद नहीं होता है।[2] इसके विपरीत उत्तरभावी संगीताचार्यों ने मध्यम निषादों का परस्पर संवादित्व स्वीकार किया है।[3] यह विषय विस्तीर्ण मीमांसा की अपेक्षा रखता है जिसे विस्तार भय से हम यहीं छोड़ रहे हैं।

रागात्मकता की ग्रामों से पूर्ति—पूर्व वर्णित षड्ज और मध्यम ग्रामों पर ही मुख्यतः 'राग' निर्भर करते हैं। राग स्वर वर्णों के सन्तुलित व्यवस्थापन से उत्पन्न होता है तथा इसके द्वारा राग मानव मन को आनन्द से आप्यायित करते हैं।

---

१. यथा कटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूताः भवन्ति हि।
तथा स्वराणां सन्दोहे ग्राम इत्यभिधीयते।

२. द्र० अभि० भार० खण्ड ४ पृ० १७।

३. सिंह भूपाल तथा कल्लिनाथ की रत्नाकर की व्याख्या।

मूर्च्छना—क्रमयुक्त सात स्वरों (शुद्ध) का जो आरोह तथा अवरोह हो उसे भरत ने मूर्च्छना कहा है[1] तथा मन्द्र आदि तीन स्थानों की प्राप्ति करवाना इन मूर्च्छनाओं का प्रयोजन रहता है। अतः मूर्च्छनाएँ दोनों ग्रामों में सात-सात होगी। इस प्रकार भरत ने क्रम युक्त पद से आरोह के अतिरिक्त अवरोह का उल्लेख नहीं किया पर क्रम शब्द अवरोह को भी सूचित करता है यह भी स्पष्ट ही है। षड्जग्राम में उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, आश्वक्रान्ता तथा अभिरुद्गता नामक सात मूर्च्छनाएँ तथा क्रमशः षड्ज, निषाद, धैवत, पञ्चम, मध्यम, गान्धार, तथा ऋषभ स्वर रहते हैं। इसी प्रकार मध्यमग्राम में सौवारी, हरिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, पौरवी तथा हृष्यका नामक सात मूर्च्छनाएँ हैं जो क्रमशः मध्यम, गान्धार, षड्ज, ऋषभ, निषाद, धैवत तथा पञ्चम स्वरों के साथ रखी जाती है। इनका लक्षण तथा उस पर विवेचन संगीतरत्नाकर आदि में कई प्रकार से मिलते हैं।

वीणा में एक गान से दूसरे गान को बनाने की विधि भरत ने कही है। इनमें षड्जग्रामिक शुद्ध गान्धार को दो श्रुति चढ़ा कर (जिससे वह अन्तर गान्धार हो जाएगा) षड्ज को मध्यम हो जाने (या समझने) से षड्जग्राम का मध्यम ग्राम हो जाता है और इसके विपरीत क्रिया रखने से मध्यमग्राम का षड्ज ग्राम हो जाता है। इसका कारण है कि चतुःश्रुतिक जो गान्धार है, वह मध्यम ग्रामिक धैवत हो जाता। इस विधि से एक ग्राम के अन्य स्वर दूसरे ग्राम के अन्य स्वरों से अपनी स्थिति के अनुसार मिल जाते हैं। इससे यह भी स्पष्ट प्रकट होता है कि अन्तर गान्धार तथा धैवत परस्पर संवादी है।

अन्तर काकली—शुद्ध द्विश्रुतिक गान्धार निषाद को दो-दो श्रुति चढ़ाने से क्रमशः अन्तर तथा काकली स्वरों को निर्मिति हो जाती है, जो चतुःश्रुतिक हैं। भरत ने इन्हीं को **'साधारण'** कहा है तथा एक ग्राम में एक साधारण स्वर का उपयोग भी बतलाया। यह साधारण है अन्तर-स्वरता या दोनों के मध्य में जो होता हो वह साधारण जैसे ऋतुओं में शिशिर के अन्त में तथा वसन्त के आरम्भ की साधारण स्थिति का अनुभूत होना। इस प्रकार भरत ने इस अन्तर काकली का स्थान संकेतित नहीं किया पर आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया कि—'अन्तर-काकली स्वर स्वतन्त्ररूप से रंजक नहीं होता और वैस्वर्य भी नहीं रहता,

---

१. द० ना० शा० २८।६२।

इस प्रकार की स्थिति 'साधारण' है, जैसे निश्शेषतः शुद्ध गान्धार तो गया नहीं और मध्यम आया नहीं ऐसी अवस्था 'अन्तरस्वर' कहलाती है। अन्तरस्वरों का केवल आरोही में तथा आद्य होता है। भरत ने अन्तरकाकली की एक दूसरी संज्ञा भी कही 'कैशिक-स्वर' नाम से। **आचार्य अभिनव गुप्त** ने कैशिक को अन्तरकाकली से भिन्न 'त्रिश्रुतिक' रूप में प्रतिपादित किया। संगीत-रत्नाकर के व्याख्याकार कल्लिनाथ ने कैशिक का अन्तर्भाव अन्तरकाकली में मानकर इसका उपसंहार किया।

अंश—भरत ने 'अंशः स्याद् दश-लक्षणः' कहकर बतलाया कि जाति के रूपों के निर्माण के अनेक कार्य 'अंश' पर निर्भर करते हैं।[1] इसे और स्पष्ट कर आचार्य अभिनव गुप्त ने बतलाया कि जिसकी सत्ता से जाति स्वरूप उत्पन्न होता है अतः जैसे पुरुष के शरीर में प्रमुख अङ्ग मुख होता है इसी तरह जिस स्वर की बहुलता रहती हो तथा जो ग्रह आदि पाँच रूपों का जनक है—वह 'अंश' है। अंश का भरत प्रतिपादित ग्रन्थांश तथा उसके विवेचन को विस्तार भय से पुनः यहाँ नहीं दे रहे हैं। अतः जो स्वर अपने स्थायित्व के कारण प्रयोगों में बाहुल्य बाला रहे वही 'अंश' है। इस अंश स्वर को आज-कल न्यास नाम से कई मानते हैं तथा इसके प्राचीन रूप के लुप्त हो जाने से यह हुआ परन्तु यह अनुचित और भ्रान्तिदायक प्रचलन है। अंश के उपर्युक्त विवरण से इसी के एक मुख्य अवतारभूत 'स्थायी' का भी संकेत मिलता है जिसे हम आगे बतलाएगें।

न्यास—प्राचीन आचार्यों ने 'न्यास' को दो भागों में दिखलाया, जिनमें प्रथम गीत के समाधिकारक स्वर के तथा दूसरा आधार स्वर बनाने वाला। आचार्यों ने गीत के समाधिजनक स्वर को 'न्यास' बतलाया[2]। जाति के प्रकारों में न्यास स्वर के इष्ट रहने से इसकी अपरिवर्तनीयता स्पष्ट है। भरत के प्रत्येक जाति का स्वरूप उसके न्यास तथा उसके प्रयुक्त स्वर पर आधारित है यह आचार्य अभिनव गुप्त ने दिखलाया है।[3] मुर्च्छनाओं का विवरण पहिले किया जा चुका है। इसी क्रम में तानों का भी विचार हुआ है। हम संक्षेप में उसे यहाँ भी देते हैं।

तान—तान शब्द तनु विस्तारे धातु से कर्म में धञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया गया है जिसका अर्थ है विस्तार करना। आचार्यों ने—'तानाः स्युर्मूर्च्छनाः

---

१. ना० शा० २८।६८-६७। २. गीते समाप्तिकृत् न्यासः—सं० र०।
३. अभि० भा० ४ पृ० ३३।
३ ना० शा० च० भू०

शुद्धाः षाडवौडविनीकृताः ।' कह कर इनमें जहाँ सात स्वरों में एक स्वर का नियमित रूप में लोप होना '**षाडव**' तथा दो स्वरों का नियमित लोप हो तो औडव' होता है तथा जहाँ प्रथम षाडव नहीं होकर षाडवरूप को प्राप्त होने वाला जो हो तो 'षाडविता' तथा प्रथम औडव न होकर औडवरूप को प्राप्त होने वाला औडवित होता है। इस प्रकार षाडवरूप तथा औडवरूप में होने वाली शुद्ध मूर्च्छनाओं को 'तान' कहते हैं जिनकी संख्या चौरासी मानी जाती है तथा जिनका विवरण नाट्यशास्त्र तथा संगीतरत्नाकर में हैं।

अब मूर्च्छना के प्रसंग में पूर्वकथित जातियों के नाम पर विचार करते हैं। शास्त्र के अनुसार प्रत्येक 'ग्राम में' सात मूर्च्छनाओं को आधार स्रोत माना गया है। षड्जग्राम में उत्तरमन्द्रा आदि सात जातियों को दिखलाया गया था जिनका गठन निम्न रूप में है—

उत्तरमन्द्रा — स-रि-ग-म-प-ध-नि ।
रजनी — रि ग म प ध नि सा० ।
उत्तरायता — ग म प ध नि सा रि ।
शुद्धषड्जा — म प ध नि सा रि ग ।
अश्वक्रान्ता — प ध नि सा रि ग म ।
मत्सरीकृता— ध–नि–सा–रि–ग–म–प० ।
आभिरुद्गता – नि स रि ग म प ध ।

इसी प्रकार मध्यमग्राम में निम्नरूप में स्वरक्रम होगा—

सौवीरी —म–प–ध–नि–सा–रि–ग० ।
हरिणाश्वा —प–ध नि सा रि ग म० ।
कलोपनता —ध-नि–सा–रि ग म० प० ।
षड्जमध्या —नि–स–रि–ग–म–प–ध० ।
मार्गवी —सा०–रि० ग० म० प० ध० नि०
पौरवी —रि० ग–म० प० ध नि० सा०।
दृष्यका —ग० म० प० ध० नि सा रि ।

जाति—आचार्य अभिनवगुप्त ने रंजना को उत्पन्न करने वाले ताल विशिष्ट स्वर सन्निवेश को 'जाति' कहा है। इसके विषय में शास्त्रकारों का मन्तव्य देखते हुये यह लगता है कि ये धुनरूप में या मिश्रित प्रकार की शास्त्रीय नामावली वाली होती हैं जो कि स्वरविकास के द्वारा होती है।

ये जातियाँ अठारह संख्या में मान्य हैं जिनमें शुद्धा और विकृता (मिश्रा) कहा जाता है।

षड्जग्राम में रहने वाली शुद्धा जातियाँ हैं—(१) षाड्जी, (२) आरभटी, (३) धैवती, (४) नैषादी तथा मध्यमग्राम में—(१) गान्धारी, (२) मध्यमा और (३) पंचमी। यहाँ 'शुद्धा' का अर्थ है जहाँ अंश, ग्रह और न्यास स्वर से सभी स्वरों का सन्निवेश रहे तथा जब ये जातियाँ अपने लक्ष्यों में एक या दो से हीन हों (केवल न्यास से हीन हों तो भी) ये 'विकृता' (या मिश्रा) होंगी। यह देखा गया कि न्यास में—जो कि शुद्धा जाति में रहता है—वह नियमतः मन्द्र होगा परन्तु विकृता जातियों में यह नियम नहीं है। विकृता जातियाँ ग्यारह होती हैं और ये शुद्धा जातियों के परस्पर सम्मेलन या मिश्रण से उत्पन्न मानी जाती है। इनके ये दश लक्षण हैं—(१) ग्रह; (२) अंश, (३) तार, (४) मन्द्र; (५) न्यास, (६) उपन्यास, (७) अल्पत्व, (८) बहुत्व, (९) षाडव तथा (१०) औडव।[1]

शुद्ध सात जातियों का स्वरूप सुकर है। जातियों के मुख्य स्वर, अंश तथा न्यास आदि शुद्ध जातियों में एक था जिसके नामकरण पर से ही प्रत्येक जाति की संज्ञा बनी। अतः नामस्वर ही प्रत्येक जाति का स्थायी स्वर है या जिस पर से प्रत्येक जाति का ठाट भी बन जाता है। इसी प्रकार संकीर्ण ग्यारह जातियों की जो घटक जातियाँ हैं उनके ठायें में जोड़ने अथवा मिश्रण से संकीर्ण जातियों के ठाट बनते हैं यही शास्त्रकार की कल्पना है जाति भेद में। इस जाति-विवरश के बाद वाद्यशास्त्र के उनतीसवें अध्याय में इन जातियों के रसाश्रितादि गया अन्य संगीतशास्त्रीय विवरण क्रमश है जिनमें रसादि का क्रम इस प्रकार है :—

रसाश्रित जातियाँ—क्योंकि नाट्यप्रयोग में रखे गये जातिगानों के कारण अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त रसोद्बोधकता की भी अपेक्षा आवश्यक रूप से रहती ही है तथा इस रूप में जातियों की एक विशिष्ट स्थिति या भूमिका भी होती है। इसी कारण शास्त्रकारों ने विभिन्न रसों के अनुरूप विभिन्न स्वर को विभिन्न जातियों में बतलाया। जैसे षड्जमध्यमा और षड्-जोदीच्यन्ती जातियाँ क्रमशः हास्य तथा श्रृङ्गार रस में प्रयुक्त की जाती हैं, क्योंकि इनमें मध्यम तथा पंचम स्वर होते हैं। इसी प्रकार वीर और भया-नक रस में षड्जी और आर्षभी जाति को प्रयुक्त किया जाता है जहाँ ग्राम स्वरों में षड्ज और ऋषभ रहते हैं। नैषादी जाति को निषाद तथा उसके

१. ना. शा. २८।४१–७४।

अंश स्वर के साथ तथा षड्जकैशकी को गान्धार के अंश स्वर के रूप में रखते हुए करुण रस में योजित की जाती है। धैवती को अपने धैवत अंशस्वर के साथ बीभत्स तथा रौद्ररस में रखा जाता है। इसके अतिरिक्त आचार्यगण, धैवती जाति को करुण-रस में और षड्जमध्यमा जाति को पात्र की विक्षिप्त अवस्था दिखलाने में भी योजित करते हैं।

यहाँ हम यह भी बतलाना आवश्यक मानते हैं कि स्वरों का गीतों के साथ तथा उनके रूपों के अध्ययन और विश्लेषण का कार्य वाद्यों के वादन के पूर्व ही हुआ या बाद में इसमें बड़ी विवादपूर्ण स्थिति बनी भी है परन्तु उनतीसवें अध्याय में दिये गये वाद्य(वीणा) विवरण के अन्तर्गत स्वर के प्रकरण में आने से ऐसा प्रतीत होता है कि वाद्य के स्वरादि समवाय में वादन के विकास के बाद ही गीत की राग प्रवृत्ति भी बढ़ी होगी! हाँ, इतना आवश्यक है कि 'आतोद्य' या वृन्दवाद्य भरत के समय नाट्यप्रयोग में प्रचलित रहा था। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के विवरण से यह भी स्पष्ट प्रकट होता है कि ततवाद्यों-विशेष कर वीणा-का महत्वपूर्ण भूमिका भी इस सन्दर्भ में रही थी। तत के अतिरिक्त वाद्यों के अन्य अवनद्ध, सुषिर तथा घन-जैसे रूप भी थे जिनसे मिल कर वाद्यवृन्द बनता था। हम स्वरादि के विवरण क्रम में अब आगे वर्ण, अलंकार आदि का विचार करेंगे।

वर्ण— गेय पदों का वर्णन होने से इनकी स्वरमय गानक्रिया को (चाहे वह कंठ से हो अथवा वीणा पर) 'वर्ण' कहा जाता है। इसके चार प्रभेद होते हैं—(१) आरोही, (२) अवरोही, (३) स्थायी तथा (४) संचारी। गेयपद के आलाप क्रम में स्वरों के ऊपर होने या उत्थान दशा आने पर **'आरोही'** स्वरों के क्रमशः उतरने या नीचे बढ़ने पर **'अवरोही'** स्वरों के सम स्थिर भाव में पुनरावृत्त होने पर **'स्थायी'** तथा स्वरों के संचरण या आरोही अवरोही भाव के मिश्ररूप में संयुक्त रहने पर **'संचारी'** कहलाता है। ये चारों वर्ण गीति पद के योजक होते हैं तथा इनकी निष्पत्ति से ही राग की उद्‌बुद्ध दशा आती है तथा लक्षणयुक्त रीति से स्वरों के कर्षण से गान में रसोदय होता है।

अलङ्कार—अपने विभिन्न मिश्रणों के द्वारा ये 'वर्ण' अलंकारों को प्रकट करते हैं। वर्णाश्रित अलंकार कटक-केयूर के द्वारा पुरुष तथा नारी के शरीर की तरह गीति को अलंकृत करते हुए प्रेक्षकों या श्रोतृजन का मनोरंजन करते हैं और इन अलङ्कारों से गीत और अधिक समृद्ध हो जाता है। ये प्रसन्नादि तैंतीस गीति के अलंकार नाट्यशास्त्र में भरत ने लक्षणादि से

युक्त दिखलाये हैं। भरत के मत में गीति के लिये इन अलंकारों की स्थिति आवश्यक होती है और जैसे बिना चन्द्र के रात्रि, बिना जल के नदी, बिना पुष्प के लता शोभित नहीं होती ऐसे ही अलंकारों के बिना गीति भी विभूषित नहीं होती या रागात्मक नहीं हो पाती है।[1] अलंकारों के एक भाग में 'तान' का भी स्थान माना जाता है जो तत वाद्य या कण्ठ्य संगीत में अवस्थित हों।

'गीति'—वर्ण तथा अलंकारों से युक्त पद और लयान्वित गानक्रिया 'गीति' कहलाती है।[2] नाट्यशास्त्र में अलंकारों के लक्षणों के बाद में इनका विवरण दिया है। कुछ आचार्य स्वर धुनों के प्राचीन काल के वर्गीकरण को गीति कहते हैं परन्तु इनका विशेष सम्बन्ध ततवाद्यों से है। ये चार प्रकार की हैं—(१) मागधी, (२) अर्धमागधी, (३) सम्भाविता तथा (४) पृथुला। द्रुत, मध्य और विलम्बित लय, गुरु लघु तथा प्लुत अक्षर युक्त तीनों यति तथा इक्कीस तालों से युक्त **'मागधी'** गीति होती है। **'अर्धमागधी'** में द्रुत मध्य लय गुरु तथा लघु अक्षर तथा मागधी की अपेक्षा आधे तालों की योजना रखी जाती है। **'संभाविता'** में गुरु अक्षरों की बहुलता रहती है तथा **'पृथुता'** में लघु अक्षरों की।

धातु—वीणा के वादन में स्वरों के वाद्य पर निकालने में सहायक (कोण आदि) उपकरणों से उत्पन्न धातु के चार प्रभेद बतलाये हैं—(१) विस्तार; (२) करण, (३) आविद्ध तथा (४) व्यंजन। इन सभी के अनेक प्रभेद होते हैं जिनमें विस्तार के चार, व्यंजन के दस, करण और आविद्ध के पाँच-पाँच प्रभेद बनते हैं। धातुओं के इन प्रभेदों का आधार लेकर वाद्यवादनगत धुन में चार विशेषताओं का आधान बनता है—(१) उदात्त, (२) ललित, (३) रभित तथा (४) घन। इन धातुओं में जो विभाग हैं, वे सभी–विभिन्न प्रकार के आघात, उनके नागवन्तिका प्रदेश, संख्या, वर्गीकरण, संघात तथा स्वरों के उत्पादन की रीतियों या विधियों से सम्बद्ध होते हैं। जैसे विस्तार से आशय है जिससे प्रहारगत संख्या के आधार पर 'बोल' निर्मित हों। फिर इसी की संख्या वृद्धि से संघात तथा समवाद्य प्रकार बन जाते हैं तथा इन्हीं क्रियाओं से यथायोग्य मिश्रण 'अनुबन्ध' होता है। धातु का विवरण तथा विस्तार यथास्थान ग्रन्थ में दृष्टव्य है।

वृत्तियां—पूर्व में वर्णित धातुओं का तीन वृत्तियों से सम्बन्ध होता है

१. ना० शा० २९।४६। २. सं० र० १।८।९४–९५

जिनमें ततवाद्यों का वादन हो। ये वृत्तियाँ वीणावादन की शैलियाँ या पद्धति हैं तथा इनके तीन भेद होते हैं—(१) चित्र, (२) वृत्ति तथा (३) दक्षिण। किसी प्रस्तुतिकरण में ये वाद्यवादन के प्रकार से विशेषता लाकर उनके ताल, लय, गीति, गति और ग्रहमार्ग या आरम्भक विधिक्रम से अपना स्वरूप ग्रहण करती हैं। प्रत्येक वृत्ति का स्वरूप या प्रवृत्ति किसी एक वाद्य-वादन से सम्बद्ध होता है तथा यह ताल, लय, गति, यति तथा मार्ग के अनुगत होता है। ये वृत्तियाँ वाद्यसंगीत और गीत को एक विशिष्ट गुणवत्ता (Quality) प्रदान करती हैं।

(वीणा आदि) वाद्य संगीत में जातियाँ—इन पूर्ववर्णित वृत्तियों से जातियों के उत्पन्न होने पर वाद्यसंगीत के वीणावादन में एक उठाव आता है जब विभिन्न प्रकार की धातुओं का इनसे मिश्रण होता है। जैसे विस्तार धातु वाद्यवादन में उदात्ता जाति को उत्थित करता है, व्यंजन धातु ललित धातु को, आविद्ध धातु रिभित जाति को तथा करणधातु घन जाति को उत्थित करता है।

इनमें उदात्ता जाति एक सामान्यभूत स्वरूप को प्रतीत होती है, ललित जाति अपने लालित्य के गुण के कारण उल्लेखनीय है, रिभित जाति अपने वाद्यवादनगत प्रहारों को अविरतता तथा घन जाति प्रहारों की संख्यागत गुणवत्ता के उचित पर्यवेक्षण के द्वारा लक्षणानुगामिता को बनाती है।

वीणावादन के गीताश्रित रखने के विशिष्ट विधान—भरत ने वीणा आदि ततवाद्यों के विस्तार से विवरण देकर वीणा के तीन रूप में गीताश्रित किये जाने वाले विधान को दिखलाया। ये हैं—(१) तत्त्व, (२) अनुगत तथा (३) ओघ। इनमें **'तत्त्व'** ठीक से गीतों के लय, ताल, वर्ण, पद, यति और अक्षरों को दिखलाता है। **'अनुगत'** वह वाद्यवादन है जो 'गीत' के अनुगत या संगत करने वाला होता है। 'ओघ' ऐसे रूप वाला संगीत तत्त्व है जो आविद्ध धातु तथा करणों की प्रचुरता लिये हुए, उपरिपाणि ग्रह मार्ग तथा द्रुत लय में रहता है और गीत के अर्थ के असंपृक्त होता है।

विपञ्ची वादन की विशिष्ट विधि—विपञ्ची वीणा का अंगुलियों से वादन होता है तथा इसकी रचना नौ तारों से रहती है। यह वादन करणों के द्वारा हस्तवादन से सम्पन्न किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसको करणों के छः प्रकारों से प्रस्तुत या निर्मित करते हैं। यहाँ तब करणों को स्वरों से निर्मित कर अल्प मात्रा या गौणरूप में नृत्य की स्थिति में रखा जाता है।

पूर्वरंग के बर्हिगीतादि में वीणा-वादन—नाट्य-प्रयोग के आरम्भ होने के ठीक पहिले 'बहिर्गीत' के बारह प्रभेदों को रखा जाता है। इसके आश्रावणा आदि बारह अंगों को अताल और सताल रखने की दशा में वीणा वादन रहता है। इस प्रकार यह एक संगीतमय पूर्वरंग हो जाता है जिससे आगे प्रस्तुत होने वाले नाट्यप्रयोग के लिये दर्शक तैयार हो जाए। यहाँ भरत मुनि ने स्वर, लय तथा ताल विषयक बड़े ही उपायुक्त निर्देश रखे हैं जो इन अंगों के प्रस्तुत करने में लगने वाले थे। इससे यही लगता है कि प्राचीन नाट्य-विद्या के आचार्यों ने इन अंगों के प्रस्तुत करने में कितनी गम्भीर वृत्ति से संगीत के इन बिन्दुओं को विचार कर रखा था। अगले तीसवें सुषिर-वाद्य के विवरण वाले अध्याय के विषय को दिखलाने के पूर्व भरत वर्णित वीणाओं पर थोड़ा विवरण देना यहाँ प्रासंगिक होगा।

भरतकालीन वीणाएँ—भरत ने नाट्यशास्त्र में (३४।१४ पर) वीणाओं के विवरण क्रम में चार प्रकार की वीणा दिखलाई। यथा—(१) चित्रा, (२) विपञ्ची, (३) कच्छपी तथा (४) घोषक। इनमें आरम्भ की दो वीणाएँ अंग या प्रमुख और शेष दो वीणाएँ उपवीणाएँ होती है[१]। इनमें चित्रा वीणा के सात तार रखे जाते थे और विपञ्ची में नौ तार रहते थे। इसके अतिरिक्त चित्रा का वादन अंगुली से और विपञ्ची का कोण या मिजराफ से रहता था। इन घोषकादि वीणा प्रभेदों का स्वरूप आजकल मिलने वाले सरोद जैसा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त मत्तकोकिला नामक एक पाँचवाँ वीणा का रूप भी प्राचीन शास्त्रग्रन्थों में मिलता है। इस मत्तकोकिला में तीन सप्तकों के लिये इक्कीस तार लगते थे, यह मुख्य वीणा मानी जाती थी और यह कानून प्रकृति की थी। इसे मुक्तवीणा भी कहते थे तथा इसे नारद ही प्रयुक्त करते थे। **'नान्यदेव'** ने इसका 'बृहती' नाम भी दिया है अधिक तारों की संख्या के कारण। कल्लिनाथ पण्डित ने इसका अन्य नाम'स्वरमण्डल'भी दिया। घोषक वीणा एक ही तार की होती थी तथा इसमें से श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छा, तान आदि का स्पष्टतः ज्ञान होता था। यह एक लोक-प्रचलित वीणा थी और इसमें एक उदात्त स्वर गुञ्जित रहता था। इन वीणाओं में धातु निर्मित 'कोण' का वादनार्थं प्रमुख रूप से उपयोग रखा जाता था। इन वीणाओं के वादन की विधि भी भरत मुनि ने विस्तार से बतलाई है।

---

१. विपञ्ची चैव चित्रा च दारवीष्वङ्गसंज्ञिते।
कच्छपी घोषकादीनि प्रत्यङ्गानि तथैव च ॥ (ना० शा० ३४।१४)।

प्राचीन काल में अनेक वीणाओं का एक साथ वादन होता था तथा इस प्रकार के वादन को 'करण' कहते थे। इस प्रकार के सामूहिक वादन में 'कोण' का प्रमुख उपयोग रहता था। (जिसे सिंहभूपाल ने कहा भी है)। घोषक वीणा के वादन का भरत का उल्लेख देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि विपञ्ची तथा चित्रा वीणाओं के स्थायी स्वर का परिपोषक घोषक वीणा की ध्वनि से रहता था। इसके घोषक नाम की भी यही अन्वर्थता प्रतीत होती है। मतङ्ग ने षट्षष्ठितन्वी और शततन्त्री वीणा का विवरण दिया जिसका मन्त्रादि वैदिक विधियों में विनियोजन रखा जाता था। वीणा का एक अन्य प्रभेद भी है जिसे 'अलाबु वीणा' कहते थे तथा जिसमें दो तार लगाते थे। इसका उपयोग वादन तथा स्वर मिलान आदि में रखा जाता था। इस अलाबु-वीणा का नान्यदेव ने भरतभाष्य में उल्लेख किया है तथा यह उपवीणा या अंगवीणा मानी जाती थी और इसे आधुनिक तानपूरे की तरह भी प्रयुक्त करना प्रतीत होता है। आधुनिक काल में तन्तुवाद्यों में देखे जाने वाले सितार, सरोद तथा सारंगी का आकार तथा उसमें लगे पर्दों आदि के साथ उसमें घाट वर्गीकरण आदि सभी उत्तरकालीन परिणतियाँ रहीं जिनका विस्तार से विवरण यहाँ अप्रासंगिक है।

नाट्यशास्त्र का तीसवाँ अध्याय **'सुषिरातोद्यविधान'** नामक अध्याय है जिसमें 'वंशी' का जो कि हवा की फूँक से भर कर बजने के कारण 'सुषिर-वाद्य' के रूप में मानी जाती है। इसकी प्राचीन काल में 'बाँस' से रचना की जाती थी पर बाद में यह लकड़ी और धातु से भी बनने लगी थी। इसे भरतकालीन कुतुप में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था तथा यह वीणा के साथ रखा जाता था। वंशी की सुषिरवाद्य के स्वरों के निकालने में वीणा से थोड़ी भिन्नता भी होती थी—ये द्वि और त्रिश्रुतिक तथा चतुःश्रुतिक होते थे तथा ये कम्पित, अर्धमुक्त तथा व्यक्तमुक्त कहलाते थे। यह विवरण वीणा के श्रुति रूप को यह पूरक श्रुति के रूप में एक मोहक परिवर्तित रूप देता है तथा यह परिवर्तित स्वर को भी एक विकासशीलता को दिखलाता या प्रदान करता है।

मध्यम ग्राम में स्वरों की निष्पत्ति में चतुःश्रुतिक स्वरों को बांसुरी के छिद्रों पर उंगलियों को रख कर उठाते हुए निकाला जाता है, कंपित उंगली को रखकर त्रिश्रुतिक स्वर को तथा एक उंगली के कुछ भाग को मुक्त रख कर त्रिश्रुतिक स्वर को बांसुरी में निकाला जाता है।

षड्जग्राम में इसकी विधि है कि षड्ज, मध्यम तथा पंचम जैसे चतुः-

श्रुतिक स्वरों को एक अंगुली को पूर्णतः मुक्त या खुली रख कर निकालते हैं तथा कम्पित उंगली से एक छिद्र को ढंक कर धैवत और ऋषभ को एक अंगुली को आंशिक मुक्त कर निकालते हैं। इसी तरह गन्धार और निषाद की भी प्रक्रिया है। काकली और अन्तःस्वरसाधारण कम्पमानांगुलि होते हैं तथा गान्धार और निषाद अर्धमुक्तावलि वाले स्वरभेद बनते हैं।

नाट्यशास्त्र[1] के अनुसार वेणु-वाद्य अपने स्थानों से विचलित न होने वाला; बीच में न टूटने वाला और वर्ण तथा अलंकारों से मुक्त, मन्द्र, ललित और मधुर स्वर से भरे हुए रूप का होना चाहिए। वेणु को सदा वीणा की एकसाथ संगति में रखना उपयुक्त होता है। तथा इन विशिष्ट विवरणों को छोड़कर वेणुवादन में स्वरादिविधि वीणा के समान रखी जाती है। वेणु की वीणा-वादन तथा कण्ठसंगीत के साथ संगति रखकर अतीत का रूप नाट्य में समायोजित रहता था जिसमें 'ताल' का भी सहकार होता था। यह बड़ा प्रशंसित और प्रजा को इष्ट भी था।

ताल–नाट्यशास्त्र का इकतीसवाँ अध्याय 'तालविधानाध्याय' है। ताल शब्द तल् प्रतिष्ठायां धातु से धञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है क्योंकि गीत, वाद्य तथा नृत्य ताल का आधार लेकर ही स्थित रहते हैं। अतः लघु, द्रुत, गुरु तथा प्लुत अक्षरों द्वारा परिमित की जाने वाली क्रियाओं के द्वारा गीत, वाद्य तथा नृत्य के परिमाण की रचना करने वाला जो काल है वही **'ताल'** कहलाता है। इसके आरम्भ में दो प्रकार रखे गये—(१) मार्ग तथा (२) देशी। इनमें प्रथम ताल क्रिया के दो भेद हुए–(१) निशब्दा तथा (२) सशब्दा। इनमें निशब्दा की कला संज्ञा है तथा इसके चार प्रभेद हैं—(१) आवाप, (२) निष्क्राम, (३) विक्षेप तथा (४) प्रवेश। सशब्दा के भी चार प्रभेद होते हैं—(१) ध्रुव, (२) शम्या, (३) ताल तथा (४) सन्निपात। इन सशब्दा क्रियाओं का ही 'पात' तथा 'कला' नामों से व्यवहार किया जाता है [अर्थात् निशब्दा कला शब्द द्वारा कही जा सकती है तथा इन आवापादि के क्रमशः स्वरूप इस प्रकार हैं—

आवाप—उत्तान या ऊर्ध्वतल हस्त की उंगलियों का खींचना,

निस्क्राम—अधस्तल या ओंधी हथेली की उंगुलियों को फैलाना या लम्बी करना।

---

१. ना० शा० ३०।७–१०।

विक्षेप—दाहिनी कोख को ऊपर उठाते हुए फैली उंगुलियों से हाथ का झटका लगाना या फेंकना।

प्रवेश—ऊपर फैली या उठी हुई दाहिनी कोख को झुका कर प्रसारित अंगुली वाले हस्त की अंगुलियों का संकुचित करना।

ध्रुव—चुटकी शब्दपूर्वक हाथ का पटकना। **शम्या**—दाहिने हाथ का पात। **ताल**—बाये हाथ का पात। सन्निपात—दोनों हाथों का पात। निश्शब्दा तथा सशब्दा क्रियाओं का प्रमाण कार्य के आधार पर जानना चाहिए।

मार्ग तथा उसकी मात्रा—मार्ग के चार प्रभेद हैं—(१) ध्रुव, (२) चित्र, (३) वार्तिक तथा (४) दक्षिण। इनमें ध्रुव में एक मात्रा की कला, चित्र में दो मात्रा की कला, वार्तिक में चार मात्रा की कला और दक्षिण में आठ मात्रा की कला होती है। भरत ने 'ध्रुव' का विचार नहीं किया क्योंकि इसका तालमात्रा में प्रयोग नहीं रहता केवल, चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण मार्ग का होता है। इन आठ मात्राओं के क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं—(१) ध्रुवका, (२) सर्पिणी, (३) कृष्णा, (४) पद्मिनी, (५) विसर्पिता, (६) विक्षिप्ता, (७) पताका तथा (८) पतिता। इस प्रकार आठ मात्राएँ होती हैं। इनमें शब्द सहित **'ध्रुवका'** बायीं ओर जाने वाली, **'सर्पिणी'** दाहिनी ओर जाने वाली, **'कृष्णा'** नीचे जाने वाली, **'पद्मिनी'** बाहर की ओर जाने वाली, **'विसर्पिणी'** स्वयं (के शरीर) की ओर खींचने वाली, **'विक्षिप्ता'** ऊपर की ओर जाने वाली, **'पताका'** तथा हाथ के पटकने से होने वाली **'पतिता'** होगी। ये आठ मात्राएँ ध्रुव पात आदि समुद्ध क्रियाओं में संयोजित की जाती हैं परन्तु आवाप आदि की विशुद्ध में योजना नहीं की जाती।

मात्राओं का उपयोग—चित्र-मार्ग में ध्रुवका और पतिता, वार्तिक मार्ग में ध्रुवका, सर्पिणी, पताका तथा पतिता तथा दक्षिण-मार्ग में क्रमशः आठों मात्राओं की योजना की जाती है। इस प्रकार यहाँ चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण नामक तीन मार्गों में कला की योजना होती है तथा ध्रुव नामक चतुर्थ मार्ग में कला की योजना स्पष्टतः नहीं बतलाई गयी, परन्तु ध्रुवमार्ग में ध्रुव नामक विक्षिप्त पात के द्वारा उसे भी समझा जा सकता है अन्यथा ध्रुव पात का कहीं भी प्रयोग नहीं होता इसलिये वहाँ ध्रुवका नामक मात्रा की योजना रहती है।[1] अतः ध्रुव-मार्ग में ध्रुवका की योजना की जाए।

---

१. द्र०—'ध्रुवके मात्रका कला' सं० रत्ना० का विवरण तथा व्याख्या भी।

ताल की कला का प्रमाण—काल बोधक शास्त्रीय विवरणों मे 'निमेष-कालो मात्रा स्यात्' कहकर एक निमेष के बराबर काल का नाम 'मात्रा' बतलाया था परन्तु भरत ने—'व्यवहार में जिसे विद्वान् निमेष कहते हैं वही ताल में कला नहीं होती, ताल की कला इससे भिन्न होती है तथा गानकाल में पाँच निमेष के बराबर काल 'कला' कहलाता है। संगीतरत्नाकर ने भी—'पञ्च लघ्वूच्चारमिता नूनं मात्रेह कथ्यते। अनया मात्रयात्र स्याल्लघुगुर्वादि-कल्पनम्' कहा जाता है। उसके लिये उसमें ऊपर बतलायी मात्रा द्वारा ही लघु गुरु इत्यादि की कल्पना करनी चाहिए [अर्थात् पांच लघु अक्षरों के उच्चारणकाल द्वारा लघु, दस लघु उच्चारण के द्वारा गुरु और पन्द्रह लघु अक्षरों के उच्चारण काल के बराबर प्लुत समझना चाहिए।

मार्ग ताल के प्रभेद—'ताल' के दो प्रकार होते हैं—(१) चतुरस्र तथा (२) त्र्यस्र। इनमें चतुरस्र का दूसरा नाम चच्चत्पुट (भी) है। भरत मुनि ने इनके ये ही नाम दिये हैं। यह ताल तीन प्रकार की हैं—(१) यथा-क्षर (२) द्विकल तथा (३) एककल।

चच्चत्पुट तथा चाचपुट ये दोनों ताल अपने नाम के अक्षरों के अन्दर रहने वाले लघु अक्षरों द्वारा 'यथाक्षर' है। जैसे 'चच्चत्पुटः' शब्द के प्रथम दो तथा दूसरा ये दो संयुक्ताद्यं रहने से दीर्घ या गुरु हैं, चतुर्थ लघु तथा अन्तिम विसर्गपर रहने से गुरु होने पर 'चच्चत्पुटे त्वन्त्यं प्लुतं' नियम से अन्तिम अक्षर प्लुत हो जाने पर—SSIŚ इस प्रमाण के अक्षरों के अनुसारी यथाक्षर चच्चत्पुट होगा। इसी तरह चाचपुट—SSIS इन अक्षरों के प्रमाण अनुसार यथाक्षर चाचपुट होगा।

इनके चच्चत्पुट द्विकल रूप में आठ गुरु तथा चाचपुट के द्विकल ताल वाले रूप में छः गुरु रहेंगे। यथा—द्विकल चच्चत्पुट–SS SS SS SS तथा SS SS SS वाला द्विकल चाचपुट होगा। इसका कारण यह है कि जब एककल चच्चत्पुट में चार अक्षरों की आठ मात्राएँ होगी अतः द्विकल में सोलह मात्राएँ या आठ गुरु हो जाएंगे। एककल चाचपुट में चार अक्षरों की छः मात्राएँ होती हैं पर द्विकल में छः गुरु होते हैं। प्रकार दोनों तालों का द्विकल लक्षण वाला बनता है।

द्विकल भेद को दुगुना करने पर वह 'चतुष्कल' हो जाता है। जैसे आठ गुरु अक्षरों के द्विकल चच्चत्पुट को दुगुना करने से सोलह अक्षर होगें तो वह चतुष्कल भेद कहलाएगा।

छः गुरु अक्षरों से द्विकल चाचपुट होता है और उसे दुगुना कर देने पर बारह गुरु अक्षर होकर उतनी ही मात्रा वाले ताल को चतुष्कल चाचपुट कहेंगें। जैसे चतुष्कल चच्चत्पुट SSSS SSSS SSSS SSIS होगा और चाचपुट SSSS SSSS SSSS लक्षण वाला बनेगा। द्विकल भेदों में दो गुरु 'पादभाग' माने जाते हैं तथा चतुष्कल में चारु गुरुओं का एक पाद-भाग माना गया है, क्योंकि दो द्विकलों में आठ गुरु होते हैं अतः दो गुरु पाद अर्थात् चतुर्थ भाग होगा तथा चतुष्कल में सोलह गुरु होते हैं अतः वहाँ चार गुरुओं का एक पादभाग होगा। यह बात चच्चत्पुट के लिये है तथा इसी से चाचपुट के रूपों की कल्पना होती है।

मद्रक आदि गीतों में तथा गीत के मध्य ऊपर कहे गये द्विकल तथा चतुष्कल में वर्णित चार पादभाग मात्रा कहलाते हैं। यह मात्रा (यहाँ) परिभाषिकी है तथा शास्त्रीय संकेत से रखी गयी है। अतः यहाँ एककल, द्विकल तथा चतुष्कल शब्द में कला पद से गुरु समझना चाहिए तथा अन्यत्र कला का अर्थ मात्रा होगा।

त्र्यस्र ताल का एक भेद है—षट्पितापुत्रक। उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार यह एककल, द्विकल तथा चतुष्कल तीनों प्रकार का होता है इनमें प्रथमभेद यथाक्षर है जिसे एककल कहेंगें। इसमें प्रथम और अन्तिम अक्षर प्लुत रहेगा यही विशेष बात है तथा इसके शेष दो भेद पूर्वविधि के अनुसार द्विगुणित करने से बन जाते हैं। जैसे—SISSIS इस यथाक्षर षट्पितापुत्रक के द्विकल में बारह कला (मात्रा) रहेगी। जैसे–SS SS SS SS SS SS द्विकल है। इसे दुगुना करने पर चतुष्कल होगा। जैसे SSSS SSSS SSSS SSSS चतुष्कल षट्पितापुत्रक हो गया। इसके ही 'उत्तर' तथा पंचपानि नामान्तर है जिसे भरत ने बतलाया है।

त्र्यस्र चाचपुट का एक 'उद्घट्ट' नामक भेद होता है, इसके प्रकार में यथाक्षर एककल एक भेद ही होता है यह तीन गुरु का यथाक्षर रूप है–SSS।

सम्पर्कष्टक नामक ताल षट्पितापुत्रक का भेद होता है और यह यथाक्षर, एककल होता है। यह पाँच अक्षरों का है जिसमें प्रथम तथा अन्तिम प्लुत किया जाता है तथा बीच के शेष तीन गुरु रहेंगे। जैसे—'SSSS'।

इन उद्घट्टक तथा सम्पर्कष्टाक नामक तालों को अपने अपने कारणों से द्विकल तथा चतुष्कल किया जाता है। क्योंकि उद्घट्ट ताल का कारण चाच-

पुट होता है तथा सम्पर्केष्टाक का कारण षट्पितापुत्रक है। अतः एकल चाचपुट के प्रमाणानुसार द्विकल सम्पर्केष्टक समझना चाहिए। जैसे द्विकल उद्घट्टक का SSS SSS तथा द्विकल सम्पर्केष्टक का—SSSS SSSS SSSS रूप होगें।

इसी तरह चतुष्कल चाचपुट के प्रमाणानुसार चतुष्कल उद्घट्टक तथा चतुष्कल षट्पितापुत्रक के प्रमाणानुसार चतुष्कल सम्पर्केष्टक का–SSSS तथा SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS सम्पर्केष्टक होगे।

इन भेदों के अतिरिक्त चाचपुट के तीन भेद और होते हैं। इनमें चतुष्कल चाचपुट के बारह कला के भेद को दुगुना कर देने पर चौबीस कला का **प्रथम भेद** और इसका भी दुगुना कर अडतालीस कला का **द्वितीय भेद** तथा उसे पुनः दुगुना करने पर छियानबे कला का **तृतीय भेद** बनता है। क्रमशः उनके नियमानुसार रूप हैं—

प्रथम भेद—SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS

द्वितीय भेद—SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS
SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS

तृतीय भेद—SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS
SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS
SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS SSSS

उपरि वर्णित चच्चत्पुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक, उद्घट्टक तथा सम्पर्केष्टक इन पाँच तालों में पात–अर्थात् सशब्दः ध्रुव आदि क्रियाओं के साथ तथा कला–अर्थात् निश्शब्द–जिसमें आवापादि क्रियाओं का सम्बन्ध कैसे हो इसका विचार करते हैं।

पूर्व में जिन पूर्ण शब्दों को कहा गया उनके संकेत सूचक प्रथम अक्षर को लेकर व्यवहार करते हैं यथा-निष्काम का 'नि', विक्षेप-'वि', प्रवेश-'प्र'; ध्रुव-'ध्रु' तथा सन्निपात–सं। अतः एककल चच्चत्पुट का–'सं श ता शं' लक्षण होगा। इसमें प्रथम अक्षर सन्निपात से सम्बन्ध रखता है। जिसके लिये 'सं' का दूसरा अक्षर शम्या के लिये 'श' तीसरे ताल के लिये 'ना' तथा चतुर्थ अक्षर शम्या के लिये 'श' रखते हैं तथा इसी विधि से पात और कला का व्यवहार विस्तार भय के कारण नहीं रखा गया। चच्चत्पुट ताल के प्रथमाक्षर से यह लक्षण होगा–'श ता श ता' 'ता श ता श'।

इन बतलाये हुए दो प्रकारों में प्रथम प्रकार–(जिसमें प्रथम शम्या और दूसरा ताल है) की आसारित गीतों में योजना की जाती है तथा दूसरे प्रकार की (जिसमें प्रथम ताल और फिर शम्या की जाय) योजना पाणिकादि गीतों में रखी जाए। भरत मुनि के मतानुसार उपर्युक्त प्रकारों में दो दो भेद एककल चाचपुट में भी होते हैं।

ऽ । । ऽ
यथा—प्रथम भेद—श ता श ता

ऽ । । ऽ
द्वितीय भेद—ता श ता श

उत्तर या षट्पितापुत्रक नामक ताल में प्रथम सन्निपात, फिर ताल, फिर शम्या; फिर ताल, फिर शम्या और फिर ताल। इस प्रकार प्रथम से क्रमशः योजित किये जाते हैं।

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
यथा—'सं ता श ता श ता'

द्विकल चच्चत्पुट में क्रमश निष्काम, शम्या, निष्काम, ताल, शम्या, प्रवेश, निष्काम तथा सन्निपात की योजना की जाती है।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
उदाहरण—नि श नि ता शा प्र नि सं

द्विकल चाचपुट में क्रमश; निष्काम, शम्या, ताल; शम्या, निष्काम तथा सन्निपात की योजना की जाती है। उदाहरण—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
'नि श ता रा नि सं'।

द्विकल षट्पितापुत्रक में क्रमशः—'नि, प्र०; ता०, श०; नि०, ता०; ता, प्र०, नि० सं' योजित करते हैं। उदाहरण—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता रा नि ता नि श ता प्र नि सं

इस प्रकार बतलाए गये द्विकल षट्पितापुत्रक भेद के प्रत्येक पादभाग के पहिले आवाप—जिसे कि निश्शब्दात्मक क्रियाभेद कहते हैं—उसे मिलाने से तथा प्रत्येक पादभाग के मध्य में 'विक्षेप' नामक क्रियाभेद को मिलान करने से चतुष्कल षट्पितापुत्रक की कला विधि होती है। जैसे कि द्विकल षट्पितापुत्रक का प्रथमपाद भाग 'नि प्र' है इसके पूर्व आवाप मिलान

करने से और मध्य में विक्षेप मिश्रित करने से 'आ नि वि प्र.' के प्रमाण से पादभाग हो जाते हैं।

द्विकल षट्पितापुत्रक का दूसरा पादभाग 'ताश' है इसके पूर्व आवाप तथा मध्य में विक्षेप का मिलान करने से 'आ ता वि श'। तीसरा पादभाग 'नि ता' है। इसमें प्रथम 'आवाप' तथा मध्य में 'विक्षेप' मिश्रण से 'आ नि वि ता'। चतुर्थ पादभाग 'नि श' है। इसमें प्रथम 'आवाप' तथा मध्य में विक्षेप मिश्रण से 'आ. नि. वि. श.। पंचम पादभाग 'ता० प्र०' है। इसमें प्रथम 'आवाप' तथा मध्य में विक्षेप मिश्रण से 'आ ता वि प्र.। इसी प्रकार षष्ठ पादभाग में 'नि सं' है इसमें प्रथम आवाप तथा मध्य में विक्षेप मिश्रण से 'आ नि वि श' स्वरूप का पाद भाग होगा। उदाहरण—

ऽऽ ऽऽ ऽ ऽऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽ ऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ
आनिविश आनिविश आनिविश आनिविश आनिविश आनिविश

चतुष्कल षट्पितापुत्रक की कलाविधि उपर्युक्त रूप में होती है। चच्चत्पुट के प्रथम पादभाग में कनिष्ठिका अंगुली के द्वारा, दूसरे पादभाग में कनिष्ठिका अनामिका और मध्यमा इन तीनों अंगुलियों के द्वारा और चतुर्थ पादभाग में चारों अंगुलियों से कला की योजना की जाती है।

चच्चत्पुट ताल के तीनों पादों में क्रमशः कनिष्ठिका, अनामिका तथा तर्जनी अंगुलियों के द्वारा कला की योजना करनी चाहिए। भावी शम्यादिक पात सम्बन्धी हस्त से प्रयुक्त अवाप आदि की योजना रहे, पातयुक्त पादभाग में मात्र अंगुलियों के पात द्वारा कला नहीं रहती है क्योंकि अंगुलीपात मात्र से सशब्दत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती अतः पूरे हाथ से यहाँ वादन अभीष्ट है।

'उद्घट्टक' ताल में प्रथम निष्काम और फिर शम्या की जाती है।

ऽ ऽ ऽ
जैसे—नि श श।

सम्पर्कोष्टाक की कला षट्पितापुत्रक के प्रमाणानुसार रखी जाती है इसमें केवल इतना ही अन्तर है कि यहाँ (सम्पर्कोष्टाक में) सन्निपात नहीं

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
होता। जैसे—ता श ता श ता

सम्पर्कोष्टाक और उद्घट्टक ताल के द्विकल और चतुष्कल में कला का विधान अपने-अपने कारणों के समान रहेगा। अतः जैसे सम्पर्कोष्टाक का

कारण षट्पितापुत्रक के है तो षट्पितापुत्रक के द्विकल और चतुष्कल भेदों में जो कला का प्रमाण होगा उसी के अनुसार यहाँ द्विकल तथा चतुष्कल सम्पर्केष्टाक में भी कला विधान रहेगा।

'उद्‌घट्टक' ताल का कारण चच्चत्पुट है अतः द्विकल और चतुष्कल चच्चत्पुट में जिस प्रमाण का कला विधान हो उसी के अनुसार द्विकल तथा चतुष्कल उद्‌घटक में कलाविधान रहेगा।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
द्विकल उद्‌घट्टक का उदाहरण—नि श ता श नि श०।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
चतुष्कल उदघटक— आ नि वि श आ नि वि श आ नि वि श०।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
चतुष्कल सम्पष्टेपाक —आ नि वि श आ ता त्रि श

उदाहरण—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि नि श

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ ता वि श आ नि वि श

युग्म (अर्थात् चच्चत्पुट के एककल, द्विकल तथा चतुष्कल नामक तीन भेद तथा अयुग्म (अर्थात् चाचपुट) के एककल, द्विकल, चतुष्कल, अष्टकल, षोडशकल तथा द्वात्रिंशतकल ये छः भेद कहे जाते हैं। इनके परस्पर मिश्रण से दूसरे अनेक संकीर्ण ताल उत्पन्न हो जाते हैं।

आचार्यों ने गान्धर्व शास्त्रों में वर्णित पांच तालों को ही संकीर्ण माना जिनकी कला (गुरु रूप) क्रमशः पाँच, सात, नौ, दस तथा ग्यारह के प्रमाण में रहती हैं। अन्य आचार्य संकीर्ण ताल के चार प्रकार बतलाते हैं और उनमें क्रमशः प्रथमभेद के चौदह, दूसरे के पन्द्रह, तीसरे भेद के सोलह तथा चतुर्थ के सत्रह कला के प्रकार मानते हैं। और विना चचत्पुट और चाचपुट के प्रसार करने से जो भेद बनते हैं उन्हें खण्ड ताल बतला कर उनके प्रकार दिखलाये हैं। इन सभी को देशी ताल के विवरण में रखा गया है।

इस प्रकार इस विवरण से ताल के चार प्रभेद उभरते है—(१) चतुरस्र, (२) त्र्यस्र, (३) संकीर्ण तथा (४) खण्ड।

ताल की आवृत्ति या वार वार दुहराने को 'परिवर्त' कहते हैं (यह दो बार या वार वार करने पर बनेगा)। क्रिया की विरति रूप-क्रिया से

पांच लघु अक्षरों के उच्चारण द्वारा उपलक्षित काल ताल का प्रमाण होता है यह पूर्व में हम कह ही आये हैं।

लय—इस पूर्ववर्णित क्रिया के उपरान्त तुरन्त ही काल की विश्रान्ति करने में आवे तो वह 'लय' होगी। इसके तीन प्रभेद माने जाते हैं—(१) द्रुत, (२) मध्य तथा (३) विलम्बित। इनमें द्रुतलय में जितना विश्रान्ति काल हो उससे दुगुना विश्रान्ति काल 'मध्यलय' का और उससे भी दुगुना विश्रान्तिकाल "विलम्बित लय" का होता है।

दक्षिणमार्ग में चिरभाव, चित्रमार्ग में क्षिप्रभाव तथा वार्तिकमार्ग में मध्यभाव के प्रमाण से मार्गभेद के द्वारा लय के अनेक भेद बन जाते हैं। तालगत लय का गीत में उपयोग होता है परन्तु जो अक्षरगत, पदगत तथा वाक्यगत लय है उसका गीत में उपयोग नहीं होता। ऊपर कथित लय की प्रवृत्ति के नियम को 'यति' कहेंगे। यह समा, स्रोतोगता तथा गोपुच्छ–नाम से त्रिविध होती है। जब आरम्भ, मध्य तथा समाप्ति पर एक जैसी लय रहे तो 'समा' यति, जिसमें आरंभ, मध्य तथा अन्त में क्रमशः विलम्बित, मध्य तथा द्रुत लय हो तो प्रथम **'स्रोतोगता'** आरम्भ से अन्ततक विलम्बित और मध्य लय हो तो द्वितीय स्रोतोगता तथा आरंभ से अन्त तक मध्य और द्रुत लय हो तो तृतीय स्रोतोगता (या स्रोतोवहा) हो जाती है।

जैसे कोई जलप्रवाह प्रथम मन्दगति से और पुनः जलसमृद्धि होने पर शीघ्रता या द्रुत गति से चलता है या जलप्रवाह जलसमृद्धि होने से प्रथम एकदम गतिशील होकर बाद में जल की कमी के कारण मन्द गति से बहता है इसी तरह इस यति की गति को समझा जा सकता है।

तीसरा भेद इसका 'गोपुच्छा' है जिसके तीन प्रभेद हैं। इनमें जहाँ प्रथम द्रुतलय, मध्य में मध्यलय और अन्त में विलम्बितलय हो तो 'प्रथम–भेद' आरम्भ से अन्त तक द्रुत तथा मध्य लय रहे तो 'दूसरा भेद' तथा प्रारम्भ से अन्त तक मध्य तथा विलम्बित लय हो तो उसे तृतीय गोपुच्छा नामक भेद समझना चाहिये।

ग्रह—जिस स्थान पर ताल हो उसके प्रथम प्रहार को 'ग्रह' समझना चाहिए। यह ताल में तीन रूप से रहता है—(१) समग्रह, (२) अतीत-ग्रह तथा (३) अनागतग्रह। इनमें गीत, वाद्य तथा नृत्य के आरंभ के साथ जिसका काल हो तो 'समग्रह' किसी अर्थ को देखकर उसी समय ताल देना 'समग्रह' या 'समपाणि' भी है। जो गायन, नृत्य या वाद्य के वादन के

आरंभ होने के पूर्व रहता है वह 'अतीतग्रह' या 'अवपाणिग्रह' है। जो ताल गीत, नृत्य या वाद्य में जहाँ उचित हो वहाँ न होकर उसके पीछे देने में आती है तो वह **'अनागतग्रह'** या 'उपरिपाणि' है। सम अतीत और अनागतग्रह में क्रमशः मध्य, द्रुत और विलम्बित लय रखी जाती है।

तालों से युक्त सप्तगीत भरत ने कहे हैं—(१) मद्रक, (२) अपरान्तक (३) उल्लोप्यक, (४) प्रकरी, (५) ओवेणक, (६) रोविन्दक तथा (७) उत्तर। इनके विस्तार से विवरण देकर भरत ने इनके तीन प्रभेद— (१) निर्युक्त (२) पदनिर्युक्त तथा अनिर्युक्त भी दिखलाये।

इसके अतिरिक्त गीतों के सात अन्य प्रभेद भी हैं—(१) छन्दक, (२) आसारित, (३) वर्धमानक, (४) पाणिका, (५) ऋचा, (६) गाथा या गाथिका तथा (७) साम। इस प्रकार इन दोनों के मिल कर गीतों के १४ प्रभेद हो जाएँगें। इनको ब्रह्मा ने अपने मुख से स्वयं शिवस्तुति में कहा था अतः ये ब्रह्मप्रोक्त सर्वप्राचीन गीत हैं जिनके कुलक और भेद्यक दो भेद बनते हैं। यह भरत आदि का मत है।

देशीताल—उत्तरकालीन संगीतशास्त्रकारों ने देशी तालों का भी विवरण दिया है। तदनुसार सहृदय जिससे आल्हादित हो उस शोभावर्द्धक रीति से लघु, गुरु तथा प्लुत अक्षरों से परिमित होने वाले कांस्यादि (झांझ आदि) वाद्यों के वादन से रहने वाले **'देशीताल'** होते हैं। इनमें प्रसिद्ध तालों का विस्तार एक सौ बीस तक जाता है। इनके यहाँ ये भेद विस्तारभय से नहीं दे रहे हैं इन्हें संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों से देखा जाए। अप्रसिद्ध रहने से इनके अतिरिक्त अन्य तालों की भी यही स्थिति है। प्राचीन विद्वान् इस देशी ताल को खण्ड ताल भी कहते हैं क्योंकि इसमें गुरु, लघु तथा द्रुत अक्षरों की स्थिति देखी जाती है। यहाँ, द्रुत, लघु, गुरु तथा प्लुत के संकेताक्षर नियत हैं जो क्रमशः—द्रुत—'द्र', लघु—'ल', गुरु—'ग' तथा प्लुत—'प' रहते हैं। इनके संज्ञा सूचक चिह्न हैं—द्रुत—O, लघु। गुरु ऽ, प्लुत ऽ॑ तथा विराम का अर्थ शून्य V चिह्न है। देशी तालों में पूर्ववर्णित इसी रूप में ये संज्ञाचिह्न ऊपर लगाते हैं।

ध्रुवाओं में ताल तथा वादन विधान—पूर्वरङ्ग के अवसर पर जब भाण्ड वाद्यों का स्थापन होकर और त्रिसाम के उपरान्त 'आश्रावणा' रखते हैं जो बहिर्गीत में होती है। इसके बाद पूर्वरङ्ग के प्रसंग में नाट्यागार में पात्रप्रवेश होता है जिसमें उपयुक्त गति में जव पादसंचार कर प्रदक्षिणाक्रम रखते हैं तभी ('प्रावेशिकी') ध्रुवा रखते हैं। यहाँ यह त्र्यस्रा या चतुरस्रा

ध्रुवा रखी जाती है। त्र्यस्रा में त्रिकल पादपात और चतुष्कला में चतुष्कल पादपात होता है। उत्तम पात्र में चतुरस्रा, मध्यम में त्र्यस्रा ध्रुवा तथा अधम पात्र की स्थिति में नर्कुटक छन्दकों की योजना रखते हैं।

वाद्यभाण्ड का ग्रह—गीतारंभ के प्रथम परिवर्त में कुछ नहीं होता तथा चतुर्थ परिवर्त पर 'भाण्डग्रह' या वाद्य का ग्रहण ('ग्रह') किया जाता है। ध्रुवा में कुछ सन्निपात ग्रह–तथा कुछ तर्जनाग्रहा होती हैं तथा कोई आकाशग्रहा। इन ध्रुवाओं में ग्रह, कला, ताल होती है। अतः इस भाण्ड का ग्रह गति परिक्रमा के समय प्रमाण तथा स्थिति के अनुरूप रखना चाहिये। पूर्वरङ्ग की रीति के अनुरूप गायन भी रखना चाहिये तथा इनके आश्रित 'ग्रामों' की योजना होनी चाहिये।

प्रस्तुत नाटकादि रूपकों के 'सन्धि' प्रदेशों में मुखसन्धि में मध्यमग्राम, प्रतिमुख में षड्जग्राम, गर्भ में साधारित तथा विमर्श में पञ्चम तथा निर्वहण सन्धि में कैशिक स्वर को रखते हैं, ये सन्निवृत्त तथा प्रवृत्त के रूप में रखे जाते हैं। यहाँ मागधी आदि गीतियों का भी रूपक में समायोजन रखते हैं किन्तु यह सभी नाट्य की अपेक्षा से विचार पूर्वक रहता है जिससे नाट्यप्रयोग उज्ज्वल और गुणशाली हो सके।

ध्रुवाएँ—नाट्यशास्त्र का बत्तीसवाँ अध्याय 'ध्रुवाविधान' है। जिसमें ध्रूवा-विवरण रखा गया है। भरतमुनि के अनुसार 'नाट्य में गीती के द्वारा रससंचार को साधने का कार्य नाटच स्थिति के अनुरोध के साथ रखते हैं तथा इसी से नाट्य में भावदशा की तीव्रता तथा अधिकाधिक अनुभूति-प्रवणता को भी साधा जाता है। गीतों में 'ध्रुवा' का एक विशिष्ट स्थान 'नाट्य' में भरत ने दिखलाया और उनका विस्तार से प्रतिपादन किया। इनमें स्वर तथा वर्णों का उपयुक्त चयन, अलंकारों का समुचित संयोजन, शारीरिक भावभंगिमा और गीत के उत्कर्ष के साथ ध्रुवा की रचना रहती है जिससे नाटकीय पात्रों की गति, चेष्टा आदि को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। इन कारणों से ध्रुवागान नाट्यप्रयोग के लिये सर्वाधिक उपयोगी हो जाता है। भरत के अनुसार इनमें विनियोजित अंग नाट्यप्रयोग से सम्बद्ध हो जाते हैं, एक स्थायित्व के साथ और इसी कारण वे 'ध्रुवा' कहलाते हैं। अतः 'ध्रुवा' का स्वरूप भी वर्ण, अलंकार, लय, जाति तथा पाणि की नियमित स्थिति वाला होता है। ध्रुवा (गान) के पांच प्रभेद भरत ने किये हैं। यथा—(१) प्रावेशिकी, (२) नैष्क्रामिकी, (३) आक्षेपिकी, (४) प्रासादिकी तथा (५) अन्तरा।

प्रावेशिकी—इस ध्रुवा की प्रयोगयोजना पात्रों के प्रवेश के समय होता है। नाट्यार्थ तथा प्रमुखरस से सम्बन्धित गीतवस्तु को यहाँ रखी जाती है इस कारण इसका नाम भी अन्वर्थक है। यहाँ प्रवेश शब्द से ही प्रविष्ट होनेवाले पात्र के रस, भाव, अवस्था, जाति, कार्य आदि का अभिधान इष्ट है। इससे नाट्य के प्रधान रस तथा कथा का संकेत भी रसमय रूप में मिलता है।

नैष्क्रामिकी—अङ्क की समाप्ति पर पात्रों के रंगमंच से निष्क्रमण के समय गाये जाने वाले गीत को नैष्क्रामकी ध्रुवा कहते हैं। इसका प्रयोग कथावस्तु के एक भाग की परिसमाप्ति से नाट्यार्थ की अपेक्षित पूर्ति से सिद्धि को साधने की दशा में उपयुक्त समय दिखलाने में रखा जाता है। यदि पात्र का निष्क्रमण अङ्क के मध्य में आता हो तो उस समय भी इस ध्रुवा का संयोजन विशेष दशा में नाट्याचार्य दक्षता से रख सकता है।

आक्षेपिकी—नाट्यप्रयोग में प्रवहमान रस का अतिक्रमण कर अन्य रस का आक्षेप करने वाली 'आक्षेपिकी' ध्रुवा है। इसमें प्रायः द्रुतलय रखी जाती है। इसकी योजना पात्र के आकस्मिक पतन, रोग ग्रस्तता, मृत्यु की स्थिति आदि दशा में रखी जाती है।

प्रासादिकी—इस ध्रुवा में प्रवहमान रस के अतिक्रमण जन्य क्रमभंग का परिहार होकर वह पुनः यथास्थित रूप लेने के कारण दर्शकों के मनः प्रसादन तथा राग का उद्‌बोधन करने के अन्तर्गत होता है तथा यही इसका स्वरूप भी है। इस समय के प्रस्तुत गीतों से दर्शकों का मनः प्रसादन रहने से यह प्रक्षादन परायण 'ध्रुवा' भी कहलाती है। अतः नाटकीय कथावस्तु की अनुरूपता को दृष्टि में रखकर इसकी योजना किसी भी प्रसङ्ग तथा स्थान पर रखी जा सकती है। यह ध्रुवागान पूर्ववर्ती या आगामी रस का अनुसरण करने वाला होता है। विभावादिकों के उन्मीलन के द्वारा प्रस्तुत रस के निर्मलीकरण से पात्र की चित्तवृत्ति का सामाजिकों के समक्ष प्रकाशन ही 'प्रसाद' है तथा नाट्यप्रयोगों में जिसकी योजना प्रावेशिकी और आक्षेपिकी के अनन्तर आवश्यक रूप में रहती है।

अन्तरा या आन्तरी—नाट्यप्रयोग के चलते रहने की दशा में पात्रों के मूर्च्छित हो जाने या वस्त्र आभूषण आदि धारण करने की क्रिया के बीच जो समय खाली रहे उसमें इस अव्यवस्थित समय क्रम को ढँकने के लिये गीत की योजना रखना 'अन्तरा' या मध्यवर्ती ध्रुवा कहलाता है। इसके द्वारा प्रेषकों

का मनःप्रसादन और रागोब्दोधन साधा जाता है, उनका गीत की ओर ध्यान चला जाता है तथा प्रयोग की समयजन्य रिक्तता की ओर से हट भी जाता है तथा यह गान पूर्ववर्ती और भावी रस का अनुगमन भी करता है। आचार्य **अभिनवगुप्त** ने इसकी व्युत्पत्ति—'अन्तरे छिद्रे गीयते इत्यन्तरा ध्रुवा' की है जिसका कार्य छिद्र या दोष का प्रच्छादन भी होता है। परन्तु शारदातनय के मत में इस ध्रुवा का नाट्यप्रयोगजन्य त्रुटि या दोष का आच्छादन मात्र नहीं किन्तु अङ्क की परिसमाप्ति में इसका गायन भी होता है जो उपसंहारात्मक रूप में होता है।

ये पांचों ध्रुवा गान नाट्यप्रयोग में प्रवर्तमान रस, भाव, देश, ऋतु, काल आदि के सन्दर्भ से युक्त होते हैं और इनका नाट्यकथा के तथा नाट्यकला के एक अङ्ग के रूप में प्रयोग किया जाता है इसीलिये इनका प्रयोग-क्रम अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। प्राचीन काल में विद्यमान नारदादि से प्रोक्त जिन गीतों को सप्तगीत के अङ्गों से लेकर तथा उनके अङ्गों को भी इसमें समाविष्ट किया गया था तथा जो ऋतुग्, पाणिका, गाथा और सप्तगीताङ्ग स्वरूप था वही भरत ने आगे 'ध्रुवा' के रूप में विस्तार से दिखलाया है। कवि के द्वारा रचित 'गीत' के रूप में रहने से इन्हें उत्तरकालीन आचार्य **रामचन्द्र गुणचन्द्र** 'कवि ध्रुवा' का नाम देकर उनका प्रयोजन नाट्यप्रयोगगत भाव तथा रसादि की समृद्धि देने वाला मानते हैं।

ध्रुवाओं के विस्तृत विवरण से यही प्रतीत होता है कि ये नाट्यप्रयोग में पात्रों के कार्य और मनोभावों को अभिव्यक्ति देने के लिये पार्श्वसंगीत का कार्य भी करती थीं। और इनमें रहनेवाली अभिव्यंजनाएँ गीत के कार्य और छन्दों में रखी जाती थी, जो कि लोकभाषा में लय और ताल के साथ होती थीं। ध्रुवागान के समय उनकी संगति या अनुगमन के लिये दो वीणाएँ रहती थीं जो अभिव्यक्ति की शक्ति की संवर्द्धिका होती थी।

विविध छन्दों से निर्मित एवं काव्यत्वसम्पन्न पञ्चविध ध्रुवाओं के अंग इस प्रकार रहते हैं:—

(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) वैहायसक, (४) स्थित, (५) प्रवृत्त, (६) वज्र, (७) सन्धि, (८) संहरण, (९) प्रस्तार, (१०) उपवर्त, (११) माषघात, (१२) चतुरस्र, (१३) उपपात, (१४) प्रवेगी (१५) शीर्षक, (१६) सम्पिष्टक, (१७) अन्ताहरण तथा (१८) महाजनिक[1]।

---

१. अङ्गों के लक्षण ना० शा०—३२ में यथास्थान द्रष्टव्य।

ये सभी पांचों ध्रुवाओं के अंग हैं। इनकी पांचों ध्रुवाओं में भरत ने विभाजन पूर्वक योजना भी रखी है। सर्वप्रथम इसमें एक वस्तु जिसमें रहे वह 'ध्रुवा', दो वस्तु रहने पर परिगीतिका, तीन वस्तु के होने पर 'मद्रक' तथा चार वस्तुओं के होने पर 'चतुष्पदा' समझना चाहिये। ध्रुवा के पांचों प्रवेशिकी आदि प्रभेदों में अंगों का विभाजन इस प्रकार रहता है:—

प्रावेशिकी ध्रुवा में–प्रवृत्त, उपवर्तन; वज्र तथा शीर्षक।

क्षड्डिता में—प्रस्तार, माषघात, माहाजनिक, प्रवेणी तथा अवपात।

अवकृष्टा ध्रुवा में—मुख तथा प्रतिमुख।

स्थिता ध्रुवा में—वैहायसक तथा अन्ताहरण।

अन्तरा ध्रुवा में—सन्धि तथा प्रस्तार।

सप्तगीतों में विद्यमान जो कलाएँ तथा जो अंग जैसे छन्दों में स्थित वृत्तों से प्रकट होते हैं वैसे ही ध्रुवाएँ भी छन्दोगत वृत्तों से अभिव्यक्ति पाती हैं। ध्रुवाओं में त्र्यस्र तथा चतुरस्र तालों को जिनमें प्रथम षट्कल तथा दूसरी अष्टकल है—योजित रहती है। पद और वर्ण की समाप्ति पर आने वाले गीतकांग है—वृत्त,विवध विदारी तथा एकक हैं। इनमें उत्तम प्रकृति के पात्र विदारी, मध्यम प्रकृति के 'विवध' तथा अधम पात्र में 'एकक' अंग रखा जाता है, अतः इनमें प्रयोज्य छन्दादि बतलाए जारहे हैं।

ध्रुवाओं के छन्द—छन्दोगत पादों के विस्तार को ध्यान में रखते हुए ध्रुवाओं को रखने की विधि भरत ने बतलायी; जिससे वे उपयुक्त रस, स्थिति तथा विविध शारीरिक चेष्टाओं को अभिव्यक्त करने में सक्षम हो जाती है जैसे देवताओं के निर्विघ्न कार्यों को दिखलाने में अनुष्टुप् वृत्त का प्रयोग रखते हैं। प्रावेशिकी ध्रुवा में वक्त्र तथा अपर वक्त्र वृत्त उपयुक्त होते हैं जब कि पुट और चूलिका जैसे वृत्त नैष्क्रामिकी के उपयुक्त होते हैं। सभी ध्रुवाओं में तीन प्रकार के वृत्त रहते हैं—(१) बहुलगुरु या सर्वगुरु (२) लघु बहुल या सर्वलघु तथा (३) गुरु लघु मिश्र। इसमें गुरु अक्षरों वाली अवकृष्टा ध्रुवा; अधिकांश भाग में लघु अक्षरों वाली 'द्रुता' ध्रुवा तथा शेष ध्रुवाओं में मिश्र लघु गुरु जाति के अक्षर वाले वृत्त रहते हैं। जो वृत्त अल्प (लघु) अक्षरों के और अनेक छन्दों में होते हैं उनकी योजना स्थितावकृष्टा तथा आक्षेपिकी ध्रुवा में रखी जाती है। इसी प्रकार ओज तथा युग्म प्रमाण वाले छन्द आक्षेपिकी ध्रुवा में विनियोजित करते हैं तथा (लघु और गुरु) युग्म अक्षरों द्वारा निर्मित सभी जातियों के छन्द तथा वृत्तों के स्थान तथा संज्ञाएँ निर्धारित भी हैं। यथा—

(१) श्रीः, (२) वृत्ति, (३) रजनी, (४) प्रतिष्ठा, (५) सुप्रतिष्ठा, (६) भ्रमरी, (७) जया, (८) विजया, (९) विद्युद्भ्रान्ता, (१०) भूतलमान्या, (११) वागुरु, (१२) शिखा, (१३) धृतपंक्ति[1]। ये उपर्युक्त जातियाँ सुप्रतिष्ठा जाति की ध्रुवाओं में रखते हैं। गायत्री की जातियाँ इस प्रकार होती हैं—

(१) तनुमध्या, (२) शालिनी, (३) मकरकशीर्षा, (४) विमला, (५) गीर्या, (६) गिरा, (७) जला, (८) सुमन्दा, (९) ललिता, (१०) पंक्ति, (११) नलिनी तथा (१२) नीलतोया। ये सभी जातियाँ समवृत्त से उत्पन्न होने वाली होती हैं।

उष्णिक् जाति की ध्रुवाएँ निम्न हैं—

(१) चपला, (२) तन्वी, (३) मानिनी, (४) भ्रमरमाला, (५) भोगवती, (६) मधुरिका, (७) सुभद्रा, (८) कुसुमवती, (९) समुदिता, (१०) मनोज्ञा, (११) दीप्ता तथा (१२) चलगति। ये जातियाँ स्थित प्रासादिक विषयिणी हैं।

अनुष्टुप् जाति की ध्रुवाओं की जातियों में—(१) रुचिरान्ता, (२) प्रमिता, (३) विगतशोका, (४) अवकृष्टा, (५) ललितवृत्त, (६) समानवमात्र। ये जातियां स्थित ध्रुवा की हैं तथा ये प्रवेश एवं सूचना देने में प्रयुक्त की जाती हैं।

त्रिष्टुप् जाति की ध्रुवाओं में—(१) चपला, (२) कमलदलाक्षी, (३) पुष्पसमृद्धा, (४) मुखचपला, (५) विमला, (६) रुचिरा तथा (७) अपरवक्त्र हैं।

जगती की इस प्रकार की ध्रुवा हैं—(१) कमललोचना, (२) अतिचपला, (३) षट्कुलिता। ये तीनों हैं।

इस प्रकार बतलाई गयी ये प्रतिष्ठा से लेकर जगती तक की जातियाँ चतुरस्रा ध्रुवा में समायोजित होती हैं। त्र्यस्रा ध्रुवा में पांच गण के बाद तथा चतुरस्रा ध्रुवाओं में आठ गण के बाद सन्निपात रखते हैं। ध्रुवाओं में दो पाद और एक सन्निपात रहता है।

गण और मात्राओं के विषय में उपर्युक्त विचार के प्रकाश में देखें तो

---

१. इन सभी छन्दों के सोदाहरण लक्षण ना० शा० अध्याय ३२ में यथास्थान द्रष्टव्य।

त्र्यस्र में अक्षर समुदाय ५९ होता है जिसमें प्रथम आठ सर्वगुरु तथा तेरह वर्ण लघु होते हैं।

शीर्षक नाना वृत्तों में होते हैं—शीर्षक में चार पाद होते हैं जो प्रत्येक चार-चार गण के होते हैं। एक गण चार मात्रा का गुरुलघु अक्षरों वाला होता है। शीर्षक के एक पाद में २१ से २६ अक्षरों का समुदाय रहता है। अतः जहाँ पूर्वार्ध के एक पाद में चार ह्रस्व गण और चार मिश्रगण और अन्त में शेष लघुवर्ण रहें तो वह 'शीर्षक' होगा। शीर्षकोंका भरत ने विस्तार से विवरण रखा है।

ध्रुवाओं के अन्त में रहने वाले तीन संयोग या स्थितियाँ होती हैं—(१) सर्वदीर्घ, (२) सर्वलघु तथा (३) गुरु-लघु-मिश्रित। इनमें स्थिता ध्रुवा ओघ अंश में गुरु अक्षरों वाली तथा द्रुता अधिकांश में लघु अक्षरों वाली और प्रासादिकों और अन्तरा ध्रुवाएँ गुरु तथा लघु अक्षरों से मिश्रित संयोग वाली रहेगीं।

'नर्कुटक' की भरत ने आठ जातियाँ दिखलाईं—(१) रथोद्धता, (२) बुद्‌बुदक, (३) उद्‌गता, (४) वंशपत्र, (५) प्रमिताक्षरा, (६) ध्वजवती, (७) हंसास्य तथा (८) तोटक। इनके लक्षणादि का भी भरत ने विचार कर **'खञ्जक'** के तीन प्रभेद—(१) प्रमोद, (२) भाविनी तथा (३) मत्तचेष्टित। ये मूल जातियाँ हैं। ये सभी सम अक्षरों वाली रहने पर **'समवृत्ता'** तथा अन्य विषमवृत्त वाली होंगी। समवृत्ता के भी समा, अर्धसमा और विषमा भेद होते हैं।

ध्रुवाओं के सहेतुक प्रभेद पाँच होते हैं। यथा—(१) जाति, (२) स्थान, (३) प्रकार, (४) प्रमाण तथा (५) नाम। इनके आधार पर ध्रुवाएँ प्रावेशिकी आदि होती हैं जिसका विवरण पूर्व में दिया जा चुका है।

ध्रुवाओं का स्थान—ध्रुवाओं का द्विविध स्थान भरत ने दिखलाया—(१) आत्मस्थ तथा (२) परस्थ। इनमें जब स्वयं को लक्ष्य कर गीत या ध्रुवा गान रहे तो **'आत्मस्थ'** तथा दूसरे या अन्य को उद्दिष्ट कर ध्रुवागान हो तो **'परस्थ'** होगा। भरत ने प्रावेशिकी आदि ध्रुवाओं के प्रयोग के प्रदेश पात्र, मनोदशा आदि का विस्तार से प्रतिपादन किया है।

ध्रुवाओं का आश्रय प्रयोजन-वश तुल्य गुण के आधार पर रखते हैं। उत्तम, मध्यम तथा अधम पुरुष तथा स्त्री पात्रों का उनके अपने स्वभाव तथा

गुण के अनुरूप साम्य देखकर रखा जाता है तथा इसी प्रकार देवता दैत्य और राक्षसों का भी होता है जिसके साम्य के निर्देश भरत ने विस्तार से दिये हैं। जैसे—सिद्ध, गन्धर्व तथा यक्षों का औपम्य वृषभ आदि से तथा तपस्वियों का सूर्य और अग्नि से रखते हैं। देवों का विद्युत्, उल्का तथा सूर्य आदि से तथा देवता के सदृश प्रतापधारी राजा का भी इन्हीं पदार्थों से या सिंह और गजराज से भी रखते हैं। उत्तम पुरुषों की राजहंस या मत्त गज से तुलना रखी जाती है। मध्यम की उनके अनुरूप सारस, मयूर, क्रौञ्च पक्षी तथा पद्मखण्डों आदि से तथा अधम की कोकिल, भ्रमर, बगुला, काक, कादम्ब जैसे-पक्षी से रखी जाती है। इसी प्रकार इन उत्तम, मध्यम और अधम स्त्रियों की भी योजना इस प्रकार होगी—राजरानी की उपमा पृथ्वी, ज्योत्स्ना, नदी आदि से, मध्यम स्त्रीजन तथा वैश्य आदि वर्णों की स्त्रियों की लता, दीर्घिका, टिट्टिभी आदि से तथा अधम स्त्रीजन की भ्रमरी, क्रौञ्ची तथा कोकिला आदि से रखी जाती है।

ध्रुवागीति के अवसर—सौम्य ध्रुवाओं को पूर्वाह्न में, दीप्त ध्रुवाओं को मध्याह्न में तथा करुण को अपराह्न में घटित दिखलाया जाता है। प्रत्येक स्थावर तथा जंगम वस्तु के तुल्य सुख और दुःख को दिखलाते हुए ध्रुवा की योजना की जाती है। 'गायन का आश्रय लेने वाला कोई भी 'पद' वृत्त के बिना नहीं रहता है अतः गीति को देखकर तदनुसारी वृत्त वाली ध्रुवा की योजना रखी जाती है[1]। अतः प्रसादनरूपी अर्थ का आश्रय लेने वाली तथा श्रृंगार रस की दशा होने पर अर्थानुगामी ध्रुवाओं की योजना नियमतः रखी जाती है।

ध्रुवाओं के कार्य या विषय—स्त्री तथा पुरुष पात्रों की दशा में जो कि उत्तम, मध्मम या अधम हो—जो उनको तुलना के योग्य विषय वाला होता है तथा जिनका विवरण किया जा चुका है अब यहाँ कुछ उदाहरणों से उन्हें थोड़ा दिखलाते हैं जहाँ उनकी अनुरूप स्थिति प्रस्तुत की जाती है। यथा[2]—

(क) ताराबन्धु एस णहे विक्किरमाणो मेहपडम्।
किरणसहरसविभूसिदओ उअदि सोम्मो रअणिकरो।

---

१. नास्ति किञ्चिदवृत्तं तु पदं गानसमाश्रयम्।
तस्माद् गीतिमभिप्रेक्ष्य तद् वृत्तां योजयेत् ध्रुवाम्॥ (ना० शा० ३२, पृ० ३२३)

२. इन ध्रुवाओं के अर्थ यथा स्थान इसी ग्रन्थ में देखिये।

(ख) दिअगण-मुणिगण-संथुदओ
तविद-कणअ-वरसंणिगदेहो ।
दुदमिह णहदलमहिरुहमाणो
विअरदि सपदि दिवसकरो ॥

इसी प्रकार उत्तम मध्यम स्त्रीपात्रों तथा पुरुषों की तुलनावाली ध्रुवाओं के भी कुछ उदाहरण यहाँ रखते हैं । यथा—

(१) कमलाकरम्मि भराअिअम्मि अध गंधबहुलम्मि सरदे ।
णाहणिय जले प्पिआहिमुही आरभेदि कमलवणे हंसी ॥
(२) भारुण्णाओ पच्चतओ मेहामे संवहओ ।
(३) ऐसा हिमाइदं विक्खित्तपत्तवं ।
दट्ठूण पादवं हंसी परुदिता ॥
(४) मधुकाणणे भमिअ एस चिरं जुवइमुहासवसमुव्विहिदो ।
कमलाकरे स्तुरभियंकजए अवहिंडदे सरदि हंसजुवा ॥

इस प्रकार इन ध्रुवाओं में उदाहरण से भी भरत ने अपने विवरण की पूर्ति कर सम्पुष्टि की है ।

इनमें प्रयुक्त वृत्त या छन्दों से भी जिनके पादों की योजना भी सांकेतिक रहती है विभिन्न स्थितियों मनोभावों तथा कार्यों को संकेत ये दिखलाती हैं तथा सभी ध्रुवाओं की रसानुभूति तथा रसपरिपाक में आधार बनती है । इनका विचार हम यहाँ स्मरणार्थ दोहरा रहे हैं—जो पूर्व में बतलाया जा चुका है ।

ध्रुवाओं की भाषा—ध्रुवाओं के विषय में गीति के कारण सामन्यतः यह नियम है कि वे शौरसेनी भाषा में हों परन्तु कुछ प्रसंगों में से मागधी, संस्कृत या अर्धसंस्कृत में भी प्रस्तुत की जा सकती हैं । अधमपात्रों की दशा में मागधी में ध्रुवा प्रस्तुत की जाती है परन्तु संस्कृत का प्रयोग दिव्यपात्रों के स्वर्गीय वातावरण में तथा मानव और देवपात्रों की मिली-जुली अवस्थाओं या वातावरण के रहने पर अर्धसंस्कृत भाषा की भी योजना रखी जा सकती है ।

प्राकृत छन्द-परम्परा—यह सर्वविदित है कि प्राकृत भाषा ने लोक-जीवन की आधारभूमि पर अपना विकास किया था अतः उसमें नृत्य और संगीत के अनुगमन पर छन्दोविधान रहा । इनमें मात्रा छन्दों की जो स्थिति रखी गयी थी उसका ताल तथा लय से गहरा सम्बन्ध था तथा ऐसे छन्दों में ध्रुवाएँ भी इन्हीं गुणों से आ गयी थी । भरत ने नाट्यशास्त्र में

प्राकृत भाषा में निबद्ध गायत्री, उष्णिक्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती जैसे वैदिक छन्दों को ध्रुवा के उदाहरणों में प्राकृत भाषा में प्रयुक्त दिखलाया है जो इन छन्दों के लोक भाषा के प्राचीन उदाहरण हैं क्योंकि संस्कृत भाषा के वैकासिक दबाव के कारण बाद में इनका प्रयोग किन्हीं नाट्यरचनाओं में अधिक नहीं किया जाता था यह उनके अनुशीलन से स्पष्ट प्रकट होता है। इन प्राकृत छन्दों में गणों या वर्णों का उतना विचार नहीं रहता जितना चरण, अर्द्धाली या समग्र पद्य की मात्रात्मक संख्या तथा ताल और लय का होता है तथा प्राकृत भाषा में ऐसे ही छन्दों का बाहुल्य भी देखा जाता है। ये वर्ण छन्दों की तरह अतुकान्त होते हैं। अतः जैसे संस्कृत छन्दों की परम्परा का प्रतीक 'अनुष्टुप्' है। वैसे ही प्राकृत का गाथा या आर्या है जिससे यह भी स्पष्ट है कि प्राकृत का मूल स्रोत मात्रिकता में प्रवहणमाण था।

यदि प्राकृत भाषा की प्राचीन रचनाओं पर दृष्टि डालें तो **प्रवरसेन** तथा **वाक्पतिराज** की रचनाओं में प्राकृतभाषा के परम्परागत उपर्युक्त छन्दों का विधान दृष्टिगत होता है जो कि उत्तरभावी प्राकृत कवि राजशेखर की प्रसिद्ध कृति 'कर्पूर मंजरी' में परिवर्तित है जहाँ संस्कृत के वर्णिक् वृत्तों की प्राकृत भाषा में योजना रखी गयी है। इस प्रकार तब प्राकृतभाषा के मात्रा-छन्दों की परम्परा से थोड़ा भी न हटते हुये इसमें सभी छन्दों के समायोजन से समृद्ध करने की प्रवृत्ति का संचार अवश्य हुआ किन्तु फिर भी प्राकृत की मात्रा-छन्दों की शैली के प्रति कोई अरुचि नहीं बनी और इसी कारण आज भी भारतीय भाषाओं में प्राकृत की यह बिरासत बराबर बनी रही चाहे इन छन्दों या वृत्तों का वैसा ही प्रयोग न भी रहा हो। अतः यही मानना पड़ेगा कि प्राकृत की छन्दः परम्परा अक्षुण्ण तथा जनप्रिय है। इसी कारण महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध त्रोटक विक्रमोर्वशीय में प्राकृत ध्रुवाओं के समायोजन को भरत के नाट्यशास्त्र के निर्देशों के अनुरूप तथा इन्हीं के अनुसरण के रूप में प्रस्तुत किया जिनका मूल लोकपरम्परा में भी था।

ध्रुवाओं के ताल तथा ग्रह—ध्रुवाओं के रङ्गमञ्च पर प्रस्तुतीकरण के प्रसंग में कला तथा पादपातों की स्थिति में उपयुक्तता को ध्यान में रख कर 'ताल' रखी जाती है। इनसे गायी जाने वाली ध्रुवाओं के साथ रहने वाली ताल की स्थिति का तथा इनके महत्त्वपूर्ण योगदान रहने की सूचना मिलती है तथा इनका महत्व भी प्रकट होता है। इसीलिये भरत ने 'ताल' का एक विस्तीर्ण तथा स्वतन्त्र अध्याय में विस्तार से विवरण दिया है।

इससे स्पष्ट है कि सांगीतिक प्रतियों में प्रयुक्त वाद्ययन्त्रों के वादन के अवसर पर 'ताल' का रहना तथा ऐसे वाद्यों का वादन कितना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त ध्रुवाओं के साथ होनेवाले वाद्यवादन के लिये भरत ने ग्रह, मोक्ष आदि के कुछ नियम दिखलाकर इस विधान का निदर्शन किया है। जिससे ध्रुवाओं का व्यवस्थित प्रस्तुतीकरण 'नाट्य' में हो सके। ध्रुवाओं से सम्बद्ध तालों का भी इसी प्रसंग में भरत ने बहुत मनोयोग से विचार किया है जो नाट्यशास्त्र के इस अध्याय के अनुशीलन से स्वतः स्पष्ट होता है।

ध्रुवाओं की विशिष्ट अभिव्यंजकता—पूर्व में ध्रुवाओं की जिन स्थितियों को दिखलाया गया तथा पात्रों क मनोभावों में उनकी योजना की विधि को निर्दिष्ट किया गया उनके अतिरिक्त इन ध्रुवाओं से समय तथा घटनाओं को भी (संकेत) अभिव्यक्त किया जाता है। जैसे प्रावेशिकी ध्रुवा की योजना से किसी पूर्वाह्न में घटित घटना का संकेत इष्ट होता है तथा नैष्क्रामिकी ध्रुवा निरन्तर दिन और रात्रि में घटित घटनाओं का समय दिखलाती है इनमें कुछ सौम्य या विशुद्ध रूप की ध्रुवाओं से प्रातःकाल की स्थिति और उससे उदय और नैर्मल्य की व्यंजनाओं से तथा करुण ध्रुवाओं से अपराह्न या सन्ध्या का काल निर्देशन कर पात्रों की अवसाद तथा चरम-दशाओं कर संकेत साधा जाता है।

नाट्यशास्त्रकार ने गायक तथा वादक आदि के गुणदोषों की भी खुले रूप से चर्चा कर उनकी 'नाट्य' में अपेक्षाओं का वितरण दिया और शास्त्रीय दायित्व निर्वाह कर पूर्णता प्रदान की।

अवनद्ध वाद्य—नाट्यशास्त्र का तैंतीसवाँ अध्याय अवनद्धातोद्यविधान है। इस अध्याय के आरंभ में ही भरत ने इसमें 'वाद्य' की उत्पत्ति की एक प्राचीन गाथा बतलायी कि एक दिन स्वाति मुनि जब आश्रम से निकल कर एक कमलपूरित सरोवर में स्नान करने चले तो वर्षा की बूंदों के गिरने से तालाब में कमल पत्तों पर गिर कर शब्द करने वाली एक विचित्र ध्वनि से उन्होंने बड़ा ही आनन्द प्राप्त किया तथा उनने उन पत्तों के आकार और कार्य को बड़ा ही व्यावहारिक एवं उपयोगी रूप देते हुये विश्व-कर्मा की सहायता और अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर मृदंग वाद्य की सृष्टि की। इसमें नियमित स्वरों की ध्वनि से उत्पन्न कार्य से आगे तालवाद्य को उदित करते हुये उसे एक महत्त्वशाली संगीत उपकरण के रूप में विकसित कर डाला। इन अनेक तालदायी अवनद्ध वाद्यों से मृदंग, पणव तथा दर्दरक

अधिक महत्वपूर्ण स्वरूप को प्राप्त कर गये क्योंकि नाट्यप्रयोग में इनकी उपयोगिता अधिक महत्व की अनुभव की गयी और उपयोगी भी रही। इन वाद्यों में भेरी, पटह, दुन्दुभि और डिण्डिम ऐसे वाद्य हैं, जिनकी ध्वनि बड़ी ही गंभीर होती है तथा दूरगामी या ऊँची रहती है। इन वाद्यों के वादन में सोलह अक्षरों की ध्वनियाँ निकालकर उनसे वादन की नियमित विधि बनाई गयी जिसे **'वाष्करण'** कहते हैं। ये अक्षर (व्यंजन) सोलह हैं—

क०, ख०, ग०, घ०, ट०, ठ०, ड०, ण०, त०, थ०, द०, ध०, म०, र०, ल०, ह०, जो स्वरों के साथ—जो कि—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः हैं—मिलाकर सभी प्रकार के वादन के वाष्करण को जन्म देते हैं जिन्हें इनके बोल कहते हैं आजकल के वादन में। मृदंग वादन इस प्रकार व्यवस्थित क्रम में आकार ग्रहण करते हुये नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित हुआ—

मुख्य तीनों अवनद्धवाद्य—मृदंग, पणव तथा दर्दर अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त हैं तथा इनमें इस विषय में कुल तो समानताएँ और कुछ शिल्पगत विभिन्नता से कार्य में भिन्नता आती है। इन रूपों का शास्त्रीय बन्धान इस प्रकार का हैं—चार मार्ग, विलेपन विधान, षड्करण, त्रिविध यति, त्रिलय, त्रिविध गति, त्रिविध प्रकार, त्रिसंयोग, त्रिविध पाणि, पञ्च पाणिप्रहत, त्रि-प्रहार, त्रिविध मार्जनाएँ, अष्टादश जाति तथा बीस प्रकार। इस शास्त्रविधान से अवनद्ध वाद्य विधान को भरत ने व्यवस्थित रूप में इस अध्याय में रखा है।

इससे यह भी स्पष्ट होता है अवनद्धवाद्यवादन एक शोभादायी संगत से युक्त मिश्रित या मिलाजुला प्रयोग है जिससे नाट्यप्रसूति को गुणशाली बनाया जाता है। इसलिये इसमें इतनी अधिक विभिन्नताएँ बनती हैं उनसे विभिन्न पात्रों की गतिविधियों को अपनी संगति से युक्त बनाकर रखा जाता है। जैसे कि—पात्रों की गति प्रचार तथा शारीरिक चेष्टाओं के अवसर पर विशेष दक्षता से वादन को चार या तीन कलाओं की ताल में रखकर प्रस्तुत करना जो कि लय से युक्त होता है। इसके अतिरिक्त नाट्य में आने वाले किन्हीं पदार्थों जैसे नाव का चलना, रथ की गति, आकाशयान का बढ़ना, पक्षियों की आकाश गति, दिव्य पात्रों की आकाश आदि में गतियों को दिखलाना आदि है। इनमें वाद्यवादक अपने दक्ष हाथों की अंगुलियों को दौड़ाते हुए वाद्य के विभिन्न स्थानों पर प्रहार कर जो अनुगामी वादन करता है;

वह विधि के अनुरूप चतुष्कल प्रहारों आदि से युक्त रखा जाता है। यह कार्य क्रमशः दोनों हाथों से वादक सम्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त जब नाट्यप्रदर्शन में दुःख या अवसाद की दशा कोई शारीरिक विपदा या रोग-ग्रसता; प्रियजन की विपदा या मृत्यु, सम्पत्ति का विनाश, वध या कारागर की स्थिति; प्रतिज्ञा, व्रत या उपवास आदि की स्थितियाँ रहें तो वाद्यवादन के उत्थापन में आलिप्तमार्ग के अनुसार विधिवत् शास्त्रवर्णित विधि का वादन रखा जाता है।

इसके अतिरिक्त इस वाद्यवादन को पात्रों के उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप में रहने, स्त्री या पुरुष के रूप में होने या नपुंसक आदि के होने पर उनसे सम्बद्ध विधि का अनुसरण कर (नाट्यशास्त्र में वर्णित विधि से) वादन रखा जाता है। इनसे सम्बद्ध अनेक नियमों का नाट्यशास्त्र ने शास्त्रानुगत विवरण दिया है।

अवनद्धवाद्य का निर्माण—भरत ने जहाँ वाद्यवादन क्रम में अवनद्ध-वाद्यों के वादन की विधि बतलाई वहीं उनके द्वारा इन वाद्यों में आदिभूत मृदङ्ग के निर्माण का भी विस्तार से तथा इस कार्य के लिये अपेक्षित विस्तार से विवरण दिया। एक उत्तम मृदंग के निर्माण में वे सभी कार्य और उप-करणों का जैसे मृदंग में लगाये जाने वाले चर्म, वध्रों (बद्धों) आदि का विवरण तो दिया ही, इस विषय में किसी भी बात को छोड़ा नहीं गया जो कि आवश्यक हो। यहाँ तक कि अवनद्ध वाद्यों के निर्माण के बाद उनके आरंभ के मुहूर्त्त में रहने वाली सभी धार्मिक अनुष्ठान क्रियाओं का तथा उसके देवता आदि का बड़ा ही विस्तार से विवरण देकर ऐसे समय आयो-जित समारोह की विधि दिखलाई गई है तथा विविध देवगणों की उपासना का भी विवरण रखा गया है।

इसके अतिरिक्त मुनि ने एक अच्छे अवनद्धवाद्य मृदंग के लक्षण तथा उसके गुणों का भी विवरण दिया तथा मृदंग के उत्तम वादक का भी लक्षण दिखलाया। पणव के वादन की भी विधि आदि दिखलाकर अवनद्धवाद्य-वादन के नियमों का भी विवेचन किया। भरत ने एक उत्तममृदंगवादन, उत्तममृदंगादिवाद्य तथा उनके वादन की विधि इन तीनों का विवरण देकर यह भी बतलाया कि सर्वप्रथम तो मृदंग जैसे अवनद्धवाद्यों के वादन का ध्यान से सम्पन्न करना अपेक्षित है, क्योंकि यह नाट्यप्रदर्शन का आधार होता है तथा इसी वाद्यवादन के साथ गीत आदि के ठीक से प्रस्तुत हो जाने

पर नाट्यप्रयोग की पूर्णता के हो जाने से फिर इसके सफल रहने में किसी प्रकार की आशंका नहीं रहेगी[1]।

गायक एवं वादकों की आसन व्यवस्था—भरत ने नाट्यप्रयोग के समय गीत और वादन की शास्त्रीय विधियों के अतिरिक्त गायकों तथा वादकों के उपवेशन का भी समुचित निर्देशन किया है। तदनुसार नेपथ्याभिमुख द्वारों के बीच सभी वाद्यों के वादक गण का उपवेशन रखा जाता है। इनमें मृदंगवादक रंगमञ्च की ओर तथा उसके बायें ओर पाणविक बैठता है। तथा गायक रंगपीठ के दक्षिणोत्तराभिमुख बैठते हैं। इनके सम्मुख उत्तराभिमुखी गायिका बैठती है। गायक की बाजू में वैणिक (वीणावादक) तथा उनकी दाहिनी बाजू में वंशीवादक के बैठने की व्यवस्था रहती है। त्रिविध नाट्यमण्डपों में इनके उपवेशन का यही विधान है तथा नाट्यप्रयोग में सभी प्रकार के वाद्यों का प्रायः प्रयोग रहता है।

आतोद्य—भरत ने चतुर्विध प्रधान वाद्यों का उल्लेख कर वाद्यवृन्द या आतोद्य का जो विवरण किया उससे नाट्य के अति प्राचीन काल में भी वाद्य-वृन्द का उपयोग होने की बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। नाट्यप्रयोगों में वाद्यवृंद की सहायता से नृत्य में विशेष सौन्दर्य जहाँ आता है। उसके अन्य पक्ष में इनकी स्थिति से उसे आधारभूत भूमि भी मिलती है। अतः इसका इसी कारण आज भी सर्वत्र प्रचलन जारी है। दूसरे गीतिविधान में भी विविध वाद्यों की सहायता से उसे बल प्राप्त होता है तथा रंजकता भी आती है। इसके अतिरिक्त वाद्यों के यथोचित प्रयोग से नाट्यप्रयोग समृद्ध होता है तथा सिद्धि के उन्मुख भी जिससे इनके प्रयोग की औचित्यपूर्ण सङ्गति है यह भी स्पष्ट है। यथोचित प्रयोग में अनुगत वाद्यों का सामवायिक सहयोजन बड़ा ही मनोमोहक तथा विचित्रतादायी बनता है। इस बात को भरत ने बहुत पहिले ही सोचविचार के बाद निदेशित किया यह भी स्पष्ट है।

नाट्यशास्त्र में भरत ने जो गीत-वाद्यों का विवरण दिया वह नाट्यप्रयोग की दृष्टि से तथा उसकी सफलता को ध्यान में रखकर अत्यावश्यक रूप में तथा छः अध्यायों में बड़े ही विस्तार से विभागपूर्वक प्रस्तुत किया है। परन्तु गीत और वाद्य इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र महत्व भी रखते हैं। तथा इनका सङ्गीतशास्त्र के उत्तरवर्ती ग्रंथों आदि में स्वतन्त्र रूप में भी प्रतिपादन मिलता है। नाट्य में इन सभी का प्रयोग सहायक रूप में हुआ था परन्तु

१. ना० शा० ३३।३०१

अन्य रूपों में इनका पृथक् या एकल प्रयोग भी संभव होकर प्रचलित रहा है। नाट्यप्रयोग की सिद्धि के लिये मुनि ने गीतप्रयोग की महत्ता का प्रतिपादन कर उसकी प्रशंसनीय स्थिति का भी विचार प्रकट किया। इनकी दृष्टि में चित्र की कल्पना वर्णों के बिना जैसे नहीं होती वैसे ही नाट्य में गीत के बिना राग की उत्पत्ति संभव नहीं। यहाँ वाद्य और गीत का संतुलन रहना बहुत ही आवश्यक है जो कि नाट्यप्रयोग की अपेक्षा से रखा जाए तथा इसी कारण गीतादि सहायक या गौण भी रहते हैं तथा गीतादि का प्रचुर संयोजन खेदावह भी हो जाता है। अतः गीत का प्रयोग सभी पात्रों के द्वारा तो हो किन्तु यह स्त्री पात्रों के द्वारा सहज गुणशाली होता है क्योंकि इनमें जो स्वरमाधुर्य होता है वह अन्यों की तुलना में अधिक रागोत्पादक या मनोरंजक एवं लोकप्रियता के लिये हुये हैं यह तथ्य आज भी तथैव महत्वपूर्ण है।

प्रकृति विधान—नाट्यशास्त्र का चौंतीसवां अध्याय प्रकृति विचाराध्याय है जहाँ भरत ने विशेष अवधान देकर मानव प्रकारों को उनकी मुख्य विशेषताओं का आकलन कर उनके वर्गीकरण के आधार निर्मित किये तथा उनकी प्रधान विशेषताओं को भी पृथक् करते हुये उनके स्वरूप को भलीभाँति प्रस्तुत किया। ऐसे गुणान्वित वैशिष्टय के अतिरिक्त उनके पूर्व में उनके जीवन को प्रकृति का आधार मान कर भी पुरुष तथा नारी को आरंभ में तीन प्रभेदों में विभक्त कर विवरण दिया है।

त्रिविध प्रकृति—पुरुषों तथा स्त्री पात्रों की प्रकृति तीन प्रकार की होती है—(१) उत्तम, (२) मध्यम तथा (३) अधम। इनमें जो जितेन्द्रियता, ज्ञान, नाना शिल्पों में दक्षता, अनेक शास्त्रों की ज्ञानसम्पन्नता, गाम्भीर्य, धैर्य, औदार्य तथा त्याग जैसे गुणों से मण्डित रहने वाली **'उत्तम'** प्रकृति होती है। लोकव्यवहार में दक्ष, शिल्प तथा शास्त्रों में अभिज्ञता रखनेवाली, विज्ञान और माधुर्य गुणों से सम्पन्न **'मध्यम'** प्रकृति कहलाती है तथा रूक्ष भाषण, दुःशीलता, पिशुनता, मित्रद्रोह, अकृतज्ञता, आलस्य, कलहप्रियता तथा क्रोध के भाव से भरी हुई **'अधम'** प्रकृति होती है। स्त्रियों में जो कोमलहृदय, स्मितभाषिणी, गुणलोभिनी, सलज्ज, विनयशील, माधुर्य तथा रूप से मण्डित गम्भीर स्वभाव वाली हो वह **'उत्तम'** प्रकृति है। उत्तम प्रकृति की नारी से किञ्चित् न्यून गुणों वाली नारी **'मध्यम'** प्रकृति की होगी जिसमें परदोष दर्शन की अल्प मात्रा में प्रवृत्ति रहे। उपर्युक्त अधम पुरुषों जैसी ही **'अधम'** प्रकृति स्त्रियों को भी समझना चाहिए।

संकीर्ण या मिश्र प्रकृति—शील के आधार पर स्त्री तथा पुरुष की तीन श्रेणियाँ होती हैं, नाट्य में ऐसे भी पात्र होते हैं जिनकी प्रकृति स्पष्ट नहीं होती, अतः वे संकीर्ण पात्रों की श्रेणी में आते हैं। आचार्य **अभिनवगुप्त** के मत में कभी अधम पात्रों की तथा कभी उत्तम या मध्यम पात्र भी संकीर्ण प्रकृति के होते हैं। पुरुषों में नपुंसक तथा स्त्रियों में प्रेष्या अधम होते हैं तथा इसी प्रकार विट, शकार तथा चेटी आदि जो अधम प्रकृति के पात्र हैं परन्तु ये भी अपनी समृद्धिशालिता आदि के कारण उत्तम या मध्यम प्रकृति का आभास देकर संकीर्ण प्रकृति हो जाते हैं। इस प्रकार भरत ने तीन सामान्य प्रकृति का निर्धारण किया है।

नायक तथा उसके चार प्रभेद—भरत ने नायक के विषय में यह स्पष्टतः बतलाया कि पात्रों में प्रधान नायक वही होता है जो नाट्य में विद्यमान सभी पात्रों के व्यसन तथा अभ्युदय की तुलना में सर्वाधिक इन व्यसन तथा अभ्युदय का भागी होता हो। इसका निदर्शन राम हैं जिनके व्यसन तथा अभ्युदय भीम की तुलना में उत्कर्षशाली है। मानव के शीलाश्रय वाले प्रकृति के चार प्रभेदों की कल्पना भरत ने की थी जिसका परवर्ती आचार्यों ने अनुकरण किया। चारों प्रकार के इन नायकों के स्वरूप निदर्शन में गुण तथा प्रकृति एवं शील को रखकर शीलाश्रित प्रभेद किये हैं। ये हैं—(१) धीरोद्धत, (२) धीरललित, (३) धीरोदात्त तथा (४) धीरप्रशान्त।

ये नायक शील तथा प्रकृति के आधार पर उदात्त, ललित; उद्धत तथा प्रशान्त तो हैं पर ये धीर अवश्य रहते हैं तथा इनकी यह धीरता सामान्य गरिमा है। भरत ने इनकी सामाजिक स्थिति तथा स्वाभावादि के आधार पर दिखलाया कि राजा धीरललित, देव धीरोद्धत, सेनापति धीरप्रशान्त, अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वणिक् भी धीरप्रशान्त होते हैं। यद्यपि ये चारों भी अपने वर्ग में एक दूसरे की अपेक्षा उदात्त, ललित, उद्धत या प्रशान्त होते ही हैं, तथा इसका यह भी अभिप्राय नहीं कि नृप में उदात्तता नहीं होती या दिव्य नायक में लालित्य या प्रशान्तभाव नहीं होगा। यह तो नायक के जीवन की प्रमुखगुण सम्पत्ति को दृष्टि में रख कर सामान्य निर्देश रखा गया है। प्रत्येक नायक में उदात्त, लालित्य या प्रधान में से एक के रहने पर भी समानरूप से सभी में धीरता के इष्ट रहने से सभी नायकों का धीर रहना आवश्यक है और यह धीरता ही पात्र को नायक की गरिमा तक उठाने में आधार बनती भी है। परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि नायक के

लक्षणों और भेदों की कल्पना कर नायक का विकास भी किया परन्तु भरत के मूलप्रकृतिविचार को उनने आधार ही माना, जो इस शास्त्र की दूरगामी विभिन्न स्थिति का भी निदर्शक है।

नायकभेद का अन्य आधार—उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी क्रम और परम्परा में नायक की शृङ्गारी प्रवृत्ति को भी आधार बनाकर उनके दक्षिण, धृष्ठ, अनुकूल और शठ भेद कर स्थितियाँ भी दिखलाई परन्तु ये सभी भेद भरत के आधार को छोड़कर नहीं है तथा इनका आधार नाट्यशास्त्र के सामान्याभिनय तथा वैशिक के अध्याय हैं जहाँ दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ का स्पष्टतः नामोल्लेख है तथा तदनुकूल ही सम्बोधन आदि संभाषण की योजना भी रखी गयी थी। इन चारों के अतिरिक्त इनका **'चतुर'** नामक एक भेद और भी होता है जो प्रणयकोप के प्रसादन में चतुर होता है।

अन्य पुरुषपात्र—यद्यपि नाट्य के मुख्य फल का अधिकारी नायक ही होता है किन्तु पूर्व कथित नायकभेदों के अतिरिक्त उनके प्रधान गौण भाव को देखते हुए परवर्ती आचार्यों ने नायकों की कुछ श्रेणियाँ बनाकर प्रभेद दिखलाये हैं। ये भी नायक की भाँति प्रधान होते हैं पर स्थिति में उसके सहायक होते हैं तथा विरोधी भी। इन्हें उपनायक, अनुवादक तथा प्रतिनायक कहा जाता है। इनमें नायक तो कथाशरीर में पूर्णतः व्याप्त रहता है परन्तु ये नायक की बाह्यप्रकृति में आने वाले पात्रों के रूप में भरत ने रखे हैं। इनमें **उपनायक**—यह नायक के समान उत्कृष्ट होता है तथा उसका सहायक भी रहता है। **अनुनायक**—नायक से गुणों में किञ्चित् न्यून होकर कथावस्तु में उपयोगी स्थान पर दिखता है तथा उसके कार्यों में योग देता रहता है। **प्रतिनायक**—मुख्य नायक का अतिशय प्रतिरोधी होता है तथा इसमें नायक के समान ही उत्साह, प्रताप और अभिमान रहता है किन्तु यह व्यसनी हो जाने से पतनशील होता है। भरत के बाह्यपुरुषगत वर्गीकरण में नायक नृप के छः पात्र सहकारी रहते हैं:—(१) युवराज, (२) सेनापति, (३) मन्त्री, (४) सचिव, (५) प्राड्विवाक, (६) कुमाराधिकृत। इनके अतिरिक्त भी प्रधान नायक के सहयोगी पात्र होते हैं जिनका विवरण भरत ने दिया है। **विदूषक**—यह नायक का शृंगार में सहायक तथा नर्म माना जाता है। चार प्रकार के नायकों के क्रमशः संन्यासी, ब्राह्मण, राजकीय अधिकारी तथा शिष्य ये 'विदूषक' का कार्य सम्पन्न करने वाले सहायक होते हैं। क्रमशः ये नायक हैं—देव, राजा, सचिव तथा विप्र। उदाहरणार्थं—विष्णु (देव) नायक के नारद, दुष्यन्त (नृप) नायक के माढव्य, सेनापति

(नायक) का राजाधिकारी तथा श्रीदाम (विप्र.) का विदूषक गालव (शिष्य)। इसका आकार, शरीरसम्पत्ति तथा चेष्टाएँ परिहासकारी रहती हैं और यह वामन, कुब्ज, पिंगलाक्ष या खल्वाट होता है। प्रायः विदूषक ब्राह्मण जाति का ही होता है तथा भोजनादि का इच्छुक और अन्तःपुरचारी भी होता है। जिनकी विभिन्न वेषभूषाएँ नायक के अनुरूप रखी जाती हैं।

विट—यह मेधावी, उज्ज्वलवेषधारी, रूपवान्, वेश्योपचार चतुर, कवि तथा उदारतासम्पन्न होता है।

शकार—अपने मद और मूर्खता का गर्व रखने वाला, उज्ज्वल वस्त्राभरणसम्पन्न, अकारण क्रुद्ध तथा प्रसन्न होने वाला, मागधी प्राकृत भाषाभाषी, क्रूर स्वभाव का डरपोक और अनेक विकारों से युक्त अधम प्रकृति का पुरुष 'शकार' कहलाता है। यह राजश्यालक हो तो राजा की किसी रखैल का भाई रहता है।

नाट्य में ये सभी पात्र अपने व्यक्तित्व तथा संस्कार के साथ प्रधान पात्रों की श्रेणी आदि में स्थित रह कर मुख्य नायक को सहायता देते हैं परन्तु राजा के सहायक विदूषक, विट आदि भी होते हैं। इनमें भी विदूषक की योजना मनोरंजन को भी करती है यह अन्य कार्य व्यापारों में भी सहायता करने वाली होती है। विट तथा शकार अधम पात्र होकर भी नाटकीय घटनाओं में विशिष्ट योगदान करते हैं। इनके अतिरिक्त कञ्चुकीय, वर्षवर, स्नातक आदि पुरुषपात्रों का भी भरत ने आभ्यन्तर प्रकृति के सन्दर्भ में विस्तार से विवेचन किया है।

नारीपात्र—भरत ने नारी को सुख का मूल कह कर नाट्य में उसकी प्राणवाहिनी धारा का ऐसा संकेत किया जो कि जीवन को मधुररस से भरती है। नाट्य में स्त्रीपात्रों के योजनाक्रम में भरत ने विस्तार से इनका विवरण दिया जिससे इनके महत्व की भी पुष्टि होती है तथा जो सर्वथा उचित की है।

नायिका—नायक की आभ्यन्तर प्रकृति के अन्तर्गत सर्वप्रथम मुख्यरूप में 'नायिका' ही आती है जिसका सामाजिक प्रतिष्ठा, आचार की पवित्रता, वयोवैशिष्ट, अंगसौन्दर्य, प्रकृति, कामभाव की स्थिति आदि के आधार पर स्वरूप विवेचित होता है। भरत ने भी इन आधारों को ग्रहण कर इनके स्थूल और सूक्ष्म तत्वों का समन्वय करते हुए बड़ा ही सुचिन्तित

विवरण दिया है। इनमें प्रकृतिभेद से उनके उत्तम, मध्यम तथा अधम, आचरण के आधार पर बाह्या तथा आभ्यन्तरा, वर्ग में लेकर यहाँ उनके विषय में सामाजिक स्थिति को अधिमान्यता देकर नायिका के चार प्रभेद दिखलाये—(१) दिव्या, (२) नृपपत्नी, (३) कुलस्त्री तथा (४) गायिका। इनके शीलगत भेदों में—उदात्रा ललिता, निभृता तथा धीरा भेद किये। कामदशा या अवस्था के आधार पर—वासकसज्जा आदि आठ भेद तथा अँगरचना और अन्तःप्रवृत्ति के आधार पर दिव्यसत्वा तथा मनुष्यसत्वा आदि चौबीस भेदों को दिखलाया जिनका विवेचन पिछले भाग में किया जा चूका है। इसके अतिरिक्त भरत के उतरभावी आचार्यों ने इस विषय पर विस्तार से विवरण देकर 'नायिकाभेद' साहित्य की एक विस्तृत परम्परा को गतिशील रखा।

नारी की प्रकृति तथा आचरण के आधार पर भरत ने नाटचधर्मी ऊपेक्षा से उन्हें तीन—बाह्या, आभ्यन्तरा तथा बाह्याभ्यन्तरा (मिश्र) भेदों में रख कर दिखलाया कि कुलजा आभ्यन्तरा तथा गणिका बाह्या होती है तथा इन दोनों की प्रकृति के मिश्रण से जो वेश्या स्त्री नायिका हो तो वह बाह्याभ्यन्तरा प्रकृति की होगी। नायिका के अतिरिक्त नृपनायक की अन्य पत्नियाँ भी होती हैं जिनकी स्थिति या मर्यादा भिन्न-रूपवाली होती है तथा तदनुरूप उनके नाम तथा कार्य भी होते हैं जिनका भरत ने विवरण दिया है। जैसे—महादेवी, स्वामिनी, स्थायिनी आदि जिनके पद और मर्यादा आदि उनकी विशिष्ट स्थिति के आधार पर रहती है। अन्तःपुर के वातावरण में लालित्य और सौन्दर्य के वातावरण को समृद्ध करने में अपना योगदान देने के आधार पर—भोगिनी, शिल्पकारिणी, नाटकीया, अनुचारिका, परिचारिका, संचारिका, महत्तरी, प्रतिहारी, कुमारी, स्थविरा, आयुक्तिका जैसे नारीपात्र रखे गये हैं। इन पात्रों को नाटचप्रयोग में संगीत और ताल के साथ उपयुक्त कार्य को प्रस्तुत करवाते हुए रखते हैं जिससे प्रस्तुति उपयुक्त और सिद्धि देने वाली हो सके।

विशिष्ट नाट्य-मण्डली—इस प्रकार नाटकीय पात्रों के विस्तीर्ण विवरण से यह भी स्पष्ट होता है कि ये पात्र एक मण्डली वना कर देश के एक भाग से दूसरे भाग तक यात्रा कर अपनी प्रस्तुतियाँ देते रहे होंगें क्योंकि भरत ने पात्रों की मण्डली में मुकुटकार, शिल्पकार, माल्यकार जैसे पात्रों को भी दिखलाया जो कि नाटच की उपयोगी वस्तुओं या उपकरणों को उठाकर मण्डली की ऐसी यात्रा तक में सहयोग करती रही होगी जैसा

कि आज भी देखा जाता है। इन मण्डलियों के एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर व्यवसायवश नाटचप्रस्तुति देने का विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है जो अति-प्राचीन-काल से चलता हुआ आज भी व्यवहार के उपयुक्त बना हुआ है। इस मण्डली में कुछ कुछ बड़े व्यक्ति भी रहते थे जिनमें नाटचकार या नाटचरचनाओं का लेखक भी होता था तथा जो नाटच-निर्देशक या नाटचाचार्य के साथ संलग्न होकर या सहायक के रूप में भी रहता था।

पात्रों की भूमिका—भरत के नाटचशास्त्र का पैंतीसवाँ अध्याय 'भूमिका-विकल' नामक है। इसमें भरत ने भूमिकाओं के विषय में तात्विक विवरण दिया है। नाटच की लोकवृत्तानुकारिता को ध्यान में रख कर प्रयोज्य तथा प्रयोक्ता पात्रों की प्रकृति, आचार, आकृति तथा वेश–भूषा की विभिन्नता स्वाभाविक होती है अतः लौकिकदृष्टि से सामान्यस्तर का पात्र भी अपना प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होता है, जहाँ यह पात्र आचार्य-बुद्धि तथा अपनी प्रतिभा और श्रम से इसे सम्पन्न करता है। इसी कारण पात्र की भावभंगिमाओं तथा आकृति की परीक्षा कर के ही तदनुरूप भूमिका देने का भरत ने विधान रखा, क्योंकि पात्र के सहजात गुण की भी इसमें अपेक्षा होती है तथा केवल नाटचाचार्य की बुद्धि के निश्चय से ही उपयुक्त भूमिका को नहीं दी जाती है।

भरत ने दिव्य तथा मानवादि विभिन्न श्रेणी के पात्रों की आकृति, प्रकृति, देश, वेष आदि का विवरण प्रस्तुत करते हुए बतलाया कि दिव्यपात्रों की भूमिका में सुगठित शरीरवाले प्रियदर्शी तथा सुस्वरशाली पात्र को रखा जाता है तथा गम्भीर या रुक्षस्वर, स्थूल तथा लम्बे शरीर के पात्र को राक्षस या दानव की भूमिका दी जाती है। मानव भूमिकाओं में पात्रों का अंगसौष्ठव, गतिशीलता, चेष्टाएँ तथा स्वरादि का वैशिष्ट्य भी ध्यान में रखते हैं एक सन्तुलित रूप में ही। अतः राजा, राजपुत्र आदि की भूमिकाओं के लिये ऐसे पात्र उपयुक्त होते हैं। भरत के इन विधानों से पात्रों का चयन करते हुए प्रयोज्य नाट्य को प्रस्तुत करना उपयुक्त होता है यह स्पष्ट है।

प्रकृति—भरत ने विभिन्न भूमिकाओं के लिये चयन करने के आधार को उपयुक्तता देने के लिये उनकी प्रकृति तथा परम्परा को ध्यान में रख कर तथा उन्हें तीन प्रकृति में समाहार कर भूमिका के उपयुक्त सभी रूपों का समावेश किया है। ये हैं—(१) अनुरूपा, (२) विरूपा तथा (३) रूपानुरूपा।

अनुरूपा—प्रकृति—नाट्यकार के इष्ट पात्र की प्रकृति के अनुरूप भी सहज प्रकृति रहती हो अथवा पुरुषपात्र के पुरुषभूमिका में एवं स्त्रीपात्र की स्त्री भूमिकाओं में देश, काल, वय तथा अवस्था भाषा आदि के अनुरूप ही जब प्रयोग में प्रस्तुत किये जाए तो यह 'अनुरूपा प्रकृति' कहलाती है। अतः यह सहजरूप के आधार से सदैव 'प्रयोज्यभाव' की अर्हता रखती है।

विरूपा-प्रकृति—जब पात्र अपनी प्रकृति से विपरीत भूमिका को प्रस्तुत करता है। यह स्थिति तब आती है जब वृद्ध किसी बालक की, बालक वृद्ध की भूमिका करता हो तो यह 'विरूपा प्रकृति' होती है जिसका सामान्यतः मुनि ने निषेध किया है। इस प्रकार स्थिति तथा कार्य के वैषम्य के आधार पर ऐसी भूमिका रहती भी है तथा पात्र के लिये इनका निर्वाह एक कसौटी भी होता है जो उनकी शास्त्रज्ञानजन्य अभ्यास की दृष्टि से उन्हें सफलता भी अधिक दे देती है। अपनी कला साधना से जब अनुपयुक्त भूमिका को भी न्यायतः प्रस्तुत किया जाता है परन्तु यह असामान्य नियम में ही आता है। अतः आचार्य अभिनवगुप्त ने ऐसी भूमिकाओं को भी अनुपयुक्त माना है।

रूपानुरूप प्रकृति—पुरुषपात्र के द्वारा स्त्रीपात्र की तथा स्त्रीपात्र के द्वारा पुरुषभूमिका में अवतरित होता हो तो यह रूपानुरूपा या रूपानुसारिणी भूमिका है।

इनमें 'अनुरूपा' प्रकृति के स्वरूप से भरत का आशय यही है कि पात्र अपने प्रयोग काल में अपनी भूमिका की आत्मा की गहराई तक आविष्ट होकर आहार्य विधि के अनुसार अपनी आकृति तथा वेष को भी वैसा ही रखते हुए आंगिक चेष्टाओं तथा वाणी को भी तदनुसार ही रखे और वह अपनी भूमिका के अनुरूप अवस्था, आकृति तथा प्रकृति की दृष्टि से भी स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत होकर यथार्थ की झलक दे तो नाट्यप्रयोग सफल होता है। इसलिये भारतीय नाटकों की सामान्य विशेषता के रूप में यह **'अनुरूपा'** प्रकृति है। इसी प्रकार यदि पुरुषपात्र द्वारा स्त्री की तथा स्त्रीपात्र द्वारा पुरुष की भूमिका ली जाए तो ऐसी विपरीत कार्य स्थिति के रहने पर **'विरूपा'** का विधान है। नाट्य प्रयोग में ऐसी भूमिका का प्रचलन प्राचीन काल से ही प्रचलित था। इसी कारण भरत ने इस प्रकृति के विशेष नियम भी प्रस्तुत करने के लिये दिखलाये, जिससे यह स्पष्ट है कि यह परम्परा वही प्राचीन तथा एक विशिष्ट नाट्यशिल्प है। यह नाट्यप्रयोग की सामान्य स्थिति नहीं है, और यह कभी कथावस्तु की अपेक्षा से, कभी पात्रों

की न्यूनता से तथा कभी-कभी कौतूहल बनाये रखने की भावना से नियोजित की जाती है। यह एक सार्वभौमप्रविधि है तथा इसके विलक्षण प्रयोगों से नाट्यप्रयोगों में असाधारण चमत्कार उत्पन्न होता है। यह नाट्य के लिये अलंकार भी होता है यदि पात्र का चयन ठीक से ऐसे कार्य के लिये रखा जाए अन्यथा इस विरूपा से प्रभाव हानि भी संभाव्य रहती है तथा ऐसी स्थिति का भरत ने ही निषेध भी किया था। इसके अतिरिक्त 'रूपानुरूपा' प्रकृति भी बड़ी उपयोगी होती थी तथा वर्तमान में भी इस शैली का प्रचलन मनोहारी रूप में दिखलाई देता है। यह सार्वभौम प्रक्रिया है तथा इससे नाट्यप्रयोग में मनोरंजन की पूर्ति बड़ी मात्रा में साधी जाती है तथा प्रेक्षक-गण भी ऐसे पात्रों की प्रशंसा ही करते हैं। भरत ने रूपानुरूपा भूमिका को निर्वाहित करने वाले पात्रों के लिये विशेष प्रयत्न तथा अभ्यास की आवश्यकता निरूपित की, क्योंकि अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप भूमिका का निर्वाह तो सरल होता है। किन्तु विपरीत स्वभाव का शास्त्रानुसार प्रयोग नाट्याचार्य की कुशल बुद्धि और पात्र के कठोर प्रशिक्षण से ही संभव होता है।

नाट्यप्रयोग में स्त्रीपात्र का विशेष महत्व भी भरत ने दिखलाया तथा इन्हें रूपानुरूपा में प्रस्तुत करने की बात भी कही तथा विधि भी बतलाई। इसका कारण जहाँ एक ओर मनोवैज्ञानिक है वहीं दूसरी ओर एक सार्वभौम प्रविधि भी प्राचीन काल से यह भरत के अतिरिक्त ग्रीक में तो रही ही थी योरप में भी इसका प्रचलन विद्यमान था तथा यह बराबर अपनाया जाता रहा है। इसी कारण अनेक अपेक्षाओं के तथा नारीपात्र की रूप, वय, शरीर तथा स्वरगत विशेषताओं के आधार पर उन्हें पुरुष की तथा अन्य असामान्य भूमिकाओं में रखने का विधान रखा गया जहाँ उन्हें रूपानुरूपा की स्थिति में प्रयुक्त किया जाता है। इससे दर्शक अतिशय मनोरञ्जन और सन्तुष्टि पाते हैं तथा विशेषकर राजा और अन्य अधिकारी गण का भी बड़ी मात्रा में मनोरञ्जन होता है। यह तथ्य भी नाट्यशास्त्र से उभर कर आता है तथा इससे एक प्राणोत्पादक रस की उन्मेषावस्था भी आती है।

सुकुमार तथा आविद्ध नाट्यप्रयोग—पात्रगत स्त्री तथा पुरुष के प्रकृतिभेद को दृष्टि में रखकर ही भरत ने नाट्यप्रयोगों की द्विविध कल्पना की—(१) सुकुमार तथा (२) आविद्ध।

सुकुमार प्रयोग—इसमें नारीपात्र की प्रमुखता तथा बहुलता रखी जाती है तथा आविद्ध प्रयोग में पुरुषपात्रों की बहुलता रहती है। सुकुमार

प्रयोग में युद्ध, नियुद्ध, शस्त्रप्रहार, अंगछेद्यता आदि भयावह तथा रोमाञ्चकारी दृश्यों का प्रयोग नहीं रहता क्योंकि ये कार्य नारीपात्र के द्वारा उपयुक्त और संभव नहीं होते। सुकुमार प्रयोग नाटक, प्रकरण, भाण तथा वीथी जैसे श्रृंगारप्रधान रूपकों के उपयुक्त होता है जहाँ स्त्रीपात्रों की उपयुक्त योजना रहती है। स्त्रीपात्रों के बहुल प्रयोग तथा श्रृंगार रस की योजना से उपर्युक्त रूपकों में सुकुमार प्रवृत्ति और लालित्यपूर्ण आंगिक अभिनय को पर्याप्त अवकाश रहता है। यह सुकुमार प्रयोग नृपति को अतिशय प्रिय भी होता है। तथा इसी कारण विश्व के प्रायः सभी देशों में प्राचीन काल से लेकर यह प्रयोग निरन्तर अनेकों रूपों में रखा जाता है। संस्कृत नाटिका 'प्रियदर्शिका' में स्त्रीपात्रों द्वारा प्रयुज्य गर्भांक को सुकुमार प्रयोग के उदाहरण में रखा जा सकता है। भारत से नाट्यप्रयोग को लेने वाले कम्बोडिया में प्रस्तुत नाटचों में सभी भूमिकाएँ प्रायः स्त्रीपात्रों की रखी जाती हैं तथा जावा में नृत्य रूपकों में भी स्त्रीपात्रों की ही भूमिका रहती है। वे सारी स्थितियाँ भरत के नाटचशास्त्र के सुकुमार प्रयोग के नियमों तथा निर्देशों से ही लेकर सर्वत्र प्रचलित हुई होंगी ऐसी कल्पना करने पर भरत के नाटचचिन्तन का महत्व और भी ऊँचाई पर जा पहुंचता है।

आविद्ध प्रयोग—इसमें कठोर प्रकृति के पुरुषों की बहुलता रखी जाती है। जहाँ उद्धत प्रकृति के देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर तथा राक्षसों के जीवन के अनुरूप ही युद्ध, माया, शस्त्रप्रहार, आघात तथा विभीषिका, विलास और हत्या के दारुण तथा रोमांचक दृश्यों को प्रस्तुत किया जाता है। आविद्ध के उपयुक्त रूपकों में डिम, समवकार, व्यायोग तथा ईहामृग आते हैं। जहाँ युद्ध, नियुद्ध, सम्भ्रम तथा शस्त्रप्रहार के दृश्यों की प्रचुरता रहती है तथा सात्वती और आरभटी वृत्ति की योजना की जाती है। वीर-रस की प्रयुक्ति वाले रूपकों में भी आविद्ध प्रयोग रखा जाता है तथा यह इसके उपयुक्त भी रहता है।

राजा (तथा राज्यशासन) का महत्व तथा योग—नाटचशास्त्र में पात्रों के वितरण के प्रसंग में 'राजा' का एक पात्र के रूप में भूमिका की चर्चा है। परन्तु यह एक महत्वपूर्ण संकेत भी राजा की महत्ता का देता है जहाँ राजा एक निर्वैक्तिक या सामान्य पात्र के रूप में भी रहे। भरत कहते हैं कि—जब एक नर के पास तो वेषभूषा तथा अलंकारादि सीमित रहते हैं तो फिर वह राजा कैसा हो सकता है। इस आशंका को उठाकर भरत कहते है कि जब पात्र नाटचधर्मीविधान से अपना चेहरा रङ्ग लेता है तथा वैसे ही

वस्त्रालंकार धारण कर लेता है तो वह रंग प्रदेश में राजा सा दिखता ही है तथा यह कार्य लोकवृत्त के अनुकरण का आधार लेकर रखा जाता है। यह कार्य योग्य निर्देशक अपनी बुद्धि से उपयुक्त पात्र को प्रशिक्षित कर देता है। जिससे नट राजा की तरह बन सके।[1] भरत के ऐसे उल्लेख से नट के देवरूप से भूमिका ग्रहण करने आदि में भी नाट्यधर्मी विधान की योजना की भी सहमति मिलती है जिससे सभी नाट्य प्रयोग प्रस्तुत करने में साधारण नियम की परिपाटी बन सके।

नाट्यमंडली के महत्वपूर्ण व्यक्तित्व—भरत ने नाट्यप्रयोग के विवरण को पूर्णता देने की भावना से उसके साधक वर्ग का तात्विक आकलन भी किया। नाट्यप्रयोगों की व्यापक स्थिति तथा अपेक्षा रहने के कारण उसकी पूर्ति में लगने वाले नाट्यनिर्देशन तथा शिल्पिवर्ग के अतिरिक्त एक लम्बी कलाकारों की संख्या का भी महत्व होता है तथा इसी कारण भरत ने इस रंगशिल्पी वर्ग का भी विवरण दिया। इनमें सूत्रधार, स्थापक, पारिपार्श्वक, संगीताचार्य, नाट्यकार, वीणावादक, मृदंगवादक, शिल्पी, माल्यकार आदि आते हैं। ये सभी रंग मञ्च पर उपस्थित पात्रों के अतिरिक्त होते हैं तथा अपने विविध कार्यों तथा प्रयोगों के समन्वय के द्वारा नाट्यप्रस्तुति को पूर्णता तथा सफलता तक पहुँचाते हैं। इनमें से क्रमशः कुछ का विवरण आवश्यक है जिसे मुनि ने भी मनोयोग से रखा।

सूत्रधार—(एक आदर्शभूत नाट्यनिर्देशक)—सूत्रधार जो कि नाट्य निर्देशक भी होता है तथा आचार्य भी अतः भरत ने उस सर्वप्रमुखता के साथ सिद्धान्त और व्यवहारगत अनेक उत्तरदायित्व भी दिये हैं और उसके कार्य तथा योग्यता के आपादक गुणों से युक्त उसका लक्षण भी दिखलाया है। भरत के अनुसार किसी आदर्श सूत्रधार का लक्षण इस प्रकार रहेगा—यह सूत्रधार नाट्यप्रयोग के सूत्र का संचालन करने के कारण 'सूत्रधार' है जो प्रयोग का प्राण बन कर पात्रों को गति तथा जीवन देता रहता है। आवश्यकतानुसार यह स्वयं भी रंगमंच पर उपस्थित होता है तथा एक भूमिका भी ले लेता है, परन्तु इसका मुख्य कार्य प्रस्तावना या स्थापना के माध्यम से नाट्य का आरम्भ करना रहता है। नाट्यप्रयोग इसी की प्रेरणा तथा कल्पना पर आधृत रहने से भरत ने सूत्रधार के सहज तथा उपार्जित गुणों का विवरण देकर उसके आदर्श एवं महत्तर व्यक्तित्व को उकेरा है। इनके

---

१. ना० शा० ३५।५७–६४

मत में यह सभी शास्त्रकर्मों का अभिज्ञ तथा वाद्यवादन ताल, लय तथा गीत का तात्विक परिज्ञाता, नाट्यप्रयोग में कुशल, वेशोपचार निपुण, देह व्यापार की सूक्ष्मताओं से परिचित, देश तथा प्रदेशों के वृत्तों का परिज्ञान रखने वाला, कुलीन तथा शास्त्रों के तात्विक निर्णय में पारंगत तथा विविध लौकिक शिल्पों तथा कार्यों का दक्ष विज्ञाता और सहज गुणों से समृद्ध जैसे विनीत, मधुरभाषी, अनुकूल तथा क्रोधादि दोष से रहित होता है। इसी की प्रेरणा से कवि की रचना के भावों का प्रेक्षक से सन्तुलित समागम सम्भव होता है।

पात्र तथा प्रस्तोता—सूत्रधार प्रस्तावना को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार पात्र के रूप में भी रंगमंच पर प्रस्तुत होता है तथा प्रस्तावना के क्रम में यह नटी तथा कुशीलव या पारिपार्श्वक के साथ नाट्यारंभ तथा गीतों को प्रस्तुत करने में योग देता है। यह नाट्यप्रयोगों का उपदेष्टा या निदर्शक ही नहीं, स्वयं मञ्च पर पात्र के रूप में उपस्थित रह कर नाट्यरचना-गत गीत एवं अभिनयों का प्रयोक्ता भी होता है। अभिनेता पात्र और शिल्पी जहाँ नाट्यप्रस्तुति के एक अंग की पूर्णता में योग देते है वहां सूत्रधार इनके समग्र पहलुओं को देखता है तथा उनमें एक प्रमुख व्यक्ति के रूप में योगदान करता है। यह नाट्यप्रयोग की सफलता का आधार होता है।

स्थापक—सूत्रधार के दो प्रमुख सहायक तथा प्रयोक्ताओं में स्थापक तथा पारिपार्श्वक सर्वाधिक महत्व के कारण उल्लेखनीय हैं। पूर्वरंग के उपरान्त सूत्रधार के रंगमञ्च से निष्क्रमित हो जाने पर प्रयोज्य काव्य की स्थापना के लिये स्थापक का प्रवेश होता है जिसकी सूत्रधार के समान ही तुल्य गुण तथा आकृति का नाट्यशास्त्र में विधान है। यह नाट्यप्रयोग की स्थापना का कार्य सम्पन्न करता है। उत्तरवर्ती शास्त्रकारों ने पूर्वरंग के सम्यक् प्रयोग के पूर्णतः प्रचलित न होने के कारण एक सूत्रधार के ही द्वारा स्थापना का भी कार्य किये जाने की बात कही।

पारिपार्श्वक—यह सूत्रधार की अपेक्षा गुणों में उससे कुछ न्यून रहता है पर मध्यम प्रकृति का पात्र होता है। यह सूत्रधार का सहचरभूत, नाट्यविधान का परिज्ञाता, उज्ज्वल वेषधारी तथा कार्य निपुण होता है तथा कलाविद् भी।

नाट्य कार—यह नाट्य रचना का स्रष्टा है तथा नाट्यप्रयोग के लिये

एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व है जो अपनी काव्य रचना की प्रातिभ शक्ति से समग्र-प्रयोग को प्रखर शक्ति और सिद्धि देता है।

नट—यह नाट्यप्रयोग के काल में अपना स्वभाव त्यागकर प्रयोज्य पर पात्र के स्वभाव में समाविष्ट होकर तद्रूपापन्न हो जाता है। इसका नट शब्द अभिनय तथा नृत्य दोनों की परम्परा का संकेत देता है तथा यह भी इन दोनों कार्यों को रंगमञ्च पर प्रस्तुत कर देता है। यह बहुभाषाविद् तथा चतुर्विध अभिनय का परिज्ञाता और प्रयोक्ता होता है। बाद में सभी नाट्यप्रयोग-कर्त्ता के लिये यह एक संज्ञा बन गई। इनमें जो सर्वाधिक दक्ष और अनुभव-शाली होता था वह 'महानट' कहलाता था तथा सूत्रधार या पारिपार्श्विक आदि का भी इसे ही कार्य करना होता था। इसकी अन्य संज्ञा 'भरत' भी है।

नटी—प्रस्तावना में सूत्रधार के साथ नटी भी प्रायः उपस्थित रहती है जो सूत्रधार की भार्या होती है तथा इसी कारण सूत्रधार इसे आर्ये पद से सम्बोधित करता है, जिसमें प्राचीनकाल में नाट्यव्यवसाय करने वाले नट परिवार का भी बोध होता है क्योंकि यह उनकी वंशानुगत जीविका हो गयी थी। इसमें नाट्यप्रयोग पति तथा पत्नी आदि मिलकर प्रस्तुत करते रहते थे। यह स्त्री पात्रों की व्यवस्था तथा रंगकर्मगत परिधानादि के धारण करवाने तथा नेपथ्य रचना का भी कार्य देखती रही होगी। नटी गीत तथा नृत्य में भी चतुर होती थी तथा मञ्च पर प्रस्तुत करती थी।

नर्तकी या नाटकीया—रङ्ग पर नृत्य को पूर्णविश्वास तथा शास्त्रज्ञान को प्रस्तुत करने वाली, रसभावविभाविका तथा लय तालविशेषज्ञा सर्वाङ्ग सुन्दरी ललना 'नर्तकी' होती है जो अभिनय भी नाट्यप्रयोजनवश प्रस्तुत करती है। यह जब उत्तम शिल्पज्ञान तथा अभियय भी नाट्यप्रयोग में प्रमुखता से करती है तो 'नाटकीया' के रूप में भी 'भरत' ने निर्दिष्ट की है।

तौरिण—यह एक ओर तो नाट्य के उपयुक्त वाद्यवादन का सम्पादन करता था तथा दूसरी ओर युद्ध के दृश्यों में वीरता के कार्य भी करता था। इसकी वादन और युद्ध काल में दक्षता के कारण यह नाट्यारंभ में प्रस्तुत स्तुतिगीत का भी गायनादि किया करता था।

नाट्यप्रयोग का शिल्पी समुदाय—अन्य नाट्यप्रयोग के सहायकों में शिल्पी जन की भी एक बड़ी उपयोगी चर्चा भरत ने की। इनमें **मुकुटकर**

नाटचप्रयोग में आने वाले पात्रों के उपयुक्त मुकुटों की रचना करता था तथा उन्हें पात्रों को धारण करवाता था। **आभरणकृत्** विभिन्न पात्रों के अंग तथा प्रत्यंगों में धारण किये जाने वाले पुरुष तथा स्त्रीपात्रों के उपयुक्त मनोहारी आभरणों का (आहार्य अभिनय मे शास्त्रीय विधान को ध्यान में रखकर) निर्माण करता है। **माल्यकृत्** विविध सुरभित पुष्पों की मालाओं की पात्रों के अनुरूप रचना कर पात्रों की शृङ्गार-सज्जा का कार्य करता था। **वेषकृत्**—पात्रों की वेष रचना करता है क्योंकि नाटच में वेष का कविकल्पित पात्र में उसकी मनोदशा, वय तथा कथावस्तु की प्रासंगिकता को ध्यान में रखकर वेष की रचना नाटचप्रभाव की वृद्धि करती हैं—जिसे वेषकार की नियुक्ति से साधा गया है। **चित्रकार**—यह नाटच के लिये बहुत से कार्य तथा अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु रखा जाता है। नाटचमण्डप के निर्माण के समय उसकी रंगपीठ की भित्तियों पर यह चित्र कर्म करता है। तथा नाटचगृह की आन्तरिक और बाह्य शोभा के अनुरूप उन्हें चित्र तथा वर्णलेप से सुन्दर बनाता है। यही नाटचप्रयोग के प्रस्तुवि में पात्रों की मुखाकृतियों को भी विविध रंगादि से रञ्जित करता है तथा बने हुए नाटचधर्मी मुखौटों को चमकीले रङ्गों से रञ्जित करता है। **रजक**—यह पात्रों के विविध वस्त्रों को रङ्गता तथा उन्हें साफ करते हुए रखता है तथा समयानुरूप वेषों के वस्त्रों को नाटचप्रयोग के लिये तैयार रखता था। **कारुक**—नाटच के उपयुक्त सामग्री को निर्माण करता था जिनमें काष्ठ, लोहा,पत्थर,मिट्टी तथा लाख आदि का प्रयोग रहे। नाटच मण्डली में इसकी उपयोगिता सदैव बनी रहती है क्योंकि यह ऐसी अनेक वस्तुएं बनाता है जो नाटचाभिनय में पात्रों के प्रयोग से आती है। मुख्य रंगमंच की रचना में तो इसका योगदान रहता ही है किन्तु पात्रों के धारण किये जाने वाले अस्त्र-शस्त्र तथा कृत्रिम वस्तुओं का निर्माण बिना कारुक के सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार भरत के ऐसे विरवणों से उसकी विस्तीर्णता के साथ छोटी-छोटी अपेक्षाओं को भी पूर्ति कर नाटच प्रयोग के पूर्ण सफल करने का उपाय निर्देशन भी कम महत्व का नहीं है।

कुशीलव—यह वाद्ययन्त्रों की समुचित व्यवस्था तथा उनके वादन में निपुण तथा आतोद्य को कुशल योजना के कारण 'कुशीलव' कहलाता था। प्राचीन नाटकों की प्रस्तावनाओं तथा अन्यत्र भी कुशलव का उल्लेख मिलता हैं तथा गायन और वादन की कुशलता के कारण इसकी नाटचप्रयोगों में सदा अपेक्षा रहती थी जो इसकी उपयोगिता और महत्व को प्रदर्शित करती है।

भरत—इन विवरणों से भरत ने नाट्यप्रयोग के सभी अंगों तथा उपकरणों का बड़ी सूक्ष्मता से विवेचन किया है। नाट्यशास्त्र में नाट्यप्रयोक्ता के लिये एक संज्ञा 'भरत' दी गयी है जिसके अन्तर्गत सूत्रधार से लेकर सभी पात्र तथा शिल्पी गण का समावेश होता है। इनमें प्रत्येक स्वयं में एक स्वतन्त्र व्यक्ति भी है तथा जिसकी कला के योग से नाट्यप्रयोग के एक अङ्ग की पूर्ति होकर समग्र प्रयोग की सफलता निर्मित होती है। अतः नाट्यशास्त्र में परिगणित प्रत्येक शिल्पकार तथा पात्र आदि नाट्यप्रयोग को जीवन, रस तथा शक्ति प्रदान करने के कारण इनकी परिगणना रखी गयी है। इससे नाट्य का प्रयोगपक्ष भी सुगम हो जाता है।

नाट्य तथा नाट्यप्रयोग, नटवर्ग की सामाजिक स्थिति—नाट्यशास्त्र के छत्तीसवें अध्याय के दो भागों में जो कि कुछ प्रतियों में सैंतीसवाँ अध्याय भी है तथा जिन पर अभिनवगुप्त ने व्याख्या भी की है इनमें नटवंश की सामाजिक स्थिति के परिष्कार के साथ नाट्यप्रयोग के कार्य को पवित्रता के साथ एक उन्नत अनुष्ठान के रूप में प्रतिष्ठित करने की दृष्टि भी भरत ने रखी है। इसी गुह्य तथ्य को मुनि ने प्राचीन आख्यान के साथ आत्रेय आदि श्रोता मुनि तथा ऋषियों के समक्ष रखते हुए तथ्यपरक सहमति भी चाहने की इच्छा से सभी बात बतला कर उनसे 'नाट्ययज्ञ' की निरन्तरता की फलश्रुति भी करते हुए इस कर्म के सामाजिक महत्त्व को दिखलाया है। अब हम इस तथ्य पर भी थोड़ा विवरण देगें जिसमें नाट्यप्रयोक्ता नटों का सामाजिक उत्थान, उनकी स्थिति तथा जीविका और उनके पतन का इतिहास बतलाया गया जिनके विश्लेषण से इन पात्रों के ह्रास को पुनः अभ्युत्थान में बदलने की भावना का भी दर्शन होता है।

नाट्यशास्त्र के द्वारा इनके इस आख्यान से इस पर महत्वपूर्ण प्रकाश भी पड़ता है। भरत ने इस आख्यान को मुनिजन को नटों तथा उनके वंश के शूद्र वर्ग में रहने की बात को लेकर प्रश्न के उत्तर में उन्हें बतलाया कि मेरे पुत्रों ने अपने प्रस्तुत होने वाले नाट्यप्रयोगों में प्रसंगवश मुनिजन का भी विनोद सृजन के लिये उपहास किया। अपने अकारण उपहास से मुनिजन खिन्न हुए तथा क्रोध में भरकर उनने भी इन भरतपुत्रों को अभिशाप दिया कि ये शूद्राचार होकर निर्ब्रह्मण और हीन दशा का जीवन यापन करेगें तथा इनका वंश भी सामाजिक प्रतिष्ठा से हीन होकर रहेगा। इस शाप को देने पर भरत ने उनसे विनयपूर्वक उनके क्रोध के शान्त होने पर इस 'नाट्यशास्त्र' के नष्ट होने की बात को न होने की पुनः प्रार्थना की तथा देवगण

ने भी उनसे जब अनुरोध किया तो उनके मर्त्यलोक में इस नाट्य को मानवों को दिखलाने तथा वहीं अपनी वंश परम्परा चलाने के बाद शाप की निवृत्ति भी दिखलाई। कुछ समय के बाद स्वर्ग के इन्द्र बने हुए राजा नहुष के द्वारा इन नटों से पृथ्वी पर जाकर नाट्यप्रस्तुत करने का आग्रह पूर्वक निवेदन प्राप्त कर ये सभी पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए तथा वहाँ अनेक वर्षों तक इस शास्त्र का अभिनेताओं को प्रशिक्षण देकर प्रयोग प्रस्तुत करवाया। इनकी भी मानवी स्त्रियों से सन्ततियाँ बढ़ीं और ये पुनः स्वर्ग को लौट गये।' इस प्रकार भूतल पर नाट्य का अवतरण हुआ तथा इन अभिशापित भरत पुत्रों ने ही पृथ्वी पर नाट्यप्रयोग का समारम्भ भी किया था। इस विवरण पर श्री डॉ० पी० बी० काणे[1] की टिप्पणी यह है कि नाट्यशास्त्र के उत्पन्न होने के प्रथम अध्याय के विवरण के साथ नाट्य के अवतरण की कथा से नटवंशों के द्वारा पवित्र तथा ब्रह्मोद्भूत पञ्चम वेद नाट्यशास्त्र के ज्ञान रखने वाले नट जो भरत के वंशधर हैं उनकी सामाजिक अभ्युत्थान की ओर भी यह संकेत दे रहा है जिनकी महत्ता को निर्दिशित करने का भी नाट्यशात्र में उपक्रम भरत ने ही किया।

भरत मुनि नाट्यशास्त्र प्रणेता के रूप में न केवल समादृत ही थे वे इस विद्या से सम्बन्धित सभी विषयों के प्रवर्तक भी थे। अतः इस नाट्यविद्या का सम्बन्ध वेदों से लेकर ब्रह्मा, शिव, पार्वती, विष्णु तथा भरत मुनि से चलकर भरतपुत्रों तक से निरन्तर रहा यह विवरणों से स्पष्ट होता है। **आचार्य अभिनवगुप्त** ने नाट्यवेद की महत्ता को ध्यान में रखकर ही कवि के रचना करने, प्रयोक्ता नट के द्वारा नाट्य को प्रस्तुत करने तथा सामाजिक या प्रेक्षक के इस प्रयोग को देखने वाला मानकर इस शास्त्र को इन तीनों से अधिकृत तथा अनुशीलन के योग्य माना क्योंकि नाट्य-विद्या 'नट' के वेद-स्वरूप होकर उसका धर्म बन जाती है तथा उसका अनुष्ठान उपादेयता से पूर्ण कर्तव्य। इसी कारण भरत ने नाट्यवेद के अध्ययन तथा इसके प्रयोग करने वाले को यज्ञशील; वेदज्ञाता तथा दानशील के समान ही स्थिति वाला तथा पुण्यभागी माना है।

इस प्रकार सामयिक धाराक्रम में भरत का नाट्यशास्त्र एक सदागतिक और अनश्वर रचना है जिसमें नाट्य के अनेक पक्षों का बड़ी ही स्पष्टता से विवेचन हुआ है। प्रसंगवश गीत तथा नृत्य के आधारभूत तथा सामान्य सिद्धान्तों को भी इसलिये दिखलाया कि ये नाट्यप्रयोग में लालित्य तथा

१. द्र०—संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास—(अंग्रेजी)—पृ० २२

आकर्षण की वृद्धि कर सकें, क्योंकि ये ही ध्रुवा गान के साथ पूर्वरंग विधान में समायोजित किये जाते हैं। भरत के इस उपक्रम को संगीत तथा नृत्य शास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में एक आधिकारिक शास्त्रकार के रूप में इसी कारण निरन्तर स्मरण किया है।

भरतकालिक रागचर्चा—नाटयशास्त्र के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि ना० शा० अध्याय २९ के तेरहवें श्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने काश्यप का मत दिखलाया जिसमें विविध प्रसंगों में विभिन्न जातियों तथा रागों का प्रयोग करने का विधान बतलाया। अब यदि हम यह मान लें कि कश्यप के मत को उनके समकालीन संगीताचार्य जिनमें भरत भी थे स्वीकार करते थे तो इससे भरत के समय रागविषयक ज्ञान की सत्ता का समर्थन हो जाता है। परन्तु भरत के नाटयशास्त्र में इसका समर्थन नहीं होता। नाटयशास्त्र में राग शब्द का प्रयोग एक तो कम हुआ है तथा वह जिन अर्थों या सन्दर्भों में है इससे गीति के राग का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः विद्वानों का मत है कि भरत के समय या उनके ग्रन्थ में रागज्ञान की कोई स्थिति नहीं है। परन्तु यदि थोड़ी गंभीरता से अनुशीलन हो तो संगीत के सन्दर्भ में आये भरत के कथन से जो अंश के प्रसंग में इस शब्द का उल्लेख मिलता है—'यस्मिन् वसति रागश्च यस्माच्चैव प्रवर्तते। नेता वै तारमन्द्राणाम्[1] इत्यादि। इसकी व्याख्या में अभिनवगुप्त ने—यस्मिन् विद्यमाने रागो रक्ति जातिस्वरूपं भवति शिरसीव पुरुषस्वरूपम्, एवं यमाश्रित्य स्थितः स्वरः प्रकर्षेण वर्तते।' इसी को शार्ङ्गदेव ने भी **संगीतरत्नाकर**[2] में 'यो रक्तिव्यञ्जकः' इत्यादि से भरत का निर्देश करते हुए लिखा है। इस पद्य की चतुर कल्लिनाथ की व्याख्या में ही भरत का उपर्युक्त श्लोक उद्धृत है तथा इनने 'रक्ति' पद का प्रयोजनार्थ स्पष्ट करते हुए स्वरसन्दर्भभेदप्रतिनियत रक्तिविशेषव्यञ्जकत्वस्य विवक्षितत्वात्' अर्थात् शार्ङ्गदेव ने राग के अर्थ को प्रकट करने के लिये रक्ति शब्द का प्रयोग किया है। यह व्याख्या अभिनवगुप्त की टीका का अनुगमन है क्योंकि उनके द्वारा भी 'अत एव हि एते ग्रामरागा इत्युक्ता ग्रामे जातिसमूहस्तस्य सम्बन्धिनो रक्त्यतिशयः' इत्यादि। अतः यह स्पष्टता से ज्ञात हो जाता है कि भरत के मत से भी—'जातियों के अतिशय मनोहर संगीत रूप से 'राग' सम्भव है तथा इस राग का विशेष गुण यह है कि यह अतिशय आकर्षक होता है तथा (एक) असम आनन्ददायी है जो शब्दों से नहीं कहा जा सकता है। यह बात प्रमेय के पक्ष से कही गयी

---

१. ना० शा० २८।६८। २. संगीतरत्नाकर—१-७-३२।

है जो स्वरूपपरक है। यदि प्रमाण के दृष्टिकोण से देखें तो राग जातियों के रमणीय गठन से उत्पन्न विलक्षण आनन्द का अनुभव है। इस तथ्य को **कल्लिनाथ** ने **मतङ्ग** के वचन के समर्थन के साथ प्रस्तुत किया।

इस प्रसंग में शार्ङ्गदेव के वचन की व्याख्या करते हुए कि 'ग्रामराग तीन हैं'—कल्लिनाथ ने मतंग के अनुगमन पर प्रश्न उठाया कि ये राग निश्चित रूप से जातियों के विशेष समुदाय से सम्बद्ध होते हैं—तो इसका आधार क्या होगा तथा वे उत्तर में बतलाते हैं कि इस मान्यता का आधार स्वयं भरत मुनि का प्रमाणसिद्ध कथन कि जातियों के संगठनों से उत्पन्न होने के कारण ही इन्हें ग्रामराग के नाम से दिखलाया है। सिंहभूपाल ने भी रत्नाकर की व्याख्या में भरत का ही आधार दिखलाते हुए कहा कि राग जाति से सम्बन्ध होने से ही होते हैं।

भरत ने नाटक की विभिन्न सन्धियों में विभिन्न ग्रामरागों का प्रयोग दिखलाया। यथा—'मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे भवेत्' (ना० शा० ३२।४२६–४२९) इत्यादि। तथा भाषारागों की भी—सैन्धवीमाश्रितां भाषां ज्ञेयं सैन्धवकं बुधैः (ना० शा०) कि ये सैन्धव गीत सैन्धवक भाषाराग में गाये जाते थे की सूचना मिलती है। इस प्रकार भरत से ग्रामराग तथा भाषाराग की गीतियों का भान हमें हो जाता है। कल्लिनाथ ने प्राचीन कैशिकराग की जातियों से उत्पत्ति की बात यह कह कर कि—'शुद्ध कैशिक राग की कैशिक जाति से उत्पत्ति होती है' को यह कह कर प्रमाणित किया कि भरत मुनि की प्रामाणिकता के आधार पर यह भी सिद्ध है।

नाट्य को रखने की बात बतला कर उनके अति नियमानुसारी रागरूपों को रखने के अनिच्छुक रहे, जो कि लोक में विद्यमान सहज और प्राकृतिक–जीवनसत्ता से दूरकरती हो या फिर जो नाटकीय अपेक्षा के लिये उपयुक्त हो। अतः भरत की गानविधि के आधार पर गान का निदर्शन ही 'राग' के जात्याश्रित ग्रामरागों को समझना चाहिये।

पाठान्तर—यदि नाट्यशास्त्र के पाठों पर ध्यान दें तो सर्वप्रथम अनुशीलन करने पर जो बात सम्मुख आती है वह एक मोटी रेखा-सी दो पाठों की स्थिति दिखलाई देती है। इन्हें हम अति प्राचीन तथा परवर्ती प्राचीन पाठ अथवा दीर्घ और लघु पाठ कहेंगे। ये सभी वर्तमान प्रचलित षट्साहस्री रूप वाले नाट्यशास्त्र के ही हैं। नाट्यशास्त्र की द्वादशसाहस्री का केवल **भावप्रकाशन** में शारदातनय कृत उल्लेखमात्र प्राप्य है। अतः उसके विषय में

कुछ भी कहना संभव नहीं है। इन पाठों की भिन्नता के अधिक रहने या फिर केवल भिन्नार्थक वाचना के आधार पर भी पाठगत भिन्नता होती है। इनमें जिसे ऊपर अति प्राचीन पाठ बतलाया वह नाट्यशास्त्र के भट्टोद्भट तथा भट्टलोल्लट जैसे प्राचीन व्याख्याकारों द्वारा अनुगमन किया जाने वाला पाठ था। परवर्ती पाठ के रूप वाले नाट्यशास्त्रीय पाठ्य पर श्रीशङ्कुक, कीर्तिधर तथा भट्ट अभिनवगुप्तपाद ने व्याख्याएँ की थीं (परन्तु सही रूप में अभिनवगुप्तसम्मत पाठ ही दिखता है। क्योंकि यही व्याख्या सम्प्रति प्राप्त होती है)। इस कारण व्याख्यासम्मत पाठ के अनुकूल लगने की बात सहज होगी। पाठालोचन के प्रसङ्ग में ध्यान देने की बात यह रखना है कि आचार्य अभिनवगुप्तपाद का व्याख्यान का उद्देश्य रससिद्धान्त को प्रमुखता देकर भरत के आशय को प्रस्तुत करना है तथा इनकी मान्यता भी यही रही है तथा इनके पाठ भी इसी आधार को लेकर रखे गये या मान्य किये गये हैं। भट्ट लोल्लट तथा कीर्तिधर ने जिन प्राचीन पाठों को लिया वे कोहल तथा भरत से भी प्राचीन आचार्य नन्दिकेश्वर के मतानुसारी पाठ थे जिनका परम्परानुसारी रूप में नाट्य में गीत, वाद्य तथा नृत्य से युक्त 'नाट्य' को प्रमुखता देकर मञ्चीय प्रयोगगत व्यावहारिकता को प्रमुखता देने के उद्देश्य से था। ये तथ्य भी अभिनवभारती के प्राप्त कुछ निश्चित संकेतों के आधार पर या संगीत तथा नाट्य के ग्रन्थों या लोल्लट आदि के अभिनवभारती के अन्दर मिलने वाले विचारों से मिलते हैं। यहाँ इस बात को दिखलाने का प्रयोजन पाठभेदों के आधार को प्रस्तुत करना है जिसके कारण नाट्यशास्त्र की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में या मातृकाओं में भिन्नता रहने की बात (भी) आती है जिसे हम आगे प्रस्तुत कर रहे हैं।

अध्यायक्रम तथा अन्य विभिन्नताओं के क्रम में सर्वप्रथम भिन्नता या न्यूनाधिकता की प्राप्ति होती है। पञ्चम अध्याय के चित्रपूर्वरंग को जो इस अध्याय का अन्तिमभाग है और जिसे आचार्य **अभिनवगुप्तपाद** ने प्रक्षिप्त-भाग मान कर व्याख्या नहीं की क्योंकि उनके मत में यह पाठ नन्दिकेश्वर के अनुसार है परन्तु इसी पर इसे नाट्यशास्त्र का मूलभाग मानकर **कीर्तिधराचार्य** ने टीका की थी। अभिनवगुप्त ने चित्रपूर्वरंग का संक्षिप्त विवरण आगे अध्याय २९ की व्याख्या के अवसर पर दिया क्योंकि यह विवरण नाट्यशास्त्र की तत्कालीन प्रतियों में प्रचलित था। इसी प्रकार नन्दिकेश्वर के हस्त-विवरण भी इस प्रसङ्ग में अभिनवगुप्त ने अध्याय २५ की टीका में अतिरिक्त रूप में दिखलाये हैं। यहाँ अभिनवगुप्त की व्याख्या के अन्य

अध्यायभेद तथा भिन्नपाठों के विवरण को विस्तार भय से न दिखला कर केवल संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि पाठानुरोध के कराण ही लक्षणों के दोनों पाठों पर अभिनवगुप्त ने व्याख्या लिखी है क्योंकि इन दोनों पाठों में प्रचलित पाठों की पर्याप्त प्रसिद्धि बनी हुई थी ।

अध्यायों की स्थिति—नाट्यशास्त्र के विभिन्न मुद्रित संस्करण तथा हस्तलिखित प्रतियों के प्रकाश में यदि विचार करें तो हमें सर्वप्रथम अभिनवगुप्त के पाठक्रम पर विचार करना चाहिये जिसमें नाट्यशास्त्र के आरम्भ में छत्तीस अध्याय वाले नाट्यशास्त्र की बात कह कर स्वयं अभिनवगुप्त ने ही अन्तिम अध्याय को दो भागों में रखते हुए व्याख्या कर इसे ३७ अध्याय का ग्रन्थ माना । इसी पाठ की अनुगत एक हस्तप्रति के आधार पर निर्णयसागर प्रेस से सर्वप्रथम जो संस्करण पाण्डुरंगपरब ने सम्पादित किया वह भी ३७ अध्याय का था जब कि एक प्रति में तो ३८ अध्याय भी दिखलाये हैं। काशीसंस्करण में तथा श्री मनोमोहन घोष के संस्करणों में दीर्घपाठ का अनुगमन करने वाली मातृकाओं के आधार पर ३६ अध्याय का ही आयाम है तथा इसमें पञ्चम अध्याय के अन्तिम भाग में चित्रपूर्वरंग का भी विवरण है। इस प्रकार इन दोनों में पर्याप्त भिन्नता है जिसे अध्यायभेद के रूप में देखा जा सकता है। इस क्रम में अध्याय ९ को देखने पर यही प्रतीत होता है कि यह 'हस्तलक्षणाध्याय' है। परन्तु इसे भी १० वें अध्याय से कहीं बीच में ही समाप्त कर रखा गया जिससे अध्याय संख्या में विभिन्नता यहीं से आरम्भ हुई। यही बात अध्याय ११ तथा १२ के विवरणों की थी जो इसी कारण संख्याभेद में विभिन्न हस्तप्रतियों में मिलती है। सत्रहवाँ अध्याय भी अन्यत्र अध्याय १८ तथा १९ में विभक्त मिलता है काशीसंस्करण में तथा चौबीसवाँ अध्याय का भाग काशीसंस्करण में चौतीसवें अध्याय में मिलता है जो इसी का भाग भी है। चौतीसवाँ अध्याय का भाग पैंतीसवें में मिला हुआ भी मिलता है। अध्याय ३२ को दो भागों में (बड़ौदा में) रखा गया जो काशी के संस्करण में एक पूर्ण अध्याय है। अवनद्ध अध्याय के बीच में ही 'गुणदोष-विचार' एक स्वतन्त्र अध्याय ३३ के रूप में मिलता है जो संगीतविवरण के मध्य में आजाने से अस्थान लगता है क्योंकि इसके ठीक बाद पुनः अवनद्ध वाद्य का विवरण है। अन्त में ३६ अध्याय को ही दो भागों में रखकर छतीस के स्थान पर सैंतीस अध्याय का नाट्यशास्त्र का कलेवर प्राप्त होता है। इस प्रकार विभिन्न संस्करणों के अध्यायभेदों की यह स्थिति विद्यमान है जिनके आधार बतलाये जा चुके हैं। नाट्यशास्त्र

की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में इनके अतिरिक्त भी अध्यायों की संख्या में भिन्नता मिलती है जिनकी चर्चा यहाँ विस्तारभय से नहीं की जा रही है।

प्रकृत संस्करण—नाट्यशास्त्र की प्रदीप-हिन्दी व्याख्या का यह संस्करण अधिकांश में दीर्घपाठ की सरणि पर निर्मित है जो अनेक हस्तलेखों के पाठों के आधार पर रखा गया है तथा समग्ररूप में काशीसंस्करण को आधार बनाकर प्रस्तुत किया गया है। यह बात प्रथमभाग की प्रस्तावना में ही दिखलाई जा चुकी है अतः इसके संकेत भी पुनः यहाँ दे रहे हैं।

क—इस पाठ का आधार बड़ौदा संस्करण तथा इसकी पाठान्तर टिप्पणी के सभी पाठ हैं।

ख—इस पाठ का आधार निर्णयसागर-संस्करण है तथा उसके पाठान्तर भी।

ग—यह काशीसंस्कृत ग्रन्थमाला के पाठों का संकेत है।

घ—यह मनोमोहन घोष के सम्पादित मूल संस्कृत नाट्यशास्त्र के पाठों का संकेत है।

मनोगत—इस प्रकार नाट्यशास्त्र के इस चतुर्थभाग में नाट्यशास्त्र के अठाइसवें अध्याय से लेकर छत्तीसवें (अन्तिम) अध्याय तक का विवरण तथा सम्बद्ध तत्वों की समीक्षा के कार्य के साथ ही नाट्यशास्त्र की इस हिन्दी व्याख्या की भी पूर्णता हो रही है जो अधिक प्रसन्नता और सन्तोष दे रहा है। विशेष रूप से इस भाग में दी जाने वाली पाद-टिप्पणियों में विषय को स्पष्ट करने, आवश्यक रेखाचित्र लगाने तथा प्रभेदों की तालिका आदि को रख देने के कारण अब इसका अनुशीलन करना उतना दुरूह नहीं रहेगा जो कि इसकी स्थिति और शास्त्रप्रकृति को देखते हुये अनुभव किया जा रहा है। नाट्यविद्या तो महासागर के समान गम्भीर तथा विस्तीर्ण है परन्तु उसके अवगाहन के साधनभूत तीर्थ की तरह प्राप्य सामग्री के प्रकाश में उसे सुतर बनने की मनीषा ने ही मुझे इस प्रकृत व्याख्या-लेखन में प्रवृत्त करवाया तथा यह कार्य भी महत्कष्टदायी रहकर भी पूर्णता प्राप्त कर गया यह सभी उज्जयिनी के भगवान् भूतभावन श्रीमहाकालेश्वर की तथा काशी के विश्वनाथ की कृपा और माता सरस्वती का स्नेहसिक्त आशीष का ही फल है। अतः इस प्रसंग में इन दोनों के चरणों में अपना मस्तक रखता हूँ क्योंकि मुझ असमर्थ को केवल इनकी कृपा का ही एक मात्र सहारा रहा है। गुरुजन की वन्दना के इस क्रम में अपने पूज्य गुरुजन तथा प्रेरणादायी मनीषिगण का

भी पुण्य स्मरण आवश्यक है। अतः मैं सर्वप्रथम अपने पूज्य परमगुरु प्रातः स्मरणीय सर्वतन्त्रस्वतन्त्र गोस्वामी दामोदरशास्त्री जी वाराणसी के चरणों में प्रणति प्रस्तुत करता हूँ जिनकी शास्त्रज्योति के प्रकाश से ही सदैव मार्ग प्राप्ति सुकर होती है। पूज्य प्रभुवर डॉ० गोपीनाथ कविराज जी के आशीष से 'नाट्यशास्त्र' पूर्णता को प्राप्त कर सका है तथा पूज्यवर पण्डित मुकुन्द-शास्त्री जी खिस्ते और पण्डित महादेवशास्त्री जी पाण्डेय को भी इसी क्रम में अपनी विनम्र प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ। उज्जयिनी के प्रथितयशस्क शास्त्रमहोदधि श्रीपण्डित गोपीकृष्ण जी शास्त्री विद्यागुरु की कृपा और आशीष के परिणाम स्वरूप ही प्रकृत कार्य सम्पन्न हुआ जिसकी प्रेरणा सर्व-प्रथम इन्हीं पूज्यपाद ने दी थी। मैं इन सभी दिवंगत गुनजनों की पुण्य स्मरणपूर्वक अपनी विनम्र प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

आभार—नाट्यशास्त्र के इस चतुर्थभाग के लिये भी पिछले तीन भागों की तरह अनेक सुधीजन की प्रेरणा, प्रशंसा तथा इस भाग के शीघ्र प्रस्तुत करने का आग्रह रहा। अतः उन सभी अनुशीलकों तथा नाट्यविद्या मनीषिजन को कृतज्ञता ज्ञापन देना प्रथम कर्तव्य है। इस क्रम में पिछले भागों की तरह नाट्यशास्त्र के सम्पादकों में निर्णयसागर से प्रकाशित काव्यमाला के सम्पादक का० पा० परब तथा वा० शा० पणशीकर, काशी संस्कृत सीरिज, वारा-णसी के श्री प्रो० बटुकनाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय, गायकवाड संस्कृत ग्रन्थमाला, बड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारती व्याख्या के साथ नाट्यशास्त्र के सम्पादक म० म० रामकृष्ण कवि मानवल्ली तथा श्रीरामा-स्वामी शास्त्री, कलकत्ता की रायल एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित तथा अंग्रेजी अनुवाद सहित नाट्यशास्त्र के सम्पादक डॉ० मनोमोहन घोष के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनके संस्करणों ने प्रकृत संस्करण को व्यवस्थित करने में आधार प्रदान किया। इस प्रसंग में भारत के विभिन्न हस्तलिखित ग्रन्थागारों के संचालकगणों का भी कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद देना कर्तव्य समझता हूँ जिससे इस संस्करणों को संवारने में बड़ा योगदान मिला था। नाट्यशास्त्रविषयक आकर ग्रन्थों के तथा संगीतशास्त्रीय ग्रन्थों के यशस्वी ग्रन्थकारों के प्रति अधमर्णता तो सहज ही ऐसे कार्यों में रहती है अतः उनका इस प्रसङ्ग में स्मरण ही कृतज्ञता भी है।

नाट्यशास्त्र पर समीक्षा ग्रन्थों तथा संगीतशास्त्र के ग्रन्थों के सम्पादकों में श्री डॉ० पाण्डुरङ्ग वि० काणे बम्बई, डॉ० सुरेन्द्रनाथशास्त्री, (दिवं० कुलपति; संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी); मानवल्लि महामहोपाध्याय

रामकृष्ण कवि, राजमहुंदरी (आन्ध्र), डॉ० मनोमोहन घोष कलकत्ता, डॉ० आद्य रंगाचार्य (दिवं० विद्वान् तथा नाट्य निर्देशक एवं निदेशक, कालीदास अकादमी, उज्जैन), डॉ० डी० आर० मांकड (गुजरात विश्वविद्यालय) तथा प्रो० इन्दुशेखर (संस्कृत प्रोफे० ईरान) की रचनाओं की प्रकृत अनुशीलन में सहायता लेने के कारण इन सभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करता हूँ।

नाट्यशास्त्र की प्रदीप–हिन्दी व्याख्यान के प्रकृत संस्करण के लेखनकाल से लेकर प्रकाशित होने के समय तक मुझे अनेक सुधीजन, स्नेहीजन तथा मित्रों का निरन्तर प्रोत्साहन तथा सहयोग एवं समर्थन रहा जिनका आभार भी क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भाग की प्रस्तावनाओं में प्रकट किया गया है। अब इस चतुर्थ भाग में भी इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुये सर्वप्रथम मैं मध्यप्रदेश शासन के प्रति अपनी पुनः हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी राजकीय सेवा में रहकर निरन्तर इस कार्य को भी सम्पादित कर पूर्ण कर लिया। एतदर्थ इस लम्बे कार्य में उनका योगदान भी सराहनीय है। इसी क्रम में सर्वप्रथम मैं श्री अशोक वाजपेयी, शिक्षासचिव, मध्यप्रदेश शासन तथा श्रीमती कपिला वात्स्यायन, भारतशासन, देहली, श्रीमान् नेमिचन्द्र जी जैन, देहली तथा डॉ० प्रेमलता जी शर्मा (कुलपति, खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय म० प्र०) को भी उनके प्रोत्साहन तथा प्रकृत नाट्यशास्त्र के संस्करण में रुचि लेने के कारण आभारी हूँ। इसी क्रम में मैं अपने परिवार के समस्त सदस्यों तथा पुत्री आयुष्मती सुषमा शुक्ल को भी अपना स्नेहमय आशीष दे रहा हूँ। इनकी सदैव नाट्यशास्त्र के कार्य में तत्परता से सहायता करने के कारण तथा सभी को धन्यवाद भी देता हूँ।

प्रकृत संस्करण के कार्य में प्रोत्साहन उल्लेखनीय सहयोग आदि के क्रम में श्रीमती डॉ ममता दत्ता प्राचार्या, शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उज्जैन का उल्लेख आवश्यक है, इसी प्रकार डॉ० के० केमकर (सेवा निवृत्त कुलपति विक्रम विश्वविद्यालय) तथा मुख्य परामर्शदाता ब्रजमोहन बिरला शोधप्रतिष्ठान उज्जैन का भी अनेकविध विचार-विमर्श के कारण आभारी हूँ। श्री डॉ० कमलेश दत्त त्रिपाठी, संचालक कालिदास अकादमी उज्जैन तथा बन्धुवर श्रीनिवास रथ का भी इस प्रसङ्ग में साभार स्मरण करता हूँ। कालिदास अकादमी परिवार के सभी सदस्यों में सर्वश्री प्रतापसिंह जी यादव प्रशासकीय अधिकारी, डॉ० जगदीश शर्मा, अनुसन्धान विभाग, श्रीधीरेन्द्र परमार, नाट्यप्रस्तुति, अनुसन्धानविभाग तथा डॉ० भगवतीलाल जी राज-

पुरोहित, अनुसन्धानविभाग, डॉ० रमेशपाण्डेय तथा बालकृष्ण शर्मा को भी इस प्रसङ्ग में धन्यवाद देता हूँ तथा हृदय से आभारी हूँ।

अब इसी प्रसङ्ग में चौखम्भा प्रकाशन के आधार गोलोकवासी श्रीबाबू जयकृष्ण जी तथा बाबू श्रीकृष्णदास जी गुप्त का स्मरण भी आवश्यक है। जिनके द्वारा इस ग्रंथ का प्रकाशन आरंभ हुआ तथा जो अब पूर्ण हो रहा है।

चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी के प्रमुख संचालक भाई श्री मोहन दास जी गुप्त का इस प्रसंग में अतिशय हार्दिक आभार प्रकट कर रहा हूँ जिनने अतिशय निष्ठा तथा निरन्तर रुचि को बनाये रख कर नाट्यशास्त्र के सभी भागों को बड़ी उत्तमता तथा सुन्दरता से प्रकाशित किया। मुद्रण कार्य को व्यवस्थित गति में रखकर शीघ्रता से पूर्ण करने की भावना के कारण विद्याविलास प्रेस तथा उनके संचालक श्री भाई ब्रजभवनदास जी गुप्त तथा उनके मुद्रणालय के समस्त सहयोगियों का भी हृदय से कृतज्ञ हूँ।

किं बहुना—

नाट्याम्नायनितान्ततान्तमनसामासेतुशीताचला-
क्षोणीमण्डलमध्यवर्तिविदुषामाभोगिनी चेतसाम्।
जीयादुक्तिविवेकतत्वनिकरैः संशोधिता निस्तुलैः
गम्भीरा मधुराऽपि बोधजननी व्याख्या प्रदीपाभिधा॥

के निवेदन के साथ नाट्यशास्त्र के इस भाग की पूर्णता के प्रसंग में सभी को प्रणतिपुरस्सर स्वसंकथना से विरति लेता हूँ। इति शुभम्।

उज्जयिनी,
आषाढ़पौर्णमासी,
वि० सं० २०४२

सुधीजनकृपाकांक्षी
श्रीबाबूलाल शुक्ल, शास्त्री

ग्रन्थ-संकेत

अभि० द०	: अभिनयदर्पण ।
अभि० भा०, अ०, भा०	: अभिनव भारती (नाट्यशास्त्रव्याख्या) ।
का० प्र०	: काव्यप्रकाश ।
काव्या० सू०	: काव्यालङ्कारसूत्र (वामन, भामह तथा
	: उद्भट)
का० द०	: काव्यादर्श (दण्डी) ।
द० रू०	: दशरूपक ।
ना० चं०	: नाटकचन्द्रिका (रूपगोस्वामी) ।
ना० द० सू०	: नाट्यदर्पणसूत्र (रामचन्द्रगुणचन्द्र) ।
ना० शा०	: नाट्यशास्त्र (भरत)
ना० शा० सं०	: नाट्यशास्त्रसंग्रह ।
भ० को०	: भरतकोश (रा० कवि०) ।
भा० प्र०	: भावप्रकाशन (शारदातनय) ।
भ० अ०	: भरतार्णव ।
भ० भा०	: भरतभाष्य (नान्यदेव) ।
म० भा०	: महाभारत (वेदव्यास)
र० गं०	: रसगङ्गाधर ।
वा० म०, रा०	: वाल्मीकिरामायण ।
रसा० सु०	: रसार्णवसुधाकर (सिंहभूपाल)
शृ० प्र०	: शृङ्गारप्रकाश (भोज)
स० क०	: सरस्वतीकण्ठाभरण ।
सा० द०	: साहित्यदर्पण ।
सं० र०	: सङ्गीतरत्नाकर (शार्ङ्गदेव)

सामान्य संकेत

अ०	: अध्याय ।
अं०	: अङ्क ।
का० सं०	: काशीसंस्करण ।
चौ० सं०	: चौखम्भा संस्करण ।
नि० सा०	: निर्णयसागर संस्करण ।
गा० ओ० सी०	: गायकवाड़, ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा ।
श्लो० सं, प० सं०	: श्लोकसंख्या, पद्यसंख्या ।
सं०	: संख्या ।

विषयानुक्रमणिका

श्रीभरतमुनिप्रणीतम्

नाट्यशास्त्रम्

'प्रदीप' हिन्दी-व्याख्योपेतम्

(चतुर्थो भागः)

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

आतोद्य के चार प्रकार—

आतोद्यविधिमिदानीं व्याख्यास्यामः[1] । तद् यथा—

ततञ्चैवावनद्धञ्च घनं सुषिरमेव च ।
चतुर्विधन्तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ॥ १ ॥

अब हम 'आतोद्य-विधि' का विवरण दे रहे हैं। आतोद्य[1] के चार प्रकार हैं:—(१) तत, (२) अनवद्ध, (३) घन तथा (४) सुषिर।

आतोद्य का स्वरूप—

ततं तन्त्रीगतं[2] ज्ञेयमवनद्धन्तु पौष्करम् ।
घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश[3] उच्यते ॥ २ ॥

---

१. 'आतोद्य' को उद्देश्य क्रम से (संग्रहान्तर्गत रहने से) निरूपण प्राप्त होने से उसी को यहाँ लिया गया है।

'आतोद्य' शब्द का अर्थ अमरकोष (आदि) में चार प्रकार के वाद्यों का समूह या उनका समवेत-वादन दिया है। जिसकी हम आधुनिक वृन्दवादन (orchestra) से तुलना कर सकते हैं। किन्तु इसका नाट्यशास्त्र में अर्थ केवल परम्परागत ही लिया गया है। इनमें चार प्रकार के ज्ञात वाद्य लिये गये हैं, जिनमें प्रमुखता के कारण सर्वप्रथम तत (आदि) तथा इसके बाद सुषिर का उल्लेख है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद के अनुसार 'तत' तथा 'सुषिर' का उपयोग स्वरों के लिये तथा अनवद्ध एवं घनवाद्यों की उपयोगिता 'ताल' के लिये मान कर यहाँ आतोद्य का विभागपूर्वक विवरण दिया गया है। क्योंकि 'स्वर' तथा 'ताल' दोनों की संगति में अपेक्षा होती है तथा इनके पृथक् आतोद्य या वृन्द भी रखे जाते हैं। यहाँ स्वर का अधिष्ठान वीणा तथा शरीर दोनों होने के कारण 'स्वर' के उपयोगी आतोद्य को प्रथम निर्दशित किया गया।

---

१. वक्ष्यामः—क० घ०।   २. तन्त्रीकृतं—क० ख०।

३. वंश एव च—ख०।

वीणा आदि 'तत'[१], पीटे जाने वाले पुष्कर (मृदंग) आदि 'अवनद्ध', कांसी आदि धातुओं के बने हुए तालार्थ वाद्य 'घन' तथा फूँककर हवा भरते हुए बजने वाले (बांसुरी आदि) 'सुषिर' वाद्य कहलाते है ॥ २ ॥

आतोद्य का विविध प्रयोग—

प्रयोगस्त्रिविधो ह्येषां विज्ञेयो नाटकाश्रयः ।
ततश्चैवावनद्धश्च तथा नाट्यकृतश्च यः ॥ ३ ॥

नाटयप्रयोगों में इनका तीन तरह से प्रयोग किया जाता है अथवा उपयोग रहता है–(१) तत (२) अवनद्ध तथा (३) नाटयकृत । इनका सामान्यतः नाटय प्रयोग की दशा में उपयोग होता है ॥ ३ ॥

आतोद्य का (विन्यास या) स्थापन—

तते कुतपविन्यासो गायनः सपरिग्रहः ।
वैपञ्चिको वैणिकश्च वंशवादक[१] एव च ॥ ४ ॥

तत के प्रयोग[१] में गीतगायकों के साथ विपञ्ची (चित्रा) और बांसुरी (आदि) के वादकों का साथ बैठना रहता है ॥ ४ ॥

मार्दङ्गिकः पाणविकस्तथा दार्दुरिको बुधैः ।
[२]अवनद्धविधावेष कुतपः समुदाहृतः ॥ ५ ॥

---

१. 'कुतप' शब्द की आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने यहाँ कुतं शब्दं पाति कुंच रङ्गञ्च तपत्युज्वलयतीति 'कुतपः' व्युत्पत्ति की कुतप का अर्थ यहाँ 'आतोद्य' ही है। आशय यह है कि वीणा आदि वादन के वृन्दवादकों में जिनसे 'तत' नामक आतोद्य की पूर्ति होती है उनमें गीत के गायक विपञ्ची तथा वीणा के वादक ही रखे जाते हैं। यहाँ दो वीणा के उल्लेख से मुनि ने अंगभूत प्रमुख दो वीणाओं का संकेत किया है। ये वीणाएँ हैं चित्रा तथा विपञ्ची। चित्रा वीणा में सात तार होते थे तथा अंगुलियों से इसका वादन किया जाता था। जब कि विपञ्ची में नौ तार होते थे तथा इसका कोण या मिजराब से वादन होता था। यह कुतप या आतोद्य तत के प्रयोगार्थ होता था। आचार्य अभिनवगुप्त के मत में इक्कीस तारों की वीणा होती है।

---

१. वंशवादस्तथैव च—क०, ख० ।

२. अनाविद्ध—ग० ।

तथा अनवद्ध[1] के प्रयोग में मृदङ्ग, पणव तथा दर्दुर जैसे अनवद्धवाद्य वादकों का साथ बैठना रहता है ॥ ५ ॥

उत्तमाधममध्याभिस्तथा[1] प्रकृतिभिर्युतः ।
कुतपो नाट्ययोगे[2] तु नानादेशसमाश्रयः[3] ॥ ६ ॥

नाट्य प्रयोगों में यह 'कुतप' अनेक[2] वाद्यों का आश्रय लेने वाला तथा विविध स्थितियों वाले उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के पात्रों से सम्बद्ध रहता है ।

एवं गानञ्च[4] वाद्यञ्च नाट्यञ्च विविधाश्रयम् ।
अलातचक्रप्रतिमं कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः[5] ॥ ७ ॥

इस प्रकार गान, वाद्य तथा नाट्य[3] के प्रयोगों को विविधाश्रय (विविध आकर्षणों वाले) रखते हुए उन्हें 'अलातचक्र'[4] के (बलबूते या बनैटी) के समान एक साथ मिले हुए रखना चाहिए ।

---

१. अवनद्ध वाद्यों के कुतप के अन्तर्गत मृदंग, पणव, दर्दुर वाद्यों के वादकों को रखा जाता था । मृदंग, पणव तथा दर्दर आदि के स्वरूप अन्यत्र तथा नाट्यशास्त्र में भी विस्तार से दिखलाये गये हैं । आचार्य अभिनवयुक्त के मत में—'पणवोऽन्तस्तन्त्रीको हुडुंकारः' है अर्थात् पणव वाद्य को तारों से बांधा जाता था । 'दर्दर' को इन्होंने 'महाघण्टाकार' लिखा है अर्थात् दर्दरवाद्य का मुख गोल घण्टे की तरह वादन के समय गूंजने वाला होता होगा । यही प्रतीत होता है ।

२. नाट्ययोग का यहाँ अर्थ होगा अनेक वस्तुओं (वाद्यों) के साथ उपयोगी रहने वाला नाट्य प्रयोग । इसमें तत तथा अवनद्ध वाद्यों के नियत होते हैं तथा प्रयोग के समय इनका सामीप्य या अनुगतभाव अपेक्षित होता है । आचार्य अभिनवगुप्त का यही मत है ।

३. यहाँ नाट्य शब्द का आशय है नृत्य प्रधान अभिनय प्रयोग या नृत्य ।

४. 'अलातचक्र' का आशय है गीत, वाद्य तथा नाट्य का एकीभाव के साथ रस में प्रदर्शन होना । जैसे किसी अलात या बनेटी में लगी हुई आग घुमाने

---

१. त्रिभिः—क (र) ।
२. योगेऽत्र—ग०; एवं हि नाट्यकुतपो—क (र) । ३. समुद्भवः—क० ।
४. गीतञ्च—ख; तस्मान्नाट्यञ्च वाद्यञ्च रसभावविभावकम्—क (र) ।
५. योगसंश्रयम्—क (र) ।

गान्धर्व (संगीत) का स्वरुप—

यत्तु तन्त्रीकृतं[1] प्रोक्तं नानातोद्यसमाश्रयम्[2] ।
गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं[3] स्वरतालपदाश्रयम्[4] ॥ ८ ॥

अनेक आतोद्य का आश्रयभूत जो तन्त्रीगत (आतोद्य प्रकार) है वही स्वर, ताल तथा पदों का आश्रय लेने पर 'गान्धर्व' कहलाने लगता है ।

अत्यर्थमिष्टं देवानां तथा[5] प्रीतिकरम्पुनः ।
गन्धर्वाणामिदं यस्मात्तस्माद् [6]गान्धर्वमुच्यते ॥ ९ ॥

यह गान्धर्व प्रकार देवताओं को अत्यन्त इष्ट तथा प्रीतिकर है और गन्धर्वों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण यह 'गान्धर्व'[1] कहलाता है ॥ ९ ॥

पर एक धारा का रूप ले लेती है तथा आश्चर्य की भी सृष्टि करती है, उसी प्रकार यह प्रदर्शन भी रसधारा का प्रवाह ग्रहण करता है । यहाँ प्रयुक्त विविधाश्रय पद भी इसी भाव को संकेतित करता है कि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले क्रिया रूपों को सामाजिक के द्वारा एक बुद्धि का विषय ग्रहण बनवाने की क्रिया का सम्पादन करना । आचार्य अभिनव ने—'गीत तथा आतोद्य के प्रयोग से हीन दशरूपक प्रयोग को भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है' ऐसी कुछ अन्य आचार्यों की मान्यताओं की इस विवरण से मुनि ने समीक्षा कर समग्रसिद्धि के लिये तथा नाट्यप्रयोग में पूर्णता के लिये गान, वाद्य तथा नाट्य के एकीभाव को निर्दशित किया है ।

१. गान्धर्व— 'गान्धर्व' पद की यहाँ जो परिभाषा मुनि ने निर्दशित की उससे ऐसा प्रतीत होता है कि कण्ठसंगीत तथा वाद्य-संगीत का विधिवत् संयोग 'गान्धर्व' है। अभिनव ने 'गान्धर्वो मितिर्मानं वर्तनमन्तर्भावो यस्य'···इत्यादि से इसी का संकेत दिया है। 'गान्धर्व' पद का मूल अर्थ है शास्त्रीयसंगीत जो परम्परागत एवं प्राचीन हो अर्थात् मार्गसंगीत । नारद ने गान्धर्वपद की इस प्रकार निरुक्ति दी है :—

गेति गेयं विदुः प्राज्ञा धेति कारुप्रवादनम् ।
वेति वाद्यस्य विज्ञेयं गान्धर्वस्य विरोचनाम् ॥ (ना० शि० ३।४।१२)

---

१. तन्त्रीगतं—ग० ।
२. नानावाद्य—क (र); नानाभाव—क (र) ।
३. विज्ञेयं—य० । ४. पदात्मक—क० ।
५. तेषां···भवेत्—क (र, द०) ६. च यस्माद् हि—ख० ।

गान्धर्व का उत्पत्ति स्थान—

अस्य योनिर्भवेद् गात्रं[1] वीणा वंशस्तथैव च ।
एतेषाञ्चैव वक्ष्यामि विधिं[2] स्वरसमुत्थितम् ॥ १० ॥

इसका उत्पत्ति-स्थान शरीर, वीणा तथा बांसुरी होता है । अब मैं स्वरों से (उत्पन्न) होनेवाली (इस) गान्धर्व-विधि का निरूपण करता हूँ ॥१०॥

गान्धर्व के प्रकार—

गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात् स्वरतालपदात्मकम् ।
त्रिविधस्यापि वक्ष्यामि लक्षणं कर्म[3] चैव हि ॥ ११ ॥

स्वर, ताल तथा पद-गत होने से 'गान्धर्व' के भी तीन[1] प्रकार समझना चाहिए । अब मैं इन तीनों गान्धर्व प्रभेदों का स्वरूप तथा कार्य बतलाता हूँ ॥ ११ ॥

स्वरों के अधिष्ठान—

द्व्यधिष्ठानाः स्वराः ज्ञेया[4] वेणाः शारीरकास्तथा ।
उभाभ्यामपि [5]वक्ष्यामि विधिं[6] स्वरसमुत्थितम् ॥ १२ ॥

गान्धर्वशब्द का संगीत के अर्थ में भी नारद ने प्रयोग किया है 'गान्धर्वे श्रुतिसम्पदः' कह कर ।

संगीतरत्नाकर ने अनादि सम्प्रदाय सिद्ध परम्परागत प्राचीन संगीत को गान्धर्वसंगीत की संज्ञा देते हुए उसे वेद के समान अपौरुषेय तथा पवित्र निर्दशित किया । उनके अनुसार 'गान्धर्व' है—

अनादिसम्प्रदायं यद्गन्धर्वैः सम्प्रयुज्यते ।
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद्गान्धर्वं विदुर्बुधाः ॥ (सं० र० ४।२)

कल्लीनाथ ने इसकी व्याख्या में—गान्धर्वो मार्गः, गानं तु देशीत्यवगन्तव्यम् । अनादिसम्प्रदायमित्यनेन गान्धर्वस्य वेदवदपौरुषेयत्वमिति सूचितं भवति । (सं० र० ४।२-व्याख्या) । इस प्रकार भरतादि प्रणीत 'गीत' भी 'गान्धर्व' है यह स्पष्ट हो जाता है ।

१. 'गान्धर्व' के त्रिविध प्रकार इसके तीनों अंगों के सिद्धान्तानुसारी सम्पादन से सम्बद्ध हैं, जिनका रंगपीठ पर प्रयोग प्रस्तुत किया जाए । ये तीन अंग हैं स्वर, ताल तथा गीत । यहाँ पद शब्द 'गीत' का वाचक है ।

---

१. गानं—क०, ग० । २. द्विविधं स्वरसंयुतम्—क (भ०) ।
३. चैव कर्मभिः—ग० । ४. वैणाः शारीराश्च प्रकीर्तिताः—ख० ।
५. एतेषां सम्प्रवक्ष्यामि—क० । ६. विधानं लक्षणान्वितम्—क०, ख० ।

स्वरों के अधिष्ठान या आश्रय दो हैं—एक शरीर तथा दूसरा वीणा (आदि) वाद्य। अब मैं इन दोनों से होनेवाली स्वरों की विधि बतलाता हूँ ॥ १२ ॥

दारवी वीणा में स्वर-समुदाय—

स्वरा[1] ग्रामौ मूर्च्छनाश्च ताना स्थानानि वृत्तयः ।
[2]स्वरसाधारणे वर्णा ह्यलङ्कारास्सधातवः ॥ १३ ॥
श्रुतयो जातयश्चैव[3] विधिस्वरसमाश्रयाः[4] ।
दारव्यां समवायोऽयं[5] वीणायां समुदाहृतः ॥ १४ ॥

स्वरों की आश्रित विधि के अनुसार रहनेवाले (तत्त्वों) में स्वर,[1] ग्राम, मूर्च्छना, तान, स्थान, वृत्ति, स्वर-साधारण, वर्ण, अलंकार, धातु, श्रुति[2] तथा जाति को समझें। यह समूह दारुनिर्मित (दारवी) वीणा में होता है ॥

शरीरस्थ स्वरों का समुदाय—

स्वरा ग्रामौ ह्यलङ्कारा वर्णा स्थानानि जातयः ।
साधारणे च शारीर्यां वीणायामेष सङ्ग्रहः ॥ १५ ॥

शरीरस्थ स्वरों की आश्रित विधि में रहने वाला समूह है—स्वर, ग्राम, मूर्छना, स्थान, स्वर तथा स्थान-साधारण, (अष्टादश) जातियाँ, (चार) वर्ण तथा अलंकार ॥ १५ ॥

---

१. स्वर, ग्राम आदि के लक्षण इसी अध्याय में आगे दिए गए हैं।

२. श्रुति, ग्राम, स्थान आदि के लक्षण आगे दिए गए हैं। ऐसा लगता है कि मूर्च्छना, तान, धातु, श्रुति, आदि का व्यावहारिक रूप में वीणा या इसी जाति के अन्य तन्तुवाद्यों से अधिक सम्बन्ध होता था, जिनसे स्वर की निर्मिति या उपलब्धि होती है। नाट्यशास्त्र में इनका विस्तार से प्रतिपादन आगे किया गया है।

---

१. इतः पूर्वविदमर्धम्—अतस्तालगतस्यापि सम्प्रवक्ष्यामि वो द्विजाः—क (भ०) पु० अस्ति । स्वराश्च श्रुतयो ग्रामा मूर्च्छनाः स्थानसंश्रयाः—ग० ।

२. शुष्कं साधारणे—क०; स्थानं साधारणे चैव जातयोऽष्टादशैव च । वर्णाश्चत्वार एव स्युरलङ्काराश्च धातवः । अलङ्काराश्च वर्णाश्च गीतयश्च शरीरजाः—ग० । ३. यतयश्चैव—क० ।

४. नित्यं स्वरगतात्मकाः क० । ५. समवायस्तु—क० ।

स्वरों की पदगत विधि—

व्यञ्जनानि स्वरा वर्णास्सन्धयोऽथ विभक्तयः ।
नामाख्यातोपसर्गाश्च निपातास्तद्धितास्तथा ॥ १६ ॥
छन्दो[1] वृत्तानि जात्यश्च ज्ञेयाः पदगतात्मकाः ।

पद गत स्वरों में, रहने वाले तत्त्वों के समूह में व्यंजन, स्वर, वर्ण, सन्धि, विभक्ति, नाम, आख्यात उपसर्ग, निपात, तद्धित, छन्द, वृत्त तथा जाति है ॥ १६–१७ ॥

तालगत विधान के तत्त्व—

अनिबद्धं[2] निबद्धञ्च द्विविधन्तत् पदं स्मृतम् ॥ १७ ॥
अतस्तालगतस्यापि[3] सम्प्रवक्ष्यामि वै द्विजाः ।
आवापस्त्वथ[4] निष्क्रामो विक्षेपश्च[5] प्रवेशकः ॥ १८ ॥
शम्या तालः सन्निपातः परिवर्तः सवस्तुकः ।
मात्रा[6] विदार्यङ्गुलया यतिः[7] प्रकरणन्तथा ॥ १९ ॥
गीतयोऽवयवा मार्गा पादभागाः सपाणयः ।
इत्येकविंशको[8] ज्ञेयो विधिस्तालगतो बुधैः ।
गान्धर्वसङ्ग्रहो ह्येष विस्तरश्च[9] निबोधत ॥ २० ॥

(यह) पद दो प्रकार होता है—अनिबद्ध तथा निबद्ध जिसका तालगत[1] तत्त्वों में विधान होता हैं । वे हैं—आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेश, शम्या,

---

१ आवाप, निष्क्राम, विक्षेप आदि के लक्षण ना० शा० में आगे दिये गये हैं । 'तालगतस्यापि के स्थान पर 'तालगतांश्चापि' पाठ अधिक सुगम है । —(सम्पा०)

---

१. छन्दोविधिरलङ्कारा ज्ञेयः पदगतो विधिः—क०; छन्दोविधानञ्च तथा …ख०; छन्दोऽभिधानञ्च तथा—क (भ०) ।

२. निबद्धश्चानिबद्धश्च—क० ।

३. पद्यार्धमेतत् क० ग० पुस्तकयोर्नास्ति ।

४ ध्रुवस्त्वावापनिष्क्रामौ—क० । ५. विक्षेपोऽथ प्रवेशनम्—क०, ख० ।

६. मात्रा प्रकरणाङ्कानि—क; मात्राप्रमाणबीजानि—ख० ।

७. विदारी यतयो लयाः—क, विदारी च यतिर्लयः ख० ।

८. इति द्वाविंशको ज्ञेयो—क (भ०) ।

९. विस्तरं तु—क०; विस्तारं च—ग० ।

ताल, सन्निपात, परिवर्त, वस्तु, मात्रा, विदारीमात्रा, अंगुलिमात्रा, यति' प्रकरण, गीति, अवयव, मार्ग, पादभाग, तथा पाणि। ये इक्कीस तत्व[१] तालगत विधान में होते हैं।

इस प्रकार मैंने संक्षेप में उद्देशतः गान्धर्वशास्त्र संग्रह बतलाया। अब मैं लक्षण (परीक्षात्मक विस्तार रूप-निरुक्त) के अनुसार विस्तार से इनका वर्णन करता हूँ ॥ १८–२० ॥

तत्र स्वराः—

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः[१] सप्त च स्वराः ॥ २१ ॥

ये सात स्वर[२] हैं—जिनके क्रमशः—षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद नाम हैं।

स्वरों के चार विभेद तथा परस्परसम्बन्ध—

चतुर्विधत्वमेतेषां विज्ञेयं श्रुतियोगतः[२]।
वादी चैवाथ संवादी ह्यनुवादी[३] विवाद्यपि ॥ २२ ॥

---

१. यहाँ इक्कीस तत्व नहीं प्राप्त हैं अतः यहाँ पाठ 'इत्येवं विंशको' रखना सुगम होता। हो सकता है कि यहाँ की पाठ-परम्परा में बीच का भाग जिसमें एक तत्व छूट गया है सम्प्रति किसी पाण्डुलिपि में प्राप्त न हो।

२. स्वर का लक्षण संगीतरत्नाकर में निम्न है :—

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते ॥

सं० र० (अडयार सं० अध्याय १।२४, पृ० ८२)

अर्थात् जो श्रुति के अनन्तर उत्पन्न होने वाला, स्निग्ध, गुंजन करने वाला और श्रोताओं के मन को अपने आप रंजन करने वाला हो तो उसे 'स्वर' कहते हैं। भारतीय परम्परा के उत्तरभावी संगीतग्रंथों के विवरणानुसार इन स्वरों के षड्जादि प्रकारों को क्रमशः, मोर, चातक, बकरा, क्रौंच-पक्षी, कोकिल, मेंढक तथा हाथी उच्चारण करते हैं। अर्थात् ये स्वर इन प्राणियों के उच्चारित स्वरों से अधिक समानता लिये होते हैं।

---

१. सप्तमोऽथ निषादवान्—क०; सप्तमश्च···ख०।

२. गानयोक्तृभिः—क०।

३. विवादी चानुवाद्यपि—क०; अनुवादी–ग०; संवाद्यथानुवादी च तथा वादिविवादिनो—क (र)।

इन स्वरों के श्रुतिभेद से चार विभेद हो जाते हैं। ये हैं (१) वादी,[१] (२) संवादी, (३) अनुवादी तथा (४) विवादी ॥ २२ ॥

वादी तथा संवादी स्वर—

तत्र यो यत्रांशः[1] स तत्र वादी। ययोश्च नवकत्रयोदशश्रुत्यन्तरे[2] तावन्योन्यं संवादिनौ। यथा[3]—षड्ज़मध्यमौ[4] षड्ज़पञ्चमौ ऋषभधैवतौ गान्धारनिषादौ इति पड्ज़ग्रामे। मध्यमग्रामे ऽप्येवमेव। षड्ज़पञ्चमवर्ज्यं पञ्चमर्षभयोश्चात्र संवाद इति।

(गद्यभाग) इनमें जो जहाँ अंशस्वर[२] हो वह वहाँ 'वादी'। जिनका (परस्पर) नौ तथा[३] तेरह श्रुतियों का अन्तर हो वे परस्पर 'संवादी' स्वर होते हैं। जैसे 'षड्जग्राम में 'षड्ज' और पंचम, ऋषभ और धैवत, गान्धार और निषाद तथा षड्ज और मध्यम संवादी हैं। मध्यम ग्राम में भी ये ही होते हैं—यहाँ पर अन्तर केवल इतना है कि—षड्ज और पंचम के स्थान पर पंचम और ऋषभ परस्पर संवादी हो जाते हैं।

---

१. तुलना सं० र० अध्याय–१।४६–५०। वादी आदि स्वरों में वादी राजा, संवादी स्वर मंत्री, विवादी शत्रु तथा अनुवादी सेवक के समान होता है। स्वरों के वंश, वर्ण, जाति, अधिदेवता आदि का संगीतरत्नाकर आदि भरतोत्तर संगीत–शास्त्रीय ग्रन्थों में पर्याप्त विवरण मिलता है। यहाँ विस्तार भय से नहीं दिया जा रहा है। ये विवरण सं० र० अ० १।५० से १।६० पर देखे जा सकते हैं।

२. अंश स्वर से यहाँ आशय है अंग स्वर होना चाहिए तथा ऐसा ही पाठ भी कुछ हस्त–लेखों में है भी। क्योंकि अंश स्वर ग्रामों के आरम्भक स्वर का नाम होता है।

३. भरतमुनि ने संवादी की स्थापना नव त्रयोदशादि श्रुत्यन्तरों के आधार पर बतलायी अर्थात् विशिष्ट श्रुति संख्यागत अन्तर को लेकर ही स्वरों का संवादित्व 'विदादित्व' होता है। प्राचीनमत में श्रुति के स्थापन के बाद तज्जन्य स्वर श्रुति से उत्पन्न माना जाता था, यह इस विवरण से स्पष्ट है।

---

1. यदंशः स तदा वादी—क०।

2. त्रयोदशकमन्तरं तावन्योन्यं—क०। 3. तद्यथा—क०।

4. षड्जपञ्चमौ ऋषभधैवतौ गान्धार–निषादवन्तौ षड्जमध्यमाविति षड्जग्रामे—क०।

अत्र श्लोकः—

संवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च ।
षड्जग्रामे च[1] षड्जस्य संवादः पञ्चमस्य च ॥ २३ ॥

इस विषय में निम्न श्लोक हैं—

मध्यम-ग्राम में पंचम और ऋषभ का तथा षड्ज ग्राम में षड्ज और पंचम का संवाद रहता है ॥ २३ ॥

विवादी तथा अनुवादी—

'विवादिनस्तु ये तेषां स्याद्[2] विंशतिकमन्तरम्'। तद् यथा—ऋषभगान्धारौ, धैवतनिषादौ। एवं वादिसंवादिविवादिषु स्थापितेषु शेषाः अनुवादिसंज्ञकाः[3]। यथा—षड्जस्य ऋषभगान्धारधैवतनिषादाः ऋषभस्य मध्यमपञ्चमनिषादाः, गान्धारस्यापि मध्यम-पञ्चमधैवताः, मध्यमस्य धैवतपञ्चमनिषादाः, पञ्चमस्य धैवतनिषादौ[4] धैवतस्य[5] ऋषभपञ्चममध्यमाः षड्जग्रामे। मध्यमग्रामेऽपि मध्यमस्य पञ्चम[6]-धैवतनिषादाः, पञ्चमस्य ऋषभषड्जगान्धाराः[7], धैवतस्य षड्जर्षभ-गान्धाराः, निषादस्य षड्जर्षभगान्धाराः[8]। तत्र वदनाद् वादी, संवदनात् संवादो, विवदनाद् विवादी, अनुवदनाद् अनुवादी इति।

एतेषाञ्च स्वराणां न्यूनाधिकत्वं[9] तन्त्र्युपपादनदण्डेन्द्रिय[10]वैगुण्याद्[11]पजायते स्वरविधानमेतच्चतुर्विधम्[12]।

---

१. तु—क०।
२. स्याद्विश्रुतिक—क; [द्विश्रुतिस्वरमन्तरम्—(इति श्लोकपादः)]
३. स्त्वनुवादितः—क०; ह्यनुवादितः संज्ञकाः—ख०।
४. धैवतस्य षड्जमध्यम—पञ्चमाः षड्जग्रामे–क०, धैवतषड्जौ—ख०।
५. धैवतस्य षड्जमध्यमपञ्चमाः—ख०।
६. धैवतनिषादर्षभषड्जगान्धाराः—क०।
७. धैवतनिषादर्षभगान्धाराः—क०।
८. निषादस्य षड्जस्यर्षभगान्धारौ—क०।
९. न्यूनत्वमधिकत्वना—क०। १०. तन्त्र्युपपादन—ख०, ग०।
११. दुपलभ्यते—क०।
१२. चतुर्विधत्वमिति—क०; चतुःप्रकारमिति—ख०; इत्येतत् स्वरविधान–ग०।

जिन दो स्वरों में बीस श्रुतियों का अन्तर हो वे परस्पर 'विवादी'[1] हैं। जैसे ऋषभ और गान्धार, धैवत और निषाद (परस्पर विवादी स्वर हैं)। (इस प्रकार) वादी, विवादी और संवादी स्वरों के स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर उनके अतिरिक्त शेष स्वर 'अनुवादी'[2] कहलाते हैं। जैसे—षड्ज के ऋषभ, गान्धार, धैवत तथा निषाद। ऋषभ के मध्यम, पंचम और निषाद गान्धार के मध्यम पंचम तथा धैवत। मध्यम के धैवत पंचम और निषाद और पंचम के धैवत षड्जग्राम में अनुवादी हैं। मध्यग्राम में भी-मध्य के पंचम धैवत के षड्ज, ऋषभ और गान्धार। निषाद के षड्ज, ऋषभ और गान्धार भी। अपने स्वरूप का मुख्यतः अभिधायक होने से 'वादी' स्वर, स्वयं को वादी स्वर का सहायक बना लेने से संवादी स्वर, विरुद्ध स्वर होने से विवादी तथा अनुसरणात्मक वृत्ति या अप्रधान होने के कारण 'अनुवादी' कहलाता है।

इन स्वरों में अवांच्छित न्यूनाधिकता वीणा के तार, कोण, तन्त्रीवादन-दण्ड और इन्द्रियों के[3] वैगुण्य के कारण हो जाती हैं।

---

१. विवादी के विषय में मतङ्ग का मत है कि 'द्वयन्तरत्वात् विवादित्वम्' तथा दत्तिल के अनुसार भी 'द्वयन्तरौ तु विवादिनौ' कहा गया है। चतुरकल्लिनाथ ने इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया कि—'एकेन श्रुत्यन्तरितौ परम्परं विवादिनौ इति सूचितम्' (सं० र० १।३।४६) इसका आशय यही है कि मतङ्गादि के मत में दो स्वरों की आधार श्रुतियों के अन्तर पर विवादित्व था। इस प्राचीन मत का संगीतरत्नाकर के टीकाकार ने समाधान करते हुए कहा कि एक स्वर के बीच में अन्तरित होने वाले स्वरों की आधार श्रुतियों के अन्तर पर भी विवादित्व हो सकता है अर्थात् 'नि' तथा 'ग' क्रमशः रि और ध के विवादी स्वर हो सकते हैं।

२. मतङ्ग के अनुसार अनुवादी स्वरों के युगल इस प्रकार हैं—स, रि, प ध, स ध तथा प रि ये षड्जग्राम में होते हैं। सिंहभूपाल के अनुसार—'म रि' का युगल भी 'अनुवादी' हो जाता है।

३. इन्द्रिय वैगुण्य—का आशय है कि बधिर या विकलेन्द्रिय व्यक्ति वीणा की सारणा न करे क्योंकि वैसा करने पर स्वरों की उचित स्थिति का बना रहना मुश्किल होगा।

ग्राम तथा उसके दो प्रकार—

अथ द्वौ ग्रामौ षड्जो[1] मध्यमश्चेति। अत्राश्रिताः[2] द्वाविंशतिः[3] श्रुतयः। यथा[4]—

तिस्रो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिस्र एव च।
द्वे चतस्रश्च[5] षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम् ॥ २४ ॥

ग्राम[1] दो हैं—षड्जग्राम और मध्यम-ग्राम। इसी में बाईस श्रुतियाँ होती हैं।

जैसे—(षड्ज के बाद तार षड्ज तक के सप्तक में) श्रुतियों का क्रम क्रमशः तीन, दो, चार, चार, तीन, दो और चार-षड्ज ग्राम में होता है ॥ २४ ॥

---

१. ग्राम का अर्थ है स्वर समूह क्योंकि ग्राम शब्द का अर्थ होता है समूह। ग्राम एव स्वरसमूहः स्यात् मूर्च्छनादेः समाश्रयः (स० र० १।३।१ पृ० ९९) अर्थात् मूर्च्छना आदि का आश्रय लेकर रहने वाला स्वर समूह ग्राम कहलाता है। मतंग ने-समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादि-संयुतौ। ग्राम का स्वरूप बतलाया। उन्होंने—यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूय वसन्ति हि। सर्वलोकेषु स ग्रामो यत्र नित्यं व्यवस्थितः। षड्जमध्यमसंज्ञौ तु द्वौ ग्रामौ विश्रुतौ किल। (अर्थात् कुटुम्बिजन के मिलकर रहने के समान यह स्वरों का मिलकर एक साथ रहना ग्राम कहलाता है जिनमें षड्ज और मध्यम ग्राम अधिक प्रसिद्ध है)। यह कि संवादी स्वरों का समूह (जो वादी के साथ मिलकर) ग्राम कहलाता है। जिसमें व्यवस्थित रूप में श्रुतियाँ विद्यमान् हों तथा जो मूर्च्छना तान, वर्ण क्रम, अलंकार आदि का आश्रय लिए हुए रहे।

(श्री राणाकुम्भा के) संगीतराज में व्यवस्थितश्रुतियुताः यत्र संवादिनः स्वराः। मूर्च्छनाद्याश्रयो स ग्राम इति संज्ञितः' (भर० को० पृ० १८० से उद्धत।) बतलाया है। तीसरे गान्धार ग्राम का प्रयोग केवल स्वर्ग में ही शक्य है अतएव उसका विशेष विवरण तथा उपयोग संगीत-विदों ने निषिद्ध रखा। बाद के कुछ आचार्यों ने इसका प्रयोग बतलाया भी है। विस्तार-भय से हम इसका यहाँ विचार नहीं कर रहें हैं।

---

१. षड्जग्रामो मध्यमग्रामश्चेति—क०।
२. तत्र वा—ख०, तत्राश्रिता—ग०।
३. द्वाविंशतिश्रुतयः स्वरमण्डलसाधिताः—क०। ४. तद्यथा—क०।
५. चैवाद्य चतस्रश्च षड्जग्रामे भवेद्विधिः—क०।

मध्यमग्रामे तु श्रुत्यपकृष्टः पञ्चमः कार्यः पञ्चमस्य[1] श्रुत्युत्कर्षाद्-पकर्षाद्वा यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद्वा तत् प्रमाण[2] श्रुतिः।

मध्यम-ग्राम में पंचम को एक श्रुति उतार देना चाहिए। इस प्रकार उतारे हुए (मध्यम ग्राम के) पंचम की एक श्रुति चढ़ाने और उतारने से अथवा पंचम से मार्दव (उतारने) और आयतत्व (चढ़ाने) से जो अन्तर होता है वही षड्ज और मध्यम के अन्तर में प्रमाणभूत श्रुति होगी।

निदर्शनन्त्वासामभिव्याख्यास्यामः[3]। यथा—द्वे वीणे तुल्यप्रकरण-तन्त्र्युपवादनदण्डमूर्च्छने[4] कृत्वा षड्जग्रामाश्रिते कार्ये। तयोरन्यतरीं[5] मध्यमग्रामिकीं कुर्यात् पञ्चमस्यापकर्षे श्रुतिम्। तामेव च पञ्चमस्य श्रुत्युत्कर्षवशात् षड्जग्रामिकीं कुर्यात्। एवम् एकश्रुतिरपकृष्टा[6] भवति।

इस बात को हम उदाहरण से समझातेहैं—एतदर्थ एक जैसी दो वीणाएँ लेना चाहिए—एक जैसी इसलिए कि उनके तार एक जैसे स्थापित होना चाहिए। षड्ज ग्रामिक सप्तक उनमें समान ध्वनिक-रूप में मिला रहें। दोनों को छेड़ने का कोण (वीणादण्ड या मिजराफ) भी एक जैसा ही हो। मूर्छना भी एक जैसी हो और वादन-दशा में तारों पर आघात भी एक जैसा ही रहना चाहिए।

(अब) इन दोनों वीणाओं में से एक को मध्यमग्राम में मिलाकर पंचम को इतना उतारा जाए कि वह 'ऋषभ' के साथ मध्यम भाव से सम्बद्ध हो जाए। अब उस पंचम के उतारने पर प्रत्येक स्वर को इसी कारण उतारते जाना चाहिए। ऐसा होने पर यह दूसरी वीणा षड्जग्राम वाली वीणा के स्वरों की अपेक्षा एक प्रमाणश्रुति उतर जाएगी[1]।

---

१. भरतोक्त इस विवरण में स्वरों की स्थापना को पूर्वस्थित षड्जादि स्वरों को उतारने की क्रिया के द्वारा बतलाया गया है।

---

१. स्वश्रुत्युत्कर्षा—क०। २. श्रुतिः—क०।

३. च समभिव्याख्यास्यामः—ग०।

४. तन्त्र्युपपादन—ख०, ग०, घ०।

५. तयोरन्यतरस्यां पञ्चमस्यापकर्षे श्रुति मध्यमग्रामिकीं कृत्वा तामेव च ···कुर्यात्—क०।

६. एवं श्रुति—ख०, ग०, घ०।

पुनरपि तदेवापकर्षात्[1] गान्धारनिषादावपि इतरस्यामृषभधैवतौ प्रविशतः[2] द्विश्रुत्यधिकत्वात्। पुनस्तदेवा[3]पकर्षाद् धैवतर्षभावितरस्यां पञ्चमषड्जौ प्रविशतः[4] त्रिश्रुत्यधिकत्वात्। तद्वत्पुनरपकृष्टायां तस्यां पञ्चममध्यमषड्जा इतरस्यां मध्यमगन्धारनिषादवन्तः प्रवेक्ष्यन्ति चतुश्रुत्यधिकत्वात्[5]। एवमनेन श्रुतिनिदर्शनेन द्वैग्रामिक्यो[6] द्वाविंशति श्रुतयः प्रत्यवगन्तव्याः।

पुनः इसी तरह 'गान्धार' और 'निषाद' को इतना उतारना चाहिए कि वे दूसरी वीणा के ऋषभ और धैवत में मिल जाएँ। इसमें दो श्रुति स्वर उतरे हुए हो जाएंगें। अब इसी तरह 'धैवत' और 'ऋषभ' को इतना उतारो कि वें क्रमशः दूसरी वीणा के पञ्चम और षड्ज में मिल जाएँ। इस प्रकार यह तीन श्रुति स्वर उतर जाएँगें और षड्ज में मिल जाएँ।

अब मध्यम, पंचम और षड्ज को इतना उतारों कि ये क्रमशः दूसरी वीणा के मध्यम गान्धार और निषाद में मिल जाएँ; इस प्रकार यह चार श्रुति स्वर उतरे हुए होंगें।

इस प्रकार के श्रुतिनिदर्शन या श्रुतिदर्शन विधि के द्वारा दोनों ग्रामों की बाईस[1] श्रुतियों का ज्ञान हो जाता है।

---

१. श्रुतियों के विषय में विभिन्न मत हैं। विश्वावसु के अनुसार दो श्रुतियाँ, अन्य के अनुसार तीन श्रुतियाँ तथा भरत के अनुसार बाईस श्रुतियाँ हैं। कोहल का निम्न मत इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है जिसके अनुसार अन्य आचार्य छाछट (६६) भेद तथा कुछ श्रुतियों के अनन्त भेद मानते हैं। यथा

द्वाविंशति केचिदुदाहरन्ति श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमन्ये प्रतिपादयन्ति ॥

(सं० र० टी में उद्धृत)

(क) 'प्रमाण' शब्द का अभिनवगुप्त ने अर्थ किया है दोनों वीणाओं की लम्बाई तथा मोटाई जिससे वीणा के तारों की संख्या का भी इसमें समावेश हो जाए। 'प्रमाणमानाहपरिणाहौ। तन्त्रीणां तुल्यत्वं संख्यया स्थौल्यादिना चेति केचित्।' (अभि० भा० Vol. IV, पृ० २२)

---

१. तद्वदेवापकर्षयेत् यथा गान्धारनिषादवन्तावितर—क०।

२. प्रवेक्ष्यतः—क०। ३. पुनरपि तद्वदेवापकृष्टायां—क०।

४. प्रवेक्ष्यतः—क०। ५. त्यभ्यधिकत्वात्—क०।

६. द्वौ ग्रामिक्यौ—क०।

अत्र श्लोकाः—

षड्जश्चतुः[1]श्रुतिर्ज्ञेय ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः।
द्विश्रुतिश्चापि[2] गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः ॥ २५ ॥
चतुः[3]श्रुतिः पञ्चमः स्यात्त्रिश्रुतिर्धैवतस्तथा।
द्विश्रुतिस्तु[4] निषादः स्यात् षड्ग्रामे स्वरान्तरे[5] ॥ २६ ॥

इस विषय में प्राचीन आनुवंशीय श्लोक (ये) हैं—षड्ज ग्राम में षड्ज चतुःश्रुति, ऋषभत्रिश्रुति, गान्धार द्विश्रुति, मध्यम चतुःश्रुति, पंचम चतुःश्रुति, धैवत त्रिश्रुति और निषाद द्विश्रुति होता है।

मध्यमग्राम में श्रुतियाँ—

चतुः[6] श्रुतिस्तु विज्ञेयो मध्यमः पञ्चमः पुनः।
त्रिश्रुतिर्धैवतस्तु स्याच्चतुःश्रुतिक एव च ॥ २७ ॥
निषादषड्जौ विज्ञेयौ द्विचतुःश्रुतिसम्भवौ।
ऋषभस्त्रिश्रुतिश्च स्याद् गान्धारो द्विश्रुतिस्तथा ॥ २८ ॥

मध्यम-ग्राम में मध्यम चतुःश्रुति, पंचम त्रिश्रुति, धैवत चतुःश्रुति, निषाद द्विश्रुति, षड्ज चतुःश्रुति, ऋषभ त्रिश्रुति और गान्धार द्विश्रुति होता है ॥ २७–२८ ॥

अन्तरनिदर्शनमपि व्याख्यातम्।

इस प्रकार दोनों ग्रामों[1] का भेद श्रुतिनिदर्शन के द्वारा व्याख्यापूर्वक बतलाया गया।

मूर्च्छना—

अथ मूर्च्छनाः द्वैग्रामिक्यश्चतुर्दश। यथा—

---

१. मतंगाचार्य ने इन दोनों ग्रामों में षड्जग्राम की मुख्यता भरत के विवरण से निदेशित बतलायी है। यथा—

उभयोर्ग्रामयोर्मध्ये मुख्यत्वं कस्य गण्यते।
षड्जस्यैव हि मुख्यत्वं गम्यते वचनान्मुनेः ॥ (मत० बृह०)

१. चतुःश्रुतिर्भवेत् षड्जः—क०। २. श्चैव—क०।
३. पञ्चमस्तद्वदेव स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतो मतः—क०।
४. द्विश्रुतिश्च—क०। ५. विधिर्भवेत्—क० भवन्ति हि—ख०।
६. श्लोकद्वयमेतत् क—पुस्तके नोपलभ्यते।

अब मूर्च्छना[1] बतलाते हैं। ये दोनों ग्रामों में मिलकर चौदह होती हैं। जैसा कि बतलाया जाता है :—

आद्या[1] ह्युत्तरमन्द्रा स्याद्रजनी चोत्तरायता।
चतुर्थी शुद्धषड्जा तु पञ्चमी मत्सरीकृता॥ २९॥
अश्वक्रान्ता तु[2] षष्ठी स्यात् सप्तमी चाभिरुद्गता।
षड्जग्रामाश्रिता एता[3] विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः॥ ३०॥

षड्जग्राम में सात मूर्च्छनाएँ होती हैं—यथा-(१) उत्तरमन्द्रा, (२) रजनी, (३) उत्तरायता, (४) शुद्धषड्जा, (५) मत्सरीकृता, (६) अश्वक्रान्ता तथा (७) अभिरुद्गता।

आसां षड्जनिषादधैवतपञ्चममध्यमगान्धारर्षभाः आद्याः[4] स्वराः षड्जग्रामे[5]।

---

१. मूर्च्छना–शब्द–मूर्च्छामोहसमुच्छाययोः धातु से ण्यन्त में युच् प्रत्यय के द्वारा सिद्ध होता है। अर्थात् जिससे राग फैले तथा श्रोता मुग्ध या मोहित हो जाएँ उसे मूर्च्छना कहते हैं। मतंग ने मूर्च्छना का निम्न विवरण दिया है—

मूर्च्छना शब्दनिपत्तिर्मूर्च्छामोहे समुच्छ्रये।
मूर्च्छ्यते येन रागो हि मूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिता॥ (बृ०दे० पृ० २२)

अर्थात् मूर्च्छना शब्द मोह और विस्तारार्थक मूर्च्छ् धातु से बना है। अतः जिससे राग फैले उसे मूर्च्छना समझना चाहिए।

मूर्च्छना का लक्षण है क्रमशः सातों स्वरों का आरोह और अवरोह। यह दोनों ग्रामों में सात सात होती है।

(तु० सं० रत्ना० (क्रमतानादि ४) ८–१० पृ० १०३, १०४, अ ४ सं० खण्ड १) मूर्च्छना का स्वरूप भरत ने आगे बतलाया है।

---

१. आदा—क०, ख०
२. तथा षष्ठी—क०, ख०। ३. ह्येता—क०, ख०।
४. आनुपूर्व्या आद्या स्वराः—क०।
५. अतः परं क–पुस्तके–षड्जे चोत्तरमन्द्रा स्यादृषभे चाभिरुद्गता।
अश्वक्रान्ता तु गान्धारे मध्यमे मत्सरीकृता।
पञ्चमे शुद्धषड्जा स्याद्धैवते चोतरायता।
निषादे रजनी च स्यादित्येताः षड्जमूर्च्छनाः॥
इति श्लोकद्वयं समुपलभ्यते समुचितञ्चैतदत्र।

(गद्यभाग) इनके षड्ज ग्राम में आरम्भिक स्वर क्रमशः षड्ज, निषाद, धैवत, पंचम, मध्यम, गान्धार और ऋषभ हैं।

अथ मध्यमग्रामे—

सौवीरी हरिणाश्वा च स्यात् कलोपनता तथा।
चतुर्थी[1] शुद्धमध्या तु मार्गवी पौरवी तथा॥ ३१॥
हृष्यका चैव विज्ञेया सप्तमी द्विजसत्तमाः।
मध्यमग्रामजा ह्येताः विज्ञेयाः सप्तमूर्च्छनाः॥ ३२॥

मध्यमग्राम में सात मूर्च्छनाएँ होती हैं—यथा-(१) सौवीरी, (२) हरिणाश्वा, (३) कलोपनता, (४) शुद्धमध्या, (५) मार्गवी, (६) पौरवी तथा हृष्यका॥ ३१-३२॥

आसां मध्यमगान्धारर्षभषड्जनिषादधैवतपञ्चमाः आनुपूर्व्यादाद्याः[2] स्वराः।

तथा मध्यम-ग्राम में-आरम्भिक स्वर हैं :— मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत और पंचम।

तत्र षड्जग्रामे[3]—षड्जेनोत्तरमन्द्रा रजनी, धैवतेनोत्तरायता, पञ्चमेन शुद्धषड्जा, मध्यमेन मत्सरीकृता, गान्धारेणाश्वक्रान्ता, ऋषभेणाभिरुद्गता इति।

इस प्रकार षड्जग्राम में—षड्ज से उत्तरमन्द्रा, निषाद से रजनी, धैवत में उत्तरायता, पंचम से शुद्धषड्जा, मध्यम से मत्सरीकृता, गान्धार से अश्वक्रान्ता, ऋषभ से अभिरुद्गता मूर्च्छनाएँ समझना चाहिए।

अथ मध्यमग्रामे—मध्यमेन सौवीरी, गान्धारेण हरिणाश्वा, ऋषभेन कलोपनता, षड्जेन शुद्धमध्यमा, निषादेन मार्गी, धैवतेन पौरवी,

---

तुम्बरू ने श्रुतियों की मृदुता को मूर्च्छना बतलाया अर्थात् श्रुतिकी उतरी हुई अवस्था का नाम मूर्च्छना है। यथा—

श्रुतेर्मार्दवमेव स्यान्मूर्च्छनेत्याह तुम्बुरुः। (हरिपाल० भ० को०, पृ० ५०० तिरूपति-संस्करण।)

विस्तार भय से मूर्च्छना का विशेष विवेचन यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

---

१. शुद्धमध्या तथा मार्गी पौरवी हृष्यका तथा—क०।

२. आनुपूर्व्या आद्याः—क०।

३. क—पुस्तके षड्जग्रामे इत्यारभ्य—भिरुद्गतेत्यन्तोंऽशो नास्ति।

पञ्चमेन हृष्यका इति । एवमेताः क्रमयुताः[1] पूर्णाः षाडवौडवितीकृताः साधारणकृताश्चेति[2] चतुर्विधाश्चतुर्दश मूर्च्छनाः ।

इसी प्रकार मध्यमा ग्राम में मध्य से आरम्भ होने वाली सौवीरी, गान्धार से हरिणाश्वा, ऋषभ से कलोपनता, षड्ज से शुद्धमध्यमा, निषाद से मार्गी, धैवत से पौरवी, पंचम से हृष्यका। इस प्रकार क्रम[1] युक्त ये मूर्च्छनाएँ होती हैं जिनकी संख्या चौदह हैं—पूर्ण, षाडवित, औडवित और साधारण-कृत भेद से ये चार प्रकार की हो जाती हैं।

अपि च—

क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः[3] ।
षट्पञ्चकस्वरास्तासां[4] षाडवौडवितीकृताः ॥ ३३ ॥
साधारणकृताश्चेति[5] काकलीसमलङ्कृताः ।
अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छनाग्रामयोर्द्वयोः ॥ ३४ ॥

जैसा कि कहा भी है—

क्रमयुक्त सातस्वर मूर्छना कहलाते हैं। इन मूर्च्छनाओं से षाडव और ओडविक की उत्पत्ति होती है। साधारणकृत षट् स्वर काकली

१. यहाँ जो 'प्रक्रमयुक्ताः' इत्यादि विवरण है उसमें 'साधारणकृता' चतुर्थ भेद है। इसकी आगे साधारणताश्चैव' (अ० २८।३५) इत्यादि कारिका से स्पष्ट व्याख्या मुनि ने की। जिसका आशय यही है कि अन्तर युक्त तथा काकलीयुक्त नामक दो भेद साधारणकृत के हैं। साधारणकृत के इन दो भेदों को बतलाने का विशेष कारण यह है कि साधारणकृत मूर्च्छना दोनों ग्रामों को व्याप्त करते हुए निर्दशित की गयी है। इनमें षड्जग्रामिक साधारणकृत मूर्च्छना काकलीयुक्त होगी जब कि मध्यमग्रामिक साधारणकृत मूर्च्छना अन्तरयुक्त। इसका कारण यह भी है कि काकलीनिषाद स्वर षड्जग्राम में तथा अन्तरगान्धार मध्यम ग्राम का प्रयोज्य स्वर होता है। भरतमुनि ने 'साधारणकृताश्चैव' इत्यादि कारिका से साधारणयुक्त मूर्च्छनाओं का ग्राम विशिष्ट से इसी कारण यह भेद दिखलाया है।

१. स्वरक्रमयुक्ताः सम्पूर्णाः—क० ।
२. स्वरसाधारणकृताश्चेति मूर्च्छनाश्चतुर्दश भवन्ति—क० ।
३. मूर्च्छनेत्यभि—क० ।
४. षट्पञ्चस्वरकास्तानाः षाडवौडुविताश्रयः—क० ।　५. श्चैव—क० ।

निषादयुक्त और अन्तरस्वर संयुक्त मूर्च्छनाएँ दोनों ग्रामों में होती हैं ॥ ३३-३४ ॥

[1]द्विविधैव मूर्च्छनासिद्धिः। तत्र[2] द्विश्रुतिप्रकर्षाद् धैवतीकृते गान्धारे मूर्च्छनाग्रामयोरन्यत्वं षड्जग्रामे। तद्वशान्मध्यमादयो यथासंख्येन निषादादिमत्वं[3] प्रतिपाद्यन्ते। मध्यमग्रामेऽपि[4] धैवतमार्दवान्निषादोत्कर्षाद् द्वैविध्यं भवति। तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च संज्ञान्यत्वम्। चतुःश्रुत्यन्तरं[6] पञ्चमधैवतयोस्तद्वत्[7] गान्धारोत्कर्षात् चतुःश्रुतिकमन्तरं भवति। शेषाश्चापि मध्यमपञ्चमधैवनिषादर्षभषड्जा मध्यमादित्वं[8] प्राप्नुवन्ति तुल्यश्रुत्यन्तरत्वात्।

(गद्यभाग) मूर्च्छना की सिद्धि दो प्रकार से होती है। एक षड्ज-ग्राम में यदि गान्धार की दो श्रुतियाँ चढ़ा कर उसे धैवत मान लिया जाए तो उसमें मध्यग्राम की सभी शुद्ध मूर्च्छनाएँ मिलेंगी। मध्यग्राम में धैवत को दो श्रुति उतार कर उसे गांधार बनाने पर मध्यमग्रामीय प्रथम मूर्च्छना ही षड्जग्रामीय प्रथम मूर्च्छना बन जाएगी। इसमें मध्यग्रामीय निषाद के धैवत द्वारा परित्यक्त दो श्रुतियों के ग्रहण कर लेने से उत्कर्षयुक्त होने पर षड्जग्रामीय मध्यम बन जाता है। बदली हुई संज्ञा-वाले स्वर में भी पूर्वसंज्ञावाले स्वर के समान संख्या की श्रुतियाँ होंगी। मध्यमग्राम के पंचम और धैवत में चार श्रुतियों का अन्तर होता है और जब षड्जग्रामीय ऋषभ की संज्ञा मध्यमग्रामीय पंचम हो जाती है तो मध्य-ग्रामीय चतुःश्रुतिक धैवत प्राप्त हो जाता है और शेष षड्जग्रामीय-मध्यम, पंचम, धैवत-निषाद और षड्ज स्वर भी तुल्यश्रुति के अन्तर होने के कारण मध्यमग्रामीय निषाद, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम और पञ्चम स्वर बन जाते हैं।

---

१. द्विविधैक—ख०, ग०, घ०।

२. तत्र षड्जग्रामे द्विश्रुत्युत्कर्षात्—क०।

३. निषादित्वं प्रतीपद्यन्ते—क०।

४. तद्वन्मध्यम—क०।

५. धैवतमार्दवाद् द्वैविध्यं—क०।

६. मध्यमग्रामे हि चतुःश्रुतिकमन्तरं—क०।

७. तद्गान्धारोत्कर्षात् चतुःश्रुतिकमेव भवति—क०।

८. निषादषड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमत्वं—क०।

अन्तरनिदर्शनमपि[1] श्रुतिनिदर्शने प्रोक्तम्। तत्र मूर्छनासंश्रितास्तानाश्चतुरशीतिः[2]। तत्र एकोनपञ्चाशत्[3] षट्स्वराः, पञ्चत्रिंशत् पञ्चस्वराः। लक्षणन्तु षट्स्वराणां[4] सप्तविधम्। यथा—षड्जर्षभनिषादपञ्चमहीनाश्चत्वारस्तानाः[5] षड्जग्रामे।

मध्यमग्रामे तु-षड्जर्षभगान्धारहीनास्त्रयस्तानाः। एवमेते[6] सर्वासु षाडवासु मूर्च्छनासु क्रियमाणा भवन्त्येकोनपञ्चाशत्[7] तानाः।

श्रुतिदर्शन में इनके भेद का निदर्शन किया जा चुका हैं। इस प्रकार मूर्च्छनाओं[1] पर आश्रित तानें चौरासी होती है। उनमें उनचास षाडव (षट्स्वराः) और पैंतीस औडव (पंचस्वराः) हैं। (शुद्ध मूर्च्छनाओं की संख्या सात होने के कारण) षड्जग्राम में षाडवमूर्च्छनाओं का लक्षण सात प्रकार का है। जैसे—षड्ज-ग्राम में षड्ज, ऋषभ, पंचम और निषाद से रहित चार तानें रहती हैं।

मध्यम-ग्राम में षड्ज, ऋषभ और गान्धार से हीन तीन तानें हैं। इस प्रकार सब मूर्च्छनाओं में की जाने वाली ये कुल षाडव तानें उनचास होती हैं।

पञ्चस्वराणान्तु पञ्चविधमेव लक्षणम्। यथा—षड्जपञ्चमहीना[8] ऋषभपञ्चमहीना गान्धारनिषादहीना इति त्रयस्तानाः षड्जग्रामे। मध्यमग्रामे तु ऋषभधैवतहीना गान्धारनिषादहीना[9] इति द्वौ तानौ। एवं[10] पञ्चस्वराः सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणास्तानाः पञ्चत्रिंशद् भवन्ति। षड्जग्रामे एकविंशतिर्मध्यमग्रामे चतुर्दश। एवमेते एकत्र गम्यमानाश्चतुरशीति र्भवन्ति।

---

१. भरत के विवरण से स्पष्ट है कि षाडव-औडव मूर्च्छनाओं का ही दूसरा नाम 'तान' हैं। अतः मूर्च्छना और तान को आचार्य विशाखिल एक ही मानते

---

१. अन्तरदर्शन—ग०। २. मूर्च्छनाश्रिताः—क०; मूर्च्छना—ग०।
३. एकान्न—क०। ४. षाडवानां—ग०।
५. चत्वारः षड्जग्रामे—क०।
६. एवमेते षट्स्वराः—क०; षट्स्वराः एवमपि षाडवासु—क (उ)।
७. भवन्त्येकान्नपञ्चाशत्—क०।
८. षड्जग्रामे षड्जपञ्चमहीनः, आर्षभपञ्चमहीनः, निषादवद्गान्धारहीन इति त्रयः—क०। ९. गान्धारनिषादहीनः—क०।
१०. एवमेते—क०।

पंचस्वर (पाँच स्वर वाली तानों) का लक्षण भी पाँच प्रकार का ही है। जैसे 'षड्जग्राम' में 'षड्जपंचम हीन' ऋषभ पंचम हीन' और 'निषाद पंचम हीन' ये तीन तानें (एक मूर्च्छना में) होती हैं। मध्यम ग्राम (की एक मूर्च्छना) में 'गान्धार निषाद हीन' और ऋषभ धैवत हीन' दो तानें होती हैं। इस प्रकार सभी मूर्च्छनाओं में की जाने वाली ये औडव (पंच स्वर) तानें पैंतीस होती हैं। षड्जग्राम में इक्कीस और मध्यमग्राम में चौदह। इस प्रकार इनकी कुल सम्मिलित संख्या (अर्थात् तानों की संख्या ४९ और औडवतानों की संख्या ३५ को जोड़ देने से) चौरासी हो जाती हैं।[1]

द्विविधा च तानक्रिया तन्त्र्यां[1] प्रवेशो निग्रहश्च। तत्र प्रवेशो[2] नामाधरस्वरप्रकर्षाद् उत्तरस्वरमार्दवाद् वा। निग्रहस्त्वसंस्पर्शः मध्यमस्वरासंस्पर्शः मध्यमस्वरेण[3] तु वैणेन मूर्च्छना—निर्देशः भवत्यनाशित्वात्[4]। मध्यमस्वरस्य[5] [न] निग्रहः प्रवेशो वा। इत्थं प्रयोक्तृश्रोतृसुखार्थं तान-मूर्च्छना-नानात्वम्। मूर्छनाप्रयोजनमपि[6] स्थानप्राप्तिः स्थानन्तु त्रिविधं पूर्वोक्तलक्षणं काकुविधाने[7]।

हैं। उनका कथन है—ननु मूर्च्छनातानयोः को भेद ? उच्यते। मूर्च्छनातानयोर्नार्थान्तरत्वम् इति विशाखिलः। परन्तु मतङ्ग ने इस मत को उद्धृत कर आगे लिखा—एतच्चासङ्गतम्। सङ्ग्रहश्लोके तु मूर्च्छनातानयोर्भेदस्य प्रतिपादितत्वात्। तत् कथम् ? मूर्च्छनाऽऽरोहक्रमेण तानोऽवरोहक्रमेण भवतीति भेदः। अर्थात् मूर्च्छना आरोह क्रम से और तान अवरोह क्रम से क्रमशः होती है अतः वे एक कैसे होगी ? यह मत मतङ्ग का है।

१. सभी मूर्च्छनाओं में की जाने वाली षाडव तानें उनचास तथा औडवतानें ३५ होती हैं। इनका विवरण इस प्रकार हैं—उत्तर मन्द्रा, रजनी उत्तरायता शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता अभिरुद्गता (जाति) में चार चार तान तथा सौवारी, हरिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी,

---

१. तन्त्र्यां प्रवेशान्निग्रहाच्च—क०।

२. प्रवेशनं मधुरस्वरंविप्रकर्षादुत्तरमार्दवाद्—क०।

३. स्वरेणैव तु—क०। ४. कार्यो भवत्य—क०।

५. मध्यमस्य निग्रहे पर्यग्रहे वा। इदं च प्रयोक्तृ-श्रोतृसुखार्थश्च मूर्च्छनानानात्वम्—क०।

६. मूर्छनातानप्रयोजनमपि स्थानप्राप्त्यर्थम्—क०।

७. काकुविधाविति—क०।

वीणा पर तान क्रिया दो प्रकार से की जाती है। एक प्रवेश तथा दूसरे निग्रह द्वारा। प्रवेश कहते हैं नीचे के स्वर को उत्कर्षयुक्त करते हुए या उत्कर्षयुक्त या चढ़े हुए स्वर को कोमल बनाते या उतारते हुए। निग्रह कहते हैं—मध्यम स्वर का न छुआ जाना। क्योंकि (वीणा में) मध्यम स्वर को मूर्च्छनाओं का आरम्भक स्वर कहा जाता है और यह स्थायी-स्वर (अविनाशी) कहलाता है। मध्यमस्वर का प्रवेश या निग्रह दोनों (नहीं) होता है। मध्यम स्वर को मूर्च्छनाओं का आश्रय लेने से मन्द्र और तार अवधियों की प्राप्ति हो जाती हैं तथा वादक और श्रोता को सुख सुविधा की प्राप्ति हो जाती है। मूर्च्छनाओं के आश्रय का यही प्रयोजन है कि उससे स्थान की प्राप्ति हो जाए। ये स्थान हमने काकुविधानाध्याय में (अ० १९।३७) पहिले बतला दिये हैं।

साधारण (स्वर)—

साधारणविधिमिदानीं[1] वक्ष्यामः। तत्र साधारणं नामान्तर-स्वरता। कस्मात्[2] ? द्वयोरन्तरस्थं[3] (यत्) तत् साधारणम्।

अब हम (स्वरगत) साधारण विधि को बतलाते हैं। साधारण विधि उसे कहते हैं जहाँ पूर्व स्थिति का अन्त न हो और अगली स्थिति जिसने प्राप्त न की हो ऐसा मध्यवर्ती स्वर। क्योंकि दोनों स्थितियों के बीच में रहने के कारण इसे साधारण[1] स्वर कहा जाता है।

पौरवी तथा हृष्यका (जाति) में तीन तीन तानें मिलकर (अर्थात् ७ × ४ = २८ + ३ × ७ = २१ = कुलयोग ४९) उनचास हो जाती हैं।)

औडव तानों में उत्तरमन्द्रा से अभिरुद्गता तक तीन और सौवीरी से हृष्यका तक (अर्थात् ७ × ३ = २१ + ७ × २ = १४ कुल योग ३५)। अब इन दोनों का योग कर देने पर (४९ + ३५ = ८४) चौरासी तानें हो जाती हैं।

१. भरत मुनि ने यहाँ मध्यवर्ती या विकृतस्वर जिनकी संज्ञा साधारण है निर्दिशित की है। इनके नाम हैं अन्तरगान्धार तथा काकली निषाद। शुद्ध गान्धार निषाद द्विश्रुतिक (मध्यभावी कोमल) होते हैं तथा अन्तर काकली चतुःश्रुतिक। शुद्धगान्धार मध्यम की दो श्रुतियाँ प्राप्त करने

---

१. साधारणमिदानीं व्याख्यास्यामः—क०।

२. तस्मात्—क (र)।

३. रन्तरे भवति यत् तत्—क०; द्वयोरन्तरयोर्वा भवति—क (प०)।

यथा ऋत्वन्तरे—

छायासु भवति शीतं प्रस्वेदो वा भवति चातपस्थस्य ।
न च नागतो वसन्तो न च[1] निश्शेषः शिशिरकालः ॥ ३५ ॥
इति कालसाधारणम्[2] ।

इसे (एक) ऋतु के उदाहरण द्वारा (इस प्रकार) समझना चाहिए– छाया में चलने से शीत का अनुभव होता है और धूप में चलने से पसीना आने लगता है तो न यही अच्छा लगता है कि शिशिर का अन्त हो गया (क्योंकि छाया में शीत लग रही है) और न यही कहा जा सकता है कि वसन्त नहीं आया है (क्योंकि धूप में पसीना आता है) ॥ ३५ ॥

अतएव शिशिर और वसन्त की विशेषताओं से युक्त मध्यवर्ती इस काल में 'काल-साधारणता' आगयी है ।

साधारण के विभेद—

तत्र द्वे साधारणे स्वरसाधारणञ्जातिसाधारणञ्चेति[3] । स्वरसाधारणं काकल्यन्तरस्वरौ । तत्र [4]द्विश्रुतिप्रकर्षान्निषादवान् काकलीसंज्ञो निषादः, न षड्जः । द्वाभ्यामन्तरस्वरत्वात् साधारणत्वं प्रतिपद्यते । एवं गान्धारो ऽप्यन्तरस्वरसंज्ञो गान्धारो न मध्यमः, तयोरन्तरस्वरत्वात् । अतएव स्वरसाधारणम् । कस्मान्निषादः काकलीसंज्ञः । कलत्वात्काकली[5]कृष्टत्वाद् वा अतिसौक्ष्म्यादथवा काकाक्षिवत्वादुभयसम्बन्धात् काकलीसंज्ञा । यथा षण्णां रसानां[6] मध्ये लवणः क्षारसंज्ञः

पर अन्तर गान्धार हो जाता है और शुद्ध निषाद षड्ज की दो श्रुतियाँ लेकर काकली निषाद में परिणत हो जाता है । ऐसी दशा में षड्ज तथा मध्यम द्विश्रुतिक हो जाते हैं । अन्तरगान्धार का प्रयोग मध्यमग्राम में तथा काकली निषाद का प्रयोग षड्जग्राम में किया जाता है ।

---

१. चाशेषः—क (र); चावेश—क (न०) ।

२. साधारणता—क० ।

३. जातिसाधारणं स्वरसाधारणञ्चेति—क० ।

४. द्विश्रुतित्युत्कृष्टो निषादः काकलीसंज्ञो भवति । तद्वद् गान्धारोऽन्तरस्वरसंज्ञो भवति —क० ।

५. कलत्वाच्च काकलीसंज्ञो भवति, विकृतत्वाच्चानंशः आप्तोपदेशाच्च सप्तभ्यो नान्यो निषादवानेव । यथा हि षण्णां—क० ।

६. रसानामन्यतमः—क० ।

एवं[1] निषादः काकलीसंज्ञः, साधारणस्वर[2]श्चान्तरसंज्ञो भवति। जाति-साधारणमेकग्रामांशानां जातीनां जात्योर्वा अन्यस्मिन् ग्रामे प्रत्यङ्ग-(क्ष) दर्शनं स्वराणामवगमात्।

(यह) साधारण दो प्रकार से होता है। एक स्वर साधारण और दूसरा जाति साधारण। स्वर साधारण काकली और अन्तर स्वर हैं। इनमें निषाद जब-जब अपने स्थान से दो श्रुति चढ़ जाता है (षड्ज की दो श्रुतियों को ग्रहण कर लेता है) तो 'काकली-निषाद' कहलाता है, षड्ज नहीं। क्योंकि दोनों के मध्यवर्ती स्वर होने से (उसने न तो अपने मूल स्थान पर अपनी स्थिति को, रखी और न ही अग्रिम स्वर की स्थिति प्राप्त की वह बीच में ही रह गया और इसी कारण) स्वर साधारण कहलाया या उसने साधारणत्व प्राप्त किया। प्रश्न-निषाद की काकली संज्ञा क्यों है ? उत्तर— कल (मधुर) होने से 'काकली' या फिर खींचने (ग्रहण करने) के कारण या अतिशय सूक्ष्म होने के कारण या दोनों और सम्बन्ध होने के कारण इसकी काकली संज्ञा होती है। वैसे ही निषाद की काकली और साधारणस्वर की 'अन्तर' संज्ञा होती है। एक ग्राम में उत्पन्न जतियों में होने वाला समान गान जातिसाधारण है और इसकी यह साधारणसंज्ञा प्रत्यक्ष प्रयोग के कारण स्पष्ट है।

स्वरसाधारणं द्विविधं द्वैग्रामिकयम्। कस्मात् ? षड्जग्रामे षड्ज-साधारणं मध्यमग्रामे मध्यमसाधारणम्। साधारणमत्र स्वरविशेष इति षड्जसाधारणम्[3] एवं मध्यमग्रामेऽपि साधारणत्वम्। अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात् कैशिकं[4] नाम निष्पद्यते। एवं स्वरसाधारणम्। अस्याल्पनिषादगान्धारासु जातिषु प्रयोगः।

दोनों ग्रामों में होने वाला स्वरसाधारण दो प्रकार का होता है। इस-लिए क्योंकि षड्जग्राम में षड्ज साधारण स्वर और मध्यमग्राम में मध्यम साधारण का प्रयोग होता है। इसी प्रकार मध्यम ग्राम में भी साधारणत्व समझना चाहिए। प्रयोग (गान वादन क्रिया) की इसी सूक्ष्मता (अर्थात् षड्ज साधारण और मध्यम साधारण दशाओं में स्वरों का अपने स्थान से

---

१. तथा—क०।

२. गान्धारश्चान्तरस्वरसंज्ञो भवति—क०।

३. षड्जसाधारणम्—ग०।

४. कैशिकमिति—ख०।

एक 'ग' अन्तर हट जाना) का परिणाम है और इसी प्रयोगगत सूक्ष्मता के कारण इसका 'कैशिक' (केशाग्र अन्तर) नाम दिया गया है। इस प्रकार स्वरसाधारण बतलाया गया है। इसका अल्पनिषाद तथा अन्तर गान्धार (स्वर वाली) जातियों में प्रयोग करना चाहिए।

अत्र श्लोकौ—

अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः ।
कार्यस्त्वल्पो[1] विशेषेण नावरोही कदाचन ॥ ३६ ॥
क्रियमाणोऽवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहु[2] ।
जातिरागं श्रुतिश्चैव नयन्ते[3] त्वन्तरस्वराः ॥ ३७ ॥

इस विषय में दो आनुवंशीय श्लोक हैं—

जातियों में [2]अन्तर स्वरों का प्रयोग (संयोग) आरोही में ही और अल्प करना चाहिए। अवरोही में अन्तर स्वरों (अन्तर गान्धार व काकली

---

१. काकल्यन्तर के अतिरिक्त गान्धार निषाद की अन्य दो विकृतियाँ साधारण या ग्रामसाधारण वर्णित की गयी है। परन्तु जो त्रिश्रुति-स्वर हों उन्हें 'कैशिक' कहा जाता हैं। कैशिक गान्धार मध्यमग्राम में प्रयोज्य माना जाता हैं और कैशिकनिषाद का षड्जग्राम मे प्रयोग होता है। मध्यमग्रामिक शुद्ध गान्धार मध्यम की एक श्रुति ग्रहण करता है तथा मध्यमग्रामिक पञ्चम मध्यम की एक एवं अन्तिम श्रुति ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में मध्यमग्राम में गान्धार मध्यम तथा पञ्चम क्रमशः तीन, दो तथा चार श्रुति से तथा षड्जग्राम में निषाद, षड्ज तथा ऋषभ क्रमशः तीन, दो और चार श्रुति से युक्त हो जाते हैं। अतः ये त्रिश्रुतिक स्वर 'कैशिक' कहलाते हैं।

२. अन्तरस्वरों की प्रयोगविधि संगीतरत्नाकर स्वराध्याय (पृ० स०) में निम्न है :—

प्रयोज्यौ षड्जमुच्चार्य काकलीधैवतौ क्रमात् ।
षड्जकाकलिनौ यत्रोच्चार्य षड्जं पुनर्व्रजेत् ।
तत्परान्यतमं चैव मध्यमं चान्तरस्वरम् ।
प्रयुज्य मध्यमो ग्राह्यः तत्परान्यतमोऽथवा ॥
(साधारण-प्रकरण, ४, ५, ६)

---

१. कार्यो ह्यल्पो—क०, कार्यः स्वल्पो—क०।

२. बहुः—क०। ३. श्रुतिञ्चैव निहन्यादन्तरस्वरः—क०।

निषाद का प्रयोग) का जातियों में प्रयोग कभी भी न किया जाए। यदि अवरोही में प्रयोग किया ही जाय तो वह अल्पत्व या बहुत्व के साथ हो (क्योंकि) ये अन्तर-स्वर-श्रुति, जाति और राग की ओर पहुँचाने वाले कहे जाते हैं ॥ ३६–३७ ॥

जाति—

जातीरिदानीं[1] वक्ष्यामः ।
स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातयः ।
मध्यमा पञ्चमी चैव षड्जमध्या तथैव च ॥ ३८ ॥
आसामङ्गानि [2]विज्ञेया षड्जमध्यमपञ्चमाः ।
यथास्वं [3]दुर्बलतरा व्यक्ता सा पञ्चमी यथा[4] ॥ ३९ ॥
षाड्ज्यार्षभी[5] धैवती च नैषादी च तथा परा ।
षड्जोदीच्यवती [6]षड्जकैशिकी षड्जमध्यमा ॥ ४० ॥
[7]षड्जग्रामाश्रिता ह्येताः विज्ञेयाः सप्त जातयः ॥

अब हम जातियों को बतलाएँगे—

स्वरसाधारण में (अर्थात् अन्तर गान्धार और काकली निषाद में) रहने वाली [1]जातियाँ तीन हैं—(१) मध्यमा, (२) पंचमी और (३) षड्ज-मध्यमा (जिन्हें मध्यमांश मध्यमा) पंचमांश-पंचमी और षड्जमध्यमा सरलता से समझने के लिए कहा जा सकता है ।) इनके अंग हैं–षड्ज, पंचम और मध्यम जो अपनी-अपनी अवस्था या स्थिति में दुर्बल रहते हैं ।

षड्ज–ग्राम में षाड्जी, आर्षभी, धैवती, नैषादी, षड्जोदीच्यवती, षड्ज-कैशिकी तथा षड्जमध्यमा ये सात जातियाँ होती हैं ॥ ३८–४० ॥

---

१. श्लोक ४० तथा ४१ के बीच कुछ पुस्तकों में जातियों के भेद दिये गये हैं । यहाँ वे पद्य ४२–४५ में संबद्ध होने तथा सभी पुस्तकों के पाठों को देखते

---

१. जातिरिदानीं—क० ।

२. आसामंशास्तु—क०; आसामङ्गास्तु—ख० ।

३. यथा स्वदुर्बलतरव्यत्यासात् पञ्चमे तथा ।—क० ।

४. अतः परं—जातयोऽष्टाशत्येवं ब्रह्मणाभिहितं पुरा । तास्त्वहं वर्तयिष्यामि ग्रहांशादि विभागतः । इति–कपुस्तकेऽधिकं श्लेकम् ख-पुस्तकेऽपीति ।

५. षाड्जी चैवार्षभी चैव धैवत्यथ निषादिनी—क०; षाड्जी···धैवती सनिषादिनी—ख० ।

६. षड्जौदीच्यवती चैव तथा वै षड्जकैशिकी—क०, ख० ।

७. षड्जमध्या तथा चैव षड्जेग्रामसमाश्रयाः—क०, ख० ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मध्यमग्रामसंश्रयाः[1] ॥ ४१ ॥
गान्धारी[2] रक्तगान्धारी गान्धारोदीच्यवा तथा।
मध्यमोदीच्यवा[3] चैव मध्यमा पञ्चमी तथा ॥ ४२ ॥
गान्धारपञ्चमी[4] चान्ध्री नन्दयन्ती तथा परा।
कर्मारवी[5] कैशिकी च ज्ञेया त्वेकादशा परा ॥ ४३ ॥
जातयोऽष्टादशेत्येव याः पूर्वं गदिता मया।
तास्त्वहं सम्प्रवक्ष्यामि[6] न्यासापन्यासस्ंयुताः ॥ ४४ ॥

इसके पश्चात् अब मैं मध्यमग्राम में रहने वाली जातियाँ बतलाता हूँ। मध्यमग्राम में रहने वाली जातियों में —

गान्धारी, रक्तगान्धारी, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमोदीच्यवा, मध्यमा, पञ्चमी, गान्धारपञ्चमी, आन्ध्री, नन्दयन्ती, कार्मारवी तथा ग्यारहवीं कैशिकी

हुए दिये जा रहे हैं। जाति का लक्षण आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार दिया है :—तत्र केयं जातिर्नाम ? उच्यते-स्वरा एव विशिष्ट-सन्निवेश-भाजो रक्तिमद्दृष्टचाभ्युदयं च जनयन्त्यो जातिरित्युक्ताः। कोऽसौ सन्निवेशः इति चेत् ? जातिलक्षणेन दशकेन भवति सन्निवेशः (अभि० भा० अ० २८) रंजना और अदृष्ट अभ्युदय को उत्पन्न करने वाला विशिष्ट स्वर ही विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त होने पर 'जाति' कहलाता हैं। यह विशेष सन्निवेश दस लक्षणों से युक्त होने पर होता है। आचार्य मतंग ने भी जातियों का स्वरूप इस प्रकार बताया है—क्योंकि ये श्रुति, ग्रह, स्वर इत्यादि के समूह से जन्म लेती है, इसलिये जाति कहलाती हैं। जाति में रस की प्रतीति (आरंभ) उत्पन्न होती हैं तथा राग की जन्मदात्री होने के कारण विविष्ट स्वरसन्निवेश जाति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार जैसे विशिष्ट-कुल से ब्राह्मण आदि उत्पन्न हो जाते हैं। (यथा—श्रुतिग्रहस्वरादिसमूहाज्जायन्ते इति जातयः अतो जातयः इत्युच्यन्ते। यस्माज्जायत रसप्रतीतिरारभ्यते इति जातयः। अथवा सकलस्य रागादेः जन्महेतुत्वाज्जातयः, यथा नराणां ब्राह्मणत्वादयो जातयः—मतंग म० को० पृ० २२७)

---

१. संश्रिताः—क०।

२. गान्धारी मध्यमा चैव गान्धारोदीच्यवा तथा—क०, ख०।

३. पंञ्चमी रक्तगान्धारी तथा गान्धारपञ्चमी—क०, ख०।

४. मध्यमोदीच्यवा चैव नन्दयन्ती तथैव च—क०, ख०।

५. कार्मारवी च विज्ञेया तथान्ध्री कैशिकी मता—क०, ख०।

६. वर्तयिष्यामि—ख०।

जाति होती है। इस प्रकार जो अष्टादश जातियों की संख्या मैंने पहले कही थी, अब यहाँ उन्हीं का प्रकरण प्राप्त होने से उनका न्यास, उपन्यास, ग्रह आदि के साथ विस्तार से वर्णन करता हूँ ॥ ४१–४४ ॥

जातियों के भेद—

एतासामष्टादशानां सप्तस्वराख्याः[1]। जातयो[2] द्विविधा शुद्धा विकृताश्च। तत्र शुद्धा षड्जग्रामे षाड्जी आर्षभी धैवती निषादवती[3] च। गान्धारी मध्यमा पञ्चमी[4] चेति मध्यमग्रामे। शुद्धा[5] अन्यूनस्वराः स्वरांशग्रहन्यासाः[6]। एषाम[7]न्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा लक्षणैर्विक्रियामुपगता न्यासवर्जं विकृतसंज्ञा भवन्ति। तेन[8] ता एव शुद्धास्ता एव विकृताः।

इन अठारह जातियों के नाम सात स्वरों पर होते हैं। ये दो प्रकार की हैं एक शुद्धा और दूसरी विकृता। षड्जग्राम में षाड्जी, आर्षभी, धैवती, नैषादी या निषादवती शुद्धा हैं और मध्यमग्राम में गान्धारी, मध्यमा और पंचमी शुद्धा जातियाँ हैं। शुद्धा जातियाँ वे हैं जिनमें कोई स्वर कम नहीं होता और नाम स्वर ही जिनमें अंश, ग्रह और न्यास स्वर होता है। न्यास स्वर को छोड़कर एक, दो या अनेक लक्षणों में विकृति हो जाने पर यही विकृत जातियाँ हो जाती हैं। अतएव जो शुद्ध हैं वे ही (विकृति हो जाने पर) विकृत (कहलाती) हैं।

न्यासविधावप्यासां मन्द्रो नियमाद्[9] भवति शुद्धासु, विकृतास्वनियमात्। तत्रैकादश संसर्गजा विकृताः[10]। परस्परं संयोगादेकादश निर्वर्तयन्ति। यथा—

शुद्ध जातियों में मन्द्रस्वर नियमपूर्वक न्यासस्वर होता है, परन्तु विकृत जातियों में यह नियम शिथिल हो जाता है। अठारह जातियों में

१. सप्त स्वरनामधेयाः—ग०।　　२. स्वरजातयो—क०।
३. निषादिनी च—क०।　　४. पञ्चमीति—क०।
५. एताश्चान्यून—क०।
६. स्वस्वरांशग्रहन्यासापन्यासाश्च—क०।
७. विकृता लक्ष्यन्ते तेभ्योऽन्यतमेन द्वाभ्यां—क०।
८. तेन 'ताः एव' इत्यादिपङ्क्तिर्नास्ति—क०-ग०-पुस्तकयोः।
९. मन्द्रो नियमः विकृतास्वनियमः—क०।
१०. विकृताः अपरस्परसंसर्गादिकादश—क०।

ग्यारह जातियाँ दो या अधिक (कई) जातियों के संसर्ग के कारण विकृत हो जाती हैं क्योंकि परस्पर संयोग से इन एकादश जातियों का निर्माण किया गया है। जैसा कि बतलाया गया है कि :—

शुद्धा विकृताश्चैव हि समवायाज्जातयस्तु जायन्ते।
ता[1] एव (सत) शुद्धा विकृता भवन्ति चैकादशान्यास्तु ॥४५॥

जातियाँ संसर्ग के कारण शुद्धा और विकृता हो जाती हैं और ये (ही) अन्य दोनों जातियों के संसर्ग (और मिश्रण) से एकादश (विकृत) भेद तथा शेष सात शुद्ध भेद कर देते हैं ॥ ४५ ॥

तासां या[2] निर्वृता स्वरेष्वथांशेषु जातिषु च जातिः।
तां[3] वक्ष्यामि यथावद् सङ्क्षेपेण क्रमेणेह[4] ॥ ४६ ॥

इनमें जो स्वर, अंश या जातियों के संसर्ग से विकृत जातियाँ हो जाती हैं। अब मैं उनका क्रमशः निरूपण करता हूँ ॥ ४६ ॥

विकृत-जातियाँ —

स्यात् षड्जमध्यमाभ्यां निर्वृत्ता षड्जमध्यमा जातिः।
षाड्जीगान्धारीभ्यां सम्भूता[5] षड्जकैशिकी वापि ॥ ४७ ॥
षाड्जीगान्धारीभ्यां [6]धैवत्याश्चापि या विनिष्पन्ना।
संसर्गाद् विज्ञेया सा षड्जोदीच्यवा जतिः ॥ ४८ ॥
षाड्जीगान्धारीभ्यां[6] धैवत्याश्चापि मध्यमायाश्च।

---

१. पुनरेवाशुद्धकृता भवन्त्यथैकादशान्यास्तु—क०; ता एव शुद्धविकृता—ख०, ग०।

२. यन्निर्वृत्ता—क०। ३. तद्वक्ष्यामि—क०।

४. अस्मादनन्तरं क—पुस्तकेऽयं गद्यभागः—षाड्जीमध्यमाभ्यां निवृत्ता ज्ञेया षड्जमध्यमा षाड्जीगान्धारीभ्यां षड्जाकैशिकी, गान्धारीषड्जधैवतीभिः षड्जोदीच्यवा षड्जागान्धारी मध्यमाधैवतीभिर्गाधारोदीच्यवा, धैवतीपञ्चमी मध्यमागान्धारीभिर्मध्यमोदीच्यवा, गान्धारीमध्यमापञ्चमीनिषादवतीभिः रक्तगान्धारी, गान्धार्यार्षभीभ्यामान्ध्री, पञ्चम्यार्षभीगान्धारीभिर्नन्दयन्ती, निषादवत्यार्षभी पञ्चमीभिः कार्मारवी, पञ्चमीगान्धारीभ्यां गान्धारपञ्चमी, धैवत्यार्षभीवर्जाभिः कैशिकी।—(क०)

५. संयोगात्—क०, ख०; धैवत्याश्चापि या विनिष्पन्ना—ग०।

६. धैवत्या चापि—क०।

७. षाड्जी गान्धारी पञ्चमी तथा धैवती च खलु जातिः—क० ख०।

गान्धारोदीच्यवा[1] स्यान्निर्वृत्तो नामतो जातिः ॥ ४९ ॥
गान्धारपञ्चमीभ्यां[2] धैवत्याश्चापि मध्यमाया वा ।
निर्वृत्ता या जातिः सा मध्यमोदीच्यवा नाम्ना ॥ ५० ॥
[3]गान्धारपञ्चमीभ्यां नैषादीमध्यमाभ्याञ्च ।
रक्तगान्धारी नाम्ना जातिः स्याच्चतसृभिस्त्वाभिः ॥ ५१ ॥
गान्धारी[4] षड्जाभ्यां संसर्गाज्जायते चान्ध्री ।
गान्धारीपञ्चमीभ्यामार्षभीभ्यांश्चैव[5] नन्दयन्ती तु ॥ ५२ ॥
गान्धारीपञ्चमीभ्यां[6] जाता गान्धारपञ्चमी जातिः ।
[7]नैषद्यार्षभीभ्यां पञ्चम्याश्चैव संसर्गात् ॥ ५३ ॥
कार्मारवी नाम्ना जातिः पूर्णा हि भवति सा ज्ञेयम् ।
धैवत्यार्षभहीनाः[8] पञ्चाद्याः कैशिकीं कुर्युः ॥ ५४ ॥

षाड्जी और मध्यमा के संयोग में षड्जमध्यमा, गान्धारी, षाड्जी और गान्धारी के योग से षड्जकैशिकी, षाड्जी, गान्धारी, धैवती मध्यमा के योग से गान्धारोदीच्यवा, गान्धारी, पंचमी, मध्यमा और धैवती के योग से मध्यमोदीच्यवा, गांधारी, पंचमी और सप्तमी (नैषादी) के योग से रक्तगांधारी, गान्धारी षाड्जी से 'आन्ध्री' गान्धारी, पञ्चमी और आर्षभी नैषादी के योग से नन्दंयन्ती, गान्धारी और पंचमी के मिश्रण से 'गान्धारपंचमी, नैषादी, आर्षभी और पञ्चमी के योग से कार्मारवी' तथा षाड्जी, मध्यमा, पंचमी और ऋषभ धैवती हीन के संसर्ग से 'कैशिकी' जाति निर्मित हो जाती है ॥ ४७-५४ ॥

एवं[9] परस्परोत्पन्ना ज्ञेया[10] ह्येतास्तु जातयः ।
पृथग्लक्षणसंयुक्ता द्वैग्रामिक्यः[11] स्वराश्रयाः ॥ ५५ ॥

---

१. रोदीच्यवतीं जातिं निर्वर्तयन्त्येताः—क०, ख० ।
२. गान्धारपञ्चमाभ्यां मध्यमया विरचिता च धैवत्या । जातिस्तु मध्यमोदीच्यवेति सद्भिः सदा ज्ञेया ॥—क०, ख० ।
३. गान्धारीपञ्चमयोः सप्तम्याश्चैव रक्तगान्धारी—क०, ख० ।
४. गान्धार्यार्षभिकाभ्यामान्ध्री सञ्जायते जातिः—क०, ख० ।
५. योनिस्तु नन्दयन्त्यास्त्वार्षभिका पञ्चमी सगान्धारी—क०, ख० ।
६. गान्धारीपञ्चमयोर्योगाद् गान्धारपञ्चमी जातिः—ख० ।
७. कार्मारवी निषादी सार्षभिका पञ्चमीं कुर्युः—क, ख० ।
८. धैवत्यभिकाभ्यां हीनां खलु कैशिकीं कुर्युः—क०, ख० ।
९. परस्परविनिष्पन्ना—क० । १०. विज्ञेया जातयो बुधैः—ख० ।
११. द्वैग्रामिकाः—क० ।

इस प्रकार परस्पर संयोग से उत्पन्न होने वाली ये जातियाँ हैं, जिनके पृथक् पृथक् लक्षण होते हैं और जो दोनों ग्रामों के स्वरों के आश्रित होती हैं। ॥ ५५ ॥

ग्रामों में जातियों की स्वर संख्या—

आभ्यश्चतस्रो[1] नियमाज्ज्ञेयाः सप्तस्वरा बुधैः ।
दश[2] पञ्च स्वरा ज्ञेयाश्चतस्रश्चैव षट्स्वराः ॥ ५६ ॥

इनमें चार जातियाँ सातों स्वर वाली (सप्तस्वरा), दस पंच स्वरा और चार षट्स्वरा होती हैं ॥ ५६ ॥

मध्यमोदीच्यवा चैव तथा वै षड्जकैशिकी ।
कर्मारवी च सम्पूर्णा तथा गान्धारपञ्चमी[3] ॥ ५७ ॥

मध्यमोदीच्यवा, षड्जकैशिकी, कर्मारवी और गान्धार-पंचमी पूर्ण या सप्तस्वरा होती हैं ॥ ५७ ॥

गान्धारी रक्तगान्धारी मध्यमा पञ्चमो तथा ।
कैशिकी चेति विज्ञेयाः[4] पञ्चैता मध्यमाश्रयाः ॥ ५८ ॥

गान्धारी, रक्तगान्धारी, मध्यमा, पंचमी और कैशिकी नामक पाँच जातियाँ 'मध्यमग्राम' के आश्रित होती हैं ॥ ५८ ॥

षड्ज-ग्रामाश्रित जातियाँ—

निषादिन्यार्षभी चैव धैवती षड्जमध्यमा ।
षड्जोदीच्यवती चैव षड्जग्रामसमाश्रयाः[5] ॥ ५९ ॥

इसमें निषादिनी, आर्षभी, धैवती, षड्जमध्यमा और षड्जोदीच्यवती नामक पाँच जातियाँ षड्ज-ग्रामाश्रित होती हैं ॥ ५९ ॥

---

१. चतस्रो जातयो नित्यं ज्ञेयाः—क० ।

२. चतस्रः षट्स्वरा ज्ञेयाः स्मृताः पञ्चस्वराः दश ।—क० ।

३. अस्मादनन्तरं—षाड्जान्ध्री नन्दयन्ती च गान्धारोदीच्यवा तथा । चतस्रः षट्स्वरा ह्येताः ज्ञेया पञ्चस्वराः दश । निषादिन्यार्षभी चैव धैवती षड्जमध्यमा । षड्जोदीच्यवती चैव पञ्च षड्जाश्रिताः स्मृताः ॥ इतिश्लोकद्वयं क० ख० पुस्तकयोरधिकम् ।

४. पञ्चैताः मध्यमग्रामसंश्रयाः ।—क०, ख० ।

५. पञ्च षड्जाश्रिताः स्मृताः—क० ।

मध्यमग्रामाश्रित जातियाँ—

पञ्चस्वरा दशैताश्च जातयो नित्यमेव हि।
गान्धारोदीच्यवा चैव नन्दयन्ती च[1] आन्ध्री च ॥ ६० ॥
मध्यमग्रामसम्भूता षट्स्वरास्तिस्र एव च।
षड्जग्रामे[2] तु विज्ञेया षाड्ज्येका षट्स्वराश्रया ॥ ६१ ॥
यास्ता पञ्चस्वरा[3] प्रोक्ता याश्चैताः षट्स्वरा स्मृताः।
कदाचित् षाडवीभूताः कदाचिच्चोडवीकृताः[4] ॥ ६२ ॥

ये दश जातियाँ सदा पञ्च स्वरा होती हैं। यथा—गान्धारोदीच्यवा, नन्दयन्ती और आन्ध्री नामक तीन जातियाँ मध्यमग्राम से उद्‌भूत होने वाली और षट्स्वरा होती हैं और एक षाड्जी जाति ही षड्जग्राम से उत्पन्न होती है तथा षट्स्वरा भी होती है। इनमें जो पंचस्वरा हैं वे कभी षट्स्वरा (षाडवीकृत) और जो षट्स्वरा हैं वे कभी पंचस्वरा (औडवीकृत) हो जाती हैं॥

सम्पूर्णा मध्यमग्रामे ज्ञेया कार्मारवी बुधैः[5]।
मध्यमोदीच्यवा[6] चैव तथा गान्धारपञ्चमी ॥ ६३ ॥

मध्यम-ग्राम में कार्मारवी सम्पूर्ण जाति होती है तथा मध्यमोदीच्यना और गान्धार-पञ्चमी भी सम्पूर्ण जाति होती है॥ ६३॥

षड्जग्रामे तु सम्पूर्णा विज्ञेया षड्जकैशिकी।
पुनश्च षट्स्वरा ज्ञेया गान्धारोदीच्यवा बुधैः ॥ ६४ ॥
आन्ध्री च नन्दयन्ती च मध्यमग्रामसंश्रयाः।
एवमेता बुधैर्ज्ञेया द्वैग्रामिक्यश्च[7] जातयः ॥ ६५ ॥
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामी तासामंशविकल्पनम्।

षड्जग्राम में षड्जकैशिकी सम्पूर्ण जाति होती है तथा 'गान्धारोदीच्यवा' षट्स्वरा होती हैं। इसमें आन्ध्री और नन्दयन्ती जाति मध्यमग्रामाश्रित होती है। इसी प्रकार दोनों ग्रामों की जातियाँ होती हैं। अब मैं उनके अंशों का निरूपण करता हूँ॥ ६४-६५॥

---

१. तथैव च—ग०।

२. पद्यार्धमेतत् क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति।

३. सप्तस्वरा ज्ञेया याश्चैताः—क०। ४. च्चौडवे मताः—क०।

५. तथा—क०।

६. गान्धारपञ्चमी चैव मध्यमोदीच्यवा तथा—क०।

७. द्वैग्रामिक्योऽपि—क०।

जातियों के अंशस्वर—

षट्स्वर्यं[1] सप्तमांशा तु नेष्यते षड्जमध्यमा ॥ ६६ ॥
संवादिलोपाद्[2] गान्धारस्तत्रैव न भविष्यति ।
गान्धारी-रक्तगान्धारी-कैशिकीनान्तु पञ्चमः[3] ॥ ६७ ॥
षड्जायाश्चैव[4] गान्धारमनंशं[5] विद्धि षाडवे ।
षाडवे[6] धैवतो नास्ति षड्जोदीच्यवायां तथा ॥ ६८ ॥
संवादिलोपात्[7] सप्तैते[8] षाट्स्वर्ये तु विवर्जिताः ।
गान्धारी-रक्तगान्धार्योः[9] षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥ ६९ ॥
सनिषादाश्च[10] विज्ञेया येषु नौडविते इमे ।
द्वौ षड्जमध्यमांशौ[11] तु गान्धारोऽथ निषादवान् ॥ ७० ॥
ऋषभश्चैव पञ्चम्यां कैशिक्याश्चैव धैवतः ।
एवञ्च द्वादशैवेते[12] वर्ज्याः [13]पञ्चस्वरे सदा ॥ ७१ ॥
तास्वनौडविता नित्यं कर्तव्या जातयो[14] बुधैः ।

षाड्जी में निषाद का लोप इस जाति को 'षाडव' बनाता है, पर गान्धार के अंश स्वर होने पर उसके संवादी 'निषाद' का लोप नहीं होता (वह अंशहीन होता है) ।

षड्ज-मध्यमा जाति का षाडव प्रकार निषाद (सप्तम स्वर) के लोप से बनता है । यदि निषाद ही उसमें अंश स्वर हो तो उसकी षाडवावस्था नहीं होती । इस जात की औडवावस्था निषाद-गान्धार के लोप से होती

---

१. षट्स्वराः सप्तमे ह्यंशे—क०; षट्स्वरी सप्तमे त्वंशे-ख० ।

२. संवाद्यलोपाद्गान्धारे तद्वदेव हि नेष्यते—क० ।

३. पञ्चमम्—ग० ।

४. षाड्जा—ख० । ५. गान्धारमंशकं विद्धि षाडवम्—क० ।

६. षाडवं धैवते नास्ति षड्जोदीच्यामथांशके—क०, षड्जोदीच्यवत्याश्चैव धैवतांशे न षाडवम्—ख० ।

७. संवाद्यलोपात् सप्तैताः षाट्स्वर्येण—क० ।

८. सप्तैताः—ख० ।

९. गान्धार्यौ—ग०, घ० ।

१०. सप्धमश्चैव विज्ञेयो येषु नौडवितं भवेत्—क०, ख० ।

११. मध्यमांशेषु—ग०, घ० ।

१२. द्वादशैवेह—क०, द्वादशैते स्युर्वर्ज्या—ख० ।

१३. पञ्च स्वराः—क० । १४. हि स्वराश्रयाः—क० ।

है (निषादांशास्वर की अवस्था में षाडव बनाने के लिए निषाद के संवादी गान्धार का लोप नहीं होता। षड्जग्राम की यही विधि है।

(अतएव षड्जमध्यमा में निषाद स्वर) गान्धारी, रक्तगान्धारी और कैशिकी में पंचम स्वर, षाड्जी में गान्धार और षड्जोदीच्यवती में धैवत अंश स्वर होने पर (संवादी स्वर के लोप के कारण) षाडवद्वेषी हो जाते हैं।

गान्धारी में षड्ज-मध्यम-पंचम-निषाद, रक्त गान्धारी में षड्ज-मध्यम-पंचम निषाद, षड्ज-मध्यमा में गान्धार-निषाद, पंचमी में ऋषभ और कैशिकी में धैवत स्वर, इस प्रकार ये बारह स्वर औडवावस्था में (पंचस्वर में) लुप्त नहीं किये जाएँ। यहाँ इनमें ये जातियाँ अनौडवित ही सदा रखीं जाती हैं ॥ ६६–७१॥

सर्वस्वराणां विहितो[1] विनाशस्त्वथ जातिषु ॥ ७२ ॥
मध्यमस्य[2] विनाशस्तु कर्तव्यो न कदाचन।
सर्वस्वराणां[3] प्रवरो ह्यविनाशी[4] तु मध्यमः।
गान्धर्वकल्पेऽभिमतः[5] सामगैश्च[6] महर्षिभिः ॥ ७३ ॥

जातियों में सभी स्वरों का लोप विहित है परन्तु 'मध्यम' का लोप नहीं करना चाहिए। क्योंकि सात स्वरों में श्रेष्ठ मध्यम अविनाशी स्वर होता है और सामगान करने वालों ने भी गान्धर्वकल्प में मध्यम-स्वर को (ही) अविनाशी स्वर कहा है ॥ ७२–७३ ॥

जाति के दश लक्षण —

ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासोऽपन्यास[7] एव च।
अल्पत्वञ्च बहुत्वञ्च षाडवौडविते तथा ॥ ७४ ॥

जाति के दश लक्षण हैं—यथा—(१) ग्रह, (२) अंश, (३) तार, (४) मन्द्र, (५) न्यास, (६) अपन्यास, (७) अल्पत्व, (८) बहुत्व, (९) षाडव और (१०) औडव।

---

१. नाशस्तु विहितस्त्वथ जातिषु—क०, ख०।
२. न मध्यमस्य नाशस्तु कर्तव्यो हि—क०, ख०।
३. सप्तस्वराणां—ख०। ४. ह्यनाशी मध्यमः स्मृतः—क०।
५. कल्पे विहितः—क०।
६. सामस्वपि च मध्यमः—क०; सामगैरपि मध्यमः—ख०।
७. न्यासापन्यास—घ०।

(१) [1]ग्रह—

ग्रहास्तु[1] सर्वजातीनामंशवत्[2] परिकीर्तिताः।
यत्प्रवृत्तौ भवेद्गानं[3] सोंऽशो ग्रहविकल्पितः॥ ७५॥

अंश स्वर ही समस्त जातियों के 'ग्रह' स्वर होते हैं। प्रवृत्ति अर्थात् गायनवादन की प्रयोगावस्था में जो अंश स्वर हैं उसे ही 'ग्रह' कहते हैं। (पाठान्तर-जातियों के गायनवादन का आरम्भ अंश स्वर से (ही) होता है और इस अवस्था में अंश स्वर ही ग्रह स्वर कहलाता हैं। गायन वादन का ग्रहण (आरम्भ) अंश स्वर से होने के कारण ही इसे 'ग्रह' कहते हैं॥

अंश—

तत्रांशो नाम—

यस्मिन्वसति[4] रागस्तु यस्माच्चैव प्रवर्त्तते।
नेता[5] वै तारमन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥ ७६॥
मन्द्रतारविषया[6] च पञ्चस्वरपरा गतिः।
अनेकस्वरसंयोगो योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥ ७७॥
अन्यच्च[7] बलिनो यस्य संवादी चानुवाद्यपि।
ग्रहापन्यास-विन्यास-सन्न्यासन्यासगोचरः।
परिवार्य[8] स्थितो यस्तु सोंऽशः त्याद्दशलक्षणः॥ ७८॥

---

१. 'ग्रह' —आरम्भक अंश स्वर का नाम 'ग्रह' है, जो जातियों के गान वादन के आरम्भ में होता है। अंश स्वर ही गान वादन के ग्रहण अर्थात् आरम्भ करने के कारण 'ग्रह' कहलाता है। मतङ्ग का मत है कि 'जात्यादिप्रयोगो गृह्यते येनासौ ग्रहः' (वृ० दे०, पृ० ६६) अर्थात् जातियों के गान; वादन या प्रयोग में जिसे आरम्भ में लिया जाय तो ऐसा (अंश) स्वर ग्रह होता है। इसी प्रकार संगीतनारायण में भी—'ग्रहः स्वरः स इत्युक्तो यो गीतादौ समर्पितः'

---

१. ग्रहस्तु सर्वजातीनामंश एव हि कीर्तितः—ग०।

२. अंशवत् परिकीर्तितः—घ०।

३. यत्प्रवृत्तं भवेद्गेयमंशो—क०।

४. भवति—क०; रामश्च यस्मिन् वसति—ख०।

५. तेन वै—ग०।

६. मन्द्रश्च तारमन्द्रश्च योऽत्यर्थमुपलभ्यते—क०।

७. अन्यश्च—क०, ख०।

८. अनुप्रवृत्तश्च यस्येह—क०; परिचार्य स्थितो—ख०।

जिस स्वर में रंजकता रहती है, जिस स्वर से राग प्रवर्त्तित होता है, जो तार और मन्द्र अवधि का नेता (नियामक या प्रवर्तक) है, अनेक विधि स्वर समूहों में जिसका प्रयोग अधिक पाया जाता है, जिसका ग्रह, अपन्यास, विन्यास, सन्यास और न्यास के योग या मध्यम के द्वारा पुनः पुनः अनुवर्तन या परिवेष्टन होता हो तो वह दस लक्षणों से युक्त अंश[1] ग्रह कहलाता है ॥ ७६–७८ ॥

[2]तार—

पञ्चस्वरपरा तारगतिः। यथा—

अंशात्तारगतिं विन्द्यात् आचतुर्थस्वरादिह ।
आपञ्चमात्[1] सप्तमाद्वा[2] नातः परमिहेष्यते[3] ॥ ७९ ॥

कह कर उक्त कथन का ही अनुसरण किया है। शुद्ध जातियों में ग्रह तथा अंश एक ही रहता है और विकृत जातियों में अनेक अंशस्वरों में से एक 'ग्रह' स्वर होता है।

१. जातियों में अंशस्वर अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। जाति के लक्षण में 'अंश' में ही जाति का राग निहित दर्शाया गया है, यहाँ राग का अर्थ रक्तिमा या रञ्जक गुण है। अतएव 'राग' शब्द से रक्तिम गुण का अंश स्वर में रहना अभीष्ट है अर्थात् जिसमें रंजकता की स्थिति हो या जिससे रंजकता की प्रवृत्ति होती है ऐसा स्वर 'अंश' स्वर होगा। मतङ्ग ने भी 'रागजनकत्वाद् व्यापकत्वात् चांशस्यैव प्राध्यान्यम्। यस्मिन्नंशे क्रियमाणे रागाभिव्यक्तिर्भवति सोंऽशः।' (बृह०, पृ० ५६) से इसी तथ्य को निर्दशित किया है। अंश शब्द का 'भाग अर्थ लेते हुए श्री सिंहभूपाल ने बतलाया—ननु कथमस्यांशशब्दवाच्यत्वम्। अंशशब्देन भाग उच्यते। अयमपि जातिरागादिविभागकारित्वादंशशब्देनोच्यते। कारणे कार्यवदुपचारात्। (सं० र० अध्याय १। प्रकरण ७, २९–३४, पृ० १८३, अड्या० संस्करणे)

२. तार—तारगति कण्ठय अंश स्वर से चतुर्थ या पञ्चम स्वर के अन्तर पर आरम्भ होती है। यह मतान्तर से सप्तम स्वर तक जाति गान में

---

१. पञ्चमं त्वथवा गच्छेत् ततोंऽशविहितं त्विह—इति घ-पुस्तकेऽधिकम्।

२. पञ्चमादवा—ख०।

३. लोप्यस्वरोऽपि गण्यः स्याद्बुधैस्तारविधौ पुनः। इति श्लोकार्धमधिकं क० पुस्तके। एतदनन्तरं व्याख्यानानुरोधान्निवेशितं दृश्यते।

तारगति का अर्थ है कण्ठ्य अंश स्वर का तार स्थान में जाना। इस विधान में अंश स्वर को चौथे, पांचवे स्वर या सातवें स्वर तक तार स्थान में जाना चाहिए। इससे ऊँचा जाति प्रयोग में जाना इष्ट नहीं होता है ॥ ७९ ॥

मन्द्र—

त्रिविधा[1] मन्द्रगतिा। अंशपरान्यासपरापन्यासपरा चेति।

मन्द्रस्त्वंशपरो[2] नास्ति न्यासे तु द्वौ व्यवस्थितौ।
गान्धारे[3] न्यासलिङ्गे तु [4]दृष्टमृषभ-सेवनम् ॥ ८० ॥

मन्द्र स्थान में स्वरों की गति तीन प्रकार से होती है। 'अंश' तक, 'न्यास' तक तथा 'अपन्यास' तक।

अवरोहोन्मुख स्थिति में अंशस्वर के बाद मन्द्र नहीं होता (क्योंकि इन तोनों स्थानों में आरम्भ स्वर 'अंश' होता है) मन्द्रगति की न्यास और 'अपन्यास' इन दोनों स्वरों तक अवधि भी विहित (होती) हैं और केवल गान्धार के न्यास स्वर होने पर अवरोहात्मक गति में उसके बाद ऋषभ का (भी) प्रयोग देखा जाता है। (उदाहरणार्थ-नन्दयन्ती में गान्धार न्यास-स्वर हैं, परन्तु उसमें मन्द्र गान्धार से अवरोहात्मक रुप में पश्चाद्वर्ती स्वर का भी प्रयोग देखा जा सकता है।) ॥ ८० ॥

न्यास (स्वर) व अपन्यास (स्वर)—

अथ न्यासः-एकविंशतिविधो[5] ह्यङ्गसमाप्तौ। तद्वदपन्यासोऽप्यङ्ग-मध्ये षट्पञ्चाशत्संख्यः। यथा—

अभीष्ट या सम्मत माना गया है। क्योंकि जाति की तारावस्था इसी स्वर से चतुर्थ या पंचम तक सीमित रहेगी। कण्ठय अंश का अर्थ यहाँ उस अंश स्वर से है जो मध्य स्थान से गाया जाता है।

१. त्रिधा—क०।

२. मन्द्रो ह्यंशपरो—ग०; मन्द्रत्वंशात्—घ०।

३ गान्धारन्यास—क०, गान्धारे च ग्रहे न्यासे—ग०।

४. दृष्टमार्षभ—क०; दृष्टमृशभधैवतम्-ख०, घ०; मार्षभदैवतम्—ग०।

५. एकविंशतिसंख्यः। अङ्गसमाप्तौ न्यासः—क०।

न्यासो ह्यङ्गसमाप्तौ स चैकविंशति[1]विधो विधातव्यः ।
षट्पञ्चाशत्संख्यो[2]ऽङ्गमध्येऽपन्यास एव स्यात्[3] ॥ ८१ ॥

जिस स्वर पर अंग की समाप्ति होती हो वह 'न्यास' स्वर कहलाता है। न्यास स्वरों के इक्कीस[1] भेद होते हैं। इसी प्रकार अपन्यास के अंश के छप्पन भेद होते हैं।

स्वरों पर अंग की समाप्ति की दशा में 'न्यास' स्वर रहता है। इसके इक्कीस प्रकार होते हैं इसी प्रकार अंग मध्य की समाप्ति जिस पर होती है उस अपन्यास स्वर के छप्पन भेद हो जाते हैं ॥ ८१ ॥

जिस स्वर पर अंग (गीत या वाद्य) के मध्य की समाप्ति होती है उसे उपन्यास कहते हैं। एक जाति के अनेक अपन्यास स्वर हो सकते हैं

तुलना—मन्द्रस्त्वंशपरा नास्ति, न्यासे तु द्वौ व्यवस्थितौ ।
गान्धारन्यासलिंगं तु दृष्टमृषभसेवनम् ।। (सं० रत्ना० टीका—कल्लिनाथ)

१. **न्यास स्वर के २१ प्रकार की सारणी—**

२—षड्ज – षाड्जी,[1] षड्जमध्यमा[2] ।
१—ऋषभ–आर्षभी[1] ।
६—गान्धार – गान्धार[1], रक्तगान्धारी[2]; षड्जकैशिकी[3], आन्ध्री[4], कैशिकी[5] तथा नन्दयन्ती[6] ।
५—मध्यम – मध्यमा[1], षड्जमध्यमा[2], षड्जोदीच्यवा[3], गान्धारोदीच्यवा[4] मध्यमोदीच्यवा[5] ।
४—पंचम –पंचमी[1], गान्धारापंचमी[2], कैशिकी[3], कार्मारवी[4] ।
१—धैवत – धैवती[1] ।
२—निषाद – कैशिकी[1], नैषादी[2] ।
२१ योग ।

---

१. चैकविंशतिसंख्यस्तथा—क० ।

२. संख्योऽपन्यासोऽङ्गमध्ये भवेत् ।—क०

३. अतःपरं—सन्यासविन्यासावप्यङ्ग (प्यंश) मध्य एव । अनियतत्वाच्च बहुत्वमिति । तत्र प्रथमविदारीमध्ये न्यासस्वरप्रयुक्तस्तु । बिवदनशीलं मुक्त्वा सन्यासः सोऽभिधातव्यः । कृत्वा पदावसाने विन्यासात् क्वापि विन्यासः ।। इति क—पुस्तके अतिरिक्तः पाठः ।

और एक स्वर कई जातियों में अपन्यास स्वर हो सकता है। अतएव अपन्यास के छप्पन प्रकार हो जाते हैं।[1])

अल्पत्व-बहुत्व —

द्विविधमल्पत्वं लङ्घनादनभ्यासाच्च। तत्र षाडवौडवित-करणत्वमंशानां[1] गीतानामान्तरमार्गमुपगतानां स्वराणां लङ्घनादनभ्यासाच्च सकृदुच्चारणं यथा जातिः। तद्वद् बहुत्वमल्पत्वविपर्ययाद्द्विविधमेवान्येषामपि[2] बलिनां सञ्चारः।

स्वरों का अल्पत्व दो प्रकार से होता है:—लंघन[2] से या अनभ्यास से। (स्वर विशेष की अनावृत्ति-(एक से अधिक बार न लगाना) अनभ्यास है)

---

१. **अपन्यास स्वर के छप्पन (या सतावन) प्रकारों की सारणी—**

८—षड्ज – षड्जकैशिकी[1], षड्जोदीच्यवा[2], षड्जमध्यमा[3], गान्धारी[4], गान्धारोदीच्यवा[5], मध्यमा[6], मध्यमोदीच्यवा[7], कैशिकी[8]।

९—ऋषभ – षड्जमध्यमा[1], आर्षभी[2], गान्धार[3]-पंचमी, पंचमी[4], धैवती[5] नैषादी[6]; कार्मारवी[7], मध्यमा[8], आन्ध्री[9]।

५—गान्धार – षाड्जी[1], षड्जमध्यमा[2], कैशिकी[3], आन्ध्री[4], नैषादी[5]।

६—मध्यम – गान्धारी[1], मध्यमा[2], षड्जमध्यमा[3], धैवती[4], नैषादी[5], कैशिकी[6]।

११—पंचम – षाड्जी[1], गान्धारी[2], मध्यमा[3], षड्जमध्यमा[4], गान्धारपंचमी[5], पंचमी[6], कैशिकी,[7] आन्ध्री[8], नन्दयन्ती[9], कार्मारवी[10], षड्जकैशिकी[11]।

९—धैवत – षड्जोदीच्यवा[1], आर्षभी[2], गान्धारोदीच्यवा[3], मध्यमोदीच्यवा[4], षड्जमध्यमा[5], मध्यमा[6], धैवती[7], कैशिकी[8] तथा कार्मारवी[9]।

८—निषाद –षड्जकैशिकी[1], आर्षभी[2], मध्यमा[3], पंचमी[4], नैषादी[5], कैशिकी[6], आन्ध्री[7] तथा कार्मारवी[8]।

---

५६ योग।

२. 'लंघन' कहते हैं स्वर के थोड़े से स्पर्श को (संगीतरत्नाकर में लंघन का स्वरूप–'ईषत्स्पर्शः लंघनं स्यात्' (सं० र० पृ० १९० अडयारसंस्करण) बतलाया है।

---

१. काराणामनंशानां च गीतान्तरमार्गमुपगतानां स्वराणामनभ्यासः लङ्घनादनभ्यासाद्यथा जात्यल्पत्वं तद्वहुलत्वञ्च—क०। २. द्विविधमेषा—ग०।

जिन स्वरों के लोप से जाति विशेष के षाडव और औडुव प्रकार बनते हों उनकों (उस जाति में) लोप्य स्वर कहते हैं। लोप्य स्वरों का जाति की सम्पूर्णावस्था में भी कम प्रयोग होता (अल्प) है। जो जिस जाति के अंश स्वर नहीं होते वे उस जाति के अनंश स्वर कहलाते हैं। लोप्य स्वरों का और अनंश स्वरों का अनभ्यास[1] होता है।

इसी प्रकार स्वर विशेष का पूर्णरूप से स्पर्श करते हुए उसकी पुनः पुनः आवृत्ति बहुत्व का एक प्रकार है तथा स्वर विशेष का न छोड़ना दूसरा प्रकार है, ये अल्पत्व के ठीक विपरीत होते हैं और इसीलिए दो प्रकार के होते हैं। जाति विशेष में अन्य बली स्वरों का (भी) संचार होता है।

अल्पत्वञ्च[1] बहुत्वञ्च तथा पूर्वविनिश्चयात्।
जातिस्वरैश्च[2] नित्यं स्यात् जात्यल्पत्वं द्विधा च तत्॥ ८२॥
सञ्चारोंऽश-बलस्थानामल्पत्वं[3] दुर्बलेषु च।
[4]द्विविधो ऽन्तरमार्गस्तु जातीनां व्यक्तिकारकः॥ ८३॥

अंश स्वरों के संचार में कुछ अनंश स्वरों का प्राबल्य तथा अन्य का दौर्बल्य प्राप्त करना जातियों के 'अन्तरमार्ग' को उपपन्न करता है। [अर्थात् बहुलस्वर अंश स्वर होता है, इसके अतिरिक्त अनंशस्वर का अल्प प्रमाण में प्रयोग या संचार रहता है और यही जातिस्वरूप को स्पष्ट करने में उपादेय होता है।]॥ ८३॥

षाडव-औड़व—

षट्-स्वरं षाडवितं चतुर्दशविधं सप्तचत्वारिंशत्प्रकारं पूर्वोक्त-विधानं यथा जात्यंशप्रकारैरिति[5]।

---

१. अनभ्यास का अर्थ है स्वरों को एक बार उच्चारण करते हुए इसके द्वारा अल्पत्व का आधान करना। क्योंकि बहुत्व अभ्यास से आपादित होता है। 'अभ्यास' का अर्थ है आवृत्ति करना या दोहराना। अतः अभ्यास के विपरीत अर्थ में अनभ्यास का अर्थ होगा स्वरो का एक बार उच्चारण करना।

---

१. अल्पत्वेऽथ बहुत्वे बलवदबलता विनिश्चयादेव—क०।

२. जातिस्वरैस्तु नित्यं जात्यल्पत्वे द्विविधमेतत्—क०।

३. संचारांशे बलस्थानामल्पत्वे दुर्बलासु च—क०।

४. न्यासश्चान्तरमार्गस्तु-क०; द्विविधा-ख०, विविधोऽन्तरमार्गस्तु—ग०।

५. जात्यंशप्रकारमिति—क०।

षट्-स्वर षाडवित-दशा में चौदह होते हैं, जिनके भेद सैतालिस हो जाते हैं। इनके जाति और अंशगत प्रकार पूर्ववत् समझे जाएँ।

पञ्चस्वरमौडवितं विज्ञेयं दशविधं प्रयोगज्ञैः।
त्रिंशत्प्रकारविहितं पूर्वोक्तं लक्षणञ्चास्य ॥ ८४ ॥

षट्स्वरस्य प्रयोगोऽस्ति[1] तथा पञ्चस्वरस्य च।
चतुःस्वरप्रयोगोऽस्ति ह्यवकृष्टध्रुवास्वथ[2] ॥ ८५ ॥

औडवित को प्रयोगज्ञ दस प्रकार[1] का जानें, जिसके तीस प्रकार पूर्वोक्त-स्वरूप से हो जाते हैं। षाडव (षट्-स्वर) और औडव (पंचस्वर) तथा चतुस्वर का 'अवकृष्टा' ध्रुवा में प्रयोग किया जाता है ॥ ८५ ॥

द्वैग्रामिकीनां जातीनां सर्वासामपि नित्यशः।
त्रिषष्टिरंशा[3] विज्ञेयास्तासाञ्चैव तथा ग्रहाः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार षड्ज और ग्राम में स्थिति सभी अंश और ग्रह स्वरों का जाति स्वराश्रित कुल योग ६३ होता है ॥ ८६ ॥

[4]अंशग्रहविधिमिदानीं वक्ष्यामः। तत्र
मध्यमोदीच्यवायास्तु नन्दयन्त्यास्तथैव च।
तथा गान्धार-पञ्चम्याः पञ्चमोऽशो ग्रहस्स्मृतः ॥ ८७ ॥

---

१. औडुवत्व अठारह जाति में से दस जातियों में होता है। इनमें षट् या पंच स्वरों का प्रयोग या गान किया जाता है अर्थात् ये ही जातियाँ षट् या पंच जैसे न्यून स्वरों में गायी जाती हैं। जाति में यद्यपि कम से कम पाँच स्वरों की स्थिति इससे दर्शायी गयी है फिर भी अपवाद रूप में इससे न्यून चार स्वरों का भी प्रयोग हो सकता है। मतङ्ग के मत में चार स्वर के प्रयोग होने पर फिर वह गानमार्ग संगीत नहीं होता, वह 'देशी' हो जाता है। तथा जो शबर पुलिन्द इत्यादि के संगीत में पाया जाता है। इनका मत इस प्रकार हैं—'चतुःस्वरात् प्रभृति न मार्गः। शबरपुलिन्द-काम्बोज-बंग-किरात-वाह्लीकान्ध्रद्रविडवनादिषु प्रयुज्यते।' (बृह० पृ० ५६)

---

१. प्रयोगोऽयम्—ग०।

२. स्वथ—क०, देशापेक्षः प्रयुज्यते—ग०।

३. अंशास्त्रिषष्ठि—क०, ग०।

४. अंशग्रहमिदानीं—क०; अंशग्रहानिदानीं व्याख्यास्यामः—ख०।

अब हम अंशग्रह आदि का निरूपण करते हैं—

इनमें मध्यमोदीच्यवा, नन्दयन्ती और गान्धार-पंचमी में पंचम स्वर की अंशावस्था को 'ग्रह' प्राप्त होता है ॥ ८८ ॥

धैवत्याश्च तथैवांशौ[1] विज्ञेयौ धैवतर्षभौ ।
पञ्चम्यास्तु ग्रहावंशौ[2] भवतः पञ्चमर्षभौ ॥ ८८ ॥

धैवती के अंश स्वर धैवत और ऋषभ होते हैं और पंचमी के अंश स्वर पंचम और ऋषभ होते हैं ॥ ८८ ॥

गान्धारोदीच्यवायास्तु ग्रहांशौ षड्जमध्यमौ ।
आर्षभ्याश्च[3] तथैवांशा निषादर्षभधैवताः ॥ ८९ ॥

गान्धारोदीच्यवा के षड्ज और मध्यम और इसी प्रकार आर्षभी के निषाद, ऋषभ और धैवत अंश स्वर होते हैं ॥ ८९ ॥

नैषादिन्या[4] निषादस्तु गान्धारश्चर्षभस्तथा ।
अंशाश्च[5] षड्जकैशिक्याः षड्जगान्धारपञ्चमाः ॥ ९० ॥

निषादी के निषाद, गान्धार और ऋषभ तथा षड्जकैशिकी के षड्ज, गान्धार और पंचम अंश स्वर होते हैं ॥ ९० ॥

षड्जपञ्चमगान्धारैस्त्रिभिरेव प्रकीर्तिताः ।
[6]अंशैर्ग्रहैस्तथा चैव विज्ञेया षड्जकैशिकी ॥
षड्जश्च मध्यमश्चैव निषादो धैवतस्तथा ।
अंशग्रहास्तु[7] चत्वारः षड्जोदीच्यवतीं श्रिताः ॥ ९१ ॥

षड्ज कैशिकी के षड्ज, गान्धार और पंचम ये तीन स्वर ग्रह और अंश स्वर हैं । इस प्रकार जातियों के ग्रह और-अंश स्वर बतला दिये गए ।

---

१. तथा ह्यंशौ—क० । २. पञ्चम्याश्च तथा ज्ञेयौ ग्रहांशौ—क० ।

३. आर्षभ्यां तु निषादस्तु गान्धारश्चर्षभस्तथा–ख०, आर्षभ्याश्च ग्रहांशा धैवतर्षभसप्तमाः—क० ।

४. गान्धारश्च निषादश्च ह्यार्षभश्च तथापरः—क०; निषाद्याश्च निषादस्तु —ख० ।

५. निषादित्यास्त्रयो ह्येते ग्रहा अंशाश्च कीर्तिताः—क० ।

६. अस्मादनन्तरं ख-पुस्तके–तिसृणामपि जातीनां ग्रहा अंशाश्च कीर्तिताः इत्यधिकमस्ति ।

७. षड्जोदीच्यवतीजातेर्ग्रहा अंशाश्च कीर्तिताः—क० ।

षड्जोदीच्यवती में षड्ज, मध्यम, धैवत और निषाद ये चार स्वर ग्रह और अंश स्वर होते हैं ॥ ९१ ॥

पञ्चमश्चर्षभश्चैव[1] निषादो धैवतस्तथा।
कर्मारव्यास्तथै[2] वांशाश्चत्वारश्च प्रकीर्तिताः ॥ ९२ ॥

कर्मारवी में पञ्चम, ऋषभ, निषाद और धैवत ये चार स्वर अंश और ग्रह होते हैं ॥ ९२ ॥

गान्धारश्चर्षभश्चैव निषादः[3] पञ्चमस्तथा।
चत्वारोंऽशा भवन्त्याध्र्याः ग्रहाश्चैते[4] तथैव हि ॥ ९३ ॥

आन्ध्री में ऋषभ, गान्धार, पंचम और निषाद ये चार स्वर अंश-स्वर और ग्रह होते हैं ॥ ९३ ॥

ऋषभश्चैव[5] षड्जश्च मध्यमः पञ्चमस्तथा।
मध्यमाया ग्रहास्त्वंशा[6] धैवतश्च प्रकीर्तितः ॥ ९४ ॥

मध्यमा में षड्ज, ऋषभ, मध्यम, पंचम और धैवत स्वर अंश और ग्रह होते हैं ॥ ९४ ॥

निषादषड्जगान्धारमध्यमः[7] पञ्चमस्तथा।
गान्धारीरक्तगान्धार्योर्ग्रहांशाः[8] परिकीर्तिताः ॥ ९५ ॥

गान्धारी और रक्तगांधारी में निषाद, षड्ज, गान्धार, मध्यम और पंचम स्वर अंश और ग्रह हैं ॥ ९५ ॥

षड्जाया[9] षड्जगान्धारौ मध्यमः पञ्चमस्तथा।
धैवतश्चापि विज्ञेया ग्रहाश्चांशाः प्रकीर्तिताः ॥ ९६ ॥

---

१. पञ्चमश्चार्षभ—स०; पञ्चमेनर्षभश्चैव—ख०।

२. कार्माख्या बुधैरंशा ग्रहाश्च परिकीर्तिताः—क०, ख०।

३. पञ्चमोऽथ निषादवान्—क, ख०। ४. ग्रहाश्चैव—क०।

५. षड्जश्चाथर्षभश्चैव—क०।

६. ग्रहा ज्ञेया अंशाश्चैव सधैवताः—क०, ख०।

७. निषादर्षभगान्धाराः—ग०, घ०।

८. ग्रहा अंशाः प्रकीर्तिताः—क०।

९. षाड्जोधैवतगान्धारषड्जमध्यमपञ्चमैः। ग्रहैरंशैश्च विज्ञेया विकृताः स्वरयोगतः क० ॥

षाड्जी के षड्ज, गान्धार, मध्यम, पंचम तथा धैवत स्वर अंश और ग्रह होते हैं ॥ ९६ ॥

वर्जितर्षभयोगास्तु[1] कैशिक्यांशा षडेव तु ।
[2]स्वराः सर्वे च विज्ञेया षड्जमध्यांशजा ग्रहाः ।
एवं[3] त्रिषष्टिर्विज्ञेया [4]ग्रहाश्चांशाश्च जातिषु ॥ ९७ ॥

कैशिकी में ऋषभ के अतिरिक्त छः स्वर (षड्ज, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद) अंश और ग्रह होते हैं तथा षड्ज-मध्यमा में सभी स्वर (सातों स्वर) अंश और ग्रह स्वर हो जाते हैं। इस प्रकार जाति में रहने वाले अंश और ग्रह के ६३ प्रभेद होजाते हैं। [तथा जाति में अंश स्वर भी ग्रह स्वर होते ही हैं यह भी इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य है] ॥९७॥

अंशवच्च ग्रहास्तासां सर्वासामेव नित्यशः ।
सर्वासामेव जातीनां त्रिजातिस्तु गणः स्मृतः ॥ ९८ ॥
सर्वथा[5] चैव विज्ञेया वर्द्धमानस्वरास्तथा[6] ।
एकस्वरो द्विस्वरश्च त्रिस्स्वरोऽथ चतुःस्वरः ।
पञ्चस्वरो[7] षट्स्वरश्च तथा सप्तस्वरोऽपि वा ॥ ९९ ॥

इन सभी का अंश स्वर के समान'ग्रह' भी होता है। इसप्रकार सभी जातियों के 'गण' तीन प्रकार के हो जाते हैं, जो एक-एक स्वर को बढ़ाते हुए होती हैं। ये एक स्वर, दो स्वर, तीन स्वर, चार स्वर, पांच स्वर, छः स्वर तथा सात स्वरों वाले (प्रकार) हैं ॥ ९८–९९ ॥

एवमुक्तमिदं[8] सम्यग् जातीनां[9] लक्षणं मया ।
अत[10] ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न्यासापन्यास-कल्पनम् ॥ १०० ॥

---

१. कैशिक्याश्चार्षभं हित्वा ग्रहांशाः षट्स्वराः स्मृताः—क०; कैशिक्याश्चर्षभं हीना—ख० ।

२. सप्तस्वरग्रहांशा तु विज्ञेया षड्जमध्यमा—क०, सर्वस्वरग्रहांशाश्च—ख० । ३. एते—क० । ४. सर्वास्त्वंशास्तु—क० ।

५. ते च सप्त गणा ज्ञेया—क० । ६. बुधैः—क०; यथा—ख० ।

७. श्चतुर्धा स्यादेधा सप्तषट्स्वरौ—क० ।

८. एतदुक्तं मया त्वासां—क०, पूर्वमुक्तमिदं त्वासां—ख० ।

९. ग्रहांशपरिकल्पनम्—क०, ख० ।

१०. पुनश्चैव प्रवक्ष्यामि न्यासापन्यासयोगतः—क० ।

इस प्रकार मैंने आपको जातियों का स्वरूप बतलाया। अब मैं इसके बाद इन्ही के न्यास[1] और अपन्यास का विवरण बतलाता हूँ ॥ १०० ॥

षाड्जी—

अंशाः[1] स्युः पञ्च षड्जाया निषादर्षभवर्जिताः।
अपन्यासो भवेदत्र[2] गान्धारः पञ्चमस्तथा ॥ १०१ ॥
न्यासश्चात्र भवेत् षड्जो लोप्यः सप्तम एव तु।
षाडवं सप्तमोपेतम् अल्पौ वै सप्तमर्षभौ ॥ १०२ ॥
षड्जगान्धारसञ्चारस्तथा धैवतषड्जयोः।
गान्धारस्य च बाहुल्यन्त्वत्र कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १०३ ॥

निषाद और ऋषभ के अतिरिक्त पांच स्वर (स, ग, म, प, ध) 'षाड्जी'[2] के अंश स्वर हैं। इनमें गान्धार और पंचम अपन्यास हैं। इसमें न्यास स्वर

---

१. न्यास, अपन्यास के बाद सन्यास तथा विन्यास का लक्षण नाट्यशास्त्र में प्राप्त नहीं होता, यद्यपि इन शब्दों का प्रयोग यहाँ मिलता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन शब्दों के लक्षणवाला अंश नाट्यशास्त्र की प्राप्य मूल-प्रतियों में कहीं न मिलने से नष्ट हो गया होगा। दत्तिल के अनुसार न्यास ऐसे स्वर को कहते हैं जिस पर गीत का अवसान होता हो। अपन्यास ऐसे स्वर को कहते हैं जो गीत के विदारी अर्थात् मध्यखण्ड या भाग के अवसान में प्रयुक्त किया जाए। न्यास और अपन्यास का इस प्रकार विभेद भी स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि न्यास गीत के सम्पूर्ण होने पर अन्त में आता है और विन्यास गीत के मध्य में।

'सन्यास' उस न्यास स्वर को कहते हैं जो गीत के प्रथमखण्ड के अन्त में अंशस्वर का विवादी न होते हुए आता हो। [मतंग के मत में भी यही इसका लक्षण है] संगीतरत्नाकर में विन्यास का स्वरूप दिया है—अंशाविवाद्येष विन्यासः स तु कथ्यते। यो विदारीभागरूपपदप्रान्तेऽवतिष्ठते (सं० र० स्वरा० पृ० १८९)

अर्थात् अंश स्वर का विवादी न हो कर जो आता हो और मध्यवर्ती पद के अन्त में प्रयुक्त होता हो तो ऐसा स्वर 'विन्यास' कहलाता है। अंश के विवादी न होने का आशय यही है कि वह संवादी या अनुवादी होकर रहना चाहिए।

२. तुलना—संगीतरत्नाकर अध्या० ७।६०, ६१।

---

१. पञ्चांशा तु भवेत् षाड्जी ... वर्जिता—क०।

२. भवत्यत्र—क०; न्यासः सर्व उपन्यासौ स्यातां गान्धारपञ्चमौ—ग०।

षड्ज होता है और सप्तम (निषाद) स्वर लोप्य है। निषाद के लोप से षाड्जी का षाडव रूप बनता है तथा ऋषभ और निषाद का प्रयोग अल्प रहता है। षड्ज, गान्धार, धैवत तथा षड्ज की संगति (संचार) होती है। प्रयोक्ताओं को इस जाति में गान्धार स्वर की बहुलता रखनी चाहिए ॥ १०१–१०३ ॥

आर्षभी—

अंश[1] जातास्तथार्षभ्यान्निषादर्षभधैवताः[2] ।
एत एव ह्यपन्यासाः न्यासश्च[3] ऋषभः स्मृतः ॥ १०४ ॥
अल्पत्वञ्च[4] विशेषेण भवेत् षाडवकारिणः ।
लङ्घनं पञ्चमस्यैव स्यादारोहणसंश्रयात् ॥ १०५ ॥
षट्स्वरं[5] सप्तमेहीने पञ्चस्वर्यं च [6]पञ्चमम् ।
विवादिनां स्वराणाञ्च सञ्चारोऽत्र विधीयते ॥ १०६ ॥

धैवत, ऋषभ और निषाद अंश तथा अपन्यास स्वर होते हैं तथा 'आर्षभी'[1] में न्यास स्वर ऋषभ होता है। इनमें षड्ज (षाडवकारी) का अल्पत्व रहता है तथा आरोह में पंचम का लंघन किया जाता है। षड्ज के लोप से षाडव और पंचम के लोप से औडव प्रकार बन जाता है और इसमें अन्यशेष स्वरों के साथ निषाद और गान्धार की संगति (संचार) होती है ॥ १०४–१०६ ॥

धैवती—

धैवत्यां धैवतो न्यासः स्यादंशौ[7] धैवतर्षभौ ।
अपन्यासा भवन्त्यत्र धैवतर्षभमध्यमाः ॥ १०७ ॥

---

१. तुलना संगी० रत्ना० अ० १।७–६४–६६ ।

१. आर्षभ्यामृषभस्त्वंशो निषादो धैवतस्तथा—क०; आर्षभ्यां तु भवन्त्यंशा धैवतर्षभसप्तमाः—ख० ।

२. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न्यासोपन्यासकल्पनम्—ग० ।

३. न्यासश्चाप्यृषभः—क० ।

४. एतत्पद्यद्वयस्थाने क–पुस्तके तु—षट्पञ्चस्वरता चात्र षड्जपञ्चमयोर्विना—इति पद्यार्धमात्रं समुपलभ्यते ।

५. षाट्स्वर्यं षड्जहीने तु पञ्चस्वर्यं तु पञ्चमात्—क (न) ।

६. पञ्चमः—ख० ।

७. स्त्वंशावृषभधैवतौ—क०; धैवत्यां धैवतर्षभावंशौ न्यासः स्याद्धैवतः—ख ।

षड्जपञ्चमहीनञ्च पञ्चस्वर्यं विधीयते।
पञ्चमेन[1] विना चैव षाडवं परिकीर्तितम् ॥ १०८ ॥
आरोहिणौ च कर्त्तव्यौ[2] लङ्घनीयौ तथैव च।
निषादश्चर्षभश्चैव[3] गान्धारो बलवाँस्तथा ॥ १०९ ॥

'धैवती'[1] जाति में धैवत न्यास तथा ऋषभ, धैवत अंश स्वर होते है। इस जाति में धैवत, ऋषभ और मध्यम स्वर अपन्यास होते है। षड्ज-पंचम हीन औडव तथा पंचम हीन षाडव की इसमें स्थिति होती है। आरोह में पंचम स्वर का लंघन होता है और इस जाति में निषाद, ऋषभ और गान्धार स्वर बलवान् होते हैं ॥ १०७-१०९ ॥

नैषादी-(निषादी)—

निषादिन्यां निषादोंऽशो गान्धारस्त्वर्षभः[4] स्मृतः।
एत[5] एव ह्यपन्यासा न्यासश्चैवात्र सप्तमः ॥ ११० ॥
धैवत्या इव कर्त्तव्यौ षाडवडौविते तथा।
तद्वच्च लङ्घनीयौ तु बलवन्तौ तथैव च ॥ १११ ॥

निषादिनी[2] जाति में निषाद, गान्धार और ऋषभ अंश स्वर होते हैं। यही अपन्यास स्वर है तथा निषाद न्यास-स्वर होता है। षाडव और औडव दशाएँ 'धैवती' के समान इसमें भी होती हैं और लंघनीय स्वर और बलवान् स्वर भी उसी के समान (र, ग) होते हैं ॥ ११०-१११ ॥

षड्ज-कैशिकी—

अंशास्तु षड्जकैशिक्यां षड्जगान्धारपञ्चमाः।
अपन्यासा[6] भवन्त्यत्र षड्जसप्तमपञ्चमाः ॥ ११२ ॥

---

१. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७-७५-७६।
२. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७-(७७-७८)।

---

१. श्लोकार्धमेतत्—ग० पुस्तके नास्ति।
२. तौ कार्यौ—क०, ख०।
३. निषादर्षभ—गान्धारा बलवन्तः प्रकीर्तिताः—क (ज)।
४. सगान्धारर्षभस्तथा—क०।
५. एत एव ह्यपन्यासा षड्जमध्यमपञ्चमाः। निषादश्च भवेन्त्यासो हीनस्वर्यंञ्च नेष्यते। दौर्बल्यञ्चात्र कर्तव्यं धैवतर्षभयोस्तथा—क (न०)।
६. एत एव अपन्यासाः सनिषादाः प्रकीर्तिताः। गान्धारोऽत्र भवेन्त्यासो दुर्बलौ धैवतर्षभौ। हीनस्वरस्याभावात्तु—क (न०)।

गान्धारश्च भवेन्न्यासो हीनस्वर्यं न चात्र तु ।
[हीनस्वरस्याभावात्तु सम्पूर्णा चेयमिष्यते]
दौर्बल्यञ्चात्र कर्त्तव्यं धैवतस्यर्षभस्य च ॥ ११३ ॥

षड्ज-कैशिकी[2] जाति में षड्ज, गान्धार और पंचम-स्वर अंश स्वर होते है। षड्ज, पंचम और निषाद अपन्यास स्वर होते हैं तथा इसमें गान्धार न्यास स्वर होता है। षाडव तथा औडव दशाएँ नहीं रहती और इसमें धैवत और ऋषभ स्वर दुर्बल होता है ॥ ११२–११३ ॥

षड्जोदीच्यवा—

षड्जश्च मध्यमश्चैव निषादो धैवतस्तथा[1] ।
स्युः षड्जोदीच्यवत्यंशा[2] न्यासश्चैव तु मध्यमः ॥ ११४ ॥
अपन्यासो भवत्यस्या धैवतः षड्ज एव च ।
[3]परस्परमिहांशानां सञ्चारश्च विधीयते ॥ ११५ ॥
पञ्चमर्षभहीनन्तु पञ्चस्वर्यं विधीयते ।
ऋषभः षाडवे हीनो गान्धारश्च[4] बलीभवेत्[5] ॥ ११६ ॥

षड्जोदीच्यवा[1] जाति के अंश स्वर षड्ज, मध्यम, धैवत और निषाद होते हैं, न्यास स्वर मध्यम है। धैवत और षड्ज स्वर इसमें अपन्यास स्वर हैं। इस जाति में अंश स्वरों का परस्पर संचार होता है। षाडवावस्था में ऋषभ का और औडवावस्था में ऋषभ तथा पंचम-स्वर का लोप होता है और इसमें गान्धार स्वर बली होता है ॥ ११४–११६ ॥

---

१. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७–(७९–८०)।
२. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७–(८१–८३)।

---

१. स्मृतः—ग०

२. षड्जोदीच्यवांशास्तु—क०, भवन्ति षड्जोदीच्यव्यां न्यासो मध्यम इष्यते। अपन्यासाविह स्यातां धैवतर्षभ एव च। परस्परांशानुगमो गान्धारोऽनुमतो भवेत् —क० (न०)। परस्परांशगमनमिष्टतश्च विधीयते—क०।

३. परस्परांशगमनमिष्टतश्च विधीयते।—क०

४. लङ्घनञ्च तयोर्भवेत्—क (न०)।

५. अस्मादनन्तरम्—गान्धारस्य च बाहुल्यं मन्द्रस्थाने विधीयते। इति क–पुस्तकेऽधिकं श्लोकार्धम्।

षड्जमध्यमा—

सर्वेऽशा[1] षड्जमध्यायाम् अपन्यासास्तु[2] एव च ।
षड्जो वा मध्यमो वापि न्यासः[3] कार्यः प्रयोक्तृभिः ॥ ११७ ॥
गान्धारसप्तमापेतं[4] पञ्चस्वर्यं[5] विधीयते[6] ।
षाडवं[7] सप्तमापेतं चात्र कार्यं प्रयोगतः ॥ ११८ ॥
सर्वस्वराणां सञ्चार[8] इष्टस्तस्याः प्रयोक्तृभिः ॥

षड्जमध्यमा[1] में सभी स्वर अंश और उपन्यास होते हैं, प्रयोक्ताओं को इस जाति में षड्ज या मध्यम स्वर न्यास रखना चाहिए। गान्धार और निषाद के लोप से औडव एवं निषाद के लोप से षाडव बनाना चाहिए। प्रयोक्ताओं के द्वारा इसमें सभी स्वरों की परस्पर संगति इष्ट रहती है ॥ ११७–११९ ॥

षड्जग्रामाश्रिता[9] ह्येता विज्ञेयाः सप्त जातयः ॥ ११९ ॥
अत[10] ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मध्यमग्रामसंश्रिताः[11] ॥

ये सात जातियाँ षड्ज ग्रामाश्रित हैं। अब मैं मध्यम ग्रामाश्रित जातियाँ बतलाता हूँ ॥ ११९–१२० ॥

गान्धारी—

अंशास्स्युः[12] पञ्च गान्धार्या धैवतर्षभवर्जिताः ॥ १२० ॥
[13]अपन्यासत्वमस्यास्तु षड्जपञ्चमयोरपि ।

---

१. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७–(८५–८७)

---

१. सर्वेषां—ग० । २. अपन्यासास्तथैव च—क० ।
३. षड्जश्च मध्यमश्चापि न्यासौ कार्यौ—क० ।
४. सप्तमोपेतं—ख० ।
५. पाञ्चस्वर्यं—क० । ६. तु तत्र वै—ख० ।
७. ऋषभः षाडवे हीनो दुर्बलः सविशेषतः—ग०, क (न०) ।
८. इष्टतस्तु विधीयते—क०; इष्टस्तस्यां—ख० ।
९. श्रया—ख० । १०. अतः परं—क० । ११. संश्रयाः—क० ।
१२. गान्धार्याः पञ्च एवांशा—क० ।
१३. षड्जश्च पञ्चमश्चैव ह्यपन्यासौ प्रकीर्तितौ–क०, अपन्यासो भवेच्चात्र षड्जः पञ्चम एव च—ख० ।

गान्धारश्च[1] भवेन्न्यासः षाडवं चर्षभं विना ॥ १२१ ॥
ऋषभधैवतापेतं[2] तथा चौडवितं भवेत्।
लङ्घनीयौ[3] च तौ नित्यमृषभो धैवतं व्रजेत् ॥ १२२ ॥
षड्जमध्यमयोरत्र बाहुल्यं सम्विधीयते ।

गान्धारी[1] जाति में धैवत और ऋषभ के अतिरिक्त पांच अंश स्वर होते हैं, गान्धार न्यास-स्वर रहता है। ऋषभ के लोप से षाडव और ऋषभ, धैवत के लोप से औडुवित रूप होता है। ऋषभ और धैवत का लंघन रहता है (अर्थात् अतिशय कम प्रयोग होता है पूर्णावस्था में भी) और इसमें ऋषभ से धैवत पर जाना चाहिए तथा षड्ज और मध्यम का बाहुल्य है ॥ १२०-१२३ ॥

रक्तगान्धारी—

गान्धारीविहितं[4] न्सासं हीनस्वर्यश्च लक्षणम् ॥ १२३ ॥
सर्वश्च[5] रक्तपूर्वाया गान्धार्याश्च विनिर्दिशेत्।
बलवन्तौ[6] विधातव्यौ धैवतः सप्तमस्तथा ॥ १२४ ॥
गान्धारषड्जयोरत्र[7] सञ्चारश्चर्षभं विना ।
अपन्यासस्तु[8] कार्यः स्यादेक एवात्र मध्यमः ॥ १२५ ॥

[2]रक्त-गान्धारी जाति का लक्षण तथा उसमें षाडव और औडव दशाऐं गान्धारी के समान हीहोती हैं। इसमें धैवत और निषाद (सप्तम) बलवान्

---

१. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७–(६७–७०)

२. तुलना—संगी० रत्न० अ० १।७–(६१–६४)।

---

१. गान्धारोऽत्र—ख०।

२. धैवतर्षभयोर्हीनं—क०; धैवतर्षभगान्धार्यां कर्तव्यं स्वरयोगतः।

३. लंघनीयौ च तौ नित्यमार्षभाद्धैवतं—क०; प्रयोक्तृभिः प्रयोक्तव्यं गान्धारलङ्घनम्—ग०।

४. विहितस्त्विति गान्धार्याः स्वरन्यासांशगोचरः—क०; गान्धारीविहित-स्यासौ—क (न०); गान्धारो विहितं—ग०।

५. लक्षणं रक्तगान्धार्या गान्धार्या एव यत् स्मृतम्—क०।

६. धैवतो बलवानत्र दौर्बल्यं तस्य लोपतः—क०, बलिनौ भवतश्चात्र धैवतः सप्तमस्तथा—ख०।

७. श्चात्र···श्चार्षभाद्विना—क०।

८. अपन्यासस्तथा चैव मध्यमस्तु विधीयते—क०।

होते हैं। गान्धार और षड्ज स्वर की ऋषभ के अतिरिक्त अन्य स्वरों के साथ संगति होती है। इसमें केवल मध्यम अपन्यास स्वर होता है ॥१२३-१२५॥

गान्धारोदीच्यवती—

गान्धारोदीच्यवायां[1] तु तावंशौ षड्जमध्यमौ।
पञ्चस्वर्यं भवेन्नात्र[2] षाड्स्वर्यमृषभं विना ॥ १२६ ॥
अस्यास्त्वल्पबहुत्वस्य[3] न्यासापन्यासयोस्तथा।
यः[4] षड्जोदीच्यवायास्तु स सर्वोऽत्र विधिः स्मृतः ॥१२७॥

गान्धारोदीच्यवा[1] में षड्ज और मध्यम अंश स्वर होते हैं। इस जाति में औडवित्व नहीं है और षाडव रूप ऋषभ के लोप से बनता है। इसमें अल्पत्व, बहुत्व, न्यास और अपन्यास स्वरों का विधान षड्जोदीच्यवा के समान किया जाय ॥ १२६-१२७ ॥

मध्यमा—

मध्यमायां[5] भवन्त्यंशा सषड्जर्षभमध्यमाः[6]।
पञ्चमो[7] धैवतश्चैवापन्यासस्तत्र एव तु ॥ १२८ ॥
न्यासो मध्यम एवात्र द्विश्रुत्योर्हीनता भवेत्।
गान्धारसप्तमापेतं[8] पाञ्चस्वर्यं विधीयते ॥ १२९ ॥
गान्धारहीनं[9] षट्स्वर्यं बाहुल्यं षड्जमध्ययोः।

---

१. तुलना—संगीतरत्ना० अ० १।७-(८८-९१)

---

१. दीच्यवत्यंशौ विज्ञेयौ—क०, ख०।

२. न चैवात्र—क०, न चास्त्यत्र—ख०।

३. कार्यश्चान्तरमार्गश्च न्यासोपन्यास एव च-क०, कार्योऽत्रान्तर—एव तु—ग०।

४. षड्जोदीच्यवतीवत् तु पाञ्चस्वर्येण जातुचित्—क०, तत्राल्पत्वात् द्विविधयोः षड्जोदीच्यवती समाः—ग०, क (न०)।

५. मध्यमाया—क०, मध्यमाद्वा—ग०।

६. विना गान्धारसप्तमौ—क०।

७. एत एव अपन्यासा न्यासश्चैव [न्यास एव—(ख)] तु मध्यमः–क०, ख०। ८. गान्धारसप्तमोपेतं—ख०।

९. षाडवश्चाप्यगान्धारं कर्तव्यं तु प्रयोगतः—क०, षाट्स्वर्यं चाप्य-गान्धारं…प्रयोगतः—ख०।

गान्धारस्य[1] च दौर्बल्यं मध्यमाया विधीयते ॥ १३० ॥

मध्यमाजाति[1] में गान्धार और निषाद के अतिरिक्त षड्ज, ऋषभ और मध्यम स्वर अंश होते हैं और ये ही अपन्यास स्वर भी हो जाते हैं। इसमें मध्यम-स्वर न्यास स्वर होता है। गान्धार और निषाद के लोप से औडव और गान्धार के लोप से षाडव रूप बनता है। इस (जाति) की प्रयोग-दशा में षड्ज-मध्यम का बाहुल्य और गान्धार-स्वर का लंघन किया जाता है ॥ १२८–१३० ॥

मध्यमोदीच्यवा—

मध्यमोदीच्यवायास्तु[2] पञ्चमोंऽशः[3] प्रकीर्तितः ।
शेषो विधिस्तु कर्त्तव्यो गान्धारोदीच्यवां[4] गतः ॥ १३१ ॥

मध्यमोदीच्यवा[2] का अंशस्वर पंचम होता है तथा अन्य सभी विशेषताएँ गान्धारोदीच्यवा जैसी होती हैं ॥ १३१ ॥

पंचमी—

[5]द्वावंशावपि पञ्चम्याः भवतः पञ्चमर्षभौ ।
अपन्यासो[6] निषादश्च पञ्चमर्षभसंयुतः ॥ १३२ ॥
न्यासः पञ्चम एव स्यात् मध्यमर्षभहीनता ।
मध्यमायान्तु[7] कर्त्तव्ये षाडवौडविते यथा[8] ॥ १३३ ॥
दुर्बलाश्चात्र[9] कर्त्तव्या[10] षड्जगान्धारमध्यमाः[11] ।

---

१. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७–(७०–७२)।

२. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७–(९९–१००)

---

१. षड्जमध्यमयोश्चात्र कार्यं बाहुल्यमेव च ।
गान्धारलङ्घनं चात्र नित्यं कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥—क०, ख० ।

२. मध्यमोदीच्यवा पूर्णा ह्यंश एकस्तु पञ्चमः—क० ।

३. पञ्चमांशो न हीयते—ग० ।

४. दीच्यवांशतः—ग०, मध्यमायास्तु यो भवेत्—क(भ०) ।

५. द्वावंशावथ पञ्चम्याम् ऋषभः पञ्चमस्तथा—क०, ख० ।

६. सनिषादावपन्यासौ न्यासश्चैव तु पञ्चमः—क०, ख० ।

७. मध्यमावत् तु—क०, । ८. तथा—क०, ख० ।

९. दौर्बल्यं चात्र—क०, ख० । १०. विज्ञेयं—ख० ।

११. मध्यमैः—क०, ख० ।

कुर्याच्चाप्यत्र[1] सञ्चारं [2]मध्यमस्यर्षभस्य च।
गान्धारगमनञ्चाल्पं[3] सप्तम्यां सम्प्रयोजयेत् ॥ १३४ ॥

पंचमी[1] जाति में पंचम और ऋषभ अंश स्वर होते हैं। निषाद, पंचम और ऋषभ अपन्यास स्वर होते हैं। मध्यमा के समान षाडव और औडव होते हैं। इसमें षड्ज, गान्धार और पंचम दुर्बल होते हैं और ऋषभ, मध्यम की संगति की जाती है। इसमें गान्धार से निषाद पर जाना चाहिए (निषाद अल्प रहता है) ॥ १३२–१३४ ॥

गान्धारपंचमी—

अथ गान्धारपञ्चम्याः पञ्चमोंऽशः[4] प्रकीर्तितः[5]।
पञ्चमश्चर्षभश्चैव[6] अपन्यासौ प्रकीर्तितौ ॥ १३५ ॥
गान्धारोऽत्र[7] भवेन्न्यासो हीनस्वर्यश्च नेष्यते।
पञ्चम्यास्त्वथ[8] गान्धार्याः सञ्चरश्च विधीयते ॥ १३६ ॥

गान्धार[2]-पंचमी में अंश स्वर पंचम होता है, पंचम और ऋषभ अपन्यास स्वर होते हैं। गान्धार न्यास स्वर होता है। इसमें षाडव और औडव का रूप नहीं होता। इसमें पंचमी के समान स्वर-संगति होती है। इसमें गन्धार और पंचम का कर्मक साथ रहता है ॥ १३५–१३६ ॥

आन्ध्री—

ऋषभः[9] पञ्चमश्चैव गान्धारोऽथ निषादवान्।
चत्वारोऽशा भवन्त्यान्ध्रयाः[10] अपन्यासस्त एव च ॥ १३७ ॥

---

१. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७–(७३–७५)
२. तुलना—संगी० रत्ना० अ० १।७–(१०३–१०५)

---

१. दप्यत्र—क०, दस्याञ्च—ख०। २. पञ्चमस्यर्षभस्य च—क०।
३. चैव कार्यमल्पश्च सप्तमः—क०, ख०। ४. पञ्चमांशः—ग०।
५. अस्मादनन्तरं—तारगत्या तु षड्जोऽपि कदाचिन्नातिवर्तते—इति पद्यार्धं क—पुस्तके अधिकम्।
६. ऋषभः पञ्चमश्चैव—क०।
७. न्यासश्चैव तु गान्धारो सा च पूर्णस्वरा तदा—क०, न्यासश्चात्र तु गान्धारः स च पूर्णस्वरोभवेत्—ख०।
८. पञ्चम्या यश्च गान्धार्याः सञ्चारः स विधीयते—क०, गान्धारपञ्चमाभ्यां च सञ्चारोऽत्र विधीयते—ख०।
९. पञ्चमश्चार्षभश्चैव—क०। १०. न्त्यान्ध्यामपन्यासा—क०।

गान्धारश्च भवेन्न्यासो षड्जापेतश्च[1] षाडवम् ।
गान्धारर्षभयोरत्र[2] सञ्चारः[3] स्यात् परस्परम् ॥ १३८ ॥
षष्ठसप्तमयोश्चात्र[4] न्यासो गत्यनुपूर्वशः ।
षड्जस्य लङ्घनं चात्र[5] नास्ति चौडवितं तथा[6] ॥ १३९ ॥

'आन्ध्री'[1] में ऋषभ, पंचम, गान्धार और निषाद अंश-स्वर और अपन्यास स्वर होते हैं। गान्धार न्यास स्वर होता है तथा षड्ज के लोप से षाडवावस्था बनती है। गान्धार और ऋषभ तथा धैवत और निषाद की [2]परस्पर संगति रहती है। षड्ज इसमें लोप्यस्वर (लंघनीय स्वर) होता है और औडव दशा इसमें नहीं होती ॥ १३७–१३९ ॥

नन्दयन्ती—

नन्दयन्त्याः भवत्यंशः[7] पञ्चमो नित्यमेव तु ।
स्यातामस्यामुपन्यासो[8] मध्यमः पञ्चमस्तथा[9] ॥ १४० ॥
षाडवं[10] षड्जहीनं तु लङ्घनीयः स एव तु ।
[11]आन्ध्रीवत्सञ्चरो नित्यमृषभस्य च लङ्घनम् ॥ १४१ ॥
तत्र मन्द्रगतिः प्रोक्ता नित्यं गानप्रयोक्तृभिः ।
तारगत्याथ[12] षड्जस्तु कदाचिन्नातिवर्तते ॥ १४२ ॥
गान्धारश्च[13] ग्रहः कार्यस्तथा न्यासश्च नित्यशः ।

---

१. तुलना—सङ्गी० रत्ना० अ० १।७–(१०५–१०७)
२. तुलना—सङ्गी० रत्ना० अ० १।७–(१०७–१०६)

---

१. षड्जोपेतं—ख० । २. गान्धारषड्जयोरत्र—ग०, घ० ।
३. सञ्चारस्तु—क०, ख० ।
४. सप्तमस्य च षष्ठस्य—क०, सप्तमस्य च षड्जस्य—ख० ।
५. कार्यं—ख० । ६. सदा—क० ।
७. क्रमान्न्यासापन्यासांशाः प्रकीर्तिताः—क०, क्रमान्न्यासस्त्वपन्यासोंऽश एव च—ख० । ८. गान्धारो मध्यमश्चैव पञ्चमश्चैव नित्यशः—क०, ख० ।
९. अस्मादनन्तरं क-पुस्तके—षड्जो लोप्यश्च लङ्घ्यश्च नान्ध्रीसञ्चरणं भवेत्—इति श्लोकार्धमधिकम् ।
१०. षड्जनांशो लंघनीय आन्ध्रीसञ्चार इष्यते—ख० ।
११. लङ्घनंऋषभस्यापि तच्च मन्द्रगतं स्मृतम्—क०, ख० ।
१२. तारगत्या तु षड्जः स्यात्—ख० । १३. गान्धारो वा—क० ।

'नन्दयन्ती' में पंचम सदा अंश स्वर रहता है। मध्यम और पंचम अपन्यास स्वर होते हैं। षड्ज-हीन अवस्था का षाडव स्वर होता है और षड्ज-स्वर लंघनीय होता हैं। इसमें स्वर संचार आन्ध्री के समान होता है तथा प्रयोक्ता ऋषभ तक मन्दगमन चाहते हैं। इसमें षड्ज तारस्थिति में रहता है और वह कभी भी नीचा नहीं होता। इसमें गान्धार ग्रह और वही न्यास-स्वर भी होता ॥ १४०–४२ ॥

कार्मारवी—

कर्मारव्या भवन्त्यंशा[1] पञ्चमर्षभधैवताः ॥ १४३ ॥
निषादश्चेति[2] चत्वारो ग्रहाश्च परिकीर्तिताः।
एत[3] एव ह्यपन्यासा न्यासः पञ्चम इष्यते ॥ १४४ ॥
हीनस्वर्यं न चात्र स्यादनंशा बलिनस्तथा।
गान्धारस्य[4] विशेषेण सर्वतो गमनं भवेत् ॥ १४५ ॥

'कार्मारवी'[1] में ऋषभ, पंचम, धैवत और निषाद अंश और अपन्यास स्वर होते हैं। न्यास स्वर पंचम है। इसमें कोई भी स्वर कम नहीं होता, यह सम्पूर्ण जाति है। गान्धार की यहाँ विशेषरूप में सभी स्वरों के साथ संगति होती है ॥ १४३–१४५ ॥

कैशिकी—

कैशिक्यास्तु भवन्त्यंशाः[5] सर्वे चर्षभवर्जिताः।
एत एव ह्यपन्यासा न्यासौ गान्धारसप्तमौ ॥ १४६ ॥
धैवतेऽशे निषादे च न्यासः पञ्चम इष्यते।
दौर्बल्यमृषभस्यात्र[6] लङ्घनञ्च विशेषतः ॥ १४७ ॥
अपन्यासः[7] कदाचिच्च ऋषभोऽपि भवेदिह।

---

१ तुलना—सङ्गी० रत्ना० अ० १।७–(१०१–१०३)

---

१. स्मृता ह्यंशाआर्षभः पञ्चमस्तथा—क०।

२. धैवतश्च निषादश्चाप्यपन्यासास्त एव च—क०, ख०।

३. पञ्चमश्च भवेन्न्यासो हीनस्वर्यं न चात्र तु—क०।

४. इतः पूर्वं—अनंशा बलवन्तस्तु नित्यमेव प्रयोगतः—इति क (ज०) पुस्तके अधिकम्।

५. तथा ह्यंशाः सर्वे चैवार्षभं बिना—क०, कैशिक्यांशास्तु विज्ञेयाः स्वराः सर्वेऽर्षभं विना—ख०।

६. दौर्बल्यञ्चर्षभञ्चास्या—ग०।

७. अपन्यासत्वमङ्गत्वं बाहुल्यञ्च कदाचन—ख०।

ऋषभः[1] षाडवे हीनो धैवतश्चर्षभं विना ॥ १४८ ॥
तथा चोडवितं कार्यं बलिनौ चाद्यपञ्चमौ[2] ।
षड्जमध्यावदत्रापि[3] सञ्चारस्तु विधीयते[4] ॥ १४९ ॥

'कैशिकी' में ऋषभ को छोड़कर शेष सभी अंश स्वर हैं और ये ही अपन्यास स्वर हैं। इसमें गान्धार और निषाद (सप्तम) न्यास[1] स्वर हैं। धैवत और निषाद के अंश स्वर होने पर कभी पंचम न्यास और ऋषभ 'अपन्यास' भी हो जाता है। ऋषभ के लोप से षाडव और धैवत, ऋषभ के लोप से औडव रूप होता है। इसमें पंचम और निषाद (अन्त्य) बली होते हैं और ऋषभ स्वर दुर्बल तथा लंघनीय होता है। इसमें स्वर संचार षड्जमध्यमा के समान होता है ॥ १४६–१४९ ॥

एवमेता बुधैर्ज्ञेया जातयो दशलक्षणाः ।
स्वैः[5] स्वैश्च करणैर्योज्याः पदेष्वभिनयैरपि ॥ १५० ॥
आसामिदानीं वक्ष्यामि रसभावविकल्पनम् ।
कार्या[6] यस्मिन् रसे याश्चताश्च मे सन्निबोधत ॥ १५१ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे [7]आतोद्यविधिर्नाम अष्टाविंशोऽध्यायः ।

इस प्रकार लक्षणों से युक्त जातियों का मैंने वर्णन किया। इनकी अभिनय, पदों और उन उन करणों में औचित्यानुसार संयोजना की जाए। अब मैं (अगले अध्याय में) इनका रस और भावों में होने वाला विधान बतलाता हूँ कि किस रस में किस प्रकार इनका तात्विक संयोजन किया जाय ॥ १५०–१५१ ॥

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र के आतोध विधानान्तर्गत जाति-स्वर-लक्षणाध्याय की प्रदीप हिन्दी व्याख्या सम्पूर्ण ।



---

१. तुलना—सङ्गी० रत्ना० अ० १।७–(०५–६८) ।

१. आर्षभे षाडवं चात्र धैवतर्षभवर्जितम्—क०, ख० ।

२. षड्जपञ्चमी—ख० ।

३. इतः पूर्वं-क-पुस्तके-दौर्बल्यमृषभस्यात्र लङ्घनञ्च विशेषतः ।
अंशवत् कल्पितश्चान्यैः षाडवे तु विधीयते । इति श्लोकोऽधिकः ।

४. भवेदिह—क०, ख० ।   ५. श्लोकोऽयं ग—पुस्तके नास्ति ।

६. यथा यस्मिन् रसे याश्च गदतो मे निबोधत—ग०, यथा यस्मिन् रसे यश्च तत्वं मे सन्निबोधत—ख० ।

७. जातिविकल्पनं नाम—क०, जातिलक्षणोनाम—ख० ।

अथ एकोनत्रिंशोऽध्यायः

षड्जग्रामाश्रित जातियों का रस-विधान[1]

षद्जोदीच्यवती[1] चैव षड्जमध्या[2] तथैव च ।
मध्यपञ्चमबाहुल्यात्[3] कार्यं[4] श्रृङ्गारहास्ययोः ॥ १ ॥

षड्जोदीच्यवा और षड्जमध्यमा जाति का श्रृंगार और हास्य-रस में मध्यम[2] और पंचम स्वर की बहुलता के साथ प्रयोग किया जाय ॥ १ ॥

षाड्जी[5] त्वथार्षभी चैव षड्जर्षभग्रहस्वरात्[6] ।
वीररौद्राद्भुतेष्वेते[7] प्रयोज्ये गानयोक्तृभिः ॥ २ ॥

आर्षभी और षाड्जी जाति का षड्ज और ऋषभ स्वर की बहुलता के द्वारा वीर, अद्भुत और रौद्र रस में प्रयोग किया जाय ॥ २ ॥

---

१. नाट्यप्रयोग में गान का समावेश मुख्यतः रसोद्भव के उद्देश्य से ही किया जाता है। इस कार्य के लिये अंगभूत रहने के कारण भरत मुनि ने जातियों का प्रयोग यहाँ बतलाया। इसका कारण है कि जातियाँ अपने विशिष्ट अंशस्वर के कारण रसोद्भव को संभव बनाती हैं। मुनि का मत है कि जिस जाति के अंश स्वर से जिस जाति की पुष्टि होती हो तो नाट्य में उस रस के परिपोष हेतु उसी जाति का गान करना उचित है। विभिन्न स्वरों से प्रकट होने वाले रसों की प्रतीति या अनुभूति तभी संभव है जब तदनुकूल नियमित गान तथा वादन की योजना नाट्यनिर्देशक करे। अंश विशिष्ट स्वरों का नियमानुकूल गायन करने पर रसोद्भव होता है तथा जो जातियों के अन्तर्स्थित रहता है।

२. यहाँ जिन स्वरों का जातियों में प्रयोग दिखलाया गया है, ये उन उन जातियों के अंश स्वर हैं, जिनका विवरण उन उन जातियों के निरूपण के अवसर पर पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

---

१. षड्जोदीच्यकरं—ख०।   २. बहुमध्यं—ख०।
३. षड्जमध्यम—ग०।   ४. कायो—क०।
५. आर्षभी चैव षाड्जी च—ग०।
६. स्वस्वरांशपरिग्रहात्—क०, स्वरांशपरितः स्पृहात्—ख०।
७. वीराद्भुते च रौद्रे च निषादाङ्गपरिग्रहात्—ग०।

निषादांशे[1] च नैषादी गान्धारे षड्जकैशिकी ।
करुणे[2] च रसे कार्या जातिर्गानविशारदैः ॥ ३ ॥

षड्ज-कैशिकी जाति का निषाद और गान्धार अंश-स्वर की बहुलता के साथ करुण-रस में प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ ३ ॥

धैवती धैवतांशे[3] च बीभत्से सभयानके ।
धैवती[4] करुणे योज्या चोन्मादे षड्जमध्यमा ॥ ४ ॥

धैवती जाति का धैवत अंश स्वर के द्वारा वीमत्स और भयानक रस में प्रयोग किया जाए तथा धैवतीजाति की षड्ज और मध्यम अंश स्वर के द्वारा उन्माद एवं करुण-रस में योजना की जाय ॥ ४ ॥

ध्रुवाविधाने कर्त्तव्या जातिर्गानप्रयोक्तृभिः[5] ।
रसं[6] कार्यमवस्थाञ्च ज्ञात्वा नाट्ये[7] प्रयत्नतः ॥ ५ ॥

इन जातियों और स्वरों की प्रयत्नपूर्वक ध्रुवाविधान और गान (जाति-गान) में रस, कार्य और अवस्था के अनुसार योजना की जाय ॥ ५ ॥

षड्जग्रामाश्रिता ह्येता विज्ञेया[8] जातयो बुधैः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि [9]मध्यमग्रामसंश्रयाः ॥ ६ ॥

ये उपर्युक्त जातियाँ षड्जग्राम में होनेवाली बतलाई गई हैं । अब मैं मध्यमग्राम में होनेवाली जातियाँ बतलाया हूँ ॥ ६ ॥

---

१. ग–पुस्तके एतस्य श्लोकस्य स्थाने—गान्धार्यंशोपत्या च करुणे-षड्जकैशिकी इति पद्यार्धं समुपलभ्यते । निषादवत्यद्भुते च निषाद्वांशग्रहात्—क (म) । गान्धारांशोपत्या च करुणे षड्जकैशिकी —क (म) ।

२. गान्धारांशोपपत्या च करुणे षड्जकैशिकी–क (म) ।

३. ताशा च—ग०, घ० ।

४. पद्यार्धमेतत् क०–ग०–पुस्तकयोर्नास्ति ।

५. जातिर्गाने प्रयत्यतः—क०, जातिजाने…—ख० ।

६. एतत्पद्यार्धं ख० पुस्तके नास्ति ।

७. योज्या प्रयोक्तृभिः—क० (म०) ।

८. ह्येताः प्रयोज्या—क., ख. ।

९. मध्यमग्रामसंमाश्रयाः—क(म), ग० ।

मध्यम-ग्रामाश्रित जातियों का रस विधान—

गान्धारी रक्तगान्धार्योर्गान्धारांशोपपत्तितः[1]।
करुणे तु रसे कार्यो[2] निषादेंऽशे तथैव च ॥ ७ ॥
मध्यमा पञ्चमी चैव नन्दयन्ती तथैव च।
गान्धारपञ्चमी[3] चैव मध्यमोदीच्यवा तथा ॥ ८ ॥
मध्यपञ्चम[4] बाहुल्यात् कार्या शृङ्गारहास्ययोः।

गान्धारी और रक्तगान्धारी जाति की गान्धार अंश स्वर के साथ करुण-रस में (जातिगान में) योजना करनी चाहिए तथा गान्धारपंचमी और मध्यमोदीच्यवा, मध्यमा, पंचमी और नन्दयन्ती जाति को मध्यम और पंचम स्वर की बहुलता के साथ शृंगार और हास्य रस में प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ७–८ ॥

कार्मारवी तथा चान्ध्री गान्धारोदीच्यवा[5] तथा ॥ ९ ॥
वीरे[6] रौद्रेऽद्भुते कार्या षड्जर्षभांशयोजिताः।

कार्मारवी, आन्ध्री और गान्धारोदीच्यवा जाति को षड्ज और ऋषभ अंश स्वर की बहुलता के साथ वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस में प्रयुक्त करना चाहिए ॥ ९ ॥

कैशिकी[7] धैवतांशा स्याद् तथा गान्धारपञ्चमी।
प्रयोक्तव्या बुधैः सम्यक् बीभत्से सभयानके ॥ १० ॥

कैशिकी जाति को धैवत अंश स्वर की बहुलता के साथ बीभत्स और भयानक रस में प्रयुक्त करना चाहिए ॥ १० ॥

---

१. गान्धार्यौं—क०। २. जातिगाने प्रयोक्तृभिः—क (म०)।

३. मध्यमोदीच्यवा चैव गान्धारोदीच्यवा तथा—क (म०), ग०।

४. श्लोकार्धमेतत्-मध्यमा पञ्चमीत्यादि श्लोकार्धानन्तरं–क (म) पुस्तके प्राप्यते। मध्यमपञ्चमबाहुल्यादित्यादि पद्यार्धानन्तरं—षड्जर्षभांशनिष्पत्या कर्तव्ये वीररौद्रयोरिति पद्यार्धं संदृश्यते।

५. निषादांशोपपत्तितः—क० (म०), ग०।

६. अद्भुते तु रसे कार्ये जातिगाने प्रयोक्तृभिः—क० (म०), ग०।

७. कैशिकी धैवतांशा स्यात् बीभत्से सभयानके—इति पद्यार्धमात्रं श्लोकस्थाने—ख० पुस्तके लभ्यते।

एकैव षड्जमध्या ज्ञेया सर्वरससंश्रया[1] जातिः ।
तस्या ह्यंशाः सर्वे स्वरास्तु[2] विहिता प्रयोगविधौ ॥ ११ ॥

केवल एक षड्जमध्यमा जाति है जिसे सभी रसों में अंश स्वरों के साथ प्रयुक्त किया जाए। इसमें सभी स्वर अंश-स्वर के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं[1] ॥ ११ ॥

यो यदा बलवान् तस्मिन् स्वरे जातिसमाश्रयात्[3] ।
तत्प्रयुक्ते रसे गानं कार्यं गेये[4] प्रयोक्तृभिः ॥ १२ ॥

जाति के आश्रित जो स्वर अधिक शक्ति शाली हो उस स्वर के प्रयोग (करने के) योग्य रस को गान दशा में प्रयुक्त करना चाहिए ॥ १२ ॥

मध्य-पञ्चमभूयिष्ठं गानं[5] शृङ्गारहास्ययोः ।
षड्जर्षभप्रायकृतं वीररौद्राद्भुतेषु च ॥ १३ ॥
गान्धार[6]सप्तमप्रायं करुणे गानमिष्यते ।
तथा धैवतभूयिष्ठं बीभत्से सभयानके ॥ १४ ॥

(जैसे)[2] मध्यम और पंचम स्वर की बहुलता होने पर हास्य और शृंगार-रस; षड्ज और ऋषभ स्वर की बहुलता रहने पर वीर, रौद्र और अद्भुतरस; गान्धार और निषाद की बहुलता में करुण-रस तथा धैवत की बहुलता में बीभत्स और भयानक रस प्रयुक्त किये जाएँ ॥ १३–१४ ॥

---

१. समस्त जातियों में षड्जमध्यमा जाति का रस की दृष्टि से विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसमें प्रयोग के अनुसार सभी स्वरों का अंशभूत रहने के कारण यह सभी रसों की पोषिका जाति मानी गयी है।

२. जाति के इस रस विवरण से स्पष्ट है कि एक ही स्वर भिन्न-भिन्न रसों में प्रयुक्त किया जा सकता है तथा कुछ स्वरयुगल विशिष्ट रस की परिपुष्टि करते हैं। जैसे—षड्ज अंशस्वर शृङ्गार एवं हास्य के लिये प्रयुक्त किया जाता है किन्तु आर्षभी एवं षाड्जी जाति में यही वीर, अद्भुत तथा रौद्र जैसे रसों को भी पुष्ट करता है।

---

१. सर्वरसासंश्रया—ग०; रसाश्रया—क० (म०)।
२. रसास्तु—क (म०)   ३. जातिसमाश्रया—ख०।
४. गेयप्रयोक्तृभिः—क(म०)।
५. हास्यशृङ्गारयोर्भवेत्—क (म०)।
६. गान्धारः सप्तमश्रायं—क०।

सर्वेष्वंशेषुरसा[1] नियमोक्तविधानेन सम्प्रयोक्तव्याः।
काकल्यन्तरविहिता विशेषयुक्तास्तु बलवन्तः॥ १५॥

सभी अंश स्वरों में नियमतः (विधानानुसार) रसों का प्रयोग काकली व अन्तर स्वर के विधान और बलवान् स्वरों के विशेष योग द्वारा किया जाए॥ १५॥

एवमेता बुधैर्ज्ञेया जातयो [2]रससंश्रयाः।
वाद्य[3]प्रयोग विहितान् स्वराँश्चैव[4] निबोधत॥ १६॥

इस प्रकार रसों की आश्रित जातियों का स्वरूप बतलाया गया। अब मैं वाद्य प्रयोग में होने वाले स्वरों का रसाश्रित विधान बतलाता हूँ॥ १६॥

रसाश्रित स्वर-विधान—

हास्यशृङ्गारयोः[5] कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ।
षड्जर्षभौ च कर्त्तव्यौ वीररौद्राद्भुतेष्वथ॥ १७॥
गान्धारश्च निषादश्च कर्त्तव्यौ[6] करुणे रसे।
धैवतश्च प्रयोक्तव्यो[7] बीभत्से सभयानके॥ १८॥

हास्य और शृंगार रस में मध्यम और पंचम स्वर विहित हैं, वीर, रौद्र तथा अद्‌भुत रसों में षड्ज और ऋषभ स्वर विहित हैं।

करुण रस में गान्धार और निषाद स्वर विहित हैं तथा भयानक और बीभत्स रस में धैवत स्वर विहित हैं॥ १७–१८॥

वर्ण, अलंकार तथा उनके विभेद—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वर्णालङ्कार[8]लक्षणम्।
आरोही चावरोही च स्थायिसञ्चारिणौ तथा॥ १९॥
वर्णाश्चत्वार एवैते ह्यलङ्कारास्तदाश्रयाः।

---

१. रसा नियमविधानेन—क० ग०, नियतविधानेन—क (म०); तत्र यथास्वरनियमादेतेषु रसा बुधैः प्रयोक्तव्याः—क (र)।

२. नाट्यसंश्रया—क०, ख०।

३. पाठ्यप्रयोग—क०।

४. स्वरांश्चापि—क०।

५. कार्यौ शृङ्गारहास्याख्यौ स्वरैर्मध्यमपञ्चमैः—क (र)।

६. करुणे संविधीयते—क० (र)। ७. प्रयोगज्ञै—क०।

८. वर्णानामथ—क (भ०)

अब मैं वर्ण[१] तथा अलंकारों के लक्षण बतलाता हूँ। ये स्वर या वर्ण चार हैं। आरोही, अवरोही, स्थायी तथा संचारी व अलङ्कार इन्हीं वर्णों पर आश्रित होकर रहते हैं ॥ १९ ॥

आरोहन्ति[१] स्वरा यत्र[२] आरोहीति स भण्यते ॥ २० ॥
यत्र[३] चैवावरोहन्ति [४]सोऽवरोहीति संज्ञितः।
स्थिरा[५] स्वरा समा यत्र स्थायी[६] वर्णः स उच्यते।
सञ्चरन्ति स्वरा[७] यत्र स सञ्चारीति [८]संज्ञितः ॥ २१ ॥

क्रमशः स्वरों का चढ़ाव होना 'आरोही' और इनका क्रमशः उतार होना 'अवरोही' कहलाता है। जहाँ स्वर सम अवस्था में स्थिरत्व युक्त रहे उसे स्थायी-वर्ण कहते हैं तथा स्वरों के (स्वयं) संचार दशा में होने पर उनकी संचारी (स्वर) संज्ञा हो जाती है ॥ २०-२१ ॥

---

१. वर्ण एवं अलङ्कारों का स्थान नाट्यप्रयोगों में जितना पाठ्य में महत्वपूर्ण है उतना ही गेय में भी। पाठ्य (विषय) का विवरण नाट्यशास्त्र के द्वितीयभाग के अध्याय १९ में विस्तार से दिया जा चुका है तथा इसके वर्ण एवं अलङ्कारों का भी वहीं विवेचन किया जा चुका है। संगीत के सन्दर्भ में 'वर्ण' समस्त जातियों का शरीर माना गया है। इसीकारण नान्यदेव ने— 'वर्णा एव हि जातीनां देहा इत्यभिधीयते' (भ० भा० ५।१) कहा है। 'वर्ण' का यहाँ स्वरूप भी विशिष्ट है। मतङ्ग ने-'वर्णशब्देन गानमुच्यते' कह कर उस गान क्रिया में जो विविध अलङ्कारों की आश्रयभूत होती हो, 'वर्ण' संज्ञा दी। इसी आशय को शार्ङ्गदेव ने भी-'गानक्रियोच्यते वर्णः' (सं० र० १।६-१) कहा, जिसको सिंहभूपाल ने और भी स्पष्ट करते हुए —'स्वराणां वक्ष्यमाणप्रकारेण गानक्रिया गानकरणमुच्चारणमिति यावत्। सा वर्णशब्देनो-च्येत' कह कर और स्पष्ट किया। स्वरालापों के द्वारा गीत के पदों का आकर्षण या विकर्षण वर्णों का उद्देश्य भी होता है तथा उत्पादन भी करता है। इनका उपयोग अलङ्कारों में किया जाता है तथा जिसमें गीत के पदों को विविध स्वर गुच्छों में मण्डित करने की प्रक्रिया रखी जाती है।

---

१. आरुहन्ति—ख०। २. यत्रारोहीति स संज्ञितः—क०।
३. अवरोहन्ति ते यत्तु—क (र)।
४. सोऽवरोही प्रकीर्तितः—क०।
५. स्थिरस्वरा—ग०। ६. स्थायिवर्णः स संज्ञितः—ग०।
७. स्वयं—ग०। ८. कीर्तितः—क, ख०।

वर्ण—

शारीरस्वरसम्भूतस्त्रिस्थानगुणगोचराः ।
चत्वारो लक्षणोपेताः वर्णा[1] ह्येते प्रकीर्तिताः ॥ २२ ॥

शरीर से उत्पन्न होने वाले तथा तीन स्थानों (हृदय, कंठ और मस्तक) से अपने स्वरूपगत गुणों के प्रकट करने वाले चार लक्षणों से युक्त रहने वाले 'वर्ण' कहलाते हैं ॥ २२ ॥

पदं[2] लक्षणसंयुक्तं यदा वर्णो[3] तु कर्षति ।
तदा वर्णस्य निष्पत्ति [4]र्विज्ञेया स्वरसम्भवा ॥ २३ ॥

इस प्रकार के लक्षणों वाले पदों को जब 'वर्ण' खींचते हैं, तब स्वरों से उत्पन्न होनेवाले वर्णों की उत्पत्ति समझना चाहिए ॥ २३ ॥

एते वर्णास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो [5]गानयोगतः ।
एतान्[6] समाश्रितान् सम्यगलङ्कारान्निबोधत ॥ २४ ॥

गीत में होने वाले ये चारों 'वर्ण' हैं। अब इन्हीं का आश्रय लेनेवाले अलंकारों के स्वरूप को बतलाता हूँ ॥ २४ ॥

स्थायी वर्णाश्रित अलंकार—

प्रसन्नादिः[7] प्रसन्नान्तः प्रसन्नाद्यन्त एव च ।
प्रसन्नमध्यश्च समो[8] बिन्दुर्वेणुस्तथैव च[9] ॥ २५ ॥
सन्निवृत्त[10] प्रवृत्तश्च कम्पितः कुहरस्तथा ।
रेचिताख्यस्तथा चैव प्रेङ्खोलितक एव च ॥ २६ ॥

---

१. वर्णास्तत्र क० ।   २. एवं—ख० ।

३. वर्णोऽनुकर्षति—क० ।

४. ज्ञेया स्वरसमुद्भवा—क; विज्ञेया रससंभवा—ख०, घ० ।

५. गीतयोजकाः—क०, ख० ।

६. एतानेवाश्रितान् भूयोऽलङ्कारान्—ख०, क० (भ०) ।

७. वर्णानामुद्देशो भिन्नपाठतया बहुभेदो लक्ष्यते ।

८. तथा क्रमरेचित एव च—क०, ख०, समेऽन्यस्थिर एव च—ग० ।

९. इतोऽग्रे-क० ख० पुस्तकयोश्च—प्रेस्तारश्च प्रसादश्च सप्तैते स्थायिवर्णगाः क, स्थायिवर्णसमाश्रयाः—ख० इति श्लोकार्धमात्रं समुपलभ्यते । इतोऽग्रे श्लोकषट्कम् तु—ग० घ० पुस्तकानामनुरोधान्निवेशितम् ।

१०. स्यान्निवृत्तिः प्रवृत्तिश्च—क (म), ग० ।

मन्द्रतारप्रसन्नश्च तारमन्द्रप्रसन्नतः[1] ।
प्रस्वारश्च[2] प्रसादश्च तथोद्वाहित एव च ॥ २७ ॥
अवलोकितः[3] क्रमश्च स्यात् निष्कूजितक एव च ।
उद्गीतो ह्लादमानश्च रञ्जितश्च तथा परः ॥ २८ ॥
आवर्तकाख्यो विज्ञेयः परिवर्तक एव च ।
उद्घरितस्तथाक्षिप्तः सम्प्रदानं[4] तथा परः ॥ २९ ॥
हसिताख्योऽथ हुङ्कारः सन्धि प्रच्छादनस्तथा ।
विधूनाख्य[5]स्तथा ज्ञेयो गात्रवर्णस्तथैव च[6] ।
प्रस्तारश्च प्रसादश्च स्थायिवर्णसमाश्रयाः ॥ ३० ॥

स्थायी[1] वर्णाश्रित अलंकार हैं—प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्नमध्यसम, बिन्दु, वेणु, सन्निवृत्ति, प्रवृत्त, कम्पित, कुहर, रेचित, प्रेंखो-

---

१. गीत के अलंकारों का निर्माण चतुर्विध वर्णों पर आधारित होता है अतः भरत ने वर्णों के अनुरूप ही अलंकारों के प्रयोग का विधान उपयुक्त दशा में करने का निर्देश दिया है। इन अलंकारों की भरत सम्मत संख्या ३३ है जिसे उनने स्वयं ही 'अलङ्कारास्त्रयस्त्रिंशदेवमेते मयोदिताः' (२९।७४) बतलाया, किन्तु भरतभाष्य के कर्त्ता नान्यदेव के मत में अलङ्कारों की संख्या चालीस है। इनके अनुसार आरोही १४, अवरोही ५, स्थायी ७ तथा संचारी १४ कुल मिलाकर ४० अलङ्कार हैं। शार्ङ्गदेव ने इसीक्रम में स्थायी ७, आरोही १२, अवरोही १२, संचारी २५ तथा अन्य ७ मानते हुए सभी का योग ६३ माना है। नाट्यशास्त्र के पाठभेद आदि के कारण अलंकारों के कुछ नाम प्रकारान्तर से प्राप्य है। मतङ्ग ने भरत का मत दिखलाकर तेंतीस अलंकारों के (सही तालिका दी है। इन अलङ्कारों को उत्तरकाल में वर्णालङ्कार, स्वरालङ्कार या मूर्च्छनालङ्कार के रूप में दिखलाया गया है जो गीतों में आधार बनाते हैं। स्थायीवर्ण के इन अलङ्कारों का सम्बन्ध ध्वनि के छोटे

---

१. प्रसन्नकः—क (म)।
२. प्रस्वादश्च—क (म); प्रसारश्च—ग०।
३. अवलोकितस्ततश्चैव—क (म); ग०।
४. सम्प्रदानस्तथाऽपरः—(म); सम्प्रदानं तदा परः—ग०।
५. विधूननाख्यश्च तथा—क० (भ०)।
६. अतः परं क० ख० पुस्तकयोः पुनः 'प्रसन्नादिः प्रसन्नान्त' इत्यादि पद्यं समुपलभ्यते तन्तु पुनरुक्तत्वान्न निवेशितम्।

लित, मन्द-तार-प्रसन्न, प्रस्तार, प्रसाद, उद्वाहित, अवलोकित, निष्कूजितक, उद्गीत, ह्लादमान, रञ्जित, आवर्तक, परिवर्तक, उद्घट्टितक, आरक्षित, सम्प्रदान, हसित, हुंकार, सन्धि-प्रच्छादन, विधून (अथवा विधम्) गात्रवर्ण, प्रस्तार तथा प्रसाद ॥ २५–३० ॥

संचारी वर्णाश्रित अलंकार—

अथ सञ्चारिजान्[1] भूयः कीर्त्यमानान् निबोधत।
मन्द्रतारप्रसन्नादि[2] बिन्दुः प्रेङ्खोलितस्तथा ॥ ३१॥
[3]सन्निवृत्तप्रवृत्तश्च रेचितः कम्पितः समः।
[4]कुहरश्चैव वेणुश्च रञ्जितो ह्यवलोकितः।
[5]आवर्तकपरावृत्तौ ज्ञेया [6]सञ्चारिणस्तथा ॥ ३२ ॥

संचारी (वर्णाश्रित) अलंकार हैं—मन्द्रतार, प्रसन्नादि, बिन्दु, प्रेंखोलित, संनिवृत्त, प्रवृत्तक, रेचित, कम्पित, सम कुहर, (कुहर ?) वेणु, रंजित अवलोकित, आवर्तक तथा परावृत ॥ ३१–३२ ॥

आरोही (अलंकार)—

[7]निष्कर्षोऽत्युच्चयश्चैव हसितं बिन्दुरेचितम्।
प्रेंखोलितं तथाक्षिप्तं विधूनो[8]द्घट्टितं तथा ॥ ३३ ॥
ह्लादमानः[9] सम्प्रदानं सन्धिप्रच्छादनन्तथा।
प्रसन्नादिः प्रसन्नान्त इति[10] चारोहिणः स्मृताः ॥ ३४ ॥

या बड़े करने से है, स्वर की उच्च या नीच स्थिति से नहीं है। यह छोटा या बड़ापन ध्वनि का छोटे या मोटे गले के कारण होगा जिसे सभी अनुभवी संगीतज्ञ जानते हैं।

---

१. सञ्चारितान्—ख०।
२. मन्द्रस्तथा—क०, ख०, मन्द्रतारः प्रसन्नश्च—ग०।
३. तारमन्द्रप्रसन्नश्च सन्निवृत्तप्रवृत्तकः—ग०।
४. कुदर (?) श्चैव—ख०।
५. आवर्तिकः परावृत्त—क०; आवर्तितः परावृत्तौ—ख०।
६. सञ्चारिण्यश्चतुर्दश—क०।
७. निष्कर्षोऽभ्युच्चय—क०; निष्कूजितः सहुङ्कारः—क (म), घ०।
८. विस्तीर्णोद्घट्टितस्तथा—क, विधूमोद्वहिते—क (म०), विस्तीर्णो द्वयालित—ख०। ९. विस्पन्दमाना सम्प्रदानः—ख०।
१०. इत्यारोहे त्रयोदश—क, इति चारोहिजाः स्मृताः—क० (म)।

तथा निष्कर्ष, अत्युच्चय, हसित, बिन्दु, रेचित, प्रेंखोलित, आक्षिप्त, विधून, उद्घट्टित (विस्तीर्ण, उद्वाहित) ल्हादमान, सम्प्रदान, सन्धि, प्रच्छादन, प्रसन्नादि तथा प्रसन्नान्त आरोही (अलंकार) होते हैं ॥३३–३४॥

अवरोही (अलंकार)—

विधूनो[1] गात्रवर्णश्च तथोद्वाहित एव च ।
उद्गीतश्च[2] तथा वेणुरित्येते[3] ह्यवरोहिणः ॥ ३५ ॥

और विधून, गात्रवर्ण (त्रिवर्ण) उद्वाहित (उद्घट्टित), उद्गीति तथा वेणु, (वेगि) ये पांच अवरोही (अलंकार) होते हैं ॥ ३५ ॥

सप्तरूपगता ज्ञेया अलङ्कारास्त्विमे बुधैः ।
नेष्यन्ते[4] हि ध्रुवास्वेते जातिवर्णप्रकर्षणात्[5] ॥ ३६ ॥

बुधजन इन्हें सप्तरूप[1] को प्राप्त करनेवाले गीतों के अलंकार समझें । ये वर्णों के तथा जातियों के अधिक कर्षण (खींच) के कारण ध्रुवाओं में उपयोगी नहीं होते हैं ॥ ३६ ॥

बिन्दुर्वापि[6] हि वेणुर्वा ये चान्येऽपि प्रकीर्तिताः ।
ते ध्रुवाणां प्रयोगेषु[7] न कार्या स्वप्रमाणतः ॥ ३७ ॥
यस्मादर्थानुरूपा हि ध्रुवा [8]कार्यार्थदर्शिका ।

---

१. सप्तगीतो का विवरण ना० शा० ३१।२२०–२२१ पर है । इनके नाम हैं मद्रक, ओवेणक, अपरान्तक, प्रकरी, उल्लोप्यक, रोविन्दक तथा उत्तर । ये प्राचीनतम गीत माने जाते हैं । ध्रुवाएँ भी इसी कारण प्राचीन काल की गीतियों में एक विशिष्ट रूप में प्रचलित थी और एक प्रकार मानी जाती थी ।

---

१. विधूतश्च त्रिवर्णश्च—क०, विधूमो—ग० ।

२. ऊहितश्च तथा वेणि—ख० ।

३. विज्ञेया ह्यवरोहिणः—क०; पञ्चैते ह्यवरोहिमतः—क (ज) ।

४. नैते सर्वे ध्रुवास्विष्टाः श्रुतिवर्णप्रकर्षणात्—क०, नैतेऽस्माकं ध्रुवास्विष्टा अतिवर्ण-प्रकर्षणैः—ख० ।

५. अस्मादनन्तरं—न हि वर्णप्रकर्षस्तु ध्रुवाणां सिद्धिरिष्यते । इति पद्यार्धमधिकम् ।

६. श्येनो चाप्यथवा बिन्दुर्ये चान्येऽतिप्रकर्षिणः—क० ।

७. प्रयोगे तु कार्या ह्यारोहिणः स्वराः—ख० ।

८. काव्यार्थ—ख० ।

और बिन्दु, वेणु तथा अन्य जो भी बतलाए गए हैं वे अपने प्रमाणानुसार ध्रुवाओं में प्रयुक्त नहीं होते। क्योंकि ध्रुवाएं[1] अपने अर्थानुरूप कार्य-या रचना की (गीत आदि के द्वारा) दर्शक होती हैं ॥ ३७–३८ ॥

वर्णानान्तु पुनः [1]कार्यं कृशत्वं [2]पदसंश्रयम् ॥ ३८ ॥
येऽत्र [3]प्रयोगे गच्छन्ति ताँश्च वर्णान् निबोधत ।

परन्तु पदों का आश्रय लेनेवाले वर्णों का कर्षण (आकर्षण, खींचना) किया जाए। अब मैं उन (प्रयोग किये जानेवाले) वर्णों को बतलाता हूँ या जिनका यहाँ सामान्यतः प्रयोग होता है ॥ ३८–३९ ॥

अलंकारों का स्वरूप तथा प्रयोग-विधान—

प्रसन्नादिः प्रसन्नान्तः प्रसन्नाद्यन्त एव च ॥ ३९ ॥
तथा[4] प्रसन्नमध्यश्च बिन्दुः कम्पितरेचितौ ।
तारश्च[5] तारमन्द्रश्च तथा तारतरः पुनः ॥ ४० ॥
प्रेङ्खोलितस्तथा[6] मन्द्रो मन्द्रतारःसमस्तथा ।
स्यान्निवृत्त[7]-प्रवृत्तश्च प्रसादोऽपाङ्ग एव च ॥ ४१ ॥
अवलोकस्तथा[8] वेणुरित्येते सर्ववर्णगाः ।
स्थायि[9]वर्णादृते त्वन्ये सर्ववर्णाः प्रयोगिनः ॥
अत[10] ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वर्णालङ्कारलक्षणम् ॥ ४२ ॥

प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्नमध्य, बिन्दु, कम्पित, रेचित, तार, तारमन्द्र, तारतर, प्रेंखोलित, मन्द्र, मन्द्रतार, सम, निवृत्त, प्रवृत्त,

---

१. यहाँ पुनः ध्रुवाओं के विशिष्ट गीत प्रकार का संकेत दिया गया है।

---

१. नुमेः—ख। २. तु ध्रुवाश्रयम्—क (भ०)।

३. ये तु प्रयोगं—क (म०); यत्र प्रयोगे—ख०।

४. प्रसन्नमध्यमश्चैव—क०। ५. तारश्चैव हि मन्द्रश्च—क०।

६. प्रेङ्खोलितस्तारमन्द्रौ—क०, ...स्तथा तारमन्दस्तारसमस्तथा—क० (म०) ७. सन्निवृत्तः—क०।

८. ऊर्मिः प्रेङ्खोऽवलोकश्च इत्येते—क०।

९. स्थायिवर्णादृते चैषां सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम्—क, स्थायिवर्णा इवैतेषां ...लक्षणम्—क०।

१०. पद्यार्धमेतत् क-ख-पुस्तजकयोर्नास्ति।

प्रसाद, अपांग, अवलोक तथा वेणु ये सभी वर्णों में रहने वाले अलंकार होते हैं। अब मैं इन वर्णा अलंकारों के क्रमशः लक्षण बतलाता हूँ जिनका स्थायी वर्णों के अतिरिक्त सभी वर्णों के अलंकारों में[१] प्रयोग किया जाता है ॥ ३९-४२ ॥

क्रमशो[१] दीप्यते यस्तु प्रसन्नादिः स कथ्यते।
व्यस्तोच्चरित एवैष प्रसन्नान्तोऽभिधीयते[२] ॥ ४३ ॥

प्रसन्नादि—जो क्रमशः (धीरे-धीरे) उद्दीप्त ही (बढ़े) उसे 'प्रसन्नादि' कहते हैं।

प्रसन्नान्त—यदि इसे ही व्यस्तरूप में कहा जाए (अर्थात् विपरीत) तो 'प्रसन्नान्त' समझना चाहिए ॥ ४३ ॥

आद्यन्तयोः प्रसदनात्[३] प्रसन्नाद्यन्त इष्यते।
प्रसन्नमध्यो मध्ये तु [४]प्रसन्नत्वादुदाहृतः ॥ ४४ ॥

प्रसन्नाद्यन्त[२]—आदि और अन्त में जो प्रशमित होता जाए (प्रसदनात्) तो उसे 'प्रसन्नाद्यन्त' समझना चाहिए।

प्रसन्नमध्य—जो बीच मे प्रसन्न हो उसे 'प्रसन्नमध्य' समझो ॥ ४४ ॥

---

१. अलङ्कारों का लक्षणादि विवरण नाट्यशास्त्र के उत्तरकालीन ग्रन्थों में भिन्नता लिये हुए है। इन अलङ्कारों के लक्षण भी अधिक स्पष्ट नहीं हैं। बृहद्देशी में भरतोक्त अलङ्कारों का अधिकांश में नाट्यशास्त्रोक्त स्वरूप दिखलाया है [परन्तु पाठों के अव्यवस्थित होने तथा ठीक से सम्पादित न होने से इस संस्करण से भी अधिक सन्तोष नहीं मिलता]।

२. इसमें आरम्भ और अन्त में स्वर प्रसन्न या मन्द्र स्वरता को और मध्यमें तार स्वरता (hagh pitch) या ऊँचा चढ़ाव रहता है। तुलना—बृह० ३५।४७ तथा दत्तिल पृ० १०१। सम से कुहर तक की तुलना बृह० तथा दत्तिल में द्रष्टव्य।

---

१. क्रमशो दीपितो यः स्यात्—क०, ख०।

२. विधीयते—क०, ख०।

३. प्रसन्नत्वात्—क, प्रशमनात्—क (म), ख०।

४. प्रसन्नः स्यादु—ख०।

सर्वसाम्यात् समो ज्ञेयः [1]स्थिरस्त्वेकस्वरेऽपि यः[2]।
बिन्दुरेककलस्तारः[3] स्पृष्ट्वा च पुनरागतम् ॥ ४५ ॥
स्यान्नि[4]वृत्तः प्रवृतश्च मन्द्रं गत्वा समागतः।
आक्रीडित-लयो यश्च स वेणुः परिकीर्तितः।
कण्ठे निरुद्धपवनः कुहरो नाम जायते ॥ ४६ ॥

सम—सभी के समान होने पर जो एक ही वर्ण पर स्थिर होता हो तो वह 'सम' होता है।

स्थिर—जो एक वर्ण में स्थित हो उसे 'स्थिर' समझना चाहिए।

बिन्दु—जो एक कला के प्रमाण का हो उसे 'बिन्दु' जानो।

निवृत्त—जो तार स्थान को छूकर फिर लौट आए उसे 'निवृत्त' जानो।

प्रवृत्त—जो मन्द्र स्थान को छूकर जाए तो उसे 'प्रवृत्त' समझना चाहिए।

वेणु—जो लय के साथ खेल करता हो उसे 'वेणु' कहते हैं।

कुहर—कण्ठ में पवन को रोकने वाला 'कुहर' कहलाता है ॥४५-४६॥

त्रिकलाकम्पनात्[5] तद्वद्रेचिताख्यः शिरोगतः।
उरो गतः कम्पितः स्यात् कम्पनात्तु कलात्रयम् ॥ ४७ ॥
गतागतप्रवृत्तो यः स प्रेङ्खोलितः उच्यते[6]।
यस्तु कण्ठे[7] स्वरोऽथ स्यात् स तु तारः प्रकीर्तितः ॥ ४८ ॥

---

१. स्थित—क०।

२. अस्मादनन्तरं—आदिमध्यलयो यत्र स चोर्मिरिति संज्ञितः इति पद्यार्धं क-पुस्तके अधिकम्। क०, ख०-पुस्तकयोश्च—श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्य मृदुमध्यायताः स्मृताः। आयतत्वं तु चेन्नीचं मृदुत्वन्तु विपर्ययम्। स्वे स्वरे मध्यमत्वञ्च मृदुमध्यमयोस्तथा। दीप्तायते करुणानां श्रुतीनामेष निर्णयः। इति श्लोकद्वयी अधिका। ३. बिन्दुरेककलो ज्ञेयः कम्पितश्च कलाद्वयम्—क०, ख०।

४. निवृत्तप्रवृत्त—क (म०)।

५. त्रिकलं कम्पनं—क (म०), रेचितः शिरसि ज्ञेयः कम्पितस्तु कलात्रयम्—ख०।

६. इष्यते—क०, ख०।

७. कण्ठे स्वरोऽधः स्यात्—क, कण्ठस्वरोऽधस्तात्—क० (म), ग०; कण्ठस्थिरस्तस्मान्मन्द्रतारः—म (र)।

उरोगतस्तथा मन्द्रो[1] मूर्ध्नि तारतरः स्मृतः ।
क्रमागतस्तु यस्तारः षष्ठः[2] पञ्चम एव वा ॥ ४९ ॥
तारमन्द्रः[3] प्रसन्नस्तु ज्ञेयो मन्द्रगतिश्च सः ।
लङ्घयित्वा परान् मन्द्रान्[4] क्रमात् तारगतिं गतः ।
मन्द्रतारप्रसन्नश्च विज्ञेयो[5] ह्यवरोहणात् ॥ ५० ॥

रेचित—जो मस्तक पर्यन्त जाने वाला होकर तीन कला तक कंपित हो तो इसी कारण उसे 'रेचित'[1] कहेगें ।

कम्पित—जो छाती में स्थित रहे और तीन कला तक कम्पित होता रहे तो 'कम्पित' समझना चाहिए ।

प्रेङ्खोलित—जो जाकर लौटता हो और फिर चला जाता हो (तथा इस प्रकार आता जाता रहे) तो उसे 'प्रेंखोलित' जानो ।

तार[2]—जिसका कंठ में (स्थित) स्वर हो तो 'तार' कहते हैं ।

मन्द्र—जिसका छाती में (स्थित) स्वर हो तो उसे 'मन्द्र' जानो ।

तारतर—जिसका मूर्धा में (स्थित) स्वर हो तो उसे 'तारतर' कहते हैं ।

मन्द्रगति—जो क्रम से छठां या पांचवा (आता) हो और तारमन्द्र प्रसन्न स्वर हो तो उसे 'मन्द्रगति' समझना चाहिए ।

मन्द्रतार-प्रसन्न—जो अन्य मन्द्र स्वरों को लांघ कर क्रमशः तार गति को पहुँच जाए तो आरोहण करने के कारण बुधजन इसे 'मन्द्रतार-प्रसन्न' समझें ॥ ४७–५० ॥

---

१. रेचित में कुहर के समान पवन का निरोध किया जाता है, किन्तु यह शिरोगत होता है तथा इसमें तीन कला तक स्वर का कम्पन रखा जाता है। कम्पित में तीन कला तक कम्पन होता है तथा उरस्थल में पवन का निरोध किया जाता है। प्रेंखोलित की गति झूले के समान होती है।

२. यहाँ तारमन्द्रप्रसन्न तथा तार से आरम्भ होकर धीरे-धीरे मन्द्र से होकर मध्य तक पहुँचता है तथा मन्द्रतारप्रसन्न उरोगत मन्द्र से आरम्भ होकर तार का स्पर्श करने के पश्चात् मध्यस्थानीय स्वर का उच्चारण करता है।

---

१. शीर्षे तारतरः—क० (र) ।

२. चतुर्थः पञ्चमोऽपि वा—क (म०) ग०, घ० ।

३. तारमन्द्रप्रसन्नस्तु ज्ञेयो मन्द्रगतः स च—क० ।

४. मन्दात् परां तार—ख०, मन्द्रात् क्रमात्—ग० ।

५. ज्ञेयो ह्यारोहराणाद् बुधैः—ग० ।

एकस्वराधिरूढः क्रमशः प्रस्वारसंज्ञितो ज्ञेयः।
प्रस्वारस्तु निवृत्तः शनैः प्रसन्नः प्रसादः स्यात् ॥ ५१ ॥

प्रस्वार—जो एक एक स्वर में क्रमशः आरोह करता रहे तो उसे 'प्रस्वार' समझना[1] चाहिए।

प्रसाद—यदि यह प्रस्वार ही धीरे से लौट आए (वापस) तो अपने स्थान पर पहुंचने पर वह 'प्रसाद' कहलाता है ॥ ५१ ॥

अपाङ्गिकस्तु विज्ञेयः स्वराणामन्यसञ्चारात्।
समनन्तरौ[1]स्वरौ द्वाविचरत्युद्वाहितो द्विकल एव।
आरोहत्येककलां पुनरेककलां प्रसादयति ॥ ५२ ॥

अपांगिक—स्वरों को संचरित करने पर 'अपांगिक'[2] कहलाता है।

उद्वाहित—दो निकटवर्ती स्वर जब एक कला को आरोहण और दूसरी को प्रसादन (लौटालना) करते हों तो उसे 'उद्वाहित'[3] समझना चाहिए।

उद्वाहित एव स्यादवलोकितसंज्ञको[2] द्विरभ्यस्तः।
एकं द्वौ त्रीन् गच्छन् स्वरान् क्रमेण [3]क्रमो ज्ञेयः ॥ ५३ ॥

अवलोकित—यदि दो बार उद्वाहित की आवृत्ति की जाए तो वही 'अवलोकित'[4] समझना चाहिए।

क्रम—क्रमशः एक, दो अथवा तीन स्वरों का आरोह तथा अवरोह होता हो तो उसे 'क्रम' समझना चाहिए ॥ ५३ ॥

---

१. प्रस्वार का प्रस्तार नाम भी प्राप्त होता है। इसमें एक एक स्वर में क्रमशः आरोह क्रिया होती है। तुलना बृहद्देशी-पृ० (३७, ४८)। प्रसाद में प्रस्वार के विपरीत क्रिया रहती है।

२. बृहद्देशी में 'अपांगिक' नहीं है। यह प्रक्षिप्त सा प्रतीत होता है।

३. उद्वाहित में दो निकटवर्ती स्वरों में से एक का एक कला तक आरोहण तथा वहीं से एक कला की अवधि में मूल स्वर तक अवरोह किया जाता है। तुलना बृहद्देशी० पृ० ३८, ४८।

४. अवलोकितक या अवलोक का ही बृहद्देशी में उपलोलक नाम दिया हुआ है (जो ठीक प्रतीत नहीं होता) (द्र० बृह० पृ० ३८,४८)।

---

१. समनन्तरौ द्वावपि चर—ग०, घ०। २. संज्ञितो—क (म०)।
३. सङ्क्रमो—क (म०)।

एकान्तरमारुह्य प्रत्येत्येकान्तरं स्वरो[1] यस्तु ।
निष्कूजितसंज्ञोऽसौ ज्ञेयो[2] सूरभिरलिङ्कारः ॥ ५४ ॥

निष्कूजित—जो स्वर एक एक स्वर को लांघकर आरोहण कर फिर लौट आता हो उसे 'निष्कूजित'[1] नामक अलंकार समझना चाहिए ॥ ५४ ॥

आदावारोही स्यात् प्रस्वारोऽन्तेऽवरोही च ।
यत्र क्रमात् कलासु वदनन्त्यलङ्कारमुद्गीतम् ॥ ५५ ॥

उद्गीत—जिसमें 'प्रस्वार' नामक अलङ्कार की क्रियाओं द्वारा आदि में आरोही और अन्त में अवरोही रखा जाए तो उसे 'उद्गीत'[2] नामक अलंकार समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

क्रमयोगेनानेन तु सञ्चार्यैकान्तरस्वरो द्विकलम्[3] ।
द्व्यवरः षट्पर एव ह्यारोही ह्रादमानः स्यात् ॥ ५६ ॥

ह्रादमान—इस प्रकार (निष्कूजित अलंकार के) क्रम का निर्वाह करते हुए कम से कम दो स्वरों से लेकर छः स्वरों तक का यदि आरोहण किया हो तो उसे 'ह्रादमान' अलंकार समझना चाहिए । यह एक को छोड़कर एक स्वर का होता है ॥ ५६ ॥

अथ रञ्जितस्तु समन्तरस्वरे द्वे कले पुनः स्थित्वा ।
अर्द्धकलामारोही पुनरेव तथावरोही स्यात् ॥ ५७ ॥

रंजित—जिसमें सन्निकट एवं पार्श्ववर्ती स्वर पर दो कला ठहर कर आधी कला की अवधि में तीसरी कला पर आरोह हो तो उसे 'रंजित' अलंकार समझना चाहिए ॥ ५७ ॥

आवर्तकश्चतुर्षु स्वरेषु समन्तरेषु सम्भवति ।
आरोहणावरोहणविधिना चैकान्तरेष्वपि च ॥ ५८ ॥

---

१. मतंग के अनुसार कोहल का मत है कि 'एकान्तर' का अर्थ है एक एक स्वरान्तर का लांघ कर आरोह करना 'निष्कूजित' है । कोहलमते च एकान्तरस्वरारोहान्निष्कूजितः' (बृह० पृ० ३९)

२. बृहद्देशी में इसका नाम 'उद्गीति' दिया हुआ है । इनका अन्यत्र क्रम नाम है, ना० शा० में पाठान्तर के कारण, परन्तु यह यहाँ अधिक उपयुक्त होने से स्थापित किया गया ।

---

१. स्वरं—क (म०) । २. ज्ञेयोऽलङ्कार उद्गीतः—क (म) ग० ।
३. द्विकलः—क (म०) ।

ज्ञेयो निरन्तरकृतस्त्वष्टकलः सान्तरस्तथा कार्यः।
तज्ज्ञैः कलाचतस्रस्त्वावृत्यावर्तको[1] भवति ॥ ५९ ॥

आवर्तक—सन्निकट चार स्वरों से क्रमशः सान्तर में आरोहण तथा अवरोहण, यह चार कलाओं के अन्तर से होता हो तो इस आवृत्ति के द्वारा 'आवर्तक' नामक अलंकार होता है। यह बिना अन्तर तथा अन्तर से होता है। इसमें निरन्तर या क्रमशः किये जाने वाले की आठ कलाएं तथा अन्तर सहित या सान्तर की चार कलाओं में संचार करना चाहिए ॥ ५८–५९ ॥

अधिरुह्य च स्वरांस्त्रीन् स्वरान्तरं लङ्घयति[2] च तद्वृत्तौ।
पुनरपि च परावृत्या स स्यात् परिवर्तकोऽष्टकलः ॥ ६० ॥

परिवर्तक—तीन स्वरों का आरोहण कर फिर एक स्वरान्तर का लंघन करे और परिवर्तन के द्वारा लौट आएं, और आठ-कला की अवधि में यह परिवर्तन करे तो उसे 'परिवर्तक' कहते हैं ॥ ६० ॥

यस्य स्वरावतीतौ तथा परं ह्यन्तरस्वरो भवति।
एककलश्चैव[3] तथा स भवेदुद्घट्टितो नित्यम् ॥ ६१ ॥

उद्घट्टित—जिसके दो स्वर बीतने पर आगे का एक स्वर अन्तर स्वर हो जाता हो उसे 'उद्घट्टित'[1] जानो। इसका एक कला का प्रमाण रहता है ॥ ६१ ॥

आक्षिप्तस्त्रिस्वरजः कर्त्तव्यः षड्विधः कलामात्रः।
एककलस्त्वधरः स्याद्विज्ञेयः षट्कलस्तु परः ॥ ६२ ॥

आक्षिप्त[2]—जिसकी तीन स्वर समूह से उत्पत्ति होकर छः कला की कालावधि हो। (इसमें) प्रथम स्वर एक कला की प्रमाण वाली कला में (एक कलावाला) होता है तथा अन्य दूसरे स्वरों को छः कलावाली दूसरी कालावधि में गाये जाने वाले समझना चाहिए ॥ ६२ ॥

---

१. मतंग के अनुसार उद्घटित में आरोह के तीसरे स्वर को वर्ज्य कर अग्रिम दो स्वरों तक आरोह रखते हैं और फिर उसी क्रम से अवरोह। बृहद्देशी में इसका नाम 'उद्वाहित' रखा गया है जो संभवतः ठीक नहीं है। अन्य विद्वान् भरत के लक्षण को अस्पष्ट मानते हैं।

२. आक्षिप्त या आक्षिप्तक के स्वरूप की तुलना—बृह० ४०–४६।

---

१. स्त्वावर्त्यावर्तको—क (म०)।

२. लङ्घयति यद्वृत्तौ–क (म०)। ३. अष्टदशकलञ्चैव—घ०।

आक्षिप्तकश्चतुर्भि[1] स्वरैस्तु काले[2] कलान्तरोपेतैः ।
एकान्तरस्वरक्रम इह गदितः सम्प्रदानस्तु ॥ ६३ ॥

सम्प्रदान—जब आक्षिप्त के चार स्वरों के समूह में एक कला के अन्तर से प्राप्ति होकर एक स्वर के अन्तर को छोड़कर क्रम पूर्वक स्थापना या प्रवृत्ति हो तो [1]'सम्प्रदान' कहलाता है ॥ ६३ ॥

द्विरपि द्विकलं गदितं हसितमिवोच्चारितं तथा हसितम् ।
समनन्तरस्वरकृतं चाक्षिप्तकमिव [3]बुधैर्ज्ञेयम् ॥ ६४ ॥

हसित—हँसने जैसा उच्चारण या स्वर में दो कलावाले दोनों स्वरों की 'हसित'[2] कहलाती हैं । एक स्वर के अन्तर से आक्षिप्तक के समान प्राप्ति होना ॥ ६४ ॥

समन्तरस्वरेषु च हसितवद्[4] द्व्यवरश्चतुष्परो वापि ।
आरोहत्येक-कलां हुङ्काराख्यः स विज्ञेयः ॥ ६५ ॥

हुंकार—यदि हसित के समान आगे के या सन्निकट स्वर पर दो या चार स्वरों के बाद एक कला की अवधि में आरोह होता हो तो वह 'हुंकार'[3] कहलाता है ॥ ६५ ॥

स्थानान्तरमारुह्य प्रत्येति ततश्चतुष्कलं क्रमशः ।
नोर्ध्वपरिक्षेपः स्यात् सन्धिप्रच्छादनं नाम ॥ ६६ ॥

---

१. तुलना बृह० ४०–४९ पर इसमें स्वरों की गति एक एक स्वरान्तर को छोड़ कर प्रवृत्त होती है ।

२. आक्षिप्त अलंकार के विशेष भेद के रूप में 'हसित' का भरत का लक्षण है । कुछ विद्वान् यह लक्षण सन्दिग्ध मानते हैं ।

३. हुंकार में सन्निकट स्वरों पर आरोह करते हैं । यह तीन या चार सन्निकट स्वरों का आरोह एक कला कला की अवधि या समय में किया जाता है ।

---

१. आक्षिप्तवत् चतुर्भिः—क (म०); आक्षिप्तकश्चतुर्भिः स्वरैः [त्रिस्वरैः] —घ० ।

२. कालः—क (म०) ।

३. तज्ज्ञैराक्षिप्तकं ज्ञेयम्—क (म०); तज्ज्ञैराक्षिप्तमित्येव—ग० ।

४. हसिताद् द्व्यवरः···क (म०); हसितव्यापरः—ग० ।

५. चतुष्कलः—क(ज०) ।

सन्धिप्रच्छादन—यदि दूसरे-स्थान (सन्निकट स्वर) पर आरोहण कर फिर वहां से क्रमशः चार कलाओं की अवधि में प्रत्यावर्तन (अवरोह) किया जाए तो वह 'सन्धिप्रच्छादन' होता है। इसमें ऊपर की ओर परिक्षेप नहीं होता ॥ ६६ ॥

आदौ पदमुत्पाद्य[1] तु यत्र स्याद्विस्वरे लघुनि वर्णे।
समनन्तरमारोहत्येककलं तद् विधूनन्तु[2] ॥ ६७ ॥

विधून—पहिले पद को प्रारंभ कर (उत्पाद्य) फिर जहाँ दो स्वरों में वर्ण लघु रहें और तुरन्त इसके बाद एक कला का आरोह हो तो उसे 'विधून'[1] समझना चाहिए ॥ ६७ ॥

ओङ्कारवदारोहेदनन्तरं[3] तु स्वरं कलान्तरयोः।
द्वौ द्वौ प्रकम्प्यमानौ[4] स्वरौ ततश्च प्रसन्नौ द्वौ ॥ ६८ ॥
एषोऽलङ्कारविधौ विज्ञेयो गात्रवर्ण इत्येव।
एकारौकारस्तथा[5] दीर्घाक्षरमन्यदपि योज्यम् ॥ ६९ ॥

गात्र-वर्ण—यदि बाद में स्वरों को कलाओं के अन्तर में ओंकार या ऐंकार के द्वारा आरोहण (तथा अवरोहण) करें, फिर दो स्वर प्रकम्पित होते हुए और फिर दो स्वर प्रसन्न या समरूप में गाये गये हों तो अलंकार विधान में उसे 'गात्र-वर्ण'[2] कहा जाता है। इसमें 'ए' 'औ' तथा अन्य दीर्घ वर्णों की भी संयोजना करनी चाहिए ॥ ६८–६९ ॥

---

१. विधून में मतङ्ग के अनुसार एक स्वर को दीर्घ काल तक उच्चारित कर उसके आगे के दो स्वरों का द्रुत उच्चारण कर आरोह करते हैं। (द्र० बृह० पृ० ४२)

२. इसमें 'एकार' तथा ओंकार से स्वरों का आरोह तथा अवरोह किया जाता है। इस क्रम में प्रथम दो स्वरों को कम्पित रूप में उच्चारित करते हैं और (बाद में) दो स्वरों को प्रसन्न अर्थात् समरूप में उच्चारित करते हैं। भरत सम्प्रदाय का अनुसरण रहने के कारण इस सन्दर्भ में बृहद्देशी के विवरण भरतमुनि के आशय को स्पष्ट करने में मूल्यवान् सहायता प्रदान करते हैं।

---

१. मुच्चार्य तु—क (म०)।
२. विधूतं तु—क (म०)।
३. हुङ्कार—घ०। ४. प्रकम्प—क (म०)
५. रौकारकृते—क (म०)।

गीतालङ्काराणां करणविधिरयं यथावदुपदिष्टः ।
एभिरलङ्कर्त्तव्या गीतिर्वर्णाविरोधेन ॥ ७० ॥

इस प्रकार गीतों में अलंकार की विधि यहाँ हमने बतलाई हैं । इन अलंकारों को[1] बिना विरोध किये ही 'गीति' में संयुक्त रखना चाहिए ॥ ७० ॥

स्थाने चालङ्कारं कुर्यात् न ह्युरसि काञ्चिकां बध्येत् ।
अतिबहवोऽलङ्कारा वर्णविहीना न योक्तव्याः ॥ ७१ ॥

अलंकारों का उपयुक्त स्थान पर ही प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि वक्षःस्थल पर अनुपयुक्त होने के कारण जैसे करधनी नहीं बांधी जाती हैं, वैसे ही वर्णों से हीन अतिशय संख्या में अलंकारों की योजना भी अनुपयुक्त होती है ॥ ७१ ॥

एवमेते[1] त्वलङ्कारा विज्ञेया वर्णसंश्रयाः ।
अथ[2] गीतीः प्रवक्ष्यामि छन्दोऽक्षरसमन्विताः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार ये अलंकार वर्ण के आधार पर अवस्थित रहने वाले होते हैं । अब मैं उन गीतियों को बतलाता हूँ जो छन्द और अक्षरों के स्वरूप को लिये हुए होती हैं ॥ ७२ ॥

शशिना [3]विरहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव ।
अविभूषितेव[4] च स्त्री गीतिरलङ्कारहीना स्यात् ॥ ७३ ॥

जैसे चन्द्र से हीन रात्रि, जल से हीन नदी, पुष्प से हीन लता और अलंकारों से हीन नारी सुशोभित नहीं होती वैसे ही अलंकारों से हीन 'गीति' भी सुशोभित नहीं होती है ॥ ७३ ॥

गीति-स्वरूप तथा उसके विभेद—

अलङ्कारास्त्रयस्त्रिंशदेवमेते मयोदिताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गीतिनामपि लक्षणम् ॥ ७४ ॥

---

१. बृहद्देशी में इसी कारिका का चतुर्थ पाद में पाठ है—'एभिरलङ्कर्त्तव्या गीतिर्नामाविरोधेन' । अर्थात् इन अलङ्कारों से गीतों को उनके स्वरूप के बिना विरोध के ही रखना चाहिए ।

---

१. अलङ्कारास्त्रयस्त्रिंशदेवमेते मयोदिताः—क० (म०)
२. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि—घ० । ३. रहितेव—क (म०)
४. अवलक्ष्यते च नारी गीति—ख० । [अनशब्दः निषेधवाची तेन न लक्ष्यते इत्येवार्थः प्रतिभाति अनोपमा ते बुद्धिरितिवत् ।]

इस प्रकार मैंने तैंतीस अलङ्कार बतलाये। अब मैं [1]गीति का स्वरूप बतलाता हूँ ॥ ७४ ॥

प्रथमा मागधी ज्ञेया द्वितीया त्वर्धमागधी।
सम्भाविता तृतीया च चतुर्थी पृथुला स्मृता[1] ॥ ७५ ॥

(परम्परा के अनुसार) गीति के चार भेद होते हैं—(१) मागधी (२) अर्धमागधी (३) सम्भाविता तथा (४) पृथुला ॥ ७५ ॥

[2]भिन्नवृत्तिप्रगीता या सा गीतिर्मागधी मता।
[3]अर्धकालनिवृत्ता च विज्ञेया त्वर्धमागधी ॥ ७६ ॥

मागधी—विभिन्न वृत्तियों[2] के अर्थात् भिन्न लयों के द्वारा गाना 'मागधी' गीति कहलाता है। अर्धमागधी—यदि मागधी में लगनेवाले समय के आधे भाग में गान पूर्ण हो जाए तो उस गीति को 'अर्धमागधी' समझना चाहिए ॥ ७६ ॥

सम्भाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमन्विता।
लघ्वक्षरकृता[4] या[5] तु पृथुला सम्प्रकीर्तिता[6] ॥ ७७ ॥

---

१. गीति की स्थिति नाट्य के अतिरिक्त गान्धर्व में भी होती है, क्योंकि ये गान्धर्व में भी गायी जाती है। शार्ङ्गदेव ने गीति का निम्न स्वरूप बतलाया—

वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता।
गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा ॥
(सं० रत्ना० स्वरा० १।८।१४–१५)

२. मागधी का स्वरूप है भिन्न वृत्ति में गायी जाने वाली 'गीति'। यहाँ 'वृत्ति' शब्द पारिभाषिक है जिसका तात्पर्य गायन वादन की विशिष्ट शैली से है। वृत्तियाँ तीन है—चित्रा, वार्तिका तथा दक्षिणा। इनका स्वरूप इसी अध्याय में आगे दिखलाया है। (द्र० ना० शा० अ० २९।१०० तथा आगे का गद्यभाग)

मागधी से अपेक्षाकृत अर्धकाल या आधे समय में जिसका गायन हो वही

---

१. मता—क(म०)।

२. त्रिनिवृत्तप्रगीता—क०; विनिवृत्तप्रसवा या सा ज्ञेया मागधी बुधैः—ख०। ३. अर्धतः सन्निवृत्ता च—क०।

४. पृथुलाख्या च विज्ञेया नित्यं लघ्वक्षरान्विता—क०।

५. नित्यं—क (म०); नित्या—ग०। ६. सा प्रकीर्तिता—ख०।

संभाविता—दीर्घ अक्षरों का आधिक्य 'संभाविता'[1] कहलाता है (जिसमें पदों का संकोच होता है।)

पृथुला—जिसमें अधिकांश पद ह्रस्व अक्षरों से निर्मित हों तो 'पृथुला' गीति होती है ॥ ७७ ॥

एतास्तु गीतयो ज्ञेया ध्रुवायोगं विनैव हि।
गान्धर्व एव योज्यास्तु नित्यं गानप्रयोक्तृभिः ॥ ७८ ॥

ये गीतियाँ बिना ध्रुवा-योग के होती हैं तथा इनकी गायक एवं नाट्य गीत के प्रयोक्ताजन 'गान्धर्व' में ही योजना करते हैं।

गीतयो[1] गदिताः सम्यग् धातूंश्चैव निबोधत।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धातुवाद्यस्य लक्षणम् ॥ ७९ ॥

इस प्रकार मैंने गीतियों का निरूपण किया। अब मैं धातुओं का लक्षण बतलाता हूँ तथा फिर धातुवाद्यों का लक्षण कहूँगा।

[2]धातु—

विस्तारः करणञ्चैव[2] आविद्धो व्यञ्जनस्तथा।
चत्वारो धातवो ज्ञेया वादित्रकरणाश्रयाः[3] ॥ ८० ॥

'अर्धमागधी' है। मागधी में पदों को तीन आवृत्तियाँ होती है। जैसा कि रत्नाकर का निम्न वचन :—

गीत्वा कलायामाद्यायां विलम्बितलयं पदम्।
द्वितीयायां मध्यलयं तत्पदान्तरसंयुक्तम्।
सतृतीयपदे ते च तृतीयस्या द्रुते लये।
इति त्रिरावृतपदां मागधीं जगदुर्बुधाः ॥

(सं० रत्ना० स्वरा० १।८।१६।८)

१. गुरु एवं लघु वर्णों से क्रमशः युक्त गीति को 'सम्भाविता' तथा 'पृथुला' समझते हैं। दत्तिल ने स्पष्ट ही कहा है—

वृत्तौ लघ्वक्षरप्राया गीतिः 'सम्भाविता' स्मृता।
गुर्वक्षरैस्तु 'पृथुला' वर्णाढ्या दक्षिणे सदा।
मार्गेषु ता यथायोगं······ ॥ (दत्ति० २३९-२४०)

२. वीणागत अलंकारों का गायन के वर्णगत अलंकारों के समान ही महत्वशाली स्वरूप माना जाता है। इन वीणा के लिये 'धातु' शब्द पारिभा-

---

१. अतः परं प्रवक्ष्यामि धातुवाद्यस्यलक्षणम्—इत्यपरार्धस्तु पूर्वार्धस्थाने क०—पुस्तके। २. करणश्च स्यादाविद्धो—क०, ख०।

३. श्राद्यन्तकरणा—ख०।

धातु के चार विभेद होते हैं (१) विस्तार, (२) करण, (३) आविद्ध तथा (४) व्यंजन। ये चार धातुएँ वाद्य वादन (वादित्र) के कार्य के आश्रित होती हैं ॥ ८० ॥

विस्तार धातु के भेद—

सङ्घातजश्च[1] समवायजश्च विस्तारजोनुबन्धकृतः[2]।
ज्ञेयश्चतुःप्रकारो धातुर्विस्तारसंज्ञस्तु ॥ ८१ ॥

'विस्तार'[1] नामक धातु चार प्रकार के होते हैं—संघातज समवायज, विस्तारज तथा अनुबन्धज (विस्तार) ॥ ८१ ॥

विधिर्यस्तु[3] स्मृतस्तस्य पूर्वं विस्तार एव च।
सङ्घातसमवायौ तु विज्ञेयौ तौ[4] द्विकत्रिकौ ॥ ८२ ॥

उसमें प्रथम विस्तार की जो विधि बतलाई है, उसके ही दो और तीन गुने होने पर 'संघात' और 'समवाय' बन जाते है ॥ ८२ ॥

पूर्वश्चतुर्विधस्तत्र पश्चिमोऽष्टविधः स्मृतः।
करणानां विशेषेण विज्ञेया[5] वै पृथक् पृथक् ॥ ८३ ॥

षिक रूप में प्रयुक्त (किया गया) है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'धातु' वीणा गत ऐसे स्वरों की संज्ञा है जो वीणा की तन्त्रियों के छेड़ने से उत्पन्न किये जाते हो—('धातवस्तन्त्री विशेषाङ्गुलिविशेषसंयोगजा वैणवस्वराः')। इससे वाद्य की रंजकता में वृद्धि होती है। धातुओं का निर्माण करणों से होता है। करण को आजकल के शब्दों में 'बोल' समझा जा सकना है तथा 'धातु' इन्हीं बोलों की लड़ियां हैं, जो तन्त्री स्पर्श तथा अक्षरक्रम को मिलाकर निर्मित की जाती हैं। इसी आधार पर भरतमुनि ने इनके ये चार विभेद किये हैं।

१. 'विस्तार' से यहाँ आशय है उस विधि का जिसने प्रहार संख्या के अनुसार 'बोल' निर्मित होते हैं। संगीतरत्नाकर के व्याख्याकार कल्लिनाथ ने 'एकप्रहारभवो विस्तारजः' कहा है अर्थात् 'करण' से निर्मित धातु में एक बार स्पर्श या प्रहार से जो बजाया जाए वह 'विस्तार' होता है, फिर इसी की संख्या वृद्धि से 'संघात' तथा समवाज प्रकार बन जाते हैं तथा इन्हीं क्रियाओं के यथायोग्य मिश्रण का नाम 'अनुबन्ध' कहलाता है।

---

१. सङ्घातः समवायो विस्तारश्चानुबन्धसंज्ञातः—क (भ०)।
२. नुबन्धश्च—क (म०), ग०।
३. विधयस्तु स्मृतास्तस्य—क०, ख०।
४. च—ख, ज्ञेयौ स्यातां द्विकत्रिकौ—क (र)।
५. विज्ञेयौ तौ—क, विधिश्चैव—ग०।

इनमें पहिला[1] चार प्रकार का और अन्तिम आठ प्रकार का होता है। और करणों की विशेषता के द्वारा इनके पृथक्-पृथक् विधि से प्रकार बनते हैं ॥ ८३ ॥

अधश्चोर्ध्वश्च[1] विज्ञेयावधरोत्तरजौ स्मृतौ[2] ।
सङ्घातजविधिस्त्वेष[3] विज्ञेयो वाद्ययोक्तृभिः ॥ ८४ ॥

नीचे और ऊपर रहनेवाले स्वर अधरोत्तरज कहलाते हैं। यह [2]'संघातजविस्तार' की विधि है। इसे वाद्य के संयोजक (तथा वादक भी) समझ लें।

द्वावुत्तरौ[4] द्विरधरस्त्वरादिश्चोत्तरावसानश्च[5] ।
ज्ञेयस्तथोत्तरादिः पुनरप्यधरावसानश्च ॥ ८५ ॥
समवायजस्तथा स्यात्त्रिरुत्तरस्त्रिरधरश्च विज्ञेयः ।
द्व्यधरोत्तरावसानो[6] द्विरुत्तरस्त्वा[7]धरान्तस्तु ॥ ८६ ॥

---

१. 'संघातज' तथा 'समवायज' धातुओं के क्रमशः चार तथा आठ प्रकार होते हैं। इनमें विस्तारज तथा अनुबन्धज को मिलाया जाय तो विस्तार धातु के कुल प्रकार चौदह बन जाते हैं।

२. सङ्घातज विस्तार के प्रथम प्रकार में तन्त्री का द्विवार वादन वीणा के उत्तरभाग में अर्थात् द्वावुत्तर होता है। (२) द्विरध—अर्थात् तन्त्री का द्विवार वादन वीणा के अधर भाग में अधरादि तथा उत्तरावसान (३) इसमें आरम्भ में वीणा के अधर भाग में और फिर बाद में उत्तरभाग में वीणा को स्पर्श करते (छेड़ते) हैं। इसके विपरीत उत्तरादि तथा अधरावसान (४) में वीणा वादन किया जाता है। इस प्रकार संघातज धातु के चार प्रकार बन जाते हैं।

---

१. अधश्चोर्ध्वश्च—क, अधश्चोर्ध्वे च—ख० ।

२. स्वरौ—क०, ख० ।

३. सङ्घातजो विधिस्त्वेष विज्ञेयो वादनं प्रति—क०, ख० ।

४. द्विरुत्तरो द्विरधर—क० ।

५. स्वोत्तरा—ख० ।

६. द्विरधरोत्तरोधराद्यो द्विरधरोऽथोत्तरविरामश्च—क० द्विरधोत्तरावसानोऽधरादिरुत्तरमुखो द्विरधरश्च—ख० ।

७. द्विरुत्तरस्वाधरा—ग० ।

प्रागुत्तरो[1] द्विधरो द्विरुत्तरावसानश्च ।
मध्योत्तरो द्विरधरो द्विरुत्तरोऽप्यधरमध्यश्च ॥ ८७ ॥
अनुबन्धस्तु ज्ञेयो व्याससमासात्त्वनियत[2] एव सदा[3] ।
एवं चतुर्दशविधो नित्यं[4] विस्तारधातुः स्यात् ॥८८॥

जिसमें[1] वीणावादन में दो बार नीचे, दो बार आदि में नीचे तथा अन्त में ऊपर भी तथा बाद में आदि में ऊपर और फिर अन्त में अधरभाग में रखा जाए तो उसे 'समवायज[2]-विस्तार' समझना चाहिए।

अन्त में तीन उत्तर में और तीन अधर या नीचे, दो तथा एक उत्तर में अन्त हो फिर दो उत्तर और अन्त में नीचे, फिर पहिले ऊपर एक, दो नीचे, दो ऊपर और एक बीच में, फिर बीच में ऊपर और दो नीचे विस्तार तथा संक्षेप से अनिश्चित रूप में रहे तो उसे 'अनुबन्धज' विस्तार समझना चाहिए। इस प्रकार मैंने विस्तार-धातु के चौदह प्रकार समझाये ॥ ८५–८८ ॥

---

१. यहाँ धातु वादन प्रक्रिया में अधर तथा उत्तर शब्द से तात्पर्य क्रमशः एक सप्तक के अन्तरर्गत तार तथा मन्द्र स्वर से (होता) है। अर्थात् अधर एवं उत्तर का आशय सप्तक के अन्तर्गत उच्च तथा निम्न स्वर ही (उत्तर तथा अधर शब्द के द्वारा) यहाँ निर्दिष्ट किये गये हैं।

२. समवायज के आठ प्रकार इस प्रकार होंगे :—(१) त्रिरुत्तर अर्थात् वीणा के उत्तर भाग में तन्त्री के त्रिवार वादन के द्वारा 'बोल' निकालना, (२) त्रिरध—अर्थात् इसी के विपरीत वीणा के अधोभाग में तन्त्री के त्रिवार वादन द्वारा बोल 'निकालना, (३) द्वयधरोत्तरावसान—अर्थात् दो वार अधर और एक बार उत्तर भाग में तन्त्री के वादन से बोल निकालना (४) द्विरुत्तर-अधरान्त—इसमें दो बार उत्तर और एक बार अधर भाग में बोल निकाले जाते हैं, (५) प्रागुत्तर-द्विरधर—इसमें पहली बार उत्तर भाग में और दूसरी दो बार अधर भाग में वादन होता है, (६) द्विरुत्तरावसान—अर्थात् इसमें पहली दो बार उत्तर भाग में तथा अन्तिम बार

---

१. प्रागुत्तरो द्विर्द्विरधरस्त्वधरादिर्द्विराव—क० (म)।

२. समासाच्च नियतमेषां हि—क०।

३. अस्मात् पूर्वं क (म) पुस्तके—उत्तरमध्यश्च तथा मध्ये त्वधरः पुनर्ज्ञेयः—इति पद्यार्धमधिकम्।

४. विस्तारो धातुराख्यातः—क०।

करण धातु—

रिभितोच्चय-नीरटितो[1] ह्लादस्तथानुबन्धश्चैव क्रमात् ।
पञ्चविधो विज्ञेयो वीणावाद्ये करणधातुः ॥ ८९ ॥
त्रिक-पञ्चकसप्तकनवकघातयुतो[2] यथाक्रमं विहितः ।
सर्वैरनुबन्धकृतैर्गुर्वन्तः स्यात् करणधातुः ॥ ९० ॥

रिभित, उच्चय, नीरटित, ह्लाद तथा अनुबन्ध नामक पाँच करण धातु वीणावाद्य में रहते हैं। क्रमशः तीन, पाँच, सात, नौ घात से युक्त तथा अनुबन्ध में अन्त में गुरू वाला 'करण'-धातु' कहलाता है ॥ ८९–९० ॥

आविद्धधातु—

[3]क्षेपप्लुतातिपातोऽतिकीर्णानुबन्धसंज्ञिताश्चेति[1] ।
आविद्धो विज्ञेयो धातुर्वै[4] पञ्चविध एव ॥ ९२ ॥

अधरभाग में तथा अन्तिम बार अधरभाग में वादन, (७) उत्तरमध्य अर्थात् प्रथम बार अधर में, द्वितीय बार उत्तर में तथा अन्तिम बार अधरभाग में वादन, (८) अधरमध्य—अर्थात् प्रथम बार ऊत्तर में द्वितीय बार अधर भाग में तथा अन्तिम बार उत्तरभाग में तन्त्री का त्रिकवादन करते हुये बोल निकालना ।

१. करण धातु आघातों के काल के प्रमाण पर आधारित होता हैं। तन्त्री पर उसके कालमान के अनुसार प्रहारों की संख्या से करण धातु निर्मित होती है। इनके पाँच प्रकारों में (१) रिभित में दो लघु के बाद एक गुरु तथा त्रिक घात या तीन प्रहार होते हैं। (२) उच्चय में पाँच घात तथा प्रथम चार लघु और अन्तिम एक गुरु होता है। (३) नीरटित करण में सात घात तथा प्रथम छः लघु और अन्तिम गुरु होता है। (४) ह्लाद में नव घात तथा प्रथम आठ लघु के बाद अन्तिम गुरु होता है। (५) अनुबन्ध करण में इनका मिश्रण तथा अन्त में गुरु रखा जाता है।

---

१. नीरिभिता ह्लाद्यस्तु तथानुबन्धः स्यात्—क० (म) ।

२. सप्तनवकैर्यथाक्रमं संयुतो भवेद्वाद्ये—क०, त्रिकपञ्चकसप्तकनवकैर्घातै-र्युक्तो यथाक्रमं विहितः—ग० ।

३. क्षेपः प्लुतोऽतिपातोऽतिकीर्णोऽनुबन्धसंज्ञितश्चैव—क०, क्षेपः स्तुता... नियतोऽतिकोर्णमनुबन्धश्चैव—ख० ।

४. धातुर्वाद्यप्रयोगे तु—ग० ।

द्वित्रिचतुष्कैर्नवकैः[1] प्रहारैः क्रमशः कृतैः ।
आविद्धधातुर्विज्ञेयस्त्वनुबन्धविभूषितः[2] ॥ ९२ ॥

'आविद्ध'[1] नामक धातु भी पांच प्रकार का होता है—इसके प्रकार हैं क्षेप, प्लुत, अतिपात, अतिकीर्ण तथा अनुबन्ध । यह आविद्ध-धातु अनुबन्ध से युक्त होकर क्रमशः दो, तीन, चार तथा नौ प्रहारों तथा इनके संयोग से उत्पन्न प्रहारों से (व्यक्त) होता है ॥ ९१–९२ ॥

व्यंजन-धातु[2] तथा उनके दस प्रकार—

व्यञ्जनधातुर्ज्ञेयः[3] कलतलनिष्कोटितं तथोन्मृष्टम् ।
[4]रेफावमृष्टपुष्पानुस्वनितं बिन्दुरनुबन्धः ॥ ९३ ॥

वीणा में व्यंजित होनेवाली व्यञ्जन धातु के प्रकार दस होते हैं (१) कल, (२) तल, (३) निष्कोटित, (४) उन्मृष्ट, (५) रेफ, (६) अवमृष्ट, (७) पुष्प, (८) अनुस्वनित, (९) बिन्दु तथा (१०) अनुबन्ध ।

अङ्गुष्ठाभ्यां समं तन्त्र्योः[5] स्पर्शनं यत् कलन्तु तत् ।
वामेन पीडनं कृत्वा दक्षिणेनाहति[6] स्तलम् ॥ ९४ ॥

---

१. आविद्ध धातु में भी आघातों के काल प्रमाण पर ही आधारित होना पड़ता है । नाट्यशास्त्र के विवरण स्पष्टतः इनके स्वरूप को नहीं दर्शाते हैं । संगीतरत्नाकर के अनुसार इन्हें इस प्रकार देखा जा सकता है:—

(१) क्षेप—एक लघु के बाद दो गुरु, (२) प्लुत—एक लघु एक गुरु तथा एक लघु (३) अतिपात—लघु, गुरु, लघु गुरु—(कुल–४), (४) अतिकीर्ण—लघु, गुरु; लघु, गुरु, लघु-गुरु (लघु) (कुल–६) तथा (५) आस्कन्ध या अनुबन्ध में इन चारों प्रकारों का मिश्रण ।

२. व्यञ्जन धातु के सभी प्रभेद तन्त्रियों के वैचित्र्यपूर्ण स्पर्श से निर्मित माने जाते हैं । व्यञ्जनधातु के दस भेदों का विवरण मुनि ने सुस्पष्ट लक्षण देते हुए किया है ।

---

१. चातुष्कनवकैः—क०, ख० । २. सानुबन्धविभू—क० ।
३. ज्ञेयं कलतलनिष्कोटितान्यथो—क० (म०), व्यञ्जनधातोः पुष्पं—क० ।
४. रेफोऽनुबन्धसंज्ञोऽनुस्वनितं बिन्दुरवमृष्टम्—क० ।
५. तन्त्रीणां—(म०) ग०, तन्त्र्या—घ० ।
६. दक्षिणेनाहतिस्तले—क, वामेनिपीडनं कृत्वा दक्षिणेना—क (म०) ।

[1]सव्याङ्गुष्ठप्रहारस्तु निष्कोटितमिहोच्यते ।
सव्यप्रदेशिनीघातमुन्मृष्टमिति संज्ञितम् ॥ ९५ ॥
सर्वाङ्गुलिसमाक्षेपाद्[2] रेफ इत्यभिधीयते ।
कनिष्ठिकाङ्गुष्ठकाभ्यां दक्षिणाभ्यामधोगतम्[3] ॥ ९६ ॥
तन्त्रीषु [4]त्रिप्रहारश्चाप्यवमृष्टमिति[5] स्मृतम् ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठसंयुक्तं पुष्पमित्यभिधीयते[6] ॥ ९७ ॥
[7]तलस्थानेऽधरन्यासस्त्वनुस्वनितमुच्यते ।
गुर्वक्षरैरेकतन्त्र्यां[8] बिन्दुरित्यभिसंज्ञितः ॥ ९८ ॥
व्याससमासादेषामनुबन्धः सार्वधातुको ज्ञेयः ।
इति दशविधः प्रयोज्यो वीणायां व्यञ्जनो धातुः ॥ ९९ ॥

कल—वीणा के तारों का दोनों अंगूठों से छूना या छेड़ा जाना 'कल' कहलाता है ।

तल—बाएँ से दबाकर छेड़ना तथा दाहिने हाथ से आघात करना 'तल' कहलाता है ।

निष्कोटित—दाहिने अंगूठे से तारों घर आघात करना 'निष्कोटित' कहलाता है ।

उन्मृष्ट—बाएँ हाथ की तर्जनी-अंगुली के स्पर्श से आघात करना 'उन्मृष्ट' जानो ।

रेफ—सभी उंगुलियों से तन्त्रों के तारों को छेड़ना 'रेफ' कहलाता है ।

अवमृष्ट—दाहिनी हाथ की कनिष्ठिका-अंगुलि और अंगूठे के नीचे मुँह रखकर वीणा की तीन तन्त्रियों को आहत करना 'अवमृष्ट' कहलाता हैं ।

पुष्प—कनिष्ठिका अंगुली और अंगूठे को मिलाकर संयुक्तक्रिया से आहत करना 'पुष्प' कहलाता है ।

---

१. प्रहारो वामतर्जन्या उन्मृष्ट—क, ख० ।
२. समाक्षेपो रेफ इत्यभिसंज्ञितः—क, समाक्षेपैः—क० ।
३. अधोमुखम्—क० ।
४. विप्रकारं वाप्यव—क (म०) ।
५. प्रकीर्तितम्—क० ।
६. नित्यभिसंज्ञितम्—क० ।
७. स्थानेऽअस्तन्त्रीणा—क, स्थानेऽथ तन्त्रीणा—ख० ।
८. गुर्वक्षरकृता तन्त्री—क०, ख० ।

अनुस्तनित या अनुस्वरित—वीणा की अधोस्थान या हस्त तल से सारणा करना 'अनुस्तनित' या 'अनुस्वरित' कहलाता है।

बिन्दु—वीणा में केवल गुरू अक्षरों का वादन 'बिन्दु' जानों।

अनुबन्ध—इन धातुओं का संक्षेप और विस्तार कार्य या मिश्रण करना 'अनुबन्ध' होता है। इस प्रकार वीणा में व्यंजित होनेवाली ये दस व्यञ्जन धातु कहलाती हैं, जिनका प्रयोग करना चाहिए ॥ ९४–९९ ॥

इत्येते[1] धातवः प्रोक्ताः चत्वारो लक्षणान्विताः।
तिसृणामपि वृत्तीनां यासु वाद्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १०० ॥

इस प्रकार लक्षण युक्त चार धातुओं के प्रकार बतलाए गये हैं। इन्हीं पर तीनों वृत्तियों द्वारा सम्पन्न होनेवाला वाद्यवादन आधारित होता है ॥१००॥

तिस्रो गीतवृत्तयः[2] प्राधान्येन ग्राह्याः चित्रा–वृत्ति-दक्षिणा चेति। तासां वाद्य[3]-ताल-लय-गीति-यति-मार्ग–प्राधान्यानि यथास्वं व्यञ्जकानि[4] भवन्ति। तत्र चित्रायां सङ्क्षिप्तवाद्यं[5] [मागधी गीतिरेककलः] तालो द्रुतो लयः, समा यतिः अनागतग्रहाणां प्राधान्यम्। तथा वृत्तौ[6] [सम्भाविता] गीतिः वादित्रं द्विकलस्तालो मध्यौ लयः, स्रोतोगता (वहा) यतिः समग्रहमार्गाणां प्राधान्यम्। दक्षिणायां[7] [पृथुला] गीतिश्चतुष्कलस्तालो, विलम्बितो लयो गोपुच्छा यतिः अतीतग्रहमार्गाणां प्राधान्यम्।

गीत में तीन वृत्तियों का प्रधानतः ग्रहण करना चाहिए। ये हैं चित्र, वृत्ति तथा दक्षिण (मार्ग की) वृत्तियाँ। इनमें वाद्य, लय, ताल, गीति, यति, मार्ग प्रधानतः अपने स्वरूप के अनुसार व्यंजक होते हैं। उनमें भी चित्र में वाद्यों का संक्षेप मागधी गीति एककल ताल, द्रुतलय, समा यति और अनागत ग्रह की प्रमुखता होती हैं। मार्ग तथा वृत्ति (या वार्तिक मार्ग) में सम्भावितागीति, वादित्र द्विकल ताल, मध्य-लय, स्रोतोवहा

---

१. इत्यत्र—क०। २. गति—घ०।

३. तालगीतिलययति—क०।

४. व्यञ्जनानि—ग०, घ०।

५. सङ्क्षिप्तवाद्यतालद्रुतलयसमागतिरनागतग्रहाणां—क०।

६. वृत्तौ गीतवादित्रद्विकलतालमध्यलयस्रोतोगतायतिः सम—क०।

७. दक्षिणायां गीतिचतुष्कलतालम्बितलयगोपुच्छायतिरतीत–क०।

यति और समग्रह[1] की प्रमुखता होती है। दक्षिण मार्ग में चतुष्कल ताल, विलम्बित-लय तथा गोपुच्छा यति होती हैं और अतीत तथा अनागत ग्रहों की प्रमुखता होती है।

तिस्रस्तु वृत्तयश्चित्रा-दक्षिणा-वृत्तिसंज्ञिताः।
वाद्यगीतोभयगुणा निर्दिष्टास्ता यथाक्रमम् ॥ १०१ ॥

इस प्रकार चित्रादक्षिणा, तथा वृत्ति संज्ञा तीनों वृत्तियाँ हैं जो वाद्य और गीत दोनों की गुणस्वरता के लिए है। मैंने यथाक्रम जिनका यहाँ निर्देश कर दिया है ॥ १०१ ॥

सर्वासामेव वृत्तीनां ललिताद्यास्तु[1] जातयः।
धातुभिः सह संयुक्ता[2] भवन्ति गुणवत्तराः ॥ १०२ ॥

इन सभी वृत्तियों में 'ललिता'[2] आदि जातियाँ धातुओं के साथ योजना करते हुए प्रयोग करने पर अनेक-विशेषताओं को उत्पन्न करती हैं या श्रेष्ठता प्राप्त करती हैं ॥ १०२ ॥

एतेषां धातूनां समवायाज्जातयस्तु जायन्ते।
स्यादुदात्तललित रिभितघनसंज्ञाश्चतस्रश्च[4] ॥ १०३ ॥

इन धातुओं के संयोग से जिन जातियों की उत्पत्ति होती है ये हैं—उदात्त, ललित, रिभित तथा घन (भेद से चार प्रकार की होती हैं) ॥१०३॥

तत्रोदात्ता विस्तारधातुविषया बहुविषयताद्धा[5]।
ललिता व्यञ्जनहेतोर्ललितत्वादेव[6] सम्प्रोक्ता[7] ॥ १०४ ॥

---

१. मूल में प्रयुक्त 'मार्ग' शब्द से आशय है 'गृहमार्ग' जिसका इस गद्य-खण्ड में दो बार प्रयोग हुआ है। 'गृहमार्ग' का यहाँ अर्थ लिया जाएगा—किसी गीत या गीतखण्ड की किसी तालवाद्य या अवनद्धवाद्य द्वारा संगत करने की विधि (इस सन्दर्भ में संगीतरत्नाकर के ५।५४–५६, ५८ तथा ६।१८६–१८७ द्रष्टव्य है)

२. ललिता आदि जातियों का गीत से सम्बन्ध रखते हुए प्रयोग किया जाता है। इनके स्वरूप भी इसी कारण मुनि ने यहाँ दिखलाये हैं।

---

१. ललिताद्या हि—क० (म०)। २. सम्भक्ता—ख०।
३. स्यात् स्वादुदात्त—क, ख०। ४. श्चतस्रस्तु—क०।
५. ह्यु दात्तत्वात्—क०। ६. व्यञ्जनधातो—क०।
७. सम्प्रयोक्तव्या—क०।

इनमें धातु विषयक विस्तार करनेवाली तथा अनेक लक्ष्य या विषय तक पहुँचने वाली होने से 'उदात्ता' और अभिव्यक्ति की कारण तथा लालित्य पूर्ण होने से 'ललिता' (कहलाती है) ॥ १०४॥

आविद्धधातुविषया [1]रिभिताघातसञ्चयाद् (वि)निर्दिष्टा ।
करणविषया घनसंज्ञा गुरुलघुसञ्चयात्तस्य[2] ॥ १०५ ॥

आघातों के संचय करने के कारण तथा आविद्ध धातुओं का विषय ग्रहण करनेवाली 'रिभित' और गुरू लघु संचय के द्वारा करण धातुओं का विषय ग्रहण करने वाली 'घन' कहलाती हैं। ये सभी अपने स्वरूप पर निर्भर हैं ॥ १०५ ॥

त्रिविधं[3] वैणकवाद्यं कर्त्तव्यं गीतसंश्रयं तज्ज्ञैः ।
तत्वं[4] तथानुगतमोघश्चानेककरणसंयुक्तम् ॥ १०६ ॥

'वीणा' वाद्य को गीताश्रित करने पर तीन प्रकारोंसे युक्त किया जाए। ये हैं—(१) तत्त्व (२) ओघ तथा (३) अनुगत। इनको अनेक करणों के आश्रित रखा जाता है ॥ १०६ ॥

तत्त्व—

लयतालवर्णपदयतिगीत्यक्षरभावकं[5] भवेत्तत्त्वम् ।

जहाँ लय, ताल, पद, वर्ण, यति गीति और अक्षर आदि के प्रकाशन का मार्ग अवलंम्बित कर गति में लीन होकर वाद्य-वादन हो तो उसे 'तत्त्व (वादन) समझना चाहिए।

अनुगत—

गीतञ्च[6] यदनुगच्छेदनुगतमित्युच्यते वाद्यम् ॥ १०७ ॥

और गीति का थोड़ा थोड़ा अनुसरण करते हुए जो वादन हो तो वह 'अनुगत' कहलाता है ॥ १०७ ॥

---

१. रिभिता लघुसञ्चयात् विनिर्दिष्टा—क० ।

२. सञ्चायात्तु स्यात्—क० ।

३. त्रिविधं गीते कार्यं वाद्यं वीणासमुद्भवं—क०, ख०; त्रिविधं वैणं वाद्यं—क० (म), ग० ।

४. तत्वं ह्यनुगतमोघःस्थानैककरणसमायुक्ताः—क० ।

५. वादकं—क (भ०), भावकञ्च यत्तत्वम्—ख० ।

६. गीतं तु यदनुगच्छत्यनुगतमिति तद् भवेद् वाद्यम्—क, ख० ।

ओघ—

आविद्धकरणबहुलं उपर्युपरिपाणिकं द्रुतलयञ्च।
अनपेक्षितगीतार्थं वाद्यं त्वोघे[1] विधातव्यम् ॥ १०८ ॥

गीति के अर्थ की अपेक्षा न करते हुए, आविद्ध धातुओं तथा करणों के प्रयोग की बहुलता लिए हुए, द्रुतलय तथा उपरिपाणि प्रकार में वादन करना 'ओघ' कहलाता है ॥ १०८ ॥

स्थिते तत्त्वं प्रयोक्तव्यं मध्ये चानुगतं भवेत्।
द्रुते चौघं प्रयुञ्जीयादेष वाद्यगतो विधिः ॥ १०९ ॥

वाद्यों की वादन विधि यह है कि 'स्थित' में 'तत्त्व' का प्रयोग करना चाहिए मध्य में 'अनुगत' का तथा द्रुत में 'ओघ' का प्रयोग करना चाहिए ॥ १०९ ॥

तत्वन्तु प्रथमे गाने द्वितीयेऽनुगतं[2] भवेत्।
ओघस्तृतीये कर्त्तव्यो लयतालविचक्षणैः ॥ ११० ॥

प्रथम गान में 'तत्त्व' का द्वितीय में 'अनुगत' और तृतीय में लय और ताल के विलक्षण 'ओघ' का प्रयोग करे ॥ ११० ॥

एवं[3] तज्ज्ञैर्ज्ञेया वीणावाद्ये तु धातवः प्रोक्ताः।
वक्ष्येऽधुना विपञ्ची-वाद्यविधाने तु करणार्थम् ॥ १११ ॥

इस प्रकार वाद्य-विज्ञाता के लिए वीणा-वादन में धातुओं का यह बतलाया हुआ स्वरूप है। अब मैं विपंची[1] आदि वीणाओं के वादन में 'करणों' का विधान बतलाता हूँ ॥ १११ ॥

विपची के करण—

रूपं कृतं[4] प्रतिकृतं प्रतिभेदो रूपशेषम्[5] ओघश्च।
षष्ठी च प्रतिशुष्का ह्येवं ज्ञेयं करणजातम् ॥ ११२ ॥

---

१. विपञ्ची वीणा का स्वरूप इसी अध्याय में आगे २९।११८ पर द्रष्टव्य। नौ तारों की वीणा 'विपञ्ची' कहलाती होती है।

---

१. चौघं बुधैर्ज्ञेयम्—क (म), घ०।
२. द्वितीयेऽनुगतः स्मृतः—क (म,), ग०।
३. एवमेतत् स्वरकृतं ज्ञेषं वीणाशरीरजम्।
विपञ्चाद्यनुवक्रानि करणानि निबोधत ॥—ख०।
४. रूपकृतं—ग०, घ०।
५. रूपशेष ओघश्च—घ०।

विपञ्ची वादन में होने वाले करणों के छः प्रकार होते हैं—(१) रूप, (२) रूप-प्रतिकृत, (३) प्रतिभेद, (४) रूपशेष, (५) ओघ तथा (६) प्रतिशुष्क ॥ ११२ ॥

रूप—

वीणावाद्ये[1] द्विगुणं गुरुलाघववादनं भवेद्रूपम् ।

एक ही समय जब मुख्य वीणा में गुरु-लघु आदि के प्रयोग किये जाते हैं तब अंगवीणा में गुरु के स्थान पर दो लघु (दुगने वर्णों) का प्रयोग और लघु के स्थान पर दो द्रुतों का (भंजन युक्त) प्रयोग किया जाय तो उसे 'रूप' समझना चाहिए ।

रूपप्रतिकृत (प्रतिरूप)—

रूपं[2] प्रतिभेदकृतं प्रतिकृतमित्युच्यते वाद्यम् ॥ ११३ ॥

इसी प्रकार एक ही समय के बदले मुख्य वीणा के बाद अंगवीणा के द्वारा वादन करने का नाम 'रूपप्रतिकृत' है ॥ ११३ ॥

प्रतिभेद—

युगपत्कृते ऽम्यकरणं प्रतिभेदो दीर्घलाघवकृत्[3] स्यात् ।

रूप के विरुद्ध प्रकार में वादन करना 'प्रतिभेद' कहलाता है (जो मुख्य वीणा में दो लघु का प्रयोग करते समय अंगवीणा में एक गुरु के प्रयोग करने से बनता है ।)

रूपशेष—

वीणावाद्यविरामे[4] ऽविरतकरणन्तु रूपशेषः स्यात् ॥ ११४ ॥

वीणा वाद्य के वादन के अवसर पर विच्छेद (विराम) होने पर भी (अर्थात् 'चीज' के एक भाग के अंत और दूसरे भाग के आरंभ होने पर भी) आरंभ के मध्य को अंग-वीणा के वादन से पूर्ण करना 'रूपशेष' कहलाता है ॥ ११४ ॥

ओघ—

आविद्धकरणयुक्तो[5] ह्युपर्युपरिपाणिकस्त्वोघः ।

---

१. वीणावाद्य—क०, ग० ।
२. रूपं रूपं प्रति—ग० ।
३. लाघवकृतः स्यात्—क० ।
४. विरामेऽप्यविरत—क० ।
५. युक्तोऽप्युपरिपाणिक—क० (म०) ।

आविद्ध करणों[1] से युक्त कर उपरि-पाणि का बार बार वाद्यवादन करना 'ओघ' कहलाता है। (इस प्रकार के वादन के लिए स्वरों (रागों) के पूर्ण ज्ञान और हस्तलाघव की आवश्यकता होती है।)

प्रतिशुष्क—

प्रतिशुष्का विज्ञेया वाद्ये स[1] चैकतन्त्रिकृता ॥ ११५ ॥

मुख्यवीणा के स्वरों का अंगवीणा में वादन के अवसर पर शोभित या रंजक प्रकार में प्रयुक्त 'प्रतिशुष्क' कहलाता है ॥ ११५ ॥

कार्यं ध्रुवाप्रयोगे प्रायेण हि कोणवादनं तज्ज्ञैः।
द्वाभ्यामपि वीणाभ्यां गाने वा वादने वापि ॥ ११६ ॥

बुधजन इन दोनों (अर्थात् मुख्य तथा अंग) वीणाओं का ध्रुवा-प्रयोग के अवसर पर प्रायः कोण (मिजराफ) से वादन करे और यही बात गीत तथा वादन के समय भी की जाए ॥ ११६ ॥

स्थानं[2] वा पात्रं वा स्यात् तन्त्रिषु विभावयेत्समं गानम्।
तच्चौघतुल्यकरणं वाद्यं[3] कार्यं विपञ्च्यास्तु ॥ ११७ ॥

स्थान, पात्र, सम या गीत जो भी हो उसे वीणा से बतलाना चाहिए तथा वीणावादन ओघ तथा तुल्य करणों से युक्त किया जाए ॥ ११७ ॥

वीणा के भेद—

सप्ततन्त्री भवेच्चित्रा विपञ्ची नवतन्त्रिका।
विपञ्ची कोणवाद्या स्यात् चित्रा चाङ्गुलिवादना ॥ ११८ ॥

सात तारों की वीणा 'चित्रा' और नौ तारों की वीणा 'विपंची' कहलाती है। 'विपञ्ची' का वादन कोण (मिजराफ) के द्वारा और 'चित्रा' का वादन अंगुली (अंगुलियों) के द्वारा किया जाय ॥ ११८ ॥

---

१. करण—मुख्य वीणा वादन के अनुसार अन्य वीणाओं में थोड़ा गति भेद कर बजाने की स्थिति में इनका भेदन ही 'करण' कहलाता है जिसमें अंगवीणाओं का मुख्य-वीणा के साथ वादन होता है।

---

१. तु सहैकतन्त्रिकृता—(म०), ग०।
२. स्थानप्राप्तं वा—क० (म)। ३. वाच्य—क० (म)।

बहिर्गीत (निर्गीत) प्रबन्ध—

एवं[1] वेद्या तज्ज्ञैर्नानाकरणाश्रया विपञ्ची तु ।
अत ऊर्ध्वं व्याख्यास्ये लक्षणयुक्तं बहिर्गीतम् ॥ ११९ ॥

इसी प्रकार अनेक करणों (धातुओं) आदि के आश्रित वीणा वादन समझना चाहिए । अब मैं लक्षणों सहित 'निर्गीत'[1] (बहिर्गीत) विधान बतलाता हूँ ॥ ११९ ॥

आश्रावणा[2] तथारम्भो वक्त्रपाणिस्तथैव च ।
सङ्घोटना[3] तथा कार्या[4] पुनश्च परिघट्टना ॥ १२० ॥
मार्गासारितमन्यत्[5] स्यात् लीलाकृतमथापि वा ।
आसारितानि च तथा त्रिप्रकारकृतानि[6] तु ॥ १२१ ॥
एतानि च बहिर्गीतान्यादौ[7] योज्यानि योक्तृभिः ।
सतालानि ह्यतालानि चित्रवृत्तिगतानि[8] तु ॥ १२२ ॥

आश्रावणा[2], आरंभ, वक्त्रपाणि, परिघट्टना[3], संघोटना, मार्गासारित,

---

१. निर्गीत प्रबन्ध—निर्गीत प्रबन्ध का भरतमुनि ने धातुओं के विवरण, गुरु, लघु के प्रयोग, ताल कला और तालों के सशब्द आदि क्रियाओं के साथ विवरण दिया है; परन्तु लक्ष्यसाहित्य के लोप हो जाने से इनकी जानकारी रखना और तदनुसार वाद्य-वादन करना तब तक कठिन हैं, जब तक इसका विशेष साहित्य खोज करने पर प्राप्त न हो जाए ।

२. 'आश्रावणा' को विशाखिलाचार्य शुष्कवाद्य-प्रकार मानते है तथा वे विस्तार आदि धातु भेदों के द्रुत प्रयोग को इसका स्वरूप मानते हैं । यथा—'आश्रावणं' शुष्कवाद्यमत्र त्वाह विशाखिलः' विस्तार-धातु-भेदानां' प्रयोगैः द्रुतरूपताम् ॥ (सं० क०)

३. बहिर्गीत में परिघट्टना का मूलतः निवेश नहीं था ऐसा प्रतीत होता है । (द्र० सं० र० ५।८–११)

---

१. एवं वीणा—क० (म०); एवं ज्ञेया वैणे वाद्यविधाने तु धातवस्तज्ज्ञैः । वक्ष्याम्यतःपरमहं निर्गीतविधानसमवायम् ।।—क०; ख० ।

२. आश्रावणारम्भविधि—क० (म), ग० ।

३. परिघट्टना च विज्ञेया यथा सङ्घोटनैव च—क० (म), ग० ।

४. ज्ञेया—क (र) ।

५. मेतत् स्यात्—क०, मेव—क (म), ग० ।

६. त्रिप्रमाणानि चैव तु—क (म०) ।

७. गीतान्याहुर्वाद्यविदो जनाः ।—क० ।

८. चित्रवृत्तौ कृतानि तु—क०, चित्रवृत्तिगतानि तु—क (म) ।

लीलाकृत तथा तीनों प्रकार के आसारित[1] का बहिर्गीत[2] के आरंभ में प्रयोग करना चाहिए जो कि सताल या तालहीन चित्र तथा वृत्त (या वार्तिक) मार्ग के अनुसार रखे जाते हैं ॥ १२०-१२२ ॥

प्रयोजनं हि[1] पूर्वोक्तं पूर्वरङ्गविधौ मया ।
तेषाञ्चैव[2] तु वक्ष्यामि लक्षणं सनिदर्शनम् ॥ १२३ ॥

इनका प्रयोजन मैंने पूर्वरंग-विधि के निरूपण (पांचवे अध्याय में क्रमशः) के समय बतलाया था। यहाँ अब मैं इनका (क्रमशः) उदाहरण सहित लक्षण बतलाता हूँ ॥ १२३ ॥

आश्रावणा—

तत्राश्रावणा नाम—

विस्तारधातुविहितैः करणैः प्रविभागशो द्विरभ्यस्तैः ।
द्विश्चापि[3] सन्निवृत्तैः करणोपचयैः[4] क्रमेण स्यात् ॥ १२४ ॥

(अब 'वीणा' आदि वाद्यों के निर्गीत (शुष्कवाद्यात्मक) भेदों को बतलाते हैं।)

सर्वप्रथम धातुओं का विस्तार आदि करण प्रकारों में विस्तार नामक प्रथम-भेद का दो बार प्रयोग करें, दूसरे सन्निवृत्त नामक भेद का दो बार प्रयोग कर क्रमशः करणों (तृतीय, चतुर्थ आदि का दो बार, पंचम षष्ठ का, सप्तम अष्टम का इस प्रकार सात युग्मों) का प्रयोग करे तो 'आश्रावणा' नामक प्रकार हो जाता है ॥ १२४ ॥

गुरूणि त्वाद्यावेकादशकचतुर्दशकसपञ्चदशकम्[5] ।
सचतुर्विंशकमेवं द्विगुणीकृतमेतदेव स्यात् ॥ १२५ ॥

---

१. ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ आसारित ।

२. इन्हें 'बहिर्गीत' इसलिये कहा जाता है क्योंकि ये नाट्यप्रयोग से बाहर पूर्वरंगविधि में रखे जाते हैं ।

---

१. च विज्ञेयं पूर्वरङ्गविधि प्रति—क० ।

२. एतेषां सम्प्रवक्ष्यामि--क; तेषाञ्चैव प्रवक्ष्यामि—क (म०); एतेषां सम्प्रवक्ष्यामि दर्शनानि यथाक्रमम्—ख० । ३. विश्वापि (?)—ग० ।

४. करणापचयैः—क० ।

५. त्वादावेकादशकं चतुर्दशं सपञ्चदशम्—क० ।

यह चौबीस अक्षरों का होता है जिसमें प्रथम, द्वितीय, एकादश, चतुर्दश और चतुर्विंशाक्षर गुरू होते हैं। इन्हें पुनः दूसरे खंड में भी इसी प्रकार दुगने करते हुए रखना चाहिए। (प्रथम और द्वितीय खंड में भी इसी प्रकार रखना चाहिए। प्रथम और द्वितीय खंड में २४ अक्षर होते हैं)॥ १२५॥

लघुगुरूणि[1] च ततः षट् तथाष्टमं गुरु भवेत्तथा च पुनः।
षट् च लघूनि तथान्त्यं[2] गुरु (त्रिः) स्यादाश्रावणायान्तु ॥१२६॥

आश्रावणा के तृतीय खंड में जिसमें पन्द्रह वर्ण होते हैं—प्रथम लघु, फिर छः तक गुरु, आठवाँ गुरु, फिर अगले छः लघु तथा अन्तिम तीन गुरु होते हैं। (अर्थात् तृतीय-खण्ड में पन्द्रह वर्ण होते हैं। इस प्रकार आश्रावणा[1] के तीनों खण्ड बतलाए गए)॥ १२६॥

त्रिः शम्योपरिपाणौ तालोऽपि[3] ह्येष निर्दिष्टः।
समपाणौ द्वे शम्ये तालावप्येवमेव[4] स्यात् ॥ १२७॥
भूयः शम्या तालावनुगुणादुत्तरस्तथा[5] द्विकलश्च।
चच्चत्पुटस्तथा स्यादेवं ह्याश्रावणा-तालः॥ १२८॥

(अब इसका पात-कला आदि का वर्णन करते हैं) इस आश्रावणा के आदि में तीन शम्या (जो प्रथम तीन कलाओं में हो) का प्रयोग किया जाए और उपरिपाणि (लक्षण) के साथ फिर एक ताल, फिर समपाणि के साथ दो शम्या और दो ताल इसी प्रकार हों; फिर (अतीतग्रह के साथ) पुनः शम्या, ताल को प्रयुक्त करे, जिसमें बारह कला तक का प्रयोग पूर्ण हो जाए, फिर अवशिष्ट (दश) कलाओं में आद्य छः युग्म (प्रकार) का यथाक्षर षट्कल प्रयोग कर शेष चार संनिपात और शम्या के अनुसार रखने पर (बाइस कला की) 'आश्रवणा' हो जाती है॥ १२७-१२८॥

---

१. तुलना—सं० रत्ना० ६।१८२-१८४ तथा ६।१८६।

---

१. लघुनी गुरु चैव स्यादथाष्टमं—क०, लघुगुरुणी च स्यातामथाष्टमं—क० (म)।

२. ततोऽन्त्ये गुर्वाद्याश्रावणायां तु–क०, तथान्त्यं गुरु ह्याश्रावणायां तु—क० (म०)।

३. तालावप्येवमेव चैककवान्–क०, त्रिः शम्या ह्यवपाणौ कलावप्येवमेककवत्—क० (र)। ४. मेवाथ—क०।

५. शम्या तालाववपाणावुत्तरस्तथा चैव—क०; शम्यातालानुपाणादुत्तर—क० (म०)।

अत्रोदाहरणम्[1]—

झं[1] टुं जंगति यवलितक जम्बुक झं र[2] तितिसल कुच सलवा। दिद्रिं[3] गणपति पशुपति कंचुक दिद्दे[4] परभुज दिगि निशि वा। दिगि[5] गिनि च पशुपति निति च।

आरम्भ —

अथारम्भः—

दीर्घाण्यादावष्टौ द्वादश च लघूनि नैधनञ्चैव।
चत्वारि गुरूणि तथा ह्रस्वान्यष्टौ च दीर्घश्च ॥ १२९ ॥
लघुसंज्ञानि चत्वारि[6] द्विगुणीकृतो दीर्घद्वये तदन्ते।
अष्टौ लघूनि नैधनमित्यारम्भेऽक्षरविधानम् ॥ १३० ॥

आदि के आठ गुरु (दीर्घ) रहें, फिर बारह लघु और अन्त में भी लघु हों; फिर द्वितीय भाग में चार गुरु, आठ लघु, एक गुरु, फिर चार लघु और चार गुरु, तीसरे खंड में आठ लघु और अन्तिम गुरु होते हैं। यही 'आरंभ'[2] का अक्षर विधान है ॥ १२९-१३० ॥

अस्य तु वाद्यम्—

कार्यं त्रिपर्वविहितैरुपवहनैरप्यधः[7] समवरोहैः।
तल-रिभित-ह्रादयुतैः करणैर्विस्तारभूयिष्ठैः ॥ १३१ ॥
अपचययुक्तैर्द्विस्त्रिस्तथा[8] निवृत्तैस्तथा द्विरभ्यस्तैः।
आरम्भे[9] वाद्यविधिः कार्यस्त्वेवं प्रयोगज्ञैः ॥ १३२ ॥

---

१. आश्रावणा के उदाहरण का अनुवाद या व्याख्या देना अनावश्यक है।

२. इसकी तु० सं० रत्ना० ६।२०० द्र०।

---

१. झंटुं—क०। २. झण्टुं तिति च लघु च झण्टुं तिति च।—क०।

३. दिङ्गले गणपति पशुपति जम्बुक्—क०।

४. दिङ्गले वरभुज दिगि निगि च —क०।

५. तिति चादिनी निगिचा पशु—क०।

६. चतुर्थी निधनं द्विगुणीकृतानि दीर्घे द्वे। क०; त्वयं द्विगुणीकृतश्च दीर्घश्च —क० (र)।

७. त्रिपर्वरहितैरुद्वहनैरप्यथ—क०; त्रिपर्वहीनैरुपवहनैरथ—क० (म); त्रिपर्वविहितैरुद्वहनै—ख०। ८. कृत्वा च निर्वार्तितैः—क० (म०)।

९. आरम्भोऽप्यवतरणस्त्रिपर्वयुक्तैश्च कर्त्तव्यः—क०, ख०।

इसकी वाद्यवादन विधि तीन भागों में सम्पादित करते हुए फिर करण धातुओं के तल रिभित[1] ह्राद (आदि पांच) में से एक, दो या तीन बार प्रयोग करें और) विस्तार[2] नामक धातु भेद को प्रयुक्त कर फिर आरोह से युक्त कर अवरोह का पुनः प्रयोग करें तथा अन्य भेदों को दो-दो बार आवृत्त करें तो आरम्भ[3] विधि कहलाती है। (इसकी ध्रुवाओं का और गुरू लघु का विधान उपर्युक्त प्रकार से समझना चाहिए) ॥१३१-१३२॥

तालश्चास्य—

तालस्त्रिकलस्त्वादौ[1] शम्येककला[2] कलाद्वये तालाः।
द्विकला च पुनः शम्या तालो द्विकलश्च कर्त्तव्यः॥ १३३॥
द्विकलश्च[3] सन्निपातः पुन पितापुत्रकश्च षट्पूर्वः।
चञ्चत्पुटस्तथा स्यादारम्भे तालयोगस्तु[4]॥ १३४॥

इसके ताल विधान में आदि में तीन कला की ताल, एक कला की शम्या, फिर एक कला की दो ताल, फिर दो कला की दो शय्या तथा दो कला की ताल और दो कला का सन्निपात द्वितीय भाग में तथा तृतीय खंड में यथाक्षर चंचत्पुट और षट्पितापुत्रक दो को रखा जाए[4] ॥ १३२-१३४॥

अत्रोदाहरणम्—

ऋ[4] जं दुड्ड जगति अवलिनक दिगिवा दिंजेति निकाल कुच कुश जम्बुकं तिनि वा। आ गणपति पशुपति आ गणपति पशुपति वा।

अथ वक्त्रपाणि—

आविद्धकरणयुक्तो द्वयङ्गं[5] स्यादेककः प्रवृत्तो वा।
अर्धव्यञ्जन[6]धातुर्वाद्येऽप्यथ वक्त्रपाणिस्तु॥ १३५॥

---

१. इसके लिये द्र० ना० शा० के इसी अध्याय का पिछला वर्णन तथा संगी० रत्ना० ६।१४५, १४६ भी।

२. विस्तार धातु का स्वरूप ना० शा० २६ में दिया जा चुका है। तु० सं० र० ६।१३४।

३. तुलना सं० रत्वा० ५।२०४।

४. इनका अनुवाद संभव नहीं है। तु० सं रत्ना० ६।१६८, १६६।

---

१. श्रादौ—क०। २. शम्यैककलाद्वयं यतो तालः—क (म०)।
३. त्रिकलश्च—क०। ४. संयोगस्तु—घ०।
५. द्वयङ्गःस्यादेककः प्रवृत्ते वा—ग०। ६. अल्पव्यञ्जन—क (म०)।

वक्त्रपाणि में (मुख प्रतिमुख नामक) दो अंग होते हैं, यह आविद्ध[1] धातु करण से युक्त होता है तथा इसके प्रवृत्त और एकक[2] वर्णांग होते हैं। यह व्यञ्जन[3]-धातु के आधे अक्षरों वाला होता है (और विस्तार धातु से हीन होता है) ॥ १३५ ॥

गुरूणि पञ्च ह्रस्वाणि षट्[1] गुरूणि चतुर्गुणः[2] ।
गुरुणि द्वे लघुत्वेकं[3] चत्वार्यथ गुरूणि च ॥ १३६ ॥
चत्वार्यथ[4] लघूनि स्युस्त्रीणि दीर्घाणि चैव हि ।
लघून्यष्टौ च दीर्घश्च वक्त्रपाणौ विधीयते[5] ॥ १३७ ॥

इसमें होनेवाली ध्रुवाओं में पाँच गुरु, छः ह्रस्व, चार गुना गुरु, फिर दो गुरु, एक लघु, चार गुरु, चार लघु, तीन गुरु, आठ लघु और अन्त में गुरु हो तो [4]वक्त्रपाणि होता है ॥ १३६–१३७ ॥

द्विकले[6] मन्द्रके[7] यत्तु शम्यातालनिपातनम् ।
तत्सर्वं वक्त्रपाणौ तु मुखे[8] ह्यष्टकलाः स्मृताः ॥ १३८ ॥
शम्यातालौ तालशम्ये तेषु कुर्यात् क्रमेण च ।
तालं शम्या च तालश्च सन्निपातं तथैव च ॥ १३९ ॥
तस्याधस्तात् पुनः[9] कार्यं पञ्चपाणिचतुष्टयम् ।
वक्त्रपाणेरयं तालो मुखप्रतिमुखाश्रयः ॥ १४० ॥

१. आविद्ध धातु का स्वरूप ना० शा० के इसी अध्याय में दिया जा चुका है। तुल० सं रत्ना० ६।१५८–१४०।

२. प्रवृत्त तथा एकक के स्वरूप ना० शा० ३१।२०१ पर आगे दिये गये हैं।

३. व्यञ्जनधातु का वर्णन ना० शा० २९ में दिया जा चुका है।

४. तुलना सं० रत्ना० ६।२०९–२१०

१. षड्जगुरुश्च—क०, षड्स्वरश्च—ख०। २. गुणम्—क (म०)।
३. द्वे च लघुनी—क (म०)। ४. चत्वारि च—क (म०)।
५. भवेद्विधिः—क०।
६. अस्मात् पूर्वं क–पुस्तके–अस्य वाद्यम्–आविद्धकरण–युक्तो द्व्यङ्गःस्यादेकप्रवृत्तो वा। अल्पव्यञ्जनधातुर्वाद्यविधिर्वक्त्रपाणौ तु ॥—इत्यधिकम्।
७. मद्रके—घ०।
८. कार्यमष्टकलान्वितम्—क०, मुख्ये ह्यष्टौ कला—क (म०)।
९. ततः क (म०)।

द्विकलमद्रक में चौबीस कलावाली वस्तु के अन्त में आठ कला की जो-जो शम्या ताल मात्राएँ रहती हैं वही यहाँ भी रहती हैं (और उसे 'मुख' तालांग माना जाता है) शम्या ताल, ताल, शम्या क्रमशः करने के उपरान्त ताल, शम्या, ताल और सन्निपात करने के बाद षट्पिता पुत्रक, (पंचपाणि) की चार आवृत्ति की जाए तो 'वक्त्रपाणि' की मुख और प्रतिमुख में होनेवाली ताल विधि सम्पन्न हो जाती[1] है ॥ १३८–१४० ॥

अत्रोदाहरणम्—

द्विद्धिः क्रुं द्रूं जम्बुक गजपति याः ऋतुड्डादिद्भेये ड्डुघिषि टुन किति इना दुंघटु वट्ट किटि मट डु[2] ।

अथ सङ्घोटना—

विस्तारकरणैस्त्रिभिश्च[1] चित्रस्तथा हि[2] वृत्तैश्च ।
त्रिश्चाभ्यस्तोपचयैर्वदन्ति[3] सङ्घोटनावाद्यम् ॥ १४१ ॥

संघोटना—

इसे विस्तार[3] धातु के तीन करणों को धातु के चित्र[4] तथा वृत्त भेदों से मिलाते हुए दो या तीन बार पृथक्-पृथक् प्रयुक्त करें, फिर दो तीन बार इनसे मिलाकर बढ़ाते हुए (अन्य करण धातु भेदों के साथ) वादन करें तो 'संघोटना' नामक निर्गीत-वाद्य का प्रकार हो जाता है ॥ १४१ ॥

गुरूणि लघून्यथाद्यौ दीर्घं द्वितयं[4] तथा च कर्तव्यम् ।
लघुदीर्घे लघु च पुनश्चतुर्गुणश्चापि[5] कर्तव्यम् ॥ १४२ ॥

---

१. तुलना० सं० रत्ना० ६।२११, २१२ ।

२. उदाहरण का अनुवाद आवश्यक नहीं था ।

३. विस्तार धातु का स्वरूप ना० शा० २९ में दिया जा चुका है तु० सं० रत्ना० ६।१३४ ।

४. चित्र तथा वृत्त का स्वरूप ना० शा० २९ में दिया जा चुका है । तु० सं० रत्ना० ६।११ ।

---

१. विस्तारचित्रकरणैर्द्विस्त्रिविनिवृत्तैर्द्विरभ्यस्तै—क० । विस्तारधातुकरणै—क (म०) । २. निवृत्तैश्च—क (म०) ।

३. उपचययुक्तैः क्रमशो—क; अपचययुक्तै—क (र) ।

४. द्विगुणं—क०, दीर्घद्वितीयं—क (म०) ।

५. चतुर्गुणं सम्प्रकर्तव्यम्—क० ।

पुनरष्टौ ह्रस्वा[1] स्युस्त्वथ गुरुनिधनं तथा कार्यम् ।
सङ्घोटनवस्तुविधौ ज्ञेयं[2] गुरुलाघवविधानम् ॥ १४३ ॥

इसकी ध्रुवाओं की गुरुलघु विधि है—दो गुरु, आठ लघु, दो गुरू, लघु, एक गुरु, फिर चार लघु, आठ लघु और अन्त में एक गुरू । 'संघोटना' की वस्तुविधि में गुरू लघु का यही विधान समझना चाहिए[1] ॥१४२–१४३॥

अस्या वाद्यविधिः—

अधिदण्डां[3] हस्ताभ्यां वीणामुपगृह्य[4] दक्षिणाङ्गुल्या ।
अङ्गुष्ठाभ्याञ्च सदा[5] कार्यं सङ्घोटनावाद्यम् ॥ १४४ ॥
सङ्घोटने[6] स्वराणां संवादिविवादिनोश्चापि ।
सङ्घोटना[7] त्वभिहिता शेषानुवादिभिश्चैव[8] ॥ १४५ ॥
अस्यास्तालः[9] शीर्षकवत्पञ्चपाणिविहितः ॥ १४६ ॥

वीणा को दोनों हाथों के अंगूठों और दाहिनी तर्जनी से दबाते हुए बिन्दु रूपी धातुव्यंजन प्रकार के प्रहार से वादन करे । इस समय वादी और संवादी स्वरों का परस्पर बल करते हुए बजाए अर्थात् षड्ज, पंचम, ऋषभ-धैवत गान्धार-निषाद स्वरों को जो विकृतावस्थायुक्त और बारह और आठ श्रुतियों के अन्तर से (युक्त) रहनेवाले हों उन्हें संगति या साथ रखते हुए और बहुधा अनुवादी स्वर को इनसे गौण रखते हुए वादन करे । इसकी शीर्षक के समान पंचपाणि (षट्पितापुत्रक) ताल रहती है ॥ १४४–१४६ ॥

अत्रोदाहरणम्—

झंडं जगति यवलित कड्डु टुड्डुटुं महायोगी क्षुक-कपाल यासुपति गणपति क[2] ।

---

१. तुलना सं० रत्ना० ६।२१३ ।

२. उदाहरण का अनुवाद यहाँ नहीं दिया जा सकता है ।

---

१. ह्रस्वानि स्युरिह तथा नैधनं कर्तव्यम्—क० ।

२. ह्रस्वगुरुविधिः समुद्दिष्टः—ज० । ३. अद्रिदण्डं—क० ।

४. विनिगृह्य—क०, वीणामुप दक्षिणा—ग० । ५. तथा—क० ।

६. सङ्घोटयेत् स्वरं वादिना तु संवादिना तथाविधबलम्—क० ।

७. समवायिभिश्च शषैरनुवादिभिरल्पकैश्चांशैः-क०; सङ्घोटनात्—घ० ।

८. शेषैरनुवादिभि—(म०) । ९. तालोऽस्या ।

अथ परिघट्टना—

दीर्घाण्यादावष्टौ लघूनि कुर्यात्[1] पुनर्द्विगुणितानि ।
ह्रस्वान्यपि[2] चत्वारि द्विगुणितानि स्युः सदीर्घाणि ॥ १४७ ॥
षोडशलघूनि च स्युः सगुरूण्यन्ते[3] तथैव कार्याणि ।
एष परिघट्टनायाः[4] गुरुलघुवस्तुक्रमः प्रोक्तः ॥ १४८ ॥

परिघट्टन—

आदि में आठ गुरु, सोलह लघु तथा पुनः आठ लघु, एक गुरु, सोलह लघु, अन्त में एक गुरु के करने पर 'परिघट्टना' का ध्रुवागत गुरुलघुक्रम हो जाता है ॥ १४७-१४८ ॥

वाद्यश्चास्य[5] तज्ज्ञैः सोपवहनं[6] हस्तलाघवात् कार्यम् ।
व्यञ्जनधातुसमुत्थं नानाकरणाश्रयोपेतम् ॥ १४९ ॥

व्यंजन धातु से उत्पन्न होने वाले उपवहनादि भेदों से और करण धातु के (पांच) प्रकारों से युक्त हस्तलाघव से मर्दित करते हुए वाद्य वादन किया जाए (जिसमें आरोही स्वर अधिक हों) तो उसे परिघट्टना' समझना चाहिए ।

सम्पर्केष्टाकः[7] स्यात्तालः करणैस्तु धातुसंयुक्तैः ।
गुरुलघुयोगादेवं[8] विहितं[9] कार्यं बुधैर्नित्यम् ॥ १५० ॥

इसमें धातुओं के साथ-साथ करणों के द्वारा संपर्केष्टाक ताल होता है । इस प्रकार गुरुतथा लघु के योग से इसका सदा वादन किया जाए[2] ।

मार्गासारित—

अथ मार्गासारितम्—

चत्वारि गुरूणि स्युर्लघूनि चत्वार्यथ द्विगुणितानि ।

---

१. च द्वे गुरूण्यपि कुर्यात्—क० (म०) ।
२. लघुनी द्वे सर्वाणि द्विगुणानि सहैव दीर्घेण—क० (म०) ।
३. सह निधनेनैव कार्याणि—क० ।
४. परिघट्टनायां—क० ।
५. वाद्यश्चास्यां—क०; परिघट्टनासमुत्थं वाद्यन्त्वथ हस्त—क (म०) ।
६. सोद्वहनं—क० ।
७. सम्पिष्टकवच्चास्यास्तालः—क०, सम्पिष्टाकवच्चा—क (म०) ।
८. सकलैः सतलैर्वाद्यं विस्तराविद्धकरणसंयुक्तम्—क० (म०) ।
९. विहितः कार्यो—क० ।

गुरूणी[1] लघूनि चाष्टावन्त्यं गुरु चेति कर्त्तव्यः ॥ १५१ ॥
गुरूणि च लघूनि च नव स्युर्मार्गासारिते च वस्तूनि ।

मार्गासारित में चार गुरु, आठ लघु (चत्वारि द्विगुणितानि) आठ गुरू, आठ लघु, अन्त में गुरू, लघु, तथा गुरु, लघु वस्तु होती है ॥ १५१ ॥

मार्गासारिते[2] वाद्यं विस्ताराविद्धकरणसंयुतम् ॥ १५२ ॥
तालैः[3] सकलैरथ गुरुलघुसञ्चयैः[4] स्यादयम् ॥ १५३ ॥

मार्गासारितवाद्य के संगीत में—

विस्तार एवं आविद्ध करणों के मिश्रित भेदों के प्रयोग तथा कला बल के प्रयोगों[1] के होते हैं। (तथा) इसमें समस्त गुरु लघु के संचय के साथ कलायुक्त ताल रहती हैं ॥ १५२-१५३ ॥

अत्रोदाहरणम्—

दिग्लत् संटुं जगति पचति नकदिह्ले संटुं ।

अथवा—

चत्वारि च गुरूणि स्युर्ह्रस्वान्यष्टौ भवन्ति हि ।
गुरूणि तथा[5] ह्रस्वानि दीर्घमन्त्यमथापि वा ॥ १५४ ॥

या इसमें चार गुरु, आठ लघु, तीन गुरु, तीन लघु तथा अन्तिम दीर्घ होता है ॥ १५४ ॥

अत्राप्युदाहरणम्—

दिकं[6] तुं जगति यवति यवलि । कं दुं तिति कल कुल तिति वा ।

लीलाकृत—

अथ लीलाकृतम्—

कनिष्ठासारितविधौ[7] चास्य तालः प्रकीर्तितः ।

---

१. तुलना संगी० रत्ना० ६।२११।

१. गुरुणी बघून्यथाष्टौ गुरुणी चेत्येतत् त्रिधा योज्यम्—क० ।

२. सारितवाद्यं—क० ।

३. सकलैः सतलैः करणैरथ गुरुलघुसञ्चयश्चायम्—क० ।

४. सञ्चयैः कार्यम्—क० (र)। ५. नव ह्रस्वाणि—क० ।

६. दिग्ले झण्टुं जगति य । वलितक झण्टुं तिति । झलकुच झलतिति चा (लति चा) ।

७. बालासारितवच्चैव तालोऽस्य परिकीर्तितः—क० ।

श्रवणमधुराणि लीलाकृतान्यभिसृतपरिसृतान्तकृतानि।
तान्यप्यर्थवशादिह कर्तव्यानि [1]प्रयोगविधौ ॥ १५५ ॥

इस लीलाकृत की कनिष्ठासारित की विधि में ताल द्विकल श्रवण-मधुर तथा सहज या अनायास (लीला) किया हुआ हो तथा इसमें आवश्यकतानुसार अभिसरण और परिसरण का भी संयोजन रहना चाहिए जिसे प्रयोगवित् जन आवश्यकतानुसार यहाँ प्रयुक्त करें ॥ १५५ ॥

अथासारितानि-ज्येष्ठमध्यकानि। तानि च [2]तालमानप्रमाणनिर्दिष्टानि तालविधाने यथाक्रमं व्याख्यास्ये।

इसमें ज्येष्ठ, मध्य, कनिष्ठ आसारित होते हैं तथा वे ताल-प्रमाण आदि से युक्त रखे जाते हैं। इनको यथाक्रम ताल-विधानाध्याय[1] में आगे व्याख्यानपूर्वक बतलाया जाएगा।

एवमेतत्स्वरगतं[3] ज्ञेयं वीणाशरीरजम्।
अत[4] ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुषिरातोद्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे ततातोद्यविधानं
नाम एकोनत्रिंशोऽध्यायः।



इस प्रकार वीणा के द्वारा किया जाने वाला स्वरगत प्रकार (इस अध्याय में) बतलाया गया, अब मैं सुषिर वाद्यों का लक्षण बतलाता हूँ ॥ १५६ ॥

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र के ततातोद्यविधान नामक उनतीसवें अध्याय की प्रदीप हिन्दी व्याख्या सम्पूर्ण।



---

१. तालविधानाध्याय ना० शा० का ३१ वाँ अध्याय है।

---

१. प्रयोगज्ञैः—क० (म०) घ०। २. तालप्रमाण—क० (म०)।

३. एवं स्वरगतं ज्ञेयं वीणाशारीरसम्भवम्—क (म०)।

४. विपञ्चीवाद्ययुक्तानि करणानि निबोधत–क०, वक्ष्याम्यतश्च भूयः सुषिरातोद्यप्रयोगं तु—क०।

अथ त्रिंशोऽध्यायः

सुषिर-आतोद्य विधाधानाध्याय

सुषिरवाद्य का लक्षण—

आतोद्यं[1] सुषिरं नाम ज्ञेयं वंशकृतं[2] बुधैः ।
वैण एव विधिस्तत्र [3]स्वरग्रामसमाश्रयः[4] ॥ १ ॥

बुधजन बाँस से निर्मित या रन्ध्र युक्तवाद्य को सुषिर[1]-वाद्य जानें, जिसकी स्वर, ग्राम आदि में होनेवाली विधियाँ वीणा के समान ही (होती) हैं ॥ १ ॥

वंशी के स्वर—

द्विकत्रिकचतुष्कास्तु ज्ञेया वंशगताः स्वराः ।
कम्पमानार्धमुक्ताश्च[5] व्यस्तमुक्तास्तथैव च ॥ २ ॥

---

१. वंश या सुषिर वाद्य का वादन फुत्कार या मुंह की हवा से किया जाता है । भरतकालीन कुतप या वृन्दवाद्य में वंशी का प्रमुख स्थान वीणा के साथ-साथ रखा जाता था । यह अंगवाद्य माना जाता था । वंशीवादन (सदा) वीणा का अनुगामी माना जाता था । वंशी का निर्माण बांस से ही सर्वप्रथम होने के कारण 'वंश' इस वाद्य की संज्ञा भी रखी गयी । उत्तरवर्त्ती समय में वंशी खदिर तथा चन्दन की लकड़ियों से, लोहा, कांसा, चाँदी तथा सोना आदि धातुओं से भी बनायी जाने लगी थी । सुषिरवाद्य के अन्तर्गत 'शंख' भी आता है किन्तु इसका स्वरादि से सम्बन्ध नहीं होने से संगीत में उपयोग नहीं किया जाता है । भरतमुनि के उत्तरकाल से आज तक सुषिर वाद्य के अनेक उपकरण विकसित हुए किन्तु 'वंशी' का स्थान फिर भी तथैव महत्त्व रखता है ।

---

१. वाद्यन्तु —ग० । २. वंशगतं—क०, ख० ।

३. स्वरग्राम्य—ख० ।

४. अस्मादनन्तरं–क० पुस्तके–नव वंशास्तु विज्ञेयास्त्रिस्थानस्वरगोचराः । तेषाञ्चैव हि वंशानां स्थाने स्थाने त्रिकत्रयम् । यथाबन्धलयस्तेषां स्वरा ज्ञेयाः समासतः ।।—इति सार्धश्लोको ऽधिकः प्रक्षिप्तश्च ।

५. कम्प्यमानार्थं (र्थं)—क० ।

वंशी में होनेवाले स्वर द्विक,[1] त्रिक, चतुष्क, कम्पित (कम्पमान) तथा व्यक्तमुक्त होते हैं ॥ २ ॥

तत्रोपरि यथा ह्येकस्वरो[1] वैणः स्वरान्तरे[2] ।
प्राप्नोत्यन्यत्वमेवेह[3] तथा वंशगतोऽपि हि ॥ ३ ॥

इसके[2] आगे जैसे वीणा का स्वर अपने आरोही और उत्तरवर्ती स्वर से परिवर्तन (अन्वय) प्राप्त करता है वैसे ही वंश स्वरों की (भी) स्थिति होती है ॥ ३ ॥

द्विक[4]-त्रिक-चतुष्को वा स्वरः[5] स्याच्छ्रुतिसङ्ख्यया ।
अन्वीरणात्तु[6] शेषाणां स्वराणामपि[7] सम्भवः ॥ ४ ॥

इसमें श्रुति-संख्या के अनुसार द्विक, त्रिक और चतुष्क स्वरों की तथा फूत्कार की गति या बल में परिवर्तन करने पर एक ही स्थान से शेष अर्थात् साधारण तथा काकली स्वरों का भी निर्माण या उद्भव सम्भव है ॥ ४ ॥

स्वराणाञ्च श्रुतिकृतं चतुर्द्वित्रित्व[8]-लक्षणम् ।
अङ्गुलिपातनकृतं[9] तच्च मे[10] सन्निबोधत ॥ ५ ॥

---

१. यहाँ द्विक से तात्पर्य द्विश्रुतिक स्वर है। इसी प्रकार त्रिक का अर्थ त्रिश्रुतिक स्वर तथा चतुष्क का अर्थ चतुश्रुतिक स्वर है। इनका त्रिविधरूप से वादन किया जाता है। ये क्रमशः अर्थात् द्विक 'कम्पित', त्रिक 'अर्धमुक्त' तथा चतुष्क 'व्यक्तमुक्त' कहलाते थे।

२. यहाँ मूल में 'तत्रोपरि' से आशय है कि यदि श्रुतियाँ आगे विस्तीर्ण होती हुई अन्य स्वर से अर्थात् उत्तरवर्त्ती स्वर से या एक स्वर दूसरे में परिणत या परिवर्तित होता है।

---

१. ह्येकः स्वरो—ख० ।

२. स्वरोत्तरे—ख० । ३. त्यन्यत्वमेवाह—ख० ।

४. अस्मात् पूर्वं कपुस्तके—तत्रोपरि यथा ह्येकः स्वरो वैणस्वरान्तरे। प्राप्नोत्यन्यमेवेह तथा वंशगतोऽपि हि ॥ इतिश्लोकोऽधिकः ।

५. श्रुतिसंख्यो भवेत् स्वरः—क० ।

६. अनीरणात्तु—क०, ख०, ग० ।

७. स्वराणां श्रुतिसम्भवः—क०, ख०, ग० ।

८. चतुस्त्रिद्विश्च—घ० । ९. वादनकृतं—क०, ख० ।

१०. वक्ष्याम्यतः परम्—क० (म०) ।

स्वरों के श्रुति के द्वारा होने वाले लक्षणों के अनुसार त्रिक तथा चतुष्क स्वर वंशीवादन के समय अँगुलियों को उस पर रख कर उत्पन्न किये जाते हैं। अब उनका वर्णन सुनिये[1] ॥ ५ ॥

व्यक्तमुक्ताङ्गुलिस्तत्र[1] स्वरो ज्ञेयश्चतुःश्रुतिः।
कम्पमानाङ्गुलिश्चैव त्रिश्रुतिः[2] परिकीर्त्यते[3] ॥ ६ ॥

व्यक्त-मुक्त नामक स्वर चतुः-श्रुतिक होता है और कम्पमानांगुली स्वर त्रिश्रुतिक होता[1] है। तथा

द्विकोऽर्धाङ्गुलिमुक्तश्च[4] एवं श्रुत्याश्रिताः स्वराः।
एते[5] स्युर्मध्यमग्रामे भूयः षड्जाश्रिता[6] पुनः ॥ ७ ॥
व्यक्तमुक्ताङ्गुलिकृता षड्जमध्यमपञ्चमाः।
धैवतश्चार्षभश्चैव[7] कम्पमानाङ्गुलीकृतौ[8] ॥ ८ ॥
स्वरसाधारणे[9] चापि काकल्यन्तरसंज्ञके।
अर्धमुक्ताङ्गुलिश्चैव[10] गान्धारोऽथ निषादवान् ॥ ९ ॥

अर्धांगुलीमुक्त स्वर द्विश्रुतिक होता है। ये मध्यमग्राम में होने वाले श्रुत्याश्रित स्वर हैं तथा षड्जग्राम में होने वाले स्वरों में षड्ज, मध्यम और पंचम व्यक्तमुक्तांगुली-स्वर, धैवत और ऋषभ कम्पमानांगुलीयक-स्वर, काकली और अन्तर स्वर साधारण-स्वर होते हैं तथा गान्धार और निषाद अर्धमुक्तांगुलीस्वर होते हैं ॥ ७–९ ॥

---

१. इसका आशय यह है कि वंशी के छिद्र से अंगुलियों को पूर्णतः मुक्त कर 'चतुःश्रुतिक-स्वर' अंशतः मुक्त तथा अंशतः बन्द करने से 'द्विश्रुतिक-स्वर' तथा रन्ध्र को बार-बार खुला एवं बन्द करने से 'त्रिश्रुतिक-स्वर उत्पन्न होते हैं। त्रिश्रुतिक-स्वर के वादन की क्रिया 'कम्पित' कहलाती है।

---

१. प्रव्यक्तमुक्ताङ्गुलिस्तु ज्ञेयो वंशगतः श्रुतिः—क (भ०)।
२. त्रिश्रुतिश्च स्वरो भवेत्—ग०। ३. परिकीर्तितः—क०।
४. मुक्तः स्यादिति—क०, द्विकार्धाङ्गुलि—ख०। ५. एते तु—ग०।
६. षड्जाश्रितान् शृणु—क० (ड)।
७. ऋषभो धैवतश्चापि—क०, निषादधैवतौ वापि—क (र)।
८. ङ्गुलीकृता—ग०।
९. पद्यार्धमेतत्—ग० पुस्तके नास्ति।
१०. गान्धारश्च निषादश्चाप्यर्धमुक्ताङ्गुलीकृतौ—क (न)।

निषादगान्धारयोश्च[1] तथा षड्जमध्यमयोरपि ।
विपर्ययः[2] सन्निकर्षे श्रुतिलक्षणसिद्धिदः[3] ॥ १० ॥

निषाद-गान्धार और षड्ज-मध्यम स्वर का विपरीत भाव श्रुतिलक्षण के सिद्धभाव को प्रदर्शित करनेवाला होता[1] है ॥ १० ॥

वैणकण्ठप्रदेशेन[4] सिद्धा वंशाश्रिताः[5] स्वराः :
यं यं गीत[6] स्वयं गच्छेत्तं तं वंशेन वादयेत् ।
शारीरवैणवंशाना[7]मेकीभावः[8] प्रशस्यते ॥ ११ ॥

वंशाश्रित स्वर वीणा तथा कण्ठ[2] में प्रविष्ट होने के कारण सिद्ध स्वर कहलाते हैं, अतएव स्वर जिन गतियों को धारण करे, वंशी उन सभी को बजा सकती है । शरीरोत्पन्न (कण्ठ) स्वर, वीणा-स्वर और वेणु स्वरों का प्रयोग के साथ एकरूपता प्राप्त कर लेना अधिक प्रशस्त माना जाता है ।

अविचलितमविकुष्टं[9] वर्णालङ्कारसंयुतं मन्द्रम्[10] ।
विधि[11]वल्ललितं मधुरं वेणोरेवं[12] स्मृतं वाद्यम् ॥ १२ ॥

---

१. यहाँ निषाद से आशय है काकली निषाद तथा गान्धार का अर्थ है अन्तर गान्धार जैसे साधारण संज्ञक स्वरों के वादन में । 'सा' तथा काकली 'नि' तथा 'म' एवं अन्तर 'ग' इन स्वर युग्मों का परस्पर सन्निकर्ष सहज होता है, यही मूल में दिखलाया गया है ।

२. वेणु वादन का गायन की संगति के लिये प्रयोग यहाँ इष्ट है, यह दर्शाया गया है । संगति का सिद्धान्त यह था कि जिस स्वर को गायक गावे उसी का अनुसरण वेणु या बांसुरी पर किया जाए । गायक, वीणा तथा वेणु के स्वरों का पूर्ण सामञ्जस्य संगति की सफलता की कसौटी समझी जाती हैं । यही आशय भरतमुनि का यहाँ अभिप्रेत है ।

---

१. गान्धारकृतौ—क० । २. विपर्ययात्—क (र) ।
३. सिद्धितः—क०, ग० ।
४. प्रवेशेन—क० । ५. कण्ठा—क (च) ।
६. गाता—क०, गतः—ख०, ग० ।
७. वैणवंश्या—क, वंशवेणाना—ग० ।
८. मेक—क (र) ।
९. मविच्छिन्नं—क० । १०. विधिवत्—क०, ख० ।
११. ललितं मधुरं स्निग्धं—क०, ख० । १२. रेवंविधं—ख० ।

वेणुवाद्य अपने स्थानों से विचलित न होने वाले, बीच में न टूटने वाले और वर्ण तथा अलंकार से युक्त, मन्द्र, ललित और मधुर स्वर से आपूर्ण स्वरूप वाला होना चाहिए ॥ १२ ॥

[1]एवमेतत्स्वरकृतं[2] विज्ञेयं वंशयोक्तृभिः[3] ।
अत ऊर्ध्वं[4] प्रवक्ष्यामि घनातोद्यविकल्पनम् ॥ १३ ॥

स्वर योजक इसी प्रकार के वेणुवाद्य की विधि समझें । अब मैं अगले अध्याय में घनवाद्यों का वर्णन करता हूँ ॥ १३ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे सुषिरातोद्यविधानं[5]
नाम त्रिंशोऽध्यायः ।



भरत नाट्यशास्त्र की प्रदीप हिन्दी व्याख्या का सुषिरातोद्यविधान
नामक तीसवें अध्याय की प्रदीप हिन्दी व्याख्या समाप्त ।



१. मेतत्सुषिरस्वर—ग० । २. स्वरगतं—क० ।
३. गानयोक्तृभिः—क० । ४. परं—क० ।
५. तोद्यलक्षणं—क० ।

एकत्रिंशोऽध्यायः

तालविधानाध्याय

ताल—

तालो[1] घन इति प्रोक्तः कला-पात-लयान्वितः[2] ।
कलास्तस्य[3] प्रमाणं वै विज्ञेयं तालयोक्तृभिः ॥ १ ॥

कला, पात और लय से युक्त जो काल का विभाग या परिमाणात्मक प्रमाण-जो घन वाद्य के वर्ग में आता है—ताल[1] कहलाता है। संगीत के (प्रयोग के) अवसर पर जब 'ताल' का व्यवहार होता है तो उसे समय के परिमापक 'कला' शब्द से कहा जाता है और तब इसका अर्थ भी ताल का प्रमाणनिदर्शक काल होता है ॥ १ ॥

या लौकिकी कला काष्ठा निमेषश्च स्मृता[4] बुधैः ।
न सा तालकला ज्ञेया ह्यन्यैषा[5] तालजा कला ॥ २ ॥

लौकिक व्यवहार में विद्वज्जन[2] जिसे कला, काष्ठा, निमेष या पल कहते हैं, उस समय के परिमाण को 'कला' या 'ताल' (वर्तमान सन्दर्भ में)

---

१. तालशब्द की अनेक आचार्यों ने व्याख्या की है—भरत मुनि के अनुगत आचार्यों के अनुसार 'तल्' प्रतिष्ठायाम् धातु से अधिकरणार्थ में घञ् प्रत्यय के द्वारा तालशब्द निष्पन्न होता है। शैलालि के अनुसार आदिनट के पद को 'तल' कहा जाता है तथा उसी से उद्भूत होने के कारण भवार्थ में अण् प्रत्यय लगा कर ताल शब्द निष्पन्न होता है। गान एवं वादन की परिच्छेद हेतुका क्रिया जो संवादत्व को लिये हुए होती हो—'ताल' कहलाती है। (अभि० भा०)।

२. अमरकोश केअनुसार अठारह निमेष की एक काष्ठा तथा तीस काष्ठा की एक कला होती है। (द्रष्ट—अष्टादशनिमेषास्तु काष्ठात्रिंत्तु ताः कलाः

---

१. वाद्यन्तु यद् घनं प्रोक्तं—क०, वाद्यं तूर्यायनं—ख० ।

२. न्वितम्—क० ।

३. कालस्तस्य प्रमाणं हि विज्ञेयं तालयोगतः—क०, कालास्या तु प्रमाणं —क (ङ) । ४. स्मृतो—ख०, निमेषाश्च स्मृता—ग० ।

५. ह्यन्यैषां तालगाः कलाः—क० ।

नहीं समझना चाहिए। 'ताल' के प्रसंग में (उद्भूत) होनेवाली कला इससे भिन्न ही होती है ॥ २ ॥

निमेषाः पञ्च मात्रा स्यान्मात्रायोगात् कलाः स्मृताः ।
निमेषा पञ्च विज्ञेया गीतकाले कलान्तरम् ।
ततः कला-कालकृतो लय इत्यभिसंज्ञितः ॥ ३ ॥

पाँच निमेष के बराबर समय की गानकाल में एक 'मात्रा'[1] बनती है तथा मात्राओं के योग से 'कला' का उद्भव होता है। पाँच निमेष का समय गानकाल में मध्यवर्ती या दो कलाओं के बीच का समय माना जाता है और पुनः कला और मात्राओं के समय के अनुसार 'लय'[2] का निर्माण होता है ॥ ३ ॥

त्रयो लयास्तु विज्ञेया द्रुत-मध्य-विलम्बिताः ।
यस्तत्र तु[1] लयो मध्यस्तत्प्रमाणकला[2] स्मृता ॥ ४ ॥

लय के तीन प्रकार हैं—(१) द्रुत, (२) मध्य तथा (३) विलम्बित। इनमें जो मध्यलय है उसके प्रमाणानुसार 'कला' का प्रमाण

(अम० १।३।११) इस प्रकार एक कला का समय वर्तमान आठ सेकेन्ड के बराबर माना जा सकता है। अन्य पद्धतियों से इसका समय अड़तालीस सेकेन्ड तथा कभी-कभी एक मिनट भी हो जाता है। अमरकोष के व्याख्याकार क्षीरस्वामी ने आँख की पलक के एक बार पात के बराबर रहने वाले समय को निमेष कहा है—'निमेषोऽक्षिस्पन्दनकालः'।

१. अन्य संगीताचार्य पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण काल के बराबर होनेवाले गान काल की एक 'मात्रा' मानते हैं। द्रष्ट–संगीतरत्नाकर—पञ्च लघ्वक्षरोच्चारमिता मात्रा ······ (५।१६)

२. लय शब्द लीङ् श्लेषणे से निष्पन्न होता है। इसमें स्वर या वर्णान्यत्व के आपादन में रहने वाली लीनता या विश्रान्ति होती है, उसी के सम्पादन में या अन्तिम दशा में उसी का अनुसारी रसानुरूप ध्वनि के उत्पादन या उत्पादक दशा का कारक 'लय' कहलाता है। जैसा कि विना शक्ति के पृथ्वी पर पैरों के टिकाने पर बीच में विश्राम लेने पर उसी व्यक्ति को विलम्ब से चलने वाला बतलाया जाता है। यही उदाहरण लय की त्रिविधता को समझने में लेना चाहिए।

---

१. मन्दोऽथ लयो—ग० ।
२. तत्प्रमाणा कला भवेत्—क० ।

ज्ञान होता है (अर्थात् मध्यलय प्रमाणकला को निश्चित या निर्णीत करती है) ॥ ४ ॥

कला के प्रकार—

त्रिविधा सा च विज्ञेया त्रिमार्गनियता[1] बुधैः ।
चित्रे द्विमात्रा कर्त्तव्या वृत्तौ[2] सा द्विगुणा स्मृता ॥ ५ ॥
चतुर्गुणा दक्षिणे[3] स्यादित्येवं त्रिविधा कला ।
कला-कालप्रमाणेन ताल इत्यभिसंज्ञितः[4] ॥ ६ ॥

यह कला भी तीन प्रकार की मानी जाती है तथा विद्वज्जन इसे तीन मार्गों[1] से निश्चित करते हैं—चित्र-मार्ग में दोमात्रा, वृत्ति या वार्तिक-मार्ग में चार मात्रा तथा दक्षिण-मार्ग में आठ मात्रा की 'कला' मानी जाती है तथा कलाओं के द्वारा गीत का कालकृत विभाग 'ताल' कहलाता है ॥ ५–६ ॥

ताल के विभेद—

चतुरस्रश्च[5] त्र्यस्रश्च तालो द्विविध एव हि ।
द्विविधस्यापि तालस्य चैका[6] प्रकृतिरिष्यते ॥ ७ ॥

ताल के दो[2] भेद हैं—(१) चतुरस्र तथा (२) त्र्यस्र । इन दोनों की उत्पत्ति या प्रकृति समान मानी गयी है ॥ ७ ॥

तथा योनिद्वयं चास्य कीर्त्यमानं निबोधत ।
चच्चत्पुटस्तु विज्ञेयो तथा चापपुटोऽपि[7] च ॥ ८ ॥

अब मैं इनकी दो प्रकार की (द्वि-गुणित) स्रोनातोमयी उत्पत्तिभूमि को बतलाता हूँ । ये हैं—चच्चत्पुट तथा चापपुट ॥ ८ ॥

---

१. मार्ग को पाणि के बराबर समझना चाहिए, जिसका विवरण आगे इसी अध्याय में (दिया गया) है ।

२. दो या चार कलाओं के प्रमाण से निर्मित काल को ये दोनों भेद क्रमशः दर्शाते हैं ।

---

१. नियताद्भुतैः (?)—क०, नियमा बुधैः—क (ढ) ।

२. वार्तिके द्विगुणा तु सा—ग० । ३. दक्षिणा—ग ।

४. इत्यभिधीयते—क (ड) ।

५. त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च स तालो द्विविधः स्मृतः—क०, ख० ।

६. त्वेका—क०, ख० । ७. चाचपुटो—क० ।

चतुष्कलोऽथ[1] द्विकलस्तालो यस्मात् प्रवर्तते ।
चतुरस्रस्तु विज्ञेयस्तालश्चञ्चत्पुटो बुधैः ॥ ९ ॥
त्र्यस्रश्चापपुटश्चैव[2] गुरुलघ्वक्षरान्वितः ।

क्योंकि इनमें से किसी एक से चतुष्कल और द्विकल 'ताल'[1] प्रवृत्त होता है । अतः चच्चत्पुट को चतुरस्र तथा चापपुट को त्र्यस्र ताल भी कहते हैं । ये गुरु तथा लघु अक्षरों से निर्मित (या युक्त) होते हैं ॥ ९-१० ॥

[3]प्रथमं गुरुणी कृत्वा लघु चान्त्यं प्लुतन्तथा ॥ १० ॥
अक्षराणां निवेशेन स तु चञ्चत्पुटस्तदा ।
आदौ गुर्वक्षरं यत्र[4] लघुनी गुरु एव च ॥ ११ ॥
त्र्यस्रः स खलु विज्ञेयस्तालश्चापपुटो[5] भवेत् ।
अनयोर्मिश्रभावाच्च[6] मिश्रतालः प्रकीर्तितः ॥ १२ ॥
षट्पितापुत्रकश्चैव पञ्चपाणिः[7] स चेष्यते ।
यथोक्तैरभिनिष्पन्नः स्वसंज्ञागुरुलाघवैः ॥ १३ ॥
समासयोगात् तालोऽयं त्रिविधः परिकीर्तितः ।

यदि आरम्भ के दो वर्ण गुरु, एक लघु तथा अंतिम वर्ण प्लुत हो तो चच्चतपुट' बन जाता है । 'चापपुट'—जिसे त्र्यस्र ताल भी कहा जाता है, आरम्भ में एक गुरु, फिर दो लघु तथा अन्त में एक गुरु के संयोग से बनता है । इन दोनों का मिश्रण 'मिश्रताल' कहलाता है, जिनमें 'षट्पितापुत्रक' या 'पंचपाणि भी है । यह अपनी संज्ञा में स्थित वर्णों के गुरु, लघु अक्षरों से भी अपना स्वरूप प्रकट कर देता है । संक्षेपतः ताल के यही तीन विभेद होते हैं ॥ १०-१४ ॥

---

१. इन दो तालों के तीन भेद होते हैं—यथाक्षर, द्विकल तथा चतुष्कल । इनका इसी अध्याय में आगे वर्णन भी है ।

---

१. पद्यार्धमेतत् क-ख० पुस्तकयोर्नास्ति ।

२. त्र्यस्रश्चाचपुटः प्रोक्तो—क०, त्र्यस्रः स खलु विज्ञेयस्तालश्चाचपुटो भवेत्—क० (ड) ।

३. आदौ द्वे गुरुणी यत्र लघु च प्लुतमेव च —क०, पञ्चमी गुरुणी कृत्वा ··· । कुर्याच्चच्चत्पुटश्चैव बुधश्चाचपुटस्य तु ।।—(ड) ।

४. ज्ञेयं—क० ।

५. चाचपुटो—क०, स्तालश्चञ्चूपुटाश्रयः—ख० ।

६. अस्मादनन्तरं क—पुस्तके तु—शम्यातालप्रवेशेन त्र्यश्रोऽन्योऽपि विधीयते इति पद्यार्धमधिकम् । ७. पञ्चपाणिरुदाहृतः—क० ।

सन्निपातस्ततः शम्याः तालः शम्या अथापि[1] वा ॥ १४ ॥
शम्यातालौ द्विरभ्यस्तौ तालशम्ये[2] तथैव च ।
सन्निपातादिको[3] ज्ञेयः शम्यादिश्च तथापरः ॥ १५ ॥
तालादिश्च त्रिभिर्भेदैः पुनश्चश्चत्पुटो[4] भवेत् ।
सन्निपातादिको[5] नाख्ये चतुरस्रे भवेदयम् ॥ १६ ॥
शम्यादिकस्तु विज्ञेयस्तज्ज्ञैरासारितादिषु ।
तालादिकस्तथा प्रोक्तो विद्वद्भिः पाणिकादिषु ॥ १७ ॥
चञ्चत्पुटस्य ये भेदाः[6] सन्निपातादयस्त्रयः ।
त एव भेदा विज्ञेया बुधैश्चापपुटे[7] पृथक् ॥ १८ ॥

इनकी पात[1]-कला इस प्रकार है :—सन्निपात, शम्या, ताल, शम्या या शम्या, ताल, शम्या, ताल या ताल, शम्या, ताल, शम्या (यह एक कला के चञ्चत्पुट में रहनेवाली पातकला है)।

इस प्रकार चञ्चपुट के तीन प्रकार हो जाते हैं– सन्निपातादि[2], शम्यादि तथा तालादि।

---

१. पात तथा कला व्याख्या की संगीतरत्नाकर के व्याख्याकार चतुर कल्लिनाथ ने इस प्रकार की है—पाताः सशब्दा ध्रुवादयः कलाः शब्दाः आवापादयः ताभिः पातकलाभिः योगः सम्बन्धः। सन्निपात आदि सभी एक संख्या को यहाँ निर्दशित करते हैं, जैसे सन्निपात का यहाँ एक सन्निपात अर्थ लिया जायगा तथा शम्या का एक शम्या इत्यादि। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

२. जो सन्निपात से आरंभ होता हो उसे 'सन्निपातादि' समझना चाहिए। जैसे—सन्निपात, शम्या। तथा ताल शम्यादि में शम्या से आरंभ होता है। यथा—शम्या, ताल, शम्या, ताल। तालादि में ताल से आरंभ होता है। यथा—ताल, शम्या ताल।

---

१. तथैव च—क०। क० पुस्तके ऽस्मादनन्तरम्—एवमेककलः शुद्धो योज्यश्चच्चत्पुटो बुधैः–इतिपद्यार्धमधिकम्। २. तालः शम्या तथापि वा—क०।
३. पातादिके—क०।
४. युंतः—क० तथा तालादिभिर्भावैर्युग्मश्चञ्चत्पुटो भवेत्—ग०।
५. पद्यार्धमेतत्—क पुस्तके नास्ति।
६. भावाः सन्निपातादयश्च ये—क०, ख०।
७. चाचपुटे—क०, ञ्चञ्चूपुटस्य च—ख०।

नाट्य में सन्निपातादिचतुरस्त्र रखा जाता है, आसारित में शम्यादिक और पाणिकादि गीतों के गान में तालादि की योजना की जाती है[१]।

चञ्चत्पुट के जो सन्निपातादि तीन भेद बतलाये हैं ये ही तीन प्रकार 'चापपुट' की दशा में भी समझना चाहिए ॥ १४-१८ ॥

सन्निपातादिकस्त्वस्य बलवानितरेऽपि[१] च ।
षट्कलोऽष्टकलश्चैव तालो ह्यस्मात् प्रवर्तते[२] ॥ १९ ॥

पर इस चापपुट में सन्निपातादि तथा शेष दोनों भेद भी बलवान होते हैं, इसी से छः या आठ कलाओं का सन्निपात होता है ॥ १९ ॥

शम्या तालप्रवेशेन त्र्यस्रोऽन्योऽपि विधीयते ।
षट्पितापुत्रककृतः पञ्चपाणिरुदाहृतः ॥ २० ॥

शम्या, ताल तथा प्रवेश होने पर अन्य प्रकार त्र्यस्र भी रखा जा सकता है । यह है षट्पितापुत्रक जिसका दूसरा नाम पंचपाणी कहलाता है ॥२०॥

आद्यं प्लुतं द्वितीयन्तु[३] लघु यत्राक्षरं भवेत् ।
तृतीयश्च चतुर्थश्च गुरुणी पञ्चमं लघु ॥ २१ ॥
प्लुतान्तः षट्पितापुत्रो गुरुलाघवसंयुतः ।
पञ्चपाणिः[४] स विज्ञेयः षट्पातस्तु[५] षडक्षरः ॥ २२ ॥

(इसकी तातकला इस प्रकार है :—) प्रथम वर्ण प्लुत, दूसरा लघु, तीसरा और चौथा गुरु, पांचवा लघु और अंतिम प्लुत प्रयुक्त होता है। इस प्रकार के गुरु; लघु अक्षरों वाला षट्पितापुत्रक कहलाता है । इसी को पंचपाणी भी कहते हैं, जिसमें छः पात और छः अक्षर होते हैं[२] ॥२१-२२॥

---

१. प्राचीन काल में गीत की यही विधि रही है । यह प्रकार का रूप अत्यन्त प्राचीन या पुराकाल में प्रचलित था ।

२. इसकी तुलना संगीत रत्ना० ५।३१ से की जा सकती है ।

---

१. नितरी तथा-क०, न्नेतरस्तथा—ख० ।

२. अस्मादनन्तरं-क० पुस्तके—द्विप्रकारः पुनश्चायं निश्शब्दः शब्दवाँस्तथा । इति पद्यार्धमधिकम् ।

३. द्वितीयश्च—क० ।

४. अस्यादौ सन्निपातः स्यात् तालशम्ये ततः परम् । तालशम्ये च तालश्च षट्पाताश्च प्रकीर्त्तिताः ।।—क (ड) ।

५. मात्रस्तु—क० (ब) ।

सन्निपातस्ततस्तालः शम्या तालस्तथैव च।
शम्या चैव द्वि तालश्च षट्पातस्तस्य[1] कीर्तितः ॥ २३ ॥

इसके छः पात इस प्रकार (होते) हैं :—सन्निपात, ताल, शम्या, ताल, शम्या तथा ताल[1] ॥ २३ ॥

तालादिस्त्र्यस्रभेदोऽन्यः सम्पर्केष्टाकसंज्ञितः[2] ।
गुरुपञ्चाक्षराद्यन्त्यप्लुतमात्रासमन्वितः[3] ।
सन्निपातस्ततः शम्या तालशम्यैकतालकः ॥ २४ ॥

तालादि के त्र्यस्र भेद में एक अन्य प्रकार हो जाता है जिसका नाम है 'सम्पर्केष्टाक'[2] । इसमें मध्यवर्ती पाँच अक्षर गुरु तथा आदि और अन्त का अक्षर प्लुत होता है । इसके पात इस प्रकार (के होते) हैं —ताल, शम्या, ताल, शम्या और ताल ॥ २४ ॥

त्र्यस्रं सर्वगुरुं कृत्वा निष्क्रामं तत्र[4] योजयेत् ।
शम्याद्वयं ततस्त्वेष[5] उद्घट्टः कथितो बुधैः[6] ॥ २५ ॥

जब त्र्यस्र में सभी गुरु वर्ण (तीन गुरु) हों तो उसकी कलाएँ इस प्रकार होंगी :—निष्काम, शम्या, शम्या । यह प्रकार उद्घट्ट कहलाता है ॥ २५ ॥

---

१. इसकी तुलना सं० र० ५।३१ से होती है ।

२. अन्य पाठो में सम्पत्केष्टाक पाठ मिलता है । संगीतरत्नाकर में इसे सम्पक्केष्टाक तथा संगीतमकरन्द में सम्पद्वेष्टाक कहा गया है । (द्रष्ट सं० र० ५।४)

---

१. पातास्तस्य कीर्तिताः—क० ।

२. सम्पक्वेष्टकसंज्ञितः—क०, यो ज्ञेयः संपक्वेष्टको बुधैः—क० (र०) ।

३. गुरुपञ्चाक्षराण्येव प्लुतमात्राद्वयान्विता—क (क), गुरुसर्वाक्षरो यस्तु प्लुतादन्तः प्रकीर्तितः ।—(ड) ।

४. त्वत्र—ख० । ५. ततस्तेषु—ख० ।

६. अतः ऊर्ध्वं क० पुस्तके—व्युदस्य युग्ममोजश्च पञ्च ताला भवन्ति हि । मिश्रा गीताङ्गसंयुक्ता ज्ञेया ह्युदघट्टकादयः ॥ कलाः पञ्च तथा सप्त पुनर्नव च कीर्तिताः । दशैकादश चैवेति सङ्कीर्णाः समुदाहृताः ॥ न ह्येषामुपयोगोऽस्ति सप्तरूपे ध्रुवासु च । प्रवृत्तादिषु कर्त्तव्या एते भूयः प्रयोक्तृभिः ॥—इति श्लोकत्रयम् अधिकम् ।

एवमेककलो ज्ञेयः शुद्धश्चञ्चत्पुटादिकः[1]।
यथाक्षरोऽथ द्विकलस्तथा चैव चतुष्कलः॥ २६॥
त्रयो भेदा हि तालस्य द्विगुणा[2] द्विगुणाः स्मृताः।
चतुरस्रस्त्रिभिर्भेदैस्तालस्तु परिकीर्तितः॥ २७॥
चतुष्कलो ह्यष्टकलः कलाषोडशकः[3] पुनः।

शुद्ध चञ्चत्पुट आदि एक कला के होते हैं। इस प्रकार ताल के तीन विभेद होते हैं: (१) यथाक्षर, (२) द्विकल तथा (३) चतुष्कल। ये तीनों अपने पूर्व प्रकार से दुगने दुगने विस्तार से बनाये जाते हैं पर चतुरस्रताल अपने तीन (विशिष्ट) प्रकार का होता है जो क्रमशः चार, आठ तथा सोलह कला के रूप में जाना जाता है॥ २६-२८॥

त्र्यस्रतालस्तु षट्भेदस्त्रिकलः षट्कलस्तथा॥ २८॥
कलाद्वादशकोऽपि[4] स्याच्चतुर्विंशतिकस्तथा[5]।
[6]कलाष्टचत्वारिंशत्कं कला षण्णवतिस्तथा॥ २९॥

इस प्रकार त्र्यस्र ताल के छः विशिष्ट प्रकार होते हैं। ये क्रमशः (१) त्रिकला (२) षट्कला (३ × २), (३) द्वादशकला (६ × २), (४) चौबीस कला (१२ × २) (५) अड़तालीस कला (२४ × २) और (६) छानबे कला (४८ × २) वाले होते हैं॥ २८-२९॥

तालो नवविधश्चायमयुग्मः[7] सम्प्रकीर्तितः।
द्विप्रकारस्त्वयं[8] तालो निःशब्दः शब्दवाँस्तथा॥ ३०॥
प्रयोगं द्विविधं चास्य कीर्त्यमानं निबोधत।

और इस प्रकार त्र्यस्रताल के नौ भेद हो जाते हैं (तीन सामान्य-भेद + छः विशेषभेद = नौ प्रकार)। (सामान्यतः) ताल के दो प्रकार होते हैं—

---

१. चञ्चत्पुटा बुधैः—क०। २. द्विगुणाद्—क०।

३. कलाः षोडश चैव हि—क, ख०।

४. द्वादश चैव स्यात्—क०।

५. विंशतिरेव च—क०।

६. चत्वारिंशत् तथाष्टौ च तथा षण्णवतिः कलाः—क०, कलाष्टचत्वारिंशत्ककलाः षण्णवतीः पराः—क० (ड)।

७. समासात् परिकीर्तितः—क०, ख०।

८. श्लोकमेतत्—क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति।

(१) निःशब्द तथा (२) सशब्द । अब मैं इनके दो प्रकारों से होने वाले द्विविध[1] प्रयोगों को बतलाता हूँ ॥ ३०–३१ ॥

तत्रावापोऽथ[1] निष्कामो विक्षेपश्च[2] प्रवेशकः ॥ ३१ ॥
चतुर्विकल्प इत्येवं[3] निःशब्दः [4]परिकीर्तितः ।

इस प्रकार (दो प्रकार) के प्रयोग होने पर निःशब्दताल के चार विभेद हो जाते हैं : (१) आवाप, (२) निष्काम, (३) विक्षेप तथा (४) प्रवेशक ॥ ३१–३२ ॥

शम्या तालो ध्रुवश्चेति सन्निपातस्तथा परः ॥ ३२ ॥
इति[5] शब्देन संयुक्तो विज्ञेयश्च[6] चतुर्विधः ।

और इस प्रकार सशब्द ताल के भी चार प्रकार होते हैं : —(१) शम्या, (२) ताल, (३) ध्रुव तथा (४) सन्निपात । (ये दोनों निःशब्दा तथा) सशब्दा क्रिया भी कहलाती है) ॥ ३२–३३ ॥

एतेषामथ[7] वक्ष्यामि हस्ताङ्गुलिविकल्पनम्[8] ॥ ३३ ॥
लक्षणञ्च प्रमाणञ्च यथावदनुपूर्वशः[9] ।

अब मैं क्रमशः इनके प्रमाण और लक्षण तथा इनमें (प्रयोगावस्था में) होने वाली हाथ तथा अंगुलियों की क्रियाओं का वर्णन करता हूँ[2] ॥३३-३४॥

---

१. इन दो प्रकारों के द्विविध प्रयोगों के विवरण से यही प्रतीत होता है कि इन विभेदों का उद्भव परस्पर निरपेक्ष होते हुए हुआ होगा । इसका उद्देश्य भी यही प्रतीत होता है कि इन भेदों में से किसी एक का भी संगीत के प्रयोक्ता को उपयोग संभव हो जाय । और जहाँ किसी प्रकार का मतभेद या भ्रम हो तो वहाँ इन प्रकारों में से अन्यतम को लेकर किसी एक पक्ष को सुस्पष्ट रखा जा सके ।

२. आवाप आदि के विवरण हेतु द्रष्टव्य संगीतरत्ना० ५।७ ।

---

१. तत्र चालाप —ख० । २. विक्षेवोऽथप्रवेशनम्—क०, ख० ।
३. इत्येव—क०, इत्येष—क (र) ।
४. कथितो बुधैः—क (ड), ग० ।
५. सशब्दलक्षणं ह्येतत् विज्ञेयं तु चतुर्विधम्—क (र०) ।
६. विज्ञेयोऽपि—क० ।
७. मेव—क०, चैव—क (र०) । ८. निबन्धनम्—क (ब) ।
९. यथायथमिहोच्यते—क (ब०) ।

ऊर्ध्वाङ्गुलिसमाक्षेप[1] आवाप इति संज्ञितः ॥ ३४ ॥

आवाप—उत्तान हस्त (चित्त हथेली को ऊपर आकाश की ओर रखना) की सभी अंगुलियों को सिकोड़ना या बन्द करना 'आवाप' (क्रिया) कहलाता है। (इसका संकेत 'आ' है)

निष्क्रामोऽधोगतस्य[2] स्यादङ्गुलीनां प्रसारणम्[3] ।

निष्काम–अधोगत-हस्त (चित हथेली को नीचे की ओर उलटकर रखना) की अंगुलियों को फैलाना 'निष्काम' (क्रिया) कहलाता है। (संकेत 'नि')

तस्य दक्षिणतः क्षेपो[4] विक्षेपः परिकीर्तितः ॥ ३५ ॥

विक्षेप—अधोगत हस्त को दाहिनी बाजू में झटका देकर फेंकना या रखना 'विक्षेप' (क्रिया) है। संकेत 'वि')

निवर्तनश्च[5] हस्तस्य प्रवेशोऽधोमुखस्य च ।

प्रवेश—अधोगत-हस्त को पुनः अपनी दशा में वापस लौटाना (या उसकी अंगुलियों को सिकोड़ना) 'प्रवेश' कहलाता है। (संकेत 'प्र' है) ॥ ३४–३६ ॥

कृत्वाङ्गुलीनामाक्षेपं[6] निष्क्रामश्च[7] भवेदथ ॥ ३६ ॥
विक्षेपश्च पुनः कार्यः पुनश्चैव प्रवेशनम् ।
यदा[8] चतुष्कलो योगस्तदा त्वेष विधिर्भवेत्[9] ॥ ३७ ॥
निष्क्रामश्च प्रवेशश्च द्विकले[10] परिकीर्तितौ ।
एषामन्तरपातास्तु पातसंज्ञाः प्रकीर्तिताः[11] ॥ ३८ ॥

'आवाप' क्रिया को अंगुलियों के द्वारा प्रदर्शित करने के बाद 'निष्काम' और फिर 'विक्षेप' के बाद 'प्रवेश' की क्रिया की जाती है। यह क्रम

---

१. उत्तानाङ्गुलिसङ्कोच–क०, ख०; सर्वाङ्गुलिसमाक्षेप—ग०, क (ड)।

२. अधोगताभिर्निष्कामः—क (ब०), निष्क्रमोऽधोगतः सव्या—ग०।

३. क्षेपात्—ग०।

४. विवर्तितेन हस्तेन प्रवेशोऽधोमुखेन तु—क० (र०)।

५. कृता—क० (र०)। ६. निष्क्रामस्तु—क (र०)।

७. पातश्चतु—क० (र०)। ८. विधिः स्मृतः—ख०।

९. द्विकलौ—ग०।

१०. अतोऽनन्तरं—शम्या तालस्तु विज्ञेयः सन्निपातस्तथैव च'—इति पद्यार्धं ख० ग० पुस्तकयोर्नास्ति।

चतुष्कलताल के होने पर रखा जाता है। क्योंकि निष्काम और विक्षेप क्रिया दो कला[1] के प्रमाण की होती है। इनके मध्यवर्ती समय में होने वाली (ताली बजाने की) क्रिया पात कहलाती है॥ ३६–३८॥

शम्या[1] दक्षिणहस्तस्य तालः पातस्तु वामतः।
हस्तयोस्तु[2] समः पातः सन्निपात इति स्मृतः॥ ३९॥

इन पातों के नाम शम्या, ताल और सन्निपात हैं। इनमें दाहिने हाथ के द्वारा ताली बजा कर ताल देना शम्या (संकेत 'श०') बायें हाथ से ताली बजाना 'ताल' (संकेत 'ता') और दोनों हाथों को एक साथ लाकर ताली बजाना 'सन्निपात' कहलाता है (संकेत 'सं०')॥ ३९॥

ध्रुवस्तु[3] मात्रिकः[4] पातः रागमार्गप्रयोजकः।
कला यास्त्रिविधाः प्रोक्ताः तासां[5] पातो ध्रुवः स्मृतः॥ ४०॥

एक मात्रा पर विराम के लिए किया जाने वाला पात 'ध्रुव' कहलाता है तथा यह रागों[2] के मार्ग का निर्माण कर्त्ता या आपादक होता है। (संकेत 'ध्रु') तथा जो त्रिविध कलाएें बताई हैं उनमें (अर्थात् तीन कला पर) हाथ को नीचे ले जाना भी 'ध्रुव' कहलाता है॥ ४०॥

यथाक्षरस्य तालस्य स तु गुर्वक्षरो[6] भवेत्।
यथाक्षरकृतैः पातैस्तालो[7] ज्ञेयो यथास्थितः[8]॥ ४१॥

---

१. कला शब्द से यहाँ आशय वर्णों का प्रतीत होता है ताल के किसी एक विभाग या अंश का नहीं जो कि द्विकल या चतुष्कल प्रकारों को बनाता हो।

२. नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त राग शब्द का आगे जाकर संगीतशास्त्र में जो स्वरूप हुआ उसकी किसी प्रकार इस विवरण से मेल ताल बिठाने की स्थिति का प्रभूत संशोधको ने प्रयास किया है। यहाँ राग शब्द का प्रयोग मार्ग के विशेष उत्पादन में इष्ट है।

---

१. सव्यहस्तनिपातः स्याच्छम्या तालस्तु वामतः—क०।
२. द्वाभ्यां कराभ्यां यतनं—क० (ब०)।
३. ध्रुवं तु—ग०। ४. मात्रिकं—क (ड); माद्रिकं—ग०।
५. तस्याः—क०, ख०, तस्यां—क (ड)।
६. गुर्वक्षरः स्मृतः—क०, सर्वगुर्वक्षरः स्मृतः—क (ब०)।
७. यथाक्षरः—क०, ख०। ८. स नव

गुर्वक्षरैश्च विश्लिष्टैः स एव द्विकलो[1] भवेत्।
द्विर्भावो[2] द्विकलस्यैव विज्ञेयस्तु चतुष्कलः ॥ ४२ ॥

यथाक्षर ताल में 'ध्रुव' गुरु अक्षरों वाला होता है। यथाक्षर में ताल का अक्षरों के अनुसार रहने वाला सामान्यतः स्वरूप होता हैं (अर्थात् जब ताल के नाम में प्रयुक्त अक्षरों की सामान्य स्थिति के अनुसार 'पात' हो तो उसे 'यथाक्षर' कहते हैं)। जब यह दो गुरु अक्षरों से युक्त होता है तो द्विकल (दो कला वाला) तथा 'द्विकल' से दुगुना होने पर 'चतुष्कल' कहलाता है ॥ ४१-४२ ॥

यथाक्षरकृताः[3] पाताः सर्वैरेव प्रकीर्तिताः।
चञ्चत्पुटस्य विज्ञेयास्तथा[4] चापपुटस्य च ॥ ४३ ॥
पञ्चपाणेश्च विहिताः भेदा ह्येते त्रयः[5] स्मृताः।

इस प्रकार मैंने यथाक्षर ताल के अन्तर्गत होने वाले सभी पातों का वर्णन किया है। इसी प्रकार चञ्चत्पुट, चापपुट और पंचपाणि[1] के तीन भेद (अक्षरों के अनुसार होने वाले पात से यथाक्षर चञ्चत्पुट, चापपुट तथा पंचपाणि ये तीन भेद) बन जाते हैं ॥ ४३-४४ ॥

व्युदस्य युग्ममोजं[6] ये पञ्च ताला भवन्ति हि ॥ ४४ ॥
मिश्रा[7] गीताङ्गसंयुक्ता ज्ञेया ह्युद्घट्टकादयः।

और चतुरस्र (युग्म) और त्र्यस्र (ओज) हटा देने पर जो ताल के पाँच विभेद होते हैं ये उद्घट्टक[2] आदि कहलाते हैं। ये मिश्र भेदवाले होकर गीत के विभिन्न अंशों से सम्बद्ध रखे जाते हैं ॥ ४४-४५ ॥

कलाः पञ्च तथा सप्त पुनर्नव च कीर्तिताः ॥ ४५ ॥
दश[8] चैकादशै ते च सङ्कीर्णाः समुदाहृताः[9]।

---

१. 'पञ्चपाणि' ही षट्पितापुत्रक का दूसरा नाम है।
२. अर्थात् उद्घट्टक तथा सम्पर्कोष्टाक।

---

१. द्विकलः स्मृतः—ख०।
२. द्विर्भावा द्विकलस्यापि विज्ञेयोऽथ—क द्विर्भागात्—क० (र)।
३. कृतैः पातैः सर्वै—क (ड)। ४. तालस्य तथा चाच—क (ड)।
५. त्रयः पृथक्—क०।
६. युग्ममोजं तु—क, युग्मराजं—ग०। ७. मिश्रीगता—क० (ड)।
८. दशैका—दश—ग०। ९. पञ्च कीर्तिताः—क (ड)।

क्योंकि ये (मिश्रताल के) विभेद पाँच, सात, नौ, दस या ग्यारह कलाओं से निर्मित होते हैं (तथा) इसी कारण मिश्र या संकीर्ण ताल कहे जाते हैं ॥ ४५-४६ ॥

न ह्येषामुपयोगोऽस्ति[1] सप्तरूपे ध्रुवास्वपि ॥ ४६ ॥
प्रवृत्तादिषु कर्त्तव्या एते[2] गानप्रयोक्तृभिः ।

इनका सप्तगीतों में तथा ध्रुवाओं (के प्रकारों) में उपयोग नहीं होता हैं, केवल गायकगण इनका 'प्रवृत'[1] आदि में उपभोग करते हैं ॥ ४६-४७ ॥

त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च षट्कलोऽष्टकलस्तथा ॥ ४७ ॥
ध्रुवाणान्तु भवेत् तालं सम्प्रवक्ष्यामि[3] तत्त्वतः ।

अब मैं ध्रुवाओं में चतुरस्र तथा त्र्यस्र ताल के जो षट्कल तथा अष्टकल विभेद होते हैं उनका लक्षण बोधक सिद्धान्त बतलाता हूँ[2] ॥ ४७-४८ ॥

कनिष्ठाङ्गुलिनिष्क्रामो शम्या चैव ततो भवेत् ॥ ४८ ॥
कनिष्ठिकानामिकाभ्यां तु निष्क्रामोऽतो विधीयते ।
ततस्तालस्तु[4] कर्त्तव्यः शम्या चैव तु पञ्चमी ॥ ४९ ॥
प्रवेशो मध्यमाङ्गुष्ठे[5] कर्त्तव्यस्तर्जनीकृतः ।
निष्क्रामः सन्निपातोऽन्त्ये[6] नित्यमष्टकलो भवेत् ॥ ५० ॥

---

१. प्रवृत्तक आदि का विवरण आगे इसी अध्याय में आया है ।

२. आशय है कि चतुरस्र ध्रुवा आठ कला से तथा त्र्यस्र ध्रुवा षट् कला से निर्मित होती है । नाट्य-प्रयोग से सम्बद्ध होकर प्रस्तुत की जाने वाली ध्रुवाएँ पुराकालीन भारतीय गीत का प्रकार हैं । इनकी योजना काल प्रमाण के आठ तथा छः कलाओं से निर्मित विभेदों में होती थी । उत्तरकालीन गीतों में कलाओं का प्रमाण और अधिक संख्या में हो गया था । (इस विषय पर विवरण ध्रुवाध्याय में और भी द्रष्टव्य)

---

१. मुपयोगः स्यात् सप्तरूपध्रुवा—क (ड०) ।
२. ह्येते—क (ड०) ।
३. तालस्तच्च वक्ष्यामि—क० ।
४. ततश्च तालः—ज० ।
५. मध्यमाषष्ठः—क, मध्यमाङ्गुष्ठः—क (ड); ह्यष्टमः षष्ठः—ख० ।
६. पातोऽन्ते—क० ।

एवं युग्मे कलापातविकल्पोऽङ्गुलिभिः[1] [2]कृतः ।

(अष्टकल ताल में) कनिष्ठिका अंगुलि से निष्काम और शम्या, कनिष्ठिका और अनामिका अंगुलियों से निष्काम, ताल और शम्या, मध्यमा अंगुलि से प्रवेश तथा अंगूठे के द्वारा निष्काम और सन्निपात को प्रदर्शित करना चाहिए । चतुरस्रताल में (युग्मताल) अंगुलि आदि से कलाओं को प्रदर्शित करने की यही विधि है[1] ॥

कनिष्ठाङ्गुलिनिष्कामः प्रथमे[3] तु कला भवेत् ॥ ५१ ॥
शम्यापातो द्वितीया तु तृतीया ताल एव च ।
शम्या तत्र[4] चतुर्थी तु पञ्चमी तर्जनीक्रमात् ॥ ५२ ॥
षष्ठश्च सन्निपातः स्यादेष वै षट्कलो विधिः ।
एष त्र्यस्रे कलापातविकल्पोऽङ्गुलिभिः कृतः ॥ ५३ ॥

षट्कल ताल की प्रथम कला में कनिष्ठिका अंगुलि के द्वारा निष्काम, दूसरी में शम्या, तीसरी में ताल, चौथी में शम्या तथा पांचवी में तर्जनी से शम्या और सन्निपात को प्रदर्शित किया जाय । त्र्यस्रताल में अंगुलियों के द्वारा कलाओं को प्रदर्शित करने की यही विधि है ॥ ५१-५३ ॥

कनिष्ठाङ्गुलिनिष्कामः प्रवेशश्च तथा[5] भवेत् ।
कनिष्ठानामिकास्थाने [6]ततस्तालस्तृतीयकः ॥ ५४ ॥

---

१. परम्परागत कालमान को दर्शाने के लिये विशिष्ट अंगुलियों का विधान यहाँ दिखलाया गया है । इसकी तुलना सामवेद द्वारा विभिन्न अंगुलियों से संकेतित विभिन्न स्वरों के विवरण से सम्बद्ध सी प्रतीत होती है । इसका वहाँ प्रयोग आज भी होता है । (द्रष्ट—Music of Hindostan P. 269.—)

---

१. कलोपेतो विकल्पाङ्गुलिभिः—ग० ।

२. अस्मादनन्तरम्—

कनिष्ठानामिकास्थाने ततस्तालस्तृतीयकः ।
शम्यातालश्चतुर्थी च निष्क्रामो मध्यमाकृतः ।
कनिष्ठाङ्गुलिनिष्क्रामः प्रथमानुकलो भवेत् ॥

इति सार्धं पद्यमधिकं ग. पुस्तके ।

३. प्रथमा—क० । ४. ततश्चतुर्थी—क० ।

५. ततो—क० । ६. तालो ज्ञेयस्तृतीयके—ख० ।

शम्यापातश्चतुर्थी[1] तु निष्क्रामो मध्यमाकृतः ।
[2]षष्ठस्तालस्ततो ज्ञेयो निष्क्रामस्तर्जनीकृतः ॥ ५५ ॥
शम्याष्टमी ततस्तालो नवमी तु कला स्मृता ।
कनिष्ठिका प्रवेशस्तु[3] दशमी तु कला भवेत् ॥ ५६ ॥
निष्क्रामश्चैव तर्जन्या तदनन्तरमिष्यते ।
सन्निपातस्तथान्ते च कलाद्वादशकं[4] भवेत्[5] ॥ ५७ ॥

द्वादशकलताल में कनिष्ठिका अंगुलि के द्वारा निष्काम और प्रवेश; कनिष्ठिका और अनामिका अंगुलि के द्वारा ताल और शम्या; मध्यमा अंगुलि के द्वारा निष्काम तथा ताल; तर्जनी के द्वारा निष्काम, शम्या तथा ताल; कनिष्ठिका अंगुलि के द्वारा प्रवेश और फिर तर्जनी के द्वारा निष्काम को प्रदर्शित किया जाता है[1] ॥ ५४–५७ ॥

एष त्वावापविक्षेपव्यवधानेन[6] पण्डितैः ।
विधिश्चतुष्कलो ज्ञेयः प्रागुक्ताङ्गुलिभिः कृतः ॥ ५८ ॥

चतुष्कल ताल के आवाप[2] और विक्षेप का जो अंगुलियों के द्वारा प्रदर्शित होते हैं तथा जिन्हें पूर्व में बतलाया जा चुका है—यही विधान है ॥

---

१. अंगुलियाँ, अंगूठा तथा हाथ के प्रयोग से शम्यादि पात की विधि के समर्थक एकदेशीय या अन्य आचार्यों के मतानुसार विधि को यहाँ—'कनिष्ठाङ्गुलि' इत्यादि के द्वारा दर्शाया गया है जिसे चतुष्कल में भी इसी प्रकार समझा जाय ।

२. आचार्य अभिनवगुप्त ने इस पद्य की व्याख्या करते हुए बतलाया कि यहाँ एष पद से ऐसे 'पाद' का ग्रहण किया गया है जो आवाप तथा विक्षेप के द्वारा अपने स्थान से अपसृत किया जाता हो । यहाँ व्यवधीयते पद का अर्थ है अपने स्थान से हटाना । 'पण्डितैः' पद भी यहाँ विशेषरूप से अनुसन्धान या तर्कादि कुशलता को दिखलाने के लिये प्रयुक्त किया गया है । ऐसी दशा में चतुष्कल विधि होती है, जिसमें आवाप के द्वारा अन्य स्थान का आक्रमण करते हुए निष्काम के द्वारा अपसारण अर्थात् द्वितीय स्थान को ले जाया जाता है । यहाँ व्यवधान का यही आशय है । अर्थात् आवाप के योग से

---

१. शम्या तालश्चतु—क०, ग० । २. षष्ठताल—ख० ।
३. प्रदेशस्तु—ग० । ४. द्वादशके—क० । ५. विधिः—क(ड) ।
६. व्यवधानश्च—ख० ।

द्विकलश्चतुष्कलश्च पादभागः प्रकीर्तितः ।
चत्वारः पादभागाश्च मात्रेति परिभाष्यते[1] ॥ ५९ ॥

पाद-भाग भी दो तथा चार कलाओं का होता है । चार पादभागों को पारिभाषिक रूप में मात्रा[1] कहा जाता है ॥ ५९ ॥

चञ्चत्पुटस्य तालस्य तथा चापपुटस्य च ।
पञ्चपाणेश्च विज्ञेया[2] भेदा ह्येते पृथक् पृथक् ॥ ६० ॥

इस प्रकार चञ्चत्पुट चापपुट, और पंचपाणी तालों के पृथक्-पृथक् विभेद जानने चाहिए ॥ ६० ॥

एवमेष मया[3] तालः समासात् परिकीर्तितः[4] ।
आसारिते वर्धमाने गीताङ्गेषु[5] च यः स्मृतः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार मैंने आसारित, वर्धमान तथा अन्य वर्धमान आदि गीतों के अवयवों में विद्यमान रहने वाले तालों का संक्षेप में विवरण दिया है ॥६१॥

निष्काम का और विक्षेप के योग से प्रवेश का प्रयोग किया जाए । ऐसा प्रयोग व्यवहित ही होगा अर्थात् आवाप और विक्षेप के द्वारा इनमें व्यवधान भी आएगा । आशय यही है कि आवाप और विक्षेप को निरन्तर नहीं रखा जाए, किन्तु उन्हें निष्क्राम और प्रवेश के मध्य, अन्त या आदि में रखा जाए । आचार्य दत्तिल ने भी इसी आशय को दर्शाते हुए कहा कि—'विन्यस्य मध्ये विक्षेपमादावावापमेव च ।' (दत्ति० १३४) ।

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने बतलाया कि यहाँ आचार्य भरत मुनि ने मात्रा का लक्षण बतलाया है—'चत्वारः पादभागा मात्रा' । इससे यह आशय निकलता है कि द्विकल में आठ कलाओं की तथा चतुष्कल में सोलह कला की 'मात्रा' होगी । त्र्यस्र में भी प्रकरी आदि में मात्रा सोलह कला की रहेगी तथा इसका चतुष्कल के विधानानुसार ही स्वरूप यहाँ भी इष्ट है । परन्तु संगीत-रत्नाकर के व्याखयाता कल्लिनाथ के अनुसार कला का अर्थ मात्रा है किन्तु एककल, द्विकल एवं चतुष्कल ताल में मात्रा का अर्थ गुर्वक्षर होता है । द्रष्टव्य— अत्रैककलद्विकलचतुष्कलशब्देषु कलाशब्देन गुरुरुच्यते इत्यर्थः । अन्यत्र तु मात्रा कला । (सं० र० ५।१६) ।

---

१. परिचोद्यते—क० । २. विहिता—क० ।
३. कलाताल—क० । ४. समुदाहृतः—क (ङ) ।
५. गीतेष्वपि हि—क०; ख० ।

आसारित—

अथासारितकानान्तु सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।
भेदश्चञ्चत्पुटस्यादौ[1] तथा[2] गुरुलघुप्लुतैः ॥ ६२ ॥
पञ्चपाणिं ततः कुर्याद् द्विरभ्यस्तं प्रयोगवित्[3] ।

अब मैं आसारितों के स्वरूप को बतलाता हूँ। इस क्रम में सर्व-प्रथम नाट्यप्रयोक्ता को चञ्चत्पुट के गुरु, लघु और प्लुत अक्षरों से युक्त स्वरूप को लेना चाहिए और फिर पंचपाणि की दो बार आवृत्ति को (या दुगुन को) सम्पन्न करना चाहिए ॥ ६५–६३ ॥

यथाक्षरन्तु पूर्वत्र[4] यथावद् विनिवेशयेत् ॥ ६३ ॥
शम्या तालः पुनश्चैव शम्या तालमथापि वा ।

और वह इसके पूर्वभाग में यथाक्षर (चञ्चत्पुट) ताल को (अपने अक्षरों के अनुसार रखे गए अक्षरों के नाम वाले ताल को) रख कर फिर इस प्रकार उसके ताल या सन्निपातों को रखें। यथा :—शम्या, ताल, शम्या ताल और ताल ॥ ६३–६४ ॥

आद्येऽक्षरे[5] सन्निपातं पञ्चपाणेश्च[6] योजयेत् ॥ ६४ ॥
तालं[7] शम्याञ्च तालञ्च शम्यातालौ ततः परम् ।
एष एव द्वितीयेऽपि पञ्चपाणौ विधिः स्मृतः ॥ ६५ ॥
प्लुतस्यान्तेऽपि [8]तस्येष्टः सन्निपातः प्रयोक्तृभिः ।
एवं यथाक्षरं ज्ञेयं कनिष्ठासारितं बुधैः ॥ ६६ ॥

पंचपाणि के आद्य अक्षर में सन्निपात को रखना चाहिये और फिर ताल, शम्या, ताल, शम्या और ताल को रखा जाए। यही पंचपाणि के द्वितीय अक्षर में भी नियम रहता है और यहाँ प्लुताक्षर की दशा में भी सन्निपात का प्रयोग रखना अभीष्ट है। यही यथाक्षर कनिष्ठ आसारित की विधि है जिसे बुधजन ठीक से जान लें ॥ ६४–६६ ॥

---

१. छेदश्चच्चत्—क०; भेदं चाचपुट—क (ब०)।
२. कृत्वा तु गुरुलाघवम्—क, कृत्वा लघुत्रयम्—क० (ब०)।
३. यथाक्रमात्—क० (र)।
४. सर्वत्र—क०। ५. अधिक्षरे—ख०। ६. पाणौश्च—ग०।
७. शम्यातालञ्च तालञ्च शम्यातालमतः—ग०।
८. प्लुतच्छेदे तु—क०, ख० प्लुतच्छेदात्तु—क (भ०); प्लुतस्थान्ते कृतस्येष्टः—ग०।

यथाक्षरस्याक्षरैश्च[1] तालपातान् निबोधत ।
चकारे[2] तु भवेच्छम्या द्वितीये[3] ताल एव च ॥ ६७ ॥
पुकारे तु भवेच्छम्या[4] टकारे[5] ताल एव च ।
एवं चञ्चत्पुटो[6] ज्ञेयः पञ्चपाणिरतःपरम् ॥ ६८ ॥

अब मैं यथाक्षर चञ्चत्पुट के अक्षरों का विभाग करते हुए ताल और पात कहलाता हूँ । 'च०' से शम्या का संकेत है, 'चत्' से ताल का 'पु' से शम्या और 'ट' से पुनः ताल को लेना चाहिये तथा चञ्चत्पुट को इसी प्रकार जानना चाहिए तथा इसके पश्चात् 'चाचपुट' को भी (इसी क्रम से) जाना जाए ॥ ६७–६८ ॥

षट्कारे[7] सन्निपातः स्यात् पिकारे ताल एव च ।
तकारे[8] तु भवेच्छम्या पुकारे ताल एव च ॥ ६९ ॥
त्रकारे तु भवेच्छम्या ककारे ताल एव च ।
द्वितीयेऽप्येवमेव[9] स्यात् सन्निपातस्ततः परम् ॥ ७० ॥

यहाँ 'षट्' से सन्निपात, 'पि' से ताल, 'ता' से शम्या, 'पु' से ताल 'त्र' से शम्या और 'क' से ताल का संकेत रखा जाता है । द्वितीय भेद की दशा में भी यही क्रम रहता है और यहाँ अन्त में सन्निपात रहता है (या रखा जाता है) ॥ ६९–७० ॥

मध्यम तथा ज्येष्ठ-आसारित—

गुर्वक्षराणां विश्लेषादेवमेव[10] तु मध्यम् ।
विश्लेषितामेषान्तु[11] द्विर्भावे या कला भवेत् ॥ ७१ ॥

और यदि इसी में गुरु अक्षरों का मिश्रण[1] कर दिया जाए तो यही (अर्थात् कनिष्ठ-आसारित ही) मध्यम-आसारित हो जाता है ॥ ७१ ॥

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त ने यहाँ विश्लेष का स्वरूप इस प्रकार दर्शाया है—यह विश्लेष गुरु अक्षरों का तथा प्लुत अक्षरों का किया जाता है तथा

---

१. यथाक्षरं चाक्षरैश्च वामपातान्—ग० ।
२. चत्कारे—ज० । ३. द्वितीयः—ग० ।
४. पुनः शम्या—क० ।
५. र (ट ?) कारे—क० । ६. चञ्चूपुटे—ख० ।
७. षडारे—ख० । ८. ताकारे—क० । ९. द्वितीयोप्येव—क० ।
१०. विक्षेपाद्—ग० । ११. तेषान्तु—क (र०) ।

पातान्ते सा प्रयोक्तव्या यथावदनुपूर्वशः ।
द्विर्भावो[1] मध्यमस्यैव ज्येष्ठमित्यभिधीयते[2] ॥ ७२ ॥
मध्यमस्य[3] विधानेन न्यसेच्च द्विगुणाः कलाः ।
सन्निपातैर्निपातैश्च तेषां वस्तु प्रकीर्तितम्[4] ॥ ७२ ॥

यहाँ पर पूर्व विधि के अनुसार ही इन गुरु अक्षरों के मिश्रण के बाद विधिवत् कला को द्विगुणित (या दुगुना) करते हुए अपने क्रम में रखना चाहिए और अन्त में सन्निपात रखा जाए। इसी प्रकार जब मध्यम-आसारित को दुगना कर दिया जाता है तो वही ज्येष्ठ आसारित हो जाता है। ऐसी दशा में इसमें कलाओं का कालमान मध्यम की अपेक्षा दुगुना हो जाता है और इसकी 'वस्तु'[1] अन्त में स्थापित सन्निपात के लक्षण वाली रखी जाती है ॥ ७१-७३ ॥

लयान्तरित—

अतः परं प्रवक्ष्यामि लयान्तरितलक्षणम् ।
तालो यस्य कनिष्ठः स्यात् स लयान्तरितः स्मृतः ।
कला कालान्तरकृता केवलं तु कलान्तरम् ॥ ७४ ॥

अब मैं 'लयान्तरित' का लक्षण कहता हूँ। जिसमें ताल सबकी अपेक्षा कनिष्ठ (या कम समय लेने वाली) हो उसे 'लयान्तरित' समझना चाहिए।

उचित स्थान को ध्यान में रख कर भी। इसमें भी गुरु का दो तरह से तथा प्लुत का तीन तरह से मिश्रण या विश्लेषण होता है।

१. यहाँ 'वस्तु' पद शास्त्रीय परिभाषा के रूप में है जिसका अर्थ है गीत जो प्रधान अंशों के साथ हो। इसको इसी अर्थ में कालिदास ने भी लिया है (द्रष्टव्य मालवि० अंक २।५।३।१।तथा ४।१)। इसका अर्थ गीत भी है जिसका उत्तरभारतीय संगीत में प्रचलित पर्याय है 'चीज'। 'वस्तु' का स्वरूप संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने—वस्तु को गीत का प्रधान अंशों के सहित अर्थ माना है। (द्र० सं० र० ५।५७)।

---

१. द्विर्भावान्मध्यम—क०; विभावा—ग०।

२. त्यभिसंज्ञितम्—क० (ड)। ३. मध्यमव्यवधानेन—ग०।

४. सन्निपातनिपातैश्च—ग०।

५. समासलक्षणं चैव गदतो मे निबोधता—इतिश्लोकार्धमस्मादनं क पुस्तके समुपलभ्यते।

और यहाँ जब (इसके लिए) निर्धारित समय से कला का अन्तर या विभेद हो जाता है तो यही एक विभिन्न-कला (या विशिष्ट कला) हो जाती है ॥

अयमेव[1] तालयोगो विशेषसिद्धिस्तु पूर्वनिर्दिष्टा ।
भवति हि लयान्तरिते शब्दाद् भेदो लयाच्चैव ॥ ७५ ॥

इन ताल या कलाओं की विशेष अवस्थिति (या इनका यहाँ लागू करना) ही एक विशेष-सिद्धि (होती) है । जब वे इस लयान्तरित में शब्द और लय के कारण एक विशिष्ट भेद (या विविष्ट काल और कला) को धारण कर लेती हो ॥ ७५ ॥

वर्धमान—

आसावितानां संयोगो वर्धमानक[2] इष्यते ।
उत्पत्तिं लक्षणश्चास्य गदतो मे निबोधत ॥ ७६ ॥

आसारितों का मेल या मिश्रित समवाय 'वर्धमानक' कहलाता है । अब उसकी उत्पत्ति तथा लक्षण सुनिये ॥ ७६ ॥

निहत्य दानवं[3] घोरं रुद्रेणामिततेजसा ।
नृत्तमुत्पादितं पूर्वं[4] चित्रं ताण्डवसंज्ञितम्[5] ॥ ७७ ॥
अथ भूतगणैः सर्वैस्तस्मिन् काले महात्मभिः ।
वर्धमानमिदं सृष्टं[6] पिण्डीबन्धैर्विभूषितम् ॥ ७८ ॥

प्राचीन काल में अमिततेजा भगवान् रुद्र ने भयंकर दानवों के बध करने के उपरान्त एक विचित्र नृत्य की सृष्टि की जिसका नाम ताण्डव नृत्य था । तभी महाप्राण भूतगणों ने भी पिण्डीबन्धों[1] से शोभित होने वाले इस 'वर्धमानक' का सृजन किया था ॥ ७७-७८ ॥

---

१. पिण्डीबन्धों का विवरण नाट्यशास्त्र अध्याय ५।१३ में द्रष्टव्य ।

---

१. अस्मात् पूर्वं क—पुस्तके श्लोकद्वयम् प्राप्यते । तद्यथा—
अष्टौ तालास्तु षट् शम्याः सन्निपातास्त्रयस्तथा ।
आसारिते विधिर्ह्येष एकैकं परिकीर्तितम् ॥
चत्वारश्च गणा युग्मे त्र्यश्रे षट् परिकीर्तिताः ।
द्वितीये पञ्चपाणौ तु सार्धाः षट् परिकीर्तिताः ।
अन्ते च सन्निपातः स्यात् सर्वेषामप्ययं विधिः ॥ इति ।
२. वर्धमानकमुच्यते—क० । ३. दारुणं—ग० ।
४. चित्रं पूर्वं—ख० । ५. संश्रितम्—क० । ६. दृष्टं—क०, ख० ।

परितुष्टश्च तं[1] दृष्ट्वा सपत्नीको वृषध्वजः ।
प्रददौ च वरं श्रेष्ठं सह देव्या[2] महेश्वरः ॥ ७९ ॥
तल्लक्ष्यलक्षणयुतं[3] मार्गयुक्तिविधिक्रमैः ।
वर्धमान[4] प्रयोक्तारो यास्यन्ति शिवगोचरम् ॥ ८० ॥

तब पार्वती सहित शिव इसे देखकर सन्तुष्ट हुए और देवी पार्वती और शंकर ने उन्हें इस कार्य के उपलक्ष में यह वरदान दिया कि जो इस वर्धमानक का लक्षणों सहित ऐसा प्रयोग करेगा जिसमें परम्परागत विधान, क्रम और मार्ग[1] आदि का उचित सन्निवेश रखा गया हो तो उसे शिवलोक की (मृत्यु के पश्चात्) प्राप्ति होगी ॥ ७९–८० ॥

एवमेतन्मया[5] दृष्टं पिण्डीबन्धनिमित्ततः[6] ।
अधुना तु[7] प्रवक्ष्यामि लक्षणं शृणुत द्विजाः ॥ ८१ ॥

और मैंने भी इन पिण्डीबन्धों का वर्धमानक के निमित्त अवलोकन किया है । हे मुनियों, अब मैं इनके लक्षण बतलाता हूँ, जिन्हें आप (ध्यान से) सुनिये ॥ ८१ ॥

वृत्तिदक्षिणचित्रेषु मार्गेषु विनियोजितम् ।
द्विविधं वर्धमानं स्यात् स्वप्रमाणविनिर्मितम् ॥ ८२ ॥

वर्धमानक वृत्ति, दक्षिण और चित्र मार्गों में संयोजित किया जाता है । अतः अपने स्वरूप तथा प्रमाण आदि के अनुसार निर्मित इस वर्द्धमानक के दो प्रकार[2] (हो जाते) हैं ॥ ८२ ॥

---

१. मार्ग से आशय है चित्र, दक्षिण आदि मार्गों के युक्ति अर्थात् योजना से । यहाँ विधि से आशय है परिवर्त आदि का नियमानुसार प्रयोग । 'क्रम' से आशय है यथाक्षर, द्विसंख्यात या त्रिसंख्यात रूप परिवर्तन क्रम का प्रयोग जिससे आसारित दर्शाया जाता है । यहाँ भविष्यत्काल का प्रयोग विविध फलों की प्राप्ति का तथा बहुवचन में प्रयोक्ता के रखने से गायक एवं वादकों को समान फलप्राप्ति को सूचित करने के लिये मुनि ने किया है ।

२. ये दो प्रकार आधेय तथा उपाधि भेद के कारण होते है ।

---

१. तद् दृष्टवा—क०, ख०, २. देव्या गणाधिपैः—क० ।
३. लक्ष्यलक्षणसम्मत्या—क; लक्ष्यलक्षणसम्पन्ना—ख० ।
४. वर्धमानं—ग० । ५. पुरा सृष्टं—ग० ।
६. पिण्डीबन्धनाय शम्बुना—ग० । ७. सम्प्रवक्ष्यामि—ग० ।

अतालश्च[1] सतालश्च तत्प्रमाणं[2] द्विजा स्मृतम् ।
चतस्रः कण्डिकाश्चैव[3] तावन्त्यासारितानि च ॥ ८३ ॥

वर्धमान के इन दो भेदों का प्रमाण (या विभेद) इस प्रकार है कि यह ताल के अनुसार होने पर सताल कहलाता है और जहाँ ताल के अनुसार नहीं होता वह "अताल" कहलाता है। इस प्रकार इसके चार आसारित (अपने विभागानुसार) और चार भाग (कण्डिका[1]) बन जाते हैं ॥८३॥

ध्रुवकेण कलाभिस्तु कण्डिका देवकल्पिताः ।
वर्धमानशरीरे तु क्रियते मार्गयोजना ॥ ८४ ॥

देवगण ने ध्रुवाओं के अन्तर्गत इसके प्रत्येक भाग की कलाओं को निर्मित किया। इस वर्ध-मानक में मार्गों की भी योजना या उपलब्धि रहती है ॥ ८४ ॥

आद्या नवकला तु स्यादष्टाभिस्तत्परा स्मृता ।
दश षट् च तथा चैव तृतीया कण्डिकेष्यते ॥ ८५ ॥
चतुर्थी कण्डिका चैव द्वात्रिंशत्कलिका स्मृता ।
कलाभिरेवं निर्दिष्टा कण्डिका वर्धमानके ॥ ८६ ॥
केवलं मार्गसम्भूता स्वालयोपाङ्गवर्जिताः[4] ।

इसका प्रथम भाग या वर्ग (कण्डिका) नौ कलाओं से निर्मित किया जाता है, दूसरा आठ कलाओं से, तीसरा सोलह कलाओं से और चौथा बत्तीस कलाओं से निर्मित होता है। इस प्रकार 'वर्द्धमानक' के प्रत्येक भाग में कलाओं का ऐसा क्रम रखा गया है जो मार्ग[2] से (अपने) लय से और उसके अंशों से हीन होकर अपने उचित रूप में (या ठीक तरह से) उत्पन्न हों ॥ ८५-८७ ॥

---

१. 'काण्ड' का अर्थ है अवान्तर प्रकरण या भाग। अतः 'कण्डानां नियत-विभगागात्मिका कण्डिका' (अभि० के अनुसार) विभाग स्वरूप कण्डिका होती है जिसका स्पष्ट अर्थ है—भाग।

२. मार्ग अर्थात् चित्रादि मार्गों से जिनका स्वरूप उद्भूत होता हो तथा जो अपनी लय तथा उसके अंशों से हीन या मुख, प्रतिमुख आदि विभाग से हीन होकर। इस प्रकार ऐसे रूप को यहाँ आधार बतलाया गया है।

---

१. अस्मात् पूर्वं—द्विविधं वर्धमानं स्यात् स्वप्रमाणविनिर्मित—इति श्लोकार्धं ख पुस्तकेऽधिकम्। २. वर्धमानं द्विधा स्मृतम्—क०।
३. श्चैवं—क०। ४. तालयोगाङ्ग—क०।

एक-द्वि-त्रि-चतुर्योगात् ताभिरासारितानि तु ॥ ८७ ॥
वर्धमाने प्रसूयन्ते मार्गतालाङ्गयोगतः ।

ये वर्ग या भाग (कण्डिका) एक, दो, तीन या चार कला के प्रमाणों वाले बनते हैं और इन्हीं से वर्द्धमानक में स्थित आसारित निर्मित होते हैं, जिनमें ठीक से मार्ग,[1] अंग और ताल के योगदान देखें (या उत्पन्न किए) जाते हैं ॥ ८७-८८ ॥

कनिष्ठ आसारित—

प्रथमां[1] कण्डिकां कृत्वा वालतालप्रयोजिताम्[2] ॥ ८८ ॥
अन्तिमार्धं[3] कलाहीनं कुर्यादेवं[4] कनिष्ठकम् ।

सर्वप्रथम इसके प्रथम वर्ग को (जो नौ कलाओं वाला होता है) समाप्त करे जिसमें ताल बहुत ही अल्परूप में रहती हो और फिर उसके द्वितीय भाग को एक कला से होन (अर्थाद् आठ कलाओं का) रखने पर 'कनिष्ठासारित' बन जाता है ॥ ८८-८९ ॥

द्वितीयां कण्डिकां[5] कृत्वा प्रथमा सकला यदि ॥ ८९ ॥
युज्यते[6] पूर्वतालेन तदा[7] तत् स्याल्लयान्तरम् ।
वर्धमानं तदा[8] चित्रैर्नहि वृत्तेन[9] योजयेत् ॥ ९० ॥

लयान्तरित—इस प्रकार दूसरे भाग या वर्ग की समाप्ति या पूर्णता के बाद यदि इसमें प्रथम भाग के पूर्व ताल में स्थित इसकी सभी कलाओं को जोड़ दिया जाए तो (वर्द्धमानक में स्थित) यही 'सयान्तरित' बन जाता है। यह वर्द्धमानक जिस समय चित्रमार्ग में किया जाता है तो इसे वृत्ति या वार्तिक मार्ग में वहाँ प्रयुक्त नहीं करना चाहिए ॥ ८९-९० ॥

बहिर्वा वर्धमाने वा कनिष्टं[10] न हि दक्षिणे ।
द्विगुणाक्षरसंयोगादन्यमार्गनियोजनात्[11] ॥ ९१ ॥

---

१. यह मार्ग से उत्पन्न होने वाले अङ्ग को ताल के अङ्ग अर्थात् इसके कण्डिका आदि विभागों के योग या मेल से देखा या उत्पन्न किया जाता है। यही आशय है।

---

१. प्रथमं—ग० २. प्रयोजितश्च—ग० । ३. मार्धकला—क० ।
४. बालमासारितं तु तद्—ग० । ५. कणिकां—ग० । ६. पूज्येत—ग० ।
७. यदा यत्तल्लया—ग० । ८. बिना—क०, ख० ।
९. वृत्तौ लयान्तरम्—क०, ख० ।
१०. कनिष्ठां—ख०, घ० । ११. प्रयोजनात्—ग० ।

नृत्तकालविशेषाच्च[1] बालतालाल्लयान्तरम्[2] ।

दक्षिण-मार्ग में कनिष्ठासारित नहीं होता चाहे वह वर्द्धमानक में हो या इससे भिन्न अन्य गीतों में रहे। अपनी संख्या या प्रमाणवाले अक्षरों को दुगना करने से, अन्य मार्गों का आश्रय लेने या उन्हें लागू करने से तथा नृत्य के बीच में स्थित समय ठीक रखने तथा अल्पताल के कारण यह 'लयान्तर' हो जाता है ॥ ९१–९२ ॥

मध्यमासारित—

कनिष्ठासारिते तालो यो मया परिकीर्तितः ॥ ९२ ॥
स एव सर्वः कर्त्तव्यः प्रथमे कण्डिकाद्वये ।
तृतीया स[3] द्वितीया च प्रथमा चैव तत्कला[4]
द्विकलं योगमाश्रित्य मध्यमासारितन्तु तत्[5] ॥ ९३ ॥

कनिष्ठ आसारित की दशा में जिस ताल को मैंने बतलाया था वही पूर्णतः इसके दो वर्गों में (कण्डिका) करना (या रहना) चाहिए। इसमें तीसरा, दूसरा और पहिला भाग या वर्ग (कण्डिका) इसी प्रकार निर्दशित कलाओं की संख्या में रखा जाए (जो पहिले बतलायी गई है) तो यह 'मध्यमासारित' बन जाता है ॥ ९२–९३ ॥

ज्येष्ठासारित—

चतुर्थीमादितः कृत्वा चतस्रः कण्डिका यदा[6] ।
चतुष्कलेन[7] युज्यन्ते ज्येष्ठमासारितन्तु तत् ॥ ९४ ॥

यदि चौथे वर्ग को सर्वप्रथम रख कर फिर अन्य वर्गों को क्रमशः उसी रूप में संयुक्त या उद्धृत किया जाए और इन चारों वर्गों में चार कलाएँ बढ़ाकर जोड़ दी जाएँ तो 'ज्येष्ठ-आसारित' हो जाता है ॥ ९४ ॥

प्रयोगस्तु यदा[8] त्वेषां पिण्डीबन्धैर्विकल्प्यते ।
प्रत्येकन्त्वङ्गविन्यासस्तदा[9] तेषां पृथक् पृथक् ॥ ९५ ॥

जब इनको पिण्डीबन्ध के साथ प्रयुक्त किया जाए तो इनके प्रत्येक वर्ग या विभाग (कण्डिका) को पृथक् अपने अंगों सहित रखना चाहिए ॥९५॥

१. वृत्त—ग० । २. बालादन्यल्लया—क०, ख० ।
३. च—क० । ४. तद्ध्रुवेत्—ख० ।
५. तथा—ग० । ६. यबा–ख; तथा—ग० ।
७. चतुष्कले नियोज्यन्ते—क; चतुष्कयोगमाश्रित्य—ग० ।
८. यथा—ग०, घ० ।
९. ह्यङ्ग—क०, ह्यङ्गविन्यासः सर्वेषाञ्च पृथक् पृथक्—ग० ।

मुखं प्रतिमुखञ्चैव देहः[1] संहरणं तथा ।
अङ्गान्येतानि चत्वारि सर्वेष्वासरितेषु[2] च ॥ ९६ ॥

इन सभी आसारितों के मुख, प्रतिमुख, देह तथा संहरण नामक चार अंग होते हैं ॥ ९६ ॥

उपोहनं मुखं तेषां युग्मं प्रतिमुखं भवेत् ।
ओजःशरीर-संहारा[3]वेवमङ्गविधिक्रमः ॥ ९७ ॥
इत्येवं[4] चतुरङ्गानि ज्ञेयान्यासारितस्य तु ।

उपोहन को मुख, युग्म को प्रतिमुख तथा ओज को देह और संहार कहा गया है। अंगों का यही क्रम है जिससे आसारित अपने चार विभागों या अंगों को धारण करता है[1] ॥ ९७-९८ ॥

वर्द्धमानक—

चतुरासारितैर्बद्धं वर्धमानकमुच्यते[4] ॥ ९८ ॥
वर्णताल-लय-ग्रन्थवाद्याभिनय-वर्धनात् ।
पात्राणां वृद्धियोगाच्च वर्धमानकमुच्यते ॥ ९९ ॥

जो गीत इन चार आसारितों[2] के योग से निबद्ध होता है उसे 'वर्धमानक' कहते हैं। इसे वर्धमानक कहने का कारण यह भी है कि यह अपने अक्षर; ताल, लय, वाद्य और अभिनय से पात्रों के द्वारा प्रस्तुत प्रयोग की वृद्धि करता है ॥ ९८-९९ ॥

वर्धमानशरीरस्य[6] भवेदासारितस्य च ।
कार्यकारणभावेन परस्परविकल्पनम् ॥ १०० ॥
यथा वृक्षाद्[7] भवेद्बीजो बीजाद् वृक्षस्य सम्भवः ।
अन्योन्यहेतु-संयोगः[8] प्रसर्तव्यस्तथैव तु ॥ १०१ ॥

वर्द्धमानक और आसारित परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और एक दूसरे की उत्पत्ति में कार्यकारण भूत होकर रहते हैं। जैसे वृक्ष से बीज की और बीज

---

१. द्रष्टव्य-संगीत रत्ना० ५।१८३-१८४। (अड्या० सं)
२. ये चार भेद हैं—कनिष्ठ, लयान्तरित, मध्यम तथा ज्येष्ठ आसारित।

---

१. देहं संसरणं—क; देहसंहरणं—ख०। २. रितेष्विह—ख०।
३. रावयमङ्गविधिः क्रमः—क०। इत्येव—ख०।
४. विज्ञेयं वर्धमानकम्—क०। ५. वाद्यादिनय—क; वाद्याभिनब—क (च०)। ६. वर्धमाने—ख०। ७. वृक्षो भवेद्वीजं—क।
८. संयोगात् प्रत्येतव्यस्तथेह तु—क०।

से पुनः वृक्ष की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार यहाँ भी पारस्परिक आश्रित सम्बन्ध का नियम लागू है ॥ १००-१०१ ॥

लयान्तरित—

योगादिककलात्[1] सूते कनिष्ठकलयान्तरे ।
द्विकलान् मध्यमश्चैव ज्येष्ठश्चैव चतुष्कलात् ॥ १०२ ॥

लयान्तर में एक कला के योग से कनिष्ठ आसारित उत्पन्न होता है तथा दो कलाओं को जोड़ देने से मध्यम आसारित और चार कलाओं को जोड़ देने से ज्येष्ठ आसारित उत्पन्न होता है ॥ १०२ ॥

कनिष्ठ-आसारित—

चञ्चत्पुटपरिवर्तः शम्यादि द्वौ च पञ्चपाणिकृतौ ।
अन्ते च सन्निपातः पातविधिरयं[2] कनिष्ठस्य ॥ १०३ ॥

कनिष्ठ आसारित के सन्निपात या पात का नियम यह है :—शम्या, ताल, शम्या, ताल (अर्थात् शम्या से आरम्भ होने वाले चञ्चत्पुट की एक उद्धरणी तथा) सन्निपात, ताल, शम्या, ताल, सन्निपात, ताल, शम्या, ताल शम्या, ताल (अर्थात् शम्या के साथ आरम्भ होने वाले दो पञ्चपाणि) ॥१०३॥

अयमेव तालयोगो विशेषसिद्धिश्च[3] पूर्वनिर्दिष्टा ।
भवतीह लयान्तरिते शब्दाद् [4]भेदोलयाश्चैव ॥ १०४ ॥

लयान्तरित ताल की यही प्रकिया है जिसका लक्षण और तदनुसार संवर्द्धन (विशेषसिद्धि) पूर्व में दिखलाया जा चुका है । लायन्तरित में अन्तर यही है कि यहाँ शब्द और लय में भेद रखा जाता है ॥ १०४ ॥

मध्यम तथा ज्येष्ठ-आसारित—

उत्तरकालात्[5] कृत्वा त्वादौ[6] तिस्रः कलाः[7] परित्यज्य ।
एतत पातविधानं मध्यमकासारिते प्रोक्तम् ॥ १०५ ॥

यदि आदि की तीन कलाओं को छोड़कर उत्तरवर्त्ती या पिछली कलाओं को आगे कर दिया जाए तो यह मध्यमआसारित की पातविधि बन जाती है ॥ १०५ ॥

ज्येष्ठस्य भवति नियमादादावेका[8] चतुष्कला मात्रा ।
मात्राद्वन्द्वयुतान्यत्[9] कृत्वा तौ द्वौ च परिवर्तौ ॥ १०६ ॥

---

१. कलीसूत्रे (ते ?)—क० ।

२. कालविधि—क० । ३. सिद्धिस्तु—क० । ४. लयश्चैव—ख० ।
५. उत्तरतालान्—क० । ६. द्वौ—क० । ७. संकलाः—क० ।
८. दादौ सैका चतुष्कला चात्र—क० । ९. गता स्यात्—क (च) ।

ज्येष्ठआसारित के आदि में चतुष्कल मात्रा को नियमपूर्वक रखा जाता है। यह मात्रा 'कुटु' (नामक दो वर्णों) से की जाए और फिर दो परिवर्तों को सम्पन्न किया जाए ॥ १०६ ॥

बाले[1] नवकलं येषां न तेषां साधुसम्मतम्।
सन्निपाताङ्गविन्यासं[2] कलानियमतः कृतम्[3] ॥ १०७ ॥

जो कनिष्ठआसारित को नौ कलाओं से निर्मित मानते हैं उसका विद्वान् समर्थन नहीं करते। यहाँ सन्निपात का स्थापन भी उसके द्वारा कला के नियम के अनुसार रखा जाना चाहिए ॥ १०७ ॥

अथ[4] तत्र मुखे तालौ ध्रुवपातैरेत्र नियमितो[5] मानम्।
तस्य कलामात्राक्षर[6]-गुरुलघुवर्णस्थितं वक्ष्ये ॥ १०८ ॥

यहाँ पर मुख में ध्रुवपात के द्वारा दो तालों को नियमित किया जाता है। अब मैं इसका पूर्णरूप से प्रमाण (मान) बतलाता हूँ और उसमें विद्यमान कला, मात्रा तथा गुरु, लघु वर्णों की स्थिति का वर्णन करता हूँ ॥

ज्येष्ठस्य कला ह्यष्टौ मुखं भवेन्मध्यमस्य सप्त[7] कलाः।
षड्भिर्लयान्तरे[8] स्यात् पञ्चैव कला कनिष्ठस्य ॥ १०९ ॥

ज्येष्ठ आसारित का आठ कलाओं से मध्यमआसारित का सात कलाओं से लयान्तरित[1] का छः कलाओं खे तथा कनिष्ठ आसारित का पाँच कलाओं से 'मुख' होता (या निर्माण किया जाता) है ॥ १०९ ॥

---

१. संगीतरत्नाकर में भी यहाँ लयान्तर की छः कलाएँ बतलायी हैं। यहाँ 'षडेव लयान्तरे' ऐसा पाठ भी माना जा सकता है। द्रष्टव्य—सं० र० 'एतेषां पञ्च-षट्-सप्ताष्टौ कलाः स्युः क्रमेण तु।' (सं० र० ५।१८७ अड्यार सं०) तथा इसकी कल्लि० व्याख्या—कनिष्ठासारितेऽष्टौ कला उपोहनमिति क्रमो द्रष्टव्यः।

---

१. तालं—ख०। २. विन्यासो घटेत नहि शास्त्रतः—क०।

३. अस्मादनन्तरं—पुनश्चैवाङ्गविन्यासः कलानियमतः कृतः। इति श्लोकार्धमधिकं क—पुस्तके।

४. अथ तत्र मुखं तालध्रुवयतिपातैरेव नियमितान् मानम्—क; तेषां सम्मुखतालं—ख०। ५. नियमितात्मानम्—ख०।

६. कलापाद्धर—ख०। ७. सप्तकलम्—क०।

८. षष्ठि—ख० घ०।

आदावन्ते गुरूणि मध्ये च लघूनि वाद्यतः[1]प्रभृति ।
अष्टौ द्वादश षोडश विंशतिरपि चाक्षराणि[2] स्युः ॥ ११० ॥
आसारितोपवहनेष्वादावासारणानि[3] युक्तानि ।
तान्यक्षराणि वक्ष्ये यानि पुरा ब्रह्मगीतानि ॥ १११ ॥

सभी आसारितों की उपवहन क्रिया में जो आसारण विधान होता है उसमें कनिष्ठ आसारित में आठ अक्षरों को रखना चाहिए, जिसमें दो गुरु, चार लघु दो पुनः गुरु हों; लयान्तरित में बारह अक्षरों को रखना चाहिए जिसमें दो गुरु, आठ लघु तथा दो गुरु हों । मध्यमआसारित में सोलह अक्षरों को रखना चाहिए जिसमें दो गुरु, बारहलघु तथा दो लघु हों । ज्येष्ठ आसारित में बीस अक्षरों को रखना चाहिये, जिनमें दो गुरु सोलह लघु तथा दो गुरु हों । अब मैं इसके उन अक्षरों को बतलाता हूँ जिनका प्राचीन काल में ब्रह्मा ने गान[1] किया था ॥ ११०–१११ ॥

यथा–कुहु[4] जगति यदि सिनि गिजं हुं–प्रथमे लयान्तरे वापि ।
तितिजल[5] कुचग्रलय—मध्ये; [6]इतिकुचवलितल—ज्येष्ठे ।
इत्यक्षरपतनकला गुरुलघुवर्णस्थितिप्रविभक्तः[7] ।
आसारितमुखसंज्ञे[8] उपवहनविधिः समुद्दिष्टः ॥ ११२ ॥

उपवहन का यह विधान (या नियम) जो कि अक्षरों तथा कला के पात पर निर्भर कर तथा अक्षरों की गुरु और लघु स्थिति में विभाग करते हुए रखा गया है, यह मुख की अवस्था में आसारितों में रखने का नियम है ॥

एवमेतत् सविस्तारं कथितं परिमाणकम्[9] ।
चत्वारस्तु गणा[10] युग्मे ओजे षट् परिकीर्तिताः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार मैंने उपहवन का प्रमाण विस्तार से बतलाया । चतुरस्र में चार गण और त्र्यस्र (ओज) में छः गण होते हैं ॥ ११३ ॥

---

१. ये अक्षरों से निर्मित 'ब्रह्मप्रोक्त गीत' कहलाते है । इनके विषय में संगीत-परम्परा में मान्यता है कि ये अतिप्राचीन परम्परा प्राप्त गीत हैं; कुछ इन्हें अनादि काल से प्रचलित गीत भी मानते हैं ये तथा इनके समान

---

१. बालतः—क०, ख० । २. वाक्षराः—ख० ।
३. वावापस्वराणि—क० (ब०) ।
४. झण्टुं जगति यदि गिनिगि झण्टुं—क० । ५. तितिझल कुचझल–क० ।
६. तितिकुचवृद्धं भवेज्येष्ठे—क० । ७. प्रतिविभक्तः—ख० ।
८. मुखसंज्ञित उपवहनविधिर्विनिर्दिष्टः—क० । ९. वर्धमानकम्—क० ।
१०. गुणा—क०, ख० ।

कनिष्ठ-आसारित—

पञ्चपाणौ[1] द्वितीये तु सार्धाः षट् परिकीर्तिताः ।
कनीय एवं[2] कर्त्तव्यमक्षरैस्तालमानतः ॥ ११४ ॥

पञ्चपाणि और चापपुट (द्वितीय) में गणों की संख्या साढ़े छः रहती है। ऐसा रखने पर ताल और प्रमाण के अनुसार कनिष्ठ आसारित बन जाता है ॥ ११४ ॥

यथा—देवं देवैः संस्तुतमीशं[3] दैत्यैर्यक्षैः प्रणमितचरणम् ।
त्रैलोक्याहितमीशं[4] हरं रुद्रं शरणमहमुपनतः ॥ ११४ क ॥

मैं उन रुद्र देव की शरण में आया हूँ जिनकी देवगण मुख्यदेव के रूप में स्तुति करते हैं, दैत्य और यक्षगण जिनके चरणों पर आनत हैं, इस त्रिलोकी के जो कल्याण करने वाले तथा रुद्र स्वरूप (धारण करने वाले) हैं।

मध्यम-आसारित—

अष्टावेव गणाः[5] कार्याः पूर्वताले[6] यथाविधिः[7] ।
द्वादशैव तु कर्त्तव्या षट्पितापुत्रके[8] गणाः ॥ ११५ ॥
अर्ध-त्रयोदशास्तथा[9] तृतीये वस्तु संज्ञिनि[10] ।
एवम् अक्षरविन्यासो मध्यमासारिते स्मृतः ॥ ११६ ॥

प्रथम व पूर्वताल अथवा चञ्चत्पुटताल में आठ गण नियमतः रखे जाते हैं तथा षट्पितापुत्रक में बारह गण रहते हैं और यहाँ वस्तु के तृतीय भाग में (या तृतीय विभेद में) साढ़े तेरह गण रखने का नियम होता है। मध्यम आसारित में अक्षरों के रखने का यही नियम (या क्रम) है ॥

उदाहरणों से ऐसा स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि नृत्यनाट्य का उद्गम अधिकांशतः भगवान् शिव की कृपा से ही हुआ है तथा इसका मूलज्ञान शिव की ही देन है। इसके अतिरिक्त इन पदों से भगवान् शिव का प्राचीन या पौराणिक स्वरूप भी प्रकट होता है।

---

१. द्वितीये पञ्चपाणौ—क० । २. एव—ग० ।
३. संस्तुतमितम् । दैत्यैर्यक्षैर्नागैः पितृभिः प्रणमित—ग० ।
४. हेतुमीशं—क०, ख० । ५. गुणा—क० ।
६. पूर्वं ताले—क० । ७. यथाविधि—क०, ख० ।
८. कथिताः पुत्रके—ख० ।
९. त्रयोदशगणास्तृतीये वस्तुसंज्ञयो—क०, त्रयोदशगणा तृतीये वसुसंज्ञितः-ख० ।

यथा—भूताधिपतिं भगनेत्रहरणमीशं[1] देवैर्वन्द्यं सुरमखमथनं[2] रौद्रं भयदं गजचर्मपटम् शम्भुं त्र्यक्षं ज्वलननिभजटं भुजङ्गपरिकरम्[3] ।

त्रिदशगणवृतं[4] दैत्यैर्नित्यं परिपठितचरितम् अमर-पतिनमितम्[5] अभिमतसुखदं[6] रुद्रं पीतं पितृवननिलयं गङ्गाप्लावितशोभनजटं तं शरणं गतोऽस्मि वरदञ्च महेश्वरम् ॥ ११६ क ॥

मैं उन भगवान् महेश्वर की शरण में आया हूँ जो वरदाता हैं, पशुओं के अधिपति हैं (या समस्त प्राणियों के स्वामी हैं), जिनने भग के नेत्रों को हरण किया, जो देवताओं के उपास्य हैं, जिनमें दक्ष प्रजापति एवं देवगणों के यज्ञ का विध्वंस किया था, जिसका स्वरूप डरावना और भयदाता है, जिनने गजासुर का चर्म धारण किया है, जो शिव हैं, तीन नेत्रों वाले हैं और जिसकी जटाएँ आग के शोलों की तरह चमकती हैं, जिसने सर्पों की माला धारण की है, जो देवगण से आवेष्टित रहते हैं, जिसकी पौरुष गाथाओं का दैत्यगण सदा पाठ करते हैं, देवाधिराज इन्द्र जिनके आगे आनत रहते हैं, जो भक्तगण को इष्टतम पदार्थ देकर सुख देते हैं, जो भयंकर-रूप-वाले एवं पीतवर्ण हैं, जिनका श्मशान में आवास है और जिसकी सुन्दर जटाएँ गंगा के जल में आप्लावित होती रहती है।

ज्येष्ठ-आसारित—

कार्याः षोडश युग्माख्ये ताले तु प्रथमे गणाः ।
चतुर्विंशतिरोजाख्ये द्वितीये वस्तुसंज्ञिते[7] ॥ ११७ ॥
चतुर्विंशतिरर्धश्च[8] तृतीये वस्तुके[9] भवेत् ।
ज्येष्ठे[10] त्वासारिते कार्य[11] एवमक्षरसञ्चयः ॥ ११८ ॥

जब सर्वप्रथम चचत्पुट ताल में सोलह गण रखे जाएँ फिर दूसरे चाप-पुट में (ओजस्वी) चौबीस गण रहे, फिर तीसरे में साढे चौबीस गण रखें जाएँ तो यह अक्षरों का क्रम (संचय) ज्येष्ठआसारित बन जाता है ॥

---

१. नेत्रहरं—क० । २. सुरवर—ख० । ३. भुजगपरिकरं—क० ।

४. त्रिदशगणवरं—क, त्रिदशपरिगणं—ग० ।

५. उमापतिं नमित—क, अमरपतिचरित—ग० ।

६. सुखदं शरणं सुरनतमहमिह समुपगतः—क०,"'सुरनुतचरणमहयुपगतः—ख० । ७. संज्ञके—क० । ८. रर्धश्च—क०, ख० ।

९. वस्तुसंज्ञके—क०; वसुसंज्ञिके—ख० ।

१०. ज्येष्ठेऽप्यासा-क; ज्येष्ठेवासा—ख० । ११. कार्यस्त्वेवमक्षर—ग० ।

यथा—अमरप्रवरं[1] मदनाङ्गहरं भुवनैकनाथम् अभयप्रदं त्रिपुरनाशकरं[2] देवं तमहं प्रणतः[3]। सुरपितृमुनिगणप्रणतचरणं पृथिवीसलिलानल-पवन-यज्ञाधिपति-सूर्य-चन्द्र-व्योमाख्याः अष्टौ मुनिभिर्यस्य[4] कार्या प्रोक्ताः त्रैलोक्यगुरुं तमचिन्त्यमजं विद्यानिलयं भैरवरूपं खट्वाङ्गधरं[5] स्थित्युत्पत्तिप्रलयनिमित्तं सूक्ष्माक्षमचिन्त्यं चन्द्रार्धधरं[6] तिलकार्धधरं[7] कुचार्धधरं कान्तार्धधरम्। बहुलैर्विविधैर्विधृतैर्[8] विकटैर्मुण्डैः विमुखैर्विषमैः प्रथमैः परिवृतमीशं[10] सततं[11] प्रणतः॥

मैं देवाधिदेव महेश के सम्मुख सदा प्रणत हूँ, जो सर्वोत्तम देवता है, जिनने मदन के शरीर का नाश किया है, जो इस त्रिभुवन के एक मात्र अधिपति हैं, जो सभी प्रकार के भय से मुक्ति दिलवाते हैं और जो त्रिपुरसुर के हन्ता हैं। मैं सदा उन शिव को प्रणाम करता हूँ, जिसके चरणों की देवगण पितृगण, मुनिगण सदा प्रणत हो उपासना करते हैं, जिनके विषय में मुनियों का कथन है कि उन्होंने अपने से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, यजमान, सूर्य, चन्द्र तथा आकाश नामक आठ मूर्तियों का सृजन किया है, जो त्रिलोकी के पूज्य या स्वामी हैं, जिनका स्वरूप विचारों से परे है, जो अजन्मा या शाश्वत स्वरूप वाला है, जो विधाओं का आगार हैं, जिसका स्वरूप भयानक है, जिसने खट्वांग नामक शस्त्र धारण कर रक्खा है, जो संसार की स्थिति, उत्पत्ति एवं प्रलय के कारण हैं, जिसकी दृष्टि अतिशय सूक्ष्म या सर्वग्राहिणी है, जो अचिन्त्य है, जो अपने मस्तक पर अर्द्धचन्द्र को धारण करता है, जो मस्तक के अर्द्ध भाग में तिलक को धारण करता है, मस्तक पर जो एक नेत्र को धारण करता है, जिसके शरीर के एक भाग में स्तन हैं, जिसके एक ओर अर्द्ध भाग में भगवती उमा है और जो विविधस्वरूप वाले विकटरुण्डमुण्डवाले, मस्तकहीन तथा भद्दे और विषम शरीरवाले प्रमथगणों से घिरे हुए हैं।

---

१. अमरं प्रवरं—क०। २. त्रिपुरान्त—ख०।

३. प्रणतसुरपितृगणनतचरणम्—क०।

४. पृथिवीं सलिलं ज्वलनः पवनः सूर्यश्चन्द्रो यजमानो व्योमाख्यः कार्यः—क०; सलिलज्वलनभैरवरूपं खट्वाङ्गकपालधरं पवनः सूर्य…व्योमाख्याः कार्या—ख०। ५. मुनिभिर्यस्य मोक्तः—क०।

६. खट्वाङ्गकपाल धरं—क०, ख०। ७. त्रिकलार्ध—ग०।

८. मुण्डार्धधरं रशनार्धधरम्—क०।

९. बहुभिर्विकृतैर्विविधैर्विकटैर्वधं विविधैर्विमुखैरपि तैः प्रमथैः—क०।

१०. परिवृतमहमीशं—क०। ११. सुखदं सततं—क०, ख०।

आसारितानां सर्वेषां त्रयो[1] भेदाः प्रकीर्तिताः।
यथाक्षरं[2] द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमथापि वा ॥ ११९ ॥

मैंने इस आसारित के तीनों प्रकार बतलाए जिन्हें यथाक्षर द्विसंख्यात तथा त्रिसंख्यात[1] कहते हैं ॥ ११९ ॥

तालच्छेदद्विगुणितैः[3] [4]समवर्णगणैः[5] कृतम्।
अनिवृत्ताक्षरपदं यथाक्षरमिति स्मृतम् ॥ १२० ॥

यथाक्षर—जो समान वर्ण के गणों से निर्मित किया जाए, और जिसके ताल को देखते हुए दुगुन किया गया हो तथा जिसमें अक्षरों की आवृत्ति न होती हो तो उसे 'यथाक्षर' कहते[2] है १२० ॥

निवृत्त्या यत्समायुक्तं द्विसंख्यातं तदुच्यते[6]।
[7]निवृत्तिद्वयसम्पन्नं[8] त्रिसंख्यातमितीष्यते[9] ॥ १२१ ॥

द्विसंख्यात तथा त्रिसंख्यात–यथाक्षर की जब एक बार आवृत्ति की जाती है तो उसे 'द्विसंख्यात' कहते हैं और जब इसी की दो बार आवृत्ति की जाए तो इसी को "त्रिसंख्यात" आसारित कहा जाता है[3] ॥ १२१ ॥

चतुष्कादौ चतुर्मात्रा यथोक्त-गुरुलाघवाः[10]।
यथायोगं गणाः[11] कार्या गीतेष्वासारितेषु च ॥ १२२ ॥

आसारित के गीतों (की ताल) में उसे चार कला का बनाना चाहिए जो चार मात्राओं और पूर्व कथित गुरु और लघु अक्षरों से युक्त रहे ॥१२२॥

अक्षरैर्या चतुर्मात्रा द्विमात्रा वर्णतस्तथा[12]।
चित्रे कला भवेद्[13] या तु वृत्तौ[14] सा द्विगुणा मता[15] ॥१२३॥

---

१. द्रष्टव्य—संगी० र० ५।१९० भी।

२. द्रष्टव्य—वही।

३. द्रष्टव्य सं० र० ५।१९१।

---

१. ये भेदाः—ख०। २. यथाक्षरद्विसंख्येति त्रिसंख्यातमथापि च—ग०।
३. च्छेदाद्—क०, च्छेदो—ख०। ४. समवर्णैः—ग०।
५. गुणैः कृत—ग०, वर्णगणैर्हृतम्—क (ग०)।
६. तमुच्यते—ख०। ७. निर्वृत्त—ख; निवृत्तित्रय—ग०।
८. संयुक्तं—क०। ९. मपीष्यते—क०।
१०. लाघवः—ग०। ११. कलाः—ग०।
१२. वर्णतस्तु सा—क०, ख०। १३. बुधैर्ज्ञेया—क०।
१४. वृत्ते—ग०। १५. स्मृता—क०, ख०।

वृत्तौ या वर्णमात्रा[1] तु चतुर्मात्रा प्रकीर्तिता।
द्विगुणा दक्षिणे सा[2] तु कला ज्ञेयाः प्रयोक्तृभिः॥ १२४॥

अक्षरों में जिसकी चार मात्रा होती है वही वर्ण में दो मात्रा होती है। चित्र मार्ग में जो कला होती है वह वार्तिकमार्ग में दुगुनी हो जाती है। इसलिए वृत्ति व वार्तिक मार्ग में जो कला चार मात्रा के प्रमाण की (वर्ण में) होती है वही दक्षिण-मार्ग में दुगुनी कर दी जाती है॥ १२३–१२४॥

न मार्गभेदोऽक्षरेषु कश्चिदप्युपपद्यते।
वर्णमात्राद्द्विगुणिताद्[3] वर्णभेदः प्रकीर्तितः॥ १२५॥

यहाँ अक्षरों[1] में मार्ग का परिवर्तन (मार्ग भेद) नहीं होता पर यह केवल वर्ण और मात्राओं के द्विगुणित करने के कारण वर्णभेद कहलाता है॥ १२५॥

यथाक्षरेषु भूयिष्ठं गीतेष्वासारितेषु च।
विधिरेष समुद्दिष्टो वर्ण-तालसमाश्रयः[4]॥ १२६॥

यथाक्षर में तथा आसारित गीतों में वर्ण और ताल को लेकर होने वाली मुख्यतः यही विधि मानी गयी है॥ १२६॥

द्विसंख्याते निवृत्तिस्तु कार्या[5] स्यादर्धयोगतः।
द्विसंख्यातार्धयोगेन[6] त्रिसंख्यातेऽपि चेष्यते॥ १२७॥

द्विसंख्यात आसारित में एवं यथाक्षर चित्र-आसारित में आधे गण को जोड़ कर आवृत्ति की जाती है (या दुगुन कर दिया जाता है) तथा त्रिसंख्यात आसारित में द्विसंख्यात के आधे गणों को जोड़कर संवर्द्धित करना चाहिए॥ १२७॥

न[7] च चित्रे द्विसंख्यातं कदाचिदपि योजयेत्।
न च वृत्तौ[8] त्रिसंख्यातं गीतेष्वासारितेषु[9] च॥ १२८॥

---

१. अक्षरों से यहाँ तात्पर्य है यथाक्षर [जिनका ताल में नाम पहले दर्शाया गया है]। इस सन्दर्भ में सं० र० ५।१९२ भी यही दर्शाता है।

---

१. मात्राभि—क०, ख०। २. या तु—ग०।
३. द्विगुणिनाद्—क०, ग०। ४. तालपदा—ख०।
५. कार्या यस्यार्थयोगतः—क०, कायोद् यस्यार्धं—ख०।
६. द्विसंख्यातार्थ—क०, द्विसंख्यातकयोगेन—ग०।
७. न चित्रे द्वित्रिसंख्यातं—क०, ख०। ८. वृत्तित्रिसंख्यातं—ख०।
९. गीतं वासारितं बुधः—क०।

चित्र-मार्ग में द्विसंख्यात आसारित की कभी योजना नहीं होती और वृत्ति या वार्तिक-मार्ग में त्रिसंख्यात आसारित गीतों की योजना भी न की जाए ॥ १२८ ॥

दक्षिणे[1] स्यात् त्रिसंख्यातं द्विसंख्यातश्च वार्तिके ।
चित्रे यथाक्षरं प्रोक्तमिति[2] मार्गविनिश्चयः[3] ॥ १२९ ॥

तथा त्रिसंख्यात आसारित की योजना दक्षिण मार्ग में, द्विसंख्यात आसारित की वार्तिक मार्ग में तथा यथाक्षर आसारित की चित्र मार्ग में योजना की जाती है। मार्ग के विषय में यही नियम निश्चित किया गया है[1] ॥ १२९ ॥

दक्षिणेनैव[4] गत्वादौ निवृत्तौ वृत्तिवद् व्रजेत् ।
चित्रवच्च यथान्यायं त्रिसंख्याते विधिः स्मृतः ॥ १३० ॥

त्रिसंख्यात आसारित की विधि यह है कि यह दक्षिण मार्ग में आदि में आरम्भ होता है तथा वृत्तिमार्ग द्विरावृत होकर चित्र में यथाक्षर हो जाता है ॥ १३० ॥

अनेनैव विधानेन द्विसंख्यातमपीष्यते ।
वृत्तौ वा दक्षिणे वाऽपि प्रयोगोऽस्यैव[5] चेष्यते ॥ १३१ ॥
वस्त्वादौ वस्तुमध्ये च[6] वस्त्वन्ते वा[7] निवृत्तयः ।
प्रयोक्तव्या [8]प्रयोगज्ञैर्विचार्याङ्गबलाबलम् ॥ १३२ ॥

इसी नियम (या सिद्धान्त) के अनुसार द्विसंख्यात आसारित को भी किया जाए। उसी का दक्षिण या वार्तिक मार्ग में प्रयोग रहना चाहिए। वस्तु के विभिन्न अंगों का (सम्बन्धित) बलाबल देखकर चतुर संगीतज्ञ इसके आदि, मध्य और अन्त में होने वाली आवृत्तियों को प्रयुक्त करें ॥ १३१-१३२ ॥

---

१. यहाँ पद्य संख्या १२८ तथा १२९ के लिये सं० र० ५।१६२ भी द्रष्टव्य ।

---

१. त्रिसंख्यातं दक्षिणे स्यात्—क० ।

२. प्रोक्तमेषां—ग० ।

३. अस्मादनन्तरं—यथाक्षरं तु सर्वेषु मार्गेषु परिकीर्तितम् । इति केचित् इति क—पुस्तकेऽधिकम् । ४. दक्षिणेन तु गीतादौ—ग० ।

५. प्रयोगस्य सर्दव तु—क०; प्रयोगोऽस्य सदैव तु—ख०, प्रयोगस्यैव चेष्यते—ग० । ६. वा—०० ।

७. या —ख० । ८. बुधैर्नित्यं—क० ।

निवृत्तौ तु कला न्यूना यदा यस्तुवशाद् भवेत् ।
आकलापतनात्[1] तस्या वर्णः कार्यो निवृत्तिमान् ॥ १३३ ॥

और यदि वस्तु के कारण आवृत्ति में एक कला की न्यूनता आ जाए तो गायक को वर्ण को आवृत्त या लम्बा खींच कर इस एक कला की पूर्ति कर लेना चाहिए ॥ १३३ ॥

वर्णालङ्कारसौभाग्यं विच्छेदः[2] करणस्य च ।
तत्त्वादीनां प्रयोगश्च निवृत्तीनां प्रयोजनम् ॥ १३४ ॥

(इस) आवृत्ति या दुहराने का उद्देश्य है—वर्ण और अलंकारों की सौन्दर्य वृद्धि करना, शरीर के अवयवों को थोड़ा विश्राम मिलना तथा तत्वादि[1] का प्रयोग करना ॥ १३४ ॥

वर्णतालाक्षराणाञ्च संयोगोऽयं मया स्मृतः ।
आसारितेषु गीतेषु वर्धमानेषु चैव हि ॥ १३५ ॥

इस प्रकार मैंने आसारित और वर्द्धमानक गीतों में होने वाला वर्ण, ताल तथा अक्षरों का पारस्परिक संयोग निरूपित किया ॥ १३५ ॥

वर्द्धमानक के चार विभाग (कण्डिका)—

चतस्रः[3] कण्डिका ज्ञेया वर्धमाने प्रयोक्तृभिः ।
विशाला सङ्गता[4] चैव सुनन्दा[5] सुमुखी तथा ॥ १३६ ॥

वर्धमानक (गीत) के चार अवयव या विभाग (कण्डिका) हैं । यथाः (१) विशाला, (२) संगता, (३) सुनन्दा तथा (४) सुमुखी[2] ॥१३६॥

ततः पूर्वा नवकला द्वितीयाष्टकला स्मृता ।
तृतीया षोडशकला द्वात्रिंशच्च तथोत्तरा ॥ १३७ ॥

इनमें पहिली नौ कलाओं से निर्मित होती हैं, दूसरी आठ कलाओं से, तीसरी सोलह कलाओं से और अंतिम बत्तीस कलाओं से [3]निर्मित होती है ॥ १३७ ॥

---

१. तत्वादि का स्वरूप ना० शा० अध्या० २९।१०९ पर द्रष्टव्य ।
२. तुलनार्थ द्रष्टव्य—सं० र० ५।१९५ ।
३. द्रष्टव्य—सं० र० ५।१९६ ।

---

१. अकला—क०, अकालपातानात्—ख० ।
२. विच्छेदं—क०; विच्छेदकरणस्य—ग० ।
३. वर्धमानन्तु विज्ञेयं चतस्रः कण्डिका बुधैः—क०, ख० ।
४. सम्मता—ग० । ५. सुतदा—ख० ।

उपोहनविधिस्तासामधुना च मयोच्यते।
उपोहनं विशालायाः कलापञ्चकमेव[1] हि।
षट्कला[2] सङ्गतायाश्च सुनन्दायाश्च सप्तकम्[3] ॥ १३८ ॥

सुमुख्याश्चोपवहनं नित्यमष्टकलं भवेत्।
एतेषाञ्चैव[4] वक्ष्यामि गुरुलघ्वक्षरक्रमम् ॥ १३९ ॥

अब मैं इनकी उपोहन विधि कहता हूँ। 'विशाला' के उपोहन का प्रमाण पाँच कला होता है, 'संगता' का छः कलाओं का, 'सुनन्दा का' सात कलाओं का और 'सुमुखी' का उपोहन[1] आठ कलाओं का (सदा) रखा जाता है। अब मैं इनके अक्षरों का गुरु-लघु-क्रम बतलाता हूँ ॥१३८-१३९॥

आदौ गुरुद्वयं कार्यं चतुर्दश लघून्यपि[5]।
उपोहनं[6] विशालायाः पुनरन्ते गुरुः[7] स्मृतः ॥ १४० ॥

विशाला के उपोहन[2] में सर्व प्रथम दो गुरु फिर चौदह लघु और अन्त में एक गुरु अक्षर रहता है ॥ १४० ॥

यथा—क्र[8] दुं जगति अवलितक दिगिनिकुचक्रुततिति चा।
चतुर्भिरधिकै र्ह्रस्वैर्गुरुत्रयसमन्वितम्[9]।
सङ्गतायाश्च[10] मुनिभिरुपोहनमिति स्मृतः ॥ १४१ ॥

यदि विशाला के उपोहन में ही चार लघु अक्षर बढ़ाते हुए तीन गुरु रखे जाएँ तो 'संगता' का उपोहन हो जाता है[3] ॥ १४१ ॥

यथा-क्र दुं[11]जगति अवलितक दिगि निगि तिति झल तिति चा।

---

१. सं० र० के टीकाकार कल्लिनाथ के अनुसार वर्धमानक के चार अङ्गों का उपोहन विधान क्रमशः पाँच, छः, सात तथा आठ कलाओं का किया जाता है। (द्रष्ट—सं० र० व्याख्या ५।१९६–१९७)

२. द्रष्टव्य सं० र० ५।१९७

३. तुलना—सं० र० ५।१९७ पर कल्लिनाथ की व्याख्या।

---

१. कलाः पञ्च भवेदिह—क०, ख०।
२. षट् सङ्गताया विज्ञेया सुनन्दाया स्तु—क०। ३. सप्त च—ख०।
४. पद्यार्धमेतत् क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति। ५. लघून्यथ—क०, ख०।
६. उपोहने—क०। ७. विधिः—ग०।
८. झण्टुं जगति यवलितक दिगि निगि कुचकुततिति (निगितिति) चा—क०। ९. गुरुत्रयसमन्वितैः—क०।
१०. सङ्गतायास्तु विज्ञेय उपोहनविधिः क्रमात्—क०।
११. झण्टुं जगति य वलितक दिगि निगि तिति झलति—क०।

चतुर्भिरधिकैरेवं लघुभिर्गुरुसंयुतैः[1]।
सुनन्दायाश्च विज्ञेयो[2] ह्युपोहनविधिर्बुधैः ॥ १४२ ॥

(इसी प्रकार यदि संगता के उपोहन में) चार लघु अक्षर बढ़ाते हुए तीन गुरु वर्ण रखे जाएँ तो उसे विद्वद्जन 'सुनन्दा' का उपोहन-विधान मानने हैं[1] ॥ १४२ ॥

यथा-ऋ[3] दुं जगति अवलितक दिगिति ऋल कुचलतिति वा।
अष्टाविंशल्लघूनि[4] स्युः सुमुख्याश्च गुरूणि[5] च।
उपोहनविधाने[6] तु ज्ञेयानि[7] मुनिसत्तमाः ॥ १४३ ॥

'सुमुखी' के उपोहन में अट्ठाईस लघु तथा तीन गुरु अक्षर रखने का विधान है[2] ॥ १४३ ॥

यथा -ऋ[8] दुं जगति अवलितक दिगि विगि तिति ऋल ऋच कुलतिति जगतिति वा।

उपोहन लक्षण—

उपोह्यन्ते स्वरा यस्मात्[9] यस्माद् गीतं प्रवर्तते।
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं[10] शुष्काक्षरसमन्वितम्[11] ॥ १४४ ॥

क्योंकि गीत के स्वरों की इसी के द्वारा आगे बढ़ाया जाता है और इसी से गीत भी आगे बढ़ता है (या गीत की प्रवृत्ति होती है) अतएव शुष्का-क्षरों (वर्णमाला, निरर्थक वर्णों) में युक्त इस विधान को 'उपोहन कहते हैं[3] ॥ १४४ ॥

अथवोपोह्यते यस्मात् प्रयोगः सूचनादिभिः।
तस्मादुपोहनं ह्येतद् गानं[12] भाण्डसमाश्रयम् ॥ १४५ ॥

---

१. तुलना—सं० र० व्याख्या ५।१७७ पर।

२. द्रष्टव्य—सं० र० व्याख्या ५।१७७।

३. द्रष्टव्य सं० र० व्याख्या (५।५६ पर) 'उप समीपे विचार्यते इत्युपोहनम। तत्र प्रथमवस्त्वादौ कृतमुपोहनमित्युच्यते। द्वितीयादिवस्त्वादौ कृतं

---

१. गुरुसंयुतः—क०; गुरुसंस्तुतैः—ख०। २. विज्ञेय उपोहन—ग०।

३ झण्टुं जगति यवलितक दिगि निगि तिति झल तिति चा—क०।

४. षट्त्रिंशतिर्लघूनी—क०, ख०। ५. गुरुत्रयम्—ग०।

६. विधानेन—ख०। ७. तु ज्ञेयं तु द्विजसत्तमाः—ग०।

८. झण्टुं···यवलितक दिगि निगि तिति जल कुच जलतिति चा—क०।

९. येन तेन गीतं—क०, यत्र येन—ख०। १०. प्रोक्तं—ख०।

११. स्थायित्वस्वमाश्रयम्—ग०। १२. गानभाण्ड—क०, ख०, ग०।

अथवा इसी के द्वारा सूचनाओं[1] से आरम्भ होते हुए नाट्यप्रयोगों में (अभिनव) कार्य आगे बढ़ाने के कारण संगीतोपयोगी वाद्य के आश्रित रखे गये 'गीत' उपोहन कहलाते हैं ॥ १४५ ॥

उपोहन में ताल विधान—

शम्यातालौ द्विरभ्यस्तौ सन्निपातान्त्य[1] एव च ।
उपोहने[2] विशालायास्तालोऽयं परिकीर्तितः ॥ १४६ ॥

'विशाला' के उपोहन में ताल का क्रम इस प्रकार रहता है :—शम्या, ताल, शम्या, ताल तथा सन्निपात[2] ॥ १४६ ॥

द्विकलः सङ्गतायास्तु[3] तालश्चापपुटः[4] स्मृतः ।
तस्यैव[5] सन्निपातोऽन्त्ये सुनन्दायास्तथैव च ॥ १४७ ॥

'संगता' के उपोहन में ताल का क्रम है दो कला का चञ्चत्पुट फिर उसे तालादि के स्वरूप में रखना तथा इसी क्रम के अन्त में यदि सन्निपात रखा जाय तो 'सुनन्दा' के उपोहन का ताल-क्रम बन जाता है[3] ॥ १४७ ॥

चञ्चत्पुटस्तु द्विकलः सुमुख्यां[6] स्यादुपोहने ।
उपोहने द्विरभ्यस्तैस्ततः[7] कार्या तु[8] कण्डिका ॥ १४८ ॥

तु प्रत्युपोहनमिति । अथवैकवस्तुनि प्रथमं कृतमुपोहनम् । तदनन्तरं कृतं प्रत्युपोहनमिति ।' आशय यह कि गीत के प्रथम विचार पूर्वक किये हुए स्वरों का आगे बढ़ाना । यह प्रथम बार किया जाने पर उपोहन तथा इसके बाद का प्रत्युपोहन कहलाता है ।

१. यहाँ 'सूचनादिभिः' के स्थान पर 'स्तवनादिक' पाठ सं० र० की व्याख्या में कल्लिनाथ ने दिया है । इस प्रकार इसका मूलपाठ कदाचित्— 'स्तवनादिभिः' रखना प्राचीन परम्परानुकूल हो सकता है ।

२. द्रष्टव्य सं० र० ५।२०२ भी ।

३. संगता का तालक्रम :—निष्क्राम, शम्या, ताल शम्या, निष्क्राम तथा सन्निपात । इन्हीं से जब सुनन्दा का क्रम बनेगा तो अन्त में एक सन्निपात और जुड़ जाएगा ।

---

१. पातोऽन्त्य—क० । २. उपोहनं—क०, ग० । ३. श्च—क० ।
४. चाचपुटो भवेत्—क० । ५. त्रिकलो युक्ततालादिः—क०, ख० ।
६. सुमुख्याः—क०, ख० । ७. द्विरभ्यस्ते—क० (च) ।
८. सुकण्डिक—ग० ।

'सुमुखी' के उपोहन में दो कला का चंचत्पुट रखने पर ताल क्रम बन जाता है। उपोहन की दो बार आवृत्ति करने या दुहराने से 'कण्डिका' बन जाती है ॥ १४८ ॥

एतान्युपोहनानीह चत्वारि कथितानि[1] तु।
आनुपूर्व्या[2] प्रयोगश्च कण्डिकानां निबोधत ॥ १४९ ॥

इस प्रकार मैंने चारों उपोहनों को बतलाया। अब मैं कंडिकाओं का (आरम्भ से लेकर होने वाला) प्रयोग बतलाता हूँ ॥ १४९ ॥

शम्या[3] तालश्च शम्या च पुनस्तालो[4] यथाक्रमम्।
त्रिकलः सन्निपातश्च विशालायाः प्रकीर्तितः ॥ १५० ॥

विशाला में तालक्रम इस प्रकार रहता है :—शम्या, ताल, शम्या, ताल और फिर तीन कला का सन्निपात[1] ॥ १५० ॥

चञ्चत्पुटस्तु द्विकलः सङ्गताया अपि स्मृतः।
चतुष्कलः[5] सुनन्दाया स एव गदितो बुधैः ॥ १५१ ॥

द्विकल चञ्चत्पुट रखने से 'सङ्गता' का तालक्रम होता है तथा उसे ही चार कलाओं का बना देने पर 'सुनन्दा' का तालक्रम हो जाता है[2] ॥

सन्निपातद्वयोपेतो द्विचित्रस्तु[6] प्रयोक्तृभिः।
कार्यश्चतुष्कलो युग्मः सुमुख्याया यथाक्रमम् ॥ १५२ ॥

दो चञ्चत्पुट को चार कलाओं वाला बना कर यदि दो सन्निपात के साथ रखा जाए तो 'सुमुखी' का तालक्रम बन जाता है[3] ॥ १५२ ॥

वर्धमानस्य तालोऽयं कण्डिकानां[7] पृथक् पृथक्।
मया प्रोक्तः पुनश्चैव संहतानां[8] निबोधत ॥ १५३ ॥

---

१. तुलना—सं० र० ५।२०२।

२. द्रष्टव्य—सं० र० ५।२०२।

३. यहाँ पाठ 'द्वि चित्रस्तु' होना चाहिए। जैसा कि सं० र० के 'सुमुख्यां स द्विरुच्यते' से समर्पित होता है। (सम्पा०)

---

१. गदितानि—का०, ख०।

२. आनुपूर्व्यात् (व्या) प्रयोगन्तु—क०, ख०।

३. शम्यातालो पुनः—क०, ख०। ४. ततस्तालो—क०, ख०।

५. चतुष्कलपः (लः)—क०। ६. द्विमात्रस्तु—क०।

७. कर्णिकानां—ग०। ८. संयुक्तानां—ग०।

यहाँ तक वर्धमान गीत के स्वतन्त्र अंगों के रूप में तालों का पृथक् वर्णन किया गया। अब मैं इनका समस्त या एकत्रित रूप में होने वाला (संहृत) स्वरूप कहलाता हूँ ॥ १५३ ॥

पूर्वं विशाला कर्तव्या बालतालप्रयोजिता[1]।
अन्तिमा[2] त्रिकलोपेता बालमासारितन्तु तत् ॥ १५४ ॥

इसमें सर्वप्रथम 'विशाला' को छोटे से ताल में स्वरूप में (बालताल) प्रस्तुत करना चाहिए। इसमें यदि अन्त में रखी गई ताल की समाप्ति तीन कला के प्रमाणवाली (त्रिकल) ताल में होती है तो इसे बाल (या कनिष्ठ) आसारित कहा जाता है ॥ १५४ ॥

सङ्गताया ग्रहं कृत्वा[3] विशाला सकला[4] यदि।
युज्यते पूर्वताले तु यदा स्यात्तल्लयान्तरम् ॥ १५५ ॥

संगता को लेते हुए यदि विशाला को अपनी समस्त कलाओं के साथ पूर्वताल से संयुक्त किया जाए तो 'लयान्तर' हो जाता है ॥ १५५ ॥

सुनन्दा च यतः कार्या सङ्गता पुनरेव हि।
विशालाश्च पुनश्चैव सुमुखीश्च प्रयोजयेत् ॥ १५६ ॥

फिर 'सुनन्दा' को प्रस्तुत किया जाता है और इसके बाद 'संगता' को फिर विशाला को तथा इसके बाद 'सुमुखी' को प्रयुक्त किया जाए ॥ १५६ ॥

कनिष्ठासारिते तालो यो मया[5] परिकीर्तितः।
स एव सर्वः कर्त्तव्यः प्रथमे कण्डिकोद्भवे[6] ॥ १५७ ॥

कनिष्ठासारित की जो ताल विधि पूर्व में कही गयी है वह क्रम पहिली कण्डिका के आरम्भ में भी प्रयुक्त किया जाए ॥ १५७ ॥

सुनन्दा सङ्गता चैव विशाला च यथोदिता।
सुनन्दाया ग्रहं कृत्वा ततश्चैव[7] प्रयोजयेत् ॥ १५८ ॥

फिर 'सुनन्दा' के ग्रह को प्रस्तुत करने के लिए यही क्रमशः लिया जाय और इसके बाद सुनन्दा, संगता और विशाला को (क्रमशः) प्रयुक्त किया जाए ॥ १५८ ॥

---

१. सङ्गता तदनन्तरम्—क०, ख०।
२. अन्तिमार्धकलो—क० (ड)।
३. गत्वा—ग०। ४. पुनरिष्यते—क०, ख०।
५. यथा—ख०। ६. कण्डिकाद्वये—क०। ७. श्चैवं—क०।

मध्यमासारिते तालो यो मया परिकीर्तितः।
शम्यात्रयस्य[1] कर्त्तव्यः सुनन्दाद्यस्य[2] पण्डितै ॥ १५९ ॥

मध्यमासारित की दशा में जिस ताल की मैंने वर्णना की थी उसे तीन शम्या में रखते हुए 'सुनन्दा' की दशा में प्रस्तुत करना चाहिए और फिर आगे जो अन्य प्रस्तुत की जाती हो उनकी दशा में भी ॥ १५९ ॥

सुमुखी च सुनन्दा च सङ्गता[3] पुनरिष्यते।
सुमुख्यादौ[4] ग्रहं कृत्वा यथोक्तं सम्प्रयोजयेत् ॥ १६० ॥

तथा पुनः सुमुखी, सुनन्दा और संगता को प्रस्तुत किया जाय और फिर सुमुखी से आरम्भ करते हुए उनको उक्त क्रम में प्रयुक्त करें ॥ १६० ॥

विशालाया समाप्तिस्तु ज्ञेया अथ निवृत्तयः।
ज्येष्ठ[5] त्वासारिते तालो निःशद्वः शद्ववाँस्तथा ॥ १६१ ॥

इसके बाद फिर 'विशाला' को समाप्ति करने के विषय में ज्ञान रखा जाए तथा इसी प्रकार आवृत्ति को भी ध्यान में रखना चाहिए। ज्येष्ठ आसारित में ताल क्रिया या तो निशब्दा या फिर सशब्दा रखी जाती है ॥ १६१ ॥

स[6] एव सर्वः कर्तव्यो बुधैश्चतसृणामपि।
संयोगे[7] कण्डिकानान्तु[8] तालोऽयं परिकीर्तितः।
एवमासां समायोगाद् वर्धमानकमिष्यते ॥ १६२ ॥

यही ताल क्रम सारे अंगों में रखा जाए। चारो कण्डिकाओं के संयोग में ये ही ताल विधान हैं और इन कण्डिकाओं के इसी प्रकार क्रम में मिलने (समायोगात्) से 'वर्द्धमानक' का निर्माण यहाँ इष्ट है ॥ १६२ ॥

बालं नवकलं[9] ज्ञेयं दशसप्तलयान्तरम्।
पञ्चषष्टिकलं[10] ज्येष्ठं त्रयस्त्रिंशत्तु मध्यमम् ॥ १६३ ॥

---

१. सोऽस्य त्रयस्य—क; सोऽन्यत्र यस्य—ग०।
२. सुनन्दां न्यस्य योक्तृभिः—ग०।
३. सङ्गता प्रथमा तथा—क०, सङ्गतप्रथमा—ख०।
४. सुमुख्यास्तु—क०।
५. ज्येष्ठासारितके—क०, ज्येष्ठत्वं सारिते तालो—ग०।
६. स सर्व एव—क०। ७. संयोगः—ख०। ८. कण्डिकालोपः—ग०।
९. न सुकलं ज्ञेयं दशशद्व—ख०।
१०. मध्यमं तु त्रयस्त्रिंशत् पषष्ठिस्तथोत्तरम्—क०।

कनिष्ठ वा बाल-आसारित नौ कलाओं से निर्मित होता है, लयान्तर सत्रह कलाओं से, मध्यम आसारित तैंतीस कलाओं से तथा ज्येष्ठ-आसारित पैंसठ कलाओं से निर्मित माना जाता है[1] ॥ १६३ ॥

एतत्तालविधानन्तु सर्वेष्वासारितेषु च।
कलानां वृद्धिमासाद्य त्वक्षराणान्तु वर्धनात्।
लयस्य वर्धनाच्चापि वर्धमानकमुच्यते ॥ १६४ ॥

आसारितों में होने वाली ताल की यही विधि है। इसे वर्धमान कहने का कारण यह है कि यह कलाओं की क्रमिक वृद्धि को, अक्षरों की वृद्धि को लेकर तथा लय को अपने व्यवस्थित रूप में बढ़ाने को लेकर सम्पन्न होता है ॥ १६४ ॥

आसारितेषु गीतेषु[1] वर्धमानेषु चैव हि।
द्विगुणस्तालयोगेन कार्यो ह्यक्षरजो[2] विधिः ॥ १६५ ॥

आसारित और वर्द्धमानक गीतों के सभी प्रकारों के सम्बद्ध अक्षरों के विधान में सामान्यतः ताल को दुगुन करते हुए रखना ही नियम है ॥१६५॥

समाप्तावन्तरहितः[3] सन्निपातो यदा भवेत्।
अन्त्या कला द्विमात्रा तु तदा ज्ञेया[4] प्रयोक्तृभिः ॥ १६६ ॥

और यदि बिना समाप्ति के भी सन्निपात (जब) आजाए तो इस अवसर पर अन्त में दो मात्रावाली कला रखी जाती है ॥ १६६ ॥

एवमेतन्मया प्रोक्तं वर्धमानस्य[5] लक्षणम्।
आसारितानां वक्ष्यामि प्रस्तारं[6] लघुलक्षणम् ॥ १६७ ॥

इस प्रकार मैंने वर्द्धमानक का लक्षण बतलाया। अब मैं आसारितों का संक्षेप में लक्षण बतलाते हुए उनका प्रस्तार क्रम बतलाता हूँ ॥ १६७ ॥

अन्यूनायां कलायां तु ध्रुवं प्राज्ञो निवेशयेत्[7]।
अथ तालाक्षरवशाच्छेषानन्तांश्च[8] योजयेत् ॥ १६८ ॥

---

१. द्रष्टव्य सं० र० ५।१९५

---

१. सर्वेषु—ग०। २. त्वक्षर—क० (ड)।
३. वन्तरचितः—क, प्तायान्तरयिनः—ख०।
४. तदा कार्या—ग०। ५. मानकलक्षणम्—क(ड)।
६. विस्तरं—क०, ख०। ७. निवेदयेत्—ख०।
८. शेषान् पाताश्च—क०, स्त्वेषां ये तांश्च—ख०।

दो कलाएँ किसी प्रकार कम न होती हों तो ध्रुव करना चाहिए तथा शेष सभी तालों का उनके अंतिम भाग से या ताल के अक्षरों को ध्यान में रखकर उनकी स्थिति के अनुसार 'ध्रुव' की योजना की जाए ॥ १६८ ॥

प्लुते लघ्वक्षरे चैव ध्रुवे साम्यं न विद्यते।
न विद्यते त्रिभिः पातैः समत्वमुपदिश्यते[1] ॥ १६९ ॥

ध्रुवाताल में विद्यमान प्लुत या केवल लघु अक्षर में साम्य (शम्या ?) नहीं रहता। यहाँ केवल तीन सन्निपातों से (ही) समत्व का उपदेश नहीं समझ लेना चाहिए ॥ १६९ ॥

तालैश्च सन्निपातैश्च शम्याभिश्च ध्रुवेण च।
कनिष्ठासारितं कार्यं मध्यमं ज्येष्ठमेव च ॥ १७० ॥

कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ आसारित को तालों, सन्निपातों, शम्या और ध्रुवा के साथ प्रस्तुत या सम्पन्न किया जाए[1] ॥ १७० ॥

द्विगुणोत्तरया[2] वृद्ध्या ह्रस्यैव तु मध्यमं विधातव्यम्।
प्रस्तारे[3] चैव कलानां शम्या तालान्तरोपेतम् ॥ १७१ ॥

कनिष्ठ आसारित की कलाओं को दुगुन करने के बाद मध्यम आसारित करना चाहिए और यह शम्या तालों के मध्य में अन्तर देते हुए बनाया जाता है ॥ १७१ ॥

उत्तरतालः प्रथमे वस्तुन्यादौ कलात्रयं त्यक्त्वा।
कार्यौ मध्ये नित्यं द्वौ परिवर्तौ च सम्पूर्णौ ॥ १७२ ॥

मध्यम-आसारित की प्रथम वस्तु में तीन कलाओं को छोड़कर उत्तर-ताल (षट्पितापुत्रक) रहता है और इसमें दो सम्पूर्ण आवृत्तियाँ (परिवृत्त) की जाती हैं[2] ॥ १७२ ॥

पूर्वं शम्या कार्या द्विकलस्तालः कलाद्वये[4] शम्या।
पुनरेककलः तालस्त्रिकलः स्यात् सन्निपातश्च ॥ १७३ ॥
त्रिकलोऽथ[5] पुनस्तालः शम्येककलाद्वये[6] तालः
द्विकला च पुनः शम्या तालः द्विकलश्च[7] कर्त्तव्यः ॥ १७४ ॥

---

१. तुलना—सं० र० ५।१७६

२. द्रष्टव्य—सं० र० ५।१८०

---

१. मुपनीयते—क०। २. द्विगुणान्तरवृत्या—ग०

३. प्रस्तारेण—क०।

४. कलाद्वयं—ख०, घ०। ५. त्रिकलोऽन्यस्मिस्तालः—क०; ख०।

६. शम्येककला द्वये—घ०। ७. ककिकश्च—क०।

त्रिकलश्च सन्निपातो भूयो विधिरेष एव कर्तव्यः ।
द्वादशकलस्तृतीये[1] तस्यान्ते सन्निपाताश्च[2] ॥ १७५ ॥

मध्यम आसारित में होने वाले पात (सन्निपात) का क्रम इस प्रकार होता है। सर्व प्रथम शम्या फिर दो कला वाली ताल, (फिर) दो कला की शम्या, एक कला की ताल, तीन कला का सन्निपात, तीन कला की ताल, एक कला की शम्या, दो कला की ताल, दो कला की शम्या, दो कला की ताल और फिर तीन कला का सन्निपात तीसरी वस्तु में तथा अन्त में बारह कलाओं का सन्निपात होता है ॥ १७३-१७५ ॥

प्रथमस्त्वष्टकलः स्याद् द्वादशकलिकौ[3] तथापरौ ज्ञेयौ ।
अन्त्यश्च[4] सन्निपातो[5] मध्यस्यासारितस्योक्तः ॥ १७६ ॥

मध्यम आसारित का प्रथम भाग आठ कलाओं का, दूसरा बारह कलाओं का और तीसरा भाग चौबीस कलाओं का होता है तथा जिसके अन्त में सन्निपात रहता है ॥ १७६ ॥

ये पूर्वमङ्गुलिकृतः प्रवेश-विक्षेप[6]-निष्क्रमा गदिताः ।
ते सर्वे कर्त्तव्या मध्ये त्वासारिते तज्ज्ञैः ॥ १७७ ॥

अंगुलियों के द्वारा निर्मित जिन प्रवेश, विक्षेप तथा निष्क्रम को पहिले बतलाया गया है उन सभी को इस मध्यम आसारित में भी विद्वज्जन प्रयुक्त करें ॥ १७७ ॥

अथ ज्येष्ठे तु कर्तव्यं शम्यातालयात्मकम्[7] ।
शरीरं हि बुधैर्नित्यं पञ्चषष्टिकलान्वितम् ॥ १७८ ॥

ज्येष्ठ आसारित का निर्माण शम्या, ताल और लय से निर्मित कर एवं पैंसठ कलाओं से पूर्ण रखते हुए विद्वज्जन को रखना चाहिए ॥ १७८ ॥

तस्यावापोऽथ[8] निष्कामो विक्षेपोऽथ प्रवेशनम् ।
अङ्गुलीनान्तु कर्त्तव्यं कलामानं चतुष्कलम् ॥ १७९ ॥

इसमें अंगुलियों के द्वारा किया जाने वाला आवाप, निष्काम, विक्षेप तथा प्रवेश चार कलाओं के प्रमाण का रखना चाहिए ॥ १७९ ॥

---

१. कलास्तृतीये—क०, ख०। २. पाताश्च—क० (च)।
३. कलिका तथा परे ज्ञेये—क०। ४. अन्तश्च—क०।
५. सन्निपाते मध्यः स्यात् सारितस्योक्तम्—ग०।
६. प्रवेशनिष्कामसंज्ञला—क०, ख०। ७. तालकलान्वितम्—क०; ख०।
८. शतत्रयोऽथ—ख०।

ज्येष्ठं[1] चतुष्कलं स्यादावापैः संयुक्तं सविक्षेपैः।
वस्त्वन्यत्र स्यात् सप्तदशकलन्तु शम्यादि ॥ १८० ॥

ज्येष्ठ-आसारित चतुष्कल प्रमाण के आवाप और विक्षेप से युक्त होता है और इसकी वस्तु अन्यत्र (स्थान पर) सत्रह कलाओं की होती है और शम्या से आरम्भ की जाती है[1] ॥ १८० ॥

पूर्वं शम्या कार्या चतुष्कलो[2] वै भवेत्ततस्तालः।
शम्या चतुष्कला स्याद्[3] द्विकलस्तालस्ततः कार्यः ॥१८१ ॥
कार्यश्च सन्निपातः[4] षट्कलिकः षट्कलश्च तालः स्यात्।
द्विकला च पुनः शम्या चतुष्कलः स्यात् पुनस्तालः ॥ १८२ ॥
शम्या चतुष्कला स्यात् तालो द्विकलश्च[5] कर्त्तव्यः।
पुनरेव सन्निपातश्च षट्कलः संविधातव्यः ॥ १८३ ॥

इस आसारित में किए जाने वाले पातों का क्रम इस प्रकार है। यथा :—सर्वप्रथम शम्या, चार कलाओं की ताल और फिर चार कलाओं की शम्या, दो कलाओं की ताल, छः कलाओं का सन्निपात, छः कलाओं की ताल, चार कलाओं की शम्या, दो कलाओं की ताल तथा चार छः कलाओं का सन्निपात ॥ १८१-१८३ ॥

विधिरेष एव कृत्स्नः पुनस्तृतीय[6] सन्निपातेऽन्ते तु।
पुनरे[7]षामङ्गुलिविक्षेपं सम्प्रवक्ष्यामि ॥ १८४ ॥

तृतीयसन्निपात (के समय) में भी यही सारी विधि की जाती है इसके अन्त में होने वाले अंगुलि-विक्षेप की जो (विशेष) विधि होती है उसे (अब) मैं बतलाता हूँ ॥ १८४ ॥

---

१. यह विवरण संक्षिप्त है तथा प्रतीत होता है कि इसका कुछ विवरण कदाचित् नाटचशास्त्र की प्रतियों में छोड़ दिया गया है।

---

१. पद्यमेतत् क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति।
२. चतुष्कलोऽन्त्यो—क०, ख०।
३. तालो द्विकलस्तथा चैव—क, द्विकलस्तालस्तथा चैव—ख०।
४. कार्यस्य सन्निपातोऽपि—क०, ख०।
५. द्विकलस्ततश्च—क०, द्विकलस्तालश्च—ख०।
६. तृतीयेऽपि सन्निपाते तु—क०, ख०।
७ पुनरेव वैषामङ्गुलिविक्षेपान्—क०।

आवापः[1] सह शम्या निष्क्रामश्च ततः परम् ।
विक्षेपश्च ततस्तालः कार्यः पुनरावाप इष्यते ॥ १८५ ॥
अनामिकया[2] निष्क्रामो विक्षेपोऽनन्तरं स्मृतः ।
शम्यया सह आवापस्तालो विक्षेपणं पुनः ॥ १८६ ॥
कार्यश्च[3] मध्यमाङ्गुल्या प्रवेशश्च ततः परम् ।
आवापश्च ततः[4] कार्यस्तर्जनीनिष्क्रमस्तथा ॥ १८७ ॥
विक्षेपश्च पुनः कार्यः सन्निपातस्तथैव च ।
कलाः सप्तदशैवैताः[5] सन्निपाते[6] तदन्तरम् ॥ १८८ ॥

अनामिका अंगुली के द्वारा आवाप, शम्या, निष्काम, विक्षेप, ताल, आवाप और निष्काम को, मध्यमा अंगुली के द्वारा विक्षेप, शम्या, आवाप, निष्काम और तर्जनी अंगुली के द्वारा विक्षेप और सन्निपात को करना चाहिए। प्रथम सन्निपात में ये ही सत्रह कलाएँ रहती हैं[1] ॥ १८५-१८८ ॥

आवापश्च पुनः कार्यः कनीयस्याऽथ[7] निर्गमः ।
विक्षेपश्च प्रवेशश्च आवापश्च ततः पुनः ॥ १८९ ॥
अनामिका कनीयस्योस्ततस्तालो भवेत् पुनः ।
विक्षेपश्च पुनस्ताभ्यां ततः शम्या प्रकीर्तिताः ॥ १९० ॥
आवापश्च कनीयस्यां[8] ततस्तालं नियोजयेत् ।
आवापश्च ततः[9] कार्यस्तर्जनीनिष्क्रमस्तथा[10] ॥
विक्षेपः पञ्चदशकः शम्यया सह कीर्तितः ॥ १९१ ॥

---

१. यहाँ भी मध्यम आसारित का मूल पाठ नहीं मिलता है जो प्रतीत होता है कि किन्हीं प्रतियों में रहा हो ।

---

१. पूर्वं शम्या तथावापो निष्क्रामश्च ततः पुनः । विक्षेपोऽथ पुनस्तालः पुनराप एव च ॥–क०, ...रावाप इष्यते ॥ —ख० ।

२. अनामिकाकनीयस्योर्निष्क्रामश्च पुनस्तयोः । द्वाभ्यां (ताभ्यां–ख) सहैव विक्षेपः शम्या चावाप एव च ॥ —क०, ख० ।

३. मध्यमायां ततस्तालो विक्षेपोऽयं प्रवेशनम्—क०, ख० ।

४. पुनः—ख० ।

५. सप्तदशोपेताः—क०, सप्तशैवैताः—ख०, सप्तदश ह्यताः—ग० ।

६. सन्निपातो भवेदयम्—क०, ख० । ७. कनीयस्या च—क० ।

८. आवापश्च पुनः कार्यो मध्यमानिष्क्रमात् पुनः । विक्षेपश्च पुन कार्यस्ततस्तालं नियोजयेत् ॥ इति क—पुस्तकेऽधिकं पद्यम् ।

९. पुनः—क० । १०. निर्गमः पुन,—क० ।

आवापश्चैव कर्त्तव्यः[1] पुनस्तालः प्रयोक्तृभिः।
विक्षेपश्च प्रवेशश्च पुनरावाप एव च ॥ १९२ ॥
प्रदेशिन्या च निष्क्रामो विक्षेपश्च पुनः स्मृतः।
सन्निपातस्तथान्त्ये[2] च चतुर्विंशतिको भवेत् ॥ १९३ ॥

कनिष्ठिका अंगुली के द्वारा आवाप और निष्काम (निर्गम), अनामिका और कनिष्ठिका अंगुली के द्वारा विक्षेप, प्रवेश, आवाप तथा ताल और फिर ताल तथा विक्षेप को तर्जनी अंगुली के द्वारा तथा शम्या, आवाप, निष्काम, विक्षेप तथा शम्या को अनामिका तथा प्रदेशिनी अंगुलि के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। ये ही पन्द्रह कलाएँ यहाँ होती हैं तथा आवाप, ताल, विक्षेप, प्रवेश, आवाप, निष्काम को तर्जनी के द्वारा तथा पुनः निष्काम, विक्षेप, प्रवेश को करने से चौबीस कलाओं का द्वितीय सन्निपात बन जाता है[1] ॥ १८९–१९३ ॥

तृतीयसन्निपातस्य एष[3] एव विधिः स्मृतः।
एवं ज्येष्ठस्य[4] विज्ञेयस्तालाङ्गुलिविकल्पितः ॥ १९४ ॥
प्रथमः षोडशकलः चतुर्विंशतिकस्तथा[5]।
द्वितीयश्च तृतीयश्च सन्निपातः[6] कलाधिकः ॥ १९५ ॥
प्रत्येकं पातनं[7] येषु दश सप्त भवन्ति हि।
शम्या तालकृतानीह सन्निपातकृतानि च ॥ १९६ ॥

तृतीय सन्निपात में भी यहीं नियम है। इस प्रकार ज्येष्ठ आसारित में अंगुलियों के द्वारा की जाने वाली ताल की विधि बतलाई गयी। प्रथम सन्निपात में सोलह कलाएँ, द्वितीय सन्निपात में चौबीस कलाएँ और द्वितीय से एक कला अधिक करते हुए तृतीय सन्निपात किया जाता है। इनमें प्रत्येक सन्निपात में दस तथा सात (अर्थात् सत्रह) वर्ग शम्या, ताल तथा सन्निपात से बनाए जाते हैं ॥ १९४–१९६ ॥

---

१. द्रष्टव्य एवं तुलना सं० र० ५।१८१। यहाँ कुछ विवरण कम प्रतीत होता है जो संगीत रत्नाकर से तुलना करने पर स्पष्ट दिखता है। संपा०

---

१. कनीयस्यास्ततः तालं नियोजयेत्—क०।
२. स्ततश्चैव—क०, पुनश्चैव—ख०।
३. त्वेष एव—क। ४. स्तालोङ्ऽगुलिविकल्पतः—ग०।
५. द्विकः स्मृतः—ग०। ६. सन्निपात–कला—क०।
७. पातनान्येषु—ख०।

वस्तुन्याद्ये ह्यज्येष्ठेसु द्वे चान्ये पूर्ववद् योज्ये ।
षट्कशम्याष्टतालं[1] त्रिसन्निपातं त्रिवस्तु चाप्येवम् ॥ १९७ ॥
सप्तदशपातनयुक्तं[2] विद्यादासारितं सम्यक्[3] ।
अष्टौ तालास्तु षट् शम्या सन्निपातास्त्रयस्तथा ॥ १९८ ॥

कनिष्ठ और मध्यम आसारित की प्रथम वस्तु में पूर्ववत् अन्य दो की भी योजना की जाए। इनसे जो तीन वस्तुएँ हों वे छः शम्याओं, आठ तालों और तीन सन्निपातों से युक्त होती हैं और इस प्रकार सत्रह पातों का (६+८+३ = १७) यह आसारित बन जाता है[1] ॥१९७-१९८॥

आसारिते विधौ ह्येष एकैकस्मिन् प्रकीर्तितः ।
आसारितानामित्येवं गदितं लक्षणं मया ॥ १९९ ॥
गीतानां वस्तुकानाञ्च प्रयोगः[4] परिकल्प्यते ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गीतकानान्तु[5] लक्षणम् ॥ २०० ॥

प्रत्येक आसारित में आठ ताल, छः शम्या और तीन सन्निपातों की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार मैंने आसारित का विधान बतलाया। अब मैं गीतों के और वस्तुओं के प्रयोग पर विचार करूँगा और इसके बाद गीतों के लक्षण बतलाऊँगा ॥ १९९-२०० ॥

सर्वेषामेव गीतानां वस्तुष्ववयवेषु च ।
विवधैककवृत्तानि त्रीण्यङ्गानि भवन्ति हि ॥ २०१ ॥

इन्हीं वस्तुओं तथा गीतों अवयवों में विवध, एकक और वृत्त नामक तीन अंग होते हैं ॥ २०१ ॥

एककं[6] तु विदार्यैका द्वे चापि[7] विवधः स्मृतः ।
षट्परं त्र्यवरं वृत्तं विदार्यः[8] परिकीर्तिताः ॥ २०२ ॥

---

१. द्रष्टव्य—सं० र० ५।१९७

---

१. षट्शम्यमष्ट—क० ।
२. युग्मयुक्तं—क० । ३. सर्वम्—क० ।
४. प्रयोगपरिकल्पनम्—क० ।
५. गीतानां वस्तुकेष्वपि—क० । अतः परं क पुस्तके—विवधैककवृत्तानि त्रीण्यङ्गानि समासतः । इति पद्यार्धमधिकम् ।
६. एकैकं तु—ख० ।
७. ते वोभे विवधं स्मृतम्—क०, द्वे चापि विविधैः—ग० ।
८. द्व्यङ्ग संहरण च तत्—क० ।

इसमें एक विदारी से एकक बनता है, दो से विवध तथा तीन विदारी से लेकर छः विदारी तक से एक 'वृत्त' बन जाता है ॥ २०२ ॥

पदवर्णसमाप्तिस्तु[1] विदारीत्यभिसंज्ञिता ।
न्यासापन्याससमंशान्तं वस्तु तत्परिकीर्तितम् ॥ २०३ ॥

जो पद या वर्ग पर समाप्त हो जाती हो वह 'विदारी' और जो न्यास अपन्यास और अंश पर समाप्त होती हो उसे वस्तु कहते हैं[1] ॥ २०३ ॥

विदारयति[2] यस्माद्धि पदमध्यस्वरा[3] यदा ।
तदा विदारी विज्ञेया गुरुवर्णानुकारिणी ॥ २०४ ॥

क्योंकि यह पदों और मध्य-वर्त्ती स्वरों का विदारण करती हैं इसी कारण इसे 'विदारी' कहा जाता हैं । यह गुरु वर्णों का अनुसरण करने वाली होती है[2] ॥ २०४ ॥

विवधैकयोः प्रायः मद्रके तु प्रयोजनम् ।
प्रकर्याश्चापि[4] वस्त्वर्धे पादे रोविन्दकस्य च ॥ २०५ ॥
रोविन्दकोत्तराभ्यान्तु वृत्तमुल्लोप्यके[5] तथा ।
पाणिकायां बहिर्गीते[6] लास्ये चैव[7] प्रकीर्तितम् ॥ २०६ ॥

विवध और एकक का सामान्यतः मद्रकगीतों में उपयोग होता है । ये प्रकरी की प्रत्येक वस्तु के आधे भाग और 'रोविन्दक' के चतुर्थांश में प्रयुक्त किए जाते हैं । परन्तु रोविन्दक, उत्तर, उल्लोप्यक पाणिक, बहिर्गीत और लास्य में 'वृत्त' का प्रयोग किया जाता है ॥ २०५–२०६ ॥

प्रवृत्तमवगाढञ्च द्विविधं वृत्तमुच्यते ।
आरोहित्वादवगाढं[8] प्रवृत्तमवरोहतः[9] ॥ २०७ ॥

---

१. द्रष्टव्य—दत्तिल—१४० ।
२. द्रष्टव्य " १४२ ।

---

१. समाप्तस्तु—घ० । २. विदारयन्ति—ग०, घ०
३. मध्ये—क० (ड) । ४. श्चैव—क० ।
५. मुल्लापकस्य हि—ग० ।
६. च कर्त्तव्यमेकदेशेषु सम्मतम्—क (र), बहिर्गीता—ख० ।
७. वै परिकीर्तिका—ख० ।
८. त्ववगाढं तु—क० (ड) ।
९. मवरोहणम्—क० (र०) ।

वृत्तः–वृत्त के दो प्रकार होते हैं। एक प्रवृत्त और दूसरा अवगाढ़। आरोही होने पर अवगाढ़ तथा अवरोही होने पर 'प्रवृत्तक' कहलाता है ॥ २०७॥

आरोहणं तु द्विविधं तथा चैवावरोहणम्।
न्यासापन्यासविहितं[1] मार्गान्तरकृतं[2] तथा ॥ २०८ ॥

आरोहण तथा अवरोहण के भी दो प्रकार होते हैं। प्रथम को न्यास, अपन्यास स्वरों के द्वारा और दूसरे को मार्गान्तर या अन्तरमार्ग के विधान के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है २०८ ॥

त्र्यवरैकादशपरा विदार्यः परिकीर्तिताः।
चतुर्विंशतिरेतासां प्रमाणं परमं स्मृतम् ॥ २०९ ॥

(एक) गीत में 'विदारी' कम से कम तीन और अधिक से अधिक ग्यारह संख्या में रखी जाती है परन्तु इनकी सबसे अधिक संख्या (विशेष अवस्था में) चौबीस तक बढ़ाई जा सकती है ॥ २०९ ॥

अध्यर्धा[3] च तृतीयाच्च सन्निपातात्[4] प्रमाणतः।
उल्लोप्यके विदारी तु स्मृता वैहायसे तथा ॥ २१० ॥
विवधेन च ताः कार्या युग्मवृत्तेन[5] चैव हि।
न ह्यर्धे[6] सन्निपाते तु भवेदङ्गसमापनम् ॥ २११ ॥

परन्तु उल्लोप्यक और वैहायस की स्थिति में विदारी की संख्या तृतीय सन्निपात में प्रमाण से आधी अधिक रहती हैं। इनको विवध के अथवा द्विगुण वृत्त के साथ करना चाहिए और यहाँ सन्निपात के आधे-भाग में अंग की समाप्ति भी नहीं होती है ॥ २१०–२११ ॥

विवधस्त्रिविधो ज्ञेयः कीर्त्यमानान्[7] विबोधत।
सामुद्र[8]श्चार्धसामुद्रो विवृत्तश्चेति कीर्तितः ॥ २१२ ॥

विवध के तीन प्रकार होते है :—(१) सामुद्र, (२) अर्धसामुद्ग तथा (३) विहृत ॥ २१२ ॥

१. रहितं—क० (ङ)।
२. मार्गान्निट—(?)—ख०।
३. अध्यर्धार्धतृतीयाश्च—क०; अध्यर्धाद्वितृतीयाच्च—ख०।
४. सन्निपाताः प्रमाणतः—क०, सन्निपातप्रमाणतः—ग०, घ०।
५. वृत्तेषु—क० (ङ)।
६. ह्यर्धंसन्निपातेऽस्या—क०, ह्यर्धे सन्निपातेऽस्य—क (ङ)।
७. कीर्त्यंमानं—क०।
८. सामुद्गश्च समुद्गोऽपि—क०।

न्यासान्तो विवधो ज्ञेयो युक्त्वा वै गेयकं सदा ।
आदौ[1] तु मद्रके चैव सामुद्रः परिकीर्तितः ॥ २१३ ॥

गेयक की अवस्था को छोड़कर अन्य दशा में न्यासस्वर पर समाप्त होने वाला विवध समझना चाहिए । तथा मद्रक के आरंभ में रहनेवाला समुद्रक होता है ॥२१३॥

लघुवर्णसमं गेयं सामुद्गे[2] तु विधीयते ।
तत्वन्ते च तृतीये च तद् वै गेयकसंज्ञितः[3] ॥ २१४ ॥

समुद्रक में जो गेयक होता है वह लघु वर्णों से युक्त होना चाहिए । यह तीसरी विदारी के अन्त में रखने के कारण गेयक कहलाता है ॥२१४॥

विदार्यङ्गसमोऽर्थं स्याद् अर्धं विसदृशं यथा[4] ।
योगे तु[5] अर्धसामुद्रः तथा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः ॥ २१५ ॥

यदि प्रयोग में एक विदारी के आधे भाग के समान दूसरा (विदारी का) भाग हो तथा इसके आगे का आधा भाग असमान हो तो इसे 'अर्धसमुद्रक' समझना चाहिए ॥ २१५ ॥

विदारी विषमा ज्ञेया न्यासापन्यांस[6] एव च ।
तत्सम्प्रयोगबाहुल्यं[7] विवृत्तं परिकीर्तितम् ॥ २१६ ॥

जिसमें विदारी न्यास और अपन्यास में असमान रूप में रहे और इसके प्रयोग या उपयोग की अतिशयता भी हो तो उसे 'विवृत' समझना चाहिए ॥ २१६ ॥

विविधश्चैककश्चापि[8] वृत्तं चैव यथाक्रमम् ।
न्यासापन्यासमंशान्तं सदा ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ॥ २१७ ॥

विवध, एकक तथा वृत्त क्रमशः न्यास, अपन्यास तथा अंश पर समाप्त (होने वाले) होते हैं ॥ २१७ ॥

सन्यासश्चैव विन्यासो ह्यङ्गमध्यो[9] यथाक्रमम् ।
विन्यासः स तु विज्ञेयो विदारीमध्यमस्थितः ॥ २१८ ॥

सन्यास और विन्यास स्वर अंग के मध्य में (क्रमशः) होते हैं और विन्यास विदारी के बीच में स्थित जाना जाता है ॥ २१८ ॥

---

१. आद्या तु—क० । २. सामुद्गेऽतो—क० ।
३. संज्ञितम्—क० । ४. तथा—क० । ५. त्वर्धा च सामुद्गः—क० ।
६. न्यासेऽपन्यास—क० । ७. असम्प्रयोग—क० ।
८. द्विविधस्त्वेककलो चापि—क; द्विविधश्चैकतो वापि विज्ञेयं तु—ग० ।
९. मध्ये—क० ।

विदारी वज्रविन्यासः पदान्ते क्वचिदेव हि।
न तद्बाहुल्यमुद्दिष्टं प्रयोगस्य प्रयोक्तृभिः ॥ २१९ ॥

विदारी के शब्द की समाप्ति या अन्त पर भी कभी कभी विन्यास रहता है परन्तु इसका बाहुल्य नाट्य प्रयोक्ताजन अच्छा नहीं मानते हैं ॥ २१९ ॥

सप्तगीत—

गीतानि[1] सप्त मद्रकोल्लोप्यके चापरान्तकम्।
प्रकर्योवेणके[2] चैव रोविन्दकमथोत्तरम् ॥ २२० ॥

(परम्परागत) गीत के सात प्रकार होते हैं :—(१) मद्रक, (२) उल्लोप्यक, (३) अपरान्तक, (४) प्रकरी, (५) ओवेणक, (६) रोविन्दक तथा (७) उत्तर[1] ॥ २२० ॥

द्विविधं मद्रकं तत्र[3] चतुर्वस्तु त्रिवस्तु च।
शीर्षकेण समायुक्तं तत्तु[4] ज्ञेयं त्रिवस्तुकम् ॥ २२१ ॥

मद्रक—इनमें मद्रक के दो प्रकार होते हैं एक त्रिवस्तु या तीन वस्तु से निर्मित तथा दूसरा चतुर्वस्तु या चार वस्तु से निर्मित। जिसमें तीनवस्तु होती है वह शीर्षक से व्याप्त रहता है[2] अर्थात् उसमें शीर्षक के रहने से उसी से यह निर्मित माना जाता है ॥ २२१ ॥

अपरान्तक एवं प्रकरी—

पञ्च षट् सप्त वापि[5] स्युः शीर्षकाण्यपरान्तके[6]।
प्रकर्यामथ चत्वारि[7] स्युस्त्रीण्यर्धादिकानि च[8] ॥ २२२ ॥

---

१. सप्तगीत का विवरण सं० रं० में भी प्राप्त होता है। (द्रष्ट—सं० र० ५।५४)। उत्तरकालीन संगीत में इन प्राचीन सप्तगीतों का प्रचलन कम हो जाने से इन प्रकारों की बाद में उपेक्षा होने लगी थी।

२. द्रष्टव्य सं० रत्ना० ५।७७।

---

१. मद्रकोल्लोप्यके चैव तथा चैवापरान्तकम्—क; ज्ञेयानि सप्तगीतानि मन्द्रकोऽथोपरान्ततः—ग०। २. प्रकर्योविणुरोविन्दा ह्युल्लोढचक्षोन्तरं (?) तथा—क (ङ) प्रकर्यो वैणकं चैव—ख०।

३. ज्ञेयं—क०। ४. तच्च—ख०। ५. तानि—क०।

६. शीर्षकं चापरान्तके—क०। ७. त्रीणि चाभ्यधिकानि—क०।

८. अतः परं-प्रकर्यास्तु प्रकीर्णत्वात् ताद्रूप्यमिति वर्णितम्' इति श्लोकार्धं क—पुस्तकेऽधिकम्।

"अपरान्तक" में पाँच, छः या सात शीर्षक होते हैं तथा "प्रकरी' चार तथा साढ़े तीन शीर्षक की रहती हैं[1] ॥ २२२ ॥

रोविन्दक—

रोविन्दकन्तु[1] सप्ताङ्गं षोडशाङ्गं परं स्मृतम् ।
द्वौ[2] पादौ समवर्णौ तु एकके तत्र कीर्तितौ ॥ २२३ ॥

कम से कम सात अंगों से लेकर अधिक से अधिक सोलह अंगों का 'रोविन्दक' होता है तथा इनमें जो एकक होता है वह समान वर्णों के दो पाद[2] से निर्मित होता है ॥ २२३ ॥

प्रवृत्तं विविधश्चापि[3] तस्य त्वादौ प्रयोजयेत् ।
ततो देहं ततोऽङ्गानि यथायोगं निवेशयेत्[4] ॥ २२४ ॥

और इसके आरम्भ में 'प्रवृत्तक' और "विवध" का प्रयोग होता है तथा इसके बाद इसके शरीर और अंगों को समुचित रूप में स्थापित करते हुए प्रस्तुत किया जाता है ॥ १२४ ॥

आकारश्चास्य मध्ये स्यादाकारश्चान्ततः स्मृतः ।
अविकल्पकमन्तेऽस्य[5] शीर्षकं सम्प्रयोजयेत् ॥ २२५ ॥

इसके मध्य में "आकार" रखा जाता है तथा इसके अन्त में भी "आकर" रखा जाता है तथा अन्तिम भाग में स्पष्टतः "शीर्षक" की भी योजना की जाती है ॥ २२५ ॥

ओवेणक—

सप्ताङ्गं द्वादशाङ्गं वा प्रोक्तमोवेणकं बुधैः ।
तत्र द्व्यङ्गन्तु सप्ताङ्गं त्र्यङ्गं द्वादशकं स्मृतम्[6] ॥ २२६ ॥

सात या बारह अंगों से 'औवेणक' निर्मित किया जाता है। जो सात अंगों का होता है उसकी दो अंग तथा बारह अंगों वाले की तीन अंग पर समाप्ति मानी गयी है। (अथवा सप्तांग को द्व्यङ्ग तथा द्वादशाङ्गं को त्र्यङ्ग कहा जाता है) ॥ २२६ ॥

---

१. द्रष्टव्य सं० रत्ना ५।१९२।

२. पाद का अर्थ है गीत का चतुर्थांश सा एकभाग।

---

१. रोविन्दकस्तु सप्ताङ्गे—ग०।

२. पादो द्वौ समवर्णौ तु एककावत्र—क०, द्वौ पादौ समवर्णेन एकैकस्तत्र कीर्तितः—ग०। ३. श्चापि—क०। ४. नियोजयेत्—क०।

५. अविकल्पितमङ्गेऽस्य—क०। ६. तथा—ख०।

पादः[1] सन्धिर्माषघातो वज्रं सम्पिष्टकं तथा।
शीर्षकं[2] चतुरस्रश्च[3] तथा चैवोपवर्तनम् ॥ २२७ ॥
उपपातः प्रवेण्यौ[4] च द्व्यङ्गं संहरणं तथा।
अङ्गानि द्वादशाङ्गस्य स्मृतान्योवेणकस्य[5] तु ॥ २२८ ॥

ओवेणक के बारह अंग हैं :—(१) पाद, (२) सन्धि, (३) माषघात, (४) वज्र (५) सम्पिष्ठक, (६) शीर्षक, (७) चतुरस्त्र, (८) उपवर्तन, (९) उपपात, (१०) प्रवेणी (११) द्व्यंग तथा (१२) संहरण ॥ २२७-२२८ ॥

सम्पिष्टकोपपाताभ्यां प्रवेणीभ्यां विवर्जितम्[6]।
उपवर्तनहीनश्च सप्ताङ्गमपि[7] कीर्तितम् ॥ २२९ ॥

इसमें से जब सम्पिष्टक, उपपात, दो प्रवेणी तथा उपवर्तन को बारह अंगों में से कम कर दिया जाए तो यही सप्तांग "ओवेणक" कहलाता है ॥२२९॥

विवर्तनन्तु[8] सप्ताङ्गं तुल्यवर्णपदं स्मृतम्।
[9]अनयोर्द्वादशाङ्गे तु तथान्यपदमिष्यते[10] ॥ २३० ॥

वर्ण और पदों से युक्त सप्तांग दोनों ओवेणक में समानता लिये हुए होने के कारण "विवर्तन" कहलाता है और जब इसके द्वादशांग ओवेणक के प्रकार में पाद भिन्नता लिये हुए रहें तो अन्यपद कहलाता है (जिसमें दूसरे अंग की अपेक्षा पाद असमान या भिन्न होते हैं अर्थात् विवर्तन के समान ये वर्ण और पदों से युक्त सप्तांग में समानता लिये हुए नहीं रहते) ॥२३०॥

उल्लोप्यक—

उल्लोप्यकेऽपि चाङ्गानामेष एव विधिः स्मृतः।
अवगाढं[11] प्रवृत्तश्च महाजनिक-मेव च ॥ २३१ ॥
त्र्यङ्गस्तु[12] स्यात्तथा द्व्यङ्गो महाजनिकवर्जितः।
स्थित-प्रवृत्तसंयोगादेकाङ्गो वापि कीर्त्यते ॥ २३२ ॥

१. प्रस्बारसन्धिमाषी तौ—क०; प्रस्तारसन्धिमाषोऽस्थोव्रज्र—ग०।
२. एककं—क०। ३. चतुरस्रं वाप्युपवर्तनमेव च—ख०।
४. प्रवेणी च—ख०। ५. न्यावेणकस्व तु—ग०।
६. च वर्जितम्—क०; प्रवेण्या च विवर्जितम्—क (ङ)।
७. सप्ताङ्गं परिकीर्तितम्—क०; सप्ताङ्गपरिवर्जितम्—ख०।
८. निवर्तनश्च सप्ताङ्गे—क०। ९. अन्तयो—क०, ख०।
१०. यथा—ग०। ११. स्थितं प्रवृत्तश्च तथा—(ङ), ग०।
१२. त्र्यङ्गोऽन्तः स्यात्तथा—क०।

एकाङ्गे संविधातव्यं महाजनिकमेव च[1]।
द्व्यङ्गं स्थितं[2] प्रवृत्तं वाप्येककाङ्गं[3] प्रकीर्तितम् ॥ २३३ ॥
द्व्यङ्गे व्याससमासाभ्यां ध्रुवाधातुविधि;[4] स्मृतः।

उल्लोप्यक में भी ओवेणक के समान ही अंगों का विधान रहता है। यह तीन अंगों वाला होता है। जिनके नाम हैं—अवगाढ़, प्रवृत्तक तथा महाजनिक। इनमें से 'महाजनिक' को कम कर देने से यही द्व्यंग बन जाता है और जब 'प्रवृत्तक' के साथ मिलाकर स्थित को रखा जाए तो उल्लोप्यक बन जाता है। इसी तरह 'महाजनिक' के ही (केवल) रहने से एकांग उल्लोप्यक बन जाता है। स्थित और प्रवृत्तक के मिलान द्वारा द्व्यंग उल्लोप्यक बन जाता है तथा पृथक्-पृथक् रखकर एकांग (भी) बना लिया जाता है। द्व्यङ्ग उल्लोप्यक में ध्रुवा और धातुओं की नियम-विधि व्यास और समास पद्धति से रखी जाती है ॥ २३६–२३४ ॥

स्थितं प्रवृत्तञ्च तथा महाजनिकमेव च ॥ २३४ ॥
त्र्यङ्गस्तु[5] स्यादथ द्व्यङ्गो महाजनिकवर्जितः।
एकाङ्गोऽपि विधातव्यो महाजनिकसंयुतः ॥ २३५ ॥

उल्लोप्यक के तीन अंग हैं—स्थित, प्रवृत्त और महाजनिक (इन सभी के द्वारा 'त्र्यङ्ग' 'उल्लोप्यक' बन जाता है तथा) महाजनिक को छोड़कर शेष अंगों से द्व्यङ्ग उल्लोप्यक तथा केवल महाजनिक से एकांग उल्लोप्यक बनता है ॥ २३४–२३५ ॥

एवं व्यास-समासाभ्यां बहुधाङ्गविधिः स्मृतः।
चतुरस्रस्तथा त्र्यस्रो मिश्रश्चान्तः प्रकीर्तितः ॥ २३६ ॥

उल्लोप्यक के उन अंगों के जो पृथक या मिश्रित होकर भेद बनाते हों उक्त ये ही नियम हैं, जिनसे उल्लोप्यक के चतुरस्त्र, त्र्यस्त्र तथा मिश्र नामक भेद बनते हैं ॥ २३६ ॥

ओवेणकस्य संहारो द्व्यङ्ग[6] एकाङ्ग एव च।
नादौ न मध्ये संहारो[7] नित्यं चैव प्रयुज्यते ॥ २३७ ॥

१. तु—क०।
२. चित्तप्रवृत्तं वा चैकाङ्गं वापि—ख०। ३. वाप्येकाङ्गं वा—क०।
४. बहुधा तु विधिः—क०।
५. त्र्यङ्गोऽन्तःस्यादथ—क०। ६. द्व्यङ्गोऽप्येकाङ्ग एव वा—ग०।
७. संहारे—क०।

ओवेणक का संहरण (या संहार) दो या एक अंग से निर्मित किया जाता है और इस संहरण को आरम्भ या मध्य में नहीं रखना चाहिए[1] ॥ २३७ ॥

एकको विवधो वापि कार्यो ह्यन्ते [1]बुधैः सदा ।
उल्लोप्यकं षडवरं विंशत्यङ्गपरं स्मृतम् ॥ २३८ ॥

और अन्त में 'एकक' या 'विवध' को सदा बुद्धिमान् प्रयुक्त करें । इस उल्लोप्यक को कम से कम छः अंगों और अधिक से अधिक बीस अंगों का रखा जाता है ॥ २३८ ॥

तत्र संहरणं[2] ज्ञेयं मुख-प्रतिमुखान्वितम्[3] ।
वैहायसक-संयुक्तं[4] तेनापि[5] च विवर्जितम् ॥ २३९ ॥
त्रिष्वङ्गेष्वपरं ज्ञेयं परं स्याद् द्वादशस्वपि ।
एकाङ्गं षट्परं ज्ञेयं वैहायसकमेव तु ॥ २४० ॥

इन अंगों में "संहरण" के मुख और प्रतिमुख नामक दो भाग रखे जाते हैं और यह वैहायसक के साथ या उसके बिना भी होता है । इसके तीन से कम तथा बारह से अधिक अंग नहीं रहते हैं । तीन अंगों का अवर तथा बारह अंगों का पर होता है । वैहासयक कम से कम एक अंग को बनाता है और वह छः से अधिक अंगों को नहीं बनाता ॥ २३९–२४० ॥

अस्य चाङ्गत्रयेऽतीते[6] प्रयोगमुपपादयेत् ।
उल्लोप्यकोत्तराभ्यान्तु मुखप्रतिमुखे[7] स्मृते ॥ २४१ ॥
ततोऽङ्गानां समासो वा विस्तरो वा विधीयते ।

इसके तीन अंगों का गान हो जाने पर प्रयोग का आरम्भ किया जाता है । मुख और प्रतिमुख (नामक) अंग उल्लोप्यक और उत्तर के लिए इष्ट हैं । और तब अन्य अंगों का (आवश्यकता के अनुसार) संक्षेप या विस्तार किया जाता है ॥ २४१–२४२ ॥

---

१. द्रष्टव्य—दत्तिल—१९४–१९५ भी ।

---

१. प्रयोक्तृभिः—क० । २. संहरणे कार्यं—क०, ख० ।
३. मुखाचितम्—क० ।
४. एकाङ्गं षट्परं ज्ञेयं वैहायसिकमेव तु—क० (ड) ।
५. अथ वापि—क (र) । ६. चांशत्रये—क० ।
७. मुखं प्रतिमुखं स्मृतम्—क० (ड) ।

मुखप्रतिमुखे चैव[1] ज्ञेये विवधसंज्ञिते[2] ॥ २४२ ॥
वृत्तं प्रतिमुखे च स्यादन्ययोस्तु[3] समासतः ।
उल्लोप्यके तु[4] शाखाख्यं सोत्तरे चापरान्तके[5] ॥ २४३ ॥
प्रतिशाखा तथा चैषां समवर्ण-पदा स्मृता ।

मुख और प्रतिमुख को "विवध" के रूप में जानना चाहिए (अर्थात् इनकी "विवध" संज्ञा होती है) "वृत्त" प्रतिमुख में होता है तथा अन्य अंगों में भी संक्षेप में रखा जाता है, उल्लोप्यक में शाखा तथा उत्तर और अपरान्तक में प्रतिशाखा होती है, जो (मुख और प्रतिमुख के सदृश) वर्ण और पदों से युक्त होती हैं ॥ २४२-२४३ ॥

उत्तरं द्वादशपरं षडङ्गावरमिष्यते[6] ॥ २४४ ॥
आकारपदहीनेन[7] सह[8] रोविन्दकेन तु ।
अन्ते चाथ[9] विशेषेण स्थाप्यमस्य हि शीर्षकम् ॥ २४५ ॥

उत्तर—उत्तर में छः से कम और बारह से अधिक अंग होते हैं । इसमें (आकार तथा पाद हीन रोविन्दक के साथ) अन्त में (विशेषतः) शीर्षक को रखा जाता है ॥ २४४-२४५ ॥

एवमङ्गविधिः कार्यः सप्तरूपे प्रयोक्तृभिः ।
अतऊर्ध्वं[10] प्रवक्ष्यामि गीतानां वस्तुकल्पनम् ॥ २४६ ॥

सप्तरुप गीत के अंगों की यही विधि है जिसे नाट्य प्रयोक्ता किया करें । अब मैं गीतों में स्थित वस्तु का प्रमाण बतलाता हूँ ॥ २४६ ॥

मद्रक—

कलाः षोडश विज्ञेया मात्राः सर्वेषु[11] वस्तुषु ।
तस्याश्चैव चतुर्भागः पादभागः प्रकीर्तितः ॥ २४७ ॥

इसी प्रकार वस्तुओं में सोलहमात्राओं की कला समझनी चाहिए और उसका चौथाई भाग एक पादभाग होता है ॥ २४७ ॥

---

१. वापि—ग० । २. संज्ञके—क० । ३. स्यादन्यायास्तु—क० ।
४. तथा शाखा सोत्तरा सापरान्तके—क० ।
५. चैव सवर्णाऽन्यपदा—क० । ६. षडङ्गोऽवर—क० ।
७. पादहीनेन—क० । ८. समं—क० ।
९. चाप्यविशे—क०; चास्याविशेषेण स्थाप्ये मध्ये च—ग० ।
१०. परं—क० ।
११. सर्वेष्ववस्तुषु—ग० ।

आदौ[1] गुर्वष्टकं कृत्वा न्यसेल्लध्वष्टकं[2] तथा।
तत्रोपवहनं कार्यं प्रथमे तु गुरुद्वये ॥ २४८॥
गुर्वक्षरे तृतीये तु ततः स्यात् प्रत्युपोहनम्।
गुर्वक्षरे चतुर्थे तु शम्या कार्या तु पञ्चमे ॥ २४९ ॥
षष्ठसप्तमयोस्तालः शम्या गुर्वक्षरेऽष्टमे।
ततोऽष्टकलिकान् पादान्[3] कुर्याल्लध्वक्षरेषु च ॥ २५० ॥

इसमें आदि में आठ गुरु रखकर फिर आठ लघु रखे जाते हैं तथा आरम्भ की दो गुरु मात्राओं पर 'उपवहन' किया जाता है। यहाँ तीसरा गुरु 'प्रत्युपोहन' चतुर्थ और पंचम गुरु 'शम्या' छठा और सातवां गुरु 'ताल' और आठवां गुरु 'शम्या' होगा। ये प्रथम आठ गुरु वर्ण में होते हैं। इसके बाद आठ कलाओं के प्रमाण का लघु वर्णों का एक पाद निर्मित किया जाता है[1] ॥ २४८-२५० ॥

गुर्वक्षरे तालगते[4] पादास्तु कलिकाः स्मृताः[5]।
शम्यातालौ तालशम्ये कुर्याद्[6] द्वे वानुपूर्वशः ॥ २५१ ॥
तालं शम्याञ्च तालञ्च सन्निपातं तथैव च।
शीर्षकञ्चास्य कर्त्तव्यं बुधैश्चापपुटेन तु ॥ २५२ ॥
एवमेककलो[7] ज्ञेयस्तालयोगस्तु[8] मद्रके।
गुरुर्विश्लेषपादेन[9] द्विकलं परिचक्षते[10] ॥ २५३ ॥

गुरु वर्णों के ताल पादों में स्थित तालों का एक (पूर्ण) कला का प्रमाण रहता है। इनकी पात कला इस प्रकार है :- शम्या, ताल, ताल, शम्या, ताल, शम्या, ताल तथा सन्निपात।

---

१. एतदर्थं द्रष्टव्य—सं० रत्ना ५।७९ पर कल्लिनाथ व्याख्या। सन्दर्भ के अनुरोध से मूल पाठ 'ततोऽष्टकलिकान्' किया गया है। अन्य संस्करणों में 'ततोऽर्धकलिकान्' पाठ मिलता है।

---

१. गुरुच्छेदाष्टकं कृत्वा न्यस्सेल्लध्वष्टकं पुनः–क०, आदौ गुर्वक्षरं कृत्वा—ग०। २. न्यसेल्लध्वक्षरं ततः—क० (ड)
३. ततोऽर्धकलिकान् पातान्—क ख०, कलिकात् पातात्—क० (ड)।
४. तालगते पातास्तु—क०, तालगीतपातास्तु—ख०।
५. मतः—क०। ६. तेषु कुर्यात् क्रमेण तु—ख०।
७. मेककले ज्ञेयं—क०। ८. कलायोगस्तु—क०, ख०।
९. विश्लेषणादेतद्—क०। १०. परिकीर्तितम्—क०, ख०।

इस प्रकार चापपुट के द्वारा इसका शीर्षक करना चाहिए। मद्रक (गीत) में एक कला के प्रमाणवाली तालों का यही योग या पद्धति रही है। जब (एक) पाद में गुरुवर्णों का विश्लेष या पार्थक्य किया जाए तो (यह) दो कला के प्रमाण को देख कर उसी के द्वारा किया जाता है ॥ २५१-२५३ ॥

विश्लेषेण[1] कलाश्चात्र यथापूर्वं निवेशयेत्।
द्विकले मद्रके चैव त्रिकलं[2] स्यादुपोहनम् ॥ २५४ ॥
कलिका[3] द्विकलं वापि भवेच्च[4] प्रत्युपोहनम्।
द्विकलैर्गुर्वक्षरकृतैः[5] पादभागैर्यथाक्रमम्[6] ॥ २५५ ॥

इसके विश्लेष या पार्थक्य को करने के बाद पूर्व वर्णन के अनुसार कलाओं का उपोहन और दो दो कलाओं या एक कला का प्रत्युपोहन किया जाता है। यह द्विकल गुरु अक्षरों के द्वारा निर्मित यथाक्रम पादभागों के द्वारा होना चाहिए[1] ॥ २५४-२५५ ॥

चतुर्भिस्तु भवेन्मात्रा त्रिमात्रं वस्तु संज्ञितम्।
त्रिवस्तु द्विकलं ज्ञेयं पाते[7] पातविधिस्त्वयम् ॥ २५६ ॥

चार कलाओं से एक मात्रा और तीन मात्राओं से (एक) वस्तु का निर्माण होता है। इन प्रत्येक तीन वस्तुओं का दो कलाओं के द्वारा निर्माण किया जाए। पादों के पात के विषय में भी यही नियम मान्य है[2] ॥ २५६ ॥

गुर्वक्षरेषु ये पाताः शम्यातालादयः स्मृताः।
तानेव[8] पादभागेषु द्विकलेष्वत्र योजयेत् ॥ २५७ ॥

शम्या और ताल आदि के जो गुरु वर्णों में होने वाले पात कहे गये हैं वे ही इन द्विकल पाद भागों में भी प्रयुक्त होते हैं ॥ २५७ ॥

---

१. द्रष्टव्य—सं० र० ५।८० तथा उस पर कल्लिनाथ की व्याख्या।
२. द्रष्टव्य—सं० रत्ना० ५।२१।

---

१. विश्लेषणे कला यत्र पूर्वं पूर्वं—क०; विशेषेण कलास्तत्र—ख०।
२. द्विकलं—क (य)। ३. कलिकं—क०।
४. नैव वा—क०, नैव स्यात्—क (च)।
५. द्विर्भावाद् द्विकलस्यैव विज्ञेयं तु चतुष्कलम्—क०।
६. पादभागैं—ख०।
७. पादे—ग०। ८. त एव पाद—ख०।

अष्टमी षोडशी शम्या दशमी च यथाक्रमम् ।
चतुर्दश्यां कलायान्तु तालं वै द्वादशीयुतम् ॥ २५८ ॥
लध्वष्टके[1] पातविधिर्यथापूर्वं प्रकीर्तितम्[2] ।

यथाक्रम आठवें, दसवें और सोलहवें पर शम्या और बारहवें तथा चौदहवें पर ताल होता है[1]। इस प्रकार आठ लघु वर्णों पर होने वाली पातविधि को पूर्वानुसार वर्णित किया जा चुका है।

वस्तुत्रयेऽपि द्विकले एवं[3] पातान् प्रयोजयेत् ।
शीर्षकञ्चैव कर्त्तव्यं षट्कलं पञ्चपाणिना ॥ २५९ ॥

दो कलाओं की तीन वस्तुओं में यही पातविधान लागू होता है तथा छः कलाओं वाला (यहाँ किया जाने वाला) शीर्षक पंचपाणि ताल के साथ किया जाय[2] ॥ २५९ ॥

क्रंडं क्रंडं शैलेन्द्रराजसंस्थितमीशं शान्तं शिवं पन्नगेन्द्रपरिबद्ध-जटम् । मुनिगणनमितं ध्यानाभिरतं ज्ञानमयं मदनाङ्गहरं विभुं प्रभुम् शरणागतोऽहम् ।

दैत्यैर्नागैः संस्तुतमीशं त्वां वेदमयं त्वां कर्तारं भुवनपतिं सर्व-लोक-नमस्कृतम् ।

ऋग्यजुःपरिपठितं[4] गङ्गाधरं शूलधरं भुजगेन्द्रधरं प्रणतोऽस्मि शिवं मृगराजचर्मपरिवद्धतनुम् । विपुलगति ज्वलनशिखिसदृश-कपिलजटं तमहं नमामि शिवं शिरसा ॥

समाप्तं द्विकलं मद्रकम् ।

अर्थ :—मैं उन भगवान शिव को पृथ्वी पर मस्तक झुका कर प्रणाम करता हूँ जो पर्वताधिपति हिमालय की कैलाशशिला पर स्थित हैं, जिनकी जटाएँ सर्पाधिराज (वासुकि) से आबद्ध हैं, जिनको मुनिगण प्रणाम कर रहे हैं, जो ध्यानस्थ हैं, जो पूर्ण ज्ञान स्वरूप हैं, जिनने मदन के शरीर का

---

१. द्रष्टव्य सं० रत्ना ५।८४ तथा उस पर कल्लिनाथ की व्याख्या 'अस्य प्रस्तारः' इत्यादि ।

२. द्रष्टव्य सं रत्ना० ५।७६ तथा उस पर कल्लिनाथ की व्याख्या ।

---

१. लध्वक्षरे—ग० । २. प्रकीर्तितः—ख० । ३. चैवं—ग० ।
४. पतिपठि (?) तम्—ख० ।

नाश कर दिया है, जो व्यापक सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, जिसकी दैत्य-गण और नाग स्तुति किया करते हैं, जिसका वेदमय स्वरूप है, जो त्रिभुवन के सृष्टा और अधिपति हैं और जो सभी लोकों के प्रणम्य हैं।

मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ जो ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के द्वारा स्तुति किये जाते हैं, जिसने मस्तक पर गंगा को धारण किया है, जिनके हाथ में त्रिशूल है, जिनकी जटाओं पर सर्पाधिपति है, जो मंगलमय-स्वरूप वाले हैं, जिनने मृगराज सिंह के चर्म का अधोवस्त्र धारण किया हुआ है, जिनकी गति विस्तीर्ण एवं वृषभ के समान है, जिनकी पीतवर्ण वाली जटाएँ अग्निशिखा के समान दिखाई देती हैं उन शिव को मेरा प्रणाम। (यहाँ द्विकल मद्रक समाप्त हुआ)।

देवं विमलं प्रणतार्तिहरं मायाधारं मायारूपं जटिलं नमामि शिवं शिरसा।

शीर्षकं षट्कलं समाप्तम्। द्विकलमद्रकम्।

और मैं उनको प्रणाम जरता हूँ जो देव निर्मल शरीर वाले, भक्तों के दुःखों के अपहर्त्ता, माया के आधार, माया रूप और जटाजूटधारी हैं मैं उनशिव को प्रणाम करता हूँ। (यहाँ षट्कलशीर्षक तथा द्विकलमद्रक समाप्त हुआ।)

चतुष्कलं प्रवक्ष्यामि यथावद् द्विजसत्तमाः।
चतुष्कलैः [1]पादभागैर्यथापूर्वमुदाहृतैः॥ २६०॥

अब मैं विधिवत् चतुष्कल मद्रक का वह स्वरूप बतलाऊँगा जो चार कलाओं वाले पादभागों से युक्त है तथा जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है॥ २६०॥

चतुर्भिस्तु भवेन्मात्रा त्रिमात्रं[2] वस्तु संज्ञितम्।
पाताश्चैव प्रवक्ष्यामि पादभागे[3] यथाक्रमम्॥ २६१॥

चार कलाओं से एक मात्रा बनती है और तीन मात्राओं से एक वस्तु का निर्माण होता है, इनके पाद-मागों में दिये जाने वाने वाले पातों को अब मैं क्रमशः बतलाता हूँ॥ २६१॥

चतुर्थे पञ्चमेऽन्त्ये च शम्या कार्याष्टमे[4] तथा।
दशमैकादशे शम्याऽद्वितीया नवमे स्मृता॥ २६२॥

१. पादभागै—ख०। २. त्रिमात्रः स तु संज्ञितः—ग०।
३. पादभागै—ख०। ४. कार्या तथाष्टके—ख०।

षष्ठे च सप्तमे ताल[1] अन्त्ये च नवमेऽस्य हि।
दशमैकादशे[2] चैव द्वितीयः समुदाहृतः ॥ २६३ ॥

(प्रथम वस्तु में) शम्या को अन्त में तथा चतुर्थ, पंचम, अष्टम, दशम, एकादश कलाओं में और प्रथम और नवम कला पर शय्या को रखा जाए। और षष्ठ, सप्तम, नवम और अन्तिम कला पर 'ताल' रखी जाए तथा दशम कला के आरम्भ और सप्तम के आरम्भ पर भी "ताल" रखना चाहिए ॥२६२-२६३॥

आद्यन्तु द्वादशे[3] प्रोक्तं सन्निपातोऽवसानतः।
एवं पातविधानं स्यात् सर्वं[4] वस्तु प्रयोजयेत् ॥ २६४ ॥

और द्वादश कला के अन्त और सभी के आरम्भ में सन्निपात रखा जाए। पात या यही नियम है जो सभी वस्तु पर लागू होता है ॥ २६४ ॥

प्रथमे वस्तुके ह्यादौ कलाष्टकमुपोहनम्।
प्रत्युपोहनमित्युक्तं द्वितीये[5] द्विकलं भवेत् ॥ २६५ ॥

प्रथम वस्तु में आरम्भ की आठ कलाओं के द्वारा उपोहन और द्वितीय वस्तु में दो कलाओं से 'प्रत्युपोहन' किया जाता है[1] ॥ २६५ ॥

तृतीये[6] त्रिकलं ज्ञेयं चतुर्थे तु चतुष्कलम्।
अस्यान्ते शीर्षकं कार्यं षट्पितापुत्रकेण तु ॥ २६६ ॥

तृतीय वस्तु में तीन कलाओं से तथा चतुर्थ वस्तु में चार कलाओं से 'प्रत्युपोहन' होता है और इसके अन्त में षट्पितापुत्रक के द्वारा 'शीर्षक' किया जाए ॥ २६६ ॥

द्विकले तु यथापातं पञ्चपाणिचतुष्टयम्।
द्विगेयकं[7] तृतीये च चतुर्थे च यथाक्रमम् ॥ २६७ ॥

द्विकल वस्तु में चार यथाक्षर पञ्चपाणि (से निर्मित समय) का प्रमाण रखा जाता है और तृतीय और चतुर्थ में क्रमशः द्विगेयक को रखा जाता है[2] ॥ २६७ ॥

---

१. एतदर्थ द्रष्टव्य सं० रत्ना० ५।८६ भी।

२. द्रष्टव्य—सं० रत्ना ५।८७ तथा उस पर मल्लिनाथ की व्याख्या—द्वैगेयकः अंशादिरंशस्वर एव ग्रहो यस्ये' इत्यादि।

---

१. ताला अन्ते च नवमस्य—ख०। २ नवमैकादशे चैव—ग०।
३. द्वादशं—ग०। ४. सर्वस्तु—ख०। ५. द्वितीयं—ग०।
६. तृतीयं—ग०। ७. द्विकेयकं—ग०।

परिवर्तसमाप्तिस्तु चतुर्थे संविधीयते[1]।
मद्रांशोपोहनं[2] वस्तु प्रथमञ्च द्वितीयकम् ॥ २६८ ॥
चतुर्थस्तु[3] त्रिप्रमाणं त्र्यस्रतालसमुद्भवम् ।

और चतुर्थ वस्तु के अन्त में परिवर्त आता है, प्रथम और द्वितीय वस्तु उपोहन होती है और मद्रक का अंग (अंश) होती है। (और) इनमें चतुर्थ वस्तु तीन विभिन्न प्रमाण या लम्बाई वाले त्र्यस्त्र (से होने) प्रमाण वाली होती है[1] ॥ २६८–२६९ ॥

द्विर्भावाद् द्विकलस्यैवं विज्ञेयं तु चतुष्कलम् ॥ २६९ ॥
सप्तमे लघुनि त्वन्त्ये[4] द्विर्भावोऽस्मिन् विधीयते ।
चतुष्कलोऽत्र[5] विहितः कलाष्टकमुपोहनम् ॥ २७० ॥

द्विकल वस्तु को दुगुन करने से चतुष्कल वस्तु बन जाती है। इसमें सप्तम और अंतिम वर्ण को लघु करते हुए फिर यहाँ दुगुन करना चाहिए अतएव यहाँ चतुष्कल विहित है, यहाँ उपोहन आठ कलाओं का तथा प्रत्युपोहन एक, दो या चार कलाओं का किया जाता है ॥ २६९–२७० ॥

एका द्वे च[6] चतुष्कश्च तथा स्यात् प्रत्युपोहनम् ।
यथाक्षरस्तु कर्त्तव्यं मद्रकस्य तु शीर्षकम् ॥ २७१ ॥
चतुष्कलः पञ्चपाणिः द्विकले द्विकलः स्मृतः ।
चतुष्कलस्तु कर्त्तव्यो मद्रके तु चतुष्कले ॥ २७२ ॥

साधारणतः मद्रक को यथाक्षर पंचपाणि ताल में रखा जाता है परन्तु द्विकल मद्रक में यही (पञ्चपाणि) ताल दो कलाओं की तथा चतुष्कल (मद्रक) में यही ताल चार कलाओं की रखी जाए ॥ २७१–२७२ ॥

त्रिवस्तु[7] त्रिप्रमाणं तु त्र्यस्रतालसमुद्भवम् ।
इत्युक्तं मद्रकं[8] पातैस्त्रयोदशभिरन्वितम् ॥ २७३ ॥

---

१. यहाँ 'चतुर्थस्तु त्रिप्रमाणं' के स्थाब पर 'त्रिवस्तु त्रिप्रमाणं तु' पाठ अधिक संगत हो सकता है। (सम्पा०)

---

१. सा विधीयते—ग० । २. मन्द्रांशोपहनं—ग० ।
३. त्रिवस्तु त्रिप्रमाणं तु—ख० ।
४. त्वन्ते—क०, त्वन्त्यो—ख० ।
५. चतुष्कलेऽत्र—क० । ६. वा चतस्रश्च—क० ।
७. चतुर्वस्तु त्रिप्रमाणं—ग० । ८. मन्द्रकं—ग० ।

इसको तीन वस्तुओं में, तीन विभिन्न मापों (प्रमाणों) में रखा जाता है और ये कुल त्र्यस्र-ताल से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मद्रक में कुल तेरह पात होते हैं ॥ २७३ ॥

अपरान्तक—

गुर्वक्षराणि चत्वारि चत्वारि स्युर्लघूनि च।
द्वितीये[१] गुरुके शम्या तृतीये ताल एव च ॥ २७४ ॥
तृतीये च चतुर्थे च शम्यातालौ लघून्यपि[२]।
तालं शम्याश्च ताले[३] च सन्निपातश्च योजयेत्।
लध्वक्षरैरष्टकलिकान्[४] पातानेतान् प्रयोजयेत् ॥ २७५ ॥

इसमें चार गुरु और चार लघु होते हैं, द्वितीय गुरु वर्ण पर शम्या ओर तीसरे पर ताल होती है। तृतीय और चतुर्थ लघु पर शम्या और ताल होती है और यहाँ शम्या, ताल और सन्निपात को संयोजित किया जाता हैं तथा लघु वर्णों में आठ कलाओं के द्वारा निर्मित पातों को रखा जाता है[१] ॥ २७५ ॥

तालः[५] शम्या च तालश्च सन्निपातोऽन्त्य एव च।
त्र्यस्रतालसमुद्भूतं विज्ञेयमपरान्तकम् ॥ २७६ ॥

त्र्यस्त्र ताल से उत्पन्न होने वाला यह अपरान्तक कहलाता है। जिसे ताल शम्या, ताल और अन्त में सन्निपात के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है ॥ २७६ ॥

गुर्वक्षराणि विश्लिष्य द्विकलं[६] सम्प्रयोजयेत्।
पादभागैस्तथा षड्भिः द्विकलश्च चतुष्कलम् ॥ २७७ ॥
शम्या तालौ तालौ शम्या तालः षष्ठो यथाक्रमम्।
पूर्ववत् पातविन्यासः षष्ठपञ्चमयोः स्मृतः ॥ २७८ ॥

गुरु वर्णों के पृथक् करने के बाद फिर दो कला की ताल का प्रयोग करना चाहिए। इन द्विकल चतुष्जल तालों के छः पाद भाग इस प्रकार

---

१. द्रष्टव्य—सं० रत्ना० ५।६१।

---

१. पद्यार्धमेतत् ग० पुस्तकेऽधिकम्। २. लघुष्वपि—क (च०)।
३. तालश्च—क०।
४. लध्वक्षरैककलितैः पातैः सम्यक्—क०; लध्वक्षरेऽष्टकमितान्–ग०।
५. पद्यार्धमेतत् क–पुस्तके नास्ति।
६. विकलं—ग०।

होते हैं :—(शम्या, ताल द्विकल) शम्या एवं ताल; इसमें पात का क्रम विन्यास पञ्चम और षष्ठ कला के समान पूर्ववत् रखना चाहिए ॥२७७-२७८॥

आवाप-विक्षेपयुतं पातैरेभिश्चतुष्कलम् ।
चतुष्कलैः पादभागैः षड्भिस्तु समलङ्कृतम् ॥ २७९ ॥

चतुष्कल ताल में आवाप और विक्षेप भी इनके साथ रखा जाता है और यह चतुष्कल पादभागों से युक्त किया जाता है ॥ २७९ ॥

वस्तुसंख्यश्च षट्पञ्चसप्तकान्[1] सम्प्रयोजयेत् ।
द्वितीये पञ्चमेऽन्त्ये च द्वे शम्ये समुदाहृते ॥ २८० ॥

इसमें पाँच, छः अथवा सात संख्या में वस्तु को रखा जाए और दूसरी और पाँचवी कला के अन्त में दो शम्या रहे ॥ २८० ॥

तृतीये तु भवेदन्त्यं द्वितीये पञ्चमे स्मृतः ।
आदौ षष्ठे तु तालः स्यात् सन्निपातस्ततोऽन्तिमः ॥ २८१ ॥

और तीसरे-दूसरे और पाँचवें के अन्त और छठे के आरम्भ में 'ताल' रहनी चाहिए तथा (सब के) अन्त में सन्निपात को रखना चाहिए ॥२८१॥

पूर्ववस्तु-समुद्दिष्टा पाता ह्येताश्चतुष्कले ।
एवं चतुष्कले योगो गदितस्त्वपरान्तके ॥ २८२ ॥
यथाक्षरपातेष्वेतद्[2] विज्ञेयं चापरान्तकम् ।

अपरान्तक के चतुष्कल प्रकार की स्थिति में पूर्व कथित वस्तुओं के पृथक्-पृथक् रहने पर उसके सम्बन्धित पात ये ही होंगे और चतुष्कल अपरान्तक में लागू होने वाले ये ही ताल हैं। तब यह यथाक्षर ताल के पातों के अनुसार होने वाला अपरान्तक कहलाता है ॥ २८२–२८३ ॥

आदौ कलोपवहनं विश्लेषाद् द्विगुणं भवेत् ॥ २८३ ॥
द्विकले कलिकं ज्ञेयं द्विकलं चाप्युपोहनम् ।
कलिके[3] कलिकं चेष्टं तथैव चाप्युपोहनम् ॥ २८४ ॥
एतदेव द्विगुणितं विज्ञेयन्तु चतुष्कलम् ।
लध्वक्षरे तृतीये[4] तु द्विर्भावेऽन्त्या कला स्मृता ॥ २८५ ॥

आरम्भ में एक कला का उपवहन वर्गीकरण की दशा में दुगन कर लिया जाए । द्विकल (अपरान्तक) में उपोहन एक या दो कलाओं

१. सप्तमान्—ग० ।
२. यथाक्षरं बुधैरेतद्—क०, यथाक्षरवधेष्वेतद्—ख० ।
३. कलिकं कलिकं—क०, ख० । ४. द्वितीये तु—क०

का रहता है और इसी तरह एक कला के (अपरान्तक) में उपोहन एक कला का होता है। और जब यह द्विकल अपरान्तक दुगुन कर दिया जाए तो यही चतुष्कल अपरान्तक हो जाता है; जिसके तृतीय लघु अक्षर में अन्तिम कला दुगुन होगो ॥ २८३-२८५ ॥

त्र्यस्रतालसमुद्‌भूतं पातैः षड्‌भिर्विभूषितम् ।
वस्तु[1] शाखाख्यमित्येतद् गदितं त्वपरान्तकम्[2] ॥ २८६ ॥

और जब इसी अपरान्तक में त्र्मस्त्रताल से उत्पन्न होने वाली 'वस्तु' षट्‌कल के साथ प्रस्तुत की जाती है तो यही 'शाखा' बन जाती है[1] ॥२८६॥

यथा शाखा तथैवास्य प्रतिशाखा विधीयते ।
पश्चिमार्धसमा सा तु तथैवान्यपदा स्मृता ।
शिरश्चैककलेनास्य[3] कर्त्तव्यं पञ्चपाणिना ॥ २८७ ॥

शाखा के अनुसार ही इसकी "प्रतिशाखा" भी होती है। यह अपने अंतिम अर्ध-भाग के समान होती है और विभिन्न शब्दों (अन्यपदों[2]) से निर्मित होती है। इसका 'शीर्षक' एक कल पञ्चपाणि के द्वारा किया जाता है ॥ २८७ ॥

वृत्तौ निवृत्तयोगश्च[4] गते वस्तुचतुष्टये ।
शाखायां[5] प्रतिशाखायां विशेषः पश्चिमे त्वयम् ॥ २८८ ॥

चार वस्तु के द्वारा सम्पन्न करने पर वृत्ति मार्ग में यही विवृत विधान को लागू करता है। यही नियम शाखा और प्रतिशाखा के अंतिम अर्धभाग में विशेष रूप से रहता है ॥ २८८ ॥

षठ् कलापातसंयुक्ते[6] तालिके तु ततः स्मृते ।
तथैककलयुक्तेऽस्ति विधिवत् पञ्चपाणिना ॥ २८९ ॥

---

१. एतदर्थं द्रष्टव्य सं० रत्ना ५।६२ पर कल्लिनाथ व्याख्या—'शाखेति गीताङ्गस्य संज्ञा।'

२. एतदर्थं प्रष्टव्य वही—किन्त्वन्यपदनिर्मितेति प्रतिशाखाया विशेष-कथनम्—(कल्लि०, ५।६३)।

---

१. चतुःशाखाख्य—क०। २. चापरान्तिके—क०।
३. कलेनापि—क०। ४. योगस्तु भवेत्—क (ङ)।
५. विशेषः पश्चमे वस्तुन्युभयोरपि शाखयोः—क० (ङ)।
६. संयुक्ता तालिका तु यथा भवेत्। तथा चैककलेनैव—क० (ङ)।

यथाक्षरेण[7] तु भवेदनयोरुपवर्तनम् ।

और (फिर) छः कलापात से युक्त दो तालिकाएँ रहनी चाहिए और फिर यथाक्षर एक कल पंचपाणि के द्वारा इन दोनों का 'उपवर्तन' किया जाता है[3] ॥ २८९–२९० ॥

उपोहनं तु वस्त्वर्धं[1] द्विकलं प्रत्युपोहनम् ॥ २९० ॥
द्विकलं[2] दक्षिणे कार्यं वृत्तौ चैव चतुष्कलम् ।
न चात्रोपोहनं कार्यं शेषाणां तु कदाचन ॥ २९१ ॥
एवं चतुष्कले योगो मया प्रोक्तोऽपरान्तके ।

(चतुष्कल अपरान्तक का) यह उपोहन अर्द्धवस्तु से निर्मित होता है तथा प्रत्युपोहन दो कलाओं का होता है । द्विकल अपरान्तक को दक्षिणमार्ग में और चतुष्काल को वृत्ति या वार्तिक-मार्ग में किया जाता है । शेष मार्गों में कमी उपोहन नहीं करना चाहिए । इस प्रकार मैंने चतुष्कल-अपरान्तक में समय का प्रमाण बतलाया[1] ॥ २९०–२९२ ॥

उल्लोप्यक—

उल्लोप्यकन्तु द्विगुरु द्विलध्वन्ते[3] गुरु स्मृतम् ॥ २९२ ॥
शम्या[4] तालौ द्विरभ्यस्तौ सन्निपातोऽन्त्य एव च ।
प्रत्यक्षरकृतैः[5] पातैः पञ्चभिः समलङ्कृतम् ।
चतुरस्रं समंछेदं[6] वस्तु ज्ञेयं यथाक्षरम् ॥ २९३ ॥

उल्लोप्यक की वस्तु दो गुरु, दो लघु तथा अन्त में एक गुरु वर्ण से निर्मित होती है । इसमें कलाओं का क्रम इस प्रकार है :-शम्या, ताल, शम्या, ताल तथा सन्निपात । यहाँ ये कलाएँ पाँच पातों के अपने प्रत्येक के अक्षर पर होने वाले चतुरस्र यथाक्षर समपातों को सूचित करती है ॥

---

३. द्रष्टव्य तथा तुलना—सं० र० ५।१६८ ।

१. द्रष्टव्य—सं० रत्ना० ५।१०४–१०५ ।

---

७. यथाक्षरेणैव—क०, ख० ।

१. वस्त्वर्थे—क०, ग० ।

२. दक्षिणे तु तथा वृत्तौ चतुष्कलमपीष्यते—क०,

२. ध्वन्तेऽथ—क० ।

४. शम्या तालो—क०;···तालैर्द्विरभ्यस्तैः—क (च) ।

५. पादैः—क० । ६. सुविच्छेद—क०; समंच्छेदं—क० (ड) ।

पूर्वोक्तेन विधानेन द्वि-चतुष्कलमिष्यते।
अस्य[1] चाङ्गत्रये[2] गीते [3]वैहायसिकमिष्यते ॥ २९४ ॥

इसी प्रकार पूर्व कथित नियमों के अनुसार दो या चार कलाओं का 'उल्लोप्यक' होता है। और इसके तीन अंगों का गान हो चुकने पर 'वैहायसिक' को रखा जाता है ॥ २९४ ॥

तदेकाङ्गावरं[4] ज्ञेयं द्वादशाङ्गपरं तथा[5]।
प्रमाणं[6] द्वादशकलं सप्तपातमथापि वा ॥ २९५ ॥
अस्य तु द्विकला[7] शम्या तालश्च[8] द्विकलस्तथा।
द्विकला च पुनः शम्या तालश्चैककलः[9] स्मृतः ॥ २९६ ॥
ततः शम्या ततस्तालः सन्निपातस्ततः परम्[10]।
शाखेयं प्रतिशाखा[11] तु नित्यमन्यपदा[12] स्मृता ॥ २९७ ॥

इसमें कम से कम एक अंग से लेकर बारह तक अंग रहते हैं। इसका बारह कला या सात पातों से निर्माण होता है (या इसका बारह कला या सात पात काल-प्रमाण होता है)। यथा :—दो कलाओं की शम्या, दो कलाओं की ताल, द्विकल शम्या, एककल ताल, फिर शम्या, ताल तथा सन्निपात (एक के बाद एक एक कलाओं की यह शाखा है।) 'प्रतिशाखा' सदा विभिन्न पदों से निर्मित 'अन्यपदा' होजाती है[1] ॥ २९५-२९७ ॥

पदा[13] त्वस्य भवेदन्ते[14] तदन्ताहरणं बुधैः।
यथाक्षरेण नियमात्[15] संहार्यं पञ्चपाणिना ॥ २९८ ॥

---

१. द्रष्टव्य—सं० र० ५।११९।

---

१. अन्ते चाङ्गत्रयातीते—ग०। २. चाङ्गत्रयेऽतीते—क०।
३. वैहायसकमिष्यते—क०।
४. काङ्गपरं—ख०, ग०। ५. स्मृतम्—क०।
६. प्रमाणाद्—क०। ७. तथा पातमथापि च—क०, ख०।
८. त्रिकला—क० (य)।
९. तालस्त्रिकल एव च—क०।
१०. द्विकलः स्मृतः—क (ड)। ११. पुनः—क०।
११. शाखे—ग०। १२. मन्त्यपदा—क० (र)।
१३. यदा त्वस्य भवेदन्तस्तदन्ता—क०। १४. दन्त्ये—ग०, भ०।
१५. कर्त्तव्यं संहार्यः—ग०।

जब यह समीप में रहती है तब यह 'अन्ताहरण' के स्थान को ले लेती है और यथाक्षर पंचपाणि के द्वारा नियम संहार (समाप्ति) किया जाता है ॥

स्वतालेनान्तर्हीनस्य संहारः[1] परिकीर्त्यते ।
द्विप्रकार[2] निवृत्तश्च त्र्यंशोऽथ त्रिविधः स्मृत-[3] ॥ २९९ ॥

अपने स्वयं ताल से आगे बढ़कर अंतिम समाप्ति के बिना पूर्ण होने वाला 'संहार' कहलाता है । निवृत के प्रकार भी (विभेद भी) होते हैं । यह तीन अंशों से निर्मित होने वाला और तीन प्रकार का होता है ॥ २९९ ॥

त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च मिश्रश्च[4] त्रिविधः स्मृतः ।
स्थितप्रवृत्ते[5] तस्याङ्गे महाजनिकमेव च ॥ ३०० ॥
स्यात् पञ्चपाणितालेन तदन्ताहरणं तथा[6] ।
तथास्थितं[7] भवेद् युग्मं तस्य[8] पातविधिस्त्वयम्[9] ॥ ३०१ ॥
शम्या[10] तु द्विकला कार्या तालश्च[11] द्विकलः स्मृतः ।
चतुष्कलः सन्निपातः प्रवृत्तमत इष्यते ॥ ३०२ ॥
तस्यापि[12] द्विकला शम्या तालश्चैककलः[13] पुनः ।
चञ्चत्पुटश्च[14] तालादिः सन्निपातस्ततः परम् ॥ ३०३ ॥

निवृत्त के तीन प्रकार है :—त्र्यस्र तथा मिश्र और इसके तीन अंग हैं—स्थित, प्रवृत तथा महाजनिक । पंचपाणि ताल के 'अन्ताहरण' और इसी प्रकार युग्म-ताल के द्वारा स्थित होता है । इसकी पात-विधि इस प्रकार है—दो कलाओं की शम्या, दो कलाओं की ताल और चार कलाओं का सन्निपात इसके बाद प्रवृत्त को किया जाता है । इसमें दो कलाओं की शम्या एक कला की ताल, तालादि वर्ग का चञ्चत्पुट और अन्त में सन्निपात रहता है ॥ ३००–३०३ ॥

---

१. संहार्यः परिकीर्तितः—क०; ···परिवर्त्यते—क० (ड) ।
२. द्विप्रकारनिवृत्तस्तु त्र्यङ्गोऽन्तः—क०, ख० । ३. तथा—भ० ।
४. मिश्रश्च परिकीर्तितः—क०, मिश्रश्चापि प्रकीर्तितः—ख० ।
५. प्रवृत्तः—क० (ब) । ६. यदा—क०, ख० ।
७. तदा—क० । ८. प्रथमस्य विधि—ग० ।
९. ताल—क (ड) ।
१०. शम्यापि—क० । ११. तालोऽपि—क० ।
१२. अस्य तु—क०, ख० । १३. तथा चैककला पुनः—क, तथैवैककला—ख० । १४. पुटस्य—ग० ।

स्थितं[1] तालेन कर्त्तव्यं महाजनिकमस्य तु।
निवृत्ततालः कर्त्तव्यो निवृत्तस्यापि[2] तत्त्वतः॥ ३०४॥

'महाजनिक' को स्थित ताल के साथ और निवृत्त को ठीक तरह से 'निवृत्त' ताल के साथ सम्पन्न किया जाए॥ ३०४॥

स्थित[3] महाजनिकयोः प्रायः समुपवर्तनम्।
आदावुद्घट्टकः कार्यः परिवर्तक एव च॥ ३०५॥

स्थित और महाजनिक के अन्तर्गत प्रायः 'उपवर्तन' रहता है और इसके आरम्भ में 'उद्घट्टक' और परिवर्तक को किया जाता है॥ ३०५॥

युग्मे हि मिश्रतालत्वाद् युग्मे[4] ह्यन्तः प्रयुज्यते।
विवधैककसंयुक्तः सर्वश्चान्तविधिः[5] स्मृतः॥ ३०६॥

'युग्म' के मिश्रताल होने के कारण उसे अन्त में प्रयुक्त किया जाता है। विवध और एकक से युक्त सभी अन्त ताल के नियम (यहाँ भी) लागू होते हैं[1]॥ ३०६॥

यथावदन्ततालोऽयं[6] युग्मो[7] मिश्रश्च कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्र्यस्रतालविधिं[8] प्रति॥ ३०७॥

इस प्रकार मैंने 'अन्तताल' को विधिवत् वर्णन किया जो युग्म और मिश्र प्रकार वाला होता है। अब मैं त्र्यस्रताल का वर्णन करूँगा॥ ३०७॥

शम्या तु द्विकला पूर्वं ततस्तालो विधीयते।
त्रिकलः सन्निपातश्च प्रवृत्तश्चाप्यतः[9] परम्॥ ३०८॥

(इसका क्रम इस प्रकार है :—) दो कलाओं की शम्या, ताल तथा तीन कलाओं का सन्निपात। इसके बाद प्रवृत्त की बारी आती है॥ ३०८॥

---

१. यहाँ 'युग्मे ह्यन्ते' पाठ के स्थान पर 'युग्मोऽप्यन्तः' पाठ ठीक हो सकता है। इसका अर्थ होगा मिश्र ताल होने पर युग्म को भी अन्त ताल में प्रयुक्त किया जा सकता है,

---

१. स्थिततालेन—क० (ब०); स्थिततालो न कर्तव्यो—ग०।
२. प्रवृत्त—क०, ख०।।
३. अत्र तालविधिश्चेष्टः प्रायशस्तूपवर्तने—क० अत्र तालविधिः श्रेष्ठः—ख०। ४. युग्मो—क०, युग्मोऽप्यन्तः—क० (ब०)।
५. पूर्वं पश्चाद्विधिः—क०; पश्चाद्विधः—ख०। ६. दन्त्य—क०।
७. युग्मे मिश्रे च—ग०। ८. त्र्यस्रमन्यविधिं पुनः—क०,'''मन्तविधिं—ग०। ९. वाप्यतः—क०, ख०।

प्रवृत्तमत्र[1] कर्त्तव्यं कथावत् परिवर्तनम् ।
यथाक्षरप्रयुक्तेन[2] समासात्[3] पञ्चपाणिना ॥ ३०९ ॥

यहाँ प्रवृत्त का पंचपाणि यथाक्षर के साथ संक्षेप करके विधिवत् (ठीक प्रकार से) 'परिवर्तन' बनाया जाए ॥ ३०९ ॥

अस्यापि[4] स्थिततालेन महाजनिकमिष्यते ।
निवृत्ततालः[5] कर्त्तव्यस्तथास्यान्तनिवर्तिते ॥ ३१० ॥

इसका 'महाजनिक' स्थित ताल से रहना चाहिए और इसके अन्तनिवर्तन में निवृत्तताल को रखा जाता है ॥ ३१० ॥

युग्मौजमिश्रतालत्वान्मिश्रोऽप्यन्तः प्रवर्तनम्[7] ।
विवधैककसंयुक्तः सर्वश्चान्तविधः[8] स्मृतः ॥ ३११ ॥

युग्म और अयुग्म तालों का मिश्रण होने के कारण मिश्रताल में भी अन्तः प्रवर्तन होता है और एकक के साथ विवध को रखना अन्तताल में एक नियम है ॥ ३११ ॥

द्व्यङ्गमेकाङ्गमपि वा स्थितं कार्यं समासतः ।
तत्र युग्मंभवेद् द्व्यङ्ग[9] [10]त्र्यस्रमेकाङ्गमिष्यते ॥ ३१२ ॥

एक या दो अंङ्गों के संक्षेप से स्थित का निर्माण होता है । युग्म-ताल के साथ दो अंगों का संक्षेप करके और त्र्यस्र ताल के साथ एकांग स्थित को रखा जाता है ॥ ३१२ ॥

प्रवृत्तमपि विज्ञेयं द्व्यङ्गमेकाङ्गमेव वा ।
महाजनिकमेकाङ्गं [11]द्व्यङ्गं संहरणं स्मृतम्[12] ॥ ३१३ ॥

प्रवृत्तक भी दो या एक अंग से निर्मित किया जाता है । महाजनिक का एक अंग से और संहरण का दो अंगों से निर्माण होता है ॥ ३१३ ॥

---

१. मस्य—क०, २. प्रवृत्तेन विधिवत्—ख० । ३. नियमात्—क० ।
४. अत्रापि—क०, अन्यापि—ग० । अस्मात् पूर्वं—एकश्च विवधश्चापि तस्याङ्गं समुदाहृतम् ।' इत्यधिकं क (र) पुस्तके ।
५. प्रवृत्तः कालः कर्त्तव्य—ग० ।
६. तथात्रापि निवृत्तिमान्—क०; तथात्र विनिवृत्तवान्—ख० ।
७. प्रयुज्यते—क०; प्रवर्तते—क (च०) । ८. विधिः—क० ।
९. त्र्यङ्गं—क (च०) । १० मेकाङ्गमेव च—(वा-ख०)-क० ।
११. त्र्यङ्गं—क० । १२. भवेत्—ख० ।

स्थितादिकः प्रवृत्तान्त एवमन्तं[1] विदुर्बुधाः ।
उल्लोप्यके सदा[2] योज्यमूहापोहविशारदैः ॥ ३१४ ॥

स्थित से आरम्भ होकर प्रवृत्तक पर समाप्त होने वाला यही भाग 'अंत' कहलाता है। जिसकी उल्लोप्यक में सदा विचार-शील कलाविशारदों के द्वारा योजना की जाती है ॥ ३१४ ॥

प्रकरी—

प्रकरीवस्तु षण्मात्रा पाताश्चैकोनविंशतिः ।
वस्तु प्रमाणं कर्त्तव्यं तथैव च चतुष्कले[3] ॥ ३१५ ॥

प्रकरी की वस्तु छः मात्राओं और उन्नीस पातों से बनती है और इसकी वस्तु का कालमान चार कलाओं के प्रमाण का होता है[1] ॥ ३१५ ॥

न यथाक्षरयोगोऽत्र[4] न चात्र द्विकलो[5] भवेत् ।
[6]आद्यमात्रात्रयस्यान्ते शम्या-तालौ प्रकीर्तितौ ॥ ३१६ ॥
षण्मात्रं[7] पातसंयुक्तं वस्तु कार्यं यथाक्रमम् ।
उपोहनन्तु वस्त्वर्धे प्रथमे च द्विजोत्तमाः ॥ ३१७ ॥

इसमें यथाक्षर ताल या द्विकल ताल नहीं होता, आरंभ में तीन मात्राओं के पश्चात् यहाँ शम्या और ताल होता है। इसके बाद क्रमशः छः मात्रा के पातों से युक्त वस्तु को निर्मित किया जाता है और वस्तु के प्रथमार्ध भाग में उपोहन रहता है[2] ॥ ३१६–३१७ ॥

शम्या अस्य तु मात्रा स्याद् द्वितीया तालसंयुता ।
मात्रात्रयस्य[8] चान्त्या स्यात् शम्यैका च पुनस्तथा ॥ ३१८ ॥
चतुर्थ्यां द्वादशस्तालः पञ्चम्याञ्चाष्टकः स्मृतः ।
षष्ठ्यान्तु द्विकला शम्या तालश्च द्विकलो भवेत् ॥ ३१९ ॥
पुनश्च द्विकलस्तालः शम्या च द्विकला पुनः ।

---

१. द्रष्टव्य—सं० रत्ना० ५।१३६–१३७ ।
२. द्रष्टव्य—सं० रत्ना—५।१३७–१३८ ।

---

१. मन्तविधिर्बुधैः—क० मन्तविधं वृधै—ख० । २. समायोज्य—क० ।
३. चतुष्कलम्-ख०; यस्तु प्रयोगः कर्त्तव्यः प्रकुर्याद् द्विचतुष्कलम्—ग० ।
४. योगेन—क० । ५. द्विकलं स्मृतम्—क० ।
६. आद्यमात्राद्वयस्यान्तः शम्यातालान्वितो भवेत्—क०, ख० ।
७. श्लोकमेतदधिकं ग० घ० पुस्तकयोः ।
८. त्रयस्यं चान्तस्य शम्यैकैकान्ततः स्मृता—क०,…चान्त्सम…ख०; द्वयस्य चान्तस्य शम्यैकैकापुनः—क० (ब०) ।

शम्यातालश्च तालश्च शम्यातालस्तथैव च ॥ ३२० ॥
शम्यातालः सन्निपात इति वस्तु प्रकीर्त्यते[1] ।

प्रथम तीन मात्राओं में इसकी दूसरी मात्रा ताल से युक्त शम्या और फिर अंत में भी शम्या होती है। चतुर्थ मात्रा में बारह ताल और पाँचवीं में आठ ताल, छठी में द्विकल शम्या तथा द्विकल ताल के बाद फिर द्विकल ताल, द्विकल शम्या, और फिर शम्या, ताल, ताल, शम्या और ताल, शम्या, ताल तथा सन्निपात रहता है[1] ॥ ३१८–३२१ ॥

यदा त्वर्धचतुर्थानि वस्तूनि प्रकरी भवेत् ॥ ३२१ ॥
पश्चिमार्धं[2] पदस्यैतत्[3] तदर्धं प्राक् निवेशयेत् ।
कनिष्ठासारितेनास्य कार्यं[4] संहरणं ततः ॥ ३२२ ॥

जब साढ़े चार मात्रावाली वस्तु के द्वारा प्रकरी का निर्माण किया जाता है तो यह पद का उत्तरार्थ भाग होता है और इसका आधा भाग पहिले रखा जाता है। तब इसका संहरण कनिष्ठ आसारित के द्वारा किया जाता है[2] ॥ ३२१–३२२ ॥

ओवेणक—

पादः पूर्वसमः[5] कार्यस्त्वपरान्तकशाखया ।
ओवेणके द्वितीयस्य[6] तस्य च प्रतिशाखया ॥ ३२३ ॥
स[7] एव पातविन्यासो माषघातमतः[8] परम् ।
षट्पातो द्वादशकलस्तस्य पातविधिस्त्वयम् ॥ ३२४ ॥
कर्त्तव्या द्विकला शम्या तालो द्विकल एव च ।
पुनश्च द्विकलस्तालः शम्या च द्विकला पुनः ॥ ३२५ ॥

---

१. तुलना—सं० र० ५।१४१–१४२ ।
२. द्रष्ट—सं० र०—५।१३६ ।

---

१. प्रकीर्तितम्—क०, ख० ।
२. पश्चिमार्धं तदस्यैव—ख०; पश्चिमार्धपदस्यैतत्तदार्धं—ग० ।
३. पदस्यैव—क० ।
४. तालः संहरणे मतः—क० (ड); तालः गतः—ग० ।
५. पूर्वः समः—क० । ६. द्वितीयोऽपि तस्यैव—क०, ख० ।
७. अनित्यः शीर्षके तालो—क० ख० ।
८. पातपस्ततः—क० ।

ततश्चैककलस्तालः सन्निपातः कलात्रये ।
प्रायेण माषघातस्तु[1] विवधाङ्गः प्रकीर्तितः ॥ ३२६ ॥
सन्धिश्चैव[2] हि तस्यान्ते कदाचिदुपवर्तनम् ।
तस्या[3] स्यात् कलिकेनैव तच्चोघं[4] पञ्चपाणिना ॥ ३२७ ॥
सन्धिर्यथाक्षरेणैव कर्त्तव्यः पञ्चपाणिना ।
एककं विवधो वापि तस्याङ्गं समुदाहृतम् ॥ ३२८ ॥

ओवेणक का प्रथम पाद अपरान्तक की शाखा के समान रखा जाए और दूसरा पाद इसकी प्रतिशाखा के समान रहना चाहिए तथा वाद में होने वाले यही सब क्रम इसके पातकला और माषघात में भी रखना चाहिए। इसके पात नियम में बारह कलाओं के छः पात होते हैं। (जो इस प्रकार हैं :—) दो कला की शम्या, दो कलाओं की ताल, फिर द्विकल ताल, फिर दो कला की शम्या, फिर एक कला की ताल तथा तीन कलाओं का सन्निपात। इसका माषघात साधारणतः विवध का अंग होता है। इसकी समाप्ति सन्धि या कभी कभी उपवर्तन पर होती है और इसका ओघ एक कला के पंचपाणि के द्वारा निर्मित होता है। सन्धि का निर्माण यथाक्षर पंचपाणि के द्वारा होता है और एकक और विवध इसके अंग होते हैं ॥ ३२३–३२८ ॥

उपवर्तनवच्चास्य[5] पृथग्विधिरिति स्मृतः ।
अन्त्यस्य[6] चतुरस्रस्य प्रवृत्ते यो विधिः स्मृतः ॥ ३२९ ॥
विवधाङ्गेन[7] तेनैव चतुरस्रकमिष्यते ।

इसकी उपवर्तन के समान विलग विधि होती है। अन्त्य चतुरस्र के आरम्भ के जो नियम है वेही विवधांग के चतुरस्र प्रकार में भी लागू किये जाने चाहिए ॥ ३२९–३३० ॥

सन्धिवद्[8] वज्रतालश्च[9] द्विधा सम्पिष्टकं स्मृतम्[10] ॥ ३३० ॥
सप्ताङ्गैर्द्वादशकलं[11] द्वादशाङ्गैस्तथैव[12] तु ।
निष्क्राममादितः कृत्वा शम्यास्तिस्रः प्रयोजयेत् ॥ ३३१ ॥

---

१. घातश्च—क०, ख०। २. सन्निपातश्च पश्चार्द्धे—क०; ख०।
३. अस्य—क०; तस्य—ख०। ४. तद्योज्यं—क०।
५. वच्चात्र—क (ड)। ६. अन्तस्य—क०।
७. विधिनानेन—ग०। ८. सन्धिश्चैव त्रितालश्च—क० (ब)।
९. वज्रकालस्य—ग०। १०. मतम्—क०।
११. सप्ताङ्गं—ख०। १२. द्वादशाङ्गे तथैव च—ख०।

तालत्रयं[1] ततश्चैव शम्यातालौ ततः परम् ।
शम्यातालौ ततः कार्यौ सन्निपातोऽन्त्य एव च ॥ ३३२ ॥
ओवेणके तु सप्ताङ्गे सम्पिष्टकमिदं[2] स्मृतम् ।

सम्पिष्टक के दो प्रकार होते हैं :—(१) सन्धिवत तथा (२) वज्र-ताल । ये क्रमशः बारह कलाओं के सात अंग तथा दस कलाओं के बारह अंगों को निर्मित करते हैं । इसमें सर्वप्रथम निष्काम को सम्पन्न कर फिर तीन शम्या और ताल तथा एक सन्निपात । सप्तांग ओवेणक में होने वाला यही सम्पिष्टक विधान है ॥ ३३०-३३२ ॥

द्विशम्या तालयोगेन द्वादशाङ्गेऽपि चेष्यते ॥ ३३३ ॥
पाता नवैकादश वा सम्पिष्टकमुदाहृतम्[3] ।
वज्रवत् सम्प्रयोक्तव्यमुपवर्तनमेव च ॥ ३३४ ॥

और इसी में दो शम्याओं तथा एक ताल के जोड़ देने पर सम्पिष्टक के द्वादशांग ओवेणक की स्थिति बन जाती है । नौ या ग्यारह पात सम्पिष्टक कहलाते हैं और यहाँ वज्रताल के समान उपवर्तन का प्रयोग किया जाता है ॥ ३३३-३३४ ॥

प्रवेणी—

युक्ता[4] विवधवृत्ताभ्यां प्रवेणी द्विविधा स्मृता ।
पञ्चपाणिः प्रकर्त्तव्यः[5] प्रवेण्या तु यथाक्षरः ॥ ३३५ ॥
द्विकलो वापि मिश्रो वा प्रयोगोऽङ्गवशानुगः[6] ।
अन्ते[7] चास्य[8] प्रकर्त्तव्यं कदाचिदुपवर्तनम् ॥ ३३६ ॥
षञ्चपाणिविधानेन यथोक्तेनैव तद् भवेत् ।
द्वितीयतालपातेन[9] ह्यपपातश्च[10] कीर्त्यते ॥ ३३७ ॥
वज्रतालेन कर्त्तव्यं कमं[11] संहरणस्य तु ।
रोविन्दके तु षण्मात्राः पातभागैश्चतुष्कलैः[12] ॥ ३३८ ॥

---

१. तालस्तत्र—ग० । २. संविष्टकमिति—ग० ।
३. संविष्टक—ग० ।
४. युज्या—० (ब) । ५. स्तु कर्तव्यः—क० ।
६. द्वादशानुगः—क० । ७. अङ्गं—ग० । ८. वास्याः—क० ।
९. पादतालेन—क०, पाततालेन—क० (च०) ।
१०. ह्यवपातश्च—क; ह्यपपातः प्रकीर्त्यते—क० (ङ]
११. मन्ताहरणमस्य तु—क०, ग० ।
१२. पाताश्चैकाल विंशतिः–क; ख० ।

विवध और वृत्त से मिलकर होने वाली 'प्रवेणी' के दो प्रकार हैं। प्रवेणी में यथाक्षर पंचपाणि का प्रयोग करना चाहिए और यह दो कलाओं से युक्त या मिश्र रूप में अपने अंगों के अनुसार यह प्रयुक्त होता है और कभी कभी इसके अंत में उपवर्तन को रखा जाता है। यह उपवर्तन यथाक्षर पंचपाणि की विधि के अनुसार होता है। इससे आगे का पात जो द्वितीय ताल पर होने वाला पात है अपपात कहलाता है। इसका अन्ताहरण वज्रताल के द्वारा किया जाता है ॥ ३३५–३३८ ॥

रोविन्दक—

अर्धेऽन्ते[1] चैव मात्राणां पञ्चानां पात इष्यते[2] ।
तालशम्या[3] च तालश्च शम्यातालस्तथैव च ॥ ३३९ ॥
अन्ते शम्या तथा चैव सर्वासामपि कीर्तिता ।
पञ्चानामपि मात्राणां विधिरेष यथाक्रमम् ॥ ३४० ॥
चतुर्दशस्तु[4] पञ्चम्यां मात्रायां[5] ताल इष्यते[6] ।
चतुष्कला[7] तु तत्तुल्या षष्ठी[8] मद्रकमात्रया ॥ ३४१ ॥

रोविन्दक में चतुष्कल पादभागों के साथ छः मात्राएँ रहती है। यहाँ पाँच मात्राओं के अर्ध भाग के बाद पात इष्ट है (इसके पातों का यह क्रम है :–) ताल, शम्या, ताल, शम्या, ताल। यहाँ पाँच मात्राओं का यही क्रमिक विधान है। पाँचवी मात्रा में चौदह ताल यहाँ होनी चाहिए और मद्रक के गीतों के समान छठी मात्रा में चार कलाएँ रखी जाती है ॥ ३३८–३४१ ॥

तथा[9] चाष्टौ कलाः कार्याः प्रथमायामुपोहनम्[10] ।
ततश्चैव प्रयोक्तव्यं द्विकलं प्रत्युपोहनम् ॥ ३४२ ॥
पाताः[11] स्युः सन्निपातान्ता विवधैककयोजिताः ।
वर्णानुकर्षोऽष्टकलस्त्वन्ते[12] प्रस्तार इष्यते ॥ ३४३ ॥

---

१. अथार्धेऽन्ते—च—क, अर्धातीते च—ख० । २. उच्यते—क० ।
३. तालः शम्यार्धतालश्च—ख० । ४. चतुर्दशोऽपि—क०, ख० ।
५. मात्रायाः—क० । ६. उच्यते—क० ।
७. कलान्त्या तुल्या—क० । ८. षष्ठमन्द्रकमात्रया—ग० ।
९. इति पादस्तथाष्टौ च—ख० ।
१०. कला ह्याद्या ह्युपोहनम्—क०, कलापादादुपोहनम्—ख ।
११. पाताश्च सन्निपाताश्च—क०; घातश्चेद् सन्निपातश्च—ख० ।
१२. स्त्वन्यः प्रस्वार उच्यते—क०; स्वल्पः प्रस्तार—ख० ।

आरंभ में प्रथम आठ कलाओं से निर्मित उपोहन होता है और फिर दो कलाओं का प्रत्युपोहन होता है। सन्निपात पर जाकर पातों की समाप्ति होती है और विवध तथा एकक इसमें समाविष्ट किये जाते हैं। अन्त में वर्णों का संकलन (अनुकर्ष) आठ कलाओं से निर्मित होता है। यही इसका (रोविन्दक के प्रथम पाद का) प्रकार है ॥ ३४२–३४३ ॥

तुल्यवर्णोपवहनो[1] द्वितीयः पाद इष्यते।
शरीरतालः कर्त्तव्यः प्रस्तारोऽपि[2] विशेषतः ॥ ३४४ ॥
द्विकले नैव कर्त्तव्यो विशेषात् पञ्चपाणिना।
कलाद्वादशनिर्दिष्टं प्रमाणञ्चास्य तत्त्वतः ॥ ३४५ ॥

इसके द्वितीय पाद के उपोहन में भी वे ही वर्ण रहना चाहिए। इसके प्रसार में विशेष रूप से इसके स्वरूप में विद्यमान क्रम के अनुसार रहनेवाली तालों को रखा जाए। यह द्विकल पंचपाणि के द्वारा प्रस्तुत किया जाए और इसका सम्पूर्ण प्रमाण बारह कलाओं का रखा जाए ॥ ३४४–३४५ ॥

रोविन्दकशरीरन्तु षट्कलोपोहनं स्मृतम्।
विवधं[3] वा प्रवृत्तं वा तस्यादौ परिकीर्त्यते ॥ ३४६ ॥
आकारवृत्तमन्यत्[4] स्याच्चतुष्कं त्रिकमेव वा।
तस्योपरि यथेष्टं स्यादधस्तादङ्गयोजनम् ॥ ३४७ ॥
अविशेषनिवृत्तन्तु[5] शीर्षकन्तु[6] प्रयोजयेत्।
यथाक्षरेण तच्चैव[7] कर्त्तव्यं पञ्चपाणिना ॥ ३४८ ॥
[8]आदावेकैकमन्त्यस्य प्रवृत्तो नियमो भवेत्।
इति रोविन्दकं प्रोक्तं स्यादुत्तरमतः परम्[9] ॥ ३४९ ॥

रोविन्दक में छः कलाओं से उपोहन किया जाता है तथा इसके आरंभ में विवध या प्रवृत्तक का प्रयोग रहता है। यह आवाप से आरम्भ होता है जो चार या तीन कलाओं से निर्मित होता है। (चार या तीन कलाओं में

---

१. पनहनो (?)—ख०। २. प्रस्वारोऽस्य—क०।
३. विवधो वाऽपी वृत्तं वा—क०, विविधो वा—ग०।
४. मस्य—क०। ५. आविशेष...क०। ६. शीर्षकं सम्प्रयो...क०।
७. तस्यैव—क० (ब)।
८. आकारैककमस्यान्ते प्रवृत्तं नियमाद् भवेत्—क०।
९. अस्मादनन्तरं-पुस्तके—मुखप्रतिमुखौ स्यातामुल्लोप्यकवदुत्तरे—इति पद्यार्धमधिकम्।

से कोई भी विकल्प इच्छानुसार लिया जाता है) इसके बाद अंगों की योजना करनी चाहिए। इसका सामान्यतः सम्पन्न होनेवाला अंग शीर्षक होता है जिसे यथाक्षर पञ्चपाणि के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। इसके आदि में एकक को और अंत में प्रवृत्तक को रखना चाहिए।

रोविन्दक का यही स्वरूप है। अब मैं आगे उत्तर का लक्षणादि बतलाता हूँ॥ ३४६-३४९॥

उत्तर—

उत्तरं सम्प्रवक्ष्यामि यथाविहितलक्षणम्।
अस्येदमुत्तरस्याथ मुखं प्रतिमुखं भवेत्॥ ३५०॥

अब मैं लक्षणादि के अनुसार विधिवत् उत्तर का स्वरूप बतलाता हूँ। इसमें 'मुख' और 'प्रतिमुख' रखे जाते हैं॥ ३५०॥

उल्लोप्यकवदस्यादौ[1] मात्रा चैका चतुष्कला।
रोविन्दकवदाकारं[2] गणमाद्यं प्रयोजयेत्॥ ३५१॥

उल्लीप्यक के समान इसमें भी आरम्भ में एक मात्रा चार कलाओं की होती है और रोविन्दक के समान ही इसका प्रयोग आवाप के एक वर्ग का आरंभ करते समय किया जाता है॥ ३५१॥

शाखा षडङ्गा त्वपरा[3] द्वादशाङ्गा परा स्मृता।
षटपाता द्वादशकला शाखा ज्ञेया प्रमाणतः॥ ३५२॥
तस्यास्तु[4] द्विकलस्तालः शम्या चैककला भवेत्।
तथा[5] च द्विकलस्तालः शम्या च द्विकला ततः॥ ३५३॥
पुनश्चैककलस्तालः[6] सन्निपातः कलात्रये।
शाखावत् प्रतिशाखा च भवेदन्यपदा तु सा॥ ३५४॥

इसमें छः अंग से लेकर अधिक से अधिक बारह अंग होते हैं, इसकी शाखा छः पातों से निर्मित बारह कलाओं की रहती है। (इसमें पातों का क्रम इस प्रकार है :—) दो कलाओं की ताल, एक कला की शम्या, दो कलाओं की ताल, दो कलाओं की शम्या, एक कला की ताल और तीन कलाओं का सन्निपात। इसमें शाखा के समान प्रतिशाखा भी रहनी चाहिए जिसमें विभिन्न पाद (अन्यपाद) हों॥ ३५२-३५४॥

---

१. वदस्यादौ—क०। २. पदाकारगणवर्जः—ग०।
३. धरा स्याद—क०; त्वपरा—ग०। ४. तस्यां तु—क०।
५. पद्यार्धमेतत्—ग० घ० पुस्तकयोरेव। ६. तथैवैक—क०।

अविशेषान्निवृत्तस्याप्यस्यान्ते[7] नियमो भवेत्।
शीर्षकश्चैव[8] कर्त्तव्यमस्यान्ते पञ्चपाणिना ॥ ३५५ ॥

यहाँ सामान्यतः इसके अंत के विषय में कुछ (विशिष्ट) नियम है। इसके अंत में शीर्षक को (यथाक्षर) पंचपाणि के साथ सम्पन्न किया जाता है ॥ ३५५ ॥

पञ्चपाणिविधानेन प्रतिशाखा ततः परम्।
द्विकलः पञ्चपाणिस्तु पूर्वपातैर्यथाक्रमम्[1] ॥ ३५६ ॥

द्विकल पंचपाणि के साथ प्रतिशाखा भी इसके बाद की जाए जिसमें पूर्वकथित क्रम से पात सन्निविष्ट होना चाहिए ॥ ३५६ ॥

तालोऽयं दक्षिणे मार्गे सप्तरूपस्य कीर्तितः।
य एवं[2] दक्षिणे कालः स वृत्तावपि चेष्यते ॥ ३५७ ॥

सप्तरूप गीतों के दक्षिण मार्ग में ताल का यही क्रम है जो मैंने बतलाया है। दक्षिण मार्ग के लिये जो समय निश्चित (या उपयुक्त) होता है उसे वृत्ति मार्ग में भी उपभोग में लाया जा सकता है ॥ ३५७ ॥

चित्रेणेव हि सर्वत्र विशेषो यत्र नोच्यते
अर्थयोगादेष[3] एव नृत्ते[4] कालविधिर्भवेत् ॥ ३५८ ॥
उल्लोप्यकोत्तरमुखे हित्वा युग्मं[5] तथैककम्।
अर्धयोगस्तु तत्काले[6] द्विकलः सम्प्रकीर्त्यते ॥ ३५९ ॥

और यदि कोइ विशेष बात न हो तो यही नियम चित्रमार्ग में भी रखा जाए। अर्ध-योग के कारण यही समय का विधान नृत्त में भी रहता है केवल अपवादस्वरूप उल्लोप्यक के तथा उत्तर के मुख में यह विधान नहीं किया जाता है। अर्धयोग का समय दो कलाओं के प्रमाण का (रखा जाता) है ॥ ३५८-३५९ ॥

चतुष्कलः[7] स्याद्विकलो द्वितीयश्च यथाक्षरः[8]।
रोविन्दकोल्लोप्यकयोर्मद्रकोत्तरयोस्तथा ॥ ३६० ॥

---

७. अविशेषनिवृत्तिश्चाप्यस्यान्तो नियतो—क०।
८. अन्ते चास्य विशेषेण मध्ये चैव तु शीर्षकम्—क०।
१. पार्के—ग०। २. एव दक्षिणे तालो वृत्तावपि सः कीर्त्यते—क०।
३. अर्थयोगादेष एव वृत्ते—घ०। ४. नृत्ततालविधि—ग०।
५. युग्मैककं तथा—क०। ६. तत्कालादर्धकालः प्रकीर्तितः—क०।
७. चतुष्कलं स्याद् द्विकलं त्रिकलश्च यथाक्षरम्—क०।
८. तथा—ग०।

इसी प्रकार रोविन्दक और उल्लोप्यक तथा मद्रक और उत्तर की दशा में भी द्वितीय यथाक्षर चार या दो कलाओं का रखा जाता है ॥ ३६० ॥

शरीरेषु विधिर्ह्येष शेषेषु प्रकृतिर्भवेत् ।
प्रकृतावपि[1] तेषां[2] स्याद् द्विकलेन चतुष्कलम् ॥ ३६१ ॥
कालेनैव[3] भवेद् वृत्तावर्धयोगश्चतुष्कले[4] ।
वार्तिश्चतुष्कलो[5] योगो दक्षिणे स्यात् कदाचन ॥ ३६२ ॥

गीतों के शरीर (या स्वरूप) का यही विधान है। इसके अतिरिक्त शेष दशाओं के होने पर प्रकरी का विधान होता है और प्रकरी में भी दो कलाओं के साथ चतुष्कल को भी प्रयुक्त किया जाता है। (और) वृत्ति (वार्तिक) मार्ग की दशा में समय हेतु किया गया अर्धयोग चतुष्कल प्रमाण का रखते हैं। वृत्तिमार्ग में किया जाने वाला चतुष्कल का योग कभी-कभी दक्षिणमार्ग में भी होता है ॥ ३६१-३६२ ॥

मद्रकोल्लोप्यकयोश्च[6] मुखोपवहनेषु च ।
यो दक्षिणे तालविधिर्वृत्तौ स समुदाहृतः ॥ ३६३ ॥

मद्रक तथा उल्लोप्यक के मुख और उपहवन की दशा में जो ताल का विधान दक्षिण मार्ग में रहता है वही वृत्ति या वार्तिक मार्ग में भी रहेगा ॥

चित्रे[7] व्यस्ते समस्ते वा तावुभौ परिकीर्तितौ ।
शाखानिवृत्तादन्यत्र[8] चित्रं तूभयमार्गिकम् ॥ ३६४ ॥

चित्रमार्ग में चाहे वह स्वयं अकेला या दूसरों के साथ मिश्र होकर प्रस्तुत हो रहा हो ये दोनों ही (कला विधान) मान्य है। चित्र-मार्ग में इन दो मार्गों में से किसी एक के शाखा विधान के अनुसार अन्त रखकर फिर समाप्ति की जाती है ॥ ३६४ ॥

इति मार्गत्रये ह्येतत् सप्तरूपं[9] प्रकीर्तितम् ।
द्विविधा प्रकृतिश्चास्य कुलकं छेद्यकं[10] तथा ॥ ३६५ ॥
एकार्थं[11] कुलकं तत्र पृथक् छेद्यकमिष्यते ।

---

१. प्रवृत्तावपि—क० (य)। २. नेयं—क० ।
३. नैवं—क० । ४. वर्धयोग—क० । ५. वृत्तौ—क० ।
६. न मद्रको—क० । ७. चित्रैर्व्यस्ते—घ० ।
८. निवृत्तमन्यत्र चित्रेऽत्र त्रयमार्गिकः—घ० ।
९. ‘येतत् = क० । १०. भेद्यकं—क० ।
११. एकार्धं—क० ।

सप्तरूप के तीन मार्गों में गाये जाने वाले ये ही गीत हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—एक कुलक और दूसरा छेद्यक। एकार्थक या एक वाक्य का गीत कुलक कहलाता है और पृथक् वाक्यों का गीत छेद्यक होता है[1]॥

निर्युक्तं पदनिर्युक्तमनिर्युक्तं तथैव च॥ ३६६॥
त्रिविधश्चैव विज्ञेयं सप्तरूपं प्रयोक्तृभिः।

यह सप्तरूप गीत पुनः तीन प्रकार का होता है :—(१) निर्युक्त, (२) पदनिर्युक्त तथा (३) अनिर्युक्त[2]॥ ३६६–३६७॥

बहिर्गीताङ्गशाखाभिर्युक्तं निर्युक्तमिष्यते॥ ३६७॥

निर्युक्त—गीत के शरीर या स्वरूप के बाहर जिसकी शाखा रखी जाती हो (या बहिर्गीत के अंग से युक्त जिसकी शाखा हो) तो उसे निर्युक्त समझना चाहिए[3]॥ ३६७॥

बहिर्गीतविहीनन्तु[1] पदनिर्युक्तमिष्यते।

पदनिर्युक्त—बहिगीत के तत्त्वों से आंशिक रूप में मुक्त होने वाला 'पद-निर्युक्त' कहलाता है[3]।

[2]बहिर्गीतविहीनश्चाप्यनिर्युक्तमिति स्मृतम्॥ ३६८॥

अनिर्युक्त—जो गीत बहिर्गीत के विधान से एक दम रहित या मुक्त हो तो उसे अनिर्युक्त समझना चाहिए[3]॥ ३६८॥

इत्येतत् सप्तरूपस्य प्रकृतेः द्विविधं[3] स्मृतम्।
ब्रह्मोक्तं सप्तरूपं हि समवेदाद् विनिःसृतम्॥ ३६९॥

इस प्रकार सप्तरूप—गीत की द्विविध प्रकृति बतलायी गयी। यह सप्तरूप गीत सामवेद से उद्भूत है तथा ब्रह्मा के द्वारा अभिहित है॥

---

१. द्रष्टव्य—सं० रत्ना० ५।६० जिसके अनुसार 'कुलक' गीत का ऐसा प्रकार होता है जिसके विभिन्न अंग एक वाक्य में रहते हों या पृथक् वाक्य निर्माण नहीं करते हैं। और जब ये अंग पृथक् पृथक् वाक्यों में रहें तो ऐसा गीत 'छेद्यक' कहलाता है।

२. द्रष्टव्य—सं० रत्ना० ५।६१।

३. द्रष्टव्य सं० रत्ना ५।६१–६२–६३।

---

१. बहिर्गीतविहीनं—क०, बहिर्गीतावहीनं—घ०।

२. गीताङ्गहीनश्चाप्यनिर्युक्त—क०।

३. त्रिविधं—क०।

दैवताराधनं पुण्यमनन्तं गीतवादितम् ।
सर्वेषामेव गीतानामन्तेषु[1] छन्दकं स्मृतम् ॥ ३७० ।

गीत और वाद्य-सङ्गीत को देवताओं की अराधना में प्रयुक्त किया जाता है। यह अनन्तपुण्य को प्रदान करता है। इस सभी प्रकार के गीतों के अन्त में छन्दकी (छेद्यक) की योजना करनी चाहिए ॥ ३७० ॥

चतुरङ्गं[2] ततस्त्र्यङ्गं नवाङ्गं युग्ममेव च ।
ऋग्गाथापाणिकानाञ्च प्रमाणानां तथैव च ॥ ३७१ ॥
अनेनैव विधानेन युग्मौजत्वं विभावयेत् ।

ऋग्गाथा और पाणिका की भी जो दो चार तीन या नौ चतुरस्र तालों से निर्मित हों—यही विधि है। इसी नियम के अनुसार चतुरस्र और त्र्यस्र-ताल को समझना चाहिए ॥ ३७१–३७२ ॥

यो गणः पूर्णमुद्दिष्टस्तस्यादौ तु कला भवेत् ॥ ३७२ ॥
चतुर्मात्राकृतश्चैव[3] कलां समवधारयेत् ।
अष्टाङ्गा[4] वा षडङ्गा वा युग्मोजौ[5] वा प्रमाणतः ॥ ३७३ ॥
स्तुतियुक्ता[6] तु कर्तव्या माद्रिकी चैव पाणिका ।
चतुष्पादा तथैकाङ्गा द्व्यङ्गा[7] त्र्यङ्गा विभावयेत् ॥ ३७४ ॥

पूर्व में जिस गण को बतलाया जा चुका है उसके आरंभ में एक कला होती है और यह कला चार मात्राओं से निर्मित होती है। माद्रिकी, पाणिका और चतुष्पदा नामक (जो) गीत देवताओं की स्तुति से सम्बद्ध होते हैं उन्हें चतुरस्र या त्र्यस्र ताल के रूप में आठ या छः अंगों से निर्मित किया जाता है। इस प्रकार एक, दो तीन अंगों से निर्मित गीतों को समझना चाहिए ॥ ३७२–३७४ ॥

अङ्गैर्व्यस्तैस्समस्तैर्वा युग्मौजौ[8] वा प्रकीर्तितौ ।
सप्तरूपस्य[9] तालोऽयं मया हि परिकीर्तितः ॥ ३७५ ॥

---

१. मन्ते छन्दकमिष्यते—क० ।
२. चतुरस्रश्च त्र्यश्रो वा नवाङ्गो युक्त एव च—क० ।
३. कृताश्चैव कलाः—ग० ।
४. अष्यङ्गा षोडशाङ्गा युग्मोजा वा–क० ।
५. युग्मौ यौ वा—ग० ।
६. इति युक्ता च कर्त्तव्या आन्तकी चैव पाणिका—ग० ।
७. त्र्यङ्गा वा परिकीर्तिता—क० ।
८. युग्मोजा वा प्रमाणतः—क० । ९. तस्य—ग० ।

इन अङ्गों से भिन्न या संयुक्त रूप वाले चतुरस्र या त्र्यस्र ताल के स्वरूप को मान्य किया गया है। सप्तरूप गीत के ताल की यही विधि है जो मैंने बतलायी है ॥ ३७५ ॥

चतुरस्रा तथा त्र्यस्रा ध्रुवा ज्ञेया प्रयोक्तृभिः।
तासां तालविधानन्तु षट्प्रमाणं समासतः ॥ ३७६ ॥

चतुरस्र और त्र्यस्र प्रकारों में ध्रुवाएँ भी जानी जाती है। इनके ताल का नियम संक्षेप में छः प्रकार का होता है ॥ ३७६ ॥

अड्डिता चोत्थिता चैव चतुरस्रा प्रमाणतः।
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च ज्ञेया चञ्चत्पुटा स्मृता ॥ ३७७ ॥

(इनमें) अड्डिता और उत्थिकता-ध्रुवा चतुरस्रा होती है जिनका चार सन्निपातों के द्वारा चञ्चत्पुट (ताल) में निर्माण होता है ॥ ३७७ ॥

सुप्रतिष्ठावसानानां सन्निपातेऽन्त इष्यते।
अपकृष्टा स्मृता त्र्यस्रा तथा चापपुटाश्रिता ॥ ३७८ ॥
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च युक्ता[1] पादान्तसंश्रितैः।
तथाकाशग्रहस्तासां तावच्चञ्चत्पुटः स्मृतः ॥ ३७९ ॥

सुप्रतिष्ठा तक समाप्त होने वाली इन ध्रुवाओं के अन्त में सन्निपात रखा जाता है। अपकृष्टा-ध्रुवा त्र्यस्रताल तथा चापपुट-ताल से निर्मित होती हैं। यह पाद के अन्त में विद्यमान चार सन्निपातों से युक्त होती है। इन सभी का आकाश ग्रह चञ्चत्पुट होता है ॥ ३७८-३७९ ॥

विलम्बिता च त्र्यस्रा च सा [2]एतदद्वितयान्विता।
निष्कामादिप्रयुक्तेन योज्या चापपुटेन तु ॥ ३८० ॥

विलम्बित (ध्रुवा) त्र्यस्र में होती है और वह इन दोनों से युक्त होती है। उसे निष्काम के साथ आरंभ होने वाले चञ्चत्पुट के साथ मिलाना चाहिए ॥ ३८० ॥

पादान्ते सन्निपातस्य द्विपादा युग्मसंज्ञिता।
चञ्चत्पुटेन संयोज्या द्विकलेन यथाविधि।
शीर्षकाणि च योज्यानि द्विविधं पञ्चपाणिना ॥ ३८१ ॥

पादान्त में होने वाले सन्निपात के युग्म पादों (दूसरे तथा चौथे पाद) को द्विकल चञ्चत्पुट (ताल) से युक्त करते हुए रखा जाए और (यहाँ—

१. युक्तो पादान्तमिश्रिते—ग०।
२. पादद्वितया—घ० (न०)।

शीर्षकों को पंचपाणि (चतुरस्र) ताल के साथ दो भिन्न प्रकारों (या पद्धतियों) में योजित किया जाए ॥ ३८१ ॥

चतुर्भिः सन्निपातैश्च सम्यक्पादान्तसंस्थितैः ।
पादान्तस्यान्ततालस्य[1] द्विमात्रान्तं प्रयोजयेत् ॥ ३८२ ॥

पादान्त में स्थित चारों सन्निपातों के साथ पाद के अन्त में स्थित ताल की दो मात्राएँ रखी जाए ॥ ३८२ ॥

मात्राद्वयन्तु काले तु झङ्कारैः[2] समतां नयेत् ।
किञ्चिद्विनातिरिक्तायां मात्राभिर्यत्र चेत् कला ॥ ३८३ ॥
स्यात् समत्वं नयेत्तां तु क्षयवृद्धया प्रयोगवित् ।
वर्णप्रकर्षेण च स्यात् तालानामपि वर्धनम् ॥ ३८४ ॥
स्याज्झङ्कारो नियुक्तानामक्षरे च कलान्तरम् ।
कलातालप्रमाणेन यत्स्याच्छुष्कक-कुट्टनम्[3] ॥ ३८५ ॥

इन दो मात्राओं के समय के बराबर झंकार की समानता (भी) रहनी चाहिए । और जब ध्रुवाओं में बिना किसी अतिरिक्त वृद्धि में कोई हो तो उसे नाट्य विशारद उसकी निर्दिष्ट मात्राओं के अनुसार बढ़ाए या घटाए और वर्णों की वृद्धि के साथ ताल के स्वरूप का भी संवर्द्धन किया जाए । निर्युक्त-गीत में एक विशिष्ट एवं नवीन कला को संयुक्त किया जाता है- जिसका नाम है झंकार । यही कला और ताल से सम्बन्ध रहने के कारण शुष्क कुट्टन भी कहलाती है ॥ ३८३-३८५ ॥

तथा ध्रुवाणां सर्वेषु कलातालौ प्रयोजयेत् ।
भङ्गतालश्च[4] कर्त्तव्यो नत्कुटानां यथाविधि ॥ ३८६ ॥
कलापातेन संयुक्तस्तालश्चश्चत्पुटो भवेत् ।
एष एव पुनस्त्र्यस्रः खञ्जके[5] ताल इष्यते ॥ ३८७ ॥

सभी ध्रुवाओं में तदुचित कला और ताल को प्रयुक्त करना चाहिए और नत्कुटकों की दशा में नियमतः खण्ड तालों की योजना की जाए[1] । यहाँ

१. यहाँ मूल से ३१।३८६ भङ्गताल पाठ उचित है । यहाँ 'अङ्गताल' पाठ भी अन्य कारणों से समर्थित किया जा सकता है ।

१. न्ततलः स्याद् द्विमात्रां तां—घ० (न०) । २. झङ्कारो—ग० ।
३. कुट्टनात्—ग० । ४. अङ्गतालश्च (?)—क (ड०)
५. खञ्जखेलेति चेष्यते—ग० ।

कला और पात से युक्त चञ्चत्पुट ताल रखा जाता है और खंजक ध्रुवा में यह ताल त्र्यस्र हो जाता है ॥ ३८६–३८७ ॥

पुनः प्रकृतयो ह्येष भङ्गस्त्वाक्रीडितो भवेत् ।
यान्यङ्गानि प्रयुक्तानि[1] ध्रुवास्वथ भवन्ति हि ॥ ३८८ ॥
तान्यष्टकलयोगेन[2] योजयेत् षट्कलेन वा ।
एवमेष[3] मया तालो ध्रुवाणां परिकीर्तितः ॥ ३८९ ॥

और इसका यह अङ्ग आक्रीड़ित कहलाता है । ध्रुवाओं में प्रयुक्त किये जाने वाले अंगों को आठ या छः कलाओं से निर्मित किया जाता है । इस प्रकार मैंने ध्रुवाओं के ताल का वर्णन किया ॥ ३८८–३८९ ॥

चतुष्पदा—

चतुष्पदावसाने तु सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ।
यद्देव्या[4] सुकुमाराढ्यं शृङ्गाररससंश्रयम्[5] ॥ ३९० ॥
नृत्तं[6] विकल्पितं तस्यताललक्षणमुच्यते ।

मैं इसके शेष लक्षणों को चतुष्पदा के विवरण के अन्त में (पुनः) बतलाऊँगा । यहाँ पर मैं उस नृत्त के ताल विधान को बतला रहा हूँ जो ललित या सुकुमार जातियों से आरम्भ होने वाला शृंगाररस से सम्बद्ध होता है और जिसका देवी पार्वती ने सर्जन किया है[1] ॥ ३९०–३९१ ॥

नारीप्रयोज्यं तज्ज्ञेयमाश्रितन्तु[7] चतुष्पदम् ॥ ३९१ ॥
त्र्यस्रा वा चतुरस्रा वा द्विविधा च चतुष्पदा ।

चतुष्पदा गीत को स्त्रियों के द्वारा प्रयुक्त (या प्रस्तुत) किया जाता है । इसके दो प्रकार है :—त्र्यस्र तथा चतुरस्र ॥ ३९१–३९२ ॥

एकस्या वा बहूनां द्वयोर्वा[8] वाक्ययोजनात् ॥ ३९२ ॥
तथा शृङ्गारभूयिष्ठा त्रिविधा स्याच्चतुष्पदा ।

---

१. कदाचित् इसी चतुष्पदा का कालिदास ने अपने माल० मित्र में संकेत किया है—शर्मिष्ठायाः कृतिर्लयमध्या चतुष्पदा । (मा० अ०–२–५) द्रष्टव्य-अभि० दर्प० भी । पृष्ठ I ।

---

१. ध्रुवासु स्यु—ग० ।
२. तानि अष्टकयोगेन—ग० । ३. एवमेव—ग० ।
४. यद्देव्य कुसुमावाद्यः (?)—ग० । ५. संश्रयः—ग० ।
६. वृत्तं—ग० । ७. न ज्ञेत—(?)—ग० ।
८. र्वाऽथ प्रयोजिता—क०

प्रवृत्तसंज्ञा विज्ञेया [1]स्थितसंज्ञाश्रया तथा ॥ ३९३ ॥
स्थितप्रवृत्तसंज्ञा[2] च त्रिविधा स्यात् पुनश्च सा ।

जो चतुष्पदा एक, दो या अनेक (पात्रों या) व्यक्तियों की वाक्ययोजना से सम्बद्ध होती है। इसी कारण इसके तीन प्रकार हो जाते है और यही शृङ्गाररस की प्रचुरता लिये हुए होती है। इसके पुनः तीन प्रकार और भी हो जाते है। यथा—स्थित, प्रवृत्त तथा स्थितप्रवृत्त ॥ ३९२–३९४ ॥

निष्कामश्चैव शम्या च तालशम्या तथैव च ॥ ३९४ ॥
तदोत्तमश्च[3] निष्कामः सन्निपातस्तथाऽन्तिमः ।
अष्टाविंशति[4] विकल्पा बुधैर्ज्ञेया चतुष्पदा ॥ ३९५ ॥
तस्या विकल्पान् वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

(इनका ताल क्रम इस प्रकार है :—) निष्काम, शम्या, ताल, शम्या और फिर निष्काम से बढ़कर सन्निपात पर समाप्ति। चतुष्पदा के अठ्ठाईस भेद होते है और अब मैं क्रमशः इन भेदों का वर्णन करूँगा ॥ ३९४–३९६ ॥

प्रवृत्ताख्या द्रुतलया स्थिताख्या च विलम्बिता ॥ ३९६ ॥
स्थितप्रवृत्तसंज्ञा च ज्ञेया मध्यलयाश्रिता[5] ।
ज्ञेयश्चश्चत्पुटस्तस्य तथा [6]चापपुटः पुनः ॥ ३९७ ॥
द्विकलेन विधानेन तस्य पातविधिः स्मृता ।

प्रवृत्त नामक चतुष्पदा को द्रुतलय में, स्थित नामक चतुष्पदा को विलम्बित लय में तथा स्थितप्रवृत्त नामक चतुष्पदा को मध्यलय में रखा जाता है। इनमें ताल चच्चत्पुट या फिर चाचपुट रखा जाता है और इनके पात द्विकल (या दुगुन कलाओं से युक्त) होते है ॥ ३९६–३९८ ॥

बह्वक्षरा च विपुला मागधी चार्धमागधी ॥ ३९८ ॥
समाक्षरपदा चैव तथा च विषमाक्षरा ।
आद्यन्त्यापहरणा[7] विज्ञेया चाप्यनीकिनी ॥ ३९९ ॥
अवसानापहरणा अन्तापहरणा तथा ।
अभ्यन्तरापहरणा तथा चैवार्धनत्कुटा ॥ ४०० ॥

---

१. तथा च स्थितसंश्रया—ग० ।
२. प्रवृत्तिसंज्ञा—ग० ।
३. ततोत्तम—ग० । ४. अष्टाविंशतिकल्पा तु—ग० ।
५. मध्यलया तथा—क० । ६. चापविधि—(?) स्त्वयम्—ग० ।
७. तस्यात्यन्तापहरणा—ग० ।

अर्धखञ्जा च मिश्रा च तथा चैवाथ[1] शीर्षका ।
एकावसाना विज्ञेया तथा च नियताक्षरा ॥ ४०१ ॥
अर्धप्रवृत्ता[2] एतासां लक्षणं श्रूयतामिदम् ।

चतुष्पदा के ये प्रकार है :—बह्वक्षरा, विपुला, मागधी, अर्द्धमागधी, समाक्षरपदा, विषमाक्षरा, आद्यन्त्यापहरणा, अनीकिनी, अवसानापहरणा, अभ्यन्तरापहरणा, अर्द्धनत्कुटा, अर्द्धखंजा, मिश्रा, शीर्षका, एकावसाना, नियताक्षरा तथा अर्द्धप्रवृत्ता । अब मैं क्रमशः इनके लक्षण बतलाता हूँ ॥

बह्वक्षरा—

व्यक्तवाक् या लघुप्राया लघ्वक्षरसमन्विता ॥ ४०२ ॥
द्रुतवाक्या द्रुतलया ज्ञेया बह्वक्षरेति सा ।

वह गीत जिसकी सुस्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्ति होती हो, जो लघुवर्णों से ग्रथित और लघु मात्राओं से युक्त हो, जिसमें वाक्यों का उच्चारण शीघ्रता से किया जाता हो एवं जो द्रुतलय में रहे तो उसे 'बह्वक्षरा' (चतुष्पदा) समझना चाहिए ॥ ४०२-४०३ ॥

विपुला :—

गुरुप्लुताक्षरप्राया स्वल्पवाक्या यदा तथा ॥ ४०३ ॥
त्रिलया विपुलाख्या[3] च सुकुमारविधौ स्मृता ।

वह गीत जिसको गुरु तथा प्लुत वर्णों से ग्रथित किया गया हो, जिसमें छोटे शब्द और वाक्य रखे गये हों तथा जिसमें तीनों लय का कुशलता से प्रयोग कर सुकुमार विधि (के नृत्यों) से सम्बन्ध रखा जाता हो तो उसे विपुला (चतुष्पदा) समझना चाहिये ॥ ४०३-४०४ ॥

मागधी—

त्रिलया त्रियतिश्चैव त्रिप्रकाराक्षरान्विता ॥ ४०४ ॥
एकविंशतिताला च मागधी सम्प्रकीर्तिता ।

वह गीत जिसमें तीनों लय, त्रिविध यति, तीनों प्रकार (लघु, गुरु तथा प्लुत) के वर्णों की समान प्रमाण में योजना की गयी हो तथा जिसमें इक्कीस कलाओं की ताल रहे तो उसे मागधी समझना चाहिए ॥ ४०४-४०५ ॥

---

१. चैवान्तगीर्वका—ग० । २. प्रवृत्ते—ग० ।
३. पृथुलाख्य च—ग० ।

अर्द्धमागधी :—

गुरुलघ्वक्षरकृता द्रुतमध्यलयान्विता ॥ ४०५ ॥
मागध्येवार्धतालेन[1] युक्ता स्यादर्धमागधी ।

वह गीत जिसमें केवल गुरु तथा लघु वर्ण हों, जिसमें द्रुत तथा मध्य लय हो और मागधी में रहने वाली कलाओं से आधी कलाओं से युक्त ताल प्रमाण रहे तो यही अर्द्धमागधी हो जाती है ॥ ४०५–४०६ ॥

समाक्षर-पदा—

गुरुलाघवमात्राभिः पदवर्णैस्तथैव च ॥ ४०६ ॥
लयतालैः समैश्चैव समाक्षरपदा स्मृता ।

वह गीत जिसमें लघु और गुरु वर्णों की संख्या तथा मात्राओं की (अपने पादों में) समानता रहती हो, जिसके पाद, वर्ण, लय तथा ताल समान रूप से नियमित हों तो उसे समाक्षर-पदा समझना चाहिए ॥

विषमाक्षरा—

अक्षरैर्विषमायान्तु मात्रापादैस्तथैव च ॥ ४०७ ॥
लयतालैरनियमा सा ज्ञेया विषमाक्षरा ।

वह गीत जिसमें वर्ण और मात्राओं की (अपने पादों में) विषभ संख्या रहे, जिसके पादों की संख्या भी विषम हो, जिसमें लय, ताल का व्यवस्थित नियम न हो तो उसे विषमाक्षरा (या विषमाक्षर-पदा) समझना चाहिए ।

अन्त्यापहरणा :—

यः[2] स्यात्त्वन्त्यः सन्निपातः सानुस्वारोऽन्त्य इष्यते ॥ ४०८ ॥
आद्यान्त्यापहरणा[3] च सानुस्वारकृता तथा ।

वह गीत जिसके अन्त में सन्निपात तथा अनुस्वार हो तो इन दोनों के संयोग से निर्मित होने के कारण उसे 'अन्त्यापहरणा' समझना चाहिए ॥

अनीकिनी :—

मध्याद्यन्तैः सन्निपातैरनुस्वारकृताक्षरैः ॥ ४०९ ॥
शेषैरनियता पादैर्विज्ञेया सा त्वनीकिनी ।

---

१. ताले च—ग० ।

२. स्थात्त्वन्यः सन्निपातश्च—ग० ।

३. समाद्यन्तापहरणा च—ग० ।

वह गीत जिसके मध्य, आदि तथा अन्त में अनुस्वार से युक्त अक्षर रहें और जिसके शेष पाद में इस प्रकार का कोई नियम (या प्रतिबन्ध) न रहे तो उसे अनीकिनी समझना चाहिए ॥ ४०९-४१० ॥

अवसानापहरणा :—

अवसानापहरणा नित्यं ज्ञेयाऽमिताक्षरा ॥ ४१० ॥

वह गीत जिसके पादों में अक्षरों की संख्या नियत न हो तो उसे 'अवसानापहरणा' समझना चाहिए ॥ ४१० ॥

अन्तापहरणा :—

अनुस्वारद्रुता चैवमन्तापहरणा स्मृता ।

वह गीत जिसमें अनुस्वार के साथ द्रुत लय का विधान हो तो उसे अन्तापहरणा समझना चाहिए ॥ ४११ ॥

अभ्यन्तरापहरणा :—

द्वितीया सन्निपातेन मध्येऽक्षरसमन्विता ॥ ४११ ॥
अभ्यन्तरापहरणा सानुस्वारेव सा स्मृता ।

वह गीत जिसकी दूसरी कला सन्निपात में रहती हो, जिसके मध्यभाग में अक्षरों का निवेश हो और जो अनुस्वार से युक्त हो तो अभ्यन्तरापहरणा समझना चाहिए ॥ ४११-४१२ ॥

अर्द्धनत्कुटा तथा अर्द्धखंजा—

अर्धेन भिद्यते या तु विज्ञेया सार्धनत्कुटा ॥ ४१२ ॥
त्र्यस्रा ह्यनेन विधिना ह्यर्धखञ्जेव कीर्त्यते ।

वह गीत जिसका आधे भाग में विभाजन हो तो उसे अर्द्धनत्कुटा तथा जो इसी विधि से होकर त्र्यस्र ताल के अनुसार रखा जाए तो उसे अर्द्धखंजा ही समझना चाहिए ॥ ४१२-४१३ ॥

मिश्रा :—

खञ्जनत्कुटनाभ्यां तु मिश्रभावो यदा भवेत् ॥ ४१३ ॥
त्र्यस्रा वा चतुरस्रा वा तदा[1] मिश्रेव कीर्त्यते ।

जब किसी गीत में खंज और नत्कुटक का मिश्रण हो गया हो और जो त्र्यस्र या चतुरस्र ताल में गाया जाता हो तो उसे मिश्रा समझना चाहिए ॥

१. तद मिश्रेव—ग० ।

शीर्षका :—

उपक्षेपेण यस्यास्तु स एवार्धः समाप्यते ॥ ४१४ ॥
शीर्षकं सा तु विज्ञेया शीर्षकेण[1] विभूषिता ।

वह गीत जिसका अर्धभाग अकस्मात (आरंभ और) पूर्ण हो जाता हो तथा जो शीर्षक से युक्त हो तो उसे 'शीर्षका' समझना चाहिए ॥४१४॥

एकावसाना :—

एकपादावसानस्तु यस्य स्यादर्धवर्णतः ॥ ४१५ ॥
एकावसाना[2] विबुधैः सा ज्ञेया तु चतुष्पदा ।
पूर्वपादेन तस्य स्यात् सर्वत्र गुरुलाघवम् ।

वह चपुष्पदा गीत जिसका एक पाद अर्ध (मात्रा के) वर्णों के द्वारा पूरा किया गया हो तो एकावसाना कहलाता है। इसके पूर्वपाद में गुरु और लघु वर्ण रहते हैं ॥ ४१५–४१६ ॥

नियताक्षरा :—

पादे पादे तु विज्ञेया शीर्षकेण विभूषिता ॥ ४१६ ॥
एकपादावसाने[3] च सा ज्ञेया नियताक्षरा ।

जो एकावसाना गीत अपने प्रत्येक पाद में एक शीर्षक से युक्त (या पूर्ण) होता है तो उसे नियताक्षरा कहते हैं ॥ ४१६-४१७ ॥

अर्द्धप्रवृत्ता :—

यस्या स्थितं[4] प्रवृत्तं वा भवत्यर्धनिवेशितम् ॥ ४१७ ॥
अर्धप्रवृत्ता सा तु स्यादुभाभ्यामपि वा कृता ।
निष्क्रामश्चैव शम्या च तालः शम्या तथैव च ॥ ४१८ ॥
आवापः सन्निपातश्च षडस्या ग्राहकाः स्मृताः ।

वह गीत जिसके आधे आधे भाग में स्थित और प्रवृत्ति को रखा जाए तो इन दोनों से निर्मित होने के कारण इसे अर्द्धप्रवृत्त समझना चाहिए।

इस (चतुष्पदा) की ताल इस प्रकार होती है :—

निष्क्राम, शम्या, ताल, शम्या, आवाप तथा सन्निपात। ये छः इसके ग्राहक माने गये हैं ॥ ४१७–४१९ ॥

१. शीर्षितेन—ग० । २. एकावसाने—घ० ।
३. पादे वसाने—ग० । ४. स्थितप्रवृत्तं—ग० ।

उपोहनन्तु त्रिविधं सुकुमारे प्रकीर्तितम् ॥ ४१९ ॥
द्व्यवरं त्रिपरं[1] तस्य कलाभिः प्रत्युपोहनम् ।
द्विकलाख्यं[2] चान्तकलं सन्निपातपरं स्मृतम् ॥ ४२० ॥

सुकुमार (नृत्त के) प्रकार में तीन प्रकार की उपोहन क्रिया होती है और प्रत्युपोहन भी कम से कम दो कलाओं तथा अधिकतम तीन कलाओं का होता है। इसकी अन्तिम कला द्विकल होती है तथा अन्त में सन्निपात से समाप्ति होती है ॥ ४१९–४२० ॥

सन्निपातापहरणा आदौ मध्येऽन्ततोऽपि वा ।
वाक्यद्वयाभिनिष्पन्ना नानावाक्यापि सा स्मृता ॥ ४२१ ॥

इस गीत के मध्य तथा अन्तिम भाग में सन्निपात प्रहरण रहता है और यह दो या अधिक वाक्यों में पूर्ण किया जाता ह ॥ ४२१ ॥

एकपादा द्विपादा वा त्रिपादा च प्रकीर्त्यते ।
चतुष्पदापि वा भूत्वा नातः परमिहेष्यते ॥ ४२२ ॥

यह एक पाद, दो पाद, त्रिपाद या चतुष्पाद से निर्मित होती है। इसमें इससे अधिक पाद नहीं होते हैं ॥ ४२२ ॥

कृत्वा तु पादबहुलां न शोभां जनयिष्यति ।
वर्णस्य प्रकृतिं[3] ह्यन्यदङ्गव्यक्तिं निरस्यति ॥ ४२३ ॥

यदि इसे अधिक पादों का बनाया जाता है तो शोभा का हनन होता है, वर्णों के स्वरूप (और अभिव्यक्ति) में कमी आ जाती है तथा यह अङ्गों की अभिव्यक्ति को भी घटा देती है ॥ ४२३ ॥

तस्मात् स्थिता स्याद् द्विपदा एकेनैव[4] पदा स्मृता[5] ।
चतुष्पदा प्रवृत्ता तु सम्यक् प्रोक्ता प्रयोक्तृभिः ॥ ४२४ ॥

अतएव स्थिता को सदा दो पादों से या एक ही पाद से निर्मित करना चाहिए तथा प्रवृत्ता को चतुष्पदा रखना चाहिए ॥ ४२४ ॥

तत्रैकरूपैकपदा सा हि पादपता[6] स्मृता ।
द्वत्रिंशत्परमा सा हि सन्निपातपदा भवेत् ॥ ४२५ ॥

---

१. त्र्यवरं—ग० । २. विकलाख्यं—ग० ।
३. प्रकृतिर्ह्यन्यद्रङ्गव्यक्तिर्हि—ग० । ४. ह्येकेनैव—ग० ।
५. स्थिता—घ० । ६. पादपाता—घ० ।

इनमें पाद-पात का एक ही स्वरूप होता है और एक ही पाद की रचना की जाती है, इसकी अधिकतम बत्तीस कलाएँ होती हैं और इसके पाद में सन्निपात रहता है ॥ ४२५ ॥

आभ्यां मध्यप्रमाणे[1] तु त्रिपादः परिकीर्त्यते ।
सन्निपात-प्रमाणेन ज्ञेयो मध्यलयस्तथा ॥ ४२६ ॥

इसके मध्य-प्रमाण के स्वरूप में त्रिपाद (भी) रखा जाता है और सन्निपात के प्रमाणानुसार इसका मध्यलय माना जाता है ॥ ४२६ ॥

लास्य :—

लास्यमित्येव यत् पूर्वं मया वः परिकीर्तितम् ।
लक्षणं तस्य वक्ष्यामि प्रयोगञ्च यथाक्रमम् ॥ ४२७ ॥

मैंने पूर्व में जिस लास्य का उल्लेख किया था, अब मैं यथाक्रम उसका लक्षण और प्रयोग बतलाता हूँ ॥ ४२७ ॥

लासनाल्लास्यमित्युक्तं स्त्री-पुम्भावसमाश्रयम् ।
भाणवच्चैकहार्यं स्यादूहवस्तु च तद्भवेत् ॥ ४२८ ॥

इसे लास्य कहने का कारण है इसका सुशोभित या दीप्तरूप वाला रहना । यह स्त्री तथा पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का आश्रय होता है और भाण के समान यह एक पात्र के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है । और इसका कोई भी उपयुक्त विषय रखा जा सकता है ॥ ४२८ ॥

एकार्थं पृथगर्थं वा तदङ्गेषु प्रकीर्तितम् ।
अङ्गानि दश चैवाऽस्य तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ४२९ ॥

इसकी विषय वस्तु किसी एक या अनेक अर्थ को लेकर रखी जाती है, और यह इसके विभिन्न प्रकारों से सम्बद्ध करते हुए रखी गयी होती है । इसके दस अङ्ग होते हैं जिसका मैं अब लक्षण बतलाता हूँ ॥ ४२९ ॥

लास्यांग :—

गेयपदं[2] स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका[3] ।
प्रच्छेदक[4] स्त्रिमूढश्च सैन्धवाख्यं द्विमूढकम्[5] ॥ ४३० ॥
उत्तमोत्तमकश्चैव विचित्रपदमेव च ।

---

१. आभ्यामृद्धप्रमाणे—ग० ।
२. गेयपादं स्थितं वाद्यं—ग० । ३. गन्धिका—ग० ।
४. दकास्त्रिमूर्धश्च—ग० । ५. द्विमूर्धकम्—ग० ।

उक्तप्रत्युक्तभावश्च लास्यङ्गानि प्रकीर्तिताः ॥ ४३१ ॥
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देश लक्षणम् ।

इन लास्यांगों का नाम हैं :—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन, (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिमूढक, (७) सैन्धवक, (८) द्विमूढ । (९) उत्तमोत्तमक, (१०) विचित्रपद, (११) उक्तप्रत्युक्तक तथा (१२) भावित (भाव) ॥ ४३०-४३२ ॥

आसीनपाठ्यं[5] योज्यं स्यात् प्रयत्नादासनस्थया ॥ ४३२ ॥
स्थितपाठ्य[6] पुनश्चैव भौमीचारीभिरन्वितम् ।
नृत्तकाले च वाद्ये च ग्रहमोक्षे तथैव च ॥ ४३३ ॥
गीताङ्गानां विधिर्यः स्यात् स लास्ये[7] प्रायशः स्मृताः ।

आसीन (या आसीन-पाठ्य) नामक अङ्ग की प्रयत्न पूर्वक आसन पर बैठ कर योजना करना चाहिए तथा स्थितपाठ्य को भौमी चारियों से युक्त करते हुए रखना चाहिए । इसे नृत्त, वाद्यवादन तथा गीत के आरंभ और समाप्ति (ग्रहमोक्षे) के अवसर पर किया जाता है । जो नियम सामान्यतः नृत्त आदि के लिये तथा वाद्यवादन के लिये ठीक से बतलाये गये हैं वे (ही) लास्य के लिये भी प्रायः उपयोग में लाये जाते हैं ॥ ४३२-४३४ ॥

अङ्गान्येतानि लास्ये स्युर्दशोक्तानि समासतः ॥ ४३४ ॥
एतेषाञ्चैव वक्ष्यामि प्रयोगं लक्षणन्तथा ।

यहाँ लास्य के ये दस अंग मैंने संक्षेप में बतलाए । अब मैं इनकी प्रयोग विधि और लक्षण बतलाता हूँ ॥ ४३४-४३५ ॥

गेयपद—

[तत्र गेयपदं तावत् प्रथमं परिकीर्त्यते[1] ।]
स्थापिते भाण्डविन्यासे पटे चैवापकर्षिते[2] ॥ ४३५ ॥
ब्रह्मणः[3] पुष्पवर्षे तु चासने परिकल्पिते ।
मार्जितेषु मृदङ्गेषु प्रयुक्ते च त्रिसाम्नि तु ॥ ४३६ ॥
प्राक्[4] शुष्कासारितं कार्यं तत् त्रिवेणुप्रयोजितम् ।

---

५. काव्यं—ग०, घ० । ६. स्थितवाद्यञ्च भौमीभियुतम्—ग० ।
७. लासो—ग० ।
१. पद्यार्धमेतत् क—पुस्तके एव । २. चैवा पसारिते—क० ।
३. ब्रह्मणस्त्रिषु पार्श्वेषु चासने सम्प्रकल्पिते—क० ।
४. मार्गासारितकं कुर्यात् तन्त्रीवेणुविभूषितम्—क० ।

मार्गासारिततालेन[1] ततश्चासारितं बुधैः ॥ ४३७ ॥

जब वाद्यों को अपने निश्चित स्थान पर उचित क्रम में रख दिया गया हो और यवनिका को हटाया जा चुका हो, फिर विधिवत् ब्रह्मा के लिये पुष्पाञ्जलि अर्पित की जा चुकी हो और वाद्यवादकों के द्वारा अपने निर्द्धारित प्रदेश पर अपने आसनों पर बैठा जा चुका हो, मृदंगों की मार्जना-विधि हो चुकी हो तथा त्रिसाम का गान हो चुका हो तो नाट्यप्रयोग में दत्तजन को तीन वेणुओं के वादन के साथ होने वाले शुष्क-आसारित को प्रस्तुत करना चाहिए तथा तब मार्गासारित की निर्धारित-ताल में आसारित को प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ४३५-४३७ ॥

[2]परिवृत्तैस्त्रिभिर्युक्तमतश्चोपोहनं भवेत् ।
त्र्यस्रेण द्विकलेन[3] स्यात् ततश्च परिधानकम्[4] ॥ ४३८ ॥
प्रयोक्तव्यं प्रयोगज्ञैः परिवर्तात्मकं[5] तथा ।
परिवर्ते[6] तथैवास्य पुंवाक्यं प्राक् समाचरेत्[7] । ४३९ ॥
त्रिवाक्यः[8] पुरुषोऽत्र स्याच्चतुर्वाक्याऽङ्गना स्मृता ।
कार्यं[9] तथा निर्वहणं प्राप्त्यर्थं परिधानके ॥ ४४० ॥
इत्येतत् प्रथमं त्वङ्गं लास्ये गेयपदं स्मृतम् ।

और तब त्र्यस्र ताल में द्विकल-उपोहन को तथा इसके बाद तीन परिवर्त को किया जाता है। यह (पूर्वरंग के) अंगों से सम्बद्ध विधान (किया जाता) है। इसके बाद चतुरजन परिवृत्ति के साथ इसके परिधानक को प्रस्तुत करें।

परिवर्त के समय सर्वप्रथम पुरुषपात्र एक वाक्य का उच्चारण करता है। तीन वाक्यों का एक संकलित रूप पुरुष और चार वाक्यों का संकलित रूप अंगना कहलाता है। यह निर्वहण में परिधानक को प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत किया जाता है। लास्य के इसी प्रथम-अंग को 'गेयपद' कहा जाता है ॥ ४३८-४४१ ॥

---

१. भाण्डवाद्येन संयुक्तं तत—क० ।
२. परिवृत्तैस्त्रिभि—ग० । ३. विकलेन—ग० ।
४. परिधावनम्—क० । ५. परिवर्तनमेव च—क० ।
६. परिवर्तनके चैव—क० । ७. प्रयोजयेत्—क० ।
८. पुरुषोऽत्र त्रिवाक्यः स्याच्चतु—क० ।
९. कार्यं तथावसनञ्च प्रत्यर्थं—क० ।

स्थितपाठ्य—

स्थितपाठ्यस्य वक्ष्यामि विधानञ्चाप्यतः परम् ॥ ४४१ ॥
वृत्तमेकमथ[1] द्वे वा योजयेत् पञ्चपाणिना ।
अतः[2] परञ्च द्वे भूयः खञ्जके सम्प्रयोजयेत् ॥ ४४२ ॥
चञ्चत्पुटेन कर्त्तव्या द्विकलेन ततः परम् ।
यथाक्षरेण चायुक्ता सन्निपातैस्तथाऽष्टभिः ॥ ४४३ ॥
अवसाने[3] तु योक्तव्यं त्वरितं पञ्चपाणिना ।
द्विकलेनेति कर्त्तव्यं[4] स्थितपाठ्यं प्रयोक्तृभिः ॥ ४४४ ॥

अब मैं स्थितपाठ्य का विधान बतलाता हूँ। इसमें एक या दो वृत्त को पंचपाणि ताल में गाया जाता है और दो खंजकों को दो कला के चञ्चत्पुट ताल में प्रस्तुत किया जाता है। यह ताल यथाक्षर स्वरूप (या वर्ग) की होती है, जिसमें आठ सन्निपात रखे जाते हैं और इसकी समाप्ति द्विकल चञ्चत्पुट में द्रुतलय में होती है ॥ ४४१-४४४ ॥

आसीनपाठ्य—

उपोह्य तालं त्र्यस्रञ्च[5] वृहत्पादपदैः[6] समैः ।
आसीनपाठ्यं[7] युञ्जीत सर्वैर्भावैस्तु पौरुषैः ॥ ४४५ ॥

त्र्यस्र ताल को लेकर आसीनपाठ्य को उचित रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिसमें एक गीत सम और लम्बे पादों वाला रहता है और जिसमें सभी पौरुषभावों को अभिव्यक्त किया जाता है ॥ ४४५ ॥

गेयं[8] चतुर्भिः पादैस्तु समैरर्थवशानुगैः ।
आसीनपाठ्यं कर्त्तव्यं विधिवत् पञ्चपाणिना ॥ ४४६ ॥

इस प्रकार आसीनपाठ्य को चार पादों वाले गीत में रखा जाता है जिसमें एक पंचपाणिताल में गाये गये गीत के भावों को अभिव्यक्त किया जाता है ॥ ४४६ ॥

---

१. वृत्तमेकप्रथमे द्वे—ख० ।
२. ततः परं ते भूयोऽपि युग्मतालेन वा स्मृते—क०, ख० ।
३. अवसानञ्च कर्त्तव्यं त्वरितं—क० ।
४. विज्ञेयं—क०, योक्तव्यं स्थितवाद्यप्रयोक्तृभिः—ग० ।
५. त्र्यस्रं वा—ख० । ६. त्र्यस्रन्तु बृहद्वृत्तसमैस्तथा—क०; वृत्या तैस्तैः समैस्तथा—ख०; बृहत्पातैः—क(च०) ।
७. आसीमवाद्यं—ग० । ८. एवं—ख० ।

आसीनपाठ्ये कर्त्तव्यः प्रयोगः शीर्षकस्य तु ।
अष्टभिः सन्निपातैश्च युक्तस्तालादिनैव तु ॥ ४४७ ॥

आसीनपाठ्य में आठ सन्निपात और तालों से युक्त शीर्षक का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४४७ ॥

यथाक्षरप्रवृत्तेन विधिवत् पञ्चपाणिना ।
द्वितीयपरिवर्तस्य सन्निपाते तथाष्टमे ॥ ४४८ ॥
अतीते[1] युग्मतालेन श्लोकः कार्यः ततः[2] परम् ।
आसीनपाठ्ये[3] यद् वाद्यमवनद्धकृतं भवेत् ॥ ४४९ ॥
आसीने गात्र[4] सञ्चारैस्तत्र साम्यं प्रयोजयेत् ।

और इसे यथाक्षर पंचपाणि-ताल में विधिवत् प्रयुक्त करना चाहिए। इसके दूसरे परिवर्त में जब आठवाँ सन्निपात पूर्ण हो जाए तो फिर चतुरस्र (युग्म) ताल में एक श्लोक (या पद) का गान किया जाए। आसीनपाठ्य में जो वाद्यवादन किया जाए उसमें इसी में होने वाली शरीर के अवयवों की हलचल के द्वारा समता स्थापित की जाए ॥ ४४८–४५० ॥

अष्टादश[5] द्वादश वा पदानि च ततः पुनः[6] ॥ ४५० ॥
कुर्यादुत्तरतालेन ततो निर्वहणं बुधैः[7] ।
एतदासीनपाठ्यस्य[8] विधानं परिकीर्तितम् ॥ ४५१ ॥

तब अठारह या बारह पदों का गान किया जाए और निर्वहण को उत्तरताल में सम्पादित करे। आसीन पाठ्य की यही विधि है जिसे यहाँ बतलाता गया है ॥ ४५०–४५१ ॥

पुष्प-गण्डिका :—

विचित्रवृत्तसंयुक्तं पुँस्त्रियोर्गतिचेष्टितैः ।
अन्योन्यान्तरिते नित्यं[9] गीतवाद्येन भूषितम् ॥ ४५२ ॥
पादे[10] पादेऽङ्गहारैश्च वाद्येन च समन्वितम् ।
स्यात् पुष्पगण्डिका नाम यदङ्गं तन्निबोधत ॥ ४५३ ॥

---

१. अतीतयुग्म—ख०, ग० । २. स्तथावरः—क० ।
३. आसीनवाद्ये—ग० । ४. गोत्रसञ्चारै—ग० ।
५. अष्टौ दश—क० । ६. परम्—क० ।
७. पुनः—क०, बुधैः—घ० । ८. वाद्यस्य—ग० ।
९. नित्यगीत—ग० । १०. पदे पदे—ख० ।

अब मैं लास्य के पुष्पगण्डिका नामक अंग को कहता हूँ जो विभिन्न प्रकार के छन्दों से निर्मित (या युक्त) होता है, जिसमें गीत तथा वाद्यवादन एक के बाद दूसरे को (वैकल्पिक रूप से) रखा जाता है और गीत के प्रत्येक पाद के गायन के समय इसमें तदनुकूल अङ्गहारों का प्रदर्शन और वाद्यवादन किया जाता है ॥ ४५२-४५३ ॥

तत्रैकं पौरुषं श्लोकं समावृत्तं प्रयोजयेत् ।
चतुर्भिः सन्निपातैश्च ज्ञेयं चञ्चत्पुटाश्रयम् ॥ ४५४ ॥
पादे पादे तथेष्टश्च[1] वाद्यं नृत्तं तथैव च ।

तब वहाँ एक गीत का पुरुष पात्र गायन करता है जो समवृत्त छन्द में होता है । (और) इस गायन के समय प्रत्येक पाद में यथेष्ट या उपयुक्त नृत्त को तथा चार सन्निपातों से युक्त चञ्चत्पुट ताल को वाद्यवादन के साथ रखते हैं ॥ ४५४-४५५ ॥

ततश्चान्ये[2] स्मृते वृत्ते खञ्जनत्कुटसंज्ञिते ॥ ४५५ ॥
अन्ते निर्वहणे[3] चास्य शीर्षकं पञ्चपाणिना ।
आविद्धचार्यङ्गहारैरुद्धतैस्तत[4] प्रयोजयेत् ॥ ४५६ ॥

(और) तब खंजनत्कुटक जाति के छन्दों में दो गीतों का गायन किया जाए और उनके निर्वहण (समाप्ति) पर पञ्चपाणिताल में शीर्षक को प्रयुक्त करना चाहिए तथा इसमें होने वाले नृत्य को आविद्धचारी के साथ उद्धत अंगहारों के द्वारा रखना चाहिए ॥ ४५५-४५६ ॥

प्रच्छेदक :—

ऽयङ्गं द्विधातु[5] प्रच्छेदं विद्याल्लास्यप्रयोगवित् ।
ज्योत्स्नायां मन्दिरे[6] वाऽपि सलिले दर्पणेऽथवा ॥ ४५७ ॥
छायां[7] सन्दृश्य कान्तस्य प्रहर्षणविभूषितम्[8] ।
नृत्तप्रधानं[9] क्रीडाढ्यं हेलादिभिरलङ्कृतम् ॥ ४५८ ॥
अङ्गं[10] प्रच्छेदकं तत्र विद्याल्लास्यप्रयोगवित ।

---

१. तु तस्येष्टं—क० ।
२. अतश्चान्ये—क० । ३. निर्वहणं चास्याः—क० ।
४. स्तत्र योजयेत्—क० । ५. प्रच्छेदकं तत्र विद्या—क० ।
६. मदिरायां—क०; मन्दिरायां—ख० । ७. छायासदृशकान्तस्य-ख० ।
८. प्रहृष्याथ—क० ।
९. नृत्तं प्रसादक्रीडार्थं—क०; नृत्तं प्रसादक्रीडायां—ख०;…क्रीडा घं—क० (च) । १०. अङ्गप्रस्वेदकं तत्राविन्द्या—ख० ।

लास्य प्रयोग के विशेषज्ञ उसे प्रच्छेदक कहते हैं जो तीन अङ्गों और दो धातुओं से निर्मित होता है और तब लास्य का विषय किसी नायिका के द्वारा अपने प्रिय के मुख की शोभा का चाँदनी रात में अवलोकन करते हुए हर्षविभोर होना होता है या किसी मन्दिर अथवा दर्पण में (प्रिय की) छबि का अवलोकन होता है तो उसे प्रच्छेदक नामक अङ्ग समझ लेना चाहिए। इसमें नृत्त की प्रमुखता होती है, क्रीडा (की पूर्णता) रखी जाती है और हेला आदि विविध भावभंगियों की योजना की जाती है ॥ ४५७-४५९ ॥

चञ्चत्पुटस्य तालेन[1] तस्या प्रक्रीडितं भवेत्[2] ॥ ४५९ ॥
मात्रावृत्तसमैः पादैः सन्निपातैस्तथाष्टभिः ।
बह्वक्षरार्थसंयुक्तं[4] तोटकं पञ्चपाणिना ॥ ४६० ॥
द्विकलेन प्रकर्त्तव्यं मिश्रेणैककलेन वा ।
शीर्षकञ्च[5] प्रकर्त्तव्यं गुरुप्रायाक्षरान्वितम् ॥ ४६१ ॥
यथाक्षरेण त्र्यस्रेण सन्निपातैस्तथाष्टभिः ।
विवधैककसंयुक्तं कैशिकीजातिसंश्रयम्[6] ॥ ४६२ ॥
अङ्गं[7] प्रच्छेदकं विद्याद् युक्तं प्रक्रीडितादिभिः ।

इसमें रहने वाली क्रीडा में चञ्चत्पुट ताल के साथ एक ऐसे गीत को रखा जाए जो समपाद और मात्रिक छन्द में हो और आठ सन्निपात से युक्त हो अथवा इसमें तोटक छन्द में एक गीत हो जिसमें अनेक वर्ण तथा अर्थों का समावेश हो तथा जो पञ्चपाणि ताल के द्विकल, एककल या एक दूसरे से मिश्र किसी एक प्रकार से युक्त हो। इसका शीर्षक अधिकांश गुरु वर्णों से निर्मित होता है और यह त्र्यस्र ताल के यथाक्षर प्रकार में आठ सन्निपातों को रखकर प्रस्तुत किया जाता है।

इसमें क्रीडा को जिन गीतों के साथ रखा जाता है उनमें विवध या एकक का सम्मिश्रण होता है और ये कैशिकी-जाति से सम्बद्ध रहते हैं। इन कथित लक्षणों से युक्त लास्यांग को प्रच्छेदक समझना चाहिए ॥४५९-४६३॥

त्रिमूढ़क :—

अनिष्ठुरश्लक्ष्णपादं गान्धारीजातिमाश्रितम् ॥ ४६३ ॥

१. भेदेन—ग० । २. स्मृतम्—ग० ।
४. श्लोकबन्धो भवेदथ—क०, ख० । ४. बह्वक्षराभिः संयुक्तं—ग० ।
५. नाराचकं—क०, प्ररोचकं—ख० । ६. जातिमाश्रितम्—क० ।
७. त्र्यङ्गविच्छेदकं—क०, ख० ।

चञ्चत्पुटेन योक्तव्यं त्रिमूढं द्विकलेन तु।
चतुःषष्टिः सन्निपातास्तस्मिंश्चैव प्रकीर्तिताः ॥ ४६४ ॥
यथामार्गकलोपेता विदारीविवधान्विताः[1]।
अङ्गहारान्[2] सविष्कम्भान् नैव चात्र प्रयोजयेत् ॥ ४६५ ॥
केवलं पौरुषैर्भावैः पाठ्यं[3] नात्ययुतं नयेत्।
नत्कुटं खञ्जकञ्चैव विधानेन[4] प्रयोजयेत् ॥ ४६६ ॥
इति त्रिमूढमुद्दिष्टं नानारससमाश्रयम्।

त्रिमूढ़क नामक लास्यांग में कोमल वर्ण तथा स्नेह भाव से पूर्ण पदावली होती है जो गान्धारी जाति में पायी जाती है तथा जिसे द्विकल चञ्चत्पुटक ताल में रखा जाता है। (इस प्रकार) इसमें चौंसठ सन्निपात रखे जाते हैं जो (उपयुक्त या) यथोचित मार्ग के साथ कलाओं को उचित संख्या में रखते हुए तथा विदारियों और विवध को संयुक्त करते हुए होते हैं परन्तु इसमें किसी अङ्गहार या विष्कम्भक को नहीं रखा जाता है। यहाँ वाद्यवादन के साथ पौरुषभावों के संवादों के अभिनवमात्र का निर्वाह होता है और इस विधान (के अन्त) में नत्कुटक और खञ्जक का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अनेक रसों से युक्त (यह) 'त्रिमूढ़क' होता है, जिसका मैंने यहाँ वर्णन किया है ॥ ४६३-४६७ ॥

सैन्धवक :—

नातिस्पष्टाङ्गहारन्तु नातिरेचकभूषितम् ॥ ४६७ ॥
सैन्धवीमाश्रितं भाषां ज्ञेयं सैन्धवकं बुधैः।
रूपं[5] वाद्यादिसंयुक्तं सैन्धवं[6] स्यादथोद्धतम् ॥ ४६८ ॥

जिसमें अङ्गहारों का अतिस्पष्टता से एवं रेचकों का अतिशय प्रयोग न होता हो, जो सैन्धवी भाषा में रखा जाता हो, जिसके साथ वाद्यवादन रहता हो और जिसका स्वरूप उद्धत छन्द में प्रस्तुत रहता हो तो उसे 'सैन्धवक'[1] 'समझना' चाहिए[1] ॥ ४६७-४६८ ॥

१. सैन्धवक को सिन्धुदेश से अवतीर्ण एक पुराकालीन नृत्य मानने की तथा उसे एक लास्यांग के रूप में बाद में अन्तर्भुक्त हो जाने की अनुसन्धित्सुजन की कल्पना इस सन्दर्भ में अवश्य ही विचारणीय है।

१. विदारी विविधा—ग०। २. अङ्गहाराः—ग०।
३. वाक्यं नाटचयितेन तत्—क०; वाक्यं नाम्नापि तेन यत्—ख०।
४. त्रिविधं प्रयोजयेत्—क०, ख०। ५. रूपवाद्यादि—क०, ख०; रूपकाद्यादि—ग०। ६. युग्मतालकृतं तथा—क०, ख०।

न पाठ्य[1] स्वल्पमप्यत्र प्रकुर्वीत विचक्षणः ।
वितस्तालप्तिलेशाढ्य[2] सैन्धवे[3] वाद्यमिष्यते ॥ ४६९ ॥
मृद्वङ्गहारबहुलं[4] गुरुप्रायाक्षरान्वितम् ।
आक्रीडितस्य भागेन युग्मतालकृतेन हि ॥ ४७० ॥
विंशत्या सन्निपातानां युक्तं सैन्धवकं भवेत् ।

इसमें पाठ्य या संवाद अल्पमात्रा में भी नहीं रहते हैं। इसमें होने वाला वाद्यवादन वितस्त और आलप्ति मार्ग से पूर्ण रखा जाता है और इसकी गीत रचना गुरु अक्षरों की बहुलता लिये हुए रहती है जो मृदु अङ्गहारों के प्रदर्शनों से अनुगत रहती है। इस सैन्धवक को युग्म (या चतुरस्र) ताल में आक्रीडित भागों के साथ प्रयुक्त किया जाता है जिसमें बीस सन्निपात होते हों ॥ ४६९-४७१ ॥

द्विमूढ़क :—

मुखप्रतिमुखोपेतं तथा चापपुटाश्रयम्[5] ॥ ४७१ ॥
यथाक्षरैः सन्निपातैस्तथा द्वादशभिर्युतम् ।
नैकयुक्तिविचित्रार्थं पौरुषं भावमाश्रितम् ॥ ४७२ ॥
एकाङ्गं शीर्षकाङ्गं[6] वा द्विमूढं परिकीर्तितम् ।

जिसमें मुख तथा प्रतिमुख को (यथाक्षर) चापपुट ताल में बारह सन्निपातों से युक्त करते हुए रखा जाता है तो उसे द्विमूढ़क समझना चाहिए। इसका विषय एक से अधिक घटना को लेकर रहता है जिसमें अनेक अर्थ रहते हैं तथा इसे पौरुष भाव से सम्बद्ध रखते हुए एकांग से या शीर्षक नामक अंग से निर्मित करते हुए रखा जाता है ॥ ४७१-४७३ ॥

उत्तमोत्तमक :—

उत्तमोत्तमके[7] त्वादौ नत्कुटं सम्प्रयोजयेत् ॥ ४७३ ॥
ततः[8] श्लोकं विचित्रार्थं तथा[9] चैवोपपादयेत् ।

---

१. वाद्यं—ग० । २. वितस्तालिप्तमार्गेण—क०, ख० ।
३. सैन्धवं—क०, ख० । ४. सार्धमेतत् पद्यं क०, ख० पुस्तकयोर्नास्ति ।
५. चाचपुटा—क, चच्चत्पुटा—ख० ।
६. शीर्षकं गत्वा द्विमढं—क०, द्विभूषं—ख० ।
७. अथोगमे नत्कुटकवस्त्वाद्यैः—ग० ।
८. श्लोकं विचित्रार्थपदं—क०; स्तोकं विच—ख० ।
९. तदा—ख०; ततश्चैवो—ग० ।

ततश्च[1] वस्तुकं कार्यमपरान्तकशाखाया ॥ ४७४ ॥
यथाक्षरेण कार्यन्तु[2] शीर्षकं पञ्चपाणिना ।
उत्तमोत्तमकं प्रोक्तं हेलाभाव[3] विभूषितम् ॥ ४७५ ॥

उत्तमोत्तमक में सर्वप्रथम एक नत्कुटक का गान किया जाता है और फिर एक विविध अर्थों से पूर्ण श्लोक का। इसके गीत के विषय या वस्तु को अपरान्तक शाखा में रखते हुए इसमें रहने वाले शीर्षक को यथाक्षर पञ्चपाणि ताल में हेला आदि को अभिव्यक्त करते हुए प्रस्तुत किया जाता है[1] ॥ ४७३-३७५ ॥

उक्तप्रत्युक्त (क)

कोपप्रसादबहुलं साधिक्षेपैरुपक्रमैः[4] ।
संल्लापरुचिरैर्नित्यमुक्तप्रत्युक्तमिष्यते[5] ॥ ४७६ ॥
वस्त्वर्धं[6] प्रकर्यास्तु तस्य[7] तालविधिः स्मृतः ।
ततस्तु शीर्षकं कार्यं संयुक्तं[8] पञ्चपाणिना ॥ ४७७ ॥
वज्र सम्पिष्टकं चैव तासां त्र्यस्रोऽत एव च ।
उक्तप्रत्युक्तमेवं हि प्रसादान्तं[9] प्रयोजयेत् ॥ ४७८ ॥

जिसमें क्रोध तथा उसके प्रसादन की बहुलता रहती हो, जिसमें सुन्दर-संवाद तथा निन्दापरक क्रियाएँ हों तो उसे उक्तप्रत्युक्त कहते हैं। इसकी ताल में प्रकरी की वस्तु का अर्द्धभाग रखा जाता है और फिर पञ्चपाणि ताल में शीर्षक का प्रयोग किया जाता है। इनकी वस्तु और सम्पिष्टक को त्र्यस्र ताल में रखा जाता है और उक्तप्रत्युक्त का अन्त 'प्रसाद' पर किया जाता है ॥ ४७६-४७८ ॥

---

१. यहाँ लास्याङ्ग के 'विचित्रपद' का मूलपाठ आना चाहिये था किन्तु प्रायः सभी नाट्यशास्त्रीय संस्करणों तथा हस्तप्रतियों में इस पाठ की उपलब्धि नहीं है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि विश्वनाथ कविराज ने साहित्यदर्पण में 'विचित्रपद' की लास्याङ्गों में गणना नहीं की। इसी प्रकार भाव या भावित नामक लास्याङ्ग की भी उसने गणना नहीं की। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन दो लास्यांगों का प्रचलन उसी समय कम हो गया होगा।

---

१. अपरान्तरशाखा च आदौ वस्तु विधीयते—ग०।
२. काम्यन्तु—ग०।
३. हेलावृत्ति—क०; हेलानृत्त—ख०। ४. सविक्षेपै—क०, ख०।
५. रचितै—क०, ख०। ६. वज्रार्धेन—क०। ७. त्र्यस्र—क० (म)।
८. प्रयुक्तं—ग०। ९. यथोक्तं परिकीर्तितम्—क०, ख०।

दशाङ्गं लास्यमित्येतन्मया वः परिकीर्तितम् ।
प्रकरणे दशाङ्गानि यत्रैकस्मिन्[1] भवन्ति हि ॥ ४७९ ॥

लास्य के ये ही दस प्रकार हैं जिनका मैने यहाँ वर्णन किया और ये ही दस प्रकार प्रकरण में भी इसी प्रकार स्थापित किये जाते हैं[1] ॥ ४७९ ॥

ताल की आवश्यकता या महत्ता—

सञ्चार इति विज्ञेयो लास्यच्छेदे विपर्ययात् ।
एवमेतद् बुधैर्ज्ञेयं गीततालविकल्पनम्[2] ॥ ४८० ॥
यतः[3] कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यं ताले प्रतिष्ठितम् ।
सर्वस्यैव हि नाट्यस्य आतोद्यानां तथैव च ॥ ४८१ ॥
तालं[4] कालेन संयुक्तं भवेन्नित्यं प्रमाणतः ।
हीनं प्रकृष्टवर्णं वा गानं तालेन धार्यते ॥ ४८२ ॥
तस्मादेतत् प्रयत्नेन विज्ञातव्यं प्रयोक्तृभिः ।

लास्य में होने वाली विछिन्नता या क्रम भंग को उसकी विपरीत गति (या प्रतीपवर्तन) के कारण 'संचार' कहते हैं । लास्य में होने वाले गीतों की तालों का यही विवरण है । इसको देखकर सदा ताल का उचित प्रयत्न करते रहना चाहिए क्योंकि नाट्यप्रयोग ताल पर आधारित (होता) है । सभी प्रकार के नाट्यप्रयोग ताल पर आधारित होते हैं और यही नियम नाट्यप्रयोग में होने वाले वाद्यवादन में भी रहता है, क्योंकि काल से युक्त ताल उचित प्रमाण (मापन) प्रदान करता है । गीतों के वर्ण में होने वाली कमी या आधिक्य प्रमाण भी ताल के द्वारा ही सम्हाला जाता है । अतएव ताल का नियम नाट्यप्रयोक्ताओं को ध्यान पूर्वक अध्ययन करना चाहिए[2] ॥ ४८०-४८३ ॥

ऋग्गाथापाणिकादीनां[5] सप्तरूपं प्रकीर्तितम्[6] ॥ ४८३ ॥
चतुष्पदा वर्धमानं[7] ताले चैव विभाव्यते ।

---

१. यहाँ लास्याङ्ग के वर्णन के प्रसङ्ग में भाव या भावित का स्वरूप वर्णन अपेक्षित था किन्तु यह भी पूर्वोक्त कारण से अप्राप्य है ।

२. एतदर्थं द्रष्टव्य सं० रत्ना० ५।२ भी ।

---

१. तत्रैव च—ग० । २. गानं तालप्रमाणतः—क०, मानं ताल—ख० ।

३. ततः—ग० । ४. ततः—ग० ।

५. तद्गाथा—ख०; ऋग्गाथा पाणिका चैव—ग० ।

६. प्रकीर्णकम्—ग० । ७. वर्धमाने—ग० ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन[1] कार्यं तालावधारणम् ॥ ४८४ ॥

ऋक्, गाथा, पाणिका आदि सप्तरूप-गीत एवं प्रकीर्णक, चतुष्पदा तथा वर्द्धमानक आदि सभी का उनकी ताल से ही पता लगता है। अतएव सभी को प्रयत्न पूर्वक ताल का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है ॥ ४८३-४८४॥

यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः ।
अङ्गभूता हि तालस्य यतिपाणिलयाः स्मृताः ॥ ४८५ ॥
पूर्वोक्तं वै विधानञ्च तच्च मे सन्निबोधत ।

ताल का व्यवस्थित ज्ञान न रखने पर कोई भी न तो गायक और न ही (अच्छा) वाद्यवादक बन सकता है। ताल के यति, पाणि और लय अङ्ग होते हैं यह जो मैंने पहिले बतलाया था अब मैं उसे यहाँ दोहराता हूँ ॥

त्रिविध-लय—

त्रयो लयाश्च[2] विज्ञेया द्रुतमध्यविलम्बिताः[3] ॥ ४८६ ॥
मार्गेषु व्यक्तिमायान्ति गीतवाद्योभयात्मिकाः[4] ।
तिस्रस्तु यतयश्चान्या मार्गेषु लयसंश्रयाः ॥ ४८७ ॥

लय के तीन प्रकार होते है—द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। यह लय गीतों के विभिन्न-मार्गों तथा वाद्यवादन में अभिव्यक्त होता है। (और) यह इन दोनों का अनिवार्य या आत्म-भूत तत्व है। इसके अतिरिक्त मार्ग आदि में लय से सम्बद्ध तीन यति भी होती है[1] ॥४८६-४८७॥

छन्दोऽक्षरपदानां हि[5] समत्वं यत् प्रकीर्तितम् ।
कलाकालान्तर[6] कृतः[7] स लयो मानसंज्ञितः ॥ ४८८ ॥

जो छन्दों, अक्षरों तथा पदों की समता या पूर्ति करते हुए तदनुसार कला तथा काल के अन्तर को बतलाते हुए उसका ताल में प्रमापन या मापन करता हो उसे 'लय' समझना चाहिए[2] ॥ ४८८ ॥

---

१. द्रष्टव्य—सं० रत्ना० ५।४८ तथा ५।११ भी।
२. द्रष्टव्य—सं० रत्ना० ५।५०।

---

१. पूर्वं—ग०।　२. लयास्तु—क०, ख०।
३. विलम्बिते—ख०।　४. गीतं वाद्यो—ग०।
५. तु समर्थं यत्र कीर्तितम्—ग०।　६. कलान्तर—ख०।
७. कृतं—ग०।

त्रिविध यति—

[1]समा स्रोतोगता चैव गोपुच्छेति यथाक्रमम् ।
पद[2] वर्णप्रकर्षाणामक्षराणामथापि च ॥ ४८९ ॥
नियमोऽथ[3] यतिः सा तु गीतवाद्यसमाश्रया ।

यति के तीन प्रकार होते हैं :—समा, स्रोतोगता तथा गोपुच्छा । यह पद, वर्ण या अक्षरों का गीत तथा वाद्य के आश्रय लेने पर विस्तार तथा नियमन का कार्य करती है[1] ॥ ४८९-४९० ॥

आद्यन्ते चैव मध्ये च लयवर्णपदैः समा ॥ ४९० ॥
वाद्यप्रधाना[4] भूयिष्ठा चित्रा ज्ञेया समा यतिः ।

जो यति अपने आरम्भ, मध्य तथा अन्त में वर्ण और पदों की समता रखती है उसे समा यति समझना चाहिए । इसका चित्र मार्ग में उपयोग होता है और वाद्यवादन में इसकी सामान्यतः प्रमुखता होती है ॥

क्वचिच्चैवावतिष्ठते[5] क्वचिच्चैव प्रधावति ॥ ४९१ ॥
वाद्यश्रुतपथावृत्तौ[6] ज्ञेया स्रोतोगता यतिः ।

जो यति कभी तो वाद्यों की संगीत ध्वनि के मार्ग के आगे की ओर बढ़ाते हुए कभी रुकती और कमी तेज हो तो जाती हो तो उसे 'स्रोतोगता' नामक यति समझना चाहिए । इसका उपयोग वृत्तिमार्ग में किया जाता है[2] ॥ ४९१ ॥

गुरुभिर्लघुभिश्चैवमविभावितमक्षरम्[7] ॥ ४९२ ॥
लम्बिता गेयभूयिष्ठा[8] गोपुच्छा दक्षिणे यतिः ।

---

१. द्रष्टव्य—सं० र० ५।५१-५२ ।

२. द्रष्ट—सं० रत्ना० ५।५५ । यहाँ मिलान करने पर रत्नाकर का विवरण अधिक स्पष्ट प्राप्त है जिससे मूलनाट्यशास्त्र के विवरण के लुप्त हो जाने की आशंका होती है ।

---

१. स्रोतोगता च गोपुच्छा समा चात्र विधाय च—क०, ख० ।
२. लय प्रवृत्तवर्णानामक्षरा—क० ।
३. नियमो यो यतिः—क० । ४. प्रधानभूयिष्ठा—ग० ।
५. तिष्ठेत—ग० । ६. प्रधा (?) वृत्तौ—ग० ।
७. श्चैवमपि भावित—ग० । ८. येन भूयिष्ठा—ग० ।

गुरु तथा लघु अक्षरों के कारण जिसके अक्षर ठीक से विभाजित किये या पहिचाने न जा सकते हों तो ऐसी फैली हुई और सामान्यतः गीत की प्रमुखता या आधिक्य न लिए हुए रहने वाली यति को गोपुच्छा समझना चाहिए ॥ ४९२-४९३ ॥

त्रिविध पाणि—

[1]समपाण्यवपाणिश्च तथा उपरिपाणिकम् ॥ ४९३ ॥
पाणिस्तु त्रिविधो ज्ञेयो गीतवाद्यसमाश्रयः ।

गीत और वाद्यवादन से सम्बद्ध या आश्रित रहने वाले पाणि के तीन प्रकार होते है :—सम-पाणि, अवपाणि तथा उपरिपाणि ॥ ४९३-४९४ ॥

लयेन यत् समं वाद्यं समपाणिः स[2] उच्यते ॥ ४९४ ॥
लयाद्यदवकृष्टन्तु[3] सोऽवपाणिस्तु[4] संज्ञितः ।
लयस्योपरि वाद्यं[5] स्यात्तथा चोपरिपाणिकम् ॥ ४९५ ॥

जो वाद्यवादन लय के साथ साथ चलने वाला होता है उसे 'समपाणि' समझना चाहिए। जो लय के आरंभ करने पर उसके पीछे चलता हो उसे अवपाणि समझना चाहिए और जो वाद्यवादन लय की गति को अपना अनुसरण करवावे या जो लय के आगे हो तो उसे उपरिपाणि समझना चाहिए[1] ॥ ४९४-४९५ ॥

यत्युपान्ताक्षराणाञ्च[6] समवायो लयो भवेत् ।
लयात् प्रभृति एतेषां प्रमाणं परिवर्तते ॥ ४९६ ॥

अक्षरों की कुल संख्या का वह योग जो यति के ठीक पूर्व का हो तो वह लय को बतलाता है और लय से इनका प्रमाण या माप बदल जाता है ॥ ४९६ ॥

---

१. संगीतरत्नाकर में त्रिविधपाणि के साथ तीन ग्रहों का भी (यहाँ) विवरण मिलता है। द्र० सं० र० ५।५४-५५।

---

१. समपाणिश्च विज्ञेयो ह्यवपाणिस्तथैव च। तथैवोपरिपाणिश्च गीतवाद्यसमाश्रयः—क०। २. प्रकीर्त्यते—क०, ख०।
३. ध्रुवाद्यदवकृष्टं स्यात्—क०। ४. सोऽर्धपाणिः—ख०।
५. यत्पाद्यं पाणिःसोपरिरिष्यते—क०, स उपकीर्त्यते—ख०।
६. पान्त्यक्षरा—ग०।

हानिः[1] कलानां कार्या तु शेषेष्वन्येषु पाणिषु ।
तत्र[2] स्थितलयो यो वै सन्निपाते[3] भवेदथ ॥ ४९७ ॥
स तु मध्यलयं प्राप्य सन्निपातद्वयं भवेत् ।
द्रुतश्चापि[4] लयं प्राप्य सन्निपातचतुष्टयम् ॥ ४९८ ॥

शेष अन्य पाणि में कलाओं की न्यूनता या घटाना भी किया जाता है । इनमें जो विलम्बित या स्थित लय है उसमें जो सन्निपात रहता है, मध्यलय में वही दो सन्निपात और द्रुतलय में चार सन्निपात हो जाता है ॥

यो[5] तत्र चान्तरकृतो द्रुतमध्यलयो हि सः ।
सोऽवपाणिस्तु[6] विज्ञेयस्तज्ज्ञैर्द्रुतलयाश्रयः ॥ ४९९ ॥

और इस कला या पात के अन्तर से जो विशिष्ट या संकेतित होता हैं उसे अवपाणि जानों, यह द्रुत या मध्यलय पर आश्रित रहता है ॥४९९॥

मध्ये च यान्तरकला द्रुतमेककला च सा ।
उपर्युपरिपाणिश्च स[7] ज्ञेयो वाद्यसंश्रयः ॥ ५०० ॥

जब एक कला की तालें द्रुतलय में वाद्यवादन में अन्तर-कला बन जाती है तो फिर उसे उपर्युपरिपाणि कहते हैं ॥ ५०० ॥

अतः ऊर्ध्वं कलानान्तु प्रमाणं न विधीयते ।
यतयः पाणयश्चैव लयाश्चैव प्रयोक्तृभिः ॥ ५०१ ॥
यथाक्रमं हि कर्त्तव्यं गीतयुक्तिमवेक्ष्य च ।
एवं[8] ध्रुवतालविधिः कर्त्तव्यः तालयोगतः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ध्रुवाणामङ्गकल्पनम् ॥ ५०२ ॥

इससे अधिक कलाओं को बढ़ाने का प्रावधान नहीं है । नाट्यवेत्ता जन को यथाक्रम यति, पाणि और लय को गीत की स्थिति का विचार करते हुए

---

१. गानिः कलांगांक (?) तु—ग० । २. ततः—क० ।
३. सन्निपातो विधीयते—क०, ख० । ४. रुतश्चापि—ख० ।
५. यावद् तत्रान्तरकृता—क०, ख०; या तत्र चान्तरकला द्रुत एव लयो हि—ग० ।
६. सोऽर्थपाणिस्तु—ख; सोऽपपाणिस्तु—ग० ।
७. संज्ञेयो—ग० ।
८. इत्वेष लक्षणविधिर्निर्दिष्टो गानयोक्तृभिः—क० ।

रखना चाहिए। ध्रुवाओं के लिए यही ताल का विधान है, जो उनकी अवस्था या स्थिति को देखकर लागू किया जाता है। अब मैं इसके बाद (अगले अध्याय में) ध्रुवाओं के अंगों आदि के विषय में विस्तार से वर्णन करूँगा ॥ ५०१-५०२ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे तालव्यञ्जको[1] नाम एकत्रिंशोऽध्यायः ॥

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र का ताल व्यञ्जक नामक इकतीसवां अध्याय सम्पूर्ण ॥ शुभम् ॥

१. तालाध्यायः एकत्रिंशः—क० ।

द्वात्रिंशोऽध्यायः

ध्रुवाविधान अध्याय।

ध्रुवेति[1] संज्ञितानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः।
यान्यङ्गानीह[2] उक्तानि तानि मे सन्निबोधत ॥ १ ॥

हे मुनियों, अब गीतों के उन प्रकारों को मुझसे सुनिये जिन्हें नारद[1] आदि मुनियों ने ध्रुवा कहा है ॥ १ ॥

ध्रुवा-स्वरूप—

या ऋचः पाणिका गाथा सप्तरूपाङ्गमेव[3] च।
सप्तरूपप्रमाणं हि सा[4] ध्रुवेत्यभिसंज्ञिता ॥ २ ॥

जो ऋक्, पाणिका, गाथा और सप्तगीत है एवं जिनका सात भिन्न प्रमाणों से स्वरूप होता है—ये सभी गीत ध्रुवा[2] कहलाते हैं ॥ २ ॥

पभ्यस्त्वङ्गेभ्यः[5] उद्धृत्य नानाछन्दःकृतानि च।
ध्रुवात्वं[6] यानि गच्छन्ति तानि वक्ष्याम्यहं द्विजाः[7] ॥ ३ ॥

हे मुनियों, मैं केवल उन्हीं को यहाँ बतलाऊँगा जो विभिन्न छन्दों से निर्मित हैं तथा (इन्हीं के) अंगों से उद्भूत होकर 'ध्रुवा' के स्वरूप को प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

---

१. नारद संगीतविद्या के आद्य एवं सर्वप्राचीन अधिकारी मुनि है। इसका उल्लेख नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भी भरतमुनि ने 'नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिताः' (ना० शा० १।५१) में किया है।

२. ध्रुवा के स्वरूप में मुनि ने व्यापक क्षेत्र का निदर्शन किया है तथा ऋग्, गाथा पाणिका की मूलप्रकृति ध्रुवा है यह भी दर्शाया है तथा 'ध्रुवा' को इन सभी के उपजीव्य के रूप में भी संकेतित किया है।

---

१. ध्रुवासंज्ञानि यानि–क०, ख०; ध्रुवा इति निरुक्तानि—क० (र०)।

२. गीताङ्गानीह सर्वाणि विनिपुक्तान्यनेकशः—क०, ख०; यान्यङ्गानीह मुक्तेषु——ग०, गीताङ्गानीह वृत्तेषु—क० (र)।

३. रूपाङ्ग एव च—क०। ४. तद् ध्रुवेत्यभिसंज्ञितम्—क०।

५. स्त्वङ्गान्यथोद्धृत्य—क०, ख०। ६. काव्यत्वं—ख०।

७. पुनः—क०।

मुखं प्रतिमुखञ्चैव वैहायसकमेव[1] च।
स्थितप्रवृत्ते[2] वज्रश्च सन्धिः संहरणं तथा ॥ ४ ॥
प्रस्तारश्चोपवर्तश्च[3] माषघातस्तथैव च।
चतुरस्रोपपाते[4] च प्रवेणी शीर्षकन्तथा ॥ ५ ॥
सम्पिष्टकान्ताहरणे[5] महाजनिकमेव च।
ध्रुवाणामङ्गसंज्ञानि[6] पञ्चानामपि [7]नित्यशः ॥ ६ ॥

ध्रुवा के पाँच प्रकारों के (सदा) ये अङ्ग (होते) हैं। यथा—(१) मुख,[1] (२) प्रतिमुख, (३) वैहायसक, (४) स्थित, (५) प्रवृत्त, (६) वज्र, (७) सन्धि (८) संहरण, (९) प्रस्तार, (१०) उपवर्त, (११) माषघात, (१२) चतुरस्र (१३) उपपात, (१४) प्रवेणी, (१५) शीर्षक (१६) सम्पिष्टक (१७) अन्ताहरण तथा (१८) महाजनिक ॥ ४–६ ॥

एकवस्तु ध्रुवा ज्ञेया द्विवस्तु परिगीतिका।
त्रिवस्तु मद्रकं ज्ञेयं चतुर्वस्तु चतुष्पदा ॥ ७ ॥

एक वस्तु में निबद्ध गीत को 'ध्रुवा' दो वस्तु में निबद्ध गीत को 'परिगीतिका' तीन वस्तु में निबद्ध गीत को 'मद्रक' तथा चार वस्तु में निबद्ध गीत को 'चतुष्पदा' कहते हैं ॥ ७ ॥

वाक्यवर्णा[8] ह्यलङ्कारा लया[9] यत्यथ पाणयः।
ध्रुवमन्योन्यसम्बद्धा[10] यस्मात्तस्माद् ध्रुवाः स्मृताः ॥ ८ ॥

इसे ध्रुवा कहने का कारण यह है कि इसके वाक्यगत शब्दों में वर्ण, अलंकार, लय, यति और पाणि निश्चित रूप में (या स्थिर रूप में) एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं ॥ ८ ॥

---

१. यद्यपि मुख, प्रतिमुख आदि को तालाध्याय में दिखलाया जा चुका है किन्तु पुनः यहाँ उन्हें आवश्यकतानुसार या अविस्मरणार्थ दर्शाया है।

---

१. यसिकमेव—क०। २. स्थिर—ग०।
३. प्रस्तारो (स्वारो) माषघाता स्यादुपर्वतनमेव च—०; ख०।
४. उपपातः प्रवेणी च चतुरस्रं सशीर्षकम्—क०, ख०।
५. सम्पिष्टमन्ताहरणं—क०, सम्पिष्टकान्ताहरणे—ख०।
६. संज्ञानां—क० (ड)। ७. सर्वदा—क० (र)।
८. ध्रुवा वर्णास्त्वलङ्कारा—क०; ग०।
९. यतयः पाणयो लयाः—क०; ख०, लया यत्योपपाणयः—ग०।
१०. अपरस्पर-सम्बद्धा—ग०।

ध्रुवाओं के (विभेद तथा उनके) अङ्ग—

ध्रुवाश्च पञ्च विज्ञेया नानावस्थासमाश्रयाः[1] ।
एतासाञ्चैव[2] वक्ष्यामि सप्तरूपाङ्गकल्पनम्[3] ॥ ९ ॥

विभिन्न अवस्थाओं पर निर्भर रहने वाली ध्रुवाओं की पाँच श्रेणियाँ हैं। अब मैं इनके सात अङ्गों को भी बतलाता हूँ जिनसे ये निर्मित होती हैं ॥

उपपातः[4] प्रवृत्तश्च प्रावेशिक्यां प्रकीर्त्यते ।
वज्रश्च शीर्षकश्चैव ध्रुवायां[5] शीर्षकं मतम् ॥ १० ॥

प्रावेशिकी ध्रुवा में उपपात, (घात) प्रवृत्त, वज्र तथा शीर्षक अङ्ग होते हैं ॥ १० ॥

प्रस्तारो[6] माषघातश्च महाजनिकमेव च ।
प्रवेणी ह्युपपातश्च अड्डितायाः[7] प्रकीर्तिताः ॥ ११ ॥

अड्डिता[1] ध्रुवा में प्रस्तार, माषघात, महाजनिक, प्रवेणी तथा उपपात नामक अंग होते हैं ॥ ११ ॥

मुखप्रतिमुखोपेता ह्यवकृष्टाऽभिधीयते[8] ।
वैहायसान्ताहरणे स्थितायां सम्प्रकीर्तिते[9] ॥ १२ ॥

अवकृष्टा ध्रुवा में मुख और प्रतिमुख अंग होते हैं तथा स्थिता-ध्रुवा में वैहायस और अन्ताहरण अंग होते हैं ॥ १२ ॥

संहारश्चतुरस्रश्च खञ्ज[10]-नर्कुटके तथा ।

---

१. अड्डिता शब्द के स्वरूप को कुछ विद्वान् द्रविडमूल का मानते हैं। शास्त्रानुसारी आचार्य भरत तथा अभिनव के मत में शृङ्गारप्रधान ध्रुवा अड्डिता कहलाती है। जैसे कि—'अड्डिता तूत्कटगुणा शृङ्गाररससम्भवा' (ना० शा० ३२;२३४) से आगे इसी अध्याय में दिखलाया भी है।

---

१. नानासंस्थानसंश्रयाः क० ।
२. एतासां सम्प्रवक्ष्यामि—क०, ख० । ३. कारणम्—क०; ख० ।
४. उपवृत्तं प्रवृत्तश्च–क., प्रविशिक्यां स्मृतं तत्र प्रवृत्तं सोपवर्तनम्–ख० ।
५. शीर्षिकायां विनिर्दिशेत्—क०, शीर्षकार्धं विनिर्दिशेत्—ख०, ध्रुवायां शीर्षकस्मृते—ग० । ६. प्रस्वारो—क० ।
७. अड्डितायामथापि—क०; ह्यवपातश्च अड्डितायां तथैव च—ख० ।
८. विधीयते—क० । ९. सम्प्रकीर्त्यते—क०; सम्प्रकीर्तितौ–ख० ।
१०. नर्कुटे खञ्जके तथा—क० ।

सन्धिप्रस्तारसंयुक्तस्त्वन्तरायां[1] प्रकीर्तिताः[2] ॥ १३ ॥

इसी प्रकार खंज-नत्कुटक (नामकध्रुवा) में सन्धिसंहार और चतुरस्र नामक अंग होते हैं और अन्तरा ध्रुवा में सन्धि और प्रस्तार नामक अंग होते हैं ॥ १३ ॥

यान्यङ्गानि कलाश्चैव गीतकान्तर्गतानि च ।
तानि छन्दोगतैर्वृत्तैर्विभाव्यन्ते[3] ध्रुवास्वथ ॥ १४ ॥

गीतों में जिन अङ्गों और कलाओं को रखा जाता है वे ही ध्रुवाओं में छन्दों के (उपयुक्त वृत्तों के) रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं ॥ १४ ॥

त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च तालः कार्यो ध्रुवात्मकः[4] ।
षट्कलो ऽष्टकलश्चैव यस्तु[5] पूर्वं प्रकीर्तितः[6] ॥ १५ ॥

ध्रुवा में त्र्यस्र और चतुरस्र ताल रहती है जो पूर्व में कही जा चुकी है । उसे छः या आठ कलाओं के प्रमाण में क्रमशः रखना चाहिए ॥ १५ ॥

सर्वेषामेव[7] गीतानां यान्यङ्गानि स्मृतान्यथ ।
तेषां वृत्तं[8] सविवधमेककञ्च भविष्यति[9] ॥ १६ ॥

इसी प्रकार गीतों के जो समग्र अङ्ग पूर्व में कहे गये हैं । वे वृत्त, विवध और एकक रहेंगें ॥ १६ ॥

पदवर्णसमाप्तिस्तु विदारीत्यभिसंज्ञिता ।
एतेषाञ्चैव[10] वक्ष्यामि विधिं प्रकृतिसम्भवम् ॥
ज्येष्ठानां[11] वृत्तसंयुक्तं कुर्यादादौ तथैव च ॥ १७ ॥
विवधश्चैव मध्यानां नीचानामेककं तथा ।

---

१. सन्धिः प्रस्वा—ख० । २. प्रकीर्तितौ–ख० ।

३. विभाष्यन्ते—ग० ।

४. ध्रुवास्वथ—ग० । ५. यः पूर्वं परिकीर्तितः—ख० ।

६. विभावितः—क० (र) । ७. पूर्वैषा—क०, ख० ।

८. वृत्तविघौ कार्यमेकको विवधोऽथवा—क; तेषां मध्यात्तासु कार्योमक्षकं (?) विवधोऽथवा—ख० ।

९. अतः परं—एकाकन्तु विदार्येका ते चोभे विवधः स्मृतः । षट्परं त्र्यवरं वाऽपि विदार्या वृत्तमिष्यते । इति पद्यं क—पुस्तकेऽधिकम् ।

१०. ञ्चापि वक्ष्यामि—क०; सम्प्रवक्ष्यामि—ख० ।

११. उत्तमानां भवेद् वृत्तं मध्यानां विवधं स्मृतम् । नीचानामेककं कार्यं ध्रुवा पञ्चविधा बुधैः ॥—ग०, घ० ।

जो पद और वर्ण को पूर्णता या समाप्ति तक ले जाने वाला गीत का अङ्ग है वह 'विदारी'[1] कहलाता है। अब मैं नाट्यप्रयोग की विभिन्न भूमिकाओं पर लागू किया जाने वाला इनका विधान बतलाता हूँ। उत्तम पात्रों के गीत में आदि में वृत्त नामक अंग, मध्यम-पात्रों के गीत में 'विवध' और अधम-पात्रों के गीत में 'एकक' नामक अङ्ग की योजना की जाती है॥

त्र्यस्रं वा चतुरस्रं वा योगं[1] ज्ञात्वा प्रयोगजम्॥ १८॥
तेन प्रमाणयोगेन ध्रुवा कार्याऽवसानिकी[2]।

त्र्यस्र या चतुरस्र ताल का नाट्यप्रयोग में होने वाला मेल जानकर (उसकी) प्रमाण के अनुसार अवसानिकी ध्रुवा में ठीक से योजना करनी चाहिए॥ १८-१९॥

गायत्र्याश्चातिशक्कर्या[3] अन्तरे या व्यवस्थिताः॥ १९॥
तेषां[4] पादप्रमाणेन[5] ध्रुवा कार्यावसानिकी।

गायत्री और अतिशक्करी के बीच रहने वाले छन्द का पाद अवसानिकी ध्रुवा का रखा जाता है॥ १९-२०॥

शक्कर्याश्चातिकृत्या[6] ये[7] चान्तरे त्वावसानिकी॥ २०॥
तेषामध्यर्धविहिता[8] ध्रुवा पादमयी स्मृता।

---

१. यहाँ 'क' पुस्तक के अतिरिक्त पद्य को लेकर फिर विदारी का यह स्वरूप होता है। अतिरिक्त पद्य है :—

एककश्च विदार्यं का ते चोभे विवधः स्मृतः।
षट्परं त्र्यवरं चापि विदार्या वृत्तमिष्यते॥

[इनमें एकक को विदारी तथा इन दोनों को 'विवध' समझना चाहिए। विदारी में या तो अन्तिम छः या आदि के तीन 'वृत्त' रखे जाते हैं।]

---

१. श्लोकं ज्ञात्वा प्रयोजकः—ग०। २. स्यावावसानिकी—ख०।
३. अपि शक्कर्याश्चान्तरे वा·क०; गायत्र्याश्चातिशक्कर्यामन्तरे या—ख०।
४. तेन—क०। ५. प्रयाणयोगेन—ख०।
६. शक्कर्याश्चातिकृत्यां च—ख०।
७. येऽन्तरे चावसानिकी—क०; यान्तरे त्वाव—ख०।
८. तेषां मात्रार्धविहिता—क०; तेषां मात्रा द्विर्विहिता—ख०; न त्वेवसानिके तेषां मध्यार्धविहिता ध्रुवा—ग०।

अवसानिकी ध्रुवा जो शक्वरी और अतिकृति छन्द के बीच में रहती हो तो उसका एक पाद इनके एक तथा आधा पाद मिलाकर बनाये जायँ ॥२०॥

[1]यतिच्छन्दो विधानेन गुरुलघ्वक्षरान्वितः ॥ २१ ॥
कार्यो मात्राप्रमाणेन ध्रुवापादोऽवसानिकः ।

अवसानिकी ध्रुवा का पाद गुरु तथा लघु वर्णों से यति के विधान के अनुसार तथा छन्द और मात्रा आदि के नियत प्रमाण को ध्यान में रखकर बनाया जाय ॥ २१–२२ ॥

मध्योत्तमानां[2] कर्त्तव्या चतुरस्रावसानिकी[3] ॥ २२ ॥
अथाधमानां[3] कर्त्तव्या ध्रुवा[4] त्र्यस्रावसानिकी ।
अथ[5]-पूर्णपदी या तु तस्यां वृत्तं प्रयोजयेत्[6] ।
तत्रेष्टवृत्तप्रमाण्याद् ध्रुवा कार्यावसानिकी[7] ॥ २३ ॥

उत्तम तथा मध्यम पात्रों के लिये अवसानिकी ध्रुवा चतुरस्रा रखी जाय तथा अधम पात्रों के लिये इसे त्र्यस्र रखी जाए । और जब ध्रुवा अपने विभागों के सभी अर्थों से पूर्ण (अवयव वाली) रहे तो फिर उसमें वृत्त को योजित किया जाय और वृत्त के प्रमाण या शक्ति के कारण ध्रुवा को आवसानिकी रखा जाय ॥ २२–२४ ॥

ध्रुवाश्च पञ्च विज्ञेया नानावृत्तसमुद्भवाः[8] ।
यथास्थानरसोपेता उत्तमाधममध्यमाः ॥ २४ ॥

विभिन्न छन्दों से उद्भूत ध्रुवायें पाँच प्रकार की होती हैं तथा अपने उपयुक्त स्थान एवं रस से युक्त होकर वे तदनुसार उत्तम तथा अधम हो जाती है ॥ २४ ॥

कनिष्ठिकाग्रहा[9] चैव सन्निपातग्रहा परा ।

---

१. यानि—क० (म०) ।
२. मध्यमोत्तमयोः कार्या—क०, ख० ।
३. मध्याधमानां—क०, मध्यावसाना—ख० ।
४. त्र्यश्रा चैवावसानिकी—क०;……वसानिके—ख० ।
५. अथ पूर्णपदी—क०,…चूर्णपदी—क (ब) ।
६. प्रवेशजम्—क०; प्रवेशनम्—ग० ।
७. कार्या प्रमाणतः—क०,कार्या प्रयोक्तृभिः—क० (र) ।
८. समन्विताः—क० (ब०) ।
९. कनीयसीग्रहा—क०, ख० ।

तथा[1] चापग्रहा चैव त्रिविधा तु ध्रुवा स्मृता ॥ २५ ॥

ध्रुवाओं के तीन (, वर्गगत) प्रकार (भी) होते हैं। कनिष्ठिका ग्रहा, सन्निपातग्रहा तथा चापग्रहा ॥ २५ ॥

प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाक्षेपिकी स्मृता।
प्रासादिकी[2] तृतीया च चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा ॥ २६ ॥
नैष्कामिकी[3] च विज्ञेया पञ्चमी[4] च ध्रुवा बुधैः।
एतासां[5] चैव वक्ष्यामि छन्दोवृत्तनिदर्शनम्[6] ॥ २७ ॥

(पाँच प्रकार की ध्रुवाओं में) प्रथम प्रावेशिकी, द्वितीय आक्षेपिकी, तृतीय प्रासादिकी, चतुर्थ अन्तरा तथा पञ्चम निष्क्रामिकी ध्रुवा होती है। अब मैं इनके छन्दों का वर्णन करता हूँ ॥ २६-२७ ॥

गान्धर्वं यन्मया[7] प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम्।
पदं तस्य भवेद्वस्तु स्वरतालानुभावकम्[8] ॥ २८ ॥

स्वर, ताल तथा पदों से निर्मित जिस गान्धर्व का मैंने (पहिले) वर्णन किया था उसका भाग यदि स्वर तथा ताल को प्रकाशित करे तो वह 'पद'[1] वस्तु (चीज, गाना) कहलाता है ॥ २८ ॥

पद :—

यत्किञ्चिदक्षरकृतं[9] तत्सर्वं पदसंज्ञितम्।
निबद्धश्चानिबद्धश्च तत्पदं[10] द्विविधं स्मृतम् ॥ २९ ॥
अतालश्च सतालश्च द्विप्रकारश्च[11] तद् भवेत्।
सतालश्च ध्रुवार्थेषु निबद्धं तच्च[12] वै स्मृतम् ॥ ३० ॥

---

१. 'पद' को गीत का पर्याय आज भी माना जाता है। जैसे सूर, तुलसी तथा मीरा के गीत का 'पद' शब्द से संकेत रहना।

---

१. तथाऽऽकाशग्रहा काचित्—क०, तथा कारेग्रहा—ख०, तथा पापग्रहा—ग०।

२. प्रासाधिकी—क०। ३. निष्क्रामिकी—क०।

४. पञ्चमी वृत्तकर्मणि—क०। ५. आसामेव प्रवक्ष्यामि—क०।

६. वृत्तसमन्वितम्—क०। ७. यत् स्मृतं पूर्वं—ख०।

८. तम्—ख०; तालविभावितम्—क (र०)।

९. यत् स्यादक्षरसम्बद्धं—क०. ख०।

१०. येन तेन द्विधा स्मृतम्० ख०।

११. तदुच्यते—क०, ख०। १२. सर्वसाधकम्—क०, ख०।

यत्तु[1] करणोपेतं सर्वातोद्यानुरञ्जकम्।
अतालमनिबद्धञ्च[2] पदन्तु[3] ज्ञेयमेव तु ॥ ३१ ॥

जो अक्षरों से बनता है वह सभी पद कहलाता है। इस पद के दो प्रकार (हो जाते) हैं—एक निबद्ध तथा दूसरा अनिबद्ध। इसी के फिर और दो भेद बनते हैं-एक अताल और दूसरा सताल। इनमें ध्रुवाओं के उद्देश्य को लेकर होने वाला प्रकार सताल कहलाता है और जो करणों[1] से सम्बद्ध या युक्त होता है तथा जो सभी प्रकार के वाद्यों के वादन को सुशोभित कर रंजक बनाता है उसे अताल तथा (इसी प्रकार) वह अनिबद्ध रूप में पद समझा जाता है ॥ २९–३१ ॥

नियताक्षरसम्बद्धं[4] छन्दोयतिसमन्वितम्।
निबद्धन्तु पदं ज्ञेयं सताललयमाक्षरम्[5] ॥ ३२ ॥

जो निश्चित अक्षरों में पूर्ण हो जाता हो, जिसमें यति से युक्त छन्द रहता हो तथा जिसमें अक्षरों को ताल तथा लय से युक्त रखा गया हो उसे 'निबद्ध-पद' समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

स्वच्छन्दयतिपादन्तु[6] तथा चानियताक्षरम्।
अनिबद्धं पदं ज्ञेयमताललयमाक्षरम्[7] ॥ ३३ ॥

और जिसमें छन्द पाद तथा यति का कोई निश्चित स्वरूप न हो और जिसमें अक्षरों की कोई निर्धारित संख्या न रहती हो तथा जिसमें ताल और लय का बन्धन न हो तो उसे 'अनिबद्ध-पद' समझना चाहिए ॥ ३३ ॥

अनिबद्धाक्षराणि स्युर्यान्यजातिकृतानि तु।
आतोद्यकरणैस्तेषां[8] विधानमपि[9] निर्दिशेत् ॥ ३४ ॥

---

१. करणों से यहाँ आशय है वाद्यों या संगीत के वाद्यात्मक उपकरण का भी।

---

१. यत्तु वाक्करणो—क०, वस्तु वाक्करणो—क (म०)
२. अतालेन निबद्धश्च पदतालं प्रकीर्तितम्—क०, ख०।
३. तदतालं प्रकीर्तितम्—क (म०)।
४. छन्दोवृत्तयतिच्छेदपादच्छेदसमन्वितम्—क (र)।
५. सतालपतनाक्षरम्—क०, ख०; नानाच्छन्दसमुद्भवम्—ग०।
६. स्याच्छन्दोयतिमात्रन्तु—क० (ब०)।
७. ज्ञेयमतालपतनाक्षरम्—क (ब); महाताललयाक्षरम्—ग०।
८. आतोद्यकरणं—ख०। ९. मभिनिर्मितम्—क०, ख०।

जो अनिबद्ध अक्षर जाति गीतों के अतिरिक्त (या उनके लक्षणों से हीन) हों उनका आतोद्य (या केवल वाद्यों के वादन) तथा करणों के साथ प्रयोग बतलाया जाय ॥ ३४ ॥

पदानि[1] त्वनिबद्धानि तालेन रहितानि च ।
आतोद्येषु नियुक्तानि तानि[2] तानि तु रञ्जयेत् ॥ ३५ ॥

जो अनिबद्ध प्रकार के पद किसी ताल क्रम से सम्बद्ध नहीं हो तो भी उनका वाद्यो के वाहन से सम्बद्ध इष्ट है क्योंकि ऐसा करने पर वे ठीक से रंजकता को निश्चित रूप में उत्पन्न कर देंगे ॥ ३५ ॥

यानि चैव[3] निबद्धानि छन्दोऽक्षरविधानतः[4] ।
ध्रुवासंज्ञानि[5] वर्णानि[6] तानि वक्ष्याम्यतः[7] परम् ॥ ३६ ॥

पर जो पद निबद्ध प्रकार के हैं तथा जो छन्दों के निर्द्धारित नियम के अनुसार अक्षरों से निर्मित हैं तो उन्हें ध्रुवा समझना चाहिए । अब मैं यहाँ इनके लक्षण बतलाता हूँ ॥ ३६ ॥

अत्युक्तश्च प्रतिष्ठा[8] च मध्या गायत्रीरेव च ।
एताः [9]स्थितापकृष्टासु त्र्यस्रा ज्ञेयास्तु जातयः ॥ ३७ ॥

जो अत्युक्ता, प्रतिष्ठा, मध्या तथा गायत्री नामक जाति छन्द हैं वे स्थितापकृष्टा (ध्रुवा) में होने वाले त्र्यस्र प्रकार (तीन वृत्त या छन्दों भेदों के वर्ग) हैं ॥ ३७ ॥

उष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिश्चेतीह जातयः ।
एताः प्रासादिकीनान्तु युग्मा[10] ज्ञेयास्तु जातयः ॥ ३८ ॥

जो युग्म प्रकार के (छन्दों के) वर्ग या जाति हैं वे प्रासादिकी ध्रुवा में होने वाली जातियाँ हैं इनके नाम हैं—उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती तथा पंक्ति ॥ ३८ ॥

---

१. अपदान्यनिबद्धानि—क०, ख० । २. यानि तानि तु योजयेत्—ग० ।
३. चैवं—क० । ४. छन्दोवृत्तविधानतः—क०, ख० ।
५. ध्रुवारूपाणि—क० । ६. पूर्वाणि—क० ख० ।
७. वक्ष्यामि तत्वतः—क०, ख०; वक्ष्यामि कर्मतः—क (र) ।
८. प्रतिष्ठञ्च मध्यं गायत्रमेव च—क; अव्यक्तञ्च प्रतिष्ठा च मध्यमात्रयमेव (?) च—ख० । ९. स्थितापकृष्टास्तु—क०, स्थितावकृष्टास्तु—ख० ।
१०. त्र्यस्रा ज्ञेया यथाक्रमम्—क०, ख० ।

अनुष्टुब् बृहती चैव जगत्यथ विलम्बिता ।
द्रुता च चपला चैव[1] उद्गता धृतिरेव[2] च ॥ ३९ ॥
द्रुतानां[3] जातयो ह्येषाः प्रयोगेषु प्रकीर्तिताः ।

द्रुता ध्रुवा में प्रयुक्त किये जाने वाले छन्दों की जातियाँ हैं :—अनुष्टुप्, बृहती, जगती, विलम्बिता, द्रुता, चपला, उद्गता तथा धृति ॥ ३९-४० ॥

प्रावेशिकीनां जातिस्तु[4] ह्युद्धतानां निबोधत ॥ ४० ॥
पङ्क्तिश्च[5] त्रिष्टुब् जगती तथातिजगती पुनः ।
शक्करी चेति विज्ञेया उद्धतानान्तु जातयः ॥ ४१ ॥

अब प्रावेशिकी ध्रुवा के लिये होने वाली जातियों को सुनिये जो उद्धत चरित्रों की दशा में रखी जाती हैं । (इस प्रकार के (उद्धत) पात्रों में प्रयुक्त किये जाने वाले छन्द हैं) :—पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती तथा शक्करी ॥ ४०-४१ ॥

सर्वासामेव जातीनां त्रिविधं वृत्तमिष्यते[6] ।
गुरुप्रायं लघुप्रायं गुरुलध्वक्षरं[7] तथा ॥ ४२ ॥

इन जातियों में प्रायः तीन प्रकार के वृत्त रहते हैं—जो अधिकांश गुरु वर्णों से या लघु अक्षरों से या फिर गुरु एवं लघु अक्षरों से संयुक्त होकर निर्मित (होने वाले) होते हैं ॥ ४२ ॥

गुरुप्रायापकृष्टा[8] स्यात् लघुप्राया द्रुता तथा ।
गुरुलध्वक्षरप्रायाः शेषाः कार्या ध्रुवास्तथा ॥ ४३ ॥

अधिकांश गुरु वर्णों से निर्मित छन्दों से अपकृष्टा ध्रुवाएँ, लघु वर्णों से निर्मित छन्दों में द्रुता ध्रुवाएँ और गुरु तथा लघु वर्णों के द्वारा (मिश्ररूप में) निर्मित छन्दों में (इनके अतिरिक्त) शेष ध्रुवाएँ होती हैं ॥ ४३ ॥

वृत्तान्योजःकृतानि स्युर्मुखे[9] यानि भवन्ति हि ।
तानि द्रुतासु योज्यानि लघुयुग्मकृतानि[10] तु ॥ ४४ ॥

---

१. चैवमुद्गता—क० ।
२. ध्रुति (?) रेव—क० (च) । ३. ध्रुवाणां—क०, ख० ।
४. जातीनामुद्धतानां—क०; ······मुद्गतानां—ख०; जातीस्तु—क (ङ) ।
५. पङ्क्तिस्त्रिष्टुप् सजगती—क० । ६. वृत्तमुच्यते—क० ।
७. लध्वक्षरे—क० (च) ।
८. वकृष्टा—क० । ९. स्युर्दु:खे—क० स्युर्दु:खदानि भवन्ति—ख० ।
१०. लघुयोग—ग० ।

जिन छन्दों की अक्षर संख्या विषम हों उन्हें मुख में और जिनकों लघु अक्षरों से जब (सम) संख्या में निर्माण किया जाता है उन छन्दों की योजना द्रुता ध्रुवाओं में की जाए ॥ ४४ ॥

यानि चाल्पाक्षराणि स्युरल्पच्छन्दःकृतानि तु ।
तानि द्रुतापकृष्टासु[1] कार्याण्याक्षेपिकीषु[2] च ॥ ४५ ॥

जिन छन्दों (के पादों) की अक्षर संख्या कम हों या जिनकी लघु अक्षरों से निर्मित छन्द रचना हो या छोटे छंद हो तो उन्हें भी द्रुतापकृष्टा ध्रुवाओं तथा आक्षेपिकी ध्रुवाओं में योजना करनी चाहिए ॥ ४५ ॥

गुर्वादिस्तु[3] स्थिता[4] कार्या लघ्वादिस्तु द्रुता भवेत्[5] ।
यान्योजःयुग्मच्छन्दांसि ज्ञेयान्याक्षेपिकी तथा ॥ ४६ ॥

गुरु अक्षरों से आरंभ होने वाले छन्दों की योजना स्थिता, लघु अक्षरों से आरंभ होने वाले छन्दों की योजना द्रुता और जो छन्द विषम या सम संख्या के पादों वाले हों तो उनसे आक्षेपिकी ध्रुवा निर्मित होती है ॥ ४६ ॥

लघुयुग्मकृता या[6] स्यात् स्थिता साक्षेपिकी भवेत् ।
विषमाल्पाक्षरा[7] वापि ये[8] चाप्यर्थवशानुगाः ॥ ४७ ॥

वे छन्द जो लघु अक्षरों से सम पादों में निर्मित हों या विषम और अक्षरों की कम संख्या से अर्थ के अनुसार निर्मित पाद वाले हो तो उनको (भी) आक्षेपिकी ध्रुवा में योजना की जाए ॥ ४७ ॥

वर्णप्रकर्षे[9] तेषान्तु शम्या तालेन योजयेत् ।
जातीनान्त्वथ सर्वासां छन्दोवृत्तनिदर्शनम्[10] ।

---

१. स्थितापकष्टासु—क०, ख० ।

२. कार्या ह्याक्षेपिकीषु च—क० ।

३. पद्यार्धमेतत् क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति ।

४. गुरुः कार्यो लघ्वादिस्तु [लघ्वादिषु—क] लघुस्तथा—क० ।

५. अतः परं—ये त्वोजच्छन्दसां युक्ता ज्ञेया ते क्षेपिकी तथा ।' इति पद्यार्धमधिकं क० पुस्तके ।

६. याऽस्याः—क० । ७. विषमांशाक्षराणि स्युः पदैरर्थवक्रानुगाः—क० । ८. पादा येऽर्थवशा—क० (ड) ।

९. शम्यातालेन ता योज्या वर्णेनाकर्षितेन तु—क०; ख० वर्णैः प्रकर्षे—ग० । १०. छन्दोवृत्ति—ग० ।

स्थानप्रमाणसंज्ञाभिर्गदतो मे निबोधत ॥ ४८ ॥

उनके वर्णों को बढ़ाने की दशा में उनकी ताल के अन्दर शम्या को रखना चाहिए। अब मैं छन्दों की सभी जातियों को उनके उदाहरण का दर्शन करते हुए तथा उनके स्थान[१], प्रमाण तथा उनकी संज्ञा (आदि) को बतलाते हुए वर्णन करुँगा,। अब आप उन्हें सुनिये ॥ ४८ ॥

विभिन्न ध्रुवाओं में प्रयुक्त छन्द—

गुरुगाथांशको[1] यस्याः सर्वपादेषु दृश्यते ।
ह्रीरिति[2] ख्यातनामासौ[3] प्रथमा कीर्तिता ध्रुवा ॥ ४९ ॥

ह्री—यदि गाथा के सभी पादों में गुरु वर्ण हो तो उसे 'ह्री' नाम से प्रख्यात होने वाली ध्रुवा की प्रथम जाति समझना चाहिए ॥ ४९ ॥

यथा – यो गङ्गाश्रित् ।

जिसको गङ्गा का आश्रय है या जिसका गंगा ने आश्रय लिया है।

तत्रात्युक्ता सर्वे दीर्घाः ॥ ५० ॥

यथा—ईशं[4] देवं शर्वं वन्दे ।

अत्युक्ता—जिस छन्द में सभी अक्षर गुरु हो (उन पादों में जो दो अक्षरों के हों) तो उसे 'अत्युक्ता' समझना चाहिए ॥ ५० ॥

उदा :—मैं महादेव शिव की वन्दना करता हूँ।

यत्पदं[5] मध्यतः स्याल्लघुः सा तटी ॥ ५१ ॥

यथा—शङ्करः शूलभृत्[6] । पातु मां लोककृत् ॥

तटी—(यदि तीन अक्षरों के पाद में) मध्य वर्ण जब लघु हो तो उसे 'तटी' समझना चाहिए ॥ ५१ ॥

---

१. स्थान का अर्थ है विनियोग का लक्ष्य अर्थात् उदाहरण। क्योंकि उदाहरण से लक्षण का आशय स्पष्ट होता है। प्रमाण का अर्थ है लक्षण तथा संज्ञा अर्थात् ध्रुवाओं के श्री आदि नाम।

---

१. गुरुर्गाथांशको यत् स्यात्—क०।

२. श्रीरिति—क०। ३. नामा सा—क०। ४. देवं शर्वमीशं—क०।

५. यत्पदमध्यतः—क (ड) मध्यलघुनाथ विद्युत्पादे पादे समं विभक्तेन आदिलघुना धृतिः स्याद्गणेन योज्या हि मात्रेण। इति क. पुस्तके एतस्य स्थाने कारिका। ६. धृत्—क०।

उदा :—वे भगवान् शिव जो त्रिशूल को धारण करने तथा लोक का निर्माण करने वाले हैं, मेरी रक्षा करें[1]।

लघुः स्यात् पदादौ त्रिके या धृतिः[1] सा ॥ ५२ ॥

यथा—उमेशः सुरेन्द्रः। तवायुर्ददातु[2] ॥

धृति—(यदि तीन अक्षरों के पाद में) आदि में लघु वर्ण हो तो उसे धृति कहते हैं ॥ ५२ ॥

उदा :—भगवती उमा तथा देवताओं के अधिपति भगवान शिव तुम्हें दीर्घ जीवन प्रदान करे।

लघुनी गुरु चेद्[3] रजनी खलु सा।

अधिअं विरहे मदणो दहदि ॥ ५३ ॥

यथा—[अधिकं[4] विरहे मदनो दहति] ॥

रजनी—(यदि तीन अक्षरों के पाद में) दो लघु और एक गुरु हो तो उसे रजनी छन्द समझना चाहिए ॥ ५३ ॥

उदा :—(प्रिय के) विरह में काम अधिक सन्ताप देता है।

मध्येत्युक्ते[5] च ज्ञेया सा एता वै वृत्तजातयः।

प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठानां[6] भूयो वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ५४ ॥

इसी (रजनी) को मध्या तथा उक्ता भी कहते हैं। ये ध्रुवाएँ वृत्त छन्दों के वर्ग की हैं। अब मैं प्रतिष्ठा तथा सुप्रतिष्ठा जाति की ध्रुवाओं का वर्णन करूँगा ॥ ५४ ॥

द्वितीयं[7] लघु सर्वत्र चतुर्णां यत्र दृश्यते।

सा प्रतिष्ठा बुधैर्ज्ञेया सुप्रतिष्ठाद्वयेन च ॥ ५५ ॥

---

१. यहाँ कारिका ५०, ५१, ५२ तथा ५३ के उदाहरण संस्कृत भाषा में है।

---

१. वृत्तिः—ख०। २. तवायुः करोतु—क०।

३. गुरु वा कथिता रजनी—क०।

४. विरहे मदनः। अधिकं दहति—क०।

५. एता नृत्ते च गीते च ज्ञेया गी गीतजातयः—क०।

६. ···सुप्रतिष्ठाभ्यां—क०, ख०।

७. चतुर्णां च पदां यस्य द्वितीयं ह्रस्वमेव वा। प्रतिष्ठायां गतं वृत्तं पुष्पं स्यात् तद्धि नामतः—ग०।

प्रतिष्ठा—जिसके चार अक्षरों के पाद में दूसरा वर्ण लघु होता है तो उसे प्रतिष्ठा कहते हैं।

सुप्रतिष्ठा—इसी छन्द में जब दो अगले वर्ण (अर्थात् तीसरा तथा चौथा वर्ण) और लघु हो जाते हैं तो यही सुप्रतिष्ठा हो जाता है ॥ ५५ ॥

प्रतिष्ठा यथा—

सोसअंतो अंगआइं[1] वादि वादो पुप्फवाही ॥ ५६ ॥

[शोषयन्नङ्गकानि वाति वातः पुष्पवाही ।]

उदा :—सुकुमार अंगों को सुखाते हुए पुष्पों की गंध लेकर यह पवन वह रहा है[1] ॥ ५६ ॥

सुप्रतिष्ठा यथा—

एदिसुए ऊसइआ आहिन्डइ[2] हंसवहू ॥ ५७ ॥

[ईदृशक उत्सकिता आहिण्डति हंसवधूः ।]

उदा :—हंसी इस प्रकार उत्सुक होती हुई घूम रही है ॥ ५७ ॥

लघूनी प्राग् गुरूणी द्वे । यदि पादे भ्रमरी[3] सा ॥ ५८ ॥

भ्रमरी—चार अक्षरों के पाद में प्रथम दो वर्ण लघु तथा अगले दो वर्ण गुरु हो तो भ्रमरी कहलाता है ॥ ५८ ॥

यथा—वणसंडे अदिमत्तो[4] । वणदत्थी परिखिण्णो ॥ ५९ ॥

[वनखण्डेऽतिमत्तः । वनहस्ती परिखिन्नः ।]

उदा :—वन प्रदेश में (चारों ओर बहार है वहाँ एक मात्र) अतिमदमत्त गजराज थक गया है ॥ ५९ ॥

लघु[5] गुरु सदा पदे । भवेत्तु या जया हि सा ॥ ६० ॥

जया—चार अक्षरों के पाद में यदि क्रमशः लघु गुरु दो बार हो तो जया कहलाता है ॥ ६० ॥

---

१. यहाँ से लेकर ध्रुवाओं के उदाहरण प्राकृत भाषा में है।

---

१. अंगअम्मि—घ०। २. अज्जइमं [अर्चति माम्]—क०।

३. मत्तालिः सा—क०। ४. विअसंते—ग०, घ०।

५. प्रथमश्च तृतीयश्च यस्याः स्याच्चतुरक्षरे। पादे लध्वक्षरे नित्यं सा जयेत्यभिसंज्ञिता इति क० पुस्तके लक्षणम्।

यथा—हिमाहए वणंतरे। अअं[1] गओ पविण्णओ[2] ॥ ६१ ॥

[हिमाहते वनान्तरे। अयं गजः प्रविष्टः।]

उदा :—वनांत प्रदेश में पाला गिरने पर यह हाथी (वहाँ) प्रविष्ट हो गया।

चतुर्णां यत्र पादानां तृतीयश्च भवेल्लघु[3]।
विज्ञेया सुप्रयोगज्ञैर्विजया नाम नामतः ॥ ६२ ॥

विजया—उपर्युक्त छन्द में यदि तीसरा वर्ण लघु हो जाए तो विजया कहलाता है ॥ ६२ ॥

यथा—मारुल्लओ णच्चंतओ। मेहागमे संबद्दओ[4] ॥ ६३ ॥

[मयूराः नृत्यन्तो मेघागमे समन्ततः।]

उदा :—आकाश में मेघों के आजाने से उनके स्वागत में चारों ओर मयूर नृत्य कर रहे हैं ॥ ६३ ॥

देयाः[5] सर्वे दीर्घाः पादे यस्याः।
नाम्ना विद्युद्भ्रान्ता सा[6] वृत्ते स्यात् ॥ ६४ ॥

विद्युद्भ्रान्ता—पाँच अक्षरों के पाद वाले छंद में यदि सभी वर्ण दीर्घ हों तो 'विद्युद्भ्रान्ता' कहलाता है ॥ ६४ ॥

यथा—एए गज्जन्ता तोअं मुंचंता।
लोअं छादन्ता मेहा[7] सम्पत्ता ॥ ६५ ॥

[एते गर्जन्ता तोयं मुञ्चन्तः। लोकं छादयन्तः मेघाः सम्प्राप्ताः।]

उदा :—यहाँ (तो तब) ये मेघ आ गये हैं जो गरजते हैं जल बरसाते हैं और संसार को अपने फैलाव से ढंक रहे हैं ॥ ६५ ॥

आदि परे द्वे यत्र[8] हि नित्यं।
ह्रस्वविधौ[9] सा भूतलतन्वी[10] ॥ ६६ ॥

---

१. असू ग अं (?)—ग०। २. पवण्णओ—घ०।
३. लघुर्भवेद्—ख०। ४. संभत्तओ—घ०।
५. पादे पादे तु स्यात् सर्वे। दीर्घा वृत्ते विद्युद्भ्रान्ता —ख०।
६. सा वृत्ते ऽस्मिन्—ख (क०)।
७. सम्पण्णा मेहा—[सम्पन्ना मेघाः]—ख०।
८. यत्र तु ह्रस्वे—क०,। ९. सा खलु नाम्ना—क०, ख०।
१०. भूतलमान्या—ख०।

भूतलतन्वी—(भूतलमान्या)—पाँच अक्षरों के पाद वाले छन्द में यदि आदि के अक्षर के बाद दूसरा और तीसरा अक्षर ह्रस्व हो तो 'भूतल-मान्या' समझना चाहिए ॥ ६६ ॥

यथा—मेहणिरुद्धं पेक्खिअ वोम्मं[1]
पंथिअदारा अंसुकिलिण्णा ॥ ६७ ॥

[मेघनिरुद्धं प्रेक्ष्य व्योमं पथिकभार्या अश्रुक्लिन्ना ।]

उदा :—आकाश को मेघों से घिरा देखकर पथिकांगनाओं की आँखें आँसुओं से गीली हो उठीं ॥ ६७ ॥

यदि च गुरुः पदनिधने । भवति हि सा कमलमुखी ॥ ६८ ॥

कमल-मुखी—यदि पाँच अक्षरों के बाद वाले छन्द में अन्तिम वर्ण गुरु हो तो 'कमल-मुखी' समझना चाहिए ॥ ६८ ॥

यथा—पवणहओ सलिलधरो[2] ।
भमइ णहे अहियसमो ॥ ६९ ॥

[पवनहतः सलिलधरो भ्रमति नभसि अहिसदृशः ।]

उदा :—ये बरसाती बादल पवन से आहत हो होकर सर्प के समान लहरा कर आकाश में घूमने लगे हैं ॥ ६९ ॥

प्रथमश्च[3] तृतीयश्च त्वन्तश्चैव यदा गुरु ।
दृश्यते प्रतिपादन्तु सा ज्ञेया वागुरा यथा ॥ ७० ॥

वागुरा—पाँच अक्षरों के पाद वाले छंद में यदि प्रथम तृतीय और अंतिम वर्ण गुरु हो तो 'वागुरा' समझना चाहिए ॥ ७० ॥

यथा—मेहरुद्धओ णट्ठजोह्णओ
णिच्चणिप्पहो एस चंदओ ॥ ७१ ॥

[मेघरुद्धो नष्टज्योत्स्नो नित्यनिष्प्रभः एष चन्द्रः ।]

उदा :—यह चन्द्र वर्षा काल में मेघों से अवरुद्ध होकर अपनी चाँदनी को खोकर प्रभा हीन हो रहा है ॥ ७१ ॥

---

१. चंदं सोअदि तारा—[प्रेक्ष्य चन्द्रं शोचति तारा]—क० ।

२. सलिलघणो—णहे उवकमसो ॥ [सलिलघनो । भ्रमति नभस्युपक्रमशः ।]—क० । ३. आद्यमध्यमौ सान्तगौ तथा । यत्र गौ गुरुः सावागुरुः ॥—इति वागुरुलक्षणं ग० घ० पुस्तकयोः ।

द्वितीयं नैधनञ्चैव चतुर्थञ्च[1] गुरुर्यदा ।
सुप्रतिष्ठाकृते पादे सा[2] शिखा कथिता तथा ॥ ७२ ॥

शिखा—पाँच अक्षरों के पाद वाले छन्द में यदि द्वितीय चतुर्थ और अन्तिम वर्ण गुरु हो तो 'शिखा' समझना चाहिए ॥ ७२ ॥

यथा—वलाहएहिं संगज्जिदेहिं[3]
णहं समता परुण्णअंव्व[4] ॥ ७३ ॥
[बलाहकैः संगर्जितैः नभः समन्तात् पूर्णमेव]

उदा :—आकाश में ये बादल पूर्व की भाँति सभी ओर से गरजते हुए एवं चारों ओर घिर कर मानों अधिकार जमा रहे हैं ॥ ७३ ॥

लघुनी त्वादौ चरणे यस्याः ।
गदिता नाम्ना घनपङ्क्तिः सा ॥ ७४ ॥

घनपंक्ति—पाँच अक्षरों के पाद वाले छंद में यदि आदि के दो वर्ण लघु हों तो 'घनपंक्ति' समझना चाहिए ॥ ७४ ॥

यथा—तडिसण्णद्धं[5] घणसंरुद्धं जलधारेहिं रुददीवब्भं ॥७५॥
[तडित्सन्नद्धं घनसंरुद्धं जलधाराभी रुदतीवाभ्रम् ।]

उदा :—मेघों से आच्छादित और बिजली से युक्त यह आकाश बरसायी गई जलधाराओं के द्वारा मानों आँसू बहा रहा है ॥ ७५ ॥

एतास्तु जातयो ज्ञेया सुप्रतिष्ठा ध्रुवास्वथ ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गायत्रीपरिकल्पनम् ॥ ७६ ॥

ध्रुवाओं में ये सुप्रतिष्ठा की जातियाँ है । अब मैं गायत्री की ध्रुवाओं में होने वाली जातियों का वर्णन करता हूँ ॥ ७६ ॥

आद्ये पुनरन्त्ये पादे गुरुणी चेत् ।
ज्ञेया[1] तनुमध्या गायत्रसमुत्था ॥ ७७ ॥

---

१. यत्र दीर्घाणि सर्वतः—क०, ख० ।
२. शिखा ज्ञेया तु सा यथा—क०, ख० ।
३. पगज्जिदेहि [प्रगर्जितैः]—क० ।
४. वरुज्झइव्व—घ० ।
५. संखुद्धं...धाराहिं [संक्रुद्धं...]—क० ।
१. स्यात् सा—ख०; वृत्तं तनुमध्यं गायत्रसमुत्थम्—ग०, घ० ।

तनुमध्या :—छः अक्षरों के पाद वाले छन्द में यदि प्रथम दो और अन्तिम दो वर्ण गुरु हों तो उसे 'तनुमध्या' समझना चाहिए ॥ ७७ ॥

यथा—वज्जाहअतुंडो[1] धाउज्झरसोत्तो[2]।
एसो गिरिराओ भूमिं विसदिव्व[3] ॥ ७८ ॥

[वज्राहततुण्डो धातुझरस्रोता एषो गिरिराजो भूमिं विशतीव।]

उदा :—यह गिरिराज सदृश मेघ आज अपने (यथाकथित) रूप में मानों पृथ्वी में प्रविष्ट हो रहा है जिसका मुँह वज्र की चोट खाया हुआ है और जिससे धातुओं के झरने बह रहे हैं ॥ ७८ ॥

आद्यं चतुर्थमन्त्यश्च गुरुण्येतानि यत्र[4] तु।
गायत्रीप्रथमे[5] पादे ज्ञेया सा मालिनी[6] यथा ॥ ७९ ॥

मालिनी :—यदि छः अक्षरों के पाद वाले (गायत्री) छन्द में प्रथम, चतुर्थ तथा अन्तिम अक्षर गुरु हो तो 'मालिनी' समझना चाहिए ॥ ७९ ॥

यथा—दीसदि पुण्णओ[7] पुव्वदिसामुहे
जुण्हासमागओ पुण्णिमाचंदओ ॥ ८० ॥

[दृष्यते पूर्णः पूर्वदिशामुखे ज्योत्स्नासमागतः पूर्णिमाचन्द्रः।]

यह पूर्व दिशा में ज्योत्स्ना से समन्वित पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र दिखलाई दे रहा है ॥ ८० ॥

प्रक्षिप्त—वाद्यविकीरिए वज्जिविणिवादिए।
पत्थमहाणअे कन्ददि हत्थिणी ॥

[वातविकीर्णके वज्रविनिपतिते।
अस्मिन् महावते क्रन्दति हस्तीनी।]

इस विशाल पर्वत पर अवस्थित यह हथिनी वायु के द्वारा उखाड़े और बिजली से गिराये गये पर्वत के एक खण्ड को देखकर भयवश जोरों से चिघांडने लगी है ॥ ८० ॥

गुरुयुगमन्ते[8] यदि[9] परमस्या।

---

१. कूडो—क०। २. डाहज्जरसुत्तो—घ०। ३. पददीत्वा—भ०।
४. यस्य—क०, ख०। ५. गायत्र्यधिकृते—क०, ख०।
६. शालिनी ख०। ७. तुण्ण''कोमुदीचंदओ—ध०।
८. युग्ममन्ते—घ०।
९. पदि पदि यस्याः—ग०, घ०।

इह[1] कथिता सा मकरकशीर्षा ॥ ८१ ॥

मकरकशीर्षा :—यदि छः अक्षरों के पाद वाले छन्द में अन्तिम दो वर्ण गुरु हो तो उसे 'मकरकशीर्षा' समझना चाहिए ॥ ८१ ॥

यथा—इह[2] सिसिरम्भि मद्जणणम्मि।
पमदवणम्मि विचरदि वादो ॥ ८२ ॥

[इह शिशिरे मदजनने प्रमदवने विचरति वातः ।]

उदा :—मद की आपादक इस शिशिर ऋतु में क्रीडा उपवन में पवन चल रहा है ॥ ८२ ॥

लघुनी चतुर्थे[3] चरणे तु यस्याः ।
भवतीह सा वै विमला तु नाम्ना ॥ ८३ ॥

विमला :—जिसके छः अक्षरों के पात्र वाले छन्द के चरण में यदि चतुर्थ वर्ण लघु हो तो उसे 'विमला' समझना चाहिए ॥ ८३ ॥

यथा—कमलाअरेसुं भमरालएसुं[4]
मदमुव्वहंतो पविसेइ हत्थी ॥ ८४ ॥

[कमलाकरेषु भ्रमरालयेषु मदमुद्वहन् प्रविशति हस्ती ।]

उदाहरण—भौंरों के निवास वाले तथा कमलों से पूर्ण इस सरोवर में प्रसन्नमन हाथी प्रवेश कर रहा है ॥ ८४ ॥

यस्याः स्युश्चरणे त्रीण्यादौ निधनम्[5] ।
दीर्घाणीह तु सा वीथिर्नाम[6] यथा ॥ ८५ ॥

वीथीः—यदि छः अक्षरों के पाद वाले छन्द में आदि तथा अन्तिम वर्ण दीर्घ हो तो उसे 'वीथी' समझना चाहिए ॥ ८५ ॥

यथा—गज्जंते[7] जलदा णच्चंते सिहिणो।
गायन्ते भमरा रम्मे पाउसए ॥ ८६॥

[गर्जन्ते जलदा नृत्यन्ति शिखिनो गायन्ति भ्रमरा रम्ये प्रावृषि ।]

---

१. यदि—ग० ।

२. सुहसिरिरंमि—ग० । ३. चतुर्थे—ग०, घ० ।

४. भमरोणदेसुंसअ सुद्धवत्ती विहआ णवत्ति [भ्रमरोन्नदत्सु समं शुद्धवृत्ति विहगा नमन्ति]—क० । ५. निधने—ग० ।

६. वीर्यो नाम—ख० । ७. गज्जंतो—क० ।

उदाहरण—इस सुरम्य पावस-ऋतु में मेघ गरज रहे हैं, मोर नाच रहे हैं और भौंरे गुंजन करते हैं ॥ ८६ ॥

त्रिलघुरादितो यदि च पञ्चमम् ।
भवति पादतः प्रकथिता गिरा ॥ ८७ ॥

गिराः—यदि छः अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम तीन और पंचम वर्ण लघु रहे तो उसे 'गिरा' कहते हैं ॥ ८७ ॥

यथा—जलदणादअं सुणिय कुंजरो ।
णददि काणणे पडिगयाउलो[1] ॥ ८८ ॥
[जलदनादं श्रुत्वा कुञ्जरो नदति कानने प्रतिगजातुरः ।]

उदाहरण—वन में मेघों की गड़गड़ाहट सुनकर यह हाथी अपने शत्रु गज की आशंका से आकुल होकर चिग्घाड़ने लगा है ॥ ८८ ॥

आद्ये चतुर्थकमन्ते[2] तथा गुरुः ।
यस्यास्तु[3] पादतः ज्ञेया हि सा जला ॥ ८९ ॥

जलाः—यदि छः अक्षरों के पाद में आदि के चार तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे जला समझना चाहिए ॥ ८९ ॥

यथा—एसा हिमाहदं[4] विक्खित्तपत्तअं
दट्‌ठूण पादवं हंसी परुण्णिआ ॥ ९० ॥
[एषा हिमाहतं विक्षिप्तपत्रकं दृष्ट्वा पादपं हंसी प्ररुदितः ।]

उदाहरण—पाले से आहत एवं विशीर्ण-पत्र वाले वृक्ष को देखकर यह हंसी रो उठी ॥ ९० ॥

ह्रस्वश्चेच्चतुर्थो[5] दीर्घाश्चैव वर्णाः ।
सर्वे यत्र पादे रम्या सा तु नाम्ना ॥ ९१ ॥

रम्याः—यदि छः अक्षरों के पाद में चतुर्थ अक्षर लघु तथा शेष वर्ण गुरु हों तो उसे 'रम्या' समझना चाहिए ॥ ९१ ॥

---

१. वडिगआउरो—क० ।
२. मन्त्ये—क० । ३. यस्याहि—ग० ।
४. हि वाउणा [हि वायुना]—क० ख० ।
५. त्रीण्यादौ यदि स्युरन्ते द्वे च दीर्घे । ज्ञेया सा विधिज्ञैर्नाम्ना वै सुनन्दा —क०, ख० ।

यथा—एदे गज्जमाणा अब्भं[1] छाद-अन्ता।
भीमा कालमेहा उव्वेदं जणेंति ॥ ९२ ॥

[एते गर्जन्तोऽभ्रं छादयन्तो। भीमाः कालमेघा उद्वेगं जनयन्ति।]

उदाहरण—ये भयंकर काल के समान कष्टप्रद मेघ इस समय जोरों से कड़कते हुए और आकाश को ढंककर और अधिक कष्ट उत्पन्न कर रहे हैं ॥ ९२ ॥

आद्यचतुर्थे[2] च अन्त्यमुपान्त्यञ्च।
यत्र गुरूणि स्युः सा[3] खलु वै कान्ता ॥ ९३ ॥

यदि छः अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ वर्ण गुरु हो तो उसे कान्ता समझना चाहिए ॥ ९३ ॥

यथा—साह सुसब्भाअं किं सि पिए कुद्धा।
मा[4] चिरसम्बद्धं पेख्खसि सब्भावं ॥ ९४ ॥
[साधय सुसद्भावं किमसि प्रिये क्रुद्धा।
मां चिरसम्बद्धं प्रेक्षसे सद्भावम् ॥]

प्रिये, तुम अपने सद्भाव को तो स्थिर रखो, क्रुद्ध क्यों हो रही हो। तुम मुझे (अपने) चिर सम्बद्ध सद्भाव से युक्त ही पाओगी ॥ ९४ ॥

त्रीण्यादौ तु यदि अन्त्यश्चापि[5] गुरुः।
नाम्ना वै कथिता पङ्क्तिः सा तु यथा ॥ ९५ ॥

पंक्तिः—यदि छः अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम तीन एवं अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'पंक्ति' समझना चाहिए ॥ ९५ ॥

यथा—एसा हंसवहू विद्धा[6] काणणदो।
गन्तुं ऊसुइआ कान्तं संगहुआ ॥ ९६ ॥

[एषा हंसवधूविद्धा काननतः गन्तुमुत्सुका कान्तं संगन्तुम।]

उदाहरण—इस वन में उत्सुक यह हंसवधू कंटकादि से विद्ध होकर भी प्रिय मिलन हेतु जाने में लीन है ॥ ९६ ॥

१. भूअं—(भुवं) ग०, घ०। २. आद्यं चतुर्थञ्च—क०।
३. सुललिता ज्ञेया—क०, सा ललिता ज्ञेया—ख०।
४. मादिरसंबद्धा उच्छिसि सब्भावं—ख०।
५. चान्त्यश्चापि—क०।
६. एत्था काणणए। गंतु उसुअअं कांतं संगहिआ—ग० घ०।

लघुनी च गुरु च द्विगुणं यदि[1] च।
चरणे चरणे कथिता नलिनी ॥ ९७ ॥

नलिनीः—यदि छः अक्षरों के पाद में दो लघु और एक गुरु दो बार आते हों तो उसे नलिनी समझना चाहिए ॥ ९७ ॥

यथा—पवणाहदआ तरुणा तरओ
कुसुमोग्गमए[2] विहसंति विअ ॥ ९८ ॥

[पवनाहतास्तरुणास्तरवो कुसुमोद्गमे विहसन्तीव ।]

उदाहरणः—बसन्त के आने पर वायु से आहत होकर ये तरुणवृक्ष मुसुकुराने लगे हैं ॥ ९८ ॥

स्याद्वितीयं[3] ह्रस्वं सर्वमन्त्यं[4] दीर्घम्।
यत्र पादे पादे नीलतोया सा स्यात् ॥ ९९ ॥

नीलतोया :—यदि छः अक्षरों के पाद में द्वितीय अक्षर लघु और शेष वर्ण गुरु रहें तो उसे 'नीलतोया' समझना चाहिए ॥ ९९ ॥

यथा—मेहवुदं वादो[5] विकरंतो वादि[6]।
दूसहो आवादि पादवाणं लासो ॥ १०० ॥

[मेघवृन्दं वातो विकिरन् वाति दुःसह आभाति पादपानां लासो]

(सम्प्रति) यह पवन मेघसमूहों को छितराते हुए और वृक्षों को नृत्य करवाते हुए दुःसह होकर बह रहा है ॥ १०० ॥

गायत्र्या जातयो ह्येता विज्ञेयाः समवृत्तजाः।
अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि उष्णिग्जातिविकल्पनम् ॥ १०१ ॥

गायत्री छन्द में होने वाली समवृत्त की यही ध्रुवा जातियाँ हैं। अब मैं उष्णिक् छन्द में होने वाली ध्रुवा जातियों को बतलाता हूँ ॥ १०१ ॥

गुरुनिधनगतं यदि भवति सदा।
भवति तु चपला द्रुतगतिरथवा[7] ॥ १०२ ॥

चपला—(द्रुतगति) :—यदि सात अक्षरों के पाद वाले छन्द में अन्तिम वर्ण गुरु रखा जाता है तो उसे चपला या 'द्रुतगति' समझना चाहिए ॥ १०२ ॥

---

१. यदि चेच्चरणे—क० । २. कुसुमागमए—क० ।
३. यद्वितीयं—ग०, घ० । ४. मन्यद्दीर्घम्—ग०, घ० ।
५. एसो—घ० । ६. वादो—घ० । ७. गतिरपि सा—क०, ख० ।

यथा—गुरुचिरणयणं वरमणिणियरं[1] ।
मम मदजणणं तव वदणमिदं ॥ १०३ ॥

[सुरुचिरनयनं वरमणिनिकरं ।
मम मदजननं तव वदनमिदम् ॥]

उदाहरणः—अरी सुन्दरी, उत्तम मणि के समान सुन्दर, चमकीले एवं सुन्दर नेत्रों वाला तुम्हारा यह मुख मुझे मदमत्त कर रहा है ॥ १०३ ॥

गुरु[2] चान्त्यपञ्चमं चरणे तृतीयतः ।
गदिता ततस्तु सा विमलेति नामतः ॥ १०४ ॥

विमला :—यदि सात अक्षरों के पाद में पंचम और अंतिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'विमला' समझना चाहिए ॥ १०४ ॥

यथा—पिओ[3] वाइ वायओ सुवसंतकालए ।
एस कामुओ विअ मदणं जणंतओ ॥ १०५ ॥

[प्रिययो वाति वायुः सुवसन्तकाले ।
एषः कामुक इव मदनं जनयन् ॥]

उदाहरण :—वसन्त ऋतु में यह पवन कामुक प्रिय के समान आनन्द देते हुए और मद को बढ़ाते हुए चल रहा है १०५ ॥

गुरुणा लघुना चैव समाना[4] या हि वा ध्रुवा ।
छन्दस्युष्णिक्[5] कृते पादे सा ज्ञेया कामिनी यथा ॥ १०६ ॥

कामिनी :—यदि सात अक्षरों के पाद में लघु वर्ण गुरु वर्ण के साथ समान रूप में क्रमशः रहे तो उसे कामिनी समझना चाहिए ॥ १०६ ॥

यथा—पेक्खिऊण आअदं साहवं च[6] इट्ठओ ।

---

१. तव वअणमिदं । रमणि इतिअरं मम मदजणणम्—क० ।

२. तृतीय पञ्चमञ्चैव गुरुर्यत्र तु नैधनम । सदा तूष्णिक्कृते पादे तन्वी सा नामतो यथा—क० ।

३. पिअवादवादओ···प्पिअकामुओ—[प्रियवादवादकः···प्रियकामुक]—क० । ४. समं नीता हि या ध्रुवा—क० ।

५. छन्दस्युष्णिहि वृत्तज्ञैर्विज्ञेया—क०, ख० । अत्र-आद्य मन्तपञ्चमे स्यात्तृतीयमेव च । पादतो गुरूणि वै यस्य सा शिखा तु सा ॥ इत्येके पठन्तीति—क पुस्तकेऽधिकम् ।

६. माहवं बहिट्ठओ—घ० ।

पादवं वणोह्लुओ[1] वादि वामवादओ ॥ १०७ ॥
[प्रेक्ष्य आगतं माधवञ्च इष्टकः (कृत्) ।
पादपं वनोद्यतो वाति वामवातकः ॥]

उदाहरण—दूर से आते हुए वसन्त को देखकर व्यक्ति के सदृश यह दक्षिण पवन वृक्षों को जोरों से झकोरते हुए चलने लगा है ॥ १०७ ॥

आद्ये पुनरथान्त्ये[2] पादे च गुरुणी द्वे ।
ज्ञेया भ्रमरमाला नाम्ना प्रकथिता सा ॥ १०८ ॥

भ्रमरमाला :—यदि सात अक्षर के पाद में आदि के दो वर्ण तथा अन्तिम दो वर्ण गुरु हो तो उसे भ्रमर माला समझना चाहिए ॥१०८॥

यथा—हंसागमणधीरं कासं सुअविचित्रम् ।
एदं सरदकाले रम्मं सरसि[3] तोअम् ॥ १०९ ॥
[हंसागमनधीरं काशं सुखविचित्रम् ।
एतत् शरदि काले रम्यं सरसि तोयम् ॥]

उदाहरण—इस शरद-ऋतु के समय दिखाई देने वाला सरोवरों का जल और भी अधिक लुभावना बन पड़ा है जब उसमें आकर मन्द गति से हंस तैरने लगे हों और कास का सुखद एवं विचित्र वस्त्र वह धारण करता हो ॥१०९॥

आद्यचतुर्थगते[4] अन्त्यतमञ्च गुरु ।
यत्र सदा चरणे सा खलु भोगवती ॥ ११० ॥

भोगवती :—यदि सात अक्षरों के पाद में प्रथम, चतुर्थ तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'भोगवती' समझना चाहिए ॥ ११० ॥

यथा—चक्कसणामवहू कंतसहाइणिआ ।
णिम्मलयम्मि[5] जले हिण्डदि संगदिआ ॥ १११ ॥
[चक्रसनामवधूः कान्तसहायं नीता ।
निर्मलेऽस्मिन् जले हिण्डति सङ्गतिका ॥]

---

१. पणोणिल्लिओ वाइ दक्खिणा णिलो—ग० घ० ।
२. पुनरन्त्ये च यस्या गुरुणी पादे—क० ।
३. सुरहि तोअम् [सुरभि तोयम्]—ग०, घ० ।
४. आद्यचतुर्थसमः अन्तिमकञ्च—ग० ।
५. मस्सि जले…संगमिआ—ग० ।

उदाहरण —चकवी अपने प्रियतम को साथ लेकर इस निर्मल जल वाले सरोवर में प्रीति पूर्वक विहार कर रही है ॥ १११ ॥

आदौ यदि गुरूणी अन्त्यं[1] निधनगतम् ।
ज्ञेया मधुकरिका ह्युष्णिग्विनिगदिता[2] ॥ ११२ ॥

मधुकुरिका :—यदि सात अक्षरों के छन्द में आदि के दो तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'मधुकरिका' समझना चाहिए ॥ ११२ ॥

यथा—एसा पिअक-लदा रम्मामरणजुदा[3] ।
काले मदजणणे जादा कुसुमवदी ॥ ११३ ॥

[एषा प्रियकलता रम्याभरणयुता ।
काले मदजनने जाता कुसुमवती ॥]

उदाहरण :—वसंत की मादक वेला में यह प्रियगुंलता रम्य (प्रियक) आभरण धारण करती हुई कुसुमवती (पुष्पित, रजस्वला) हो रही है ॥ ११३ ॥

द्वितीयश्च चतुर्थश्च अन्त्योपान्त्ये तथैव च ।
पादे[4] यत्र गुरूणि स्युः सुभद्रा नामतो यथा[5] ॥ ११४ ॥

सुभद्रा :—यदि सात अक्षरों के पाद में दूसरा, चौथा, उपान्त्य तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'सुभद्रा' समझना चाहिए ॥

यथा—हिमाहदे[6] वणम्मि पणठ्ठपंकतोये ।
करेणुआविहीणो उवेदि मत्तहत्थी ॥ ११५ ॥

[हिमाहते वने प्रनष्टपङ्कतोये ।
करेणुकाविहीनः उपैति मत्तहस्ती ॥]

उदाहरण—यह मदमत्त हाथी अपनी हथिनी को साथ लिये बिना ही इस उबड़-खाबड़ कीचड़ वाले सूखे बन में चला आ रहा है ॥ ११५ ॥

---

१. पादे निधनगतम्—ग० । २. ह्यभिकथिता—क० ।
३. भमरजआ—[भ्रमरजया]—क० । ४. पादे पादे—ख० ।
५. अन्त्यश्च निधनश्च गुरूणि स्युः सुभद्रा नामतो यथा ॥ -क०; लघुस्तृतीयाद्ये ततः पञ्चमः स्यात् । यदा तु पादयोगे स्मृता सा सुभद्रा ॥ -इति सुभद्रालक्षणान्तरं—क(र०) पुस्तके ।
६. वणम्मि सुखरुक्खे पणपट्टपक्खितोये । [वने शुष्कवृक्षे प्रणष्टपक्षितोये] —क० ।

यदि च भवत्यन्त्ये[1] पदि पदि दीर्घाणि ।
त्रिगुरुरिह प्रोक्ता कुसुमवती[2] नाम्ना ॥ ११६ ॥

कुसुमवती :—यदि सात अक्षरों के पाद वाले छन्द के प्रत्येक पाद में अन्तिम तीन वर्ण गुरु रहें तो उसे 'कुसुमवती' समझना चाहिए ॥ ११६ ॥

यथा—जलहरसम्भत्ते[3] खिदिधरमूलम्मि[4] ।
सहयरिसंजुत्तो पविचरिदो हत्थी ॥ ११७ ॥

[जलधरसम्भृते क्षितिधरमूले ।
सहचरीसंयुक्तः प्रविचरितः हस्ती ॥]

उदा :—मेघों से विलम्बित पर्वत प्रदेश में अपनी सहचारिणी हथिनी को लेकर यह हाथी डोल रहा है ॥ ११७ ॥

द्वितीयश्च[5] तृतीयश्च अथान्ते गुरुणी चेत् ।
सदा यत्र तु पादे भवेत् सा मुदिता वै ॥ ११८ ॥

मुदिता :—यदि सात अक्षरों के पाद में दूसरा, तीसरा और अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे मुदिता समझना चाहिए ॥ ११८ ॥

यथा—महामेह-विदाणं बलाकाकुलबद्धम्[6] ।
महाभीम-णिणादं पदिण्णं[7] गयणम्मि ॥ ११९ ॥

[महामेघवितानं बलाकाकुलबद्धम् ।
महाभीमनिनादं प्रदत्तं गगने ॥]

उदा :—इस समय आकाश में बादलों की जमघट है, जिसके साथ बगुलों की पाते भी हैं—जो अतिशय मोह को पैदा कर रही हैं और बड़ी डरावनी आवाजें निकाल रही हैं ॥ ११९ ॥

---

१. भवन्त्येवं—क० ।

२. भवति तु मत्तेयम्—क०; ख० पुस्तके तु—यदि च गुरुण्यन्ते चरण-विधौ त्रीणि । तत इह विज्ञेया—इति पाठः ।

३. संभंतो···पिअजुवदीसत्तो—क० ।

४. महिअरकुंजम्मि—ग० घ० ।

५. द्वितीयं सतृतीयं तथान्त्ये इह दीर्घम् । यदि त्रयं तु पादे भवेत् सा तु मुदिता ॥—क० ख०; द्वितीये गुरुणी द्वे तथान्ते यदि स्याताम् । तदा सा मुदिताख्या ध्रुवेयं प्रविभक्ता ॥ —क (म०) ।

६. बलायावलिवद्धं—घ० । ७. वणा—ग०; वलग्गं—घ० ।

चतुर्थं[1] निधनञ्चैव षष्ठञ्चैव गुरुण्यथ।
यत्र तूष्णिककृते पादे नाम्ना सा[2] हि प्रकाशिता ॥ १२० ॥

प्रकाशिता :—यदि सात अक्षरों के पाद में चतुर्थ, षष्ठ तथा अंतिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'प्रकाशिता' समझना चाहिए ॥ १२० ॥

यथा—कुसुमगन्धवाही सलिलरेणुपुण्णो।
रमणि वादि वादो[3] मणसिजं जणंतो[4] ॥ १२१ ॥

[कुसुमगन्धवाही सलिलरेणुपूर्णः।
रमणि वाति वातो मनसिजं जनयन् ॥]

उदा :—सुन्दरी, देखो यह पुष्पों की सौरभ से, जल कणों से तथा पुष्पों के परागों से सना हुआ पवन काम को उत्तेजित करते हुए बह रहा है ॥ १२१ ॥

प्रथमं यत्र पादे लघुनी पञ्चमञ्च।
कथिता सा तु दीप्ता सततं चेत्तथोष्णिक् ॥ १२२ ॥

दीप्ता :—यदि सात अक्षरों के पाद में प्रथम तथा पंचम वर्ण लघु हो तो उसे 'दीप्ता' समझना चाहिए ॥ १२२ ॥

यथा—पवणो पुप्फवाही मदणं[5] दीवयंतो।
सिसिरे वादि काले मम सोअं[6] जणंतो ॥ १२३ ॥

[पवनः पुष्पवाही मदनं दीपयन्।
शिशिरे वाति काले मम शोकं जनयन् ॥]

उदा :—शिशिर ऋतु में पुष्पों की सुगन्ध को लेकर यह पवन मदन को बढ़ाते हुए चल रहा है और मुझे शोकाकुल कर रहा है ॥ १२३ ॥

द्वितीयञ्च चतुर्थञ्च अन्त्योपान्त्ये तथैव च।
यत्र पादे तु दीर्घाणि उष्णिक् सा तु विलम्बिता ॥ १२४ ॥

---

१. यदि चतुर्थमन्त्यं गुरु तथैव षष्ठम्। भवति सा तु नाम्ना विगदिता मनोज्ञा ॥ इति—क० पु० पाठः।

२. साभिप्रकाशिनी—इति क पुस्तके व्याख्यातृपाठः।

३. वा ओ—ग०। ४. जणंते—ख०।

५. अइसीदो समन्ता—[अतिशीतः समान्तात्]—क०।

६. तासं जणंतो—घ०।

विलम्बिता :—यदि सात अक्षरों के पाद में द्वितीय, चतुर्थ तथा अंतिम दो वर्ण गुरु हो तो उसे 'विलम्बिता' समझना चाहिए ॥१२४॥

यथा—गइंदतोअक्खोआ[1] पटीपरिस्थहंसा ।
भमंतचक्कवाआ णदी गआ समुद्दम् ॥ १२५ ॥
[गजेन्द्रतोयक्षोभा प्रतीप ऋद्धहंसा ।
भ्रमच्चक्रवाका नदी गता समुद्रम् ॥]

उदा :—यह नदी गजेन्द्रों के द्वारा जल के आलोडित करने, हंसों की पातों के द्वारा विरुद्ध गमन द्वारा छोड़े जाने और चकवों के मंडराने पर भी अपने इष्ट समुद्र तक पहुँच ही गयी ॥ १२५ ॥

आद्यमथ पञ्चमं दीर्घमथ नैधनम् ।
यत्र यदि नामतः चञ्चलगतिस्तु[2] सा ॥ १२६ ॥

चञ्चलगति :—यदि सात अक्षरों के पाद में प्रथम, पंचम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे चंचलगति समझना चाहिए ॥ १२६ ॥

यथा—मेहमलमुक्कओ[3] णिम्मलभणिग्गओ[4] ।
पुण्णससि[5] सोहदि एस णहअंगणे ॥ १२७ ॥
[मेघमलमुक्तः निर्मलभाण्डगतः ।
पूर्णःशशी शोभते एषः नभोङ्गणे ॥]

उदा :—यह पूर्ण चन्द्र आज कालिकामुक्त शुभ्र मेघों से निकल कर जब अपनी कोमल किरणों से प्रकाशित होता है तो आकाश के प्रागंण में कितना भला दिखता है ॥ १२७ ॥

एतास्तु जातयो ज्ञेया स्थिताः[7] प्रासादिकीष्वथ ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्वनुष्टुब्लक्षणं पृथक् ॥ १२८ ॥

ये प्रासादिकी ध्रुवाओं में रहने वाले छन्द है । अब मैं अनुष्टुप् जाति की ध्रुवाओं के छन्द बतलाता हूँ ॥ १२८ ॥

---

१. गलंतवीअतोआ विइण्णपक्खिसंघा।···ण भादि णिम्मगाआ ॥ घ०।

२. पञ्चमगतिस्तु सा—ग०। ३. मुत्यओ—क०।

४. गहाउलो—क।

५. सोहदि णहंगणे णिम्मलकरो ससी—क० [···ग्रहाकुलः । शोभते नभोङ्गणे निर्मलकरः शशी]।

७. स्थितप्रासादिकेष्वय—ख०।

लघुनी गुरु लघुनी यदि[1] वा गुरु चरमे।
चरणे प्रतिनियता[2] कथिता विमलजला[3] ॥ १२९ ॥

विमलजला :—यदि आठ अक्षरों के पाद में दो लघु के बाद तृतीय और तीन लघुओं के बाद अष्टम वर्ण अन्तिम गुरु हो तो उसे 'विमलजला' समझना चाहिए ॥ १२९ ॥

यथा—विकचाम्बुजहसिरे[4] भमरावलिमुहले।
बहुणिम्मलसलिले विहगो परिभमदि[5] ॥ १३० ॥

[विकचाम्बुजहसिते भ्रमरावलिमुखरे।
बहुनिर्मलसलिले विहगः परिभ्राम्यति ॥]

उदा :—अतिशय निर्मल जल में खिले हुए और भौंरों की गुंजन से प्रतिध्वनित कमलों पर यह पक्षी मंडरा रहा है ॥ १३० ॥

यदि[6] खलु पञ्चमकः पुनरपि चान्त्यगतः।
भवति च पादेऽपि गुरुः ललितगतिः खलु सा ॥ १३१ ॥

ललितगति :—यदि आठ अक्षरों के पाद में पंचम और अष्टम (अन्त्य) वर्ण गुरु हो तो उसे 'ललितगति' समझना चाहिए ॥ १३१ ॥

यथा—कुसुमसुअंधिअए मणसिजदीवणए।
प्रमदवणंगणए विलसदि[7] हंसवहू ॥ १३२ ॥

[कुसुमसुगन्धिते मनसिजदीपने।
प्रमदवनाङ्गणे विलसति हंसवधूः ॥]

उदा :—यह हंसिनी उस प्रमदवनोद्यान के आंगन में विहार कर रही है जो विविध कुसुम सौरभ से सुगन्धित है और इसलिये कामुकता का उत्तेजक हो गया है ॥ १३२ ॥

---

१. लघुनी गुरु च यदि—क।

२. नियतगतो—क०।

३. तृतीयं नैधनञ्चैव यत्र दीर्घं भवेत् सदा। पादे तु पुष्कृते (१) तज्ज्ञैः सा ज्ञेया ललिता यथा ॥—इति खपुस्तके कारिकापाठः।

४. सिहरे—ग०। ५. भमइ सरे—क०।

६. पञ्चमं नैधनञ्चैव पादे स्यातां तु यत्र वै। नित्यमानुष्टुभे दीर्घे विज्ञेया ललितेति सा ॥—क०, ख०।

७. विचरदि हंसवए-ख० घ०।

षष्ठञ्चैवाष्टमञ्चैव यस्याः[1] स्यादक्षरं गुरु।
नित्यमानुष्टुभे पादे मही ज्ञेया तु सा यथा[2] ॥ १३३ ॥

मही :—यदि आठ अक्षरों के पाद में षष्ठ तथा अष्टम वर्ण गुरु हो तो उसे 'मही' समझना चाहिए ॥ १३३ ॥

यथा—बहुकुसुमसोहिए कमलवनसंडए[3]।
सहअरसहाइणी परिसरदि[4] हंसिआ ॥ १३४ ॥

[बहुकुसुमशोभिते कमलवनखण्डे।
सहचरसहायिनी परिसरति हंसिका ॥]

उदा :—यह हंसिनी अपने सहचर के साथ विविध कुसुमों से शोभित इस कमल सरोवर में विहार कर रही है ॥ १३४ ॥

लघुगण इह षट्को यदि भवति मुखे तु।
चरणगतिविधौ सा मधुकरसदृशाख्या ॥ १३५ ॥

मधुकरसदृशा :—यदि आठ अक्षरों के पाद में आदि के छः वर्ण लघु हों तथा (दो) वर्ण गुरु हों तो उसे 'मधुकरसदृशा' समझना चाहिए ॥ १३५ ॥

यथा—विविधवणविचारी कमलवणसुअन्धी[5]।
कुमुदवणविवोधी भमदि सरदि वाओ ॥ १३६ ॥

[विविधवनविचारी कमलवनसुगन्धिः।
कुमुदवनविबोधी भ्रमति शरदि वातः ॥]

उदा :—शरद ऋतु में पवन अनेक वन उपवन में होकर बहता है, कमल वन में चलने से जिसमें से मीठी सुगन्ध निकल रही है और जो कुमुदकुसुमों को विकसित करता रहता है ॥ १३६ ॥

---

१. यत्र—ग०।

२. यदि च खलु षष्ठकाललघुगण इहादितः। पुनरपि च सप्तमं लघु भवति सा मही ॥—इति क० पुस्तके पाठान्तरलम्भः

३. खंडए—ख०।

४. पविचरदि म०, घ०।

५. पमदवणसुअंधी। कुसुमवणविवोही लसदि—[प्रमदवनसुगन्धी। कुसुमवनविबोधी लसति]—क०।

यदि खलु पञ्चमकं पुनरपि चान्त्यमकम्[1]।
गुरुचरणे तु[2] यदा भवति सा नलिनी ॥ १३७ ॥

नलिनी :—यदि आठ अक्षरों के पाद में पंचम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'नलिनी' समझना चाहिए ॥ १३७ ॥

यथा—पुलिनतलंगणए कमलणिधिवासिणी[3]।
पजवं[4] हि वासगिहं पअरदि सारसिआ ॥ १३८ ॥

[पुलिनतलाङ्गणे कमलनिधिनिवासिनी।
प्रजवं हि वासगृहं प्रचरति सारसिका ॥]

उदा :—कमल सरोवर में निवास करनेवाली सारसिका अपने प्रियतम के आवास गृह की ओर बढ़ रही है जो नदी के तटवर्ती पुलिन में स्थित है ॥१३८॥

आद्यमपि[5] निधनञ्च दीर्घमथ भवति चेत्।
यत्र हि चरणविधौ सा खलु भवति नदी ॥ १३९ ॥

नदी :—यदि आठ अक्षरों के पाद में प्रथम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो 'नदी' समझना चाहिए ॥ १३९ ॥

यथा—हंसकुलसंमुदिदे सारसकुलमुहले[6]।
मत्तमधुरअरगणे हिण्डदि महुअरिआ ॥ १४० ॥

[हंसकुलसम्मुदिते सारसकुलमुखरे।
मत्तमधुकरकुले हिण्डति मधुकरिका ॥]

उदा :—यह मधुकरिका उस कमलवन में भ्रमण कर रही है, जहाँ हंसों के समूह प्रसन्न हो रहे हैं, सारस (पक्षी) गण की ध्वनि गूंज रही है और मधुकर मदमत्त हो रहे हैं ॥ १४० ॥

---

१. चान्त्यतमम्—क०, ख०।

२. तु भवेद् भवति हि सा नलिनी—क०।

३. कमलिणीवासणिया—[कललिनीवासिन्याः]—क०।

४. पिययनवासगिहं विसरदि—ख० ग०।

५. प्राग् यदि निधनगतं स्यादथ गुरुसततम्—क०, ख०।

६. रुदमुहले—[रुतमुखरे]—क०, सारसकुंचमुहलले [सारसक्रौञ्च-मुखरे]—ख०।

अनुष्टुब्जातयो ह्येताः प्रावेशिक्यः[1] प्रकीर्तिताः ।
स्त्रीणामुत्तममध्यानामपकृष्टां[2] निबोधत ॥ १४१ ॥

अनुष्टुप् जाति की ये ध्रुवाएँ प्रावेशिकी होती हैं। अब मैं उत्तम तथा मध्यम जाति के स्त्री-पुरुषों में प्रयुक्त होने वाली 'अवकृष्टा' ध्रुवा का वर्णन करता हूँ ॥ १४१ ॥

आद्ये चतुर्थमपि चान्त्ये दीर्घाणि यत्र चरणे तु ।
प्रावेशिकी[3] तु बृहती सा नाम्ना[4] तथैव रुचिराख्या ॥ १४२ ॥

रुचिरा :—यदि नौ अक्षरों के पाद में प्रथम, चतुर्थ तथा अंतिम दो वर्ण गुरु हों तो उसे 'रुचिरा' समझना चाहिए ॥ १४२ ॥

यथा—राहुपराअहिअसोहं चंदं णहे णिसमिऊण ।
तारागणो वि हितसोहो[5] तेजस्सुएहिं रुददिव्वा ॥ १४३ ॥
[राहुपरागहृतशोभं चन्द्रं नभसि निशम्य ।
तारागणोऽपि हृतशोभस्तेजोश्रुभी रुदतीव ॥]

उदा :—राहू द्वारा चन्द्र के ग्रहण की दशा को सुनकर यह समग्र नक्षत्र समूह अतिशय शोकाकुल हो अपने तेज रूप आँसू बहाते हुए मानो रो रहा है ॥ १४३ ॥

यदि पञ्चमं हि सतृतीयं पादान्तरचिते वै[6] ।
प्रमितेति सा भवति नाम्ना अवकृष्टा[7] जातिरिह पङ्क्तिः ॥१४४॥

प्रमिता :—यदि नौ अक्षरों के पाद में तृतीय, पंचम तथा अंतिम तीन वर्ण गुरु हों तो उसे 'प्रमिता' समझना चाहिए ॥ १४४ ॥

यथा—घणगब्भगेहपरिखित्तो अरुणघहापिहिदसोहो[8] ।
गयणंगणे विहरमाणो ण विभादि जुह्न[9]रहिदेन्दु ॥ १४५ ॥

---

१. प्रोक्ताः प्रावेशिकाश्रयाः—ग० । २. मवकृष्टां—क०, ख० ।
३. प्रातिवेशिकी—ख०, ग० ।
४. नाम्ना जाता तथैव रुचिरा—ग० ।
५. गुरुमोहो तेजोसुर्केहि—ख, गुरुसोओ तेजोंसुर्केहि—घ० ।
६. द्वे—क० । ७. ह्यवकृष्टजाति—क० ।
८. सोहा—क० ।
९. जोण्हरहि इन्दू—क० ।

[घनगर्भगेहपरिक्षिप्तो अरुणप्रभापिहितशोभः ।
गगनाङ्गणे विहरमाणो न विभाति ज्योत्स्नारहित इन्दुः ॥]

उदा:—ज्योत्स्ना से हीन यह चन्द्र मेघों के भारों के बीच घिरकर तथा सूर्य की अरुण-प्रभा से अपनी शोभा को आच्छादित किये हुए भी सुशोभित नहीं हो रहा है ॥ १४५ ॥

यदि खलु षष्ठ[1]मथान्त्ये भवतो गुरुणी चरणयोगे ।
स्थिति[2]लयकृता तु[3] जगती सा भुवि गदिता गतशोका ॥१४६॥

गतविशोकाः—यदि नौ अक्षरों के पाद में षष्ठ तथा अंतिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'गतविशोका' समझना चाहिए ॥ १४६ ॥

यथा—जलहर[4]विदाणपिहिदंगो रविकिरणजालहिदसोहो ।
अह[5]मुहविणिग्गमविवण्णो[6]असु विसदि अत्थगिरिमिंदु ॥१४७॥

[जलधरवितानपिहिताङ्गः रविकिरणजालहृतशोभः ।
अहमुखविनिर्गमविवर्णः आशु विशति अस्तगिरिमिन्दुः ॥]

उदा:—मेघों के समूह से आच्छादित स्वरूप वाला, सूर्य की किरणों से अपने सौन्दर्य को नष्ट किये हुए प्रातःकाल के होने से विवर्ण मुख सा यह चन्द्र अस्ताचल की ओर शीघ्र बढ़ रहा है ॥ १४७ ॥

आद्ये चतुर्थ[7] दशमाष्टमान्तगा यस्या गुरूणि च भवन्ति पादतः ।
[8]सा त्रैष्टुभे भवति पादविधौ विश्लोकजातिरव[9]कृष्टगता ॥१४८॥

विश्लोकः—यदि (अतिजगती के) बारह अक्षरों के पाद में प्रथम दो वर्ण, चतुर्थ, अष्टम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'विश्लोक' समझना चाहिए ॥ १४८ ॥

---

१. षष्ठमपि चान्त्ये गुरुरचना या—ग० ।
२. स्थितनहृता नु जगती यदि निगदिता—ख० ।
३. नु जगतीयं भुवि निगदिता विगतशोका—क० ।
४. विआण पिहिअंगों—क०, विदरणविहदसु—ग० ।
५. गहमुहविणिग्गअ—क० ।
६. ण तिमिरगणोहसिओ चंदो—घ० ।
७. चतुर्थमपि चाष्टममक्षरं चैकादशं यदि भवेच्च गुरु ।—क०, ख० ।
८. ज्ञेया ततोऽनुकरणोद्भवा हि सा—घ० ।
९. जगती समाश्रिता—ग०, रवकृष्टजागता—घ० ।

यथा—मेहत्थिओ रविकराभिहदो
तारागणेहि विधुरे गमिदो ।
अत्थं उवेदि अरुणाभिहदो
चंदो णहम्मि रअणीसहिदो ॥ १४९ ॥

[[1]मेघस्थितो रविकराभिहतस्तारागणैर्वैधुर्यं गमितः ।
अस्तमुपैत्यरुणाभिहत—श्चन्द्रो नभसि रजनीसहितः ॥]

उदाः—यह चन्द्र मेघों के बीच दबते हुए, सूर्य की किरणों से अभिहत होकर, तारागणों के द्वारा विधुरभाव को प्राप्त करते हुए, अरुण से धकेले जाकर रजनी के साथ अस्ताचल को प्राप्त कर रहा है ॥ १४९ ॥

आद्ये चतुर्थं[2] दशमं नैधनं ह्यष्टमं तथा ।
यत्र दीर्घाणि पादे स्युस्तत्[3] वृत्तं ललितं स्मृतम् ॥ १५० ॥

ललिताः—यदि बारह अक्षरों के पाद में प्रथम, चतुर्थ, अष्टम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'ललिता' समझना चाहिये ॥ १५० ॥

यथा—एसो [4]पमत्तमयघुम्मिदाणणो
झीणो[5] पफुल्लवणवा[6]दिचालिदो ।
[7]पासाभिबद्धचरणो गआणुगो
रम्मं वणं गयवरो पलाअदि ॥ १५१ ॥

[एषः प्रमत्तमदघूर्णिताननो क्षीणः प्रफुल्लवनवातचालितः ।
पाशाभिबद्धचरणो गजानुगो रम्ये वने गजवरः पलायते ॥]

उदाः—मद के आधिक्य से अपने मस्तक को अनवरत हिलाने वाला यह गजराज पाश से अपने चरणों के आबद्ध होने पर भी अन्य हथिनियों से अनुगत होने पर क्षीण शक्ति होकर सुन्दरवन को देखते हुए वन के प्रफुल्ल पवन मात्र से आन्दोलित किये जाने पर पलायन कर रहा है ॥ १५१ ॥

---

१. मेकच्छर्तुरदिकरात्रिहंदो वारणे हदो वारणेहि विधरिदंगग्गिदो (?) । इत्थं उवेदि अरुणोहसिदो—ख०, घ० ।

२. चतुर्थनियमं—ग० । ३. जगती ललिता यथा—ग० ।

४. पमत्तगअदूमिदाणणो—क०, एसो वसंत महुआसि आगणो—ग० ।

५. दीणो—क० । ६. वाउवालिअं—घ० ।

७. दोवासं हि घणइणोगआसणो रम्मोवणंगणपखाणओ —ग० ।

यदि पञ्चमं हि सतृतीयनैधनं
नवमं द्वितीय[1]मपि तस्य तादृशम् ।
[2]चरणे गुरूणि यदि साऽतिपूर्विका
जगती बुधैर्निगदिता विलम्बिता ॥ १५२ ॥

विलम्बिता:—यदि तेरह अक्षरों के पाद में तृतीय, पंचम, नवम, एकादश तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'विलम्बिता' समझना चाहिए। ॥ १५२ ॥

यथा—घण[3]संतदायदविदाणमंबरं
अवलंबिऊण रअणीमुहे ससी ।
[4]गह्व-गाह-संकुचिअमंद-जोह्वओ
ण विराजदे [5]सवदि किं पधाविओ ॥ १५३ ॥

[घनसन्ततायतवितानमम्बर-
मवलम्बितुं न रजनीमुखे शशी ।
ग्रहग्राहसङ्कुचितमन्दज्योत्स्नः
न विराजते सपदि किं प्रधावितः ॥]

उदा—रात्रि के आरंभ में उदित होने वाला यह चन्द्र मेघों के मध्यवर्ती भाग से आने वाले घन अन्धकार के कारण ठीक से प्रकाशित नहीं हो रहा है, क्योंकि इसी कारण उसकी फैलने वाली ज्योत्स्ना संकुचित होकर मद्धिम पड़ गयी है और असहाय होकर यह मानो आकाश को थामने के लिए ही क्या शीघ्रता से दौड़ रही है ॥ १५३ ॥

एतास्तु जातयो ज्ञेया स्थितानां [6]तु प्रवेशजाः ।
आक्षेपि[7]कापकृष्टानां सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १५४ ॥

ये प्रावेशिकी स्थिता जाति की ध्रुवा हैं। अब मैं आपेक्षिकी अपकृष्टा जाति की ध्रुवाओं का वर्णन करता हूँ ॥ १५४ ॥

१. तृतीयमपि तादृशं वरम्—ख० ।
२. भवति हि गुरुणि यत्र वै जगती पदैर्भवति समानावसाना—घ० ।
३. वणसंडअं घणतमागमासिअं अनगाहिऊण—घ० ।
४. इह णिच्चसंकुचिअ—घ० ।
५. समधिकं पदीविआ—घ० ।
६. हि प्रयोगजाः—क०, तु प्रवेशनाः—ख० ।
७. आक्षेपिक्यवकृष्टानां—क० ।

सुप्रतिष्ठादिकं [1]छन्दस्त्ववकृष्टासु योजयेत् ।
[2]अत्युक्तादीनि च तथा देवस्तुत्याश्रयाणि तु ॥ १५५ ॥

अपकृष्टा ध्रुवाओं में सुप्रतिष्ठा जाति के छन्दों की योजना करनी चाहिए। इसी प्रकार देवस्तुति में प्रयोग किये जाने वाले अत्युक्ता आदि अन्य छन्दों की योजना की जाय ॥ १५५ ॥

अक्षराणां [3]निवेशेन यतयः पाणयस्तथा ।
अवकृष्टास्तु यस्याः स्युरवकृष्टा तु सा भवेत् ॥ १५६ ॥

जिसमें यति, पाणि तथा अक्षरों के निवेश का कलाओं के मध्यवर्ती विभाग आदि के द्वारा विधान किया जाए उसे 'अपकृष्टा ध्रुवा' जानो। ॥ १५६ ॥

स्थायिवर्णा स्थितलया कलान्तरकृताक्षरा ।
समपाणियतिश्चैव ह्यवकृष्टा विधीयते ॥ १५७ ॥

अपकृष्टा ध्रुवा में स्थायीवर्ण, स्थितलय, वर्णों की समुचित संख्या का विविध कलाओं में निवेश तथा समपाणि और समयति रहती है ॥ १५७ ॥

अपकृष्टाध्रुवाणां तु कलान्तर-कलासु च ।
अक्षराणां निवेशस्तु [4]वृत्तजात्या विधीयते ॥ १५८ ॥

अपकृष्टा ध्रुवा में कला तथा अन्तर कलाओं के वर्णों की योजना वृत्त छन्दों के लक्षणानुसार रखनी चाहिए ॥ १५८ ॥

[5]अल्पवस्तुपदा नित्यमपकृष्टा विधीयते ।
प्रावेशिक्यास्तु संक्षेपः [6]करणाङ्गपरिग्रहात् ॥ १५९ ॥

अपकृष्टा ध्रुवा को सदा अल्प स्वरूप वाली वस्तु तथा पद से निर्मित किया जाये तथा प्रावेशिकी ध्रुवा में करणांगों के ग्रहण के कारण वस्तु को संक्षिप्त रूप में रखना चाहिए ॥ १५९ ॥

एवं [7]ज्ञेयापकृष्टानां जातीनां वृत्तसम्भवः ।

---

१. चैव अपकृष्टासु—ग०, घ० ।
२. वृत्तान्यन्यानि यानि स्यु—क०, ख० । ३. निवेशं तु—क० ।
४. वृत्यजात्यां— क०, वृत्तजा तु—ख० ।
५. अल्पवर्णान्तिरा चैव ह्यप-क० ।
६. कारणानां—क०, संक्षेपकारणानां—ख० ।
७. ज्ञेयोऽवकृष्टानां—क०, ख० ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि [1]द्रुतानामिह लक्षणम् ॥ १६० ॥

अपकृष्टा ध्रुवा के वृत्त छन्दों का यही नियम होता है। अब मैं द्रुता ध्रुवाओं के छन्दों का वर्णन करूँगा ॥ १६० ॥

द्रुता ध्रुवा :—

मुखे तु [2]तोटकं कृत्वा शेषं [3]ह्रस्वन्तु योजयेत्।
युग्ममो[4]जस्तु मिश्रं वा तथैव लघुसंचयः ॥ १६१ ॥

इसके आरंभ में तोटक[1] का प्रयोग करना चाहिए तथा शेष भाग ह्रस्व वर्णों से पूरा करना चाहिए या फिर ह्रस्व वर्णों का सन्निवेश वैकल्पिक रूप में (अर्थात् एक ह्रस्व फिर एक गुरु तथा फिर ह्रस्व और एक गुरु के क्रम में) किया जाए ॥ १६१ ॥

जगत्यादिर्भवेत् सा तु [5]तथातिधृतिनैधनाः ।
तथा [6]द्रुता च छन्दोभिर्नानावृत्तसमुद्भवाः ॥ १६२ ॥

इस द्रुता-ध्रुवा में जगती से लेकर अतिधृति वर्ग तक के विभिन्न छन्द रखे जाते हैं ॥ १६२ ॥

अष्टावादौ [7]यस्मिन् सान्त्यं स्यान्नवमं
दीर्घाणि [8]स्युः शिष्टे द्वे वै चेल्लघुनी ।
वृत्तं [9]ह्येषा विज्ञेया गान्धर्वविधौ
[10]यस्मिन्नेवं नित्यं विक्रान्ता जगति ॥ १६३ ॥

विक्रान्ता:—यदि बारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में आदि के नौ तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो, शेष दो वर्ण लघु हों तो ऐसे लक्षणों से युक्त एवं संगीत विधान के अन्तर्गत होने वाली ध्रुवा को 'विक्रान्ता' समझना चाहिए ॥ १६३ ॥

---

१. यहाँ 'तोटक' सम्भवतः छन्द है। वैसे 'तोटक' का स्वरूप अन्य रूप में इसके अतिरिक्त कहीं निर्दिष्ट नहीं हैं।

---

१. मपि—क०। २. दोधकं—क०, तूद्बोधकं—ख०।
३. ह्रस्वैस्तु—क०, ख०। ४. मोजंविमिश्रश्च—क०, ख०।
५. तथा च धृतिनैधना—ख०। ६. तथाभूता—क०; तथा हृता—ख०।
७. यस्याः—क०; ख०। ८. स्याप्ये शिष्टे च द्वे—क०।
९. ह्येतज्ज्ञेयं तज्ज्ञैर्वृत्तविधौ—क०; ख०।
१०. गीते ह्येवं—क०, ख०।

यथा—एसो मेहो [1]णादं धत्ते धूमणिहो
विज्जुज्जुत्तो [2]दारेदीदं भूमिअलं ।
[3]सिंचंतो तोयोघं घोरो हत्थिणिहो
संछा[4]दन्तो लोआलोअं अदिद्दुदं ॥ १६४ ॥

[एषो मेघो नादं धत्ते धूमनिभो
विद्युद्युक्तो दारयतीदं भूमितलम् ।
सिञ्चन् तोयोघं घोरो हस्तिनिभो
सञ्छादयन् लोकालोकमतिद्रुतम् ॥]

उदाः—धुएँ के समान दिखलाई देने वाला यह मेघ गरज रहा है तथा बिजली से युक्त होने के कारण पीतवर्ण वाला होकर इस पृथ्वी पर सिंचन करते हुए भयावह भीमकाय गजराज की तरह पानी बरसा कर समग्र भू-मण्डल को ढँक देने की त्वरा बतला रहा है ॥ १६४ ॥

[5]अष्टावादौ दीर्घाणि स्युस्त्वतिजगती ।
अन्त्यं दीर्घं सा विज्ञेया मदनवती ॥१६५॥

मदनवतीः—यदि अतिजगती के तेरह अक्षरों के पाद वाले छन्द में आदि के आठ तथा अंतिम वर्ण गुरु हों तो समचरणों के ऐसे गीत (ध्रुवा) को 'मदनवती' समझना चाहिए ॥ १६५ ॥

यथा—एसो मेहो [6]णाणद्दंतो अलकणिहो
सद्दारंतो विद्युज्जोहा भमदि दुदम् ॥ १६६ ॥

[एष मेघो नादयन्नलकनिभः ।
सन्दारयन् विद्युज्जोत्स्नो भ्रमति द्रुतम् ॥]

---

१. णाणद्दंतो—क० ।

२. धाराएहिं—क० । ३. जालाबद्धो भीमुव्विग्गो—क० ।

४. विज्जूझव्वण्णो पीणाअंतो णादिगओ—क० ।

५. अष्टौ पादे दीर्घाणि स्युस्त्वपि च पुनः स्वान्त्यं दीर्घं द्रष्टव्यं स्यात् खलु विहितम् । पादे पादे विज्ञेया सा समचरणा तज्ज्ञैरेवं विद्युन्मालाऽतिजगति ॥ —ग०, घ० ।

६. एसो मेहो दाणद्दंतो अचलणिहो लीला उक्कोलं दाणंतो सहि रुद्दरो । वाआलंभो खो पिच्छाणो पवणजवो संसारतो विज्जुज्जोदो भमदि दुदम् ॥ इति सम्पूर्णं पद्यं घपुस्तके ।

उदाः—यह मेघ केशों के समान कृष्णवर्ण होकर ध्वनि करते हुए हृदय को विदीर्ण सा करता है और बिजली की ज्योति से युक्त होकर शीघ्रता से आकाश में घूम रहा है ॥ १६६ ॥

[1]पञ्च त्वादौ यत्र गुरु ह्यष्टमनवमे ।
अन्त्यं दीर्घं सा खलु नाम्ना विमलगतिः ॥ १६७ ॥

विमलगति—यदि चौदह अक्षरों के पाद वाले छन्द में आदि के पाँच वर्ण, अष्टम, नवम तथा अंतिम वर्ण गुरु रहे तो उसे 'विमलगति' समझना चाहिये ॥ १६७ ॥

यथा—[2]बालो चन्दो मेहविमुक्को विमलकरो
रोचीरंगो सोहदि कंतो उवरिगदो ।
लीलाक्खित्तो गंगधरेणेव सुरुचिरो
मूलारोहो णागणिवासो अधिकवबु ॥ १६८ ॥
[बालश्चन्द्रः मेघविमुक्तः विमलकरः
रोचीरङ्गः शोभते कान्तः उपरिगतः ।
लीलाक्षिप्तः गङ्गधरेणेव सुरुचिरः
मूलारोहः नागनिवासः अधिकवपुः ॥]

उदाः—बाल चंद्रमा मेघ से विमुक्त होकर एवं निर्मल किरणों को धारण करते हुए अपने आकर्षक स्वरूप में सुशोभित होकर (इस प्रकार) भगवान शिव के द्वारा अपनी लीला में ऊपर की ओर क्षिप्त यह ज्येष्ठ मास में स्थित मूल नक्षत्र सा आकाश में उदित हो अपने विशाल शरीर से (मानो) निवास कर रहा है ॥ १६८ ॥

[तारामज्झे मेहविमुक्को [3]विमलकरो
उज्जाहिंतो जादि समग्गं रजदणिहो ।
जोण्हासोहं विक्किरमाणो गगणतले
लीलापत्तो गच्छदि एसो रजणिकरो ॥ क ॥

---

१. एतस्य स्थाने—घ० पुस्तके—पञ्चत्वादौ यत्र गुरु ह्यष्टमनवमे अन्त्यञ्चैकं दीर्घकृतञ्चेद् भवति पदे । शक्कयोख्या छन्दसि चैवं यदि विहिता नाम्ना वृत्ते भूतलतन्वी स्खलितगतिः ॥—इति पद्यम् ।

२. एसो अंसं अंसुसहस्सो पवणसखो जालालोलो धूमसमिद्धो भमदि वणे ॥—क०; ख० पुस्तके तु 'तारामज्झे' इत्यादिपद्यं समुपलभ्यते ।

३. विमलतरे—ख० ।

[तारामध्ये मेघविमुक्तो विमलकरः
उज्जृम्भयन् याति समग्रं रजतनिभः ।
ज्योत्स्नाशोभां विकीर्णयन् गगनतले
लीलाप्राप्तः गच्छत्येषो रजनिकरः ॥]

उदाः—(प्रक्षिप्त)—तारागण के मध्यवर्ती यह चंद्र मेघों से विमुक्त हो अपने चमकीले किरणों से उदित होते हुए चाँदी जैसा शुभ्र दिखाई दे रहा है तथा आकाश में अपनी चन्द्रिका को विस्तीर्ण करते हुए लीला-युक्त गति में गतिशील है । [क]

नवमं नैधनश्चैव द्वादशं सत्रयोदशम् ।
गुरूणि यस्याः पादे स्युः शक्कर्या विभ्रमा यथा ॥ १६९ ॥

विभ्रमाः—यदि चौदह अक्षरों के पाद वाले छन्द में नवम, द्वादश, त्रयोदश तथा अंतिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'विभ्रमा' समझना चाहिए ॥ १६९ ॥

यथा—[1]विगद-घणतिमिरे णिम्मलतारे खे
[2]विकचकुमुदवणबन्धु सदारोचो ।
रजदगिरिसिहरसण्णिहिदो चंदो
उदअदि वरतणु दे [3]हिअआणंदो ॥ १७० ॥

[विगतघनतिमिरे निर्मलतारे खे
विकचकुमुदवनबन्धुः सदारोचः ।
उदयगिरिशिखरसन्निहितश्चन्द्रः
उदयति वरतनु ते हृदयानन्दः ॥]

अरी वरतनु, यह चन्द्रमा उस निर्मल आकाश में उदित हो रहा है जहाँ गाढ़ा अन्धकार समाप्त हो चुका है, तारे चमक कर प्रकट हो चुके हैं यह चन्द्रमा विकसित होने वाले कुमुद पुष्पों का सुहृद हैं और सदा की तरह प्रकाशित होते हुए रजताद्रि के समीप स्थित हो तुम्हारे हृदय को आह्लादित कर रहा है ॥ १७० ॥

आद्यचतुर्थे पञ्चमषष्ठे नवदशमे

---

१. विददधीतिरणि—ग० ।
२. कुमुदवणविकचणिघसदारोसो—ग० ।
३. देहिअ—ग०, ते हिम—घ० ।

[1]पादविभक्तौ यत्र तु दीर्घं निधनगतम् ।
[2]तत्र तु बोध्या पञ्चदशाख्ये [3]भुवि हि सदा
भूतलतन्त्री [4]शक्करि संज्ञा ह्यतिविहिता ॥ १७१ ॥

भूतल-तन्वीः—यदि पन्द्रह अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ पंचम, षष्ठ, नवम, दशम तथा अन्तिम वर्ण दीर्घ हो तो उसे 'भूतलतन्वी' समझना चाहिए ॥ १७१ ॥

यथा—[5]पादवसिस्सं कंपअमाणो पडुणिणदो
सेलतडेसुं पक्खलमाणो [6]विसमगदि ।
रेणुसमूहं [7]उद्धुअमाणो रुणकविलो
वाअदि वादो चंडपवाही [8]रुसिद इव ॥ १७२ ॥
[पादपशीर्षं कम्पयमानः पटुनिनदः
शैलतटेषु प्रस्खलमानः विषमगतिः ।
रेणुसमूहमुद्धुरमाणोऽरुणकपिलो
वाति वायुः चण्डप्रवाही रुष्टः इव ॥]

उदाः—तीव्र वेग से बहने वाला यह पवन प्रचण्ड नाद के साथ वृक्षों की फुनगियों (शीर्ष) को जोरों से हिला रहा है, पर्वतों के तट प्रदेश पर घूमते हुए लाल और भूरे रंग की धूल को उड़ा रहा है और अति क्रोधी पुरुष के समान वेग से दौड़ रहा है ॥ १७२ ॥

[9]आद्यचतुर्थकसप्तममन्त्यं दशमपरे ।
यत्र गुरुण्यथ सा सुकुमारेत्यभिगदिता ॥ १७३ ॥

सुकुमाराः—यदि सोलह अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम तथा अंतिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'सुकुमारा' समझना चाहिए ॥ १७३ ॥

---

१. अन्यतमे चेत् यत्र तु दीर्घे भवति पुनः—ग०, घ० ।
२. सा खलु—ग०, घ० । ३. पदनिधने—ग० ।
४. वृत्तविधानेत्यभिविहिता—क० । ५. संडं—क० ।
६. पविचरिदो—ग०, घ० । ७. लंघुहमाणो—ग० ।
८. रुणिअ—ग० ।

९. यदि खलु पञ्चममष्टममन्त्यं दशमपरं पुनरपि तस्य परं गुरुकं चेद् चरणविधौ इयमिह सप्तदशाक्षरपादे रुचिरमुखी विकसितपङ्कजपत्रनिभाक्षी मुनिगदिता ॥—ग० ।

यथा—[1]मेहसमूहणिबद्धविदाणं जलभरिदं
सोहइ इंदधनुज्जलमज्झं गयणतलं।
[मेघसमूहनिबद्धवितानं जलभरितं
शोभते इन्द्रधनूज्ज्वलमध्यं गगनतलम्]

उदा—मेघों के समूह का चंदोवा तानकर (यह) पूर्ण नभोमण्डल इन्द्र-धनुष से (अपने) मध्य भाग को प्रकाशित करते हुए सुशोभित हो रहा है ॥ १७४ ॥

तृतीयश्च चतुर्थश्च सप्तमश्चाष्टमन्तथा।
नवमं द्वादशश्चैव नैधनं सत्रयोदशम् ॥ १७५ ॥
यत्र दीर्घाणि पादे तु [2]धृतिच्छन्दःसमाश्रये।
सा ज्ञेया गीतक-विधौ ध्रुवा स्खलितविक्रमा ॥ १७६ ॥

स्खलितविक्रमाः—यदि सोलह अक्षरों के पाद वाले छन्द में तृतीय, चतुर्थ, सप्तम, अष्टम, नवम, द्वादश, त्रयोदश तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'स्खलितविक्रमा' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ १७५–१७६ ॥

यथा—[3]दिवसं सूरसणाहं खे विअ चंदो कुमुदवणे
उदिदो दीसदि एसो दप्पणबिम्बाकिदीसदिसो।
गयणे मेहविमुक्खे सोम्मसुहाओ रतिसुहगो
वहलं विक्खिरमाणो सारदजोण्हं पजति दुदम् ॥ १७७ ॥

[दिवसं सूर्यसनाथं खे इव चन्द्रः कुमुदवने
उदितो दृश्यत एष दर्पणबिम्बाकृतिसदृशः।
गगने मेघविमुक्ते सौम्यस्वभावो रतिसुभगः
बहुलं विकिरन् शारदज्योत्स्नां व्रजति द्रुतम् ॥]

उदाः—सूर्य से युक्त दिवस के समान आकाश में यह चंद्र दर्पण के आकार सदृश कुमुदवन में उदित दिखाई देता है जो मेघ रहित आकाश मण्डल में सौम्य स्वभाव के कारण रति-वर्धन में सुन्दर सहायक होते हुए

---

१. अंसणिरवाहद यावदस्तुधे धरणीधरो। पगलिदनिरक्खरंकं दरसादामुहाशिरिक्षा—ख०।

२. वृत्तिच्छन्दःसमाश्रये—ख०; अष्टिछन्दः—ग०।

३. तिमिरं णासअमाणो खे असो चंदो रुचिरो अधिअं बोधअमाणो कुमुदाणं उदअदो। णहसोही कण (?) सुराणं णअणाणंदकरो अवहिसा (?) अवकिरदो सोहइ युद्धेण मही ॥—ग०, घ०।

शारदी-चन्द्रिका को अतिशय विकीर्ण करते हुए शीघ्रता से चला जा रहा है ॥ १७७ ॥

यदि खलु पञ्चममष्टममन्त्यं दशम[1]परं
पुनरपि तस्य परं गुरुकं चेच्चरणविधौ ।
इयमिह सप्तदशाक्षरपादे रुचिरमुखी
विकसितपङ्कजपत्रनिभाक्षी मुनिगदिता ॥ १७८ ॥

रुचिरमुखीः—यदि सत्रह अक्षरों के पाद वाले छन्द में पंचम, अष्टम, एकादश, द्वादश तथा अंतिम वर्ण गुरु रहे तो उसे 'रुचिरमुखी' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ १७८ ॥

यथा—असणि-रवाहद[2]पादव-कूडो धरणिधरो
[3]पगलिअ-कंदरनिज्झर-सानुरवो मुहलो ।
[4]विविह-विहंगम-सेविअकुंजो जहजलदो
[5]परहुअ-चंपअ-गीअसणाहो हसदि विअ ॥ १७९ ॥

[अशनिरवाहतपादपकुटो धरणिधरः
प्रगलितकन्दरनिर्झरसानू रवमुखरः ।
विविधविहङ्गम-सेवितकुञ्जो यत जलदः
परभृतचम्पकगीतसनाथो हसतीव ॥]

उदाः—जिसका वृक्ष समुदाय विद्युत की ध्वनि से आहत है तथा प्रतिध्वनि से मुखरित एवं कन्दराओं के झरनों से शिखरों पर से बहने वाले जल से युक्त जिसके कुंजो का सेवन विविध पक्षी गणों के द्वारा होता है। जिसने मेंघों को भी रोक दिया है वह धरणीधर आज मानों कोकिल, चम्पक तथा गीतों से सम्पन्न होकर मुस्कुराता सा प्रतीत हो रहा है ॥ १७९ ॥

पञ्चमं ह्यष्टमं यत्र त्रयोदशमथापि च ।
गुरूण्यष्टादशं चैव द्रुता वै चपला तु सा ॥ १८० ॥

---

१. दशमपरे । चरणगतानि गुरुणि तु माला भवति तदा ॥—क० ।
२. रवाहदो पादिदतुंडो—घ० ।
३. सरसिजमोदि विहंगलोअ णिअचंचलिअं—घ० ।
४. सहयरि बद्धसिणेहपमोदिदगअवअरो—घ० ।
५. थविसिअ दाणजलो विऽवणओ—ग०, घ० ।

द्रुतचपलाः—यदि अठारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में पंचम, अष्टम, त्रयोदश तथा अंतिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'द्रुतचपला' समझना चाहिए। ॥ १८० ॥

यथा—पवन[1]विघुण्णिद-पंकजकुसुमं सरसि जलं।
[2]कमलिणीवत्तपसाहिदसुभअं फलिहणिहं।
चलिद[3]तरंगविदारिअकुसुमं [4]चलिदगद-
क्खुभिदविहंगमकंपिदमुहलं [5]हसदि विअ ॥ १८१ ॥
[पवनविघूर्णितपङ्कजकुसुमं सरसि जलं
कमलिनीपत्रप्रसादितसुभगम् स्फटिकनिभम्
चलिततरङ्गविदारितकुसुमं चलितगतम्
क्षुभितविहङ्गमकम्पितमुकुलं हसतीव ॥]

उदाः—सरोवर का जल वायु से कम्पित कमलों से विवर्तित होकर एवं (उन्हीं की) मधुर गन्ध से युक्त होकर आगे लहरों के रूप में बढ़ते हुए कुमुदवन को विदीर्ण कर मानों पक्षियों के कलरवमय रुदन से मुखरित ध्वनि वाला बनने पर उत्तेजित सा प्रतीत हो रहा है ॥ १८१ ॥

यदि खलु भवति हि चरणविधौ द्वादशपरतः
गुरु गुरु पुनरपि निधनगतं वै गुरुसहितम्।
इह खलु धृतिरतिनिगदितनामा मुनिविहिता
कविगणमतिमतसमुदितचित्रा [6]कनकलता ॥ १८२ ॥

कनकलताः—यदि उन्नीस अक्षरों के पाद वाले छन्द में त्रयोदश, चतुर्दश तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो अतिधृति नामक मुनि प्रदिष्ट छन्द में उसे 'कनकलता' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ १८२ ॥

यथा—पमुदिअगहगण[7]विधिरहसोहो गअणगओ
विलुलिअजलहरसमुदअहीणो [8]णअणसुहओ।

---

१. विवत्तिअ—घ०।
२. कमलपत्रपसाहिअसुअंघलित्तणि—ख०; घ०।
३. वलदतरंतविदाहिदकुसुमं—क०।
४. गलिदगवि—ख०; गलिगविअ—घ०।
५. रसदि विअ—घ०।
६. करकलता—ग०। ७. विविरिअसोहं गअणहअल—ग०।
८. णअणअणसह—ग०।

किरणणिवहणिहदतिमिरो सो रजदणिहो
पसरदि वरतणु[1] हलधरलीलो [2]सरदि ससी ॥ १८३ ॥

[प्रमुदितग्रहगणविधूतशोभो गगनगतो
विलुलितजलधरसमुदयहीनो नयनसुभगः ।
किरणनिवहनिहततिमिर एषो रजतनिभः
प्रसरति वरतनु हलधरलीलो शरदि शशी ॥]

उदाः—हे वरतनु, शरदृतु में चाँदी के सदृश शुभ्र वर्णवाला यह सुन्दर चन्द्रमा चारों ओर कान्ति सम्पन्न नक्षत्रगणों से घिरकर तथा वर्षाकालीन काले मेघों से मुक्त हो अपने किरणों के संघात से तम के समूह को विच्छिन्न करते हुए बलराम की सी लीला करते हुए आकाश में संचार कर रहा है ॥ १८३ ॥

पादे पञ्चम[3]मन्त्यञ्च दीर्घं द्वादशमेव च ।
[4]पदावृत्त्या तदा ज्ञेया चपला मुखसंहिता ॥ १८४ ॥

मुख-चपलाः—यदि (उन्नीस अक्षरों के पाद वाले) छन्द में पंचम, द्वादश तथा अन्तिम वर्ण गुरु रहे तो उसे 'मुख-चपला' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ १८४ ॥

यथा—पिअसहि [5]आइअ-गअणतले चवलदरमुही ।
[6]पविचरदे मदसुरहिमुही सुरवरयुवतिः ॥ १८५ ॥

[प्रियसखि आयतगगनतले चपलतरमुखी ।
प्रविचरति मदसुरभिमुखी सुरवरयुवतिः ॥]

उदाः—उस विस्तीर्ण आकाश की ओर देखिये जहाँ एक दिव्य युवती (विद्युत) अपना चेहरा शीघ्रता से परिवर्तित कर उसे अपनी चंचलता एवं मदमत्तता से (और भी) सुन्दर बनाते हुए विचरण कर रही है। ॥ १८५ ॥

एता ह्यष्टौ तु[7] विज्ञेया ध्रुवाणां मूलजातयः ।

१. वणरण—ग० ।
२. सरसि—ग० । ३. मन्त्ये च—क० ।
४. यदातिधृत्यां सा—क० ।
५. उण गअणदले—घ० । ६. परिवरेदे—ख० ।
७. परित्याज्या—क० ख० ।

आभ्यो विनिस्सृताश्चान्या युग्मौजा[1] विषमाक्षराः ॥ १८६ ॥

ये आठ ध्रुवाओं की मूल जातियाँ है। इन्हीं से सम तथा विषम अक्षरों के पादों वाले सम तथा विषम छन्दों की उत्पत्ति हुई है ॥ १८६ ॥

एतास्तु जातयो ज्ञेयाः [2]द्रुतानां वृत्तसंश्रयाः।
देवानां पार्थिवानाञ्च ह्यौपम्यगुण[3]-सम्भवाः ॥ १८७ ॥

द्रुता ध्रुवा में प्रयोग के लिए छन्दों का यही वर्ग रखा जाता हैं और देवता तथा राजाओं के समान गुण बतलाने में द्रुता का सम्बन्ध रखा जाता है ॥ १८७ ॥

सप्तदश-[4]द्वादशैकादश-[5]पञ्चाष्टमतृतीयैः।
गुरुभिर्यस्याः पादः सा [6]ज्ञेयाऽक्षिप्तका नाम ॥ १८८ ॥

क्षिप्ता—यदि सत्रह अक्षरों के पाद वाले छन्द में तृतीय, पंचम, अष्टम, एकादश, द्वादश तथा सप्तदश वर्ण गुरु हो तो उसे 'क्षिप्ता' समझना चाहिए ॥ १८८ ॥

गुर्वादिरथ [7]लघ्वादि युग्मौजाप्यथ वेतरा।
[8]एतद्वृत्तगता या तु सा विज्ञेया [9]द्रुता ध्रुवा ॥ १८९ ॥

द्रुता—जिसमें आदि वर्ण गुरु या लघु हो, जो सम या विषम अथवा मिश्र प्रकार में रहे तो इन्हीं (पूर्व वर्णित) वृत्तों में स्थित रहनेवाली ध्रुवा 'द्रुता' कहलाती है ॥ १८९ ॥

एतास्तु जातयस्त्र्यस्रा द्विपादाः परिकीर्तिताः।
द्विपादाश्चतुरस्राश्च सम्प्रवक्ष्याम्यतः परम् ॥ १९० ॥

ये द्विपदा त्र्यस्त्रा जाति के छन्द हैं। अब में द्विपदा चतुरस्त्रा जाति के छन्दों का वर्णन करूँगा ॥ १९० ॥

यस्याः पादे [10]द्विरष्टप्रख्या गणा गकाराख्याः।

---

१. युग्मौजा विषमाः पराः—क०; युग्मौअविषमाः पराः—ख०।
२. हतानां—ख०। ३. सश्रयाः—क०।
४. द्वादशकैरेकादश—क०। ५. पञ्चमाष्टम—क०।
६. ज्ञेयाऽक्षिप्तिका—क०।
७. लघ्वादिर्युग्मौजावथवेतरा—क०। ८. एतद्रुत—क०।
९. विज्ञेयाऽऽक्षिप्तिका द्रुता—क (च०)।
१०. हत्या (?) विष्टष्यष्टाजगतो—ग०।

[1]सर्वे वर्णा दीर्घा यस्या अष्टौ सा भाषिता माला ॥ १९१ ॥

माला—यदि सोलह अक्षरों के पाद में सभी वर्ण (जिस जाति में) गुरु रहे तो उसे माला समझना चाहिए ॥ १९१ ॥

यथा—एअं लोअं संछादंता भीमा णद्दंति गंभीरा।
विज्जु[2]ज्जुत्ता तोअं संमुचंता समुण्णदा मेहा ॥ १९२ ॥
[एतं लोकं सञ्छादन्तो भीमा नदन्ति गम्भीराः।
विद्युद्युक्ताः तोयं सम्मुञ्चन्तः समुन्नताः मेघाः ॥]

उदा—आकाश में वे मेघ घुमड़ते हुए उठ रहे हैं जो पृथ्वी को ढँक देने वाले, भीमनाद करने वाले, बिजली चमकाने वाले और जल बरसाने वाले हैं ॥ १९२ ॥

यस्याः पादे नित्यं चतुर्थषष्ठे जकारसंज्ञे तु।
शेषान्यन्यानि स्युर्गुरूणि सा[3] तु प्रभावती नाम्ना ॥ १९३ ॥

प्रभावती—जिसके पाद में सदा चतुर्थ और षष्ठ वर्ण जगण हों तथा अन्य वर्ण गुरू हों तो उसे 'प्रभावती' समझना चाहिए[1] ॥ १९३ ॥

[4]एदाणिं वादसंखोभिदाणि एदाणि पुप्फाणि मुत्तपत्ताणि।
दुदं इदं तपप्फदि(?)अद्धासिदाणि सोदंति णेण धराणाणि(?) ॥१९४॥
[एतानि वातसङ्क्षोभितानि एतानि पुष्पाणि मुक्तपत्राणि।
द्रुतमिदं.........अर्द्धाश्रितानि सीदन्ति अनेन........ ॥

उदाहरण अस्पष्ट है ॥ १९४ ॥

[5]यदि खलु च त्वादौ लघूनि पादे चतुर्थषष्ठौ लौ।
अतिधृतिमानञ्च स्याद् गुरूणि शेषाणि सा चित्रा नाम्ना ॥ १९५ ॥

चित्रा—यदि आदि के तीन वर्ण, चतुर्थ और षष्ठ वर्ण लघु हों, अति-

---

१. यहाँ प्रभावती के लक्षण के साथ उदाहरण खंडित एवं अस्पष्ट है—
—सम्पा०

---

१. सर्वेवर्णै दीर्घैरन्येस्सहाष्ये विभाविता—ग०।
२. विजजोएंका—...सम्मुणआ—ग०।
३. यस्याः—ग०। ४. एदानि पादसखो एदानि पुंफाणि मंतगंताणि। एदं अधासिदागी सोदति गोपीपमदतोल—ग०।
५. चित्रालक्षणं क. ख. ग. पुस्तकेषु नास्ति।

धृत्ति का पाद हो तथा शेष वर्ण गुरू रहें तो उसे 'चित्रा' समझना चाहिए ॥ १९५ ॥

यथा—जलहरणादुद्धतद्दअदाणो वणं [1]मद्दंतो।
सहअरिसंवुद एसो गइंदो जाउ रण्णम्मि ॥ १९६ ॥
[जलधरनादोद्धतदानो वनं मर्दयन्।
सहचरिसंवृत एषो गजेन्द्रो याति अरण्ये ॥]

उदा—मेघों की गड़गड़ाहट को सुनकर मद से उत्तेजित हो उठने वाला (यह) गजराज अपनी प्रिय हथिनियों के साथ वन में घुस कर वृक्षों का मर्दन करता चला जा रहा है ॥ १९६ ॥

यदि खलु भवति युग्मजकारनाम्ना त्रिका कृतेः पादे।
लघुगणस्तथादौ वदन्ति नाम्ना च मालकितां वै ॥ १९७ ॥

मालकिता—यदि कृति के पाद में दो जगण तथा आदि में लघु वर्ण हों तो उसे 'मालकिता' समझना चाहिए ॥ १९७ ॥

यथा—परभुद-णिणाद-वाउलिदाणि सुहसिसिरवाद-
संखोहिदाणि णच्चंदि दाणिं रण्णाणि ॥ १९८ ॥
[परभृतनिनादव्याकुलितानि सुखशिशिरवात-
सङ्क्षोभितानि नृत्यन्तीदानीमरण्यानि ॥ १९८ ॥

उदा—कोकिलाओं की गीत ध्वनि से मदमत्त होनेवाले, सुखदायी शिशिरवात से क्षुब्ध से होते हुए इस समय ये अरण्य मानों नृत्य कर रहे हैं ॥ १९८ ॥

[2]आद्यचतुर्थे दशमाष्टमाद्यन्तन्तथान्यश्च यत्र गुरु चरणे।
एकादशं जागते सा प्रकृत्याश्रया हि सुरभिमुखी ॥ १९९ ॥

सुरभिमुखी—यदि आदि तथा चतुर्थ, दशम, अष्टम और आदि तथा अन्त्य वर्ण एवं ग्याहरवाँ जिसके चरण में गुरु रहे तो जगती के पाद में अपने स्वरूप वाली यह 'सुरभिमुखी' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ १९९ ॥

यथा—[3]लहु सकले शीतले णहं अरविंदसुरहि मदपत्तालिणअं।
सुरभिमारुदेण एसा विभादि जलण-सिहा ॥ २०० ॥

१. मद्दतो—घ०।

२. सुरभीमुखि-लक्षणं—घ० पुस्तके एव।

३. उदाहरणमेतत् च-पुस्तके एव।

[लघु सकले शीतले नभः अरविन्दसुरभिमदपत्रालिनवम् ।
सुरभिमारुतेनैषा विभाति ज्वलनशिखा ॥ २०० ॥]

उदा—यह अरविन्द की सौरभ से युक्त मदमत्त पक्षियों की पांत शीतलता से पूर्ण समग्र आकाश प्रदेश में सुगन्ध पवन से युक्त ज्वलन सी शोभित हो रही हैं ॥ २०० ॥

विलम्बितानामित्युक्ताश्चतुरस्रा हि जातयः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि द्रुतानां जातिलक्षणम् ॥ २०१ ॥

ये चतुरस्त्रा जाति में रहने वाली विलम्बिता ध्रुवा के प्रकार हैं । अब मैं द्रुता ध्रुवा में होने वाले प्रकारों को बतलाता हूँ ॥ २०१ ॥

सजसंश्रिता[1] यदि भवति चरणेषु चाकृतिसमुत्था ।
गुरु चान्त्यमेव च यदि तां मनोज्ञगमतां वदन्ति खलु नाम्ना ॥२०२॥

मनोज्ञगमना—यदि आकृति के पाद में सगण तथा जगण से आश्रित गण रहे तथा अन्त में गुरू हो तो इस जाति को 'मनोज्ञगमना' कहते हैं ॥ २०२ ॥

यथा—कमलाकरम्मि भराइअम्मि अध[2] गन्धबहुलम्मि सरदे ।
णाहणिअ[3] जले ण्पिआहिमुही आरमेदि कमलवणे[4] हंसी ॥२०३॥
[कमलाकरे भरिते अथ गन्धबहुले शरदि ।
स्नात्वा जले प्रियाभिमुखी आरमते कमलवने हंसी ॥]

शरद ऋतु में हँसी मीठी गन्ध वाले कमल-सरोवर में नहा रही है और अपने प्रियतम के साथ उसी के समक्ष लीला विलास करती जा रही हैं । ॥ २०३ ॥

यदि पञ्च भवन्ति सकारगणा यदि चान्ततो[5] भवति गुरुः ।
यदि षष्ठगणश्च जकारकृतो विकृतिरिस्ततस्तु ललितगतिः ॥ २०४ ॥

ललितगति—यदि तेईस अक्षरों के दो पादों में पाँच सगण एक जगण से अनुगत रखे जाएँ अन्तिम वर्ण गुरु और अवशिष्ट वर्ण लघु हों तो उसे 'ललितगति' समझना चाहिए ॥ २०४ ॥

---

१. सदसंश्रिता—ग० । २. अधगिधवभुवम्भि—ग० ।
३. णुणुइ जले—ग० । ४. कमलहंसी—ग० ।
५. वान्ततो—ग० ।

यथा—साहआरमणोहरगंधवहो समवाइ एस[1] मदकलेहिं ।
मदणं[2] जणेइव्व वणे पवणो चसुअधिइआ सुसुअ पिअवो ॥२०५॥

[सहकारमनोरणगन्धवहः संवात्येष मदकलैः ।
मदनं जनयतीव वने पवनः ·········· ॥]

वसन्त के सहवास के कारण मधुर गन्ध धारण करने वाला पवन उपवन में अधिक मादकता उत्पन्न करता है तथा ········ ॥ २०५ ॥

यदि दशमं षष्ठमथ षोडशान्तगतं
त्रयोदशमपि तथा गुरुर्भवति ।
पादविहितं सततं यदि सङ्कतौ
[नाम्ना] भवति [हि] ध्रुवा खलु रतिः ॥ २०६ ॥

रति—यदि संकृति के पाद में षष्ठ, दशम, त्रयोदश, षोडश तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'रति' समझना चाहिए ॥ २०६ ॥

यथा—जलहरणिणओ तिणिअरअपअसमंथओ पर्वरिसपदि जलणिहि
अंडम्मि सुकरि सुभिदाभिदाभिदो [3]वदाविदोख्खु अ गोमुखो (?)॥२०७॥

उदा—उदाहरण अस्पष्ट एवं अशुद्ध है ॥ २०७ ॥

यदि गुरु दशमं हि ससप्तमनिधनगतं सप्तदशमपि च ।
भवति जगौ षष्ठयुतस्त्वतिकृतिरथ[4] सा तु भुजगमुखी[5] ॥ २०८ ॥

भुजगमुखी—यदि अतिकृति के पाद में सातवाँ, दसवाँ वर्ण गुरु हो तथा सत्रहवाँ और अन्तिम वर्ण भी गुरु रहे तथा गुरु के अतिरिक्त छठा वर्ण भी गुरु हो तो उसे 'भुजगमुखी' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ २०८ ॥

यथा—जलधरसमं[6] आअदओ सुह-
सुरभि[7] कदो कुसुमवाणाकुलिदो ।
मदणजणणो [8]सुत्तिणासकरो
सहि [9]पमदाजणसहाओ पवणो ॥ २०९ ॥

---

१. रोसमद—ग० । २. मदजण छत्र—ग० ।
३. ववदावि दोखु अगोमुखो—ग० ।
४. त्त्वयिकृति—ग० ।
५. भुजगमुखी यथा—ग० ।
६. जडभर—ग० । ७. सुरभिकुसुमांदकओ—ग० ।
८. सओसुति—ग० । ९. दंअजण—ग० ।

[जलधरैः समं आगतो सुख-
सुरभिकृत् कुसुमवाणाकुलितो ।
मदनजननः सुप्तिनाशकरः
सखि प्रमदाजनसहायः पवनः ॥]

उदा—अरी सखि, मेघों के साथ समागत मधुर सुगन्ध वाला पवन जो काम की अकुलाहट उत्पन्न करने वाला है और नींद को जिसने समाप्त कर दिया है (इसी कारण) आज मद को उत्पन्न करते हुए यही प्रमदा-जन का सहायक बनकर आ रहा है ॥ २०९ ॥

यदि खलु समेषु[1] जश्च भवति तथैव गुरुनिधनजं भवति ।
चरणे[2] खलु भवति शेषमथसततमुत्कृतिरर्थविशाद्[3] द्रुतपदगा ॥२१०॥

द्रुतपदगा—यदि सम पादों में ज हो तथा अन्तिम वर्ण गुरु रहे तथा जिसके चरण उत्कृति के हों तो अर्थानुसारी रहने वाली उसे 'द्रुतपदगा' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ २१० ॥

यथा—मधुकररुदेहि[4] कथिद इवासु
सुविकसिदओ सुमणमुखकमलो ।
कमलिणिपियाहि परिबुदओ[5]
तणुअमपि विभादि विअ पदुमसरो ॥ २११ ॥

[मधुकररुतैः कथित इवाशु
सुविकसितः सुमनोमुखकमलः ।
कमलिनीप्रियाभिः परिवृत-
तनुरपि विभाति इव पद्मसरः ॥]

उदा—भौंरों की गुंजार के द्वारा मानों यह कहा जा रहा है कि यह सरोवर (नायक) सुन्दरतापूर्वक (अपना) कमलिनी-रूपी प्रियाओं के समूह से घिर गया है ॥ २११ ॥

एते[6] द्रुतास्तु विज्ञेयाश्चतुरस्रास्तु जातयः ।

१. समप्टु भवति—ग० । २. चरणो—ग० ।
३. अर्थवशा—ग० । ४. मनुकरणुरुते एककथितः—ग० ।
५. परिवुद तनु अपियमपि दाइवदुवमसरो—ग० ।
६. गुर्वादिरथ लघ्वादिर्युग्मौजावथवेतरा । एतद्रुतगता या तु विज्ञेया सा ध्रुवा द्रुता—क०, ख० ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि उद्धतानां विकल्पनम् ॥ २१२ ॥

चतुरस्रा में होने वाली ये द्रुता जाति की ध्रुवाएँ हैं। अब मैं उद्धता ध्रुवाओं के छन्द बताता हूँ ॥ २१२ ॥

आद्ये [1]ह्यथ निधने त्रीणि पादे[2] तु यदि गुरूणि स्युः।
ज्ञेया खलु बृहती नित्यं नाम्ना कनकलताऽऽक्षिप्ता[3] ॥ २१३ ॥

कनकलताक्षिप्ता—यदि नौ अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम दो तथा अन्तिम तीन वर्ण गुरु हों तो उसे 'कनकलताक्षिप्ता' समझना चाहिए ॥ २१३ ॥

यथा—एसो गअणदले मेहो भीमो भयजणणो दिट्ठो।
भूमिं णवजलधाराहिं सिंचेदिय[4] सहि गज्जंतो ॥ २१४ ॥
[एषो गगनतले मेघो भीमो भयजननो दृष्टः।
भूमिं नवजलधाराभिः सिञ्चयित्वा सखि गर्जन् ॥]

उदा—अरी सखी, मैं आकाश में एक ऐसे बड़े भयानक मेघ को देख रही हूँ जो पृथ्वी को अपनी नव-जल-धाराओं से सींच कर गर्जना कर रहा है ॥ २१४ ॥

आदौ द्वे गुरू निधने त्रीणि
यस्याः पादेष्वथ च[5] गुरूणि स्युः।
संक्षिप्ता[6] त्रिष्टुब्भिः नियता ज्ञेया
पीनश्रोणी सुरुचिरचित्रा ॥ २१५ ॥

सुरुचिरचित्रा—यदि ग्यारह अक्षरों के छन्द में आदि के दो तथा अन्तिम तीन वर्ण गुरु हों तथा दो यति हों तो हे पीनश्रोणि, उसे 'सुरुचिरचित्रा' समझो ॥ २१५ ॥

यथा—एसो मेहो सिहरिणिहो णीलो
धारापादेहिं अदिभअदो भूमिम्।
आपूरंतो[7] पडुदरसण्णादो[8]

---

१. अन्तत्रयमय चान्त्ये द्वे पादे यदि—ग०।
२. पादेऽथ—क०। ३. क्षिप्तिका—क०।
४. सिंचंचो भुवततलं जादि—क०।
५. चतुर्गुरूणि यस्या स्युः—क०।
६. ज्ञेया वृत्ते खलु बृहतीसंस्थे नाम्ना सा कथित (कनक) लता—क०।
७. आलंवंतो—घ०। ८. पुअससालसो आमुन्नो—ग०।

तोयापुण्णे[1] गअणदले जादि ॥ २१६ ॥
[एष मेघः शिखरिनिभो नीलो
धारापातैरतिभयदो भूमिम् ।
आपूरयन् पटुतरसन्नादो
तोयापूर्णे गगनतले याति ॥]

यह मेघ जो पर्वत के आकार और नीले रंग वाला है आज अपनी जलधाराओं के वर्षण द्वारा पृथ्वी को बड़ा भयभीत कर रहा है। यह पृथ्वी को अपनी ध्वनि की गुंजाहट से भर कर अब फिर जल से भरा हुआ आकाश मार्ग से चला जा रहा है ॥ २१६ ॥

यदि खलु पञ्चममन्त्ये चरणविधौ[2] यदि गुरूणि भवन्ति तु ।
सा[3] खलु शशिरेखा[4] भुवि बृहती प्रथिता ॥ २१७ ॥

शशिरेखा—यदि नौ अक्षरों के छन्द में पाँचवाँ और अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'शशिरेखा' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ २१७ ॥

यथा—गिरिचरवारणरूवं खुभिदमहण्णवणादम्[5] ।
पडुपवणेण विधूदं भमदि बलाहअजूहम्[6] ॥ २१८ ॥
[गिरिचरवारणरूपं क्षुभितमहार्णवनादम् ।
पटुपवनेन विधूतं भ्रमति बलाहकयूथम् ॥]

उदा—यह मेघों का झुण्ड प्रबल पवन से आहत होकर वनैले हाथी के समान (क्षुब्ध होकर) घूम रहा है और क्षुब्ध समुद्र के समान जोरों से ध्वनि कर रहा है ॥ २१८ ॥

यदि खलु षष्ठमन्त्यं गुरूणि[7] भवन्ति पादयोगे ।
इति गदिता[8] हि वृत्ते शलभविचलिता सा ॥ २१९ ॥

शलभविचलिता—यदि नौ अक्षरों के पाद वाले छन्द में छठा और अन्तिम (दो) वर्ण गुरु हों तो उसे 'शलभविचलिता' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ २१९ ॥

---

१. आकुंचंतो—घ० ।
२. चरणविधौ च—क०; चरणविधौ यदि—ग० ।
३. भवति तु सा शशिरेखा—ग० । ४. सलिलेहा—ख० ।
५. महण्णवसहस्सपणादम्—क० । ६. जूथम्—ग०, घ० ।
७. यदि पदि गुरूणि नित्यम्—ग०; पदिगुरूणि पादयोगे—घ० ।
८. निगदितानि—ख० ।

यथा—ससिकिरणलंबहारा [1]उडुगणकिदावदंसा।
गहगणकिदंगसोहा[2] जुवदि[3] विअ भादि राई ॥ २२० ॥
[शशिकिरणलम्बहारा उडुगणकृतावतंसा।
ग्रहगणकृताङ्गशोभा युवतिरिव भाति रात्रिः ॥]

उदा—यह रात्रि किरणों से युक्त चन्द्रमा का हार, तारों का कर्णफूल (या शिरोभूषण) और अन्य ग्रहों के समूह से शेष अंगों के अवयवों के भूषण धारण करने वाली युवती के समान सुन्दर दिखलाई दे रही हैं ॥ २२० ॥

यदि खलु चरणविधौ लघुवसुगण[4]कमिदम्।
भवति हि खलु बृहती मणिगणनिकरकृता[5] ॥ २२१ ॥

मणिगणनिकरकृताः—यदि नौ अक्षरों के पाद वाले बृहती छन्द में आदि में आठ वर्ण लघु रहे तो उसे 'मणिगणनिकर-कृता' ध्रुवा समझो ॥२२१॥

यथा—उडुगणकुसुमवदी[6] गहगणकिदतिलआ।
रजणिकरणिहमुही वजदि विअ[7] आसु णिसा ॥ २२२ ॥
[उडुगणकुसुमवती ग्रहगणकृततिलका।
रजनिकरनिभमुखी व्रजति इवाशु निशा ॥]

उदा—यह रात्रि चन्द्ररूपी मुख को तारों के कुसुमों से और ग्रहगणों के द्वारा निर्मित होने वाले तिलक[1] (नामक भूषण) से अलंकृत कर अपने प्रिय चन्द्र से मिलने के लिए मानो शीघ्रता से चली जा रही है ॥२२२॥

चत्वार्यादौ चरणविधौ[8] दीर्घाणि स्युर्निधनमपि।
नाम्ना ज्ञेया जगति हि सा सिंहाक्रान्ता खलु बृहती ॥ २२३ ॥

सिंहाक्रान्ता—यदि नौ अक्षरों के पाद वाले छन्द में आदि के चार तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'सिंहाक्रान्ता' समझना चाहिए ॥ २२३ ॥

---

१. यहाँ तिलक शब्द ललाट स्थित एक अलंकार तथा ललाट पर सौभाग्य चिह्न के रूप में लगाये गये तिलक दोनों के लिये प्रयुक्त है।

---

१. कआवयंसा—ग०।
२. गहयणकदंब—ख०। ३. यदिदिव (?)—ख०।
४. गणसमकम्—ग०। ५. मणिगुण—ख०।
६. ऋदुनण—क०। ७. महिमुही—क०।
७. वभमु (?)—ख०, अयि विहरदि रयणी—ग०।
८. गुरू निधनं ह्रस्वानि स्युर्यदि च तथा—क०; ···स्युर्यदेव तदा—ख०।

यथा—आकंपन्तो धरणितलं विक्खोभंतो[1] गगणतलम् ।
विज्जुज्जोदा-अवविहवो [2]पसो मेहो प्पविचरिदो ॥ २२४ ॥
[आकम्पयन् धरणितलं विक्षोभयन् गगनतलम् ।
विद्युज्ज्योत्स्नाऽऽपविभवः एषो मेघः प्रविचरितः ॥]

यह मेघ अपने पास रहने वाली विद्युत एवं जल की अतिशय सम्पत्ति के कारण पृथ्वी तल को आकम्पित एवं गगन मण्डल को क्षुब्ध करते हुए (मदमत्त हो) आगे बढ़ता हुआ चला जा रहा है ॥ २२४ ॥

बृहत्या[3] जातयो ह्येता विज्ञेया[4] वै प्रवेशजाः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पङ्क्तिजातिविकल्पनम् ॥ २२५ ॥

ये वृहती जाति के छन्द है जो प्राक्षेशिकी ध्रुवा में उपयुक्त रहते हैं । अब मैं आगे पंक्ति जाति के छन्दों को बतलाता हूं ॥ २२५ ॥

आद्यचतुर्थं ह्यथनिधनं[5] पञ्चमकं चेद् गुरुचरणे ।
गीतविधाने भवति हि सा पङ्क्तिकृता वै सुरदयिता ॥ २२६ ॥

सुरदयिता—यदि दस अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ, पंचम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'सुरदयिता' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ २२६ ॥

यथा—पंकअसंडे[6] विमलजले सारसकेहिं समणुगदो ।
कुंदणिकासो ससिधवलो हंसजुवाणो परिचरिदो[7] ॥ २२७ ॥
[पङ्कजखण्डे विमलजले सारसकैः समनुगतः ।
कुन्दनिकाशः शशिधवलो हंसयुवा परिचरितः ॥]

उदा—हंसों का यह युवा जोड़ा जो अपने अतिशय शुभ्र-वर्ण के कारण कुन्द के पुष्प एवं चन्द्रमा के समान लगता है—आज सारसों के द्वारा अनुसृत होकर इस कमल खण्डों से पूर्ण निर्मल जल वाले सरोवर में विचरण कर रहा है ॥ २२७ ॥

दीर्घाणि ह्यथ विधानगतं त्रीणि स्युर्यदि चरणविधौ ।
सा ज्ञेया कुसुमसमुदिता पङ्क्तिश्चेदपि[8] च कुमुदिनी ॥ २२८ ॥

कुसुमसमुदिता—यदि दस अक्षरों के पाद वाले छन्द में आदि के

१. विक्खेवंथो धरणिदलम्—क० । २. द अविभवो—घ० ।
३. बृहत्यो—ख०; ग० । ४. विज्ञेयाः वै प्रकाशजाः—ख० ।
५. परनिधने यत्र गुरूणि प्रतिचरणम्—क०, ख० ।
६. पङ्कज—ख०, घ० ।
७. परिभमिदो—क०, पविचारियो—ख० ।
८. पङ्क्तिच्छेदविकचकुमुदिनी—ग० ।

तीन तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे कुसुमसमुदिता या 'कुमुदिनी' समझना चाहिए ॥ २२८ ॥

यथा—वासंतो[1] कुसुमसमुदिदो पदोसो[2] सुमुहि सुरभिणो।
सोसंतो[3] पिअरहिदजणं संपत्तो[4] एसो सहि सरसो ॥ २२९ ॥
[वासन्तः कुसुमसमुदितः प्रदोषः सुमुखि सुरभिः।
शोषयन् प्रियरहितजनं सम्प्राप्त एषः सखि सरसः ॥]

अरी सखि, अब वसन्त ऋतु की सरस सन्ध्या आ गयी है जिसमें पुष्पों की भीनी और मीठी सुगन्ध व्याप्त है पर यह वियोगिजनों के लिये प्राणों की शोषक (बन रही) है ॥ २२९ ॥

सप्तममाद्यचतुर्थयुतं यत्र हि नैधनमेव गुरु।
पादविधौ यदि पङ्क्तिकृता सा[5] खलु वृत्तमिति प्रथिता ॥ २३० ॥

प्रथिताः– यदि दस अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तो उसे 'वृत्ता' या प्रथिता समझना चाहिए ॥

यथा—एस [6]समुण्णअमंबरके मेहरवं सुणिऊण गओ।
[7]रोसरवेण समुज्जलिदो हिंडेदि काणणए कुविदो ॥ २३१ ॥
[एष समुन्नतमम्बरे मेघरवं श्रुत्वा गजः।
रोषरयेण समुज्ज्वलितो हिण्डति कानने कुपितः ॥]

उदा—उन्नत आकाश में उठने वाली बिजली की कड़क को सुनकर यह हाथी क्रोध से जलते हुए आकुल होकर वन में इधर उधर घूम रहा है ॥ २३१ ॥

त्रीण्यादौ तु भवन्ति गुरूणि षष्ठयन्तं नवमं चरणे तु।
यस्याः सा खलु गीतविधाने पङ्क्तिः सा[8] तु कृतोद्धतनाम्ना ॥२३२॥

कृतोद्धताः–यदि दस अक्षरों के पाद वाले छन्द में आदि के तीन, छठा, नवाँ और अन्तिम वर्ण गुरु हो तो 'कृतोद्धता' समझना चाहिए ॥२३२॥

यथा—अब्भं[9] अंबुधरेहिं पिणद्धं [10]विज्जुज्जोदघणांतपदीवम्।

---

१. वायते कुसुकदेतो—ख०; वासअतो कुसुम—ग०। २. एदोसो—ग०
३. सासंतो विअरएदजं—ग०। ४. एसं वसोइ असार—ग०।
५. सा कथिता खलु दोषकवत्—क०। ६. समुणे अच्चरके—ग०।
७. सेरासरवसेण—ग०। ८. क्षिप्ता कृतोद्धता नाम—ग० घ०।
९. अंहहवधरेपि—ग०, १०. पिज्झंझो अधणं तयुदीपं—ग०।

[1]वादाघुण्णिदकम्पिदपत्तं उम्मादेदि व हत्थिसमूहम् ॥ २३३ ॥

[अभ्रमम्बुधरैः पिनद्धं विद्युद्ज्योतिघनान्तप्रदीपम् ।
वाताघूर्णितकम्पितपत्रं उन्माद्यतीव हस्तिसमूहम् ।]

उदा०—बरसाती बादलों से घिरा हुआ आकाश जिसमें बादलों के बीचसे बिजली की चमक उठ कर हाथियों के समूह को भ्रमित कर रही है इसी कारण वे शीतत्रस्त के समान दांतों को टकराते हुए (मानों) कांप रहे है ॥ २३३ ॥

आद्य चतुर्थं नैधनके च[2] पञ्चमषष्ठे यत्र च दीर्घे ।
पुष्पसमृद्धा[3] सङ्कथिता सा पङ्क्तिरथैषा गीतविधाने[4] ॥ २३४ ॥

पुष्पसमृद्धाः— यदि दस अक्षरों के पाद वाले छन्द में आदि के चार, पंचम, षष्ठ तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो 'पुष्पसमृद्धा' समझो ॥ २३४ ॥

यथा—मेहसमूहं पीणवलाअं विज्जुपलित्तं[5]पेक्खिय एसो ।
उठ्ठिद[6] रोसो भूरिणिणादो धावदि हत्थी रुक्खणम्मि ॥२३५॥

[मेघसमूहं पीनबलाकं विद्युदुपलिप्तं प्रेक्ष्य एषः ।
उत्थितरोषो भूरिनिवादो धावति हस्ती रूक्षवने ॥]

यह हाथी आकाश में उठे हुए बगुलों की उड़ती पात से और बिजली की चमक से युक्त बादलों के समूह को देख कर असहनीय उत्तेजना के कारण क्रोध के बढ़ जाने से इस रूखे वन में भी (स्वयं) अतिशय गर्जना करते हुए भाग रहा है ॥ २३५ ॥

यदि खलु पञ्चममन्त्यं चरणविधावपि दीर्घं स्यात् ।
भवति नवं[7] चाष्टमकं यस्या विपुलभुजा[8] भुवि सा ज्ञेया ॥२३६॥

विपुलभुजाः— यदि दस अक्षरों के पाद वाले छन्द में पंचम, अष्टम, नवम तथा अन्तिम वर्ण गुरु रहे तो उसे 'विपुलभुजा' समझनाच ाहिए ॥२३६॥

---

१. वाआघुणिअ पिअणाणं—ग० ।
२. नैधनकेन—क० । ३. वृत्तसमुत्था—क० ।
४. गीतकबन्धे—क० ।
५. विज्जुपलिकं (लीकं)–[विद्युत्प्रदीप्तं]—क० ।
६. उद्धिय—घ० । ७. तथाष्टममन्त्ये द्वे—ख० ।
८. विपुलभुजावपि सङ्क्षिप्ता—ग० ।

यथा—जलहरणादसमुव्विणो पगलिददाणसमुकुलो[1]।
वणगहणं कुविदो हत्थी सरभअव्विदकं[2] जादि ॥ २३७ ॥
[जलधरनादसमुद्विग्नः प्रगलितदानसमाकुलः।
वनगहनं कुपितो हस्ती सरभसगर्विकं याति ॥]

उदा०—मदजल के निरन्तर कपोलों से बहने के कारण आकुल हस्ती आकाश में होने वाले मेघों के नाद को सुनकर और अधिक उद्विग्न होकर क्रोध में उत्तेजित हो मद पूर्ण गति से इस घने वन में अपने डक भर रहा है ॥ २३७ ॥

एतास्तु[3] जातयः प्रोक्ताः पङ्क्त्य एव समासतः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्रिष्टुब्जातिविकल्पनम् ॥ २३८ ॥

पंक्ति जाति में होने वाले छन्दों को यहाँ बतलाया गया। अब मैं त्रिष्टुप् जाति में रहने वाले छन्दों को बतलाता हूँ ॥ २३८ ॥

आदाविह खलु[4] गुरुणी नित्यं निधनमपि च परतः।
वृत्ते कविभिरिति[5] निगदिता त्रिष्टुब्जातिरभिहिता[6] चपला ॥२३९॥

चपलाः— यदि ग्यारह अक्षरों के पादवाले छन्द में आदि के दो तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'चपला' समझना चाहिए ॥ २३९ ॥

यथा—एदे खिदिधरवरसदिसा[7] भीमा पडु-पडहसमरवा[8]।
णीलासिदखगकिदरसणा मेहा[9] णहदलमभिपडिदा ॥ २४० ॥
[एते क्षितिधरवरसदृशा भीमाः पटुपटहसमरवाः।
नीलासितखगकृतरशना मेघाः नभस्तलमभिपतिताः ॥]

उदा०—हम उस आकाश में आ गये हैं जिसमें पर्वतों के समान लगने वाले भयानक बादल भरे हैं और जो नगाड़े के समान जोरों से नाद करते हुए नीले, काले रंग वाले विशाल पक्षियों के समान (उड़ते) दिखाई देते हैं २४० ॥

---

१. गंडमहाणादो—क; दाणमहागंधो—ग०।
२. सरभमत्तरिदो—ख०, सरभससंविदअं—ग०।
३. पद्यमेतद् ग पुस्तके नास्ति। ४. यदि खलु—क०।
५. रपि—क०; रभि—ग०।
६. चपलनतिरि सदा—क०, गतिरभिहिता यथा—ग०।
७. परिसरिए हीमा—ग०। ८. पपडह—ग०।
९. मेहणाहणा अणिमविवदिदा—ग०।

यदि खलु मध्ये त्वथ गुरुणी पुनरपि चान्त्यं गुरुचरणे।
भवति हि नित्यं रुचिरमुखी कमलदलाक्षीति हि कथिता ॥२४१॥

कमलदलाक्षीः— यदि ग्यारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में मध्य के (पंचम और षष्ठ) दो वर्ण तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'कमलदलाक्षी' समझना चाहिए ॥ २४१ ॥

परिघुणमाणो किरणपडं[1] अभिरुहमाणो उदअगिरिम्।
उडुगणबंधु कुमुदसहो[2] उदयदि चंदो गगणतले[3] ॥ २४२ ॥
[परिधुन्वानः किरणपटमभिरोहमाण उदयगिरिम्।
उडुगणबन्धुः कुमुदसखः उदयति चन्द्रो गगनतले ॥]

उदा०—तारागण का मित्र और कुमुद-कुसुमों का प्रेमी चन्द्रमा अपने किरणों का मार्ग प्रशस्त करते हुए (या मार्जन करते हुए) आकाश में उदयाचल पर्वत पर उदित हो रहा है ॥ २४२ ॥

यदि खलु पञ्चमकाष्टमके पुनरपि चान्त्यगतं तु गुरु।
चरणविधाविह वृत्तगते भवति हि सा द्रुतपादगतिः ॥ २४३ ॥

द्रुतपादगति—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में पञ्चम, अष्टम तथा अंतिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'द्रुतपादगति' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ २४३ ॥

यथा—गयणतलंगणहिण्डणओ किरणहतस्सविभूसिदओ।
विहुणिअ-मेहपडंसुओ[4] उदयति चंदणडो गगणे ॥ २४४ ॥
[गगनतलाङ्गणहिण्डनकः किरणसहस्रविभूषितकः।
विधूनितमेघपटांशुको उदयति चन्द्रनटो गगने ॥]

उदा० —यह चन्द्रमारूपी नट स्वयं को सहस्र किरणों से सजाकर आकाश के विस्तीर्ण प्रदेश में मेघों के समूह को चीरते हुए उदित हो रहा है ॥ २४४ ॥

यदि खलु[5] मध्ये गुरुयुगलं निधनगतश्चाप्यथगुरुकम्।
भवति हि सैवं चरणविधौ कमलनिभास्ये[6] ह्यतिचपला ॥ २४५ ॥

---

१. पहं—घ०।
२. सखो—घ०। ३. गयण—ग०।
४. मेहपडं तमसू विसइ ससी गअणे विदुअम् [मेघपटं तमसि विशति शशी गगने विदूरम्]—क०। ५. षष्ठं—क०, ग०।
६. मुखचपला त्रिष्टुबभिरचिता—क०।

अतिचपला—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में मध्य के दो (पञ्चम और षष्ठ) तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'अति-चपला' समझना चाहिए ॥ २४५ ॥

यथा—कुसुमसुअंधी सुअपवणो[1] तरुवरलासो पमदवणे।
बहुकुसुमेस्सि णवसरदे विचरदि रम्मे णलिणिवणे ॥ २४६ ॥
[कुसुमसुगन्धी सुखपवनस्तरुवरलास्ये प्रमदवने।
बहुकुसुमेऽस्यां नवशरदि विचरति रम्ये नलिनीवने ॥]

उदा०—शरद ऋतु के आरंभ में जल में विविध पुष्प विकसित होते हैं जिनकी सुगन्ध से युक्त होकर यह पवन वृक्षों को नचाते हुए (इस) रमणीय कमलिनी के साथ प्रमद (क्रीड़ा) बन में विचरण कर रहा है ॥ २४६ ॥

तृतीयान्त्यं[2] चतुर्थञ्च पञ्चमं षष्ठमेव[3] च।
गुरूणि त्रैष्टुभे पादे यत्र सा विमला यथा ॥ २४७ ॥

विमला—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में तृतीय, पञ्चम, षष्ठ सप्तम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'विमला' समझना चाहिए ॥२३७॥

यथा—कुसुमाकिण्णे णिम्मलसलिले णलिणीसंडे छप्पदमुहले।
सरसीमज्झे[4] सारसमुदिदे समदो हत्थी एस[5] विचरिदो ॥२४८॥
[कुसुमाकीर्णे निर्मलसलिले नलिनीखण्डे षट्पदमुखरे।
सरसीमध्ये सारसमुदिते समदो हस्ती एष विचरितः ॥]

उदा—यह मदमत्त हाथी विविध पुष्पों से भरे हुए, कमलिनी खण्डों से पूर्ण और भौरों की गुंजन से मुखरित, सारसों को आनन्द देने वाले निर्मल जल के इस सरोवर में विहार कर रहा है ॥ २४८ ॥

चतुर्थं पञ्चमं पूर्वमन्त्योपान्त्ये तथैव च।
गुरूणि त्रैष्टुभे पादे यत्र सा रुचिरा यथा ॥ २४९ ॥

रुचिराः—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में चतुर्थ, पञ्चम, दशम तथा एकादश वर्ण गुरु रहें तो उसे 'रुचिरा' समझना चाहिए ॥ २४९ ॥

---

१. असुपवा तरुपलासो—ग०, असुमवाणी विवरणो—ख०।

२. तृतीयमन्त्यं—क०। ३. चाष्टमेव च—ख०।

४. सबहूमज्झे—क०।

५. सोमविचरिदो—क०; पविचरिदो—ख०।

यथा—मेहविदाणं अवधुणमाणो कंपअमाणो कुमुदवणाणि[1]।
तोअसमूहं अवकिरमाणो वायदि वादो कुविद[2] इवासु ॥२५०॥
[मेघवितानमवधूनयमानः कम्पयमानः कुमुदवनानि ।
तोयसमूहमवकिरमाणो वाति वातः कुपित इवाशु ॥]

उदा०:—यह पवन मेघों के समूह को कम्पित करते हुए, कुमुदवन को आन्दोलित करते हुए तथा पानी को (बिखेरते या) आलोडित करते हुए किसी क्रुद्ध पुरुष के समान वेग से बह रहा है ॥ २५० ॥

यदि खलु लघुगण इह नियतो[3] यदि पदि[4] गुरु च हि निधनगतम् ।
भवति हि लघुगतिरतिचपला[5] त्वरितगतिरधिकमतिजगती ॥ २५१ ॥

त्वरितगति—यदि तेरह अक्षरों के पाद में (केवल) अन्तिम वर्ण गुरु तथा शेष वर्ण लघु हों तो उसे 'त्वरितगति' (या लघुगतिरतिचपला) समझना चाहिए ॥ २५१ ॥

यथा—विधुणिय जलधरमसिदपडं
दिअगणमुनिगणपरिपठिदो ।
उदअगिरिसिहरतटमुकटो[6]
विचरदि गगणतलम्मि[7] सुरो ॥ २५२ ॥
[विधूय जलधरमसितपटं
द्विजगणमुनिवरपरिपठितः ।
उदयगिरिशिखरतटमुकुटः
विचरति गगनतले सूर्यः ॥]

उदा०:—सूर्य अपने अनन्त किरणों से मेघों को धुनकर हटाते हुए तथा विप्रगण एवं मुनिजन द्वारा पठित एवं स्तुत होकर उदयाचल के (तट) प्रदेश पर मुकुट के समान (लगते हुए) आकाश में उदित हो (आगे बढ़) रहा है ॥ २५२ ॥

यदि खलु पञ्चमनिधनगते द्वे चरणविधौ भवति हि गुरुणी तु ।
अतिजगती[8] भुवि कथितगुणा सा मदकलितेति[9] निगदितनामा ॥२५३॥

---

१. सगअ(ल)वणाणि—क० । २. कुविअ—ग० ।
३. विहितं—क० । ४. पदि यदि गुरु निधन—क० ।
५. खलु गति—क० । ६. मुकुटे—क० ।
७. तलमसु रवी—क० । ८. कृत अतिजगति—ग० ।
९. मदकलितेवच—क० ।

मदकलिता—यदि तेरह अक्षरों के पाद वाले छन्द में पञ्चम और अन्तिम वर्ण गुरु हों तो उसे 'मदकलिता' समझना चाहिए ॥ २५३ ॥

यथा—गगणतलंगणमहिरुहमाणो
रजदमहागिरिसिहरसरूवो ।
[1]फडिअमहामणिणिअरणिआसो
परिचरिदो[2] णवसरदि मियंको ॥ २५४ ॥

[गगनतलाङ्गणमभिरोहन् रजतमहागिरिशिखरसरूपः ।
स्फटिकमहामणिनिकरनिवासः प्रविचरितः नवशरदि मृगाङ्कः ॥]

उदा०ः—इस चन्द्र ने—जो रजत महागिरि के शिखर के समान है एवं जो स्फटिक मणि के समूह के समान चमकीला एवं शुभ्र वर्ण है, जो गगन के आँगन में घूमता रहा—इस समागत (नवीन) शरद ऋतु को और भी शोभाशालिनी बना दिया है ॥ २५४ ॥

त्रिष्टुभो जातयो ह्येता जगत्यास्तु निबोधत ।
नवमं[3] नैधने द्वे च गुरूणि चरणे यदि ।
वृत्ते तु जगती सा तु ज्ञेया कमललोचना ॥ २५५ ॥

ये त्रिष्टुप् जाति में होने वाले छन्द हैं। अब मैं जगती जाति में होने वाली ध्रुवाओं के छन्दों को बतलाता हूँ।

कमललोचना :—यदि तेरह अक्षरों के पाद वाले छन्द में नवम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तो उसे 'कमललोचना' समझना चाहिए ॥ २५५ ॥

यथा—दिअगणमुणिगणवंदिदतेजो[4]
पवितदकिरणसहस्सपिणद्धो ।
विधुणिअ[5] तिमिरपडं जगदीवो
उदयदि गगणदले[6] असु सूरो ॥ २५६ ॥

[द्विजगणमुनिगणवन्दिततेजाः प्रविततकिरणसहस्रपिनद्धः ।
विधूनिततिमिरपटं जगदीप उदयति गगनतले आशु सूर्यः ॥]

---

१. रजतमओ विअ पिअकलसोसू—क०, ख० ।
२. पविचरिदो विअ णिसि चंदो—क०, ख० ।
३. अष्टमं नैधनं चैव—क०, ख० ।
४. वढ्ढिदतेओ—क०; विअढ़िदतेजो—ख० ।
५. धुनियतिमिरपडं तगदी वा—ख० ।
६. गअणतले एसो—घ० ।

उदा०—द्विज एवं मुनिगण के तेज को बढ़ाने वाला अनन्त किरणों के समूह से युक्त होते हुए जिसने अन्धकार के पट को हटा दिया है वही संसार का दीपक यह सूर्य (अब) (आकाश में) शीघ्र उदित हो रहा है ॥ २५६ ॥

यदि खलु चरणे तु सप्तमं पुनरपि नवमं सनैधनम्[1] ।
गुरु तदपरवक्त्रमुच्यते नियतमपि[2] निदर्शनं यथा ॥ २५७ ॥

अपरवक्त्र :—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में सप्तम, नवम और अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'अपरवक्त्र' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ २५७ ॥

यथा—गिरितडविचरो[3] विघुण्णिदो असणिघणरवेण[4] कंपअम् ।
अभिपददि दुदं महीदलं पडुदरणिणदो महाघणो[5] ॥२५८॥
[गिरितटविचरो विघूर्णितोऽशनिघनरवेण कम्पयन् ।
अभिपतति द्रुतं महीतलं पटुतरनिनदो महाघनः ॥]

उदा०—यह महामेघ पर्वत के तटप्रदेश पर विचरण करते हुए अपनी वज्र-सदृश विद्युत से पृथ्वी को कम्पित कर पटुतर ध्वनि करता हुआ तेजी से नीचे की ओर उतर रहा है ॥ २५८ ॥

एतास्तु जातयो ज्ञेयाः प्रावेशिक्या[6] द्रुतास्तथा ।
समवृत्तपदानान्तु वर्धमानं[7] निबोधत ॥ २५९ ॥

द्रुता जाति के प्रावेशिकी ध्रुवा में प्रयुक्त किये जाने वाले ये ही छन्द हैं । अब मैं वर्द्धमानक के अन्तर्गत होने वाले समवृत्त छन्दों का वर्णन करता हूँ ॥ २५९ ॥

एतासां लक्षणं सर्वं पूर्वमुक्तं[8] विधानतः ।
प्रतिष्ठादि यथाच्छन्दः सम्यक् पादविभागतः[9] ॥ २६० ॥

प्रतिष्ठा से आरम्भ होने वाले इन सभी छन्दों का अपने पादों के अनुसार होने वाला लक्षण पहिले विधिवत् बतला दिया गया है (अतएव

१. सनिधनं—क० । २. नियतमिति हि—क०, ख० ।
३. विअरे—क०; गिरिअरडवि अरघूंणिदो – ग० ।
४. पणर वे एकपअ—ग० । ५. महारवो—क० ।
६. प्रावेशिक्यो—क०; प्रावेशिक्यस्तथा द्रुताः—ख० ।
७. वक्ष्यमाणं—ग० । ८. पूर्वं सर्व—क० ।
९. पद—क० ।

यहाँ ध्रुवा के प्रसङ्ग में उन्हें केवल उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है[1])।

प्रतिष्ठा यथा—

मेहरवं णवसरदे ।

णिसमिय कुद्धे भवइ[1] गअवरो ॥ २६१ ॥

[मेघरवं नवशरदि । निशम्य क्रुद्धो भवति गजवरः ॥]

प्रतिष्ठा :—

उदा०—समागत नव शरद में मेघों की गर्जना सुन कर यह गजराज सम्प्रति क्रुद्ध हो रहा है ॥ २६१ ॥

सुप्रतिष्ठा यथा—

विज्जुकसाहिं पहदं[2] मरुद्धिं ।

परुददि[3] गयणं पसमि[4] अगहतारम् ॥ २६२ ॥

[विद्युत्कशाभिः प्रहतं मरुद्भिः ।
प्ररुदति गगनं प्रशमितग्रहतारम् ॥]

सुप्रतिष्ठा :—

उदा०—तारों से हीन यह आकाश वायु के आघात और बिजली के कशाघात से पिटते हुए मानों अपनी विषम स्थिति में रुदन करने लगा है ॥ २६२ ॥

गायत्री यथा—

मेघरवाउलं रुद्धगह-कदंबम्[5] ।

पसमिददिवाकरं रुददि विय[6] णहदलम् ॥ २६३ ॥

[मेघरवाकुलं रुद्धग्रह-कदम्बम् ।
प्रशमितादिवाकरं रुदतीव नभस्तलम् ॥]

---

१. प्रतिष्ठा आदि का स्वरूप नाट्यशास्त्र के छन्दोऽध्याय (१५ तथा १६) में दिखलाया जा चुका है।

---

१. भखई—ख०; असुहघहरो—ग०; गयप्पवरो—घ० ।

२. अभिहदंव्व—क० । ३. रुददी व—क० ।

४. भिसमिह गदतारं—घ० । ५. णट्ट गहचंदअं सकरं—क० ।

६. किअ—क० ।

गायत्री :—

उदा०—यह आकाश जिसे मेघसमूह ने आच्छादित कर रखा है और जहाँ सूर्य की प्रभा भी अस्त हो गयी है अब (मेघों की) गड़गड़ाहट से आकुल हो मानों रुदन कर रहा है ॥ २६३ ॥

उष्णिक् यथा—

पुल्लिअ-तरुसंडे सुरभिपवणहदे ।
विअरदि पदमवणे[1] हंसो सहअरिपरिवुदो ॥ २६४ ॥

[फुल्लतरुखण्डे सुरभिपवनहते ।
विचरति पद्मवने हंसः सहचरीपरिवृतः ॥]

उष्णिक् :—

उदा०—यह हंस अपनी प्रियाओं (सहचरियों) से युक्त होकर इस कमलवन में विचरण कर रहा है जहाँ प्रफुल्लित सुमनों वाले वृक्ष सुगन्धित पवन से आन्दोलित हो रहे हैं ॥ २६४ ॥

वर्धमानं मयैवन्तु त्र्यस्राणां परिकीर्तितम्[2] ।
पुनश्च चतुरस्राणामेवमेवं निबोधत ॥ २६५ ॥

इस प्रकार मैंने वर्द्धमानक के त्र्यस्र में होने वाले प्रकार बतलाए । अब मैं इसके चतुरस्र में होने वाले प्रकारों को बतलाता हूँ ॥ २६५ ॥

अनुष्टुब् यथा—

तारावंधु एस[3] णहे विक्किरमाणो मेहपडम् ।
किरणसहस्सभूसिदओ[4] उदयदि सोम्मो रजणिकरो[5] ॥२६६॥

[ताराबन्धुरेष नभसि विकिरन् मेघपटम् ।
किरणसहस्रभूषित उदयति सौम्यः रजनिकरः ॥]

अनुष्टुब् :—

उदा०—मेघों के पट को दूर हटाकर यह सौम्य आकाश में उदित हो रहा है जो (रात्रि के उपपादक या उत्पादनकर्त्ता) तारागण का सुहृद् है तथा (अपने) अनन्त किरणों से जो विभूषित है ॥ २६६ ॥

---

१. पमदवणे—क० ।
२. मपि कीर्तितम्—क० । ३. वंधसणाहो—क० ।
४. स्सिविंठसिओ—ग० । ५. एसो—क०, ग० ।

बृहती यथा—

एसो सुमेरुवणम्मि देव[1]असिद्धअपरिगीदे[2] ।
अदिसुरहिगंधवणचारी[3] पविचरदि विहंगमजुवाओ[4] ॥ २६७ ॥
[एष सुमेरुवने देव-सिद्धपरिगीते ।
अतिसुरभिगन्धवनचारी प्रविचरति विहंगमयुगलः ॥]

बृहती :—

उदा०ः—यह पक्षियों का जोड़ा जो अतिशय सुगन्धित उपवन में विचरण करने का अभ्यस्त था अब सुमेरु पर्वत के (उस) उपवन में विहारार्थ उड़ रहा है जहाँ देवता एवं सिद्ध गण गीत गा रहे हैं ॥ २६७ ॥

पङ्क्तिर्यथा—

पादवसीसं[5] कंपअमाणो सुरहि गअगंडवासिदओ[6] ।
उपवणतरुगणलासणओ[7] विचरदि[8] वरतणु वणपवणो ॥२६८॥
[पादपशीर्षं कम्पयमानः सुरभिगजगण्डवासितः ।
उपवनतरुगणलासकः विचरति वरतनु वनपवनः ॥]

पंक्ति :—

उदा०—हे प्रिये (वरतनु), देखो वृक्षों की फुनगियों को कँपाने वाला, उपवन के वृक्षों को नचाने वाला एवं मदमत्त हाथियों के मदजल की सुगन्ध से आपूरित यह वन पवन बह रहा है (चल रहा है) ॥ २६८ ॥

त्रिष्टुप् यथा—

कुमुदवणस्स विभूसणओ[9] विधुणिअतिमिरपडं[10] गगणे ।
उदअगिरिसिहरमहिरुहंतो[11] रअणिकरो उदयदि विमलकरो ॥२६९॥
[कुमुदवनस्य विभूषणो विधुनिततिमिरपटं गगने ।
उदयगिरिशिखरमधिरोहन् रजनिकर उदयति विमलकरः ॥]

---

१. दिअ देवसिद्ध—क० । २. परिगीदो—क०, ख० ।
३. सुरहिसुगंधवण चारी—क० ।
४. विहंमगणदूतवातो—क० ।
५. संडं—क० । ६. सुअन्धसुवासिदओ—क० ।
७. लासगओ—क० । ८. विअरति—क० ।
९. विहूसणओ—क० । १०. विधुणिय—घ० ।
११. मधिरोहंतो रजणिकरो—घ० ।

त्रिष्टुप् :—

उदा०—निर्मल किरणों वाला (वह) चन्द्र आकाश में उदित हो रहा है जो कुमुद पुष्पों की शोभा का संवर्द्धक है तथा जो मेघों के पट को दूर हटा कर उदयाचल पर्वत के शिखर पर आरूढ़ हो गया है ॥ २६९ ॥

जगती यथा—

दिअगणमुणिगणसंथुदओ[1] तविद-कणअवरसंणिभदेहो[2] ।
दुदमिह[3] णहदलमहिरुहमाणो विअरदि सपदि[4] दिवसकरो ॥२७०॥

[द्विजगणमुनिगणसंस्तुतः तप्त-कनकवरसन्निभदेहः ।
द्रुतमिह नभस्तलमभिरोहन् विचरति सपदि दिवसकरः ॥]

जगती :—

प्रतप्त स्वर्ण के समान शरीर वाला यह सूर्य विप्र एवं मुनि गण द्वारा स्तुत होकर शीघ्र ही आकाश के आँगन में अग्रसर होते हुए आगे बढ़ रहा है ॥ २७० ॥

एतास्तु जातयो ज्ञेयाश्चतुरस्रविवर्धिताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गणमात्राविकल्पनम् ॥ २७१ ॥

ये छन्द चतुरस्र विवर्धित जाति या वर्ग के हैं । अब मैं आगे गण और मात्राओं के आधार पर छन्दों का वर्णन करूँगा ॥ २७१ ॥

सुप्रतिष्ठावसानानां पादो द्व्यर्धगणः[5] स्मृतः ।
चतुर्भिश्चरणैस्तासां गणाः प्रोक्ताः षडेव च ॥ २७२ ॥

सुप्रतिष्ठा का अन्तिम पाद ढाई गण का होता है, जब कि इसके चारों पाद मिलकर छः गण के होते हैं ॥ २७२ ॥

तथा चैवापकृष्टानां द्वौ गणावर्धमेव च ।
पदानाञ्चैव विज्ञेया प्रमाणेन गणा दश ॥ २७३ ॥

इसी प्रकार अपकृष्टा (ध्रुवा) के अन्तिम पाद में भी ढ़ाई गण होते हैं और इसका सम्पूर्ण गीत दस गणों से निर्मित होता है ॥ २७३ ॥

पादेऽड्डितोत्थितानाञ्च त्रयोऽर्धञ्चैव कीर्तिताः ।
चतुर्दशगणाश्चैव कीर्तितास्तत्प्रमाणतः ॥ २७४ ॥

---

१. संवुदओ—क० । २. तविअसुवण्णपिण्डसमदेहओ—क० ।
३. गगणदलंगण—क० । ४. एसो—क०; सपदि एसो—घ० ।
५. ह्यर्ध—ग० ।

अङ्गिता का अन्तिम पाद साढ़े तीन गण का होता है और सम्पूर्ण गीत चौदह गणों से निर्मित होगा ॥ २७४ ॥

त्र्यस्राणान्तु द्विपदानामर्धषष्ठाः[1] गणाः स्मृताः ।
पादतश्चैव विज्ञेयास्त्वेकादश गणाः बुधैः ॥ २७५ ॥

त्र्यस्र जाति के द्विपाद छन्दों का अन्तिम पाद छः गणों का रहता है और सम्पूर्ण गीत ग्यारह गणों से निर्मित होता है ॥ २७५ ॥

पादाश्च चतुरस्राणां गणाः सार्धाष्टमाः स्मृताः ।
पादद्वयेऽपि ताश्च स्युर्गणाः पञ्चदशैव तु ॥ २७६ ॥

चतुरस्रा जाति के द्विपाद छन्दों का अन्तिम पाद आठ वर्णों का होता है और सम्पूर्ण गीत पन्द्रह गणों से निर्मित होता है ॥ २७६ ॥

आद्यासु चतुरस्रासु द्व्यादिर्नवावरस्तथा[2] ।
अक्षराणां भवेत् पिण्डो गुर्वादि लघुनैधनम् ॥ २७७ ॥

चतुरस्रा जाति के छन्दों के आदि पाद के गणों में एक गुरु और एक लघु (से युक्त) होता है और इसमें दो से कम तथा नौ से अधिक गण नहीं होते ॥ २७७ ॥

त्रस्रे त्वक्षरपिण्डे पञ्चादिर्नवावरश्च[3] विज्ञेयः ।
चतुरस्रः सप्तादिर्यो दशावरश्च[4] विज्ञेयः ॥ २७८ ॥

त्र्यस्र में ऐसे गणों की संख्या पाँच से कम तथा नौ से अधिक नहीं रखनी चाहिए । त्र्यस्र में ऐसे वर्णों की संख्या सात से कम और दस से अधिक नहीं होती है ॥ २७८ ॥

सर्वगुरुः पञ्चादिः सर्वलघुर्नवावरश्च[5] विज्ञेयः ।
सर्वगुरुः सप्तादिस्त्रयोदशावरश्च[6] सर्वलघुः ॥ २७९ ॥

यदि गुरु वर्णों से निर्मित गण हों तो वे चतुरस्र में पाँच से कम नहीं रखे जाते हैं तथा यदि वे सर्व लघु हों तो नौ से अधिक नहीं होते या यदि सभी गुरु हों तो कम से कम सात और सर्व लघु की दशा में अधिक से अधिक तेरह होने चाहिए ॥ २७९ ॥

---

१. द्विपादानां मध्यषष्ठा—ग० । २. द्व्यादिर्नवपर—ग० ।
३. र्नवपरश्च—ग० । ४. दशपरश्च—ग० ।
५. र्नवपरश्च—ग० ।
६. सप्तादिस्त्रयोदशपरश्च—ग० ।

एष त्वक्षरपिण्डो विज्ञेयो वै ध्रुवासु सर्वासु ।
गणमात्रांशविकल्पं[1] व्याख्यास्यामि द्विपदानाम् ॥ २८० ॥

सभी ध्रुवाओं (की स्थिति) में वर्णों की संख्या का यही (विवरण या) क्रम होता है । अब मैं द्विपद के विभिन्न अवयवों का तथा उनमें रहने वाले गणों की संख्या का वर्णन करता हूँ ॥ २८० ॥

एकादशाद्यं त्र्यस्राणां चैकविंशति नैधनम् ।
पादाक्षरकृतः[2] पिण्डो गुर्वादिर्लघुनैधनम् ॥ २८१ ॥

त्र्यस्रा ध्रुवाओं में प्रथम-पाद ग्यारह गणों का और अन्तिम पाद इक्कीस गणों का रहेगा। जो गण (इसमें) निर्मित होंगे उनमें गुरु के बाद एक लघु वर्ण रहेगा ॥ २८१ ॥

षोडशाद्यस्तथा पादो[3] भवेद्विंशतिनैधनम् ।
विज्ञेयश्चतुरस्राणां गुर्वादिर्लघुनैधनम् ॥ २८२ ॥

चतुरस्रा ध्रुवाओं में (भी) प्रथम-पाद सोलह वर्णों का और अन्तिम पाद बीस वर्णों का होगा और इसमें होने वाले गणों में (एक) गुरु के बाद एक लघु वर्ण रहेगा ॥ २८२ ॥

शीर्षकाणान्तु नियमो नैव[4] पादविधानतः ।
गुरुगुर्वादिमध्यान्तस्तथा[5] चैव लघुः स्मृतः ॥ २८३ ॥

शीर्षकों में पाद विषयक ऐसा कोई नियम नहीं होता और दो गुरुवर्णों से अनुगत एक लघु वर्ण के द्वारा इनके आरम्भ, मध्य या अन्त का निर्माण हो सकता है ॥ २८३ ॥

त्र्यस्रायास्तु[6] गणाः पञ्च सन्निपाते[7] विधीयते ।
अष्टौ च चतुरस्रायाः सन्निपातो भवेत्तथा ॥ २८४ ॥

त्र्यस्रा ध्रुवाओं में पाँच गणों का सन्निपात (का आयाम या प्रमाण) तथा चतुरस्रा ध्रुवाओं में आठ गणों का सन्निपात रहेगा ॥ २८४ ॥

द्वौ पादौ सन्निपातश्च ध्रुवाणां सम्प्रकीर्तितः ।
द्रुतश्च शीर्षकश्चैव हित्वान्यानि भवन्ति वै ॥ २८५ ॥

---

१. गुणमात्रा—ग० । २. पादाक्षरकृते:—ग० ।
३. पादे—ग० । ४. नैव—ग० ।
५. गुरुर्गुर्वादिमध्यन्त—ग० ।
६. त्र्यस्रायां तु—क० ।
७. सन्निपातो—क०; सन्निपाताधिके पुनः—ग० ।

ध्रुवाओं के सन्निपात दो पाद के होते हैं। ये हैं द्रुत और शीर्षक। इन ध्रुवाओं के इसके अतिरिक्त (भी) और दो पाद होते हैं ॥ २८५ ॥

अक्षरपिण्डस्त्र्यस्रे पञ्चादि[1] नवपरश्च विज्ञेयः ।
अष्टपरश्चतुरस्रे[2] त्रयोदशपरस्तु विज्ञेयः ॥ २८६ ॥

त्र्यस्र में पाँच से न्यून और नौ से अधिक गण नहीं होते और चतुरस्र में ये आठ से कम और तेरह से अधिक नहीं होतें ॥ २८६ ॥

सर्वगुरुः पञ्चादिः सर्वलघुर्नवावरश्च विज्ञेयः ।
सर्वगुरुरष्टादिस्त्रयोदशावरतश्च[3] सर्वत्र लघु ॥ २८७ ॥

यदि गुरु वर्णों से निर्मित गण हों तो (वे) चतुरस्र ध्रुवा में पाँच से कम तथा नौ से अधिक नहीं रखे जाएँ और यदि (ये) सभी लघु वर्णों से निर्मित हों तो आठ से कम और तेरह से अधिक नहीं रहें ॥ २८७ ॥

एष ह्यक्षरपिण्डो[4] विज्ञेयो वै ध्रुवाविधानज्ञैः ।
गणमात्रांशविकल्पं व्याख्यास्यामि द्रुतायास्तु[5] ॥ २८८ ॥

यही ध्रुवाओं की गण विन्यास विधि है जिसे नाट्य विज्ञानज्ञ को जानना चाहिए। अब मैं द्रुता ध्रुवाओं में होने वाले गण तथा मात्राओं के विभाग का विधान बतलाता हूँ ॥ २८८ ॥

अर्धषष्ठगणा ज्ञेया सन्निपाता[6] द्रुतास्त्वथ ।
मात्रा[7] द्वाविंशतिश्चैव गुरुलघ्वक्षरान्विताः ॥ २८९ ॥

द्रुता ध्रुवा का सन्निपात साढ़े छः वर्णों से निर्मित किया जाता है और गुरु तथा लघु वर्णों से युक्त बत्तीस मात्राओं से ये निर्मित की जाती है ॥

शीर्षकाणामनियमो[8] भवेत् पादविधानतः ।
नानावृत्तविनिष्पन्नं[9] कुर्याद वै शीर्षकं बुधः ॥ २९० ॥

---

१. पञ्चाधिकः नवपरश्च—घ० ।

२. अष्टादिश्चतु—क० ।

३. सर्वगुरुश्चाष्टादिः त्रयोदशपरश्च सर्वलघुः—क० ।

४. त्वक्षर—क०, ख० । ५. द्रुतायाश्च—क०, हृतायास्तु—ख० ।

६. अर्धषष्ठगणैः पादैः सन्निपातो—क०; ...सन्निपातो द्रुतास्तथा-ख०; सन्निपातो ध्रुवास्त्वथ—ग० ।

७. मात्राश्च विंशतिश्चैव—ग० । ८. शीर्षको नाम—ग० ।

९. समुत्पन्नं—क०; नाम्ना वृत्तविनि—ग० ।

शीर्षकों में पाद के विधान न होने से सन्निपात के प्रमाण का नियम नहीं होता और ये शीर्षक अनेक वृत्तों (छन्दों) से निर्मित होते हैं ॥ २९० ॥

गुर्वादिरथ[1] लघ्वादिर्युग्मः सर्वलघुस्तथा ।
चतुर्मात्रा[2] गणा ज्ञेया पूर्वच्छन्दो-विकल्पिताः[3] ॥ २९१ ॥

इनमें जो गण होते है उनमें गुरु से आरम्भ होने वाले, लघु से आरंभ होने वाले, गुरु-लघु से मिश्रित या सभी लघु (या सभी गुरु) वर्ण वाले होकर चतुर्मात्रिक गण रहते हैं और ये पूर्व वर्णित छन्दों के अनेक प्रकार बनाते हैं ॥ २९१ ॥

अर्धाष्टमगणाः पादाः शीर्षकस्य भवन्ति हि[4] ।
त्रिंशन्मात्राश्च[5] विज्ञेया युग्मौजाक्षरिकैः[6] पदैः ॥ २९२ ॥

शीर्षक के साढ़े आठ गणों के द्वारा निर्मित पाद होते हैं और सम या विषम अक्षरों से ये पाद तीस मात्राओं (तक) के हो जाते हैं ॥ २९२ ॥

शीर्षकस्यैकविंशत्या[7] षड्विंशतिपरस्तथा ।
अक्षराणां भवेत् पिण्डः पादे ह्येकत्र निश्चयात्[8] ॥२९३॥

शीर्षक के प्रत्येक पाद में इक्कीस अक्षर से कम और छब्बीस से अधिक अक्षर नहीं होते हैं ॥ २९३ ॥

युग्मा[9] औजा मिश्रा पादे[10] कार्या गणास्तु चत्वारः ।
नियतं[11] शीर्षविधाने[12] पश्चाल्लघुसञ्चयः कार्यः ॥ २९४ ॥

शीर्षक के चार पादों में सम, विषम तथा मिश्र पाद वाले चार गण रखे जाते हैं और नियमानुसार शीर्षक में लघु वर्णों का बाद में सञ्चय रखा जाता है ॥ २९४ ॥

त्रय[13] एव गणास्तु मुखे लघवस्त्रय एवावसाने तु ।

---

१. गुरुगुर्वादिस्तथाल्पादिर्युग्मः स तु लघुस्तथा—ग० ।
२. ...मात्रो गणो ज्ञेयः पूर्व—विकल्पितः—क० ।
३. विकल्पनाः—ख०; विकल्पकः—ग० । ४. वै—क०; ख० ।
५. चतुर्मात्रास्तु—क० । ६. जाक्षरकैः पदैः—क० ।
७. शीर्षके ह्येक—ग०, घ० । ८. निर्दिशः (?)—ग० ।
९. युग्मौजमिश्रकाः खलु—ग०, घ० ।
१०. वादौ–क०; आदौ—ख० ।
११. शीर्षके तु नियमेन—ग०, घ० । १२. शीर्षविधानं—ख० ।
१३. त्रीणि गणा यस्य मुखे त्रीण्येव हि यस्य चावसानानि—क०, ख० ।

मध्ये चेद् गुरूणी द्वे तच्चपलं[1] शीर्षकं नाम[2] ॥ २९५ ॥

यदि आरम्भ में तीन लघु गण हों और ये ही अन्त में भी रहें और मध्य में दो गुरु (गण) हों तो चपला नामक शीर्षक कहलाता है ॥२९५॥

पूर्वार्धेऽथ[3] चतुर्ह्रस्वा मिश्रा गणास्तु चत्वारः ।
पादे भवन्ति नित्यं पश्चाल्लघुसञ्चयाः[4] शेषाः ॥ २९६ ॥

प्रथम अर्ध भाग में सदा चार लघु तथा चार मिश्र गण होने चाहिए तथा शेष भाग में लघु वर्ण का सञ्चय रखा जाता है ॥ २९६ ॥

एक[5] द्विकलास्त्रिकलाश्चतुष्कला षट्कलास्तथाष्टकलाः ।
ध्रुवाविरामाः[6] कार्याः प्रासादिक्यन्तराक्षेपैः ॥ २९७ ॥

प्रादेशिकी, अन्तरा तथा आपेक्षिकी ध्रुवाओं के द्वारा निर्मित ध्रुवाओं का एक, दो, तीन, चार, छः या आठ कलाओं के प्रमाण का विराम रखा जाता है ॥ २९७ ॥

त्र्यस्रे विरामस्त्रिकलश्चतुरस्रे[7] चतुष्कलः ।
प्रावेशिक्या ध्रुवायास्तु नैष्क्रामिक्यास्तथैव च ॥ २९८ ॥

त्र्यस्रा ध्रुवाओं में तीन कला के प्रमाण का और चतुरस्रा में चार कला के प्रमाण का विराम रखा जाता है। यही नियम प्रावेशिकी और नैष्क्रामिकी ध्रुवाओं में (भी) होता है ॥ १९८ ॥

विरामो द्विकलो[8] नित्यमन्तरायास्तथैव[9] च ।
पादान्ते हि[10] विरामस्तु आक्षिप्तायाः प्रकीर्तितः ॥ २९९ ॥

अन्तरा ध्रुवा का विराम दो कला का होता है और अक्षिप्ता ध्रुवा के पादान्त में विराम रखा जाता है ॥ २९९ ॥

स्थितायास्तु[11] तथा ह्यर्धे प्रासादिक्यास्तथैव च ।

---

१. तच्चपला—ग०, घ० । २. भवति—क०, ख० ।
३. पूर्वे ह्यर्धन्तु गुरु ह्रस्वा द्विश्रा गणास्तु—ग० ।
४. ···सञ्चयः शेषः—क० ।
५. एककलस्त्रिकलश्चतुष्कलस्तथाष्टकलः कार्याः—ग० ।
६. कार्या ध्रुवाविधाने—क० । ७. चतुरश्रश्चतुष्कलः—ग० ।
८. द्विकलोऽत्यन्तमन्तमाः समासतः—क० ।
९. प्रयोक्तृभिः—ख० ।
१०. द्विविरामस्तु क्षिप्तायाश्च—क० । ११. स्थिरायाश्च—ग० ।

कलाकलार्धयोगेन[1] गुरुलघ्वक्षरान्विताः ॥ ३०० ॥

स्थिता और प्रासादिकी ध्रुवाओं में पदार्थ में विराम रखा जाता है और इनमें कला एवं अर्धकला को बढ़ाते हुए इसी प्रमाण में (पूर्ववर्णित विधान के अनुसार) लघु-गुरु अक्षरों को युक्त करते हुए रखना चाहिए ॥ ३०० ॥

त्रयो ध्रुवाणां संयोगा[2] विज्ञेया वृत्तसंश्रयाः ।
सर्वदीर्घः सर्वलघुर्गुरुलघ्वक्षरस्तथा[3] ॥ ३०१ ॥

वृत्त को लेकर ध्रुवाओं के अन्त में तीन परिणति या संयोग बनते हैं:— सर्व दीर्घ, सर्व लघु तथा गुरु और लघु का मिश्रण ॥ ३०१ ॥

गुरुप्राया [4]स्थिता कार्या लघुप्राया द्रुता[5] तथा ।
गुरुलघ्वक्षरप्राया प्रासादिक्यन्तरा[6] तथा ॥ ३०२ ॥

स्थिता ध्रुवा में अधिकांशतः गुरु अक्षर, द्रुता ध्रुवा में लघु अक्षर तथा प्रासादिकी और अन्तरा ध्रुवाओं में गुरु एवं लघु अक्षरों का (समान प्रमाण में) मिश्रण रखा जाता है ॥ ३०२ ॥

एवं ध्रुवाणां कर्त्तव्या जातयो वृत्तसम्भवाः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि शीर्षकाणान्तु लक्षणम् ॥ ३०३ ॥

वृत्त से उत्पन्न होने वाले ध्रुवाओं के छन्दों की यही विधि है । अब मैं विभिन्न प्रकार के शीर्षकों के लक्षण बतलाता हूँ ॥ ३०३ ॥

आद्यमन्त्यं तृतीयञ्च[7] पञ्चमं सप्तमाष्टमे ।
गुरूणि यस्याः पादे तु सा श्येनी[8] तु कृतौ यथा ३०४ ॥

श्येनी :—यदि इक्कीस अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, तृतीय, पंचम, सप्तम, अष्टम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'श्येनी' नामक शीर्षक समझना चाहिए ॥ ३०४ ॥

---

१. कलाः कलर्ध—घ० । २. संयोगात्—ग० ।

३. गुरुह्रस्वाक्षरस्थता—क० ।

४. प्रायास्तथा कार्या—ग० ।

५. द्दुतास्तथा—ख । ६. दिक्यान्तरा—ग० ।

७. चतुर्थञ्च सप्तमं दशमं तथा । गुरुण्येकादशञ्चैव सङ्कृती वृत्तसंश्रये । लघून्यन्यानि शेषाणि पादे यस्मिन् भवन्ति हि । तज्ज्ञेयं शीर्षकं तज्ज्ञैः स्खलितं नामतो यथा ॥ इत्यधिकञ्च—ग० ।

८. श्येनीः प्रकृतिर्यया—ख०, ग० घ० ।

यथा—सागरं समुद्धुणंतो रथ[1] इव लघुगदि अभिपदिदो
पव्वदा समाहणंतो तरुसु च जणअदो[2] भयमतुलम् ।
रेणुजालमुक्खिवपंतो दिवसकरकिरणमिदुकरणो[4]
बोधअं[3] पजासु कामं विचरदि वरतणु सुहपवणो ॥ ३०५ ॥
[सागरं समुद्धुन्वन् रथ इव लघुगतिरभिपतितः
पर्वतान् समाघ्नन् तरुषु च जनयन् भयमतुलम् ।
रेणुजालमुत्क्षिपन् दिवसकरकिरणमृदुकिरणः
बोधयन् प्रजासु कामं विचरति वरतनु सुखपवनः ॥]

उदा०—अरी सुन्दरी, यह पवन अतिशय सुखदायी होकर एक रथ के समान मन्दगति से विचरण करते हुए सागर को आन्दोलित कर रहा है, पर्वताधिपति को धीरे-धीरे टक्कर दे रहा है, वृक्षों में अतुल भय उत्पन्न कर रहा है तथा सूर्य की प्रखर किरणों को मृदु बनाने के लिये धूल को उपर उड़ाते हुए मानवों के हृदयों में सुप्त काम को प्रबुद्ध करने लगा है ॥ ३०५ ॥

पञ्च त्वादौ यत्र तु दीर्घं नवममपि[5] च गुरुसमयकृतं
दीर्घश्चान्त्यं चाष्टममन्यलघु विरचितमपि चरणविधौ ।
वृत्ते ज्ञेया जातिरपीयं [6]श्रुतिसुखयतिरचितविभवा
क्रौञ्चा[7] नाम्ना छन्दसि प्रोक्ता[8] द्विजगणमुनिगणपरिपठिता ॥३०६॥

क्रौंचा :—यदि बाईस अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम से पञ्चम तक, अष्टम, नवम और अन्तिम वर्ण गुरु हो और शेष वर्ण लघु हों तो श्रवणा को सुखद यतियों से निर्मित तथा विप्र एवं मुनि गण के द्वारा सदा पठन की जाने वाली ऐसी जाति के छन्द का क्रौञ्चा नामक शीर्षक समझना चाहिए ॥ ३०६ ॥

यथा—एसो चंदो णिम्मलदेहो[9] विधुणिअ [10]घणतममसिदपडं

---

१. रव इव'''अभिभवदि—क० । २. जणअदि—क० ।
३. मुवकलिदो-क०; मिन्दुकिरणो-ग०, दिवसकरणपिण्डकरणो—ख० ।
४. बावितुअसु लोअकामो विअदि वरुणसुभूपवणो—ग० ।
५. नियमपि च—ख० ।
६. बहुविधनिचयचितविहिते—क०, ख० ।
७. क्रौञ्चं—क० । ८. चोक्ता—क० ख० ।
९. णिम्मलजोह्वा—क० ।
१०. घणमसिदपडणिहं—क०, तमतपवसिदं—ख० ।

लोकाणंदो[1] लोकपदीवो उडुगणगहगणसमणुगदो[2] ।
पासादाणं कारयमाणो सिदपडणिवसणमिव[3] विपुलं
लोकलोकं[4] रंजअमाणो विचरदि[5] वरतणु गयणतले ॥ ३०७ ॥

(एष चन्द्रो निर्मलदेहो विधूय घनतमसम् असितपटं
लोकानन्दो लोकप्रदीप उडुगणग्रहगणसमनुगतः ।
प्रासादानां कारयमाणः सितपटनिवसनमिव विपुलं
लोकालोकं रञ्जयमाणो विचरति वरतनु गगनतले ॥]

उदाहरणः—अरी सुन्दरी, यह निर्मल स्वरूप वाला चन्द्र काले मेघों के पट को दूर करने के बाद प्रजाओं का आह्लादक एवं प्रदीप बनकर तारों तथा ग्रहों से अनुसृत हो, बड़े-बड़े राजप्रासादों को अपने श्वेत पट रूपी किरणों से आच्छादित करते हुए समग्र भूमण्डल के दूर और समीपस्थ प्रदेश को प्रकाशित एवं आह्लादपूर्ण करते हुए आकाश में विचरण कर रहा है ॥ ३०७ ॥

आद्यचतुर्थे[6] पञ्चमषष्ठे नवमदशममथ[7] निधनगतं
ये च तथान्ये[8] ते च लघुत्वं यदि भवति चरणगतिविधौ ।
सा विकृतिः[9] स्यात् पुष्पसमृद्धा द्विजगणमुनिगणपरिपठिता
नामविकल्पात् वृत्तकृता वै[10] विबुधबहुमतपदनियमा ॥ ३०८ ॥

पुष्पसमृद्धा :—यदि तेईस अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ नवम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तो विद्वज्जन के द्वारा इष्टतम तथा विप्र एवं मुनिगण के द्वारा सदा पठन किया जाने वाले ऐसे (जाति के) छन्द को पुष्पसमृद्धा नामक शीर्षक समझना चाहिए ॥ ३०८ ॥

यथा—पुप्फविदाणं उद्धुणमाणो रथ[11] इव दुदगदि अभिपदिदो
पक्कममाणो[12] सेलतडेसुं तरुसु अवकिरिअ[13] कमलदलम् ।

१. लोकाणहदो—ग० । २. समुपददो—ग० ।
३. सितनिवसणमिद—ख० । ४. लोआ लोअं—ग० ।
५. विअरइ वरतणु गगणमसु—क० । ६. चतुर्थं—क०, ख० ।
७. नवममथ दशमं—क० । ८. ततोऽन्ये येषु—क० ।
९. निकृतिः—क०, प्रकृतिः—ख० ।
१०. वैश्वशतलुलितमिह नभसि नदी—क०, ख०, वै विवरं बहुमत-ग० ।
११. रव इव पडुगति—क०, द्रुतगति—ख० ।
१२. पक्खलमाणो मेहतडेसु—क० ।
१३. जणअदि भयमतुळम्—क०, ख० ।

मेहसमूहं[1] उद्धूणमाणो सरसि[2] क्खुभिदसलिलकलकलो
भीमणिणादो चंडपवाही विचरदि वरतणु वणपवणो[3] ॥३०९॥
[पुष्पवितानमूद्धूनयमान रथ इव द्रुतगतिरभिपतितः
प्रक्रममाणश्शैलतटेषु तरुषु अवकीर्य कमलदलम् ।
मेघसमूहमुद्धूनयमानः सरसि क्षुभित सलिलकलकलो
भीमनिनादश्चण्डप्रवाही विचरति वनतनु वनपवनः ॥]

उदाहरणः—अरी सुन्दरी, यह वन में चलने वाला पवन भयंकर नाद और प्रचण्ड वेग से वृक्षों तथा पर्वत के तटीय (प्रान्त भाग) प्रदेश पर बह रहा है, इसने मेघों के संघ को छिन्न भिन्न कर डाला है, यह पुष्पों के आच्छादनों को ऊपर उठा रहा है, कमल दल को विकीर्ण कर रहा है तथा सरोवर के जल को क्षुब्ध करते हुए कल-कल निनाद को बढ़ावा दे रहा है ॥ ३०९ ॥

अन्त्यश्च पञ्चमं षष्ठं सप्तमं दशमं गुरु[4] ।
वृत्ते[5] सङ्कृतिसंज्ञे तु सम्भ्रान्ता नाम[6] सा यथा ॥ ३१० ॥

सम्भ्रान्ताः—यदि चौबीस अक्षरों के पाद वाले छन्द में पञ्चम, षष्ठ, सप्तम दशम एवं अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे सम्भ्रान्ता समझना चाहिए ॥३१०॥

किरणसहस्सं विक्किरमाणो फडिअमणिरुचिरधवलणिहो[7]
कुमुदवणाइं बोधयमाणो कुमुददलणिअरसदिसवपु[8] ।
गहगणबंधु[9] लोकपदीवो उडुगणगहगणसमणुगदो[10]
उदयदि चंदो रोहिणिकंतो णवसरदि[11] कुमुदिगणसुहृदो ॥३११॥
[किरणसहस्रं विकिरन् स्फटिकमणिरुचिरधवलनिभः
कुमुदवनानि बोधयमानः कुमुददलनिकरसदृशवपुः ।
ग्रहगणबन्धुर्लोकप्रदीपः उडुगणग्रहगणसमनुगतः
उदयति चन्द्रो रोहिणीकान्तः नवशरदि कुमुदिगणसुहृद् ॥]

---

१. उम्मिसहस्सं—क०, ख० । २. सरसक्खुभिद—क० ;
३. सुहपवणो—क०, ख० । ४. परम्—ख०, ग० ।
५. चतुर्विंशतिके पादे—ग० । ६. नामतो—क०, ख० ।
७. फलिह—क० ।
८. कुमुदकलाणकरसदिस—ख०; कुमुदाकरसदिस—घ० ।
९. महगणबन्धु—ख०; गह अणिबंधु—ग० ।
१०. उडुगहणसमभिगतो—ग० ।
११. णवसरदमुदितमुखजणणो—ख०; नवसरसि कुमुदिदजणसुहृदो—ग० ।

उदाहरण :—शरद ऋतु के आरम्भ में आकाश में रोहिणी-वल्लभ चंद्र उदित हो रहा है जो नक्षत्रों का प्रिय-बंधु है, संसार का दीपक है, जिसका वर्ण कुमुद-पुष्पों-सा शुभ्र तथा स्फटिक मणि के समान रुचिर है। जो ग्रह-गण एवं नक्षत्रों के द्वारा अनुसृत है (या जिसका ग्रह एवं नक्षत्र अनुसरण करते हैं) और जिसने अपने सहस्र किरणों को बिखेर कर अपने मित्र कुमुद-पुष्पों को विकसित कर डाला है ॥ ३११ ॥

अष्टावाद्यौ दीर्घाणि स्युर्यदि[1] च हि भवति लघुगणः
भूयश्चान्ते दीर्घन्त्वेकं यदि भवति पदि पदि पुनरपि तदा[2] ।
मत्ताक्रीडा विद्युन्मालेत्यपि च कविभिरपि[3] बहुभिरुदिता
नाम्ना छन्दोवृत्ते विकृतिगतिविधिषु च नियमसहिता ॥३१२॥

मत्ताक्रीडा—यदि तेईस अक्षरों के पाद वाले छन्द में आदि के आठ तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों एवं मध्य के शेष सभी वर्ण लघु रहें तो उसे 'मत्ताक्रीडा-विद्युन्माला' समझना चाहिए ॥ ३४२ ॥

यथा—एसो मेहो सेलाभोओ[5] असणिमुरजपडुपडहसमरओ
णाणाविज्जुज्जोआलोओ घण-जलधरपटलसमणुगदो[6] ।
णाणावण्णो तोडग्गारी पविचरदि[7] रुचिरकुसुमजधुरो
संछादंतो लोयं एसो[8] चलगिरिणिवह इव सुतणुलदे ॥३१३॥

[एष मेघः शैलाभोगोऽशनिमुरजपटुपटहसमरवो
नाविद्युद्योगालोको घनजलधरपटलसमनुगतः ।
नानावर्णस्तोयोद्गारी प्रविचरति रुचिरकुसुमजधुर्यः
सञ्छादयन् लोकमेषश्चलगिरिनिवह इव सुतनुलते ॥]

उदहारण :—अरी सुन्दरी, यह (वर्षाकालीन) कृष्ण-मेघ पर्वत के समान विशाल होकर वज्र, मृदंग और नगाड़े के समान ध्वनि (या गर्जन)

---

१. यदि च पुनरपि हि भवति—क०, ख० । २. तथा—क०, ख० ।
३. विविधकविभिरपि—क० ।
४. देवोत्यभिकृतिगतिविधिषु च नियतमभिहिता—क० ।
५. सेलो होओ ग०; सेलो भूओ—घ० ।
६. घणपटलनिचयजलघर-समणुगदो—क० ।
७. चरितदवलखगविरचितकुसुमपभो—क० ।
८. यातो गिरिरिव गिरिणिवह इव सुभसलिलो—क०; लोभचदो पइहरि णिवहइ सुतणुलतो—ग० ।

कर रहा है और विद्युत् (चमकों से) युक्त हो प्रकाशित हो रहा है, इसका अन्य मेघ भी अनुसरण कर रहे हैं, इसने विविध वर्णों के पुष्पों के छोटे कर्णभूषण बना (कर) धारण कर लिये हैं और यह किसी जंगम पर्वत के समान (आकाश में) सम्प्रति विचरण कर रहा है ॥ ३१३ ॥

आद्यमन्त्यं चतुर्थञ्च सप्तमं दशमं तथा।
गुरूण्येकादशञ्चैव सङ्कृतौ वृत्तसञ्चये[1] ॥ ३१४ ॥
लघून्यन्यानि शेषाणि पादे यस्मिन् भवन्ति हि।
विज्ञेयं[2] शीर्षकं तज्ज्ञैस्खलितं नामतो यथा ॥ ३१५ ॥

स्खलिता :—यदि चौबीस अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम, एकादश तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तथा अन्य वर्ण लघु रहें तो 'स्खलिता' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ ३१४-३१५ ॥

यथा—वादसमुद्धतवीचितरंगो[3] फडिअमणिणिअररुचिरजलो
वीचिपरंपरघोरणिणादो[4] पडुपवणलुलिदविहगकुलो।
मणिकुलाकुलभीमतरंगो[5] खुभिदघणणिवहसदिसरवो
तुंगमहीधरमाणणिरुद्धो रुसिदो इव सपदि सलिलणिहि ॥३१६॥
[वातसमुद्धतवीचितरङ्गो स्फटिकमणिनिकररुचिरजलः
वीचिपरम्पराघोरनिनादः पटुपवनलुलितविहगकुलः।
मनिकुलाकुलभीमतरङ्गो क्षुभितघननिवहसदृशरवः
[6]तुङ्गमहीधरमाननिरोधो रुषित इव सपदि सलिलनिधिः ॥]

उदाहरण :—यह समुद्र शीघ्र ही क्रुद्ध हो गया है, जिसकी पवन तरगें उछाली (या ऊँची उठा ली) हैं। जिसकी जलराशि स्फटिक मणि के समान शुभ्र (एवं निर्मल) हैं, लहरों की क्रमागत परम्परा के कारण जो भयंकर निनाद कर रहा है, वेग से बहने वाले पवन ने ऊपर उड़ने वाले पक्षियों को विकीर्ण कर डाला है, आकुल मछलियों के कारण जिसकी (मानों) भयंकर लहरें उठ रही हैं, जो क्षुब्ध मेघों के समान गर्जन कर

---

१. वृत्तसंश्रयम्—क०। २. तज्ज्ञेयं—क०।
३. पादसमुलदवीचि—ग०।
४. पंकजरेणुपरागपिशंगे विलुलितकमलकुवलयदले—क०, ख०।
५. मोटितकल्पतरूत्यितशाखे सुरयुवतिनयनसमनुसृतः—क०; समसुथुतं-ख०।
६. क्रीडति (क्रीडित—ख) दानसुगन्धमहोर्मिसुरगज इह किल सुरसरिति—क०।

रहा है और उन्नत पर्वतों के कम्पन को हरण करते हुए जो (इसीकारण) क्रुद्ध-सा आ रहा है ॥ ३१६ ॥

प्रकृत्यां[1] पञ्चमान्त्ये च ह्यष्टमैकादशे गुरू।
द्वादशश्चेति विज्ञेयं नामतश्चपला यथा ॥ ३१७ ॥

चपला :—यदि पचीस अक्षरों के पाद वाले छन्द में पञ्चम, अष्टम, एकादश, तथा द्वादश वर्ण गुरु हों तो उसे 'चपला' भ्रुवा समझना चाहिए ॥ ३१७ ॥

यथा—मुनिगणमंडलिवंदिदतेजो[2] विधुणिअतिमिरदिवघणपडम्[3]
कमलवणाइ विबोधअमाणो जदिगणमुनिगणपरिपठिदो[4] ।
भुजअसहस्सविवद्धिदपादो[5] सुतविदकणअसदिसवपुओ[6]
करणिअरेहिं[7] पसादिअ लोअं उदयदि वरतणु दिवसकरो ॥३१८॥
[मुनिगणमण्डलवन्दिततेजः विधूय तिमिरदिवघनपटम्
कमलवनानि विबोधयमानः यतिगणमुनिगणपरिपठितः ।
भुजकसहस्रविवर्द्धितपादः सुतप्तकनकसदृशवपुः
करनिकरैः प्रसाद्य लोकमुदयति वरतनु दिवसकरः ॥

उदाहरणः — अरी सुन्दरी, (यह) सूर्य उदित हो रहा है जिसका तप्त स्वर्ण के समान चमकीला शरीर है, जो अपने किरणों (के समूह) के द्वारा संसार को प्रमुदित कर रहा है, जिसकी मुनि एवं यतिगण स्तुति कर रहे हैं, जिसने आकाश (या स्वर्ग के) आच्छादक अन्धकार रूपी पर्दे को हटा दिया है, कमल के वनों को जो विकसित (या प्रस्फुटित) करने लगा है और मुनि जन तथा अन्य उपासक जिसके तेज को अपने अर्घ्य एवं पूजन के द्वारा और बढ़ा रहे हैं, जो अपने किरणों की भुजाओं से संसार की (आह्लाद या) चेतनता को वृद्धिगत कर रहा है ॥ ३१८ ॥

पञ्चमं द्वादशश्चैव दीर्घमन्त्यं त्रयोदशम् ।
उत्कृत्यां[8] तु भवेत् पादे वृत्तं वेगवती यथा[9] ॥ ३१९ ॥

वेगवती :—यदि छब्बीस अक्षरों के पाद वाले छन्द में पञ्चम, द्वादश, त्रयोदश तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे वेगवती समझना चाहिए ॥३१९॥

१. प्रकृत्या—ख० । २. संथविदोधिअतेजो—घ० ।
३. विधुणिअ तिमिरपडम्—क० । ४. गहगणपरिगणदो—क० ।
५. विबन्धिदपासो—क० । ६. वितवितकणकवपू—क० ।
७. उदअदि संपदि ताविदलोओ—क० ।
८. उत्कृत्या यो भवेत् पादो—ग० । ९. तु तत्—ग० ।

यथा—गगणतलंगणमभिरुहमाणो उडुगणगहगणसमणुगदो[1]
हलधरआणणसुरुचिररूवो[2] सुहिददइदजणमदणकरो[3]।
किरणपडंसुअमवकिरमाणो[4] रजदगिरिसिहरसदिसववू
उदयदि संपदि असु जगदीवो कुमुदवणरुचिरविमलकरो ॥३२०॥
[गगनतलाङ्गणमभिरोहन्नुडुगणग्रहगणसमनुगतः
हलधरआननसुरुचिररूपः सुखितदयितजनमदनकरः।
किरणपटांशुकमवकीर्यन् रजतगिरिशिखरसदृशवपुः
उदयति सम्प्रत्याशु जगद्दीपः कुमुदवनरुचिरविमलकरः ॥]

अर्थ :—इस समय यह संसार का दीपक कुमुद पुष्पों के समान शुभ्र वर्ण के रमणीय किरणों के साथ उदित हो रहा है। इसका नक्षत्र एवं ग्रह गण के साथ आकाश में आगमन (या अवतरण) हो रहा है। इसका शरीर बलराम के मुख के समान श्वेत वर्ण है। यह युवती ललनाओं का मित्र है और सभी को उन्मत करने में कारण है। इसने अपने किरणों के पट को (चारों ओर) विकीर्ण कर दिया है और जिसका शरीर रजतगिरि के समान शुभ्र है ॥ ३२० ॥

एता ह्यष्टौ बुधैर्ज्ञेया शीर्षकाणां नु जातयः।
पुनर्नत्कुटकानान्तु लक्षणं[5] सन्निबोधत ॥ ३२१ ॥

शीर्षकों के लिये ये ही आठ जाति छन्द प्रकार हैं। अब मैं नत्कुटक के लक्षण बतलाता हूँ ॥ ३२१ ॥

अष्टौ नत्कुटकानां तु विज्ञेया मूलजातयः[6]।
दर्शनं लक्षणं त्वासां[7] नामानि च निबोधत ॥ ३२२ ॥

नत्कुटक की आठ मूल जातियाँ या छन्द होते हैं। अब मैं इनके नाम, लक्षण तथा उदाहरण बतलाता हूँ ॥ ३२२ ॥

रथोद्धता[8] बुद्बुदकमुद्गता[9] वंशपत्रकम्।

---

१. समुपगदो—घ०। २. युवतिजणाणं सुरुचिर—क०।
३. जुवइजणसुहिदो मदकरओ—घ।
४. किरणसहस्सविसुरचिरवंदो—क०।
५. सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम्—क०।
६. जातयो बुधैः—क०, ख०। ७. नासां—ख०।
८. रथोत्तरं—क०। ९. मुद्गतं—क०।

प्रमिताक्षरा[1] केतुमती हंसास्यं तोटकं तथा ॥ ३२३ ॥

नाम ये हैं—(१) रथोद्धता, (२) बुद्बुदक, (३) उद्गता, (४) वंशपत्र, (५) प्रमिताक्षरा, (६) केतुमती, (७) हंसास्य तथा (८) तोटक ॥ ३२३ ॥

प्रथमञ्च तृतीयञ्च सप्तमं नवमान्त्यके ।
गुरूणि त्रैष्टुभे पादे[2] नत्कुटं तद्रथोद्धतम्[3] ॥ ३२४ ॥

रथोद्धता :—यदि ग्यारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, तृतीय, सप्तम, नवम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तो उसे 'रथोद्धता' समझना चाहिए ॥ ३२४ ॥

यथा—एसिका[4] कमलगब्भगेहके[5] रेणुपिंजरिदचारुगत्तिआ ।
सारदे[6] मदकलोवकूजिदा हिंडदे सरवरम्मि[7] छप्पदी ॥३२५॥
[एषका कमलगर्भगेहके रेणुपिञ्जरितचारुगतिका ।
शारदे मदकलोपकूजिता हिण्डति सरोवरे षट्पदी ॥]

उदा०—इस मधुकरी (भौंरी) के पैर कमल के गर्भ में रहने से पराग से (बड़े ही सुन्दर) रंग गये हैं तथा इसी रूप में अब यह मदपूर्ण गुंजन करती हुई सरोवर के ऊपरी भाग में उड़ाने भर रही हैं ॥ ३२५ ॥

तृतीयं[8] दशमं चान्त्यं नवमैकादशं गुरु ।
बुद्बुदश्चातिजगती विज्ञेयं नत्कुटं तु तत् ॥ ३२६ ॥

बुद्बुद—यदि तेरह अक्षरों के पाद वाले छन्द में तृतीय, नवम, दशम, एकादश तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तो उसे 'बुद्बुद' समझना चाहिए ॥

यथा—तडिगुणबंधणिअद्धो[9] सिदखगपंतिसोहिदो ।
णहसि गजो समुग्गओ विचरदि एस मेहओ ॥ ३२७ ॥

१. शिवाक्षरा हंसवती—क० । २. यत्र—क० ।
३. तद्रथोत्तरं—क० । ४. एसिआ—घद् । ५. गेहआ—घ० ।
६. सादरं मदकलोवगुंजिदा—घ० । ७. सरोवरम्मि—घ० ।
८. पञ्चमं सप्तमञ्चैव नैधनञ्च गुरूण्यथ । पादे तु बृहतीसंस्थे यत्र बुद्बुदकं यथा—क०, ख० ।
९. तडिगुणावद्विवओ सेदखगपसोहिदो । णभसि गजो समुकाआ वंवर (?) दि पसमे कत्तु—ख०; तरुसंडअवु हि एस रो घणणादभिहिअमणोहरो । असुदीण दीणागमणो णु(सं)किदो समुपेइ ···दायिणि कमलभोसपादव (?) —घ० ।

आकाश के प्रदेश में यह मेघ बिजली के बन्धन से आबद्ध होकर श्वेत बकुलों की पाँत से शोभित हो हाथी के समान उठ कर विचरण करता-सा दिखलाई दे रहा है ॥ ३२७ ॥

[अन्ये तु—सतृतीयपञ्चमनवमं त्रयोदशं षोडशं तथा दशमात्
परश्च निधनं चतुर्थगम् ।

यत्र वै गुरु भवतीह शेषलघुसंयुतं वृत्तौ स्याच्च संश्रितं प्रवदन्ति बुद्बुदकमेव नर्कुटं तद्धि नामतः ॥

यथा—चिरकालमभिसम्भरन्तं पिअंगाणत्त मुहिदं ण रोद्धुम् ।
मुदिमाणइंत्तडिदिदो काणणे घणे
परिखेदिदे बहुविधे हि अणुगो वासराहरो ॥

[चिरकालमभिसम्भरन्तं प्रियगानान् मुदितं न रोद्धुम् ।
मोदमानायां तडितीत कानने घने
परिखेदिते बहुविधे ह्यनुगो वासराहरः ॥]
तरुसंधुवज्जुहिअए संचलिओ भीदभीदओ ।
असु कोधरं विसइ पासपादवच्छ दीणदीणओ ॥

[तरुसन्धुवनवज्रहृदय संचलितो भीतभीतकः ।
आशु कोटरं विशति पार्श्वपादपस्थः दीनदीनकः ॥]

तृतीयं पञ्चमञ्चैव नवमञ्च[2] तथैव च ।
चतुर्दशं[3] द्वादशञ्च नैधनञ्च भवन्ति वै ॥ ३२८ ॥
अस्मिन्नधिकृते[4] पादे गुरूण्येतानि नित्यशः[5] ।
छन्दोज्ञैर्ज्ञेयमेतत्तु नत्कुटं ह्युद्गतं यथा ॥ ३२९ ॥

उद्गता :—यदि सोलह अक्षरों के पाद वाले छन्द के प्रत्येक चरण में तृतीय, पञ्चम, नवम, द्वादश, चतुर्दश तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'उद्गता' समझना चाहिए ॥ ३२८–३२९ ॥

यथा—कमलाअरं कुसुमिदं कलहंससंकुलं[6]
वरहत्थिजूथकलुसी[7] असागरोवमम् ।

---

१. अयमतिरिक्तोंऽशः क पुस्तकादविकलं समुद्धृतोऽत्र न च व्याख्यातः ।
२. नवमैकादशे तथा—क०, ख० ।
३. द्वादशं षोडशञ्चैव चतुर्दशमथापि च—क०, ख० ।
४. यस्मिन्नष्टि—ख० । ५. सर्वशः—क०, ख० ।
६. हलभरसंकुलम्—ग० । ७. वरहत्थिझह कलसीतअ—ग० ।

एस[1] मन्मन्दंमधुआररवाणुकूलदं
कुररोउवेइ[2] तरिदं सरदागमे सरं[3] ॥ ३३० ॥
[कमलाकरं कुसुमितं कलहंससङ्कुलं
वर-हस्तियूथकलुषितसागरोपमम् ।
एष मन्दमन्दं मधुकररवानुकूलदं
कुररीरुतैः त्वरितं शरदागमे सरः[4] ॥]

उदाहरणः—शरद ऋतु के आरम्भ होने पर यह सरोवर शीघ्र विकसित कमलों तथा हंसों के मधुर गुंजन से पूर्ण हो कर गजराजों के यूथों से कलुषित होने पर समुद्र जैसा हो गया है । अब यह अपनी कोमल एवं मन्द मन्द ध्वनि वाले मधुकरों के गुंजन के साथ शीघ्र कुररी की ध्वनि से युक्त हो रहा है ॥ ३३० ॥

यत्र[5] चतुर्थषष्ठदशमैः प्रथमनिधनकैः
भूषितमक्षरैर्गुरुकृतैः श्रवणसुखकरैः ।
तत् खलु वंशपत्रपतितं मुनिगणगदितं
नर्कुटकं[6] वदन्ति नियमादुपवृत्तिरचितम्[7] ॥ ३३१ ॥

वंशपत्र-पतित—यदि सत्रह अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ षष्ठ, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'वंशपत्रपतित' समझना चाहिए ॥ ३३१ ॥

यथा—चूदवणं पफुल्लतिलिअं कुरवअसहिदं
चारु असोअसालकलिदं[8] कुसुमसमुदिदम् ।
माधवकाणणं जुवदिआजणमदजणणं

---

१. असु मंदअसुमं—ग० । २. कुरलोलुवेलतरिअसदागमेसरायन्तु—ग० ।

३. पद्यस्यास्यस्थाने क—पुस्तके तुः—वणसंडअं जहदि कोसिको वायसाहदो भयभीदओ भजदि पादपं दीणदीणओ तरुकोटरं वसदि सम्पदं लोलणेत्तओ समभिदद्दो णिसिअरो अअं एदि सोहिदो—इति पद्यम् ।

४. अस्मादनन्तरं कपुस्तके तु—अन्ये तु—प्रथमे यदा तु गुरु यत्र चान्तं तृतीयकं यदि च द्वितीय···ता गुरु । अथ षोडशाक्षरे कृते तु पादे चतुर्थकं त्रिकमिहीद्धटम् ॥ इति पद्यमधिकं प्रक्षिप्तश्च ।

५. नर्कुटं हि तदिति यत्तु चतुर्दशमनिधनगं—क० ।

६. नर्कुटकं—क० । ७. नियमादतिधृतिरुचितम्—क० ।

८. मलुकलिदं—ख०; मलिकलिदं—घ० ।

हिंडइ कोइलो[1] फलरसासवमहुररवो ॥ ३२२ ॥
[चूतवनं प्रफुल्लतिलकं कुरवकसहितं
चार्वशोकसालकलितं कुसुमसमुदितम् ।
माधवकाननं युवतिजनमदजननं
हिण्डति कोकिलो फलरसासवमधुररवः ॥]

उदा०—यह कोकिल आम्रमंजरी के आसव पान के कारण अपनी कर्ण मधुर एवं सुरीली आवाज में ध्वनि करते हुए इस वासन्तिक वन में घूम रहा है। जहाँ आम्र, तिलक, साल, कुरवक तथा अशोक के वृक्ष अपने कुसुमों से लद कर मधुकरों को आकृष्ट कर रहे हैं तथा युवतिगण में (इसी कारण) मद का संचार कर रहे हैं ॥ ३३२ ॥

तृतीयं पञ्चमञ्चैव नवमं नैधनं तथा।
गुरुण्येतानि पादे तु जागते[2] प्रमिताक्षरम् ॥ ३३३ ॥

प्रमिताक्षराः— यदि बारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में तृतीय, पञ्चम, नवम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'प्रमिताक्षरा' समझना चाहिए ॥ ३३३ ॥

यथा—मधुकाणणे भमिअ एस चिरं जुवइमुहासवसमुव्विहिदो[3] ।
कमलाकरे सुरभिपंकजए अवहिंडदे[4] सरदि हंसजुवा[5] ॥३३४॥

[मधुकानने भ्रान्त्वैष चिरं युवतिमुखासवसमुद्विहितः ।
कमलाकरे सुरभिपङ्कजके अवहिण्डति शरदि हंसयुवा ॥]

उदा०—यह हंस युवा अपनी (युवती) प्रिया के साथ सुदीर्घकाल तक विचरण करते हुए उसके मुखासव का पान कर अब इस शरद ऋतु में कमलों से सुवासित सरोवर में तैर रहा है ॥ ३३४ ॥

यथा वा—कमलाअरेसु भयिऊण चिरं [6]भसलीमुहासवपिवासुओ[7] ।
मधुभूसिदं सुरभिचूदवणं परिहिंडदे[8] सुतणु छप्पदओ ॥३३५॥

---

१. कोइला फल…रवा—क०, कोइलो एस सदासवणमधुरवो—घ० ।
२. यत्र तद्—क० । ३. द्रवईमुहाइकसमंविहिआ—ग० ।
४. अवहीसए—ग० ।
५. भमरी—क० । ६. सुकखणओ ।
७. परिहिण्डिदो—क० ।
८. अस्मादनन्तरं क-पुस्तके प्रमिताक्षराया लक्षणान्तरं यथा—नवमान्त्य पञ्चमतृतीयगुरुलघुशेषमक्षरगतम् । भवति चरणं तु यस्य सततं विविधं प्रमिताक्षरेति कथिता खलु सा ॥

[कमलाकरेषु भ्रान्त्वा चिरं भ्रमरीमुखासवपिपासुकः ।
मधुभूषितं सुरभिचूतवनं परिहिण्डति सुतनु षट्पदः ॥]

उदा०—अरी सुन्दरि, कमल सरोवर में चिरकाल तक भ्रमण करने के बाद (यह) भ्रमर अपनी प्रियतमा के मुखासव (की मधुरिमा) की पिपासा से आकुल हो (कर) अब वसन्त से युक्त सुगन्धित आम्रवन में इधर-उधर चक्कर लगा रहा है ॥ ३३५ ॥

आद्ये[1] चतुर्दश च मात्रा अन्यत्र च षोडश भवन्ति तथा ।
ज्ञेया हि सा विषमपादे केतुमति नत्कुटं जातिः ॥ ३३६ ॥

केतुमती :—यदि छन्द के प्रथम पाद में चौदह मात्राएँ और अवशिष्ट (तीन) पादों में सोलह मात्राएँ हों तो उसे 'केतुमती' समझना चाहिए ॥ ३३६ ॥

यथा—कुंजं[2] विलोडिअ गअवरे सरे विकसिअपंकअम्मि गदे ।
पंकअं विहाअ भमरजुआ भमइ भमरीगणं परिगहिय ॥ ३३७ ॥

[कुञ्जं विलोड्य गजवरे सरसि विकसितपङ्कजे गते ।
पङ्कजं विहाय भ्रमरयुवा भ्रमति भ्रमरीगणं परिगृहीत्वा ॥)

उदा०—जब युवा-हाथी कुञ्ज को विच्छिन्न कर उस सरोवर की ओर बढ़ा जिसमें कमल खिल रहे थे तो वह मधुकर अपनी प्रियाओं को अपने साथ लेकर (उसी) कमल को छोड़कर इधर उधर दूसरे स्थानों पर घूमने लगा ॥ ३३७ ॥

तृतीयपञ्चमान्त्यानि प्रथमं[3] सचतुर्थकम् ।
षष्ठञ्च नैधने वाथ गुरूणि ध्वजिनी यथा[4] ॥ ३३८ ॥

ध्वजिनी :—यदि छन्द में दस अक्षरों के प्रथम तीन पादों में पञ्चम और अन्तिम तथा दस अक्षरों के चतुर्थ पाद में चतुर्थ और षष्ठ वर्ण गुरु हो तो उसे 'ध्वजिनी' समझना चाहिए ॥ ३३८ ॥

यथा—विलसंतिआ कमलसंडे सुवसंतए[5] कुसुमलुद्धा ।

---

१. केतूमतीलक्षणमुदाहरणञ्च क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति ।

२. कुञ्जं विल मससेविकपपक (?) अशिमदे (?) मरणिआपकंविहा । अभीम अभमरि हरण परिसहि आ ॥ —ग० ।

३. प्रथमे—ख०' घ० ।

४. ध्वजिनीलक्षणमुदाहरणञ्च ग—पुस्तके नास्ति ।

५. पुष्पसुगन्धके—क० पुकसुअंतके—ख० ।

तुरिअ[1] णिपीअ मधुमत्ता छप्पदि[2] आकुलं समुपजादि ॥३३९॥
[विलसति या कमलखण्डे सुवसन्ते कुसुमलुब्धा ।
त्वरितं निपीय मधुमत्ता षट्पदिकाऽऽकुलं समुपयाति ॥]

उदा०—भ्रमरी पुष्पों से आकृष्ट होकर कमल खण्डों से क्रीड़ा कर शीघ्र ही उनका रस पान कर मद से आकुल हो अपने झुंड में लौट रही है ॥ ३३९ ॥

द्वितीयसप्तमान्त्याश्च[3] चतुर्थकं
गुरु यदा हि षष्ठो दशमोऽपि वा ।
अथोदितो हि पादेऽथ च जागते
भवेदितं हंसास्यमिति संस्मृतम् ॥ ३४० ॥

हंसास्य :—यदि बारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में द्वितीय, चतुर्थ षष्ठ, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु रहे तो उसे 'हंसास्य' समझना चाहिए ॥ ३४० ॥

यथा—सुगंधवादा[4] वांति हि समाणिणो
सरम्मि रम्मए फुल्लअपंकजे[5] ।
तरंगसंकुले छप्पअआलिअं[6]
विलोभअन्तओ[7] पक्खसणाहिअं ॥ ३४१ ॥

[सुगन्धवाता वान्ति हि समानिनः सरसि रम्ये फुल्लपङ्कजे ।
तरङ्गसङ्कुले षट्पदालिकं विलोभयन्तः पक्षसनाभिकम् ॥]

उदा०—सुगन्धित पवन सुरम्य सरोवर पर बह कर अपनी लहरों से विकसित कमलों को आकुल कर भ्रमरों के साथ पक्षिगणों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है ॥ ३४१ ॥

हंसास्य (का अन्य लक्षण)—

तृतीयश्च चतुर्थश्च षष्ठं सप्तममेव च ।
दशमं नैधनश्चैव गुरूणि च भवन्ति हि ॥ ३४२ ॥

---

१. पपीतमहुमत्ता—क०; तुरिअपपीत—ख० ।

२. छप्पदिका कुलं—क० ।

३. दशमं सप्तमं यत्र चतुर्थकमथ षष्ठम् । तृतीयं निधनं गुरु कथितं (हंसास्यं) नर्कुटं जगतीगतम् ॥—क० ।

४. हालहओ णति हि समा—ग० । ५. वुलंअ (?) पंकजे—ग० ।

६. चप्पअआलिए—ग० । ७. विलोहअंतओ पकसणाहिअ—ग० ।

पादे तु जागते यत्र शेषाणि च लघून्यथ।
हंसास्यं नाम विज्ञेयं गदितं नत्कुटं यथा ॥ ३४३ ॥

यदि बारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों (तथा शेष वर्ण लघु रहे, तो) उसे 'हंसास्य' नत्कुटक समझना चाहिए ॥ ३४२-३४३ ॥

यथा—दिजहंसावतिण्णो[1] सलिलासए[2] कुसुमामोदलुद्धा[3] कमलाकरे।
णलिणीपत्तमज्झे परिहिण्डदि[4] भमणाआसखिण्णा[5] भमरावली ॥ ३४४॥

[द्विजहंसावतीर्णे सलिलाशये कुसुमामोदलुब्धा कमलाकरे।
नलिनीपत्रमध्ये परिहिण्डति भ्रमणायासखिन्ना भ्रमरावली ॥]

उदा०—भ्रमरों की पाँत पुष्पों की वास से लुब्ध होकर कमल सरोवर पर उड़ने से थक जाने तथा हंसों और अन्य पक्षिगणों के वहाँ आ जाने पर अब कमल के पत्तों पर मंडरा रही हैं ॥ ३४४ ॥

यदिहान्त्यतृतीयकषष्ठगतैर्नवमे[6] नवमेन च भूषितकम्[7]।
गुरुभिः सहितं[8] त्विह तद्गदितं भुवि तोटकमेव हि नत्कुटकम्[9] ॥३४५॥

तोटक :—यदि बारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में तृतीय, षष्ठ, नवम एवं अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'तोटक' नामक नत्कुटक समझना चाहिए ॥ ३४५ ॥

यथा—रजणीविरमे[10] अदिभीमरओ भयसंजणणो खगकोसिगओ।
अणुवायसएहिं अवहत्थिदओ[11] परिमग्गदे कोटरअं तुरिदम् ॥३४६॥

[रजनीविरमेऽतिभीमरवो भयसंजननः खगकौशिकः।
अनुवायसैः अपहस्तितः परिमार्गते कोटरं त्वरितम् ॥]

उदा०—रात्रि के व्यतीत हो जाने पर भी जब उलूक अपनी (पूर्ववत्) भयपूर्ण घूत्कार करने पर कौओं के समूह द्वारा पीछा किया गया तो अब

---

१. दिअहंसा वसंते सलिलासए—क०। २. सलिले सरे—घ०।
३. कुसुमासाद—क०। ४. परिहिंडिदा—क०।
५. गमणाआस—क०।
६. यदि चान्त्यतृतीय—क; यदि षष्ठतृतीयकनैधनकैः—ग०।
७. भूषितमेवम्—क०; भूषिपदम्—ख०।
८. सततं त्विह तद्घटितं—क०। ९. नर्कुटकम्—क०।
१०. रमणी सहिदो रअणीविरमे गगणंगणए खगकोसिअओ—क०, ख०।
११. विघट्टिदओ परिमंटदि कोटरअं सुहिदम्—क०।

वृक्ष में अपने स्वयं के निवास-कोटर की शीघ्रता से तलाश कर रहा है ॥ ३४६ ॥

एतास्तु जातयः प्रोक्ता नत्कुटानां समासतः।
पुनश्च खञ्जकानान्तु सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ३४७ ॥
प्रमादं[1] खञ्जकं पूर्वं भाविनी[2] मत्तचेष्टितम्।
एतास्तिस्रः समाख्याताः खञ्जकानान्तु जातयः ॥ ३४८ ॥

संक्षेप में नत्कुटक (ध्रुवाओं) की ये ही जातियाँ (या छन्द) होते हैं। अब मैं खंजक के छन्दों के विषय में बतलाता हूँ। खञ्जक के तीन छन्द या जातियाँ होती हैं। इनके नाम हैं—(१) प्रमोदक, (२) भाविनी तथा (३) मत्तचेष्टित ॥ ३४७–३४८ ॥

आद्यचतुर्थषष्ठदशमं[3] सषोडशमथान्त्यमेव च
यदि द्वादशमेव यत्र चरणेषु सप्तदशकात् परञ्च विहितम्।
छन्दसि चेत्तथा गुरु चेद्थाकृतिगतं भवेत्तु सततं
मद्रकमेव[4] खञ्जकमिदं पुनश्च कथितं प्रमोदकमिदम् ॥ ३४९ ॥

प्रमोदक :—यदि बाईस अक्षरों के आकृति जाति के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, दशम, द्वादश, षोडश तथा अन्तिम (सप्तदश) वर्ण गुरु हों तो उसे 'प्रमोदक' नामक खञ्जक समझना चाहिए ॥ ३४९ ॥

यथा—

माहवमाससोहितसमग्गके उववणंमि
[5]णिच्चप्पमत्तजुत्तबहुपक्खिसंघपरिघुट्टणादमुहले[6]।
फलितचूतसंडसहआरमंजरी[7] विलोलणादपवणे
हिंडदि छप्पदाणुगदमग्गओ[8] परहुदो णिविट्ठवअणो ॥ ३५० ॥
[माधवमासशोभितसमग्रके उपवने फुल्लकुसुमे
नित्यप्रमत्तजुष्टबहुपक्षिसङ्घ परिघुष्टनादमुखरे।
फलितचूतखण्डसहकारमञ्जरीविलोलनादपवने
हिण्डति षट्पदानुगतमार्गकः परभृत् निविष्टवदनः ॥]

---

१. आमोदं कञ्जनी (खञ्जकं)—क०। २. भावनी—क०; ख०।
३. चतुर्थे—क०, ख०। ४. मद्रकामदखञ्जकमतः पुनश्च—घ०।
५. परागजुत्त—घ०। ६. परिबुद्ध (प्रवृहद)—क०।
७. कुंडिददसंड (?) सकयार चंचर (?) विलोलमंदपवणे—घ०।
८. छप्पदाणुगदे मग्र···उपरदोय (?) इंदुवअणा (?)—घ०।

पादे तु जागते यत्र शेषाणि च लघून्यथ ।
हंसास्यं नाम विज्ञेयं गदितं नत्कुटं यथा ॥ ३४३ ॥

यदि बारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में तृतीय, चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, दशम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों (तथा शेष वर्ण लघु रहे, तो) उसे 'हंसास्य' नत्कुटक समझना चाहिए ॥ ३४२-३४३ ॥

यथा—दिजहंसावतिण्णे[1] सलिलासए[2] कुसुमामोदलुद्धा[3] कमलाकरे ।
णलिणीपत्तमज्झे परिहिण्डदि[4] भमणाआसखिण्णा[5] भमरावली ॥ ३४४॥

[द्विजहंसावतीर्णे सलिलाशये कुसुमामोदलुब्धा कमलाकरे ।
नलिनीपत्रमध्ये परिहिण्डति भ्रमणायासखिन्ना भ्रमरावली ॥]

उदा०—भ्रमरों की पाँत पुष्पों की वास से लुब्ध होकर कमल सरोवर पर उड़ने से थक जाने तथा हंसों और अन्य पक्षिगणों के वहाँ आ जाने पर अब कमल के पत्तों पर मंडरा रही हैं ॥ ३४४ ॥

यदिहान्त्यतृतीयकषष्ठगतैर्नवमे[6] नवमेन च भूषितकम्[7] ।
गुरुभिः सहितं[8] त्विह तद्गदितं भुवि तोटकमेव हि नत्कुटकम्[9] ॥३४५॥

तोटक :—यदि बारह अक्षरों के पाद वाले छन्द में तृतीय, षष्ठ, नवम एवं अन्तिम वर्ण गुरु हो तो उसे 'तोटक' नामक नत्कुटक समझना चाहिए ॥ ३४५ ॥

यथा—रजणीविरमे[10] अदिभीमरओ भयसंजणणो खगकोसिगओ ।
अणुवायसएहिं अवहत्थिदओ[11] परिमग्गदे कोटरअं तुरिदम् ॥३४६॥

[रजनीविरमेऽतिभीमरवो भयसंजननः खगकौशिकः ।
अनुवायसैः अपहस्तितः परिमार्गते कोटरं त्वरितम् ॥]

उदा०—रात्रि के व्यतीत हो जाने पर भी जब उलूक अपनी (पूर्ववत्) भयपूर्ण घूत्कार करने पर कौओं के समूह द्वारा पीछा किया गया तो अब

१. दिअहंसा वसंते सलिलासए—क० । २. सलिले सरे—घ० ।
३. कुसुमासाद—क० । ४. परिहिंडिदा—क० ।
५. गमणाआस—क० ।
६. यदि चान्त्यतृतीय—क; यदि षष्ठतृतीयकनैधनकैः—ग० ।
७. भूषितमेवम्—क०; भूषिपदम्—ख० ।
८. सततं त्विह तद्घटितं—क० । ९. नर्कुटकम्—क० ।
१०. रमणी सहिदो रअणीविरमे गगणंगणए खगकोसिअओ—क०, ख० ।
११. विघट्टिदओ परिमंटदि कोटरअं सुहिदम्—क० ।

वृक्ष में अपने स्वयं के निवास-कोटर की शीघ्रता से तलाश कर रहा है ॥ ३४६ ॥

एतास्तु जातयः प्रोक्ता नत्कुटानां समासतः।
पुनश्च खञ्जकानान्तु सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ३४७ ॥
प्रमादं[1] खञ्जकं पूर्वं भाविनी[2] मत्तचेष्टितम्।
एतास्तिस्रः समाख्याताः खञ्जकानान्तु जातयः ॥ ३४८ ॥

संक्षेप में नत्कुटक (ध्रुवाओं) की ये ही जातियाँ (या छन्द) होते हैं। अब मैं खंजक के छन्दों के विषय में बतलाता हूँ। खञ्जक के तीन छन्द या जातियाँ होती हैं। इनके नाम हैं—(१) प्रमोदक, (२) भाविनी तथा (३) मत्तचेष्टित ॥ ३४७-३४८ ॥

आद्यचतुर्थषष्ठदशमं[3] सषोडशमथान्त्यमेव च
यदि द्वादशमेव यत्र चरणेषु सप्तदशकात् परञ्च विहितम्।
छन्दसि चेत्तथा गुरु चेद्थाकृतिगतं भवेत्तु सततं
मद्रकमेव[4] खञ्जकमिदं पुनश्च कथितं प्रमोदकमिदम् ॥ ३४९ ॥

प्रमोदक :—यदि बाईस अक्षरों के आकृति जाति के पाद वाले छन्द में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, दशम, द्वादश, षोडश तथा अन्तिम (सप्तदश) वर्ण गुरु हों तो उसे 'प्रमोदक' नामक खञ्जक समझना चाहिए ॥ ३४९ ॥

यथा—

माहवमाससोहितसमग्गके उववणंमि
[5]णिच्चप्पमत्तजुत्तबहुपक्खिसंघपरिघुट्टणादमुहले[6]।
फलितचूतसंडसहआरमंजरी[7] विलोलणादपवणे
हिंडदि छप्पदाणुगदमग्गओ[8] परहुदो णिविट्ठवअणो ॥ ३५० ॥
[माधवमासशोभितसमग्रके उपवने फुल्लकुसुमे
नित्यप्रमत्तजुष्टबहुपक्षिसङ्घ परिघुष्टनादमुखरे।
फलितचूतखण्डसहकारमञ्जरीविलोलनादपवने
हिण्डति षट्पदानुगतमार्गकः परभृत् निविष्टवदनः ॥]

---

१. आमोदं कञ्जनी (खञ्जकं)—क०। २. भावनी—क०; ख०।
३. चतुर्थे—क०, ख०। ४. मद्रकामदखञ्जकमतः पुनश्च—घ०।
५. परागजुत्त—घ०। ६. परिबुद्ध (प्रवृहद)—क०।
७. कुंडिददसंड (?) सकयार चंचर (?) विलोलमंदपवणे—घ०।
८. छप्पदाणुगदें मग्र'''उपरदोय (?) इंदुवअणा (?)—घ०।

उदा०—वसंत ऋतु के मास में अपने सम्पूर्ण रूप में शोभित होने वाले एवं विकसित पुष्पों वाले उपवन में नित्य मदमत्त अनेक पक्षिगण से सेवित होने से उनके कलरव से मुखरित होने वाले, आम्र वृक्षों के मंजरी एवं फलों से युक्त होने के कारण चञ्चल पवन के बहने पर भौंरों के मार्ग का अनुसरण करते हुए यह कोकिल इधर-उधर डोल रहा है ॥ ३५० ॥

आद्यपञ्चममथान्त्यसप्तमं स्यात्[1] तृतीयमेव दीर्घकम् ।
यस्य[2] पादयोगतो हि सा भाविनीति खञ्जकं तथा ॥ ३५१ ॥

भाविनी :—यदि नौ अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, तृतीय, पंचम, सप्तम तथा अन्तिम वर्ण गुरु हों तो उसे 'भाविनी' नामक खंजक समझना चाहिए ॥ ३५१ ॥

यथा—[3]जादिपुप्फपाणमत्तओ चूदरेणुगुंठिदंगओ ।
फुल्लपंकजोव्वसोभिदो छप्पदो दुदं पधाविदो ॥ ३५२ ॥
[जातिपुष्पपानमत्तः चूतरेणुगुण्ठिताङ्गः ।
फुल्लपङ्कजोपशोभितः षट्पदः द्रुतं[4] प्रधावितः ॥]

उदा०—भ्रमर विकसित कमलों के रसपान से मत्त तथा आम्र पुष्पों के शोभन एवं सुगन्धित पराग से सने हुए यह शीघ्र अपने पंखों को (साफ करने के लिए) फड़फड़ाते हुए भाग रहा है ॥ ३५२ ॥

यदा तृतीयसप्तमं तथाद्यपञ्चमं लघु ।
तदा तु मत्तचेष्टितं वदन्ति[5] खञ्जकं बुधाः ॥ ३५३ ॥

मत्तचेष्टित :—यदि आठ अक्षरों के पाद वाले छन्द में प्रथम, तृतीय पंचम तथा सप्तम वर्ण लघु हों तो उसे 'मत्तचेष्टित' नामक खञ्जक समझना चाहिए ॥ ३५३ ॥

यथा—पफुल्लपुप्फ[6] पादवं विहंगमोवसोहिदम्[7] ।
वणं पगीदछप्पदं उवेइ एस कोइलो[8] ॥ ३५४ ॥

---

१. पञ्चमान्त्यसप्तमं—क० ।
२. यस्याः पादयोगंतो—घ० ।
३. जादि वेधुणायमाणओ पुप्फरेणुगुणणिग्गओ—घ० ।
४. मुदं—क० । ५. बुधा वदन्ति खञ्जकम्—घ० ।
६. फुल्ल—ख०; घ० ।
७. पसोभिदम्—ख० । ८. कोकिला—क०, ख० ।

[प्रफुल्लपुष्पपादपं विहङ्गमोपशोभितम् ।
वनं प्रगीतषट्पदमुपैत्येषः कोकिलः ॥]

उदा :—यह कोकिला वन की ओर आ रही है जहाँ अन्य पक्षीगण भी आ गये हैं और जहाँ विकसित पुष्पों से लदे हुए वृक्ष और गुञ्जन करते हुए भ्रमर विद्यमान है ॥ ३५४ ॥

नत्कुटानान्तु[1] खञ्जानामेता वै मूलजातयः ।
आभ्यो विनिस्सृताश्चान्या युग्मौजा विषमाक्षराः[2] ॥ ३५५ ॥

खञ्जक एवं नत्कुटक की ये ही प्राथमिक (आदिम या मूल) जातियाँ (होती) हैं जिनसे सम, विषम तथा अर्धसम प्रकार की जातियों की उत्पत्ति हुई है ॥ ३५५ ॥

चतुष्षष्टिर्ध्रुवाणान्तु विज्ञेया मूलजातयः ।
समवृत्ताक्षरकृता अतोऽन्या[3] विषमा मताः[6] ॥ ३५६ ॥

ध्रुवाओं की मूल जातियां चौंसठ होती हैं जिनमें से कुछ के पाद समान अक्षरों की संख्या से निर्मित होते हैं और कुछ के इसमें भिन्न (अर्थात् विषमाक्षरों की संख्या से निर्मित) होते हैं ॥ ३५६ ॥

समवृत्तास्तु[4] जायन्ते ध्रुवास्तिस्रस्तु नित्यशः ।
युग्मौजाश्चापि मिश्राश्च विषमार्धसमाः[5] समाः[6] ॥ ३५७ ॥

ध्रुवाएँ तीन प्रकार की होती हैं:— वे या तो सम या विषम संख्या में रहने वाले वर्णों से निर्मित मिश्रपाद वाली, सम तथा विषम संख्या में अक्षरों से निर्मित विषमपाद वाली या अर्ध-विषम तथा अर्धसम पादों वाली होती है ॥ ३५७ ॥

समवृत्तासु तत्र तु पञ्चाशीतिः शते स्मृताः ।

---

१. नर्कुटानां—क०; नत्कुटानां बुधैर्ज्ञेया—ग० ।
२. विषमास्तथा—क० । ३. ह्यतो—ग० ।
४. वृत्तान्तु—क०; वृत्तासु—ग० । ५. विषमाश्च समाः मताः—क० ।
६. अतोऽनन्तरं—क-पुस्तके सुप्रतिष्ठादिकानि स्युर्बृहत्यादीनि यानि तु । छन्दांसि तेषां मानेन त्र्यश्रा कार्या ध्रुवा बुधैः ॥ उष्णिगादीनि यानि स्युः शक्कर्यन्तानि चैव हि । छन्दांसि तेषां मानेन चतुरश्रा ध्रुवा मता ॥ त्रिष्टुबादीनि यानि स्युरुत्कृत्यान्तानि चैव हि । छन्दांसि तेषां मानेन चतुरस्रा द्विपादिका ॥ इत्यन्ये—इति अधिकम् ।

तत्रार्धविषमाणान्तु षष्ठ्यां[1] चार्धशतं[2] स्मृताः ।
एतदेव परीमाणं विषमाणां प्रकीर्तितम् ॥ ३५८ ॥

इसमें समवृत्ता—ध्रुवाओं में उनके छन्दों के अनुसार रहने वाले पादों की संख्या एक सौ पचासी तथा अर्धविषमों की संख्या एक सौ दस एवं यही संख्या या परिमाण विषमों का भी होगा ॥ ३५८ ॥

सामान्यौजाश्च जायन्ते ध्रुवा विषमपादिकाः ।
स्वेच्छानाम्ना[3] तु नामानि तासां कार्याणि वृत्ततः[4] ॥ ३५९ ॥

विषम-पाद (अर्थात् पाद या अक्षरों की विषम संख्या) वाली ध्रुवाएँ भी सामान्य तथा विषम पाद की बनायी जा सकती है। ऐसी दशा में उनके छन्द या नाम (रचयिता आदि की) इच्छा के अनुसार रखे जा सकते हैं[1] ॥ ३५९ ॥

ध्रुवाओं की भिन्नता के कारण :—

एतास्तु[5] जातयः प्रोक्ता नानावृत्तसमुद्भवाः ।
अत ऊर्ध्वं[6] प्रवक्ष्यामि विकल्पान् पञ्चहेतुकान् ॥ ३६० ॥

विभिन्न वृत्तों से उत्पन्न होने वाली ये ही ध्रुवाओं की जातियाँ हैं। अब मैं हेतुओं के कारण होने वाली इनकी पाँच विभिन्नताओं को बतलाता हूँ ॥ ३६० ॥

जातिः स्थानं प्रकारश्च[7] प्रमाणं नाम चैव हि ।
ज्ञेया ध्रुवाणां [8]नाट्यज्ञैर्विकल्पाः पञ्चहेतुकाः ॥ ३६१ ॥

इन ध्रुवाओं की भिन्नता के पाँच कारण हैं—(१) जाति, (२) स्थान (३) प्रकार, (४) प्रमाण, तथा (५) नाम ॥ ३६१ ॥

वृत्ताक्षरप्रमाणं हि जातिरित्यभिसंज्ञिता ।

---

१. अनेक पाठ भेदों के कारण पद्य सं० ३५५ से ३५९ तक का आशय अस्पष्ट सा है तथापि यहाँ व्यवस्थित अर्थ देने का उद्योग किया गया है।
—सम्पा०

---

१. षट्पञ्चाशे शते स्मृते—क० ।

२. चार्धशते—ख० ।

३. स्वेन नाम्ना—क० । ४. वृत्तयः (?)—घ० ।

५. एवं तु—क०, ग० । ६. परं—ख० ।

७. प्रमाणञ्च प्रकारो नाम—ग० ।

८. गानज्ञैर्विकल्पः पञ्चहेतुकः—क०; गीतज्ञैर्विकल्पाः पञ्चकेतुकाः—ख० ।

समार्धविषमाभिश्च[1] प्रकारः परिकीर्तितः ॥ ३६२ ॥
षट्कलाष्टकले चैव प्रमाणे द्विविधे स्मृते ।

यथागोत्रकुलाचारै[2] नृणां [3]नामाभिधीयते ।
एवं स्थानाश्रयो[4]-पेतं ध्रुवाणामपि चेष्यते ॥ ३६३ ॥

ध्रुवा के छन्द में स्थित अक्षरों की संख्या को जाति समझना चाहिए। और इनकी संख्या यदि सम या विषम या अर्ध-विषम हो तो इनसे कोई एक प्रकार बन जाता है। ध्रुवाओं में देखी गयी छः या आठ कलाएँ इनका प्रमाण[1] बताती है। गोत्र, कुल तथा आचार के अनुसार जैसे मनुष्यों के नाम रखे जाते हैं इसी प्रकार आश्रय या स्थान के अनुसार इनके (ध्रुवाओं के) भी नाम होते हैं ॥ ३६२–३६३ ॥

ध्रुवाओं के (पांच) स्थान :—

प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम् ।
स्थानं[5] पञ्चविधं विद्याद् ध्रुवायोगसमन्वितम्[6] ॥ ३६४ ॥

ध्रुवाओं के संयोग से होने वाले स्थान[2] कहलाते हैं। ये पांच हैं— (१) प्रवेश, (२) आक्षेप, (३) निष्काम, (४) प्रासाद तथा (५) अन्तर ॥ ३६४ ॥

प्रावेशिकी-ध्रुवा :—

नानारसार्थयुक्ता[7] नृणां या गीयते प्रवेशेषु[8] ।
प्रावेशिकी तु नाम्ना सा[9] विज्ञेया ध्रुवा तज्ज्ञैः ॥ ३६५ ॥

---

१. दो प्रमाण का उल्लेख ना० शा० ३१ पर द्रष्टव्य (ना० शा० ३१। २६–२७)

२. यहाँ 'स्थानं' के स्थान पर 'गानं' पाठ मानने पर अर्थ होगा—ध्रुवाओं के संयोग से गान के पांच प्रभेद होते हैं। वैसे स्थान का यहाँ अर्थ है अवसर या प्रदेश।

---

१. विषमाणाञ्च—ग०। २. यथा हेतुकुला—ग०।
३. नाम विधीयते—ग०; घ०। ४. नामाश्रयोपेतं—क०।
५. गानं—क०; गानं पञ्चविधं ज्ञेयं—ग०।
६. श्रूयतां चास्य लक्षणम्—ग०। ७. योगं—ग०।
८. प्रवेशे तु—क०। ९. विज्ञेया सा—क०।

पात्रों के रङ्गमञ्च पर प्रवेश के अवसर पर जो रसों या अर्थों से पूर्ण विषयों का गान किया जाए उसे प्रावेशिकी ध्रुवा समझना चाहिए ॥३६५॥

नैष्क्रामिकी ध्रुवा :—

अङ्कान्ते निष्क्रमणे[1] पात्राणां गीयते प्रयोगेषु ।
निष्क्रामोपगतगुणां[2] विद्यान्नैष्क्रामिकीं तां तु ॥ ३६६ ॥

जब किसी अंक की समाप्ति के अवसर पर पात्रों के निष्क्रमण के समय गीत गाया जाए तथा जिससे पात्रों के निष्क्रमण या प्रयोजन या उद्देश्य संयुक्त रहे तो उसे नैष्क्रामिकीध्रुवा समझना चाहिए ॥ ३६६ ॥

आक्षेविकी ध्रुवा :—

क्रममुल्लङ्घ्य विधिज्ञैः क्रियते या द्रुतलयेन[3] नाट्यविधौ ।
आक्षेपिकी ध्रुवाऽसौ[4] द्रुता स्थिता चाऽपि विज्ञेया ॥ ३६७ ॥

जो नाट्य प्रयोक्ताओं के द्वारा निर्दिष्ट ध्रुवाओं के क्रम या विषम नियम का परित्याग कर (केवल) द्रुतलय में नाट्यप्रयोग के अवसर पर गान किया जाए तो उसे आक्षेपिकी ध्रुवा समझना चाहिए ॥ ३६७ ॥

प्रासादिकी ध्रुवा :—

या च रसान्तरमुपगतमाक्षेपवशात् कृतं[5] प्रसादयति ।
रागप्रसादजननी[6] ज्ञेया प्रासादिकी सा तु ॥ ३६८ ॥

जो किसी प्राप्ति या आकस्मिक दुर्घटना के बाद तुरन्त गीत रूप में प्रस्तुत हो कर रसान्तर का आक्षेप या संकेतों के द्वारा हटा कर रंगस्थ प्रेक्षकों के चित्तों को प्रसन्न करती हो तो उसे प्रासादिकी ध्रुवा समझना चाहिए ॥ ३६८ ॥

अन्तरा-ध्रुवा :—

विषण्णे[7] विस्मृते क्रुद्धे सुप्ते मत्तेऽथ सङ्गते ।
गुरुभारावसन्ने च मूर्च्छिते पतिते तथा ॥ ३६९ ॥

---

१. निष्क्रान्ते या तु भवेत् प्रस्तुतस्तुतियोगे—ग० ।
२. गुणं—ख०; गुणा—ग० । ३. द्रुततले तु नृत्तविधौ—ग० ।
४. ध्रुवा सा—ग० ।
५. द्रुतं—ख०; प्रसादयति रङ्गन्तु—घ० ।
६. जननीं विद्यात् प्रासादिकीं तां तु—क०, ख० ।
७. पद्यमेतत्—क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति ।

विषलम्भमूर्च्छिते[1] भ्रान्ते वस्त्राभरणसंयमे ।
दोषप्रच्छादने या च गीयते सान्तरा[2] ध्रुवा ॥ ३७० ॥

विभिन्न (महत्वपूर्ण या प्रमुख) पात्रों के विषण्ण होने, विस्मृत होने, क्रुद्ध होने, सोने, मत्त हो जाने, मिलने, अधिक भार से शरीर के भारी होने या खिन्न होने, मूर्च्छित हो जाने, पृथ्वी पर गिर जाने, विष प्रयोग से मूर्च्छित हो जाने, भ्रान्त हो जाने, वस्त्र या अलंकारों के धारण करने तथा दोष के आच्छादन करने के अवसर पर जो ध्रुवा का गान होता है उसे अन्तरा ध्रुवा समझना चाहिए ॥ ३६९-३७० ॥

ध्रुवाणाञ्चैव सर्वासां रसभावसमन्वितम् ।
तथा[3] स्थानं प्रवक्ष्यामि यत्र गेयं प्रयत्नतः ॥ ३७१ ॥

अब मैं रस एवं भावों से युक्त इन ध्रुवा गीतों के वे स्थान बतलाता हूँ जहाँ इनका प्रयत्न पूर्वक आयोजन किया जाता है ॥ ३७१ ॥

ध्रुवाओं के स्थान या अवसर :—

द्विविधन्तु स्मृतं स्थानं परस्थं[4] स्वात्मसंश्रितम् ।
यत्वाक्षेपसमायुक्तं[5] तच्च मे सन्निबोधत ॥ ३७२ ॥

ऐसे स्थान जो रस तथा भावों से पूर्ण होते हैं—दो प्रकार से होते हैं । एक परस्थ या दूसरे पात्रों से सम्बद्ध तथा दूसरा आत्मस्थ या स्वयं से सम्बद्ध (इसके अतिरिक्त) इनके आक्षेप से सम्बद्ध स्थानों को भी मैं बतलाता हूँ ॥ ३७२ ॥

बद्धे निरुद्धे पतिते व्याधिते मूर्च्छिते[6] मृते ।
अवकृष्टा ध्रुवा कार्या भावे च करुणाश्रये ॥ ३७३ ॥

जब कोई पात्र पकड़ लिया गया हो, रोक लिया गया हो, गिर गया हो, बीमार हो गया हो, मूर्च्छित हो गया हो या मर गया हो तो ऐसी अवस्थाओ में करुण रस में या ऐसे भावो में अपकृष्टा ध्रुवा की (गान या) योजना होनी चाहिए ॥ ३७३ ॥

---

१. विषण्णो मूर्च्छिते—क० ।
२. सान्तराच्छदा—ख० ।
३. यथास्थानं—क०; ग० ।
४. परसंस्थात्मसंश्रयम्—क०; परस्थात्मस्थसंश्रयम्—ग० ।
५. यत्राक्षेप—ख, यथाक्षेप—ग० । ६. साधिते—ग० ।

औत्सुक्ये ह्यवहित्थे च चिन्तायां परिदेविते ।
श्रमे दैन्ये[1] विषादे च स्थिता कार्या ध्रुवा बुधैः[2] ॥ ३७४ ॥

पात्रों के औत्सुक्य, अवहित्था, विलाप, चिन्ता, श्रम, दैन्य तथा खेद की अवस्था में विलम्बित या स्थित लय में ध्रुवाओं का गान करना चाहिए ॥

एतेष्वेव तु भावेषु करुणावेदितेषु च ।
ध्रुवा द्रुता[3] प्रकर्त्तव्या तथावेगसमाश्रया[4] ॥ ३७५ ॥

इन्हीं (पूर्व वर्णित) भावों को करुण रस की दशा में प्रस्तुत करने के अवसर पर आवेग से युक्त चेष्टाएँ तथा द्रुत लय में गान किया जाना चाहिए ॥ ३७५ ॥

यत्र प्रत्यक्षजं[5] दुःखं मृताभिहतदर्शनात्[6] ।
स्थिता तत्र प्रयोक्तव्या करुणे तु रसे बुधैः ॥ ३७६ ॥

जहाँ किसी मृत या घायल पुरुष के प्रत्यक्ष दर्शन से दुःख की दशा हो तो ऐसे स्थान पर करुण रस में स्थित या विलम्बित (स्थित) लय में ध्रुवाओं का गान किया जाए ॥ ३७६ ॥

उत्पातदर्शने चैव [7]ह्यमर्षेऽद्भुतदर्शने ।
विषादे च प्रमादे[8] च रोषे[9] सत्वप्रदर्शने ॥ ३७७ ॥
रौद्रवीरभयादीषु[10] प्रत्यक्षावेदितेषु च ।
ध्रुवा द्रुतलया[11] कार्या ह्यावेगे सम्भ्रमे तथा ॥ ३७८ ॥

किसी उत्पात के देखने में, क्रोध होने, किसी आश्चर्यजनक या दिव्य वस्तु के देखने, विषाद, प्रसाद तथा रोष के समय, (अपनी) शक्ति (सत्व) के बतलाने (या किसी भयंकर जन्तु के दिखलाने) में, रौद्र, वीर या भयानक आदि रसों को प्रत्यक्ष या सीधे बतलाने में, आवेग तथा संभ्रम भावों की दशा में ध्रुवाओं का द्रुत लय में गान किया जाए ॥ ३७७-३७८ ॥

---

१. दीने—क०, दैन्येविषादे च—ग० । २. मता—ग० ।
३. हृता—ख० । ४. करुणे भावसंश्रया—क०, ख० ।
५. प्रत्यक्षरं—ख० ।
६. दर्शनम्—क०, मृताभिहित—ग० ।
७. प्रहर्षे—क०; शृङ्गारादद्भुत—ख; उत्पाते सम्भ्रमे चैव ह्यमर्षे—ग० ।
८. प्रसादे च—क०; प्रमोदे च—ख० ।
९. रोषे सत्वस्य दर्शने—क०, रोषसत्वस्य दर्शने—ख० ।
१० भयाप्येषु—ख० । ११. हृतलया—ख० ।

प्रसादने[1] याचने च तथानुस्मरणेऽपि[2] च।
तथातिशयवाक्येषु तथा च नवसङ्गमे[3] ॥ ३७९ ॥
हर्षेऽथ[4] प्रार्थने[5] चैव शृङ्गाराद्भुतदर्शने।
ध्रुवा प्रासादिकी[6] कार्या तज्ज्ञैर्मध्यलयाश्रया ॥ ३८० ॥

किसी को प्रसन्न करने, याचना या प्रार्थना करने या अतिशय (देर तक) वार्तालाप करने, प्रेमियों के प्रथम बार मिलन होने, आनन्द की किसी वस्तु की मांग करने तथा शृङ्गार या अद्भुत रस के अवलोकन करने में प्रासादिकी ध्रुवा का मध्यलय में गान रखा जाता है ॥ ३७९-३८० ॥

शरीरव्यसने शोषे पुनः सन्धानकर्मणि।
सानुबन्धा बुधैः कार्या गीतज्ञैरन्तरा[7] ध्रुवा ॥ ३८१ ॥

शरीर पर आघात पहुँचाते, दुःख प्राप्त होने, क्रोध करने या किसी पर शस्त्र-सन्धान करने की दशा में अन्तरा-ध्रुवा को लगातार या देर तक चालू रखना चाहिए ॥ ३८१ ॥

अध्रुवास्तु प्रवेशाः स्युर्गायतो[8] रुदतस्तथा।
सम्भ्रमे घोषणे[9] चैव ह्युत्पाते[10] विस्मये[11] तथा ॥ ३८२ ॥

जब मंच पर किसी पात्र का गायन या रोदन हो रहा हो या उनके आगमन के समय कोई सम्भ्रम या भगदड़ मची हो, या उत्पात या किसी आश्चर्य की घटना घटित हो तो ऐसे अवसर या स्थान पर पात्रों का प्रवेश बिना ध्रुवागान के होता है ॥ ३८२ ॥

एवमर्थविधिं ज्ञात्वा देशकालमृतुं[12] तथा।
प्रकृतिं भावलिङ्गन्तु ततो योज्या ध्रुवा बुधैः ॥ ३८३ ॥

अतएव विषय, स्थान, अवसर, ऋतु, पात्र तथा भावों के संकेत आदि का लक्षणानुसार विचार करने के पश्चात् ध्रुवाओं की तदनुकूल योजना करना चाहिए ॥ ३८३ ॥

---

१. प्रसादयाचने -ख, प्रसादने सम्भ्रमे च—ग०।
२. पुनः—क० ख०। ३. नय—क०; ख०।
४. गर्वे च—ग०। ५. प्रार्थनायां च—ख०।
६. प्रसादिनी—ग०। ७. हितज्ञै—ग०।
८. गायनो गदतस्तथा—ख०। ९. प्रेषणें चैव—क०, ग०।
१०. उत्पाते—ग०। ११. विषमे—ख०।
१२. कालं देशमृतुं—ख०; देशकालमतश्च यत्—ग०।

ध्रुवाओं के (अन्य) प्रकार :—

शीर्षका[1] चोद्धता चैव ह्यनुबद्धा[2] विलम्बिता ।
अड्डिता चापकृष्टा च षट्प्रकारा ध्रुवा स्मृता ॥ ३८४ ॥

ध्रुवाओं के अन्य छः प्रभेद हैं :—(१) शीर्षका, (२) उद्धता, (३) अनुबन्धा (४) विलम्बिता, (५) अड्डिता तथा (६) अपकृष्टा ॥ ३८४ ॥

शिरःस्थानीयमेतद्धि[3] यस्मात्तस्मात्तु [4]शीर्षका ।

शीर्षका :—ध्रुवाओं में शीर्षा या प्रमुख स्थान रखने के कारण यह शीर्ष का ध्रुवा कहलाती है ।

उद्धता[5] तूद्धता[6] यस्मात् तस्माज्ज्ञेया ध्रुवा [7]बुधैः ॥ ३८५ ॥

उद्धता :—उद्धत प्रकार से गाये जाने पर उद्धता ध्रुवा हो जाती है ॥३८५॥

आक्रीडितप्रवृत्तो[8] यः तदर्थो[9] लयकारकः ।
नाट्योपचारजनितः सोऽनुबन्धः प्रकीर्तितः ॥ ३८६ ॥

अनुबन्धा :—जो ध्रुवा किसी नाट्योपचार या प्रयोग से आरंभ होती हो तथा जिसमें उसी के लिये निर्धारित लय को प्रयुक्त किया जाता हो तो ऐसी ध्रुवा को 'अनुबन्धा' समझना चाहिए ॥ ३८६ ॥

नातित्वरितसञ्चारा[10] नाट्यधर्ममनुस्मृता[11] ।
सविलम्बितसञ्चारा भवेदथ[12] बिलम्बिता ॥ ३८७ ॥

---

१. शीर्षकं—ग०, घ० । २. अनुबन्धो—ग० ।
३. शिरस्थानीयते तद्धि यस्मात्तद्धि च शीर्षकम्—ग० ।
४. शीर्षकम्—ग०, घ० ।
५. उद्गता—ख० ।
६. रूद्धता-ग०; तूद्धतो—घ० ।
७. अतः ऊर्ध्वं क-पुस्तके—यतिं लयं वाद्यगतिं पदं वर्णान् स्वराक्षरम् । अनुबध्नाति यत्रैवमनुबद्धा भवेत्तु सा ॥ इति अनुबद्धालक्षणम् ।
८. आपीडित—क० ।
९. यश्चतुर्थलय-क०, यश्चतुर्थलेप-ख०; चतुर्था लोपकारकः—ग०
१०. नाट्ये त्वरित—क०, ख० ।
१२. मनुव्रता—क० ख० ।
१३. भवेद् द्रुतविलम्बिता—क०; जा या द्दुतविल—ख० ।

विलम्बिता :—

जिसमें नाट्यधर्मी परम्परा के अनुसार अतिशय वेग से कोई क्रिया न हो या गति या क्रियाएँ शीघ्रता से न रहे तो उसे 'विलम्बिता' ध्रुवा समझना चाहिए ॥ ३८७ ॥

अड्डिता तूत्कटगुणा शृङ्गाररससम्भवा ।
यस्मात्तस्मात्[1] प्रसन्ना च तस्मादेषा[2]ऽड्डिता स्मृता ॥ ३८८ ॥

अड्डिता :—जब शृङ्गार रस को लेकर (कोई) ध्रुवा का आरम्भ (या उत्पत्ति) हो और जिसमें कुछ उत्कृष्ट गुण हो तो इसी कारण प्रसन्न करने वाली ऐसी ध्रुवा को 'अड्डिता' कहा जाता है ॥ ३८८ ॥

अन्यभावेषु[3] कृष्टा च कृष्टा[4] हेतुषु गीयते ।
यस्मात् कारुण्यसंयुक्ता ह्यपकृष्टा[5] भवेत्ततः ॥ ३८९ ॥

अपकृष्टा—किसी अन्य भाव को या अन्य करणों को (जो आरम्भ किये गये भावया कारण से भिन्न हो) आकृष्ट करते हुए जिस ध्रुवा का गान किया जाए तो उसे अपकृष्टा ध्रुवा कहते हैं ॥ ३८९ ॥

योजना :—

या तु प्रावेशिकी दीप्ता सा कार्या तूद्धता[6] नृणाम् ।
या[7] समासितसञ्चारा भवेदथ विलम्बिता ॥ ३९० ॥

जिस प्रावेशिकी ध्रुवा में उद्दीप्त गुण हों (हलन चलन हों) उसकी पुरुप पात्रों में योजना करनी चाहिए तथा जहाँ क्रियाएँ या आंगिक हलन चलन संक्षिप्त या मन्द गति में रहते हों तो ऐसे स्थान पर विलम्लित ध्रुवा कोरखा जाए ॥ ३९० ॥

या तु प्रासादिकी नाम स्त्रीणां कार्याऽड्डिता तु सा ।
या स्थिता सावकृष्टा तु याऽद्रुता[8] सा विलम्बिता ॥ ३९१ ॥

---

१. थस्मात् सा न प्रसन्ना च—क०; यस्मात् स्थानप्रसन्ना च—ख० ।
२. तस्मादेवा—ग० ।
३. अन्यभावेऽवकृष्टा च द्रव्यहेतुषु बाध्यते—ग० ।
४. कृष्टहेतुषु—क०; कृष्टा हेतुर्हि—ख० ।
५. ह्यवकृष्टा—क० ।
६. त्वड्डिता—ख० ।
७. पद्यार्धमेतत् क० ख० पुस्तकयोर्नास्ति ।
८. या हृता—ख० ।

स्त्री पात्र की अवस्था में प्रासादिकी ध्रुवा को अड्डिता ध्रुवा के रूपमें रखा जाए और जब यही स्थित लय (विलम्बित लय) में हो तो अपकृष्टा तथा द्रुतलय में न हो तो विलम्बिता ध्रुवा (भी) हो जाती है ॥३९१॥

यतो लय-वाद्य-यति-पद-वर्णस्तथाक्षरम् ।
अनुबध्वाति[1] गीतेषु प्रकारा षट् प्रवेशजा ॥ ३९२ ॥

जब लय, वाद्य, यति, शब्द, वर्ण तथा अक्षर किसी गीत की संगत करते हों तो ये (छः) उसके प्रवेश के प्रकार या रूप कहलाते हैं ॥ ३९२ ॥

शीर्षका[2] चोद्धता चैव देवपार्थिवयोर्भवेत्[3] ।
दिव्यपार्थिववेश्यानां[4] स्त्रीणां योज्या[5] तथाऽड्डिता ॥ ३९३ ॥

शीर्षका और उद्धता ध्रुवा की राजा और देव पात्र में तथा अड्डिता ध्रुवा की दिव्य या राजकुलीन स्त्रियो में या वैश्य जाति के पात्र में योजना की जाए ॥ ३९३ ॥

मध्यमानां प्रवेशे तु ज्ञेया द्रुतविलम्बिता ।
नीचानाञ्चैव कर्तव्ये नृणां ये खञ्जनत्कुटे[6] ॥ ३९४ ॥

मध्यम पात्रों के प्रवेश के समय द्रुत विलम्बिता-ध्रुवा को रखा जाए तथा नीच पुरुष पात्र के होने पर इसे खंजक या नत्कुटक वर्ग में से प्रस्तुत करना चाहिए ॥ ३९४ ॥

खञ्जञ्च[7] नत्कुटञ्चैव स्थान[8] प्रासादिकी तवा ।
कस्माल्ललित[9] भावत्वाद्धास्यश्रृङ्गारयोर्यतः ॥ ३९५ ॥

किसी स्थान पर हर्ष या हंसी को लाने के लिये खञ्जक और नत्कुटक होते है। इसका कारण क्या है ? क्यों कि ये दोनों हास्य और श्रृङ्गार रस के ललित भावों से सम्बद्ध होते है। (इसलिए हर्ष या हास्य को उत्पन्न करने में ये छन्दःपूर्ण दोनों ध्रुवाएँ सक्षम हैं) ॥ ३९५ ॥

---

१. याऽन्तरा सानुबन्धा च प्रकारास्तु प्रवेशजाः—क० ।
२. शीर्षिका—क०; शीर्षकं—ग०, घ० । ३. स्मृते—ग०, ख० ।
४. दिव्यापार्थिव—ग० । ५. योग्या—ग० ।
६. खञ्जकनर्कुटे—ख०, नत्कुटखञ्जका—ग० ।
७. खञ्जकं नर्कुटञ्चैव—ख० ।
८. स्थाने प्रासादिकी तु सा—क० ।
९. कामाल्—ख०; तस्माल्ललित—ग० ।

कुर्यान्नीचे मृते[1] चैव अनुबन्धं[2] लयाश्रयम् ।
स्त्रीणां राजन्यवैश्यानामपकृष्टा[3] तथैव च ॥ ३९६ ॥

किसी नीचपात्र के होने या किसी पात्र के मर जाने की दशा में उचित लय में अनुबन्धा ध्रुवा को रखना चाहिएं तथा क्षत्रिय या वैश्यवर्ण की स्त्रियों के रहने पर उचित लय में अपकृष्टा ध्रुवा की योजना करना चाहिए ॥ ३९६ ॥

सन्निपातास्तु चत्वारः प्रावेशिक्या भवन्ति हि ।
शेषा द्वि[4]-सन्निपातास्तु शीर्षकाः षट्पदाः[5] स्मृताः ॥ ३९७ ॥

प्रावेशिकी ध्रुवा में चार सन्निपातों के साथ ताल रहता है, शेष ध्रुवाओं में दो सन्निपातों पर ताल होता है तथा शीर्षकों में छः पाद होते हैं ॥

स्थिता[6] वाप्यड्डिता वापि नीचानां न हि कारयेत् ।
सर्वभावाश्रयगतौ[7] तेषां कार्यन्तु नत्कुटम् ॥ ३९८ ॥

नीच पात्रों के रहने पर स्थित-लय में अड्डिता का गान नहीं किया जाता है। यहाँ पात्रों के सभी भावों को प्रदर्शित करने वाली आंगिक चेष्टाओं में नत्कुटक-गान रखा जाता है ॥ ३९८ ॥

त्रयो भावा भवन्त्येषां हास्यशोकभयाश्रयाः[8] ।
एवं भावान् विदित्वा तु ध्रुवा योज्या[9] प्रयोक्तृभिः ॥ ३९९ ॥

नीच पात्रों में केवल हास्य, शोक तथा भय भाव ही उत्पन्न होते है। अतएव इस तत्व को समझते हुए इनमें तदनुसार ध्रुवाओं की योजना की जाए ॥ ३९९ ॥

वस्तु प्रयोगं प्रकृतिं[10] रसभावमृतुं[11] वयः ।
देशं[12] कालमवस्थाञ्च ज्ञात्वा योज्या ध्रुवा बुधैः ॥ ४०० ॥

---

१. तथा चैव—ग० । २. त्वनुबन्धं—क०, अनुबन्धाश्रये तु सा—ग० ।
३. मपकृष्टां—क०, ख० । ४. शेषा हि—क० ।
५. षट्पराः—क०, षट्परं स्मृतम्—ग० ।
६. स्थितं चाप्यड्डितञ्चैव—क०, ग० ।
७. भावाश्रयगतैस्तेषां कार्यन्तु नाटकम्—क०, ख० ।
८. हास्यशोकभयात्मकाः-क०, ... भयानकाः-ख०; हास्यवीरभयाश्रयाः—ग० ।
९. कार्या—क०, ख० । १०. प्रकृतं—ख०, ग० ।
११. रसभावाश्रितं च यत्—ख०; रसभावान्वितं च यत्—ग० ।
१२. देशकाल—ग० ।

किसी नाट्य-प्रयोग में रस, भाव, ऋतु, अवस्था, प्रदेश, समय (या अवसर) तथा पात्र की मानसिक-अवस्था का उनके विषय, कथावस्तु, प्रयोग तथा पात्र के अनुसार विचार करने के पश्चात् ही वहाँ इन ध्रुवाओं की योजना करना बुद्धिमानी हैं ॥ ४०० ॥

वस्तु[1] देशसमुत्थश्च नगरारण्यसम्भवम् ।
प्रयोगश्चैव[2] विज्ञेयो दिव्यमानुषसंश्रयः ॥ ४०१ ॥

नाट्यप्रयोग की वस्तु की किसी देश, नगर या अरण्य से सम्बन्ध या उद्भव या कल्पना होती है। प्रयोग का सम्बन्ध दिव्य या मनुष्य पात्र से होता है ॥ ४०१ ॥

उत्तमाधममध्या तु त्रिविधा प्रकृतिर्मता ।
रसभावौ तु पूर्वोक्तावृतुः[3] कालकृतस्तथा ॥ ४०२ ॥

नाट्य-प्रयोग में रहने वाले पात्रों की प्रकृति (या विभेद) तीन प्रकार की होती हैं—(१) उत्तम, (२) मध्यम, तथा अधम। रस तथा भावों को पूर्व में (क्रमशः अध्याय छः तथा सात में) बतलाया जा चुका है। काल के द्वारा ऋतुएँ होती हैं ॥ ४०२ ॥

शिशु[4] यौवनवृद्धत्वं वयश्चैव प्रकीर्तितम् ।
कक्ष्यादिभेदजनितो[5] देशस्तु विविधः[6] स्मृतः ॥ ४०३ ॥

शैशव, यौवन तथा वार्धक्य इन तीन को वय कहते हैं। कक्ष्या आदि के भेद से उत्पन्न होने वाले देश के अनन्त प्रकार है।[1]

कालो [7]रात्रिन्दिवकृतो [8]मासपक्षविनिर्मितः ।
अवस्था चैव विज्ञेया [9]सुखःदुखकृता तथा ॥४०४॥

---

१. कक्ष्य के भेद से देश भेद का विवरण ना० शा० अ० १४ पर दिया गया है। (द्र० ना० शा० भाग–२ चौ० संस्क०)

---

१. वस्तूद्देश्यसमुत्थन्तु—क०, ख; वस्तुदेशसमर्थन्तु—ग० ।
२. श्चैष—क० । ३. पूर्वोक्ता ऋतुः—ग० ।
४. बाल्य—(ब) ।
५. कक्ष्या दिग्भाग—क०, कक्ष्यादिभाव—ख० ।
६. द्विविधः—क० । ७. रात्रिदिन—ग० ।
८. यामकाल—क०; यामभाग-क (ब०); वासरादिविनिश्चितः—ख० ।
९. सुखःदुखार्थसम्भवा—क०; सुखदुःखकृता तथा—ग० ।

दिन तथा रात्रि के एवं मास और ऋतु (आदि) के द्वारा निर्धारित किया जाने वाला समय 'काल' कहलाता है। मानसिकअवस्था सुख या दुःख से सम्बद्ध होने से दो प्रकार की होती है (एक सुखात्मिका तथा दूसरी दुखात्मिका) ॥ ४०४ ॥

स्थानान्येतानि [1]तु बुधैर्नानावस्थानि नित्यशः ।
प्रयोगे तु प्रयोज्यानि रसभावौ समीक्ष्य तु ॥ ४०५ ॥

विभिन्न अवस्थाओं के निदर्शक ये (ही) स्थान होते हैं जिनकी रस भाव आदि को देखते हुए नाट्य प्रयोग में योजना की जाती है ॥ ४०५ ॥

यानि वाक्यैस्तु[2] न ब्रूयात्तानि गीतैरुदाहरेत् ।
गीतैरेव[3] हि वाक्यार्थैः रसपाको[4] बलाश्रयः ॥ ४०६ ॥

जिन्हें बातों के द्वारा प्रकट न किया जा सके उन्हें गीत के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए क्योंकि गाये गये गी.ो के द्वारा उद्दिष्ट वाक्यार्थ में रक्ति एवं रस की परिपक्वता आ जाती है ॥ ४०६ ॥

ध्रुवाओं के विषय—

ध्रुवाणामाश्रयाः कार्या औपम्यगुणसम्भवाः[5] ।
उत्तमाधममध्यानां स्त्रीणां[6] नृणामथापि च ॥ ४०७ ॥

ध्रुवाओं के विषय (या आश्रय) स्त्री या पुरुष पात्रों के उत्तम, मध्यम या अधम प्रकारों की स्थिति में उनके अनुरूप उनके गुणों की समानता को ध्यान में रखते हुए रहने चाहिए ॥ ४०७ ॥

चन्द्राग्निसूर्यपवना[7] देवपार्थिवयोः [8]स्मृताः ।
दैत्यानां राक्षसानाञ्च मेघपर्वतसागराः ॥ ४०८ ॥

देवता और राजाओं की समानता के विषय चन्द्र, अग्नि, सूर्य तथा पवन होते हैं तथा दैत्य एवं राक्षस पात्रो की तुलना के विषय मेघ, सागर एवं पर्वत रखे जाते हैं[1] ॥ ४०८ ॥

---

१. इन विषयों का इसी अध्याय में (विद्यमान ध्रुवाओं के उदाहरणों में) विवरण मिल जाता है।

---

१. सम्प्रयोज्यानि—क०, ख०। २. वाच्यैस्तु—ख०।
३. न तैरेव तु—क०, गतैरेव- हि—ग०।
४. रत्यैरौपम्यसंश्रयैः—क; प्रतिबलाश्रयैः—ग०।
५. संश्रयाः—ग०। ६. नृणां स्त्रीणा—क०, ख०।
७. आदित्यसोमपवना—क०, सूर्य-पवनः—ग०। ८. मताः—क०।

सिद्धगन्धर्वयक्षाणां ग्रहोडुवृषभाः[1] स्मृताः ।
तपःस्थितानां सर्वेषां सूर्याग्निपवनाः स्मृताः[2] ॥ ४०९ ॥

सिद्ध, गन्धर्व तथा यक्ष पात्रों की तुलना के पदार्थ ग्रह, नक्षत्र, तथा वृषभ होते हैं। तपस्या में रत सभी पात्रों की तुलना के पदार्थ सूर्य, अग्नि तथा पवन होते हैं ॥ ४०९ ॥

हव्यवाहस्तु विप्राणां ये चान्ये तपसि स्थिताः ।
एतेषाञ्चैव[3] या नार्यस्तासामौपम्यसंश्रिताः[4] ॥ ४१० ॥

ब्राह्मण तथा तपस्या में रत सभी वर्ग के पात्रों की उपमा या विषय अग्नि रखा जाए तथा इन पूर्ववर्णित पात्रों की पत्नियो की भी इन्हीं पदार्थों से तुलना की जाए ॥ ४१० ॥

विद्युदुल्कार्करश्मिश्च[5] दिव्यानामपि च स्मृताः ।
देवतायाः[6] प्रयोज्यास्तु नृपाणामपि ते मताः[7] ॥ ४११ ॥

दिव्य पात्रों की तुलना के पदार्थ विद्युत्, उल्का तथा सूर्य की किरणें होती हैं। जिन पदार्थों से देवपात्रों की तुलना की जाए उन्हीं से राजा की भी तुलना की जाती है ॥ ४११ ॥

नागसिंहवृषाश्चैव[8] नैते दिव्येषु कीर्तिताः ।
वारणोरगसिंहाश्च[9] नृपाणामपि चेष्यते ॥ ४१२ ॥

दिव्य पात्रों की तुलना हाथी, सिंह या वृषभ से नहीं की जाती है किन्तु इन हाथी, सर्प तथा सिंह को राजा की तुलना का विषय बनाया जा सकता है ॥ ४१२ ॥

महिषा[10] रुरुसिंहाश्च क्रव्यादा पशवश्च ये ।
हिंस्रसत्वेषु ते कार्या यक्षराक्षसजातिषु[11] ॥ ४१३ ॥

---

१. ग्राहेभ—ख०, ग०; ग्रहर्क्ष—क (ब) ।
२. मताः—क० ।
३. एतेषाञ्चैव भार्याणाम्—क (ब०) ।
४. संश्रयाः—क० ।
५. रश्म्याद्या—क०; ······र्करगाश्च—ग० ।
६. देवानान्तु प्रयोज्या ये—क०, ख० । ७. स्मृताः—क० ।
८. वृषार्थाश्च—क०; वृकाश्चैव—ख०; वृषाश्चान्ये—क० (ब) ।
९. वारणे राजसिंहश्च—ग० । पद्यार्धमेतत् ग०पुस्तक एव ।
१०. शलभा—क (ड) । ११. भूतजाः—ग० ।

यक्ष, राक्षस आदि जो हिंसक-वृत्ति के पात्र हों उनकी महिष, रुरुमृग, सिंह तथा अन्य मांसभक्षी पशुओं से तुलना की जाए ॥ ४१३ ॥

उत्तमानां प्रयोक्तव्या नानारससमाश्रयाः ।
मत्त-मातङ्गसहिता राजहंसाश्च योक्तृभिः ॥ ४१४ ॥

विभिन्न रसों की दशा में उत्तम पात्रों की तुलना मत्त गजों तथा राजहंसों से रखी जा सकती है ॥ ४१४ ॥

सारसाः[1] शिखिनः क्रौञ्चाश्चक्राह्वाः कुमुदाकराः ।
मध्यमानां प्रयोक्तव्या[2] औपम्यगुणसंश्रयाः ॥ ४१५ ॥

मध्यम पात्रों की तुलना सारस, मोर, क्रौञ्च, चकवा, हंस तथा सरोवर से उनके गुण या स्थिति के अनुसार रखी जाए ॥ ४१५ ॥

कोकिलः[3] षट्पदो ध्वाङ्क्षः कुररः कौशिको वकः ।
पारावतः सकादम्बो ह्यधमेषु प्रयोजिताः ॥ ४१६ ॥

अधम पात्रों की उपमा कोकिल, भौंरा, टिंटोडी (कुरर), उल्लूक, बगुला कबूतर और कादम्ब पक्षियों से रखी जाती है ॥ ४१६ ॥

एवमेषां यथोक्तानां स्त्रियो[4] यास्तु भवन्ति हि ।
उत्तमाधममध्यानां तासाञ्चैव निबोधत[5] ॥ ४१७ ॥

अब उन उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों की पत्नियों की तुलना के पदार्थों को बतलाता हूँ जिनका पहिले थोड़ा उल्लेख हो चुका है ॥ ४१७ ॥

शर्वरी वसुधा[6] ज्योत्स्ना नलिनी करिणी[7] नदी ।
नृपस्त्रीणां भवन्त्येता औपम्यगुणसंश्रयाः ॥ ४१८ ॥

राजा की पत्नियों की तुलना रात्रि, पृथ्वी, चाँदनी, कमलिनी, हथिनी, तथा नदी से रखी जाए ॥ ४१८ ॥

दीर्घिका कुररी वल्ली सारसी शिखिनी मृगी ।
मध्यमानां भवन्त्येता वेश्यादीनान्तु[8] नित्यशः ॥ ४१९ ॥

१. शिखिनः सारसाः—क० । २. प्रकर्त्तव्या—ख० ।

३. कोकिलं षट्पदं ध्वाङ्क्षं कुररं कौशिकं बकम् । पारावतं सकादम्बमधमेषु प्रयोजयेत्—क० । ४. स्त्रियामपि—ग० ।

५. दुर्बला ये तु भवति प्रयोक्ता च तथैव हि । इति पद्यार्धमधिकं —क० (ब०) पुस्तके । ६. च सुधा—क० ।

७. तरुणी—ग० । ८. वेश्यास्त्रीणाञ्च—क० ।

मध्यम पात्रों की पत्नियों की तुलना वापिका (दीर्घिका) कुररी, लता, सारसी, मयूरी तथा हरिणी से उनमें स्थित तथा गुण के अनुसार रहती है परन्तु वेश्या पात्र की उपमा सदा इन्हीं पदार्थों से दी जाए ॥ ४१९ ॥

षटपदी[1] कुक्कुटी ध्वाङ्क्षी परपुष्टाऽथ कैशिकी।
अधमानां[2] ध्रुवास्वेताः प्रयोज्यास्तु प्रयोक्तृभिः ॥ ४२० ॥

ध्रुवाओं के गान में भौंरा, मुरगी, कौंथी, कोयल और मादा उल्लू की उपमा अधम पात्रों की स्त्रियों को दी जाए ॥ ४२० ॥

[3]गत्यर्थोपमिता याश्च चलनार्था भवन्ति हि।
प्रावेशिक्यां[4] बुधैरेव नैष्कामिक्यां[5] तथैव च ॥ ४२१ ॥

मंच से जाने के विषय या अन्य क्रियाओं की तुलना को प्रावेशिकी में तथा नैष्क्रामिकी ध्रुवाओं के द्वारा सूचित (या व्यक्त) किया जाए ॥ ४२१ ॥

ध्रुवाओं के अनुकूल समय-(तथा प्रदेशादि स्थितियाँ) आदिः—

प्रावेशिक्याश्रया ये[6] च पूर्वाह्णे[7] चैव ते स्मृताः।
नक्तन्दिव-समुत्थास्तु नैष्क्रामिक्यां[8] स्वकालजाः ॥ ४२२ ॥

पूर्वाह्न में घटने वाली किसी घटना की सूचना देने के लिए प्रावेशिकी ध्रुवा का गान किया जाता है तथा दिन रात में सामान्यतः अपने समय के अनुसार होने वाले कोई भी कार्य नैष्कामिकी ध्रुवा गान के द्वारा सूचित किये जा सकते हैं ॥ ४२२ ॥

सौम्याः पूर्वाह्णकाले तु मध्याह्ने दीप्तिसंश्रयाः[9]।
अपराह्णे तथा काले[10] सन्ध्यायां करुणाश्रयाः ॥ ४२३ ॥

---

१. षट्पदीं कुररीं ध्वाङ्क्षीं परपुष्टाश्च योजयेत्—क०।

२. अधमाः स्युर्ध्रुवा ह्येताः प्रयोक्तव्या—क०।

३. गत्यर्थे (?) यमिता (?) याश्च बलनार्था—ख०; गमनार्थं हि ये प्रोक्ताः प्रावेशिक्यां भवन्ति हि—ग०, गत्यागमनजा कार्या चलपादा—क० (र०)। ४. प्रावेशिक्या—क०।

५. नैष्क्रामिक्यास्तथैब—क०।

६. यास्तु—क०, ख०।

७. पूर्वाण्हार्धे तु ताः—क०।

८. नैष्क्रामिक्याः—क०, ख०। ९. दीप्ति—क०।

१०. मध्याः [समोकाश्च]—क०।

पूर्वाह्न को सूचित करने के लिये सौम्य ध्रुवाओं का गान करना चाहिए, मध्याह्न को सूचित करना हो तो दीप्त ध्रुवाओं का गान करना चाहिए और करुण ध्रुवाओं के गान के द्वारा अपराह्न या सन्ध्याकाल को संकेतित या सूचित किया जाता है ॥ ४२३ ॥

गमनार्था[1] हि ये प्रोक्ताः प्रावेशिक्यां भवन्ति हि।
स्थावरा ये च सम्प्राप्ता आक्षेपिक्याश्रया हि ते ॥ ४२४ ॥

पात्र के जाने के विषय में जो भी सूचना देना हो उन्हें प्रावेशिकी ध्रुवा के द्वारा (अभिव्यक्त) करना चाहिए और जो विषय किसी स्थावर-पदार्थ से सम्बद्ध हो तो उन्हें आक्षेपिकी ध्रुवा के द्वारा प्रस्तुत किया जाता हैं ॥ ४२४ ॥

आक्षेपिक्याश्रिताः[2] सर्वे द्रुता स्थितकृतास्तथा।
आक्षेपा ह्येवमेव स्युर्द्रुताः[3] स्थितगताश्रयाः।
रोषामर्षसमुद्भूताः शोकाद्भुतभयानकाः ॥ ४२५ ॥

सभी आक्षेपिकी ध्रुवाओं का गान द्रुतलय में और ठीक उसी तरह विलम्बित लय में (भी) किया जा सकता है। इसलिये इन ध्रुवाओं की उत्पत्ति रोष या अमर्ष से होती है उसी तरह शोक (करुण) अद्भुत और भयानक रस से भी हो सकती है ॥ ४२५ ॥

यद् द्रव्यं वसुधासंस्थं[5] मृतदैवतमाश्रितम्[6]।
तत्सर्वमुपमेयन्तु गाने[7] युक्तोपमाश्रये ॥ ४२६ ॥

जो पदार्थ पृथ्वी में स्थित है और वे किसी मृत-पुरुष या किसी देवता से सम्बद्ध हो तो उनका ध्रुवागान में समुचित उपमा देते हुए निवेश करना चाहिए ॥ ४२६ ॥

गतिशील तथा जंगम पदार्थों की सूचक ध्रुवाएँ :—

स्थावरे[8] स्थावरं कुर्यात् गतार्थेषु चलं तथा।
सुखदुःखकृतान्[9] भावानौपम्यगुणसंश्रयान् ॥ ४२७ ॥

१. चलनार्था—क०, ख०। २. एतच्छ्लोकार्धमधिकं ग० पुस्तके।
३. द्रुतस्थितगतास्तथा—क०; स्थितिगतास्तथा—ख०।
४. रोषामर्षादिसम्भूताः—क०, ख०,।
५. संस्थमृते दैवतमानुषान्—क०, कृतदैवतमाश्रितम्—ख०।
६. मानुषे—ग०। ७. गानं युक्त्योपमाश्रयम्—क०, ख०।
८. स्थावरैः स्थावरं कुर्यादृगत्यर्थैश्चापलाश्रयम्—क०, स्थिरेषु स्थावरां—क (र)। ९. कृतैर्भावैरौपम्यगुणसंश्रयात्—क०, ख०।

स्थावर पदार्थों की तुलना के योग्य स्थावर पदार्थ रखे जाएँ तथा गतिशील पदार्थों से (ही) उनकी उपमा दी जाए। उनके सुख और दुःख से होने वाले भावों से सम्बद्ध उपमाओं को उनके सम्बद्ध गुणों के अनुसार रखनी चाहिए ॥ ४२७ ॥

तत्र[1] [2]रथवाजिकुञ्जरमृगपक्षिशिविकाविमानानाम्[3] ।
गतिविक्रमं[4] हि दृष्ट्वा कर्त्तव्याऽथ ध्रुवा तज्ज्ञैः ॥ ४२८ ॥

रथ, घोड़ा, हाथी, मृग, पशु, पक्षी, शिविका तथा विमान जैसे भूमिस्थ पदार्थों की दशा में उन पदार्थों की गति एवं उनकी क्रमिक प्रगति को देखते हुए (प्रभावकारी) ध्रुवाओं का निर्माण (या योजना) करनी चाहिए ॥ ४२८ ॥

[5]रथपत्रिवाजिवारणविमानशिक्यस्थपक्षियानेषु[6] ।
द्रुतपदवर्णविशेषा[7] कर्त्तव्या वै ध्रुवा तज्ज्ञैः ॥ ४२९ ॥

रथ, सिंह, पक्षी, हाथी, विमान, झूला तथा पक्षियों के यान जैसे पदार्थों की दशा में ऐसी ध्रुवाओं की रचना की जाए जिनमें शब्द और वर्णों का उच्चारण शीघ्रता से किया जा सके ॥ ४२९ ॥

ओजःकृता[8] हि ये वै गुरुवर्णा वृषगजेन्द्रसिंहेषु ।
सारस-वानरहंसे[9] तथा मयूरे च कर्त्तव्याः[10] ॥ ४३० ॥
द्रुतगमने[11] लघुवर्णा[12] विलम्बितकृते तु दीर्घवर्णकृताः ।
एवं स्थितद्रुतानां[13] ज्ञात्वा भावं ध्रुवाः[14] कार्याः ॥ ४३१ ॥

---

१. भूमिरथ—क०, ग० ।
२. मृगपशुशिबिका—क०; मृगपशुपक्षिशिबिका—ख० ।
३. विमानयानेषु—क० (ब); विमानयानानाम्—ग० ।
४. विभ्रमं—क०; ख० ।
५. पत्र वाति-क०; रथसिंहपक्षिवारण-ग० ।
६. शिबिकास्थपक्षि-क०; सिक्यस्थपक्षि-ख०, शिबिकान्तरिक्षयानेषु-ग० ।
७. वर्णावर्णः—क; हृतदषदवर्णवर्णः—ख० ।
८. ओजस्कृता तु सा वै—क० ।
९. हंसैस्तथा मयूरैश्च—ग० ।
१०. विधातव्या—क० । ११. गमनेन—ग० ।
१२. लघुवर्णो विततगतौ च—ख० ।
१३. स्थितहृतानां—ख०; स्थिते द्रुतानां—ग० । १४. द्रुताः—ग० ।

वृषभ, हाथी, सिंह तथा भालू जैसे पदार्थों की दशा में ध्रुवाओं की रचना ओजपूर्ण एवं गुरु वर्णों से युक्त की जाए जिनका उच्चारण जोर देकर होता है। सारस, वानर, हंस तथा मयूर जैसे पदार्थों की दशा में ध्रुवाओं की रचना लघु वर्णों से हो तो उनकी गति द्रुत हो तथा गुरु वर्णों से रचना की जाए तथा उनके उच्चारण की गति धीमी रखी जाए। इस प्रकार विलम्बित एवं द्रुत गति का नियम जान कर ध्रुवाओं की सम्बद्ध भावों में योजना करना चाहिए ॥ ४३०-४३१ ॥

ध्रुवाओं के लिए छन्द :—

नास्ति किञ्चिद्वृत्तं[1] हि पदं[2] गानकृताश्रयम्[3]।
तस्माद्गानमभिप्रेक्ष्य[4] तद्वृत्तं[5] योजयेद् बुधः[6] ॥ ४३२ ॥

बिना छन्द के किसी गीत में पदों की योजना ही नहीं होती अतएव ध्रुवागीत के विषय को देखकर उसको तदनुसार उपयुक्त छन्द में रखना चाहिये ॥ ४३२ ॥

तस्माद्वाहनगत्यर्थो[7] ध्रुवा कार्याक्षरैस्तथा।
अङ्गानां समता यत्र भाण्डवाद्ये भविष्यति[8] ॥ ४३३ ॥

(अतएव) किसी वाहन की गति के अर्थ को बतलाने या प्रकट करने वाली ध्रुवा का निर्माण तदनुकूल ऐसे वर्णों से किया जाए कि उसके अङ्गों की संगति या समानता वाद्यवादन के साथ ठीक से जम जाए ॥ ४३३ ॥

यद्वृत्तं[9] वाहनगतौ ध्रुवापादे[9] विधीयते।
तद्वृत्तन्तु भवेद्[10] वाद्यमङ्गपातसमं तथा ॥ ४३४ ॥

(किसी) यान की गति के प्रदर्शन से सम्बद्ध ध्रुवा के लिये स्वीकृत या नियोजित्त छन्द के पाद के लिये उसी के साथ संगत होने वाला वाद्यवादन रखा जाए जो कि गीत के सभी अङ्गों की गतियों से मेलताल रखने वाला होना चाहिये ॥ ४३४ ॥

---

१. किञ्चिद् वृत्तं तु—क०। २. पादं—क (ब०)।
३. समाश्रयम्—क०। ४. द्गीति—क०, ख०।
५. तद्वृत्तां—क०। ६. ध्रुवाम्—क०, ख०।
७. गत्यर्थे—क०, ख०। ८. करिष्यति—क०; करिष्यते—ख०।
९. यद्वृत्तो—क०, ग्रहतो—ख०; ध्रुवामाने—ग०।
१०, भवेच्चाद्यमङ्गवाद्यसमं—थ०, भवेद् गानमङ्गपातसमं—ग०।

पूर्वं[1] गानं ततो वाद्यं ततो नृत्तं[2] प्रयोजयेत् ।
गीतवाद्याङ्गसंयोगः प्रयोग इति संज्ञितः ॥ ४३५ ॥

सर्व प्रथम गान को लिया जाए, फिर वाद्यवादन को और इसके उपरान्त नृत्त को प्रयोगार्थ लिया जाए, क्योंकि गीत, वाद्यवादन तथा नृत्त (या शरीर के अवयवों का) सम्मिलित प्रस्तुतीकरण ही (नाट्य) 'प्रयोग' कहलाता है ॥ ४३५ ॥

हृदयस्थस्तु यो भावः [3]सोऽङ्गाभिनयनैरथ ।
निवृत्यङ्कुरसूचासु[4] कार्यस्त्वभिनयान्वितः ॥ ४३६ ॥

जो भाव हृदय में विद्यमान हो उसे अङ्गाभिनय के द्वारा निवृत्यंकुर वर्ग तथा सूचाभिनय[1] के साथ अभिनीत करना चाहिए ॥ ४३६ ॥

अथ[5] प्रासादिकी योज्या [6]प्रहर्षार्थगुणोद्भवाः[7] ।
आकाशपुरुषो यत्र यत्र चाकाशभाषणम् ॥ ४३७ ॥

और हर्ष प्रदान करने वाली प्रासादिकी ध्रुवा की योजना तभी की जाए जब आकाश में स्थित पुरुष आकाश में स्थित होकर संभाषण कर रहा हो ॥ ४३७ ॥

अन्वर्था तत्र कर्त्तव्या ध्रुवा ह्याभाषणाश्रया[8] ।
[9]प्रासादिक्याश्रया चापि[10] ईर्ष्याक्रोधाश्रयापि वा ॥ ४३८ ॥
शृङ्गाररसमासाद्य ध्रुवान्वर्था[11] प्रयुज्यते ।
यानि प्रासादिकानि स्युः स्थानानि रससंश्रयात् ।
अन्वर्था तत्र कर्त्तव्या ध्रुवा प्रासादिकी त्वथ[12] ॥ ४३९ ॥

---

१. निवृत्यङ्कुर तथा सूचा आदि का लक्षण ना० शा० २४ । ४८ पर द्रष्टव्य ।

---

१. पूर्वगानं—ग० । २. वृत्तं—ग० ।
३. साङ्गाभिनयनै—ख० घ०; हृदयस्थास्तु ये भावा सोऽङ्गजैरथ निर्वृत्ताः—ग० । ४. सूचा तु कार्यास्तेऽभिनयान्विताः—ग० ।
५. तत्र—क०, ख० । ६. प्रहर्षार्थं—ख० ।
७. गुणोद्भवा—क; प्रकर्षार्थगुणोद्भवा—ग०, क०, (ङ) ।
८. ह्याभाषसंश्रिता—क०, अस्वर्था ⋯ ध्रुवाद्यो भावसंश्रयः—ख० ।
९. प्रसादना—ख० । १०. वापि हीर्ष्या—क०, ख० ।
११. ध्रुवान्वर्था प्रयोगतः—क०, ख० ।
१२. तथा—क०, ख० ।

इस प्रसङ्ग में संभाषण से सम्बद्ध ध्रुवा की उसके नाम के अनुरूप अर्थ से पूर्णतः उपयुक्तता होनी चाहिए। शृङ्गाररस को आश्रय लेकर ध्रुवा यदि ईर्ष्या, क्रोध तथा प्रसादन के भावों का आश्रय लेकर आती हों तो (वे) अपने नाम के अनुरूप अर्थ के उपयुक्त भी होनी चाहिए और जब प्रसादन के अवसर हों तो विभिन्न रसों से सम्बद्ध ऐसी ध्रुवाओं को प्रासादिकी रूप में रखा जाए जिनमें नाम के अनुरूप अर्थ की उपयुक्तता भी बनी रहे ॥ ४३८-४३९ ॥

ध्रुवाओं की भाषा :—

भाषा[1] तु शूरसेनी स्याद् ध्रुवाणां[2] सम्प्रयोजने।
कदापि[3] मागधी यत्र कर्त्तव्यं नत्कुटं बुधैः[4] ॥ ४४० ॥

ध्रुवाओं में शौरसेनी-भाषा[1] का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी मागधी भाषा में भी ध्रुवाओं की रचना की जाती है जब कि वे नत्कुटक (वर्ग) में (रखी जाती) हों ॥ ४४० ॥

दिव्यानां संस्कृतं[5] गानं प्रमाणैस्तु निधीयते।
अर्धसंस्कृतमेवन्तु मानुषाणां[6] प्रयोजयेत् ॥ ४४१ ॥

विद्वज्जन को दिव्य पात्रों की दशा में व्याकरणादि से परिशुद्ध प्रमाणित संस्कृत भाषा में (ध्रुवा) गीतों की रचना इष्ट होती है तथा मानव-पात्रों की दशा में अर्धसंस्कृत भाषा या शौरसेनी प्राकृत को प्रयुक्त किया जाना चाहिए[2] ॥ ४४१ ॥

---

१. भरत मुनि ने सात भाषाओं में शौरसेनी का ना० शा० १८।४७ पर उल्लेख किया है तथा जहाँ प्राकृत शब्द का प्रयोग है वहाँ भी शौरसेनी को लिया जा सकता है। पर मागधी का नाट्यशास्त्र में जो यहाँ नामोल्लेख किया गया है वह प्रयोग के लिये लेने की बात अन्यत्र इसी ग्रन्थ में नहीं मिलती।

२. यह विवरण संस्कृत नाटकों के लिये महत्वपूर्ण है तथा उसके स्वरूप एवं विकास को आगे चलकर इन्ही पगडंडियों से चलकर राजमार्ग बनाना पड़ा है। यहाँ अर्धसंस्कृत भाषा के द्वारा कदाचित् मागधी आदि सभी प्राकृत भाषाओं का संकेत समझना चाहिए।

---

१. भाषान्तु शौरसेनीं हि ध्रुवाणां सम्प्रयोजयेत्—क०।
२. ध्रुवायां—ख०।
३. यदापि—ख०; भाषायां चैव मागध्यां—क (ब २)।
४. तथा—क०। ५. संस्कृताङ्गानां—ख०।
६. पार्थिवानां—क० (र)।

ये त्वौपम्यकृता[1] दिव्या यदि तेषां प्रयोगतः ।
प्रवेशो[2] नाटके तु स्याच्छृणु[3] तेषां समाश्रयम्[4] ॥ ४४२ ॥

यदि कोई दिव्य पात्र जिसका विषय तुलना के लिये लिया गया हो तथा नाट्यप्रयोग के या विशिष्ट स्थिति के कारण मञ्च पर प्रवेश करता हो तो ऐसे पात्र के व्यवहार व्यवस्था आदि की भी विधि बतलाता हूँ जिसे आप ध्यान से सुनें ॥ ४४२ ॥

यस्तेषां सात्विको भावः कर्मसङ्कीर्तनञ्च यत् ।
तत्कार्यं गानयोगे[5] तु प्रमाणविधिसंश्रयम् ॥ ४४३ ॥

इनके जो भी (प्रदर्श्य) सात्विक भाव हों या इनके जिन उल्लेख्य कर्मों का वर्णन इष्ट हो तो उन सभी को प्रमाण तथा नियम के अनुसार गीत के द्वारा प्रकट करते हुए प्रस्तुत किया जाए ॥ ४४३ ॥

ध्रुवाओं के छन्द :

छन्दःप्रमाणसंयुक्तं दिव्यानां गानमिष्यते ।
स्तुत्याश्रयेण[6] तत्कार्यं कर्मसङ्कीर्तनादपि ।
ध्रुवापादविधौ[7] कार्यं यच्चौपम्यगुणाश्रयम् ॥ ४४४ ॥

दिव्य पुरुषों के गान की दशा में गीत को प्रमाण के अनुसार छन्द में रखा जाता है । ऐसे गीत को देवगणों की स्तुति या उनके अद्भुत कर्मों के वर्णन से सम्बद्ध रखा जाता है । ध्रुवाओं के पादों में इस बात की उपमा दिये जाने योग्य गुणों के साथ (या तुलना के साथ) उनका वर्णन होना चाहिए ॥ ४४४ ॥

माला वक्त्रं[8] पुटं वृत्तं विश्लोका चूलिका तथा ।
उद्गताऽपरवक्त्रा[9] च कर्त्तव्या वै प्रयोक्तृभिः ॥ ४४५ ॥

---

१. कृती—ग० । २. प्रवेशे नायकं तु—ख०, प्रदेशे नाटके—ग० ।

३. कार्यंस्तेषां समाश्रयः—ग० । ४. समाश्रयः—घ० ।

५. योगेऽपि प्रमाणगुणसंश्रयम्—क०; तत्तत्कार्यं गानयोगे प्रमाणयुग—ख० ।

६. पुण्याश्रय्च—क०, ख० ।

७. पदविधौ कार्यं यच्च पुण्यं गुणाश्रयम्—क०, कार्या या च पुण्यगुणाश्रया—क० (ब०) ।

८. मालावृत्तं पुटोपेतं विश्लोकश्चूलिकापि च—ग० ।

९. उद्गीतापरवक्त्रे च कर्तव्यानि—ग०, उद्गाताऽपरवक्त्रश्च—घ०

(इस सम्बन्ध में) नाट्य प्रयोक्ता गण के द्वारा माला, वक्त्र, पुटवृत्त, विश्लोक, उद्गता और अपरवक्त्र जैसे छन्दों का प्रयोग किया जाना चाहिये ॥ ४४५ ॥

विधानं छन्दसामेषां[1] मया पूर्वमुदाहृतम् ।
जयाशीर्वादयुक्तानि कार्याण्येतानि[2] दैवते[3] ॥ ४४६ ॥
ऋग्गाथा पाणिका[4] ह्येषां बोद्धव्यास्तु[5] प्रमाणतः ।
सुश्रव्याश्चैव[6] यस्मात्तु तस्माद्गीतेषु[7] योजयेत् ॥ ४४७ ॥

मैंने छन्दों का विधान पूर्व में ही बतला दिया है । देवताओं की स्थिति में इन (ध्रुवाओं) में इन देव गण की विजय या आशीष को व्यक्त करने वाले शब्दों का निवेश करना चाहिए और इन गीतों के लिये ऋग्, गाथा तथा पाणिका आदि के प्रमाण एवं स्वरूप आदि को समझ रखना चाहिये । क्योंकि ये सुनने में अधिक सुश्राव्य होते हैं इसीलिये इनकी इस रूप में यहाँ भी योजना की जाए[1] ॥ ४४६–४४७ ॥

गान्धारषड्जमध्यमपञ्चमयुक्ताश्च[8] जातयो याश्च[9] ।
एभिः[10] प्रमाणगानं कर्त्तव्यं [11]दैवतोपेतम् ॥ ४४८ ॥

गान्धार, षड्ज, मध्यम, और पञ्चम से युक्त जातियों[2] को भी इन गीतों के प्रमाणानुसार उपयुक्त रूप में गणना करते हुये देवतानुरूप रखना चाहिये ॥ ४४८ ॥

---

१. ध्रुवाओं के छन्दों का इसी अध्याय में सोदाहरण विवरण दिया जा चुका है ।

२. जातियों का वर्णन ना० शा० अध्याय २८ पर द्रष्टव्य ।

---

१. छन्दसामेतन्—क०, ख०, । २. कर्तव्यान्यत्र—क० (य) ।

३. दैवतैः—ख० ।

४. पाणिकाश्चैव द्रष्टव्यास्तु प्रमाणतः—क० ।

५. चेष्टाव्याः—क० (ब०) ।

६. सुश्रवश्चैव—क०; विश्राव्यश्चैव—ग०, क० (ड) ।

७. तस्माद्गीतं प्रयोजयेत्—क० ।

८. गान्धारमध्यमयुताः पञ्चमयुक्तास्तु—क०, ख० ।

९. यास्तु—क०, ख०, १०. ताभिः—क० ।

११. धैवतोपेतम्—ख०, घ० ।

प्रासादिकं स्थितञ्चैव नैष्क्रामं सम्प्रवेशनम्[1] ।
प्रमाणमपि[2] कर्तव्यं चतुःस्थान-समन्वितम् ॥ ४४९ ॥

इनका प्रमाण चार स्थानों से युक्त होता है । ये चार स्थान हैं—प्रासादिकी, स्थिता, नैष्क्रामिकी तथा प्रावेशिकी ॥ ४४९ ॥

प्रायशः संस्कृतं योज्यमनुष्टुप्छन्दसा कृतम् ।
नानादैवतकार्येषु[3] ह्यन्तरायं[4] बिना तथा ॥ ४५० ॥

देवताओं के अनेक पौरुष कार्यों को बिना किसी अपवाद के (या अन्तरा ध्रुवा के) अनुष्टप् छन्द में तथा प्रायः संस्कृत भाषा के गीतों में आबद्ध किया जाए ॥ ४५० ॥

वक्त्रञ्चापरवक्त्रञ्च[5] माला चेति प्रवेशजम् ।
पुटञ्च चूलिका चैव[6] नैष्क्रामिकीमथेष्यते[7] ॥ ४५१ ॥
प्रासादिक्युद्गतावृत्तं[8] स्थितं चानुष्टुबिष्यते[9] ।
स्थानान्येतानि योज्यानि[10] प्रमाणविबुधैरथ[11] ॥ ४५२ ॥

माला, वक्त्र तथा अपरवक्त्र जैसे छन्द प्रावेशिकी ध्रुवा के तथा पुट और चूलिका जैसे छन्द नैष्क्रामिकी ध्रुवा के उपयुक्त हैं । उद्‌गता-छन्द प्रासादिकी ध्रुवा के तथा अनुष्टुप् छन्द स्थिता ध्रुवा के उपयुक्त होता है । प्रमाण में निपुण शास्त्रवेत्ता को इन स्थानों की नाट्य-प्रयोग में (इन्हीं) नियमानुसार योजना करनी चाहिए ॥ ४५१–४५२ ॥

यदनुष्टुप्कृतं गानं स्थितस्थानसमाश्रयम् ।
शापभ्रंशाश्रयकृतं[12] चिन्तादुःखसमन्वितम् ॥ ४५३ ॥

---

१. सम्प्रवेशजम्—ख०; सनिष्क्रामप्रवेशनम्—क (ब०) ।
२. प्रमाणं परिकर्तव्यं—ग० ।
३. कार्यन्तु—ख० ।
४. ह्यन्तरा या विना तथा—क० । ५. विष्कम्भा—ख० ।
६. नैष्क्रामिक—क० । ७. मपीष्यते—ग० ।
८. क्युद्‌गता वृत्तिः—क० ।
९. भीष्यते—क० ।
१०. बोध्यानि-ख०; कार्याणि—क (ब०) ।
११. प्रमाणस्य बुधैरथ—क० ।
१२. स्वप्नभ्रंशा—क०, स्वर्गभ्रान्त्याश्रय—ख० ।

गुरुप्रायाक्षरकृतं 'करुणस्वरजातिकम्[2] ।
प्रकृष्टवर्णबहुलं[3] स्थितस्थानं तु[4] तद्भवेत् ॥ ४५४ ॥

अनुष्टुप् वृत्त में जो गान (गीत) हो उसकी लय स्थित या विलम्बित हो तथा जो शाप के कारण या पतन होने की दशा से सम्बद्ध हो या किसी चिन्ता या दुःख से कष्ट पाने की दशा का जिसमें वर्णन हो;जो गुरु वर्णों की रचना से युक्त हो, जिसमें करुण भाव को व्यक्त करने वाली जाति के स्वर हो तथा जिसके वर्ण दूर तक कृष्ट किये गये हों (अर्थात् दूर तक खींचे जाने की क्षमता वाले) हों तो उसे 'स्थित-स्थान' कहते हैं ॥ ४५३-४५४ ॥

उन्मादनार्थं[5] नृणान्तु तथा[6] विहरणेष्वपि ।
दिव्यान्वयानां[7] कर्त्तव्यं स्थानमानुष्टुभाश्रयम् ॥ ४५५ ॥

मानवों के उन्माद तथा (विविध स्थानों में) विहार की स्थिति में दिव्यपात्रों से आश्रित अनुष्टुप् छन्द में गीतों को रखा जाए ॥ ४५४ ॥

मानुषेष्ववतीर्णस्य[8] दिव्यस्य स्मरणाश्रयम् ।
प्रमाणगानं[9] कर्तव्यं दिव्यभावसमन्वितम्[10] ॥ ४५६ ॥

दिव्य पुरुष के मनुष्य जाति में जन्म लेने या अपने दिव्यभाव के स्मरण आ जाने की दशा में दिव्य भाव को व्यक्त करने वाले तदाश्रित उचित गान को शास्त्रप्रमाण के अनुसार रखा जाए ॥ ४४६ ॥

तस्यैव[11] दुःखविषयं शोकचिन्ताविनाशजम्[12] ।
प्रमाणगानं कर्तव्यं शोकावस्थान्तराश्रयम्[13] ॥ ४५७ ॥

१. करुणश्रुति—क०; करुणाश्रुति—ख० । २. जातिजम्—ग० ।
३. अभ्रष्ट–ख०; अवकृष्ट—क० (य) । ४. भवेत्तु तत्—ग० ।
५. उत्पादनार्थं—क० ।
६. तथापहरणेषु च–ग०; कालापहरणेषु च—क० (ब) ।
७. दिव्यान्वयं तु कर्त्तव्यं गानं पात्रसमाश्रयम्—क०, ख० ।
८. ष्ववतीर्णेषु मर्त्यस्य—क० ।
९. प्रायेण गानं कर्त्तव्यं दिव्यस्य स्मरणाश्रयम्—क० ।
१०. दिव्येष्वेवं प्रयोक्तृभिः—ग० । ११. अस्यैव—क० ।
१२. शोकसन्तापनाशनम्—ग०; शोकचिन्ताविनाशनम्—ख० ।
१३. शोकावस्थाक्षयाश्रयम्—ग० ।

अतः पर क—पुस्तके 'नरान्वयेन कर्त्तव्यं गानं मानुषकादिषु ।' इति पद्यार्धमधिकम् ।

और इन्ही पूर्व वर्णित पात्रों के दुःख से सम्बद्ध, शोक, चिन्ता और विनाश के उत्पन्न होने या शोक-अवस्था का आश्रय लेने पर होनेवाले भाव की दशा में इन्हें विहित प्रमाणानुसार रखा जाए ॥ ४५७ ॥

ध्रुवाविधान के लिये उपयुक्त अवसर—

ध्रुवाणां हि विधानस्य[1] ह्याश्रयस्य विशेषतः[2] ।
यथा[3] प्रयोगः कर्त्तव्यस्तच्च मे सन्निबोधत ॥ ४५८ ॥

ध्रुवाओं के विधान तथा विशेषतः ध्रुवाओं के आश्रित प्रयोग (की विधि) को अब मैं बतलाता हूँ । आप उसे सुनिये ॥ ४५८ ॥

स्थापिते भाण्डविन्यासे त्रिसाम्नि परिकीर्तिते[4] ।
आश्रावणाद्यं[5] कर्त्तव्यं बहिर्गीतप्रयोगकम् ॥ ४५९ ॥

जब क्रमपूर्वक भाण्डवाद्यों का स्थापन हो जाए और त्रिसाम का (कथन या) पाठ हो चुकने पर बहिर्गीत में विद्यमान आश्रावणा आदि को प्रयुक्त (प्रस्तुत) किया जाए[1] ॥ ४५९ ॥

प्रयुज्य च बहिर्गीतं पूर्वरङ्गं प्रयोजयेत् ।
पूर्वरङ्गे[6] प्रवृत्ते तु नाट्यद्वारं[7] समाश्रयेत् ॥ ४६० ॥

फिर बहिर्गीत को प्रस्तुत करने के बाद पूर्वरङ्ग का प्रयोग करे और पूर्वरङ्ग[2] के विधिवत् सम्पन्न करने के उपरान्त रंगद्वार (नाट्यद्वार) को प्रस्तुत करे (या प्रयुक्त करे) ॥ ४६० ॥

ध्रुवा तत्र प्रकर्तव्या[8] प्रकृतीनां प्रवेशजा ।
गत्याश्रयेण नाट्यज्ञैर्गानस्य[9] परिवर्तनम् ॥ ४६१ ॥

---

१. इनका वर्णन आदि पूर्व में ना० शा० ५।१८ तथा ५।३०-३१ पर हो चुका है । (द्रष्ट—ना० शा० भाग १, चौखम्बा)

२. पूर्वरङ्ग तथा उसके विभेद आदि को ना० शा० अध्याय ५ (ना० शा० भाग १ चौखम्बा) पर देखना चाहिए ।

---

१. विधानस्यान्याश्रयस्य—ख० । २. विभागशः—ग० ।

३. तथा—ख० । ४. सम्प्रकीर्तिते—ग० ।

५. आश्रावणकं—ख०, घ०, आश्रावणाद्यत् कर्त्तव्यं बहिर्गीतं प्रयोजयेत्—ग० । ६. प्रयुक्ते पूर्वरङ्गे तु-ख०; पूर्वरङ्गप्रवृत्तेषु—ग० ।

७. नाट्याचार्यंसमाश्रये—क०; नाट्यागारं समाश्रयेत्—ख०; नाट्यद्वारं प्रयोजयेत्—ग० । ८. प्रयोक्तव्या—क० ।

९. पादैरनुगतैस्तथा-क०; पदैरनु-ख०; गानस्य परिवर्तना—क० (ब) ।

तब पात्रों के प्रवेश से सम्बद्ध ऐसी प्रावेशिकी ध्रुवा का गान किया जाए जो उनकी गति और परिवर्त की भी सूचना देती हो ॥ ४६१ ॥

परिक्रमेण[1] रङ्गस्य गानेनार्थवशेन[2] वा ।
परिवर्ताः प्रयोक्तव्याः षडेव[3] तु बुधैरथ ॥ ४६२ ॥

रङ्गमञ्च पर रखे गये पादनिक्षेप (या डग) को भरते समय या किसी अन्य आवश्यक उद्देश्य के कारण जब ध्रुवा गान रखा गया हो तो वहाँ बुधजन छः परिवर्तों को प्रस्तुक्त करें ॥ ४६२ ॥

ध्रुवास्तत्र प्रकर्तव्याः देवताभिर्यथाबुधैः[4] ।
तत्र पाताः प्रयोक्तव्या[5] एकविंशतिरेव च ॥ ४६३ ॥
त्र्यस्रा वा चतुरस्रा वा ध्रुवा नाट्ये[6] प्रयोगतः ।
त्रिकलं पादपतनं[7] त्र्यस्रायां च विधीयते ॥ ४६४ ॥
चतुष्कलन्तु पतनं चतुरस्रागतं[8] भवेत् ।

इस समय की जाने वाली ध्रुवाएँ भी देव पात्रों जैसे की दशा में की जाने वाली ध्रुवाओं के समान रहें तथा यहाँ इक्कीस पात भी हों; (प्रस्तुत किये जाने वाले) नाट्य के प्रयोगानुसार त्र्यस्र या चतुरस्र प्रकार की ध्रुवा रखी जाए। त्र्यस्र ध्रुवा की स्थिति में पादपात तीन कलाओं के (प्रमाण में) और चतुरस्रा ध्रुवा के होने पर पादपात चार कलाओं के प्रमाण वाले रखे जाएँ ॥ ४६३-४६५ ॥

उत्तमे चतुरस्रा तु त्र्यस्रा चैव तु मध्यमे ॥ ४६५ ॥
खञ्जं[9] नर्कुटकञ्चैव ह्यधमे च प्रयोजयेत् ।
विधिः स्वस्थगतो[10] ह्येष[11] भवेच्चरणपातने ।
सम्भ्रमोत्पातरोषेषु कलार्धकलमिष्यते ॥ ४६६ ॥

---

१. परिक्रमात्तु—ग० । २. तथैवार्थ—ग० ।
३. पादैरनुगतैरथ—क०; षडेव तु तथा बुधैः—ख० ।
४. देवताभिर्युता—क० । ५. प्रकर्त्तव्या—ख० ।
६. नाट्यैः—ख०; नाट्यप्रयोक्तृभिः—ग० ।
७. पतने—ख० ।
८. चतुरस्रागतं—ख०, चतुरस्रा गतिः—ग० ।
९. त्र्यस्रं नर्कुटञ्चैव—क०, ख० । १०. त्वर्थगतो—क (ब) ।
११. योऽत्र —ख० ।

उत्तम पात्रों की दशा में चतुरस्रा ध्रुवा का, मध्यम पात्रों की दशा में त्र्यस्रा ध्रुवा का और अधम पात्रों की दशा में खंजक और नत्कुटक को प्रयुक्त किया जाए। चरणों के पात या रखने की स्वाभाविक विधि यही है– परन्तु सम्भ्रम, उत्पात या क्रोध की स्थिति में चरणपात एक कला के प्रमाण वाला रखना चाहिये। सामान्यतः यह पाद-विन्यास तीन, दो, एक या चार कलाओं का होता है ॥ ४६५-४६६ ॥

त्रिकलद्विकलैककलाश्चतुष्कलाः[1] यत्र[2] पादविन्यासाः।
तत्र च साम्यं कार्यं भाण्डेन समञ्च[3] गानेन ॥ ४६७ ॥
न ह्येककला द्विकला ध्रुवाविरामा भवन्ति नाट्यविधौ।
तस्मात्[5] साम्यं कार्यं भाण्डेन समञ्च[6] गानेन ॥ ४६८ ॥

इस समय नृत्य के साथ बजने वाले वाद्यों की संगति रखनी चाहिए (अर्थात् वाद्य के अनुसार सुस्पष्ट ताल मात्रा आदि को देखते हुए पाद-विन्यास होना चाहिए) तथा गीत के साथ (भी) पादविन्यास चलते रहना चाहिए। क्योंकि नृत्यकाल में या नाट्यविधि में ध्रुवा में एक या दो कलाओं के प्रमाण वाले विराम नहीं रहते, इसी कारण नृत्य के साथ वाद्य की संगति रखी जाती है तथा गीत की भी ॥ ४६७-४६८ ॥

ये[7] पूर्वोक्ता भावाः स्थिताश्रया[8] वा द्रुताश्रया वापि।
तेषु पादनिपातं[9] ज्ञात्वा साम्यं[10] बुधैः कार्यम् ॥ ४६९ ॥

पूर्व में जिन भावों को बतलाया है उन भावों की (प्रदर्शन की) दशा में पादविन्यास या पादनिपात जो या तो विलम्बित या द्रुतलय पर आश्रित रहते हैं—तो उनकी संगति वाद्यवादन के साथ (प्रमाणानुसार कला, ताल आदि से युक्त) रखी जाए ॥ ४६९ ॥

[11]अपटीक्षेपकृताश्चात्यधिकहर्ष[12] शोकरोषाद्याः।

---

१. त्रिकलाः द्विकलैक—ग०। २. श्चैव—ग०।
३. समं न—ख०, ग०। ४. गानविधौ—क०, ख०।
५. तत्र च—ग०, घ०। ६ समं न—ख०, ग०, घ०।
७. पूर्वोक्ता भावस्थिताश्रया—ग०। ८. समाश्रया—क० (क)।
९. पात—क०, ग०। १०. सम्यक्—क०:
११. अपराक्षेपकृता चेदात्ययिकी हर्षरागशोकाद्याः–क०; अपराक्षेपकृता-दत्यधिका हर्ष—ग०।
१२. हर्षशोकरोषाद्यैः—क (ब०) हर्षशोकान् यः—क (च)।

तत्र[1] परिच्छेदसमाः कार्यास्तज्ज्ञैः प्रवेशे तु[2] ॥ ४७० ॥

यदि अतिशय हर्ष, रोष या शोक के कारण कोई पात्र शीघ्रता से पर्दे को उठा कर मञ्च पर प्रवेश करे तो इस प्रवेशकाल में इस पात्र के पाद-विन्यास निर्धारित विभाग के साथ (या विभागानुसार प्रमाण-युक्त करते हुए) रखे जाए ॥ ४७० ॥

ग्रह की विधि—

एवमेते बुधैर्ज्ञेयाः प्रयोगे परिवर्तकाः[3] ।
अतः परं[4] प्रवक्ष्यामि भाण्डग्रहविकल्पनम्[5] ॥ ४७१ ॥

(किसी) नाट्य प्रयोग में परिवर्त या पादविन्यास की यही विधि होती है। अब मैं वाद्यों से सम्बद्ध ग्रहों[1] का वर्णन करूँगा ॥ ४७१ ॥

अभाण्डमेकं[6] गानस्य परिवर्तं प्रयोजयेत् ।
चतुर्थे[7] परिवर्ते तु तस्य भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ४७२ ॥

गीत के आरम्भ में बिना वादन के एक परिवर्त किया जाए तथा उसके बाद चतुर्थ परिवर्त में वाद्यों का 'ग्रह' रखना चाहिए ॥ ४७२ ॥

सन्निपातग्रहाः[8] काश्चित् काश्चिद्वै तर्जनीग्रहाः ।
तथाकाशग्रहाः[9] काश्चित् ध्रुवागाने[10] भवन्ति हि ॥ ४७३ ॥

ध्रुवा गीतों में (किसी समय) कोई वादन क्रिया सन्निपातग्रहा, कभी तर्जनीग्रहा और कभी आकाशग्रहा होती है ॥ ४७३ ॥

ध्रुवायास्तु ग्रहो[11] यस्मात् कलाताललयान्वितः[12] ।
स तु भाण्डेन कर्त्तव्यस्तज्ज्ञैर्गतिपरिक्रमे[13] ॥ ४७४ ॥

---

१. 'ग्रह' अर्थात् गीत के साथ वादन का सकृत् प्रारंभ या प्रस्तुतीकरण के समय का अंश जो बाद में आवृत्त किया जाता है।

---

१. विच्छेदस्तत्र समः कार्यस्तज्ज्ञैः–क०; तत्र परिच्छेदसमः—ख०, ग० ।
२. प्रदेशस्तु—ख० । ३. परिकीर्तिताः—ग० ।
४. ऊर्ध्वं—ख० ।
५. ग्रहभाण्डसमाश्रयम्—ख०; ग्रहान् भाण्डसमाश्रयान्—ग०, घ० ।
६. मेव—क० । ७. यच्चतुर्थे सन्निपाते—ग० ।
८. ग्रहः कश्चिद् कश्चिद्वै तर्जनीग्रहः—ग० । ९. ग्रहः कश्चित्—ग० ।
१०. ध्रुवागाने—ग० । ११. ग्रहा—ग० ।
१२. लयान्विताः—ग० । १३. योक्तव्य—क० ।

क्योंकि ध्रुवा में ग्रह को गति, ताल और लय से युक्त रखा जाता है अतः इसे वाद्यों के साथ शरीरगतियों और परिक्रमों (चलने आदि के विशिष्ट प्रकारों) में ठीक से नियोजित करते हुए रखना चाहिये ॥ ४७४ ॥

शीर्षकस्योद्धतायाश्च[1] प्रदेशिन्या ग्रहो भवेत् ।
विलम्बिताड्डितायाश्च[2] सन्निपाते तृतीयके ॥ ४७५ ॥

ध्रुवाओं के उद्धता प्रकार में रहने वाले शीर्षक में प्रदेशिनी अंगुली के द्वारा ग्रह किया जाए और ध्रुवाओं के विलम्बिता प्रकारों की अड्डिता में तृतीयसन्निपात से या अनामिका अंगुली के द्वारा ग्रह किया जाए ॥ ४७५ ॥

नत्कुटस्याड्डितायाश्च[3] प्रासादिक्यास्तथैव च ।
सन्निपातग्रहः[4] कार्यः द्रुतायाश्चोर्ध्वजो[5] ग्रहः ॥ ४७६ ॥
नैष्क्रामिक्यतुबन्धानां[6] ग्रहो भाण्डसमो[7] भवेत् ।
न[8] तेषां परिवर्तस्तु कार्यो गाने[9] प्रयोक्तृभिः ॥ ४७७ ॥

नत्कुटक, अड्डिता और प्रासादिकी ध्रुवाओं में सन्निपातग्रह होता है और द्रुता ध्रुवाओं में आकाशग्रह होगा, नैष्कामिकी और अनुबन्धा ध्रुवाओं में वाद्यों के साथ ग्रह रखा जाता है। प्रयोक्ताजन को गीतों के लिये (इसमें) कोई दुहराये जाने की क्रिया (परिवर्त) नहीं रखनी चाहिए ॥ ४७६-४७७ ॥

नत्कुटस्य[10] तु चत्वारो ग्रहाः कार्याः प्रयोक्तृभिः ।
सन्निपातश्च शम्या च तालश्चाकाशजस्तथा[11] ॥ ४७८ ॥

नत्कुटक ध्रुवाओं में चार ग्रह होते हैं। यथा—सन्निपात, शम्या, ताल और आकाशज ग्रह ॥ ४७८ ॥

---

१. शीर्षकोद्धतयोश्चैव-क०; शीर्षकश्चोद्धतायाश्च—ख०; शीर्षकं चोद्धता या च—क (ब) ।
२. विलम्बितास्थितायोगे—क०, ख० ।
३. तायाश्च—क० । ४. सन्निपाते ग्रहः—ग० ।
५. श्चोच्चके—क०; श्चोद्धतो—ग० । ६. क्यानुबद्धानां—ख० ।
७. गानसमो—क०, ख० ।
८. नत्वसौ—क०; एतेषां—ख० ।
९. गानप्रयोक्तृभिः—ग० । १०. नर्कुटस्यापि—क० ।
११. श्चाकाशगस्तथा—ग० ।

सम्भ्रमावेगहर्षेषु प्रवेशा ये भवन्ति हि।
ग्रहो गानसमस्तत्र[1] सोद्धात्यः[2] सम्प्रकीर्तितः ॥ ४७९ ॥

किसी पात्र के सम्भ्रम, आवेग तथा हर्ष की दशा में रङ्गमञ्च पर प्रवेश करने पर गीत के साथ ग्रह रखा जाता है और ऐसा ग्रह 'उद्धात्य' कहलाता है ॥ ४७९ ॥

भूषणवासःपतने वैकल्ये विस्मृते[3] परिश्रान्ते।
दोषाच्छादनहेतोरुद्धात्यः[4] सम्प्रयोज्यस्तु ॥ ४८० ॥

भूषणों के गिरने, वस्त्रों के या अन्य किसी वस्तु के गिरने, चित्त के अव्यवस्थित होने, स्मृति नाश हो जाने, थक जाने और सामान्यतः अपने दोषों को छिपाने के कारण प्रस्तुत करने की दशा में अन्तराध्रुवा में उद्धात्य को रखा जाता है ॥ ४८० ॥

गीतों की योजना—

एवं प्रयोक्तृभिः कार्यं ध्रुवाणां सन्निवेशनम्[5]।
यथास्थानाश्रयोपेतं नृत्तनाट्यप्रयोगजम्[6] ॥ ४८१ ॥

इसी विधि एवं प्रमाण के अनुसार नाट्यप्रयोक्ता जन (इन) ध्रुवाओं को उचित स्थान और आश्रय से युक्त करते हुए नृत्य और नाट्य प्रयोग में संयोजित करें ॥ ४८१ ॥

यथा वर्णादृते चित्रं शोभते न निवेशनम्[7]।
एवमेव[8] विना गानं[9] नाट्यं रागं न गच्छति ॥ ४८२ ॥

जैसे कोई भवन उचित प्रकार से निर्मित होने पर भी रंगने के या चित्रकारी के बिना शोभा नहीं देता उसी प्रकार (कोई) नाट्य-प्रयोग भी बिना गीतों के प्रेक्षकों का मनोरंजन नहीं कर सकता ॥ ४८२ ॥

---

१. समानस्तदुपान्त्यं सम्प्रकीर्तितम्—ख० । २. उद्घात्यः—ग० ।
३. वैकल्पे विस्तृते—ग० ।
४. रुद्धात्योरन्तरायास्तु-ग०; रुद्घात्याऽन्तरा वास्तु—घ० ।
५. सम्प्रवेशनम्—क० ।
६. यथानृत्तकृतं यथा—क०; यथावृत्तकृतं तथा—ग० ।
७. न शोभोत्पादनं भवेत्—क०, न शोभाजननं भवेत्—ख०; चक्रं शोभते न—ग० । ८. एवमेनं—ग० ।
९. गीतं नाट्यं रङ्गं—ख० ।

पूर्वरङ्गविधाने[1] तु कर्तव्यो गानजो[2] विधिः ।
देवपूजाधिकारश्च[3] तत्र[4] सम्परिकीर्तितः ॥ ४८३ ॥

पूर्व-रङ्ग के विधान के अवसर पर प्रयुक्त होने वाले गीतों की विधि बतलायी जा चुकी है और वहीं देवताओं की पूजन विधि भी बतलायी जा चुकी है[1] ॥ ४८३ ॥

ततश्च काव्यबन्धेषु नानाभावसमाश्रयम् ।
ग्रामद्वयञ्च[5] कर्त्तव्यं तथा[6] साधारणाश्रयम् ॥ ४८४ ॥

इसलिये अनेक भावों को प्रकट करने वाले दो[2] ग्रामों को—जिसमें साधारण स्वरों की योजना नाट्यरचनाओं में हो—नियोजित किया जाए ॥

मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे स्मृतः[7] ।
साधारितं[8] तथा गर्भे विमर्शे[9] चैव पञ्चमम् ॥ ४८५ ॥
कैशिकञ्च तथा कार्यं गानं निर्वहणे बुधैः ।
सन्निवृत्ताश्रयञ्चैव[10] रसभावसमन्वितम्[11] ॥ ४८६ ॥

नाटक की मुख-सन्धि में मध्यम ग्राम में गीतों को रखा जाए, प्रतिमुख में षड्ज ग्राम में, गर्भसन्धि में साधारित, विमर्श में पञ्चम तथा निर्वहण में कैशिक रखना चाहिये । ये गीत सन्धि और छन्द का आश्रय लेकर होते हैं जिन्हें उपयुक्त रस और भावों से युक्त रखा जाता है ॥ ४८५-४८६ ॥

यथारसकृता[12] याः[13] स्युर्ध्रुवाः प्रकरणाश्रयाः ।
नक्षत्राणीव गगनं नाट्यमुद्द्योतयन्ति ताः ॥ ४८७ ॥

---

१. द्रष्टव्य ना० शा० अध्या० ५.६०–६३ (ना० शा० भाग १ चौखम्बा)
२. ग्रामो का विवरण ना० शा० अ० २८--३५ पर दिया जा चुका है

---

१. पूर्वरङ्गविधानेन—ख० । २. रागजो—क०; षाडवो—क (ब) ।
३. धिकास्तु—क०, थ० । ४. स च पूर्वः प्रकीर्तितः—ख० ।
५. द्वयं तु—क०; द्वयं न—ग० ।
६. यथा—क०; यथास्थानरसान्वितम्—क० (ब०) ।
७. भवेत्—ख० । ८. साधारितस्तथा—क० ।
९. गर्भेऽमर्शे कैशिकमध्यमः—ग० ।
१०. एवं सन्धिषु कर्त्तव्यं —क० (ब); सन्धिवृत्ताश्रयश्चैव—ग० ।
११. समन्वितः—ग० । १२. तथा—क०, ख० ।
१३. नित्यं ध्रुवाः प्रकरणाश्रिताः—क०, ख० ।

यदि सम्बद्ध विषय (या सन्दर्भ) का आश्रय लेकर उपयुक्त अवस्था और रसों की शोभा बढ़ती है उसी प्रकार ये ध्रुवाएँ नाट्य प्रयोग की शोभा बढ़ा देती हैं ॥ ४८७ ॥

मागधी[1] प्रथमा गीतिस्तथा चैवार्धमागधी[2]।
सम्भाविता तृतीया स्यात् पृथुला च तथा परा ॥ ४८८ ॥

मागधी प्रथम-गीति, अर्धमागधी दूसरी, सम्भाविता तीसरी और पृथुला चौथी गीति कहलाती है[1] ॥ ४८८ ॥

विनिवृत्त्या[3] पदानान्तु मागधी समुदाहृता।
चित्रेऽर्धमागधी चैव द्विर्निर्वृत्तपदाश्रया[4] ॥ ४८९ ॥

(विभिन्न लयों में) पदों की (एक) आवृत्ति से मागधी जानी जाती है और यह चित्र-मार्ग में रखी जाती है। इसी प्रकार पदों का सहारा लेकर दो बार आवृत्ति से अर्धमागधी जानी जाती है ॥ ४८९ ॥

वृत्तौ सम्भाविता प्रायो गुर्वक्षरसमन्विता[5]।
पृथुला[6] दक्षिणे तु स्यात् लघुवाद्याक्षरान्विता ॥ ४९० ॥

प्रायः गुरु अक्षरों से आश्रित सम्भाविता को वृत्ति या वार्तिक मार्ग में रखा जाता है और वाद्यवादन में लघु अक्षरों से युक्त जो पृथुला होती है उसे दक्षिण मार्ग में रखा जाता है ॥ ४९० ॥

गानयोगे चतस्रस्तु योज्याः सर्वत्र गायनैः।
यथाक्षरकृता ह्येताः प्रयुज्यन्ते[8] ध्रुवास्वपि ॥ ४९१ ॥

गायकों के द्वारा इन चार गीतियों की सर्वत्र योजना की जाए और समुचित या प्रमाणानुसार अक्षरों से निर्मित इन गीतियों की ध्रुवाओं में भी योजना की जा सकती है ॥ ४९१ ॥

---

१. मागधी आदि का ना० शा० अध्याय २९ पर पूर्व में वर्णन दिया जा चुका है।

---

१. ग० —पुस्तके मागधीत्यादि पद्यमारभ्य ध्रुवास्वपीत्यन्तं पद्यचतुष्टयं नास्ति।
२. बोध्वं (?) मागधी—ख०। ३. त्रिर्निवृत्त्या—ख०।
४. द्विनिवृत्त—क० : ५. लघुवाद्याक्षरान्विता—क०, ख०।
६. पृथुलायां दक्षिणा च—घ०।
७. गुरुवाद्या—क०। ८. प्रयोज्यास्ते [ज्यन्ते]—क०।

पूर्णस्वरं वाद्यविचित्रवर्णं[1]
त्रिस्थानशोभि[2] त्रियतं[3] त्रिमार्गम्[4] ।
रक्तं समं श्लक्ष्णमलङ्कृतञ्च
सुखप्रयुक्तं[5] मधुरञ्च [6]गानम् ॥ ४९२ ॥

जिसमें सभी स्वर समाविष्ट रहें, वर्णों को वाद्यों की संगति या सहकार से सुन्दर बनाया गया हो, तीन स्थानों में सम्बद्ध हो, तीन यति और तीनों मार्गों से युक्त हो, आनन्द या रंजन प्रदान करता हो; जो सम और ललित गुणशाली हो, अलंकारों से युक्त हो, सुख पूर्वक जिसका प्रयोग किया जा सकता हो और जो मीठापन लिये हो तो उसे 'गान' कहा जाता है ॥ ४९२ ॥

गीते प्रयत्नः [7]प्रथमस्तु कार्यः
शय्यां[8] हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम्[9] ।
गीतेऽपि वाद्येऽपि च सुप्रयुक्ते[10]
नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति ॥ ४९३ ॥

(इसलिये) सर्वप्रथम गीतों पर अधिक ध्यान देना या प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि शय्याभूत गीत ही नाट्य का आधार या विश्राम-स्थल होता है। गायन और वाद्यों का ठीक प्रकार से प्रयोग करने पर नाट्य-प्रदर्शन को किसी प्रकार की आशंका या संकट का सामना नहीं करना पड़ता है[1] ॥४९३॥

एतदुक्तं मया सम्यग् ध्रुवाणां लक्षणं महत् ।
अत ऊर्ध्वं[11] प्रवक्ष्यामि गातृवादकयोर्गुणान् ॥ ४९४ ॥

---

१. नाट्यशास्त्र का यह विवरण अति महत्वपूर्ण है। नाटकादि के बिना पद्यों के व्यवस्थित स्वरूप जमना मुश्किल ही है यह पर्याप्त अनुभव के बाद दिया गया सिद्धान्त है।

---

१. चाथ—क०; तत्र विलम्बिवर्णं—ग०। २. गामि–ख०; शोभं–ग०।
३. त्रिलयं—क०; त्रितयं—ख०। ४. तिमात्रम्—ग०।
५. सुखं प्रशस्तं—क०; ख०; सुखं प्रसन्नं—क (ब०)।
६. वाद्यम्—क०। ७. प्रथमं तु—ख०, ग०।
८. शय्या हि—ग०, शम्यादि नाट्यस्य परं त्रिगीतम्—क० (ब०)।
९. गीतिम्—ख०। १०. सम्प्रयुक्ते—क०; संप्रयुक्तो—ग०।
११. अतः परं—क०। अत्र क० ख० पुस्तकयोर्द्वात्रिंशाध्यायसमाप्तिः। ग० घ० पुस्तकयोरत्र नाध्यायसमाप्तिः।

इस प्रकार मैंने विस्तार से ध्रुवाओं के लक्षण बतलाए। अब मैं गायक और वादक के गुणों (स्वरूप या लक्षणों) को बतलाता हूँ ॥ ४९४ ॥

गायकों तथा वादकों के गुण दोष :—

गुणात् प्रवर्तते ज्ञानं[1] दोषाच्चित्तं[2] निरस्यति ।
तस्माद्यत्नेन विज्ञेयौ गुणदोषौ समासतः ॥ ४९५ ॥

गुणों से ज्ञान में उन्नति होती है और दोष के कारण चित्त गीत गायक से हट जाता है इसलिये (गीतों के गायकों के) गुण और दोष दोनों का ज्ञान प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए ॥ ४९५ ॥

गायक :—

गाता प्रत्यग्रवयाः स्निग्धो[3] मधुरस्वरोपचितकण्ठः ।
लय-ताल-कला-पात[4]प्रमाण-योगेषु तत्त्वज्ञः ॥ ४९६ ॥

गायक की अवस्था युवा होनी चाहिए, उसकी प्रकृति स्नेहमयी और कण्ठ मधुर स्वर से पूर्ण होना चाहिए, उसे लय, ताल, कला विभाग एवं उसके प्रमाण तथा योजना का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए ॥ ४९३ ॥

गायिका :—

रूपगुणकान्ति[5]संस्थान[6]सत्वमाधुर्यसम्पन्ना ।
पेशलमधुरस्निग्धानुना[7]दसमरक्तशुभकण्ठा ॥ ४२७ ॥
सुविहितगमकविधायिन्य[8]क्षोभ्य[9]गीततालल यकुशला ।
आतोद्यार्पितकरणा[10] विज्ञेया गायिका श्यामा[11] ॥ ४९८ ॥

जिस स्त्री का सम्यक् शारीर सौष्ठव हो, जो रूपवती हो, जिसमें कान्ति, स्थिति, सत्व और माधुर्य गुण विद्यमान हों, जिसका कण्ठस्वर कोमल, मधुर,

---

१. गानं—क० । २. दोषाच्चैव निरस्यते—क० ।
३. स्निग्धस्वरमांसलोपचितः—ग० । ४. मानप्रमाण—ग० ।
५. कान्तियुक्ता—क० ।
६. माधुर्योपेतसत्वसम्पन्नाः-क०, ख०, संस्थानधैर्यमाधुर्यसम्पन्नः—ग० ।
७. नुनादिसमरक्तगुरुकण्ठाः—क० ।
८. विधायिन्योऽक्षोभ्य—क० अवसितशरीरमनसो सुनिविष्टोमधुरसञ्चारः-ग०; अपहितशरीरमनसा सुनिविष्टा मधुररसिकसञ्चारः—क (भ०) ।
९. भ्यासगीत···कुशलाः—क० । १०. अन्योन्यार्पित—ग० ।
११. श्यामाः—क० ।

स्नेहपूर्ण, गूंजने वाला, समता और रंजनात्मकता से पूर्ण एवं मंगलकारी हो, जो उचित रूप में गमकों का ध्यान रखती हो, जो (कभी) निराश न रहती हो और गीत, ताल और लय के ज्ञान में कुशलता रखती हो, जो वाद्यवादन के अनुसार शरीर से करणों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत कर सकती हो और जिसकी अवस्था युवा या षोडश वर्षीया (श्यामा) हो तो ऐसी स्त्री (उपयुक्त) 'गायिका' होती है[1] ॥ ४९७-४९८ ॥

वीणावादक :—

सुनिविष्टपाणिलययतिनियोगज्ञौ[1] च सुमधुर लघुहस्तौ ।
गातृगुणैश्चोपेतावहितमनसौ[2] सुसङ्गीतौ ॥ ४९९ ॥
स्फुटरचितचित्रकरणौ जितश्रमौ[3] रक्तकण्ठौ[4] प्रवीणौ ।
चित्रादि-वाद्यकुशलौ वीणाया[5] वादकौ भवतः ॥ ५०० ॥

वीणावादकों को उचित प्रकार से पाणि, लय और यति का शास्त्रीय ज्ञान एवं प्रयोग विधान विदित होना चाहिए, मधुर आवाज को वाद्य से निकालने में जिनके हाथ हलके या दक्ष हों, जिनमें गायक के गुण विद्यमान हो, जिनके चित्त सावधान या एकाग्रता से युक्त हो और जो अन्य वाद्यों के साथ गाने में भी दक्ष हो, जो वाद्यों पर स्पष्टतः करणों को रच सकते हों (निकाल लेते हों) जो परिश्रमी हों और जिनकी आवाज मीठी हो, (वादन में) जिनका अनुभव अधिक हो और जो वाद्यों का वादन चित्र आदि मार्गों में करने में सक्षम हों ॥ ४९९-५०० ॥

वंशीवादक :—

बलवानवहितबुद्धिर्गीतलयज्ञस्तथा सुसङ्गीतः ।
श्रावकमधुरः स्निग्धो दृढानिलो[6] वंशवादी स्यात् ॥ ५०१ ॥

---

१. गायक वादक आदि के लक्षणों की तुलनार्थं द्रष्टव्य संगीत रत्ना० ३।१३-२३ पर

---

१. योगज्ञौ—क०; यतिविशारदोपमितमधरलघुहस्ताः—ग० ।
२. श्चोपेता अवहितमनसो—ग० ।
३. गीतश्रवणाचलौ प्रवीणौ च-क०; गीतं श्रवणौ च तौ प्रवीणौ च-ख० ।
४. रक्तकण्ठवीणौ च—ग० ।
५. वीणाभ्यां-क; वीणायां—क (भ०) ।
६. दृढपाणिवंशवादको ज्ञेयः—क०; ख० ।

बांसुरी वादक बलवान और एकाग्रबुद्धि वाला होना चाहिए, गीत और (उनकी) लय का व्यवस्थित ज्ञान होना चाहिए और उसे दूसरे वाद्यों के साथ (संगीत की) संगत करने में योग्य होना चाहिए। जिसका स्वर सुनने में मधुर और निरन्तर एक जैसा और रञ्जक हो और जिसकी मुँह की सांस दृढ़ता से पूर्ण रहती हो ॥ ५०१ ॥

अविचलितमविच्छिन्नं वर्णालङ्कारबोधकं[1] मधुरम् ।
स्निग्धं दोषावरणं[2] वेणोरेवं[3] स्मृतं वाद्यम् ॥ ५०२ ॥

बंशी का संगीत स्वरविचलित होने वाला या विच्छिन्न होने वाला नहीं होता, वह वर्ण तथा अलंकारों को बतलाने वाला, मधुर, स्निग्ध या रंजक और प्रयोग के दोषों का आच्छादक होना चाहिए ॥ ५०२ ॥

पुरुष और स्त्रियों के गीत और पाठ्य में अन्तर :—

प्रायेण तु स्वभावात् स्त्रीणां गानं नृणाञ्च पाठ्यविधिः ।
स्त्रीणां स्वभावमधुरः कण्ठो नृणां बलित्वञ्च[4] ॥ ५०३ ॥

सामान्यतः स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण स्त्रियों के लिये गीत और पुरुषों के लिए पाठ्य उपयुक्त होता हैं क्योंकि स्त्रियों की आवाज सहज मधुर और पतली होती है और मनुष्यों की बलवान् या मोटी है ॥ ५०३ ॥

यः[5] स्त्रीणां पाठ्यगुणो[6] भवति नृणाञ्च[7] गानमधुरत्वम् ।
ज्ञेयः[8] सोऽलङ्कारो नहि स्वभावो ह्ययं तेषाम् ॥५०४॥

स्त्रियों में पाठ्य गुण और पुरुष के गीत में माधुर्य का होना (एक) अलंकार समझना चाहिए और यह गुण उनके स्वभाव का अंश नहीं है (अर्थात् स्वाभाविक गुण नहीं है) किन्तु अतिरिक्त गुण है[1] ॥ ५०४ ॥

१. यहाँ मुनि ने बड़ा ही उपयोगी एवं अनुभवपूर्ण सिद्धान्त दर्शाया है। बिना कंठमाधुर्य के तथा पतली आवाज के गीत में सहज आकर्षण संभव ही नहीं। अच्छे गीत का गायन जितना स्त्री ही सहज रूप में निभा सकेगी उतना पुरुष से संभव नहीं ।

१. मोदकं—ग० ।
२. दोषविहीनं—क०, ग०; दोषावारणं—ख० ।
३. प्रच्छादकवैणवं वाद्यम्—ग० ।
४. सुललितत्वञ्च—ख०; बलत्वञ्च—ग० ।
५. यत्र स्त्रीणां पाठ्यात्—क० । ६. वाद्यगुणो—ग० ।
७. गुणैर्नराणाञ्च—क० । ८. ज्ञेयोऽलङ्कारोऽसौ—क० ।

यद्यपि पुरुषो नेता गीतविधानञ्च लक्षणोपेतम् ।
माधुर्य-गुणविहीनं शोभाजननं न तद्भवति[1] ॥ ५०५ ॥

यदि पुरुष गीत को गाए और वह गीत लक्षण के या शास्त्रीय विधि के अनुसार (भी) होने पर भी यदि माधुर्यहीन हो तो वह (प्रयोग में) सुन्दरता को नहीं उत्पन्न कर सकता है ॥ ५०५ ॥

एवं स्वभावसिद्धं स्त्रीणां गानं नृणाञ्च पाठ्यविधिः ।
अपरस्परसम्पन्नं कार्यञ्चायासनिष्पन्नम्[2] ॥ ५०६ ॥

परन्तु स्त्रियों के गीत और पुरुषों का पाठ्य सहजरूप में सफलता प्राप्त कर सकता है । और जब ये एक दूसरे के द्वारा नहीं किये जाएँ तो इनका प्रस्तुत करना सरल (हो जाता) है ॥ ५०६ ॥

प्रायेण दानवासुररक्षोरगा विविधचेष्टाः ।
वाक्याश्रिताः प्रयोगे भवन्ति पुरुषाङ्गजनावद्धाः ॥ ५०७ ॥

दानव, असुर, राक्षस, यक्ष और सर्पों के स्त्री और पुरुष पात्रों के रूप में अनेक अभिनय और संवाद (पाठ्य रूप में) आबद्ध हो सकते हैं ॥५०७॥

स्त्रीभिः कार्यः प्रयत्नेन प्रयोगः पुरुषाश्रयः ।
यस्मात् स्वभावोपहितो विलासः स्त्रीकृतो भवेत् ॥५०८॥

और यदि स्त्रियों को पुरुष की भूमिका दी जाए तो परिश्रम-पूर्वक उसे उसका निर्वाह करना चाहिए क्योंकि स्त्रियों में विलासपूर्ण चेष्टाएँ सहज हुआ करती हैं ॥ ५०८ ॥

नित्यं व्यायामयोगैश्च[3] नृणां भवति सौष्ठवम् ।
स्वभावतस्तु मधुरं स्त्रीणामङ्गविचेष्टितम् ॥ ५०९ ॥

प्रतिदिन अभ्यास और श्रम के करने पर ही पुरुष के शरीर में सौष्ठव (या लालित्य) उत्पन्न होता है पर स्त्रियों के अवयवों का हलन चलन या गति सौष्ठव सहज मधुर होता ही है ॥ ५०९ ॥

एवं स्त्रीणान्तु पुरुषैरुपदेष्टव्यमेव च ।
गानं वाद्यञ्च पाठ्यञ्च नानाप्रकृतिसम्भवम् ॥ ५१० ॥

इस तथ्य को देखते हुए पुरुषों के द्वारा स्त्रियों को गीत, वाद्यवादन, पाठ्य (अभिनय) आदि पात्रों से सम्बद्ध कार्यों की शिक्षा दी जानी चाहिए ॥ ५१० ॥

---

१. तद्भाति — ग० । २. वायासनिष्पन्नम — ग० ।
३. योग्याभिः — ख० ।

अवैस्वर्यं भवेत् स्त्रीणां गानवाद्यक्रियास्वपि[1]।
न हि तद्वर्णमाधुर्यं[2] पुरुषेषु भविष्यति ॥ ५११ ॥

स्त्रियों के गीत में तथा वाद्यवादन में थोड़ा बेसुरापन भी हो तो उसे सहा जाना उचित है पर पुरुष के द्वारा किया गया बेसुरापन कर्ण कटु हो जाता है (और वह असह्य होता है) क्योंकि पुरुष में सहज कण्ठ माधुर्य नहीं होता है ॥ ५११ ॥

आचार्य गुण :—

स्मृतिर्मतिश्च[3] मेधा च ऊहापोहस्तथैव च ।
शिष्यनिष्पादनञ्चैव षडाचार्यगुणाः स्मृताः ॥ ५१२ ॥

(संगीत, नृत्य तथा नाट्य के) आचार्य में छः गुण होना चाहिए। जो ये हैं—(१) स्मृति, (२) मति, (३) मेधा, (४-५) शास्त्र का विचारपूर्वक खण्डन-मण्डन तथा (६) शिष्य को शिक्षण देने की क्षमता ॥ ५१२ ॥

शिष्य के गुण :—

मेधा स्मृतिर्गुणाश्लाघा रागः सङ्घर्ष एव च ।
उत्साहश्च षडैवैते शिष्यस्यापि गुणाः स्मृताः ॥ ५१३ ॥

शिष्य में (भी) छः गुण होना चाहिए। वे ये हैं-(१) मेधा, (२) स्मृति, (३) विद्या प्राप्ति में लगन, (४) कार्य करने में श्रद्धा (५) विषय ज्ञान में स्पर्धा का भाव रखना तथा (६) सदा उत्साही बने रहना ॥५१३॥

कण्ठ स्वर गुण—

श्रावकोऽथ[4] घनः[5] स्निग्धो मधुरस्त्ववधानवान्[6] ।
त्रिस्थानशोभीत्येवञ्च षट्[7] कण्ठस्य गुणाः स्मृताः ॥ ५१४ ॥

---

१. क्रियास्वथ—ग० । २. तत्कर्णमाधुर्यं—ग० ।

३. ज्ञानविज्ञानकरणवचनप्रयोगसिद्धिनिष्पादनानि षडाचार्यगुणाः इति-क० ख० । तत्र ज्ञानं शास्त्रावबोधः । तथा च क्रियासम्पादनं विज्ञानम् । कण्ठहस्तगौण्यं करणम् । जितग्रन्थता वचनम् । देशादिसम्पदाराधनं प्रयोग-सिद्धिः । शिष्यस्वभावमविशेष्योपात्तय उपदेशाच्छिष्यनिष्पादनमिति—क० ।

४. श्रावणोऽथ—क० । ५. घनस्निग्धो—ग० ।

६. मधुरो ह्यवधानवान्—क०; मधुरःस्वरधानवान्—ग० ।

७. षट्काङ्गस्य—ख० ।

कण्ठ स्वर के छः गुण होते हैं श्रावक, घन, स्निग्ध, मधुर, अवधानवान् तथा त्रिस्थानशोभिता ॥ ५१४ ॥

दूरात्तु[1] श्रूयते यस्मात्तस्माच्छ्रावक उच्यते ।

श्रावक :—जो स्वर दूर से सुनाई देता हो उसे 'श्रावक' कहते हैं ॥

श्रावकः[2] सुस्वरो यस्तु[3] न विक्षिप्तो घनः स्मृतः ॥ ५१५ ॥

घनः—जो श्रावक सुस्वर होकर बीच में फैला (फटता) न हो तो उसे 'घन' कहते हैं ।

अरूक्षध्वनिसंयुक्तः[4] स्निग्धस्तज्ज्ञैः प्रकीर्तितः ।

स्निग्ध :—जो स्वर दूर तक सुनाई देने पर भी रूखा (कठोर) न हो उसे 'स्निग्ध' समझना चाहिए ।

महास्थाने[5] ऽप्यवैस्वर्यं स वै मधुर उच्यते ॥ ५१६ ॥

मधुर :—जो स्वर अपने परमोच्च स्थान पर चढ़ने पर भी बेसुरापन न लेता हो उसे 'मधुर' समझना चाहिए ।

स्वरेऽधिके च हीने च ह्यविरक्तो ऽवधानवान्[6] ।

अवधानवान :—जिसमें स्वरगत आधिक्य या हीनत्व की दशा में गिराव न हो उसे 'अवधानवान' समझो ।

शिरः कण्ठेष्वभिहतं[7] तत्स्थानमधुरस्वरैः ॥ ५१७ ॥
त्रिस्थानेऽपि हि माधुर्यं यस्य नित्यं विधीयते ।
त्रिस्थानशोभीत्येवन्तु स[8] हि तज्ज्ञैः प्रकीर्तितः[9] ॥ ५१८ ॥

त्रिस्थानशोभी :—जो स्वर मूर्धा, कण्ठ तथा वक्षःस्थल से उद्भुत होकर तार, मन्द्र और मध्यस्थान से सम्बद्ध होकर शोभित हो और तीनों स्थानों पर जिसमें माधुर्य सदा विद्यमान रहता हो तो उसे 'त्रिस्थानशोभी' समझना चाहिए ॥ ५१५–५१८ ॥

---

१. उदात्तं—क०; हृदात्तं (?)—ख० , २. श्रावणः मुखरो—क० ।
३. यस्मादच्छिन्नः स घनो मतः—क०; यस्मादच्छिद्रः स—ख० ।
४. सुश्राव सत्वपुरुषस्निग्ध—ग०, सुश्रवः सत्वपरुषः स्निग्धः—घ० ।
५. मनःप्रल्हादनकरः—क०, ख० । अत्र 'त्रिस्थानेऽपि हि माधुर्यं यस्य नित्यं विधीयते' इति पद्यार्धमधिकम्-ग—पुस्तके ।
६. विधानवान्—क०, ख० । ७. हतस्त्रिस्थानमधुरः स्वरः—क० ख० ।
८. स कण्ठो मधुरः स्मृतः—ग० । ९. तज्ज्ञैरुदाहृतः—क० ।

गायक के दोष :—

कपिलोऽनवस्थितश्चैव[1] तथा सन्दष्ट एव च।
काकी च तुम्बकी चैव पञ्च दोषा भवन्ति हि ॥ ५१९ ॥

गायक में पाँच (स्वरगत) दोष होते हैं—(१) कपिल, (२) अनवस्थित, (३) काकी, (४) तुम्बी तथा (५) सन्दष्टक ॥ ५१९ ॥

वैस्वर्यञ्च भवेद्यत्र तथा स्याद्[2] घर्घरायितम्।
कपिलः[3] स तु विज्ञेयः श्लेष्मकण्ठस्तथैव च ॥ ५२० ॥

कपिल :—जब स्वर में अस्वाभाविता और खरखराहट रहे या कफ के दोष से युक्त गले से जो स्वर निकलते हों उसे 'कपिल'[1] समझना चाहिये ॥

ऊनताधिकता वापि स्वराणां यत्र दृश्यते।
कृशत्वदोषतश्चैव[4] ज्ञेयः स त्वनवस्थितः ॥ ५२१ ॥

अनवस्थित :—स्वर में शरीर की कृशता के कारण कमी या आधिक्य दिखलाई दे या बड़ी कृश आवाज हो जाए तो उसे 'अनवस्थित' समझना चाहिये ॥ ५२१ ॥

दन्तप्रयोगात्[5] सन्दष्टस्त्वाचार्यैः परिकीर्तितः।

सन्दष्टक :—यदि दाँतों को दबाकर (अस्वाभाविक रूप में) गाया जाए तो आचार्य गण इसे 'सन्दष्टक' कहते हैं ॥

यो न निस्तरति[6] स्थाने स्वरमुच्चारणागतम् ॥ ५२२ ॥
तथा[7] रूक्षस्वरश्चैव स काकीत्यभिसंज्ञितः।

काकी :—जो स्वर अपने उच्चारण-स्थान को उचित रूप में स्पर्श करते हुये न निकलता हो और जो कठोर या रूखा रहता हो तो उसे 'काकी' कहते हैं ॥ ५२२ ॥

---

१. यहाँ 'कपिल' के शब्द स्थान पर कुछ विद्वानों का सुझाव है कि इसे 'कफल' समझना ठीक है।

---

१. कपिलोऽप्यवस्थितः काकी तुम्बी सन्दष्टकस्तथा। समासतस्त्वमी पञ्च कण्ठदोषा भवन्ति हि—ग०। २. गुरुकार्पितम्—ग०।

३. कपिल इत्यादिसार्धपद्यद्वयं ग—पुस्तके नास्ति।

४. रूक्षदोषहतश्चैव ज्ञेयः स त्वव्यवस्थितः—क०।

५. दत्तप्रयोगात्—ख०; सन्दष्टदशनो यस्तु स सन्दष्ट इति स्मृतः—ग०।

६. विस्तरति स्थाने स्वरमुच्चारणागतम्—क०।

७. तथा च विस्वरञ्चैव स काकीति हि संज्ञितः—ग०।

नासागतस्वरो[1] यस्तु तुम्बकी[2] सोऽभिधीयते[3] ॥ ५२३ ॥

तुम्बुकी :—जो स्वर नाक से (सम्बद्ध होकर) निकलता हो (या गुंगवाए) तो उसे 'तुम्बुकी' समझना चाहिये ॥ ५२२ ॥

एते गुणाश्च दोषाश्च तत्त्वतः[4] कथिता मया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ह्यवनद्धविधिं पुनः ॥ ५२४ ॥

इस प्रकार स्वरों के गुण और दोषों को मैंने तात्त्विक रूप से दर्शाया अब मैं अवनद्ध वाद्यों की विधि का (अगले अध्याय में) वर्णन करूँगा ॥

गान्धर्वमेतत् कथितं मया वः[5] पूर्वं यदुक्तं प्रपितामहेन[6] ।
कुर्याद् य एवं तु[7] नरः प्रयोगे सम्मानमग्र्यं लभते[8] स लोके ॥५२५॥
इति ।

इस प्रकार ब्रह्मा के द्वारा पूर्व में उपदिष्ट इस 'गान्धर्व[1]-शास्त्र' का मैंने वर्णन किया । जो मनुष्य इस विधान के अनुसार प्रयोग करेगा उसे संसार में उच्चतम सम्मान प्राप्त होगा ॥ ५२५ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे ध्रुवाविधानं[9] नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ।

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र की ध्रुवाविधान नामक बत्तीसवें अध्याय की प्रदीप नामक हिन्दी व्याख्या परिपूर्ण ।

---

१. 'गान्धर्व' शब्द तथा शास्त्र का विचार भूमिका में भी है । मृच्छकटिक में ऐसे ही गान्धर्व को चारुदत्त द्वारा सुनने के लिये दर्शाया गया है (द्र०–मृ० क० अङ्क ३ में चेट का वचन—'का वि वेला अज्ज चारुदत्तस्स गंधव्वं सुणिदुं गदस्स' इत्यादि ।

---

१. नासाग्रग्रस्तशब्दस्तु—क०, ख० । २. विज्ञेयः स तु तुम्बकः ।

३. अत ऊर्ध्वं—क० ख० पुस्तकयोः-समप्रहरणे [णौ–ख] चैव जविनौ विशदौ तथा । जितश्रमौ विकृष्टौ च मधुरौ स्वेद [स्वर–ख] वर्जितौ । तथा बृहन्नखौ [दृढ़नखौ–ख०] चैव ज्ञेयौ [ज्ञेया–ख] हस्तस्य वै गुणाः ॥ इति सार्धपद्यमधिकम् । ४. कण्ठजा गदिता—ग० ।

५. तत्—क०; च—ख; हि—ग० । ६. त्विह नारदेन—ग०, घ० ।

७. मनुजः प्रयोगं—गप, घ० । ८. कुशलेषु गच्छेत्—ग० ।

९. गुणदोषविचारो नाम त्रयस्त्रिंशः—क०; गुणाध्यायो नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः—ख० ।

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

(अवनद्धातोद्यविधानाध्यायः)

ततातोद्यविधिस्त्वेष[1] मया प्रोक्तः समासतः ।
अवनद्धविभागेन[2] लक्षणं कर्म चैव हि ॥ १ ॥
आतोद्यानां[3] प्रवक्ष्यामि विधिं वादनमेव च ।
मृदङ्गपणवानाञ्च दर्दुरस्य तथैव हि ॥ २ ॥

मैंने संक्षेप में ततवाद्यों के विषय में विधान बतलाया । अब मैं अवनद्ध वाद्यों का विभाग पूर्वक लक्षण उनके कर्म तथा इसके साथ ही मृदङ्ग,[1] पणव व दर्दुर वाद्यों की वादन विधि तथा उनके लक्षण को बतलाता हूँ ॥ १-२ ॥

गान्धर्वञ्चैव वाद्यञ्च स्वातिना नारदेन च ।
विस्तारगुणसम्पन्नमुक्तं लक्षणकर्मतः ॥ ३ ॥

स्वाति और नारद ने (क्रमशः) गान्धर्व के वाद्यवादन के विषय में विस्तार से उनके गुण, लक्षण तथा कार्य के विषय में (अपने ग्रन्थों) में बतलाया है ॥ ३ ॥

अवनद्धवाद्य की उत्पत्ति—

अनुवृत्या तथा स्वातेरातोद्यानां समासतः ।
पौष्कराणां प्रवक्ष्यामि निर्वृत्तिं सम्भवं तथा ॥ ४ ॥

---

१. पूर्व काल में मृदङ्ग मिट्टी के द्वारा निर्मित होकर फिर उसमें चमड़ा मूढ़ा जाता था । वर्तमान समय में बङ्गाल ऐसे वाद्य का कीर्तन में उपयोग देखा जा सकता है । 'पणव' का निर्माण लकड़ी से होता था तथा इसका आकार छोटा होता था तथा 'दर्दर' भी ऐसा ही धातु निर्मित वाद्य था जिस पर चमड़ा मढ़ते थे ।

---

१. ततवाद्यविधानन्तु यन्मयाभिहितं पुरा । अवनद्धगतस्यापि तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्—क०, ख० । २. अवनद्धस्य वक्ष्यामि—क० ।

३. यथोक्तं मुनिभिः पूर्वं स्वातिनारदपुष्करैः । सर्वलक्षणसंयुक्तं सर्वातोद्यविभूषितम् ॥ मृदङ्गानां समासेन लक्षणं पणवस्य च । दर्दुरस्य च सङ्क्षेपाद्विधानं वाद्यमेव च ॥ [नाट्यमेव च —ख] इति क पुस्तके (२३४) पद्यत्रयस्थाने पद्यद्वयपाठः ।

अब स्वाति-मुनि[1] के अनुसार मैं संक्षेप से मृदङ्गों (पुष्करक आदि अवनद्ध-वाद्यों) की उत्पत्ति तथा विकास को बतलाता हूँ ॥ ४ ॥

अनध्याये कदाचित्तु स्वातिर्वै[1] दुर्दिने दिने।
जलाशयं जगामाथ सलिलानयनं प्रति ॥ ५ ॥

किसी अनध्याय के दिन जब आकाश में बादल छाये हुये तभी ये स्वाति मुनि जल लाने के लिये (एक) सरोवर पर गये ॥ ५ ॥

तस्मिन् सरो निषण्णे तु प्रवृत्तः[2] पाकशासनः।
धाराभिर्महतीभिश्च कर्त्तुमेकार्णवं[3] जगत् ॥ ६ ॥

जब वे सरोवर में जल लेने को उतरे तो इन्द्र ने पृथ्वी को (एक) बड़ा सागर बना डालने के लिए जोरों से मूसलाधार वृष्टि आरम्भ कर दी ॥ ६ ॥

पतन्तीभिश्च धाराभिर्वायुवेगाज्जलाशये।
पुष्करिण्यां[4] पटुः शब्दः[5] पत्राणामभवत्तदा ॥ ७ ॥

तब उस सरोवर में वायु के वेग से गिरने वाली मेघावृष्ट जल-धाराओं के द्वारा कमल के पत्तों पर बड़ी ही मधुर ध्वनियों का निर्माण होने लगा ॥ ७ ॥

तेषां धारोद्भवं[6] शब्दं[7] निशम्य सहसा[8] मुनिः।
आश्चर्यमिति [9]मन्वानश्चावधारितवाँश्च तम्[10] ॥ ८ ॥

---

१. यहाँ स्वाति मुनि की किसी परम्परा या ग्रंथ के अनुसार ही भरत-मुनि ने यह विवरण दिया है जो किसी प्राचीन संगीत-परम्परा से गृहीत है। यहाँ इसी कारण इस वाद्य के प्रचलन तथा आरम्भ को एक उपाख्यान के द्वारा दर्शाया गया है।

---

१. स्वातिर्महति दुर्दिने—क; मुनिर्महति दुर्दुरे—ख०।
२. तस्मिन् जलाशये यावत् प्रविष्टः—क०; प्रहृष्टः—ख०।
३. महतीभिस्तु पूरयन्निव मेदिनीम्—क०, ख०।
४. महत्पटपटाशब्दः कृतः पुष्करपातजः—क० (र)।
५. पुष्करीणां कलरवः पत्रिणामभवत्तदा—ग०।
६. धीरं कलं शब्दं—ग, धीरकलं शब्दं—क (भ०)।
७. नादं—क०। ८. स महामुनिः—क०।
९. सम्प्राप्तमवधारितवान् स्वनम्—ग०।
१०. स्वनम्—क०; ध्वनिम्—क (भ०)।

तब मुनि ने सहसा इस अपूर्व ध्वनि को सुनते हुए जो-वर्षा की धाराओं के द्वारा उद्भूत थी—एक आश्चर्य मानकर उस पर ध्यान पूर्वक विचार आरंभ किया ॥ ८ ॥

ज्येष्ठमध्यकनिष्ठन्तु पत्राणामवधार्य[1] च ।
गम्भीरमधुरं हृद्यमाजगामाश्रमं[2] ततः ॥ ९ ॥

और फिर पत्तों पर होने वाली इस सुन्दर और हृदयग्राही ध्वनि के ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ प्रकारों के विभाजन का गम्भीरता से विचार करते हुए वे अपने आश्रम को लौट आएँ ॥ ९ ॥

गत्वा[3] सृष्टं मृदङ्गाँश्च पुष्करानसृजत्ततः[4] ।
पणवं दर्दुराश्चैव[5] सहितो विश्वकर्मणा ॥ १० ॥

और आश्रम में लौटकर विश्वकर्मा की सहायता से मुनि ने मृदंगों का और फिर पुष्कर[1], पणव और दर्दर वाद्यों का निर्माण कर डाला ॥ १० ॥

देवानां दुन्दभिं[6] दृष्टवा चकार मुरजं[7] ततः ।
[8]आलिङ्ग्यमूर्ध्वकञ्चैव तथैवाङ्किकमेव च ॥ ११ ॥

और फिर देवगण के दन्दुभि[2] नामक वाद्य को देखते हुए उनने मुरज[3], आलिंगक, ऊर्ध्वक और आंकिक जैसे अवनद्ध-वाद्यों का निर्माण कर डाला ॥

१. 'पुष्कर' शब्द सामान्यतः लकड़ी से निर्मित अवनद्ध वाद्यों के सभी सामान्य प्रकारों के लिये प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है ।

२. दन्दुभि—आधुनिक काल में इसकी तुलना नगाड़ा वाद्य से की जा सकती है किन्तु प्राचीन काल में इसका निर्माण कदाचित् मिट्टी से या लकड़ी से होता था तथा इसके ऊपर चमड़ा मढ़ा जाता था ।

३. मुरज को हम आजकल पखावज समझ सकते हैं । जब ऐसे वाद्यों को गले में बांध कर बजाते थे तो शरीर के साथ सट जाने से इसकी आलिङ्गचक तथा गोद में लेकर बजाने के कारण आङ्किक संज्ञाए रखी गयी थी जो अर्थानुसारी है ।

१. मवधारयन्—क (र); मवधारितम्–क० (भ०) उपधार्य तु—(ज) ।
२. शब्द—क (र) । ३. ध्यात्वा सृष्टिं मृदङ्गानां—क० ।
४. ततश्चके त्रिपुष्करम्—क (ज०) । ५. दर्दुरञ्चैव—क० ।
६. दन्दुभीर्दृष्ट्वा—क० । ७. मुरजाँस्ततः—क० ।
८. आलिङ्गादाङ्किकञ्चैव दर्दरं पणवं तथा—क० (र०) ।

चर्मणा चावनद्धांस्तान् मृदङ्गान् दर्दुरांस्तथा[1]।
तन्त्रीभिः पणवञ्चैवमूहापोहविशारदः[2] ॥ १२ ॥

और विचार तथा परीक्षण में दक्ष उन मुनि ने इन मृदङ्ग, दर्दुर और पणव वाद्य को चमड़े से मढ़कर उन्हें रस्सी या तन्तुओं से बांध दिया ॥१२॥

भूयश्चान्यानपि[3] तथा काष्ठायसकृतान्यथ।
झल्लरीपटहादीनि[4] चर्मनद्धानि तानि[5] तु ॥ १३ ॥

इसके पश्चात् उनने झल्लरी, पटह जैसे वाद्यों को लकड़ी तथा लोहे से बनाते हुए उन्हें भी चमड़े से मढ़ दिया ॥ १३ ॥

आतोद्यसमवाये तु यानि वाद्यानि वादकैः।
अङ्गप्रत्यङ्गयोगेन[6] गदतो मे निबोधत ॥ १४ ॥

वादक-गण के सम्मेलन या सामूहिकवादन दशा में जिन वाद्यों का वादन किया करते हैं, उन वाद्य के योगजन्य अंग और प्रत्यङ्ग का अब मैं वर्णन करता हूँ। आप ध्यान देकर उसे सुनें ॥ १४ ॥

विपञ्ची चैव चित्रा[7] च दारवीष्वङ्गसंज्ञिते।
कच्छपीघोषकादीनि प्रत्यङ्गानि तथैव[8] च ॥ १५ ॥

दारवी वीणाओं (या ततवाद्यों) में विपञ्ची और चित्रा को अङ्ग तथा कच्छपी और घोषका को प्रत्यंग कहते हैं ॥ १५ ॥

मृदङ्गो[9] दर्दुरश्चैव पणवेष्वङ्गसंज्ञिते।
झल्लरीपटहादीनि प्रत्यङ्गानि तथैव च ॥ १६ ॥

---

१. दर्दरं तथा—क०।　　२. समन्वितम्—क (भ०)।

३. त्रयं चान्यान्यपि तथा—क०।　　४. जर्जरी—क (भ०)।

५. निर्ममे—क (भ०)। अस्मादनन्तरं-प्रोक्तानि चाक्षराण्येषां सप्रकारं समार्जनम्। आतोद्यमिति विज्ञेयं केवलन्तु विभागतः। चतुर्विधन्तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्। अवनद्धं ततश्चैव घनं सुषिरमेव च। पूर्वमुक्तं ततस्यापि लक्षणं कर्म चैव हि। अवनद्धस्य वक्ष्यामि विधिं लक्षणमेव च ॥—क (ज०) पुस्त० इत्यधिकम्।　　६. अङ्गोपाङ्गानि चैतेषां—क (भ०)।

७. वीणा च चित्रा चैवाङ्गसंस्थिता—क (ज०)।

८. विनिर्दिशेत्—क (ज०)।

९. मृदङ्गा दर्दराश्चैव पणवाश्चाङ्गसंज्ञिताः—क; मृदङ्गं दर्दरश्चैव पणवश्चाङ्गसंस्थितम्—क (ज०)।

अवनद्ध वाद्यों में मृदंग, दर्दुर तथा पणव को अंग तथा झल्लरी, पटह जैसे वाद्यों को प्रत्यङ्ग कहते हैं ॥ १६ ॥

अङ्गलक्षणसंयुक्तो विज्ञेयो वंश एव हि।
शङ्खस्तु[1] डक्किनी चैव प्रत्यङ्गे परिकीर्तिते[2] ॥ १७ ॥

सुषिर-वाद्यों में लक्षणानुसार उत्कृष्ट वंशी को अङ्ग तथा शंख और डक्किनी जैसे वाद्यों को प्रत्यङ्ग कहा जाता है ॥ १७ ॥

अवनद्ध वाद्यों की उपयोगिता—

नास्ति किञ्चिदनायोज्यमातोद्यं दशरूपके[3]।
रसभावप्रयोगं[4] हि ज्ञात्वा योज्यं विधानतः ॥ १८ ॥

अवनद्ध वाद्यों में ऐसा कोई वाद्य ही नहीं है जिसका दशरूपकों के प्रस्तुतीकरण में उपयोग न होता हो, अतएव वाद्यों के किसी भी प्रकार का रस तथा भावों को देखते हुए विचार पूर्वक विधिवत् विनियोग या योजना करनी चाहिए ॥ १८ ॥

उत्सवे चैव याने च नृपाणां मङ्गलेषु[5] च।
शुभकल्याणयोगे च विवाहकरणे[6] तथा ॥ १९ ॥
पुत्रादिके[7] समुत्पन्ने सङ्ग्रामे योधसङ्कुले।
ईदृशेषु हि[8] कार्येषु सर्वातोद्यानि वादयेत् ॥ २० ॥

किसी उत्सव, राजकीय शोभा-यात्रा, मंगल अवसर या किसी शुभ-योग के उपस्थित होने पर, विवाह तथा पुत्रोत्सव के समय या युद्ध के समय जहाँ अनेक योद्धा इकट्ठे होते हों तथा इसी तरह के किसी अन्य अवसर के आने पर सभी वाद्यों का (एक साथ या आवश्यकतानुसार अलग-अलग) वादन किया जाता है ॥ १९–२० ॥

---

१. शाखस्तुण्डकिनी चैव—क; ...दन्दुभिका चैव—क (भ०)।

२. अभिसंज्ञिते—क (ज०)।

३. चैव नाटके—क (ज); नाटकाश्रये—क (भ०)।

४. रसं कार्यं प्रयोगं तु—क (म०)।

५. चैव सङ्गमे—क (भ०)।

६. विभावक रसे—क (भ०)।

७. उत्पाते सम्भ्रमे चैव सङ्ग्रामे पुत्रजन्मनि—क०; उत्पत्तौ च तनूजस्य सङ्ग्रामे युद्धसंकुले-क (च);...उत्पन्ने सङ्ग्रामे शुद्धसङ्कुले (?) ख०, ग०।

८. च—ग०।

[1]स्वभावगृहवार्तायामल्पभाण्डं[2] प्रयोजयेत् ।
उत्थानकाव्यबन्धेषु[3] सर्वातोद्यानि वादयेत्[4] ॥ २१ ॥

सामान्यतः उपस्थित होने वाले छोटे छोटे घरेलू कार्यों के अवसर पर कम संख्या में या थोड़ी मात्रा में वाद्यवादन किया जाता है । उन्नति के लिए या अन्य उद्योगों के तथा किसी रूपक के प्रयोग के अवसर हों तो वहाँ सभी वाद्यों का उपयुक्त वादन करना चाहिए ॥ २१ ॥

अङ्गानान्तु[5] समत्वार्थं[6] छिद्रप्रच्छादने[7] तथा ।
विश्रामहेतोः[8] शोभार्थं भाण्डवाद्यं [9]प्रयोजयेत् ॥ २२ ॥

(प्रयोग गत) विविध अङ्गों की समता के लिए या किसी खाली समय को या किसी कमी को ढंकने के लिये भाण्डवाद्य का वादन करना चाहिये ॥

अवनद्ध-वाद्यों का सामान्य वर्णन—

अथावनद्धं[10] वक्ष्यामि विधिस्वरसमुत्थितम्[11] ।
नानाकरणसंयुक्तं नाना[12] जातिविभूषितम् ॥ २३ ॥

अब मैं विधिवत् स्वरों को उत्पन्न करने या उसके साथ होने वाले अवनद्ध वाद्यों के उस विधान को बतलाता हूँ जो अनेक कारण और जातियों से संयुक्त कर रखा जाता है ॥ २३ ॥

यावन्ति चर्मनद्धानि ह्यतोद्यानि द्विजोत्तमाः[13] ।
तानि त्रिपुष्कराद्यानि ह्यवनद्धमिति स्मृतम् ॥ २४ ॥

त्रिपुष्कर[1] जैसे चमड़े से मढ़े हुए जितने वाद्य होते हैं उन्हें अवनद्ध शब्द से ग्रहण करना चाहिए [या वे अवनद्ध वाद्य कहलाते हैं] ॥ २४ ॥

---

१. त्रिपुष्कर से तीन अनवद्ध वाद्य को लेना चाहिए । ये हैं मृदङ्ग, पणव तथा दर्दर । संगीतरत्नाकर के अनुसार ये तीन हैं मृदङ्ग, मर्दल तथा मुरज । मर्दल का नाट्यशास्त्र में कहीं उल्लेख या अभिधान नहीं हैं ।

---

१. स्वभावे—क (र) । २. स्वल्पं भाण्डं—क (भ०)
३. उत्थानकार्ये—क० । ४. नादयेत्—क० (र०) ।
५. हर्षार्थन्तु प्रयोक्तृणां–क (भ०), हर्षार्धं मङ्गलार्थश्च—क० (ज०) ।
६. समत्वाच्च—क०; समग्राच्च—क (य०) ।
७. च्छादनाय च—क (भ०) । ८. विप्राप्तिहेतोः—ख०, ग० ।
९. विनिर्मितम्—क०; प्रजायते—ख०, घ० । १०. तत्रावनद्धे—क० ।
११. विधि स्वर—क०; तालस्वर—क (भ०) । १२. मार्गजाति—ब० ।
१३. विभागतः—क (भ०) ।

एतेषान्तु पुनर्भेदाः शतसंख्याः[1] प्रकीर्तिताः।
किन्तु त्रिपुष्करस्यास्य[2] लक्षणं प्रोच्यते मया ॥ २५ ॥

और इन वाद्यों के सैंकड़ों प्रकार (हो सकते) हैं किन्तु मैं यहाँ इस त्रिपुष्कर वाद्यों का लक्षण बतला रहा हूँ[1] ॥ २५ ॥

शेषाणां कर्मबाहुल्यं[3] यस्मादस्मिन्न दृश्यते।
न स्वरा न प्रहाराश्च नाक्षराणि न मार्जना[4] ॥ २६ ॥

क्योंकि इनमें शेष वाद्यों की तरह ध्वनि में कोई परुषता या जोरों का गुंजन नहीं रहता। यहाँ न तो (विभेदक या भिन्न) स्वरों की ही सृष्टि होती है, न विधिवत् प्रहारों की व्यवस्था है, न स्पष्ट अक्षरों की सत्ता होती है और न ही इनमें मार्जनाओं की आवश्यकता पड़ती है ॥ २६ ॥

भेरीपटहजञ्झाभिस्तथा[5] दन्दुभिडिण्डिमैः[6]।
शैथिल्यादायतत्वाच्च स्वरे[7] गाम्भीर्यमिष्यते ॥ २७ ॥

भेरी, पटह, जञ्झा (झंझा) और दन्दुभि तथा डिण्डिम को भी बजाते समय उनके विस्तार के कारण बड़े आकार में होने और शिथिल या ढीले बंधन रहने पर भी केवल गंभीर ध्वनि की ही अपेक्षा रखी जाती है ॥ २७ ॥

प्रायशस्तानि[8] कार्याणि कालं[9] कार्यं समीक्ष्य तु।
किन्तु[10] त्रिपुष्करस्यास्य श्रूयतां यो विधिः स्मृतः ॥ २८ ॥

और (किसी नाट्य—प्रयोग में) प्रायः इन वाद्यों का समय और कार्य देखते हुए वादन किया जाता है। परन्तु अब त्रिपुष्कर वाद्य के (वादन के विषय में) जो नियम हैं उन्हें सुनिये ॥ २८ ॥

---

१. संगीतरत्नाकरकार ने इस वाक्य के ऐसे कुछ प्रभेद दर्शाये हैं जिनकी संख्या तेईस तक है। (द्रष्ट—सं० र० ६।)

---

१. संख्यानसंज्ञिताः—क (र०)। २. स्यात्र—क (र०)।

३. बाहुल्याद्—क (भ०)।

४. अतः परं—केवलं तत्र गाम्भीर्यमातोद्येषूपपाद्यते। इति पद्यार्धमधिकम् क० (भ० र० ज०) पुस्तके।

५. भाण्डास्तु—क (ज०); दम्भासु (?)—क (भ०); कङ्काभिः—क (र०)। ६. डिण्डिमे—क (भ०)।

७. स्वरगाम्भीर्यमानयेत्—क (भ०)।

८. न च तानि प्रयोज्यानि काले कार्यं-क (ज०), प्रायशः स्वानि—ख०।

९. कालकार्यं—क (र)। १०. तस्मात्—क (ज०)।

वाग्वात्मको[1] भवेच्छब्दः स चापि द्विविधो मतः ।
स्वरवाँश्चैव[2] विज्ञेयस्तथा चैवाभिधानवान् ॥ २९ ॥

वायु पर निर्भर रहने वाले शब्द के दो प्रकार होते हैं। एक तो केवल स्वरों से और दूसरे शब्दों के सार्थक समूह (अभिधान या नाम) से सम्बद्धता रखना ॥ २९ ॥

तत्राभिधानवान्नाम नानाभाषासमाश्रयः[3] ।
स्वरवाँश्चैव[4] विज्ञेयो नानावाद्यसमाश्रयः[5] ॥ ३० ॥

और जो शब्दों के सार्थक समूह से सम्बद्ध अंश या पार्श्व है वह अनेक भाषाओं को अभिव्यक्त करता है या इनके आश्रित होकर रहता है परन्तु जो स्वरों से सम्बद्ध अंश है वह विभिन्न वाद्यों पर निर्भर (रहता) है ॥ ३० ॥

शारीर्यामथ[6] वीणायां स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः ।
तेभ्यो[7] विनिस्मृताश्चैवमातोद्येषु[8] द्विजोत्तमाः ॥ ३१ ॥

(मानव) शरीर में तथा वीणा में सात स्वर होते हैं और उन्हीं से उत्पन्न स्वर आतोद्यों (वाद्यों) में उत्पन्न किये जाते हैं (या वहीं से लेकर स्वरों की वाद्यों में स्थापना हुई) ॥ ३१ ॥

पूर्वं[9] [10]शरीराद्भूतास्ततो[11] गच्छन्ति दारवीम् ।
ततः[12] पुष्करजश्चैवमनुयान्ति घनं पुनः ॥ ३२ ॥

सर्व प्रथम स्वर मानव शरीर से उत्पन्न होकर क्रमशः फिर वाद्यों में और फिर घन वाद्यों में संचारित हुए ॥ ३२ ॥

---

१. वास्वात्मको—ख०; वस्त्वामको—घ० ।

२. स्वनवांश्चैव—क (भ०) ।

३. नानाभाव—ख०, ग०; नानाभावान्तराश्रितः—क (ज०) ।

४. स्वनवानपि—क (ज०) । ५. नानाकुतोद्य—क०, ग० ।

६. मेव—क०, ख० । ७. तस्या—क (ज०) ।

८. सृतान्याहुरातोद्यानि—क (र०) । ९. सर्वे—क (र०) ।

१०. दुत्पन्ना—क (ल०) (

११. स्वराः गच्छन्ति—ख०, घ०: पूर्यन्ते दारवीं ततः—क (र०), संयान्ति दारवीम्—क (ज०) ।

१२. स्वराः पुष्करजाः पश्चादनुयन्ति ध्वनिं युताः—क (भ०) ।

तेषां[1] वाष्करणैर्ज्ञेयाः[2] प्रहारा वचनाश्रयाः।
युद्धादिभिः[3] सदा योज्या वीणावाद्येषु[4] योक्तृभिः ॥ ३३ ॥

अनेक बोलों के द्वारा इन पर प्रहार किया जा सकता है। प्रयोक्ताजन को इनकी योजना वीणा वादन तथा युद्ध आदि के समय (नाट्य-प्रयोग में) करनी चाहिए ॥ ३३ ॥

शारीर्यामथ वीणायां झण्टुं[5] जगति कादि[6] च।
भवेद् वाष्करणं[7] तत्र[8] नानाकरणसंयुतम् ॥ ३४ ॥

शारीर और वीणा में झिंटु, जगति, कत जैसे कुछ वाष्करण[1] (बोल) अनेक करणों के साथ रखे जाते हैं ॥ ३४ ॥

यं यं गाता स्वरं गच्छेत् तमातोद्यैः प्रयोजयेत्।
यतिपाणिसमायुक्तं[9] गुरुलघ्वक्षरान्वितम् ॥ ३५ ॥

और गायक जिन स्वरों को (कण्ठ से) निकाले उन्हीं स्वरों को (संगति के लिए) वाद्यों से निकाला जाए जिनमें यति, पाणि और लघु गुरु अक्षर ठीक से दर्शाए गये हों ॥ ३५ ॥

पुष्करक वाद्यों के लक्षण तथा स्वरूप—

पौष्करस्य[10] तु वाद्यस्य[11] मृदङ्गपणवाश्रयम्।
विधानं तु प्रवक्ष्यामि दर्दुरस्य[12] तथैव हि ॥ ३६ ॥

---

१. यहाँ 'वाष्करण' शब्द का प्रयोग वाद्यों के निश्चित शब्दों या 'बोलों' के लिये है। इनकी व्युत्पत्ति 'वाचस्करण' से 'वाष्करण' के रूप में कुछ विद्वानों ने मानी है।

---

१. एषां बाह्वीरणै—ख०; एतेषां करणैः—क (र०)।
२. कार्याः प्रहाराः करणाश्रयाः—क (म०)।
३. झण्टुं झां झेति संयुक्ता—क०; झण्टुं जगति संयुक्ता—क (ज०)।
४. संयुक्ता वीणावाद्यप्रयोगिनः—क०; सज्जाता वीणावाद्यप्रयोक्तृभिः—क (र०)। ५. पुण्यादायो भवेत्स्वनः—क (र०)
६. यदि ज—क०; कादिति च—ख०, ग०।
७. वाक्करणं—क०, करणं तस्य विज्ञेयं—क (र०)।
८. विप्राः—क (ज०)।
९. यदिपाद—क(भ०); यतिपाद—क (ज०)।
१०. साक्षरस्य—क (भ०)। ११. नाट्यस्य—क (र०)।
१२. दर्दराश्रयमेव च—क (भ०)।

और मृदङ्ग, पणव तथा दर्दुर से सम्बद्ध (या आश्रित) पुष्कर वाद्यों की वादन विधि को अब मैं बतलाता हूँ ॥ ३६ ॥

षोडशाक्षरसम्पन्नं[1] चतुर्मार्गं तथैव च ।
विलेपनं[2] षट्करणं त्रियति त्रिलयं तथा ॥ ३७ ॥
त्रिगतं त्रिप्रचारञ्च[3] त्रियोगञ्च त्रिपाणिकम् ।
दशार्धपाणिप्रहतं त्रिप्रहारं त्रिमार्जनम् ॥ ३८ ॥
विंशत्यलङ्कारयुतं[4] तथाष्टादशजातिकम् ।
एभिः[5] प्रकारैः सम्पन्नं वाद्यं पुष्करजं भवेत् ॥ ३९ ॥

पुष्कर वाद्यों में रहने वाले प्रकार ये हैं :—सोलह अक्षरों की ध्वनियाँ, चार मार्ग, विलेपन, छः करण, तीन यतियाँ, तीन लय, तीन गत (या गति) तीन प्रचार, तीन योग तीन पाणि, पञ्च-पाणिप्रहत, तीन प्रहार, तीन मार्जनाएँ, अठारह जातियाँ और बीस अलङ्कार प्रकार । इन सभी स्वरूपों (या प्रकारों) से युक्त पुष्कर-वाद्य होता है ॥ ३७–३९ ॥

तत्र षोडशाक्षरमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः ।
कखगघटठडढतथदधमरलह इति षोडशाक्षराणि स्युः ।
पुष्करवाद्ये[6] नियतं वाष्करणे[7] संविधेयानि ॥ ४० ॥

अब मैं पूर्व कथित सोलह अक्षर की ध्वनियों का अब वर्णन करता हूँ । ये हैं—क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, म, र, ल, ह । पुष्करक-वाद्य के वाष्करण में इनका सदा प्रयोग किया जाता है[1] ॥ ४० ॥

[तत्र] चतुर्मार्गं नाम-आलिप्ताङ्कित-गोमुखवितस्ताश्चत्वारो[8] मार्गाः ।

चतुर्मार्ग (चार-मार्ग) :—कहते हैं आलिप्त, अङ्कित, गोमुख और वितस्तता (नामक चार मार्गों) को ।

---

१. यहाँ मूल में कुछ स्थान पर ध के स्थान पर ण तथा म के स्थान पर य मिलता है । संगीतरत्नाकर में भी इसी प्रकार मिलता है (द्र० सं० र० ६ ।)

---

१. निष्पन्नं—क (ज); संयुक्तं—क (र६) ।
२. द्विलेपनं—क० । ३. त्रिप्रकारञ्च त्रिसंयोगं—क० ।
४. विंशत्प्रकारालङ्कारं— क(ज०) ।
५. एवमेतैस्तु—क (ज०) ।
६. नियतं पुष्करवाद्ये—क०; तज्ज्ञैः पुष्कर—क (र०) ।
७. वाष्करणैः—क० । ८. प्ताङ्किताग़ोमुख—क० ।

विलेपनं[1] नाम—वामोर्ध्वकप्रलेपात्[2]।

विलेपन—वामक तथा ऊर्ध्वक मृदङ्गों पर आटे आदि से लेपन करने को 'विलेपन' समझना चाहिए॥

षट्करणं नाम—रूपं कृतप्रतिकृतं प्रतिभेदो रूपशेषमोघः प्रतिशुष्केति[3]।

षट्करण :—छः करणों के क्रमशः नाम हैं—रूप, कृतप्रतिकृत, प्रतिभेद, रूपशेष, ओघ तथा प्रतिशुष्क।

त्रियतिर्नाम—समा स्रोतोगता[4] गोपुच्छा चेत्यन्वयात्।

त्रियति—समा, स्रोतोगता तथा गोपुच्छा—ये तीन यति हैं।

त्रिलयं नाम—द्रुतमध्यविलम्बितयोगात्।

त्रिलय—द्रुत, मध्य तथा विलम्बित ये तीन लय हैं।

त्रिगतं[5] नाम—तत्वमनुगतमोघश्चेति।

त्रिगति—तत्व, अनुगत तथा ओघ—ये तीन गति कहलाती हैं।

त्रिप्रचारं नाम—समप्रचारः विषमप्रचारः समविषम-प्रचारश्चेति।[6]

त्रिप्रचार हैं—समप्रचार, विषमप्रचार तथा समविषमप्रचार।

त्रिसंयोगं नाम—गुरुसंयोगो[7] लघुसंयोगो[7] गुरुलघुसंयोगश्चेति[7]।

त्रिसंयोग हैं—गुरु संयोग; लघु संयोग तथा गुरु लघुसंयोग।

त्रिपाणिकं नाम—समपाणिरवरपाणिरुपरिपाणिश्चेति[8]।

त्रिपाणि—समपाणि, अवरपाणि तथा उपरिपाणि को त्रिपाणि कहते हैं।

पञ्चपाणिप्रहतं नाम—समपाणि[9]रर्धार्धपाणिः पार्श्वपाणिः प्रदेशिनी चेति।

पञ्च-पाणिप्रहत :—समपाणिप्रहत, अर्धपाणिप्रहत, अर्द्धार्द्धपाणिप्रहत पार्श्वपाणि-प्रहत और प्रदेशिनीप्रहत।

---

१. द्विलेपं नाम—क०। २. कर्त्तव्यम्—क (र०)।
३. प्रतिशुलका चेति—क०, ख०। ४. श्रोतागता—ख०।
५. त्रिगतिः नाम—क (भ०)। ६. उभयप्रचार—क (र०)।
७. सञ्चयः—क (ज०) ८. अवपाणि—क०।
९. समपाण्यर्धसमपाणिरर्धार्धसमपाणिः पार्श्वपाणिः—क०।

त्रिप्रहारं नाम—निगृहीतोऽर्धनिगृहीतो मुक्तश्चेति ।

त्रिप्रहार :—निगृहीत, अर्धनिगृहीत तथा मुक्त ।

त्रिमार्जनं नाम—मायूर्यर्धमायूरी कार्मारवी चेति ।

त्रिमार्जन हैं :—मायूरी, अर्धमायूरी तथा कर्मारवी ।

अष्टादशजातिकं[1] नाम—शुद्धा, एकरूपा, देशानुरूपा, देशादपेतरूपा, पर्यायः, विष्कम्भः, पर्यस्ता, संरम्भः, पार्ष्णिसमस्ता, दुष्करकरणा ऊर्ध्वगोष्ठिका, उच्चितिका, एवंवाद्या, मृदङ्गपणवा, अवकीर्णा, अर्धावकीर्णा, समलवा विधूतश्चेति ।

अष्टादश जातियाँ :—शुद्धा, एकरूपा, देशानुरूपा, देशादपेतरूपा, पर्याय, विष्कम्भ, पर्यस्ता, संरम्भ, पार्ष्णिसमस्ता, दुष्करकरणा, ऊर्ध्वगोष्ठिका, उच्चितिका, एवंवाद्या, मृदंगपणवा, अवकीर्णा, अर्द्धावकीर्णा, समलवा तथा विधुत ये अष्टादश जातियाँ होती हैं ।

विंशतिप्रकारं नाम—चित्रः, समः विभक्तः, छिन्नः, छिन्नविद्धः, विद्धः, अनुविद्धः, स्वरूपानुगतः, अनुसृतः, विच्युतः, दुर्गः, अवकीर्णः, अर्धावकीर्णः, एकरूपः, परिक्षिप्तः, सत्वीकृतः, समलेखः, चित्रलेखः सर्वसमवायः, दृढ इति ।

विंशतिप्रकार :—चित्र, सम, विभक्त, छिन्न, छिन्नविद्ध, विद्ध, अनुविद्ध, स्वरूपानुगत, अनुसृत, विच्युत, दुर्ग, अवकीर्ण, अर्थावकीर्ण, एकरूप, परिक्षिप्त, साचीकृत, समलेख, चित्रलेख, सर्वसमवाय तथा दृढ़—ये बीस प्रकार कहलाते हैं ।

एतावत् सूत्रम्[1] । तत्र षोडशाक्षरं नाम-
अभिव्यञ्जितानि[2] पूर्वं यान्येतानि षोडशाद्यानि ।
तान्यक्षराणि[3] जानीत पुष्करेषु यथाक्रमम्[4] ।
पणवे दर्दुरे चैव मृदङ्गेषु[5] तथैव च ॥ ४१ ॥

---

१. विंशत्यलङ्कारान् अष्टादश जातीश्च पदभेदे दर्शयिष्यामः । —क० ।

१. सूत्रम् । अतः पदभेदः । तत्र—क० ।

२. अभिव्यक्तानि—ग० ।

३. व्यक्तानि षोडशानि—क (र) ।

४. यथाविधि—क (भ०) ।

५. कीर्तितानि मनीषिभिः—क (र) ।

जिन सोलह अक्षरात्मक ध्वनियों को पूर्व में बतलाया गया था उनकी पुष्कर के समान ही पणव, दर्दुर तथा मृदङ्ग के वाद्यवादन में भी यथाक्रम योजना की जा सकती है ॥ ४१ ॥

अवनद्ध वाद्य में स्वर और व्यञ्जनों की निर्मितियाँ :—

कटरतठदघास्तु[1] दक्षिणमुखेऽत्र गहथाश्च[2] वामके नियताः[3] ।
थकारश्चैवोर्ध्वके[4] करणधवलाश्च[5] स्युरालिङ्ग्ये ॥ ४२ ॥

क, ट, र, त, ठ, द, घ को दाहिनी ओर दिये गये प्रहारों से और ग, ह और घ को बायीं ओर के प्रहारों से अवनद्ध वाद्यों के वामक नामक मृदङ्ग में निकाला जाता है । ऊर्ध्वक-मृदङ्ग में थ कार और आलिङ्ग्यक-मृदङ्ग में क, र, ण, ध, व तथा ल को निकाला जाता है ॥ ४२ ॥

एतेषामक्षराणाञ्च स्वरसंयोगं व्यञ्जनसंयोगञ्च व्याख्यास्यामः— तत्र—'अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः' इतिस्वराः[6] व्यञ्जनैः सह संयोगं गच्छन्ति ।

अब हम इन अक्षरों के स्वर-संयोग तथा व्यञ्जन संयोग को बतलाते हैं । यहाँ अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः नामक स्वरों को व्यंजनों के साथ जोड़ा जाता है ।

अकारेकारोकारैकाकारौकारांकाकारा[7] इति ककारे । यथा—क कि कु के को कमिति ।

इनमें क के साथ अ, इ, उ, ए, ओं तथा अं को संयुक्त करने पर का, कि, कू, के को और कं हो जाते हैं ।

इकारोकारौकारा[8] खकारे । यथा—खि खु[9] खो इति ।

ख के साथ इ, उ और ओ को जोड़ने पर खि, खू और खो हो जाते हैं ।

---

१. कखतथभा—क०; कटरतघजस्तु—ख० ग० ।
२. घघमहा—क०, महथाश्च—ख० ।
३. निपाताः—घ० ।
४. गदकारौ चैवोर्ध्वे—क०; ऊर्ध्वगतौ—क (भ०) ।
५. दठडोणलाः स्युरालिङ्ग्ये-क०, ठडणमाश्चेति चालिङ्गे—क (भ०) ।
६. इत्येते—क (भ०) ।
७. रौकाराङ्कारा—क० ।
८. इकारैकारा इति खकारे—क० ।
९. खे—क० ।

उकारैकारौकारा[1] गकारे। यथा—गु[2] गे गो इति।

अकारैकारौकारा[3] घकारे। यथा—घ[4] घे घो इति।

ग के साथ उ, ए और ओ के जोड़ने पर गु, गे, गो हो जाते हैं। घ के साथ अ, ए, ओ के जोड़ने पर घ, घे तथा घो हो जाते हैं।

अकारैकारौकारारांकाराष्ट[5] कारे। यथा—ट[6] टि टो टमिति।

अकारैकारौकाराङ्काराष्ठकारे[7] यथा—ठ[8] ठि ठो ठमिति।

ट के साथ अ, इ, ओ और अं को जोड़ने पर ट, टि, टो और टं हो जाते हैं।

ठ के साथ अ, इ, ओ और अं को जोड़ने पर ठ, ठि, ठो और ठं हो जाते हैं।

अकारौकारौ[9] डकारे। यथा—ड डो इति।

अकारेकारैकारा[10] णकारे। यथा—ण णि णे इति।

ड के साथ अ और ओ के जोड़ने पर ड, डो हो जाते हैं।

ण के साथ अ, इ और ए जोड़ने पर ण, णि, णे हो जाते हैं।

अकाराकारेकारैकारास्तकारथकारयोर्यथा[11]—त ता ति ते, थ था थि थे इति।

त और थ के साथ अ, आ, इ और ए के जोड़ने पर त, ता, ति, ते और थ, था, थि, थे हो जाते हैं।

अकारोकारैकारौकारा दकारे[12]। यथा—द दु दे दो इति।

[13]अकारेकारौकारांकारा धकारे। यथा—ध धि धो धमिति।

१. डकारैकारौ—फ०।　　२. गु गे इति—क०।

३. अकारेकारोकारौकारा—क०।　　४. घघिघुघो—क०।

५. अकाराकारेकारौकाराङ्कारा इति टकारे—क०।

६. ट टा टि टो—क०।

७. अकाराकारेकारौकाराङ्कारा इति ठकारे—क०।

८. ठ ठा ठि ठे ठो—क०।

९. एकारौकारौ ढकारे। ढे टो इति—क०।

१०. अकाराकारेकारैकारा इति णकारे यथा णणाणेणो इति।

११. इति तथयोः—क०।　　१२. इति दकारे—क०।

१३. अकाराकारेकारैकारौकाराङ्कारा इति—क०।

द के साथ अ, उ, ए और ओ के जोड़ने द, दु, दे, दो हो जाते हैं।

घ के साथ अ, इ, ओ, और अं के जोड़ने पर घ, घि, घो और घं हो जाता है।

अकाराकारेकारैकारा[1] रेफे। यथा—र रा रि रे इति।

अकाराकारेकारैकारा लकारे। यथा—ल ला लि ले इति।

हकार-मकारौ शुद्धौ।

र के साथ अ, आ, इ और ए के जोड़ने पर र, रा, रि रे हो जाते हैं।

ल के साथ अ, आ, इ और ए के जोड़ने पर ल, ला, लि, ले हो जाते हैं।

ह और म को शुद्ध होने के कारण बिना स्वर के लागू किया जाता है।

तत्र ककार[2] घकारतकारधकार[3] धकाराणां रेफोऽनुबन्धः। यथा[4]–ग्रुं घ्र त्रे त्रं थ्रं ध्रं।

ककारस्य [5]ळकारोऽप्यनुबन्धः। यथा—क्ळ[6] क्ळे क्ळमिति[7]।

एवमेते संयोगैर्द्विहस्तसंयुक्तान्यक्षराणि भवन्ति। तत्र[8] आङ्किके मृदङ्गे द्विपुष्करे समहस्तनिपातनाद् धकारः[9]।

इनमें क, घ, त, घ और (द) घ में र को अनुबन्ध (या अधिक स्वर के रुप मैं संयुक्त किया जाता है। यथा—ग्रं, ध्रं, त्रे, त्रं, ध्र, (द्रं) ध्रं।

क, का ल भी अनुबन्ध होता है जैसे—क्लं, क्ले।

इस प्रकार इन सभी को मिलाकर दोनों हाथों से वादन करते हुए इन सभी अक्षरों की ध्वनियाँ निर्मित की जाती (या निकाली जाती) हैं। दोनों हाथों से (एक साथ वादन कर) प्रहारों के द्वारा आंकिक मृदंग और द्विपुष्कर वाद्य में 'धं' निकाला जाता है।

---

१. घधाधिधेध्रोधम्—क०। २. इति रेफे—क०।

३. ककारगकारघकार—क०। ३. दकार—क०।

४. यथा—क्र ग्र घ्र त्र प्र ध्र—क०। ५. लकारोऽनुबन्धः—क०।

६. क्ले क्ले क्लमिति—क०।

७. अस्मादनन्तरं—हकारस्य णकारोऽनुबन्वः। यथा ह्ण इति। इति। तकारस्य थकारो ऽनुबन्धः। यथा—त्थ इति। दकारस्य धकारोऽनुबन्जः। यथा द्धं द्धा द्धे इति—इति क—पुस्तकेऽधिकपाठः।

८. तत्रैव एव द्विपुष्करे। आङ्किकमृदङ्गे—क०। ९. धकारः—क०।

तत्र[1] अङ्गुलिप्रचलनात् कुकारः[2]। तत्रैवावष्टम्भाद्[3] धकारः तत्रैव अर्धनिगृहीतस्थकारः। तत्रैव दक्षिणमुखे पार्ष्णिपीडितः[4] क्लकारः। तत्रैव अङ्गुलिकुञ्चनात् क्ष[5] (ख) कारः। ऊर्ध्ववामकयोः समहस्तनिपाताद् धङ्कारः प्रदेशिन्या वालिङ्ग्ये[6] क्लेङ्कारः।

अंगुलि को मृदङ्ग के ऊपर चलाने से कु और वहाँ रोक देने पर ध (य) निकलता है। यदि इसे आधा रोका जाए तो थ निकलता है। जब हाथ का पिछला (या हथेली का पिछला) भाग इस पर प्रहार करता है तो 'क्ल' निकलता है। अङ्गुलियों को सिकुड़ा कर क्ष (या ख) को निकालते हैं। ऊर्ध्वक और वामक[1] को एक साथ दोनों हाथों से प्रहार करते हुए 'हं' और आलिंग्य को प्रदेशिनी अंगुली से प्रहार करके 'क्ले' निकाला जाता है।

केचिदेकवक्त्रजं केचित् त्रिवक्त्रजं केचिद्द्विवक्त्रजमिति[7]। यथा-रेफः सर्ववक्त्रेषु। दकारधकारावालिङ्ग्यवामके, आलिङ्ग्य-दक्षिणे मकारः वामोर्ध्वके[8] गकारः। क्वचिदालिङ्ग्येऽपि[9] लाघवार्थं धकारः कर्त्तव्यः। एवं तत्र प्रतिषेधो न कार्यः इति उक्तः[10] स्वरव्यञ्जन-संयोगः[11]।

इनमें कुछ बोल या ध्वनियों को वाद्य के एक ओर से, कुछ को तीन ओर से (यदि त्रिमुख वाद्य हों तो) और कुछ को दोनों ओर से निकाला जाता है। जैसे र को किसी भी (वाद्य के एक) ओर से, आलिंग्य के बायें ओर से द और ध को, आलिंग्य के दाहिनी ओर से प को, वामक और ऊर्ध्वक में 'ग' को और कभी आलिंग्य में 'घ' को (इसी प्रकार) लाघव के लिये निकाला जाता है (या निकाला जा सकता है)। कभी-कभी 'घ' को आलिंग्यक में निकाला जाए। इस नियम का प्रतिषेध नहीं होगा। यहाँ मैंने इस प्रकार स्वर एवं व्यंजन के संयोग के विषय में बतलाया।

---

१. वामक को आजकल सामान्यतः प्रचलित व्यवहार में अवनद्ध वाद्य का 'बायाँ' कहते हैं तथा 'दक्षिण' को 'दाहिना' कहते हैं।

---

१. तत्रैवाङ्गुलि—क०। २. ध्रकारः—क०।
३. वावष्टम्भात्तत्रैवार्धनिगृहीतात् थकारः—क०।
४. पार्श्व निपीडिते ककारः—क०। ५. कुकारः—क०।
६. चालिङ्गे क्रेङ्कारः—क०। ७. केचिन्निर्वक्त्रज—क (म०)।
८. वामोर्ध्वौ वा—क (म०)। ९. दालिङ्गे—क (म०)।
१०. नु (नो) क्त—क्र (म०)। ११. संयोगजः—(क०) ग०।

पञ्चपाणिप्रहत—

पञ्चपाणिप्रहतमिति[1] । यदुक्तं—समपाणिरर्धपाणिरर्धार्धपाणिः पार्श्वपाणिः प्रदेशिनी[2] चेति। एते पञ्चपाणिप्रहता निगृहीतार्धनिगृहीता[3] मुक्ता यथायोगं कार्या भवन्ति। तत्र समपाणिप्रहतो मकारः स निगृहीतः। गकार[4]-दकार-धकारा अक्षराऽर्धनिगृहीता अर्धपाणिप्रहताश्च। ककार-खकार-टकार-डकाराः[5] पार्श्वपाणिप्रहता निगृहीताश्च। तकारं[6]-थकारं-हंकारा अर्धार्धपाणिप्रहता अर्धनिगृहीताश्च। मकार-ठकार-णकार-रेफलकारहकारा द्विहस्तप्रहता मुक्ताः। प्रदेशिनीप्रहतो मुक्तः क्लंकारः। पार्श्वपाणिर्द्विहस्तप्रहता[8] मुक्ता अपि द्रां ध्रं क्लें ङ्काराः। तत्र च क्लें ङ्कारा अर्धपाणिप्रहता निगृहीताश्च। पार्श्वपाणिप्रहतो निगृहीतश्च ध्रंकारः। एवमेतेष्वक्षरेषु प्रयोगवशेन कार्या[9] प्रहाराः।

पहले (जिन) पञ्चपाणिप्रहत को बतलाया गया था। वे हैं—समपाणि, अर्द्ध पाणि, अर्धार्ध-पाणि, पार्श्व-पाणि और प्रदेशिनी।

इन पाणिप्रहतों को उनकी उपयुक्तता या औचित्य को देखते हुए निगृहीत, अर्धनिगृहीत या मुक्त रखा जाता है। (जैसे) इनमें म को समपाणि से प्रहार कर निगृहीत किया जाता हैं। ग और घ को अर्धपाणि से प्रहत कर अर्धनिगृहीत रखा जाता है। क, ख, ट और ड को पार्श्वपाणि प्रहत कर निगृहीत रखा जाता है। त, थ और ह को अर्धार्धपाणि प्रहत कर अर्धनिगृहीत रखा जाता है। म, ठ, र, ण, ल और ह को द्विहस्तप्रहत कर मुक्त रखा जाता है : प्रदेशिनी प्रहत क्लं मुक्त रखा जाता है। द्रां, ध्रं और क्लें को द्विहस्तप्रहत और मुक्त रखा जाता है और इनमें क्लें अर्धपाणि प्रहत और निगृहीत (भी) होता है। ध्रं को पार्श्वपाणिप्रहत और निगृ-

१. पञ्चपाणिप्रहतानां—ग०; ...प्रगतानां—क (म०)।
२. प्रदेशिन्यश्चेति—क०। ३. निगृहीतयुक्ता—क०।
४. गकारघकारदकारपकारा अर्धपाणिप्रहता अर्धनिगृहता—क०।
५. दकारा—क०।
६. तकारथकारावर्धार्धपाणिहतावर्धनिगृहीतौ—क०।
७. प्रदेशिन्याहता आलिङ्गे ढकारणकार-रेफवकारा युक्ताः—क०।
८. द्विहस्तप्रहता धुंद्रोंक्ले इति। मुक्तापार्श्वोऽथिक्रा इत्यर्धपाणिहता निगृहीता—क०। ९. कार्यं प्रहतम्। कुतः—ग०; क (म०)।

हीत रखा जाता है। इस प्रकार आवश्यकता के अनुसार अक्षरों को निर्दिष्ट प्रहारों से वाद्यवादन में निकाला जाता है।

षोडशैव[1] तु दृष्टानि वाद्यजान्यक्षराणि[2] तु।
अनेनैव तु[3] योगेन योज्यं वाष्करणं बुधैः ॥ ४३ ॥

(अवनद्ध) वाद्यों से उद्‌भूत या निकलने वाली अक्षर ध्वनियाँ सोलह (होती) हैं। इनके संमिश्रण से चतुरजन को वाष्करण का निर्माण कर योजना करनी चाहिए।

चतुर्मार्गमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः[4]।
अङ्कितालिप्तमार्गौ तु वितस्तो[5] गोमुखस्तथा।
मार्गाश्चत्वार एवैते प्रहारकरणाश्रयाः ॥ ४४ ॥

चार-मार्ग :—जो चार मार्ग पूर्व में कहे थे अब उनकी व्याख्या करते हैं :—अवनद्ध वाद्यों के प्रहार पर निर्भर या प्रहार से सम्बद्ध रहने वाले चार मार्गों के नाम हैं—अङ्कित, आलिप्त, वितस्त और गोमुख ॥ ४४ ॥

तत्रालिङ्ग्यमृदङ्गप्रहारयुक्तोऽङ्कितो मार्गः। वामोर्ध्वक-प्रहारयुक्तस्त्वालिप्तमार्गः। ऊर्ध्वाङ्किकदक्षिणमुखो[7] क्षिप्तहस्तप्रहतो वितस्तो मार्गः। आलिङ्ग्यकरणबहुलः[8] सर्वपुष्करप्रहतो गोमुखमार्ग[9] इति।

अङ्कित मार्ग आलिंग्य मृदङ्ग के प्रहारों के संयोग से संबद्ध होता है। वामक और उर्ध्वक के प्रहारों के संयोग से सम्बद्ध आलिप्त मार्ग होता है। वितस्त मार्ग ऊर्ध्वक के तथा आंकिक के दाहिने मुख पर प्रहारों से सम्बद्ध रहता है। गोमुख मार्ग सभी पुष्कर वाद्यों के प्रहारों से संयुक्त और विशेष कर आलिंग्यक वाद्यों से संयुक्त होता है।

तत्राङ्कितप्रहारजो[10] यथा—घट्टं कत्थित घट्टं घेटां घट्टं गत्थिमं गत्थि घण्टां गत्थित्थे-इत्यङ्कितो मार्गः।

---

१. षोडशैतानि—क०। २. वाद्यजात्यक्षराणि—ख०।
३. विधानेन—क०। ४. तमनु—क०। ५. वितस्ता गोमुखी—क०।
६. तत्राङ्किक—क०; लिङ्गमृदङ्ग—क (म०)।
७. ऊर्ध्वकाङ्किके दक्षिणमुखे आलिप्तहस्तो वितस्त—क०; ऊर्ध्वाङ्ग दक्षिणोत्क्षिप्तप्रहस्तो वितस्त —क (म०)। ८. आलिङ्गक—क०।
९. गोमुखी—क०।
१०. ङ्किता प्रहारजातम्।'''मटकटथिधध धेधोधहमंधिधंवनधिधि इत्यङ्किता—क०; मट्टं कत्थित घटघेण्डाघट्टंगत्थिघुंगमत्थिमगघेण्डां सन्धित्थ—क (म०)।

अड्डित-मार्ग के प्रहारों का उदाहरण है :—घट्टं कत्थित घट्टित घेटां गत्थिमं गत्थि घण्टां गत्थित्थे।

इदानीमालिप्तमार्गः[1]—दध्रो मामाद्रो मांमुदुघें गुदरनुंदु घें घेन्द्रं घेन्द्रामाङ्।

आलिप्तमार्गवाद्यं विज्ञेयं वादकैरेवम्। [४५ क०]

अथ आलिप्त-मार्ग के प्रहारों का उदाहरण देते हैं—दद्रो माद्रो मादद्रो मांगुदुघे गुदरनुंदुं घेंघेन्द्रं घेन्द्रामाङ्॥ वादकजन इसी विधि से आलिप्त मार्ग जानकर वाद्यवादन करें। (का० ४५ क०)

इदनीं वितस्तमार्गः—तकितान् तकितान् सेन्तां[2] किन्तां घिसं केतां इदु हुत केताम् इति वितस्ते स्यात्।

अब वितस्त मार्ग के प्रहारों को बतलाते हैं—तकितान् तकितान् सेन्तां किन्तां घिसं केता हुदु इदु केताम्—ये वितस्त मार्ग के प्रहार हैं।

इदानीं गोमुखमार्गः—गुद्धं क्रुद्धं मथिकटा घंघेन छिदुखु खुणो गग टत्थि मटम् इति गोमुखमार्गः। अङ्गुलिप्रचलनाद् वर्तितो[3] हकारो मुक्तश्च स एव स्वस्तिकेनोर्ध्वाङ्किकयोरर्धनिगृहीतः। तयोरेवं समहस्त-दर्शनात्[4]।

अब गोमुख-मार्ग को बतलाते हैं—गुद्धं गुद्धं मथिकटा छिदुखु खुणो तगटत्थिमटम्। यह गोमुख-मार्ग का वादन है। ह को अंगुलियों के दबाव के द्वारा निकाला जाता है और यह मुक्त-प्रहत होता है और यही जब अंगुलियों को ऊर्ध्वक और आंकिक पर स्वस्तिक या एक दूसरे से तिरछी रखते हुए अर्धनिगृहीत किया जाता है। क्योंकि (इन) दोनों पर समहस्त का प्रयोग देखा जाता है।

---

१. मार्गः। आलिङ्ग्यकरणबहुलः-सर्वादध्रे मामादध्रो मांगुदु घेंगुद रंनुंदु घंघेन्द्रं घेन्द्रामाङ्—क (म०)।

२. क्लेन्नां किन्तान्धि्र संकेता उदुहुदुकेन्तां—क (म०)।

३. प्रचालनावर्तिनो नकारो मुक्तश्च स एव स्वस्तिकोनोध्वां कुकुकयोरर्ध-निगृहीतः-क (म०); वर्त्तितो हकारो स एव स्वस्तिकेनोर्ध्वाङ्क-योरर्धं—ग०।

४. दर्शनात् प्रचलनाद् हकारो मुक्त इति—क (म०); हकारो मुक्त इति—ग०।

अङ्गुलिप्रचालनाद् हकारो मुक्त इति घित्थ[1] तित्थ किता खदेङ् खदेङ् गुघुं दुलेण्ट सत्ति तित्थन् घितान् हुवघे विधातव्याः ।

अंगुलियों के दबाव से ह को निकाला जाता है और यह मुक्तप्रहत होता है (गोमुख मार्ग में) इन प्रहारों को (इस प्रकार) निकालते हैं :—

घित्थ तित्थ किता खदेङ् खदेङ् गुघुं दुलेंण्ट झत्ति
तित्थन घित्तान् हुवघे ।

एवं वितस्ते[2] मार्गे गणे लमरवर्जितप्रहाराः स्युः ऊर्ध्वमार्गेण विशेषाः[3] कार्यास्तु गोमुख्या-खटमत्थिमट्टघण्टाघुरखेट्टं खत मां वुदुण किति किति किटि मां खु खु णु द्धे घे धोधो विधातव्या । इदानीं गोमुख[5] वाद्यं—ठडण[6] घेण्ट णखन्दु लंघु खेङ् घट मट्ट टांणु ध खु-खु णां त्थि घटं घिटि मां कक्कुटांणु घेङ् किटि माङ् घे घे को कोम गोमुख्यां स्यात् ।

इसी प्रकार के वितस्त मार्ग में भी प्रहार रखे जाते हैं पर इसमें ल, म और र को नहीं रखा जाता । ऊर्ध्वक में गोमुख के मार्ग में होने वाले इस प्रकार प्रहार हैं—खट्टमत्थि मट्ट घण्टा घुर-खेट्टं खतमां वुदुण ।

किति किति किटि मां वुदुण कित्तिकिति किटिमां खुखुणुद्धे धो धो ।

अब गोमुख का वादन बतलाते हैं:—टढण घेण्ट णखन्दु लंघु खेङ् घट्ट मट्ट टांगुध खु खुणां त्थि घिटि मां कक्कुटांणु घेङ् किटि मां घेघे कोकोम ।

---

१. धत्थ तित्थ डित्थडितकिता खदेङ् खदेङ् गुरुखेन्दु खेण्ड झत्थित्थित्थ-न्धित्थां विधातव्यः—क (म०) ।

२. वितस्तमार्गगणे लमकरवर्जिताः—क (म०) ।

३. विशेषः कार्यस्तु—क (म०) ।

४. खगमत्थिमटटघेण्डा खखुणं खरखेण्डां खेदुङ् खुणुमां दुणकितिकिन्ति-किट्टिमां खुखुणु द्वेघे धोधा विधातव्या । क (म०) ।

५. गोमुखी—क (म०) ।

६. डेणघेण्डण खुखुन्दु लघुदुलेङ् घटमटटाङ् दुणुघुणांत्थि घटं घिटिमां कुकुटा ड्डुणु घेड़् किदि माङ् धे धे खो खो च गोमुख्याः —क (म०); घटघंटणधो गुदुघंघे घटमटां कटां किटिमां करहलदुनाकेके दिटुंटे क्लेदेघा गोमुख्याः—ख० ।

ये त्वालिप्तसमुत्था सर्वैर्मार्गैस्तु[1] ते विधातव्याः[2]।
ग्रहणाक्षरसङ्घातैस्तु[3] मृदङ्गानां ग्रहो भवति ॥ ४५ ॥

आलिप्त-मार्ग के प्रहारों को सभी मार्गों में प्रयुक्त किया जा सकता है। मृदंगों का यह ग्रह अक्षरसमूहों से निर्मित होता (या अक्षर समूहों के मिलन से होने वाला होता) है ॥ ४५ ॥

एतेषान्तु[4] प्रवक्ष्यामि दर्शनानि यथाक्रमम्।
चतुर्णामपि[5] मार्गाणामक्षरग्रहणं यथा ॥ ४६ ॥

अब मैं चारों मार्ग में क्रमशः होने वाले उदाहरण देता हूँ जिनसे चारों मार्गों का यथोचित अक्षर ग्रहण हो जाए।

घृङ्[6] घृङ् घट घेङ् मत्थि मत्थि मटा मदात्थ ठिङ् मन घेङ् कङ् कथि कटाङ् त्वड्डिते। घाघ गेन्द्रा तकि ता घृ घृङ् भ्रो कटि घेण्टाङ् गान् घि किटि केत्था थ कुता किता किरिदाम् इति–संयोगोऽपि वितस्ते तु। डो माङ् गुदु घेंङ् घे घण्टां घे घ ट दु मा इति आलिप्ते संयोगः कार्योऽयं वादने तज्ज्ञैः। घे घेटात्थि कटां गुट्टा घुङ घेटा घण्टान् धि मधि त्थियं के स टे घे ग घेणो णो णम् इति वैष गोमुख्ये। इति उक्ताः मार्गाः।

---

१. सर्वे मार्गास्तु ते—ख०।

२. ग्रहणो न लक्ष्यसत्वो नाट्यविधानं समासाद्य। इतिपद्यार्धमधिकं क–पुस्तके। ३. ग्रहणमोक्षणसन्धानैस्तु—क०; ग्रहणाक्षरसन्धानेऽप्यादि-मृदङ्गाद् ग्रहो—क (म०)।

४. एतेषाञ्चैव वक्ष्यामि—क०। ५. चतुर्गुणामपि—ग०।

६. अयं गद्यभागः क० पुस्तके पद्यरूपतामापन्नो लभ्यते। स च यथा—दाघददथिमटां धीमटां दिथिथिक्लं थिक्लाथितां क्लाथिकटाम्। कटधिमटां खोखो घेटामड्डितावाद्यम् ॥ [क] ॥ तन्त्रांतिकिटा धंधंद्रघटितथेटम्। मटथकिकेत्तटाकुट् टिकिकिद वितस्तायाम् ॥ [ख] ॥ ध्रां मां घुटु घेघेटाधटित कथिथि घोटामाम्। आलिप्तकसंयोगः कार्यः संवादने सम्यक् ॥ [ग] ॥ ध्रटमिथिघेटांधेधे तमथिधोणाखमत्थिक्लेताम्। खोखो थाथा णाणा णाणा च गोमुख्याम् ॥ [घ] ॥—क०; धृङ् वृङ् घट्टघङ् मत्थिटत्थिमटामटत्थिदिङ् मनघेङ् क्लङ् क्लेङ् किग्घकाङ् त्वड्डिते वाद्यम्। मद्रा तकिता धृङ् वृङ् स्रो किटि घेडाङ् गंदिथ किटि केत्था यकुताकितां किरटामिति संयोगो वितस्ते तु। सोमाड़ गुदुघेङ् घेघे घेण्टां घेघेटद्दमां। आलिप्ते संयोगे कार्योऽयं वादने तज्ज्ञैः। घैषेटत्थि-

अड्डितमार्ग में (ये) इस प्रकार हैं :—घृङ् घृङ् घट घेङ् मथि मटा मदत्थि ठिङ् मन घेङ् कङ् कथि कटाङ् ।

वितस्त में ये इस प्रकार हैं—घाघ गेन्द्रा तकि ता घृ घृङ् थ्रो किटि घेण्टाङ् गान् घिकिटि केत्था थकुता किता किरि दाम । यह संयोग भी यहाँ रहता है ।

आलिप्त में ये इस प्रकार हो जाते हैं :—डो माङ् गुदुर घेङ् घेघण्टां घे घट द्रुमा ।

गोमुख में ये इस प्रकार हैं :—घे घेटात्थि कटां गुट्टा घेङ् घेटा घण्टां घि मघित्थियं केसरे घे ग घेणों णो णम् ।

गोमुख्या उक्तो यो मार्ग एतेषां[1] पुष्कराणाञ्च ।
त्रिविधः प्रचारस्तत्र समो विषमः समविषम इति ॥ ४७ ॥
वामोर्ध्वकयोर्वामसव्ययो[2] रड्डितमार्गेऽपि ।
कार्यः[3] समप्रचारस्त्वालिप्ते वाद्यकरणे तु ॥ ४८ ॥

पुष्करों के तीन प्रचार इस गोमुख-मार्ग में कहे गये हैं । ये हैं :—सम, विषम तथा सम-विषम ॥ ४७ ॥

वामक और ऊर्ध्वक को और वामक तथा सव्यक के अड्डित और आलिप्त मार्ग मे सम प्रचार रखा जाता है ॥ ४८ ॥

वामोर्ध्वकसव्यानां प्रहतो[4] वामः करस्तु कर्त्तव्यः ।
सव्योर्ध्वक[5] संयोगात् सव्यो विषमप्रचारे तु ॥ ४९ ॥

कटां गुदुघेङ् घेटां घेण्डां धिमतित्थिधं केसरे धेगधे णोणोणमिति वैष गोमुख्याः उक्ता मार्गाः ।—क (म०); वन्दुघेटां मैटाघंरोत्थिमयं कटात्थि मथिक्लेक्लाथि-क्लाथि कट किटी थिघघेडित्ता वाद्यं चन्द्रां त्रकितां चन्द्रां दधिटिटाघेटामथि-किटिकितां टाकुतौ तकिकितौ मतिसंयोगाद्धिस्तेत्र द्वामां गुदधेघेदो घधिदाघंद्र-माम्—ख० ।

---

१. एतेषां पुष्कराणां त्रिविधः प्रचारः । समप्रचारो विषमप्रचारः सम-विषमप्रचार इति—क०;···समो विषमः समविषम इति—क (म०) ।

२. सव्यो वै दक्षिणोर्ध्वके कार्यः—क०; वामोर्ध्वगयोर्वामसव्ययोरड्डिता-मार्गेऽपि—क (म०)

३. कार्यः समप्रचारे ह्यालिप्ते लिप्तवाद्यकरणे तु—क०; हस्तप्रहिताव-लिप्ते वाद्यकरणे तु—ख० । ४. ग्रहणे वामस्तु कर्तव्यः—क (म०) ।

५. सव्योर्ध्वगमनानां—क (म०); वामोर्ध्वकसंयोगात् प्रहतो हस्तप्रचारे तु—क०;···प्रहते हस्तप्रचारं तु—ख० ।

वामक, ऊर्ध्वक तथा सव्यक के प्रहार में बाएँ हाथ का उपयोग किया जाता है तथा सव्यक और ऊर्ध्वक के प्रहार में प्रचार को विषम रखते हुए दाहिने हाथ का उपयोग किया जाए ॥ ४९ ॥

एवं स्वस्तिकयोगाद् द्वाभ्यामपि यद्भवेत्तु हस्ताभ्याम् ।
मार्गे[1] वितस्तिसंज्ञे प्रहते विषमः प्रचारः सः ॥ ५० ॥

वितस्त-मार्ग में (एक) स्वस्तिकीकृत प्रहार को दोनों हाथों से किया जाता है और विषम प्रचार में भी इसी प्रकार प्रहार किया जाता है ॥५०॥

स्वच्छन्दतस्तु[2] करयोः प्रहतं[3] शेषेषु मार्गकरणेषु ।
अड्डितगोमुखयोगात्[4] समविषमो हस्तसञ्चारः ॥ ५१ ॥

(इसके अतिरिक्त) शेष मार्गों में हस्तों का प्रहार अपनी सुविधा के अनुसार यथेष्ट रखा जा सकता है । (परन्तु) अड्डित और गोमुख मार्ग के संयोग या सम्मिश्रण में सम-विषम हस्त प्रचार रखा जाता है ॥ ५१ ॥

शृङ्गारहास्ययोगे[5] वाद्यं योज्यं तथाड्डिते मार्गे ।
वीराद्भुतरौद्राणां वितस्तमार्गेण वाद्यं स्यात्[6] ॥ ५२ ॥

शृङ्गार तथा हास्य रस के होने पर वाद्य का वादन अड्डित मार्ग से किया जाता है और वीर, अद्भुत तथा रौद्र रस के होने पर वितस्त मार्ग से ॥ ५२ ॥

करुणरसेत्विह[7] वाद्यं योज्यश्चालिप्तकरणमार्गेण[8] ।
बीभत्सभयानकयोस्तथैव नित्यं हि गोमुख्या[9] ॥ ५३ ॥

करुण रस में आलिप्त मार्ग से वाद्य वादन किया जाए और बीभत्स और भयानक रस में सदा गोमुख मार्ग से वादन रखा जाए ॥ ५३ ॥

रसभावसत्वयोगं[10] दृष्ट्वाऽभिनयं गीतप्रचारञ्च[11] ।

---

१. माने—क (म); ग० ।
२. स्वच्छन्दकं कराणां—क० । ३. शेषः प्रहतेषु—क (म०) ।
४. योगे—क० ।
५. हास्ययोर्वाद्यं—क० (म०) । ६. वाद्यं तु—क० ।
७. रसेऽपि हि—क०; रसेऽपि च कार्यं वाद्यश्चालिप्त—क (म०) ।
८. ह्यालिप्तकरणमार्गे तु—क० ।
९. गोमुख्याम्—क०; गोमुखो मुख्याम्—ग० ।
१०. रससत्वभावयोगान्—क०, रसत्वभाव—क (म०) ।
११. प्रचारांश्च—क० ।

वाद्यं नित्यं[1] कार्यं तथा[2] तथा स्थानसंयोगात् ॥ ५४ ॥

रस, भाव, (पात्रों के) सत्व और अभिनय के साथ सम्बन्ध तथा गति, प्रचार तथा दृश्य के स्थान (प्रदेश आदि) को देखकर प्रसंग के अनुरूप वाद्य वादन को रखा जाए ॥ ५४ ॥

दर्दुर और प्रणव वाद्यों की विधि :—

एवं[3] प्रहतविधानं कार्यं मार्गाश्रितैः[4] रसैः सम्यक् ।
वक्ष्याम्यतश्च भूयो दर्दुरपणवाश्रितं[5] वाद्यम् ॥ ५५ ॥

(इसी प्रकार) मार्गों से सम्बद्ध वाद्यवादन को इन्हीं नियमों के अनुसार किया जाए। अब मैं दर्दुर और पणव वाद्यों की वादन विधि बतलाता हूँ ॥ ५५ ॥

अतिवादितमनुवाद्यं समवादितमुच्यते तथा[6] वाद्यम् ।
तत्रातिवादितं[7] स्यात् पुष्कराणामग्रतो[8] यत्तु[9] ॥ ५६ ॥
यत्वनुगतं[10] मृदङ्गैरनुवादितमुच्यते[11] तु तद्वाद्यम् ।
समवादितं[12] मृदङ्गैर्ज्ञेयं साम्येन यद्वाद्यम् ॥ ५७ ॥

इन (वाद्यों के वादन) के तीन प्रकार कहे गये हैं : (१) अतिवादित, (२) अनुवादित तथा (३) समवादित। इनमें पुष्कर आदि का प्रयोग के अवसर पर सम्मुख रखकर वादन करना 'अतिवादित' कहलाता है। जब मृदंग का वादन दूसरे मृदंग वादन का साथ करे तो उसे 'अनुवादन' और जब एक मृदंग दूसरे मृदंग के साथ मिलकर एक साथ वादन करें तो उसे 'समवादन' समझना चाहिए ॥ ५६-५७ ॥

---

१. नित्यं—क० वृत्ते—ख० ।
२. यथाक्रमं वाद्ययोगज्ञैः—क०; यथाक्रमं स्थान—क (म०) ।
३. एतत्—क (म०) ।
४. मार्गाश्रितं बुधैः—क०, ख० ।
५. दर्दर—क० ।　　६. पणववाद्यम्—क० ।
७. तन्नाति (?)—ख० ।
८. मुरजाना—क०; मुखानामग्रतो—क (म०), ग० ।
९. यत्र—क (म०); ख० ।
१०. त्वनुगतै—ग०, घ० ।
११. मृदङ्गादनु—क० (म०) ।
१२. समवादितमृदङ्गै—क (म०) ।

कखगा[1] पणधरवाङो प्रहणाद् ब्रहुलां ध्राहुलाम् ।
एते वर्णा नित्यं पणवातोद्यविधाने[2] प्रयोक्तव्याः[3] ॥ ५८ ॥

पणव के वादन में इन वर्णों का व्यवहार किया जाता है—क, ख, ग, पण, (घ) र, व, अङ्, प्र, ह, ण, ब्र, हु, लां, हु, लाम्, ॥ ५८ ॥

किरि[4] घिण्टां थो थो णो धोत्र हुलां किरि घिण्टां, णो णो णण्टां चो किरि कण्टां मट मट त्थि ते टे टे दोण्णाम् पणववाद्यम् । ५८ क०

तथा पणव वाद्य के वादन में किरि, घिण्टा, थो, थो, णो, धोत्र, हुलां घिण्टां किरि णो णो णण्टां चो किरि णण्टां मट मट त्थिते—टे टे दोण्णाम', होने वाले वर्ण हैं ॥

तस्य प्रहतै[5] कार्यं कनिष्ठिकानामिकाग्रकेणैव[6] ।
नानाकरणविभागं[7] पणवे शिथिलायते[8] तज्ज्ञैः ॥ ५९ ॥

पणव (वाद्य) के वादन में विविध करणों के विभागों को शिथिल और कसीले (आयत) प्रहारों के द्वारा चतुर-जन उत्पन्न करते हैं और (इन्हें) कनिष्ठिका और अनामिका की नोकों से प्रहार कर निकालते हैं ॥ ५९ ॥

वाद्या[9] कनिष्ठिकाभ्यां तु करणरागवर्णाः[10] ।
शेषास्तु वादनविधौ[11] स्मृताः प्रहाराश्च वाद्यानाम् ॥ ६० ॥

---

१. कखगा ठढणा देल्ला णरलाः क्रुलिलंध्रणेति किरिकिण्हा—क०, कख-चाः पखमा दोण्हा नचला ककिलं··ति करिह्वः—ख०; कखगां प पणवमुखा-डोग्रहणात् ब्रहुलां ध्राहुलां ध्राहुलाम्—ग० ।

२. पणववाद्ये—क (म०), ग० । ३. विथातव्याः—क०, ख० ।

४. धोधोगाधोकिहुलं प्रहुलं ह्वल्लिति रिणिति रिहथण्हे । कंथित्वादे ढेढणां पणववाद्यम् । ण्होणि किमि किमैंणोण इति पणववाद्यन्ते—क०; किरिखिण्ड णो णो थोत्रहुला किरिकिण्डां णो णो माणाश्च किरिकण्डांमाटामटत्थि टेटे दोण्णां पणववाद्यम्—क (म०); धाधा नाचोत्तकुलं ब्रहुलं हाकिरि णिकिरि-ल्हटं ठेणि क्रमि णि कि थखोणम् इति पणववाद्यम्—ख० ।

५. प्रहतं—क०; प्रहरैस्तं—ख० । ६. काग्रकोणेन—क० ।

७. विभागैः—फ०, ख०, विभागः—ग० ।

८. शिथिलाञ्चिते—क०, पणवैः शिथिलाश्च तानज्ञैः—ख० ।

९. वादकनिष्ठिकाभ्यां शीघ्रकृता—क०, ख०, शीघ्रगताभ्यां—ग० ।

१०. करेऽथ नेणोहां—क०; करेण हल्लेण—ख० ।

११. वादनकृताः स्मृताः प्रकाराश्च वाद्यानाम्—ग० ।

करणों को राग युक्त या अलंकृत करने के लिये अभीष्ट वर्णों की ध्वनियों को कनिष्ठिका और अनामिका के प्रहारों से निकाला जाता है। अन्य (शेष) वर्ण ध्वनियों को निकालने के लिए शेष अंगुलियों से प्रहार कर वादन करना चाहिए ॥ ६० ॥

कोणानामिकवाद्यं मध्याङ्गुल्या हि[1] वादने कार्यम् ।
कोणानामिकवाद्यं शुद्धं प्रहतं भवेदेतत् ॥ ६१ ॥

कोण और अनामिका के साथ किया जाने वाला वादन मध्यागुंली से किया जाए तथा कोण और अनामिका अंगुलि से किया जाने वाला यह साधारण (शुद्ध) प्रहार होना चाहिए या कहलाता है ॥ ६१ ॥

भ्रान्तकरणयोगात्[2] त्रिकुलहमित्येतद् भ्रान्तवादनाग्रकृतम्[3] ।
[4]रिभितकरणानुबन्धास्तत्राभ्यस्तोऽत्र रकारस्तु ॥ ६२ ॥

अनियमित या भ्रान्त वाद्यवादन से जो त्रिकुलहम् बोल निकलता है यह अनियमित वादन (के आरम्भ) में आ जाता है। यहाँ जब रिभित को करण के जैसा जारी रखा जाता है तो इसमें एकत्र र को और जोड़ दिया जाता है ॥

[5]मिश्रकरणानुबन्धे द्रेकारस्तूर्ध्वहस्तसंयोगात् ।
स[6] तु वादकेन वाद्यो[7] धुर्येण विशेषतः कार्यः ॥ ६३ ॥

मिश्र करणों के अनुबन्ध में ऊर्ध्व हस्त के द्वारा प्रहार कर द्रेकार को निकाला जाता है। इसे अच्छे वाद्यवादक विशेष रूप से प्रस्तुत करते हैं ॥ ६३ ॥

स्वरचित्र[8]करणरम्यं कार्यं तथा कनिष्ठिकाग्रेण ।

---

१. मध्याङ्गुल्या हि वादनं—क०; मध्याङ्गुल्यादिवादने—ख०, मध्याङ्गुल्याद् वादने—घ० । २. भ्रान्तकयोगात् किहुल—क० ।

३. वादनाग्रेण—क० ।

४. करणानुविद्धं तत्रा भस्तद्रकारस्तु—क०; रभितद्दग०; जगति करणाविद्धं—ख० ।

५. शीघ्रकरणानुविद्धैडकारस्त्वर्ध—क०; दीर्घकरणानुविद्धे कारे तूर्ध्नेहस्त—ख० । ६. अनुवादकेन—ग० ।

७. वाद्ये—क०; वाद्यैध्रुवेण—ख०, वाद्यो धुर्येण विषमतः—ग० ।

८. स्वश्चितकक्षौ पणवौ कृत्वा धुर्यं परिवादकाभ्यां हि—क०, सचितकक्षौ (?) यणवौ कृत्या धुर्यंपरिपादकाभ्यादि—ख०; स्वं चित्रकरणरम्यं—ग० ।

तत्रैव[1] कार्या दोष्णिमथाणिणि कृतप्रहारा वै ॥ ६४ ॥

विभिन्न करणों में जिनकी स्थिति के कारण स्वरों में चित्रात्मकता या आकर्षण रहता है उन्हें कनिष्ठिका की नोक के द्वारा प्रहार करते हुए निकाला जाता है और उसी अंगुलि के द्वारा प्रहार कर अ, णि, णि निकाले जाएँ ॥ ६४ ॥

पणव-वादन :—

कृत्वा[2] च शिथिलकक्ष्यां कार्यास्तु[3] कनिष्ठिकाग्रकोणेन ।
तेनैव चरेद्धत्वो[4] ध्वाण भागे इत्यञ्चितेनैव ॥ ६५ ॥

शिथिलता से बंधे हुए (पणव) वाद्य में कनिष्ठिका की नोक से यह वादन किया जाता है । और कस के बंधे हुए पणव वाद्य से घत्वो ध्वाण की ध्वनि को अंचित हस्त द्वारा निकाला जाए ॥ ६५ ॥

अङ्कितशिथिले[5] पणवे कठणतणिण[6] कृताः प्रहारास्तु ।
भ्रान्तकरणा[7] न तथास्त्वञ्चितकक्ष्ये प्रशिथिले च ॥ ६६ ॥

कस के (या तंग) बंधे हुए या ढीले बंधे हुए पणवों में वादन कर प्रहारों के द्वारा क, ठ, ण, त, णि को निकाला जाता है । परन्तु पणव में (इस प्रकार के) भ्रान्त या अनियमित करणों को उसके तंग या ढीले होने पर नहीं निकाला जा सकता है ॥ ६६ ॥

अञ्चितकक्ष्ये पणवे खखरटणकृता[8] प्रहारास्तु ।
तथेन्ततः[9] प्रहारा पणवे[10] कार्या सदा शिथिलकक्ष्ये ॥ ६७ ॥

---

१. रणणकिकिहिकिणिङ्क इति प्रहारा विधातव्याः—क०; रणरण किकिलिल किणि ज्वा इति प्रहारा विधातव्या–ख०; तत्रैकार्या–ग० । अस्मादनन्तरं कपुस्तके तु—अञ्चितकक्ष्ये पणवे रेफः सोऽर्धे तु हस्त्योर्ध्वं ग्रहे । कार्या मयूरककरा सूक्ष्मौघास्तथा प्रहारा विधातव्या । इति पद्यमधिकम् ।

२. कृत्वा शिथिलं कक्ष्यं—ख०, घ० । ३. कार्योसुकनि (?) ख० ।

४. प्रेद्धो भागे—क० । ५. अञ्चित—क०, ख० ।

६. कटणा निकिणिकिण्णिकृताः—क० ।

७. वैभ्रान्तककरणेव तथा खञ्चितकक्ष्ये च–क०, वै भ्रान्तककरणा न हैथा स्वस्तिक कत्थे च शिथिले च—ख० ।

८. कखरटणकृता मताः प्रहारास्तु–क०, ये कंकार एकप्रकारस्तु—ग० ।

९. धिन्ने इति—क०, विण्णे इति—ख० ।

१०. पणवे तु सदा—क०, '''शिथिलकक्ष्याः—ख० ।

कसे हुए पणव पर इस प्रकार के वादन प्रहार सदा दिये जाएँ। यथा:- ख, ख, र ट, ण। ढीले बँधे हुए पणव में वादन प्रहार से सदा तत, त्थेन्, जैसे बोल निकाले जाना चाहिएँ॥ ६७॥

कखरटकृताः[1] प्रहारा सोच्छ्वासे पणवे विधातव्याः।
शेषा भ्रान्तकयोगात्[2] संयोगकृताः संविधातव्याः॥ ६८॥

बंधे हुए (सोच्छ्वासे) पणव पर क, ख, र और ट के प्रहार निकाले जाएँ। ये प्रहार भ्रान्त या अनियमित करणों से मिले हुए रखे जाते हैं॥ ६८॥

टङ्कारानुस्वनजं[3] पणवे कक्षाञ्चिते तु सम्भवति।
तेन[4] च णकारयुक्तो ह्ण इति पणवे प्रहारः स्यात्॥ ६९॥

कस के बंधे हुए पणव पर ट का अनुस्वन निकालना संभव होता है और इसी प्रकार णह जिसमें ण निहित हे भी निकालना संभव (होता) है॥ ६९॥

तिर्यग्गृहीतवादनमुखवर्तित इष्यते प्रहारोऽयम्[5]।
कहुलां[6] क्रकुलां क्रमादिति क्रकुलामित्थं प्रहारः स्यात्॥ ७०॥

पणव के मुख पर तिरछी चोट या प्रहार को किया जाता है तथा इस प्रहार से उसमें जो ध्वनि होगी वह कहुलां, क्रकुलां, क्रकुलां के रूप में निकलेगी॥ ७०॥

दर्दुर-वादन:—

एवं[7] पणवे वाद्यं विधिवत्सङ्क्षेपतो मयाभिहितम्।
व्याख्यास्यतः परमहं दर्दुरवाक्याक्षराण्येवम्[8]॥ ७१॥

---

१. कखटे कृताः—क०, खलचटुकृताः—ख०।

२. भ्रान्तकयोगाः संयुक्ताः—क; शेषभ्रान्तकयोगाः—ख०।

३. टङ्कारेण स्वनजं वाद्यं—क०; टकरानु—ख०।

४. तेन नकारो युक्तो ण्ह इति च—क०, तेन णकारो युक्तो ल्ह इति च—ख०। ५. तकारस्तु—क०, ख०।

६. तहुलं तहुलं क्रमशश्चैवं ह्येते प्रहारास्तु-क०, ध्रहुलं ध्रहुलं क्रमधील्येवं ह्येते—ख०।

७. एवञ्च सङ्करकृताः प्रहाराः शुद्धाः प्रकीर्तितास्तज्ज्ञैः दर्दुरपणवमृदङ्गैर्मिलितवाद्यं प्रवक्ष्यामि —क०, ग०।

८. दर्दरवाद्याक्षराण्येव—क०, ख०।

इस प्रकार संक्षेप से पणव की विधिवत् वादन विधि मैंने बतलायी। अब मैं इसी प्रकार दर्दुर पर निकलने वाले वाक्याक्षरों वाले प्रहारों का वर्णन करूँगा ॥ ७१ ॥

रेक्लृति[1] त्रिकलौ क्लेचद्रो गोणो हथिण्ण संयुक्ताः।
इति दर्दरे प्रहाराः कार्या मुक्ता थणण्णाँश्च[2] ॥ ७२ ॥

दर्दुर पर मुक्त-वादन की दशा में प्रहार करने पर उससे ये बोल निकलते हैं :—रेक्लृति, त्रिकल, क्लेचद्रो, गोणों, हथिण्ण तथा घणण्ण ॥ ७२ ॥

कार्यास्तत्र[3] निषण्णा रग्रध्रण्हि इति च दक्षिणकरेण।
वामेन गोमदोत्था[4] न नखस्पृष्टः प्रकारोऽग्रे ॥ ७३ ॥

दाहिने हाथ से प्रहारों को करते हुए एणण क्षार ग्रध्रण्हि (को) निकाला जाता है और बाएँ हाथ के नख के अग्रभाग से दर्दुर को स्पर्श न करते हुए प्रहार कर गोमूदत्था (अक्षरों के) बोल को निकाला जाए ॥ ७३ ॥

मुक्तौतीत्रित्रिण[5] भवेन्निपीडितेन[6] वै करद्वयेनापि।
विमुक्तग्रहणस्यान्ते[7] स्वने निपीडिते चैव ॥ ७४ ॥

दोनों दबाव वाले एवं नियन्त्रित हाथों से प्रहार करते हुए मुक्तोतीत्रि निकालते हैं और मुक्त-ग्रहण के पश्चात् ध्वनियों को (वाद्यों को) निपीडित या दबावयुक्त कर बनाया या रखा जाता है ॥ ७४ ॥

स्यात् पीडिते च थित्थेनत्र[8] नित्यमथापि वा।
शेषाः[9] भवन्ति मुक्ता ग्रस्त[10] इति चैव निगृहीते ॥ ७५ ॥

---

१. क्लृतिकुत्खनो प्वनोधन्मोगोणेह धिण्ण—क०, रक्तित्रिकलौ क्लेचद्रौ गोणोहथिहासयुक्ताः—ख०।

२. निषण्णाँश्च—क०, थणन्नाँश्च—ख०।

३. कुर्यात्तत्रँणणक्षार ग्रध इति च—ख०।

४. गोमत्थास्तु स्पष्टः ककारोऽग्रेण—ख० घ०।

५. मुक्तौल्लातितिनिपीड चैकरद्वयेनापि—ख०, मुक्तौल्लाविति ''' निपीडितेन—घ०। ६. निपीडने करद्वेमेषापि—क०।

७. धीमुक्तः प्रहतं स्यादनुस्वने त्तडिते चैव–क०, विमुक्तग्रह तस्यान्ते–ख०।

८. धिण्हेत्येतन्मुक्तं तथा विमुक्तेऽपि–क०, त्थिन्त्येन्य नित्यमथावि—ख०।

९. मुक्तारिशेषा (?) भवन्ति–ख०; मुक्ता विशेषा भवन्ति मुक्ता—घ०।

१०. स्तन्का इति—क०; स्रक्त इति—ख०।

(हाथों का) दबाव रखते हुए थित्थेन् त्र को सदा की तरह निकाला जाए। मुक्त रूप से निकली हुई (ऐसी) ध्वनियाँ विशेष प्रकार की होगी जब कि प्रहार को निगृहीत करते हुए निकाली गयी ये ही ध्वनियाँ मुक्त या ग्रस्त रूप में हो जाएगी ॥ ७५ ॥

शीघ्रकरणानुबिद्ध[1]स्थितिरेव हि वै स्वरस्खलितं स्यात् ।
इति दर्दुरप्रहाराः[2] समासतस्तत्र विज्ञेयाः ॥ ७६ ॥

अति शीघ्रता से या तीव्र अनुक्रम से (वादन) किये जाने पर स्वर स्खलन या त्रुटि हो जाएगी। संक्षेप में दर्दुर की वादन विधि में ये ही प्रहार जानने चाहिए ॥ ७६ ॥

एवन्त्वसङ्करकृता[3] प्रहारविशुद्धिरिह[4] कीर्तिता तज्ज्ञैः ।
दर्दुरपणवमृदङ्गैर्मिश्रितवाद्यं प्रवक्ष्यामि ॥ ७७ ॥

और ये शुद्ध या अमिश्रित प्रहार हैं जो किसी अन्य प्रकार के दर्दुर वाद्य के प्रहारों से मिश्रित नहीं होते। अब मैं दर्दुर, पणव और मृदंग में मिश्रित (या तीनों में समान रहने वाले) वादन को बतलाता हूँ ॥ ७७ ॥

त्रिपुष्कर वाद्यवादन :—

तत्र व्यक्तीभावं[5] वाद्ये गच्छन्ति मिश्रिताः केचित् ।
केचिद्युगपत्करणाः[6] केचित् पर्यायकरणास्तु[7] ॥ ७८ ॥

वाद्यों के मिश्रित रूप में कुछ करण भिन्न रूप में या विशेषता से युक्त होकर प्रकट होते हुए आते हैं जब कि कुछ करण साथ-साथ (या एक साथ) तथा कुछ करण क्रमशः बतलाये जाते हैं ॥ ७८ ॥

एकैकसम्प्रयुक्ता वर्णा[8] णगरास्तथैव सम्प्रयोक्तव्याः ।
धें[9] का कत्थं चैखो कद्दुलं तकिता मृदङ्गेषु ॥ ७९ ॥

---

१. जरपानुबन्धस्थितिरेव हि निःस्वनं स्खलितकं स्यात्—क० ।
२. दर्दरे—क० । ३. एवञ्च सङ्करकृता—ग० ।
४. प्रहारशुद्धि प्रहाराः शुद्धः—क (म०) क०, ख० ।
५. वर्गिकाभावं केचिदिच्छन्ति—क (म०); विभागं केचिद् वाद्ये—ग० ।
६. करणं केचित्—क० । ७. करणन्तु—क० ।
८. वर्णानुगतास्तथैव सम्पृक्ताः—क० ।
९. घोन्द्रेरेंखोको त्रिहुलं तत्कृता—क०, घेन्तां कथं त्रैवो कुहुलां—क (म०), यंतारा दोखो त्रिकुलं तत्कृता—ख० ।

अथ दर्दुरे[1] दङ् स्येङ् द्रेङ् कहुलां मटं हि पणवे च ।
यं[2] स्मटत्थिदां कहुलां मटत्थि देङि् नेङ्वमिश्रस्तु ॥ ८० ॥

इस मिश्रित वादन में स्वतन्त्र प्रहार है-ण, ग, र और घेंका, कत्थम् त्रैखो कहुलं तकिता मृदंग में, दङ् स्येङ् द्रेङ्, कहुलां मटत्थि देङ् नेङ् को दर्दुर में निकाला या प्रयुक्त किया जाता है ॥ ७९-८० ॥

एभ्यो येऽन्ये शेषास्ते मिश्रा एव नित्यशः कार्याः ।
पूर्वेऽपि च मिश्रत्वं व्रजन्ति सर्वे यथाप्रयोगम् ॥ ८१ ॥

इनके अतिरिक्त जो अन्य (करण) हैं उन्हें सदा मिश्र ही रखना चाहिए (या मिश्रित रूप में निकालना चाहिए) और जिन्हें पूर्व में बतलाया गया उन्हें भी आवश्यकतानुसार मिश्र किया जा सकता है ॥ ८१ ॥

अथ युगपत्करणं[3] कहुलां णणण्णां ख खु णे खे ।
द्रोमो[4] द्रोणं थे थो थो थिं द्धं एवं योज्यं णणवे वाद्यम् ॥ ८२ ॥

पणव में मिश्र या एक साथ रहने वाले या निकाले जाने वाले करण हैं :—कहुलां णणण्णां खुखुप ण् णेखे द्रोमो द्रोणं दे थे थो थिद्धं ॥ ८२ ॥

धुर्यकृतश्च[5] क्रमशः करणं परिवादकेन कर्त्तव्यम् ।
ट[6] टटटे घोणणण किरिणि किणिकिण्णा कृतश्चेति ॥ ८३ ॥

उत्तम-वादक (परिवादक) को क्रमशः ऐसे करणों को पर्याय से निकालना चाहिए । जैसे :—ट ट ट टे घोणणण किरिणि किणिकिण्णा ॥ ८३ ॥

---

१. दर्दरेऽपि धिधिक्लेते पणवयोस्तु संयुक्ताः—क०; अथ ददरे द्रङ् द्रेरेङ् कुहुलां मटंथि पणथे—क (म०) ।

२. डणके खोदे दोदे दिधिरे दिधिनि मिश्रास्तु—क०, थं भटं हि झं कुहुलाँ कटत्थि देङ् वेङ् विमिश्रितस्तु—क (म०) ।

३. करणानि तु हल्लल्ले कुकुनणं ध्रलंदोह्लम्—क०; करणं कुहुलाणणां खुखुणो खेद्रोमा दोण्णा—क (म०); करणानिपुणं नाणो खुरचुघुणहे लह (?) —ख० । ४. ग्रहुलं नह्लादो एवं योज्यास्तु पणवे हि—क०; थथोधोत्थि द्वे योज्यं पणववाद्यम्—क (म०); ग्रहुलं हल्ला दीदो एवं योज्यास्तु पणवे हि—ख० । ५. कृतास्तु क्रमशः करणे परियादनेन—क०; धुर्यकृताश्च क्रमशः करणे कर्त्तव्याः—ख० ।

६. कोखो देदो धोणह्वेति किणिकिणिति कृताश्च—क०, भट भेभे धोधोणा णकिरिणि किण्णा—क (म०) णोणो देदे घाणलिलति किति कृतास्तु पणवानाम्—ख० ।

पणवस्य[1]-चानुबन्धे कार्यं ण्णु[2] खु खुणेति वाद्यन्तु ।
भूयःकृतप्रतिकृतभेदो[3] मार्दङ्गिकदर्दु रिभ्याश्च[4] ॥ ८४ ॥

पणव के अनुबन्ध में ण्णु खु खुण जैसे करण रखे जाएँ और मृदंग तथा दर्दुर के वादकों को कृत तथा प्रतिकृत के प्रकारों को इस प्रकार बार-बार प्रस्तुत करना (वादन करना) चाहिए ॥ ८४ ॥

यद्यत् कुर्यान्मुरजे[5] प्रहारजातं गतिप्रचारेषु ।
अनुगतमक्षरवृत्तं[6] तदेव वाद्यन्तु[7] पणवेऽपि ॥ ८५ ॥

मुरज पर (रूपकों के प्रदर्शन के समय में पात्रों के) गति-प्रचार तथा अन्य विविध कार्यों की स्थिति में (जिन) अक्षरों का (करणों का) वादन किया जाता है उन सभी बोलों को (इन्हीं अवस्थाओं में) पणव के वादन होने पर (भी) लागू किया जाए ॥ ८५ ॥

न हि चित्रं कर्त्तव्यं गतिप्रचारेषु वादनं[8] तज्ज्ञैः ।
समविषमं तत्र हि यन्न[9] लक्ष्यं पादसञ्चारे ॥ ८६ ॥

चित्र-मार्ग में पात्रों के गति तथा प्रचार की स्थिति में चतुर-जन चित्र वाद्यवादन नहीं रखते हैं, क्योंकि जब पादों की गति या उनके रखने की क्रिया का ठीक से मान नहीं रहेगा तो वादन भी सम विषम होने लगेगा ॥ ८६ ॥

उपरिकरणे यथेष्टं कर्तव्यं[10] पणवे मृदङ्गे च ।
तत्र[11] प्रहारकरणैर्मृदङ्गवाद्यं विधातव्यम् ॥ ८७ ॥

---

१. पणवानामनुबन्धे— क०; पणवस्याचारबन्धे--क (म०) ।

२. धुक् दुहणकेति—क०, धाखुखुणेति वाद्यत्रयम्—क (म०); तु कुचुकुणकेति—ख० ।

३. भूयः प्रतिकृति—क०; भूयः कृतश्च प्रतिकृत—क (म०) ग० ।

४. दर्दरभ्याश्च—क०, दार्दुरिकाभ्याश्च—क० (म०) ।

५. समुखं—क (म०) मुखप्रहार—ग० ।

६. अनुगच्छतमक्षर—क (म०) अनुगतोऽक्षर—ख० ।

७. वाक्यं—क० । ८. वाद्यतत्वज्ञैः—ग० ।

९. यत्तुलक्ष्यं—क०; यत्र लक्ष्यं—ख०; समसहितं तत्र हितं न लक्ष्यते पाद्यसंचारो—ग० ।

१०. कर्तव्यस्तु पणवो मृदङ्गेषु—क०, ख, उपरिकरं यत्रेष्टं कर्तव्यं पणवं मृदङ्गश्च--ग० । ११. तद्वत्तु प्रकारकरणं मृदङ्गवाद्ये क (म०)—ग० ।

पणव तथा मृदंग के वादन में स्वतंत्रता-पूर्वक (यथेष्ट) उपरिपाणि के करणों का प्रयोग करना चाहिए। मृदंग का वादन (भी) समान प्रहारों के द्वारा किया जाए ॥ ८७ ॥

प्रायेण सर्वातोद्येष्वादौ[1] पणवग्रहः प्रयोक्तव्यः ।
वक्ष्याम्यतः परमहं दसृक् सेन्ततिता[2] तेतित्सदेवेति ॥ ८८ ॥
रेभित[3] नृतामत्थि इति दर्दुरे प्रहारः[4] स्यात् ।
तथोर्मुक्ते निषण्णे च कार्यस्तत्र णण्णारे[5] ॥ ८९ ॥

प्रायः सभी वाद्यों की वादन अवस्था में सर्वप्रथम पणव का वादन लेना चाहिए।

अत्र मैं दर्दुर के प्रहारों को बतलाता हूँ। ये हैं—दसृक् सेन्ततिता तेतित्स देवे रमित नृत्था मत्थि। और इनको दो बार मुक्त रूप से निकालने पर रुक कर णण्णार जैसा प्रहार से निकलना चाहिए ॥ ८८-८९ ॥

भ्रेभ्रोकिथीति[6] दक्षिणकरेण वामे[7] तु गुदथिं क्रम् ।
तत्ववृष्टौ[8] कराग्रेण मुक्ते तमिति चैवं निगृह्य ॥ ९० ॥
शीघ्रं[9] करणानुबन्धस्थितिरेव हि तकं स्यात् ।
इति दर्दुरे प्रहारं[10] वक्ष्याम्यूर्ध्वं करणजातम् ॥ ९१ ॥

और फिर दाहिने हाथ से भ्रेभ्रो कित्थी और बाएं हाथ से गुडथिं वलं को प्रहार से निकाला जाए। और फिर हाथों की नोक या अग्रभाग से तत्ववृष्ठ निकालते हुए दोनों हाथों को तम् वादन के बाद वादन से रोक लेना चाहिये तथा तकम् से शेष करणों के अनुबन्ध को उचित किया जाए ॥ ९०-९१ ॥

दर्दुर में ये ही प्रहार होते हैं। अब मैं करणों के (छः) प्रकारों को बतलाता हूँ ॥ ९१ ॥

---

१. सर्ववाद्येष्वादौ—क०, ख०, ग०।
२. घेत्तानिता केसदेङ्—क (म०)।
३. केसदेवेदेरेभिण्णत मिततिमत्थि—क (म०)।
४. कार्यो मुक्ते निषण्णे च—क (म०)।
५. णणण्णारे—क (म०)।
६. द्रेग्रे थिकित्थि दक्किक्किकरणे—क (म०)।
७. वामेन तु झित्थिकसं—क (म०। ८. वृष्टैः—क (म०)।
९. शीघ्रकरणा—क (म०)। १०. प्रहारे—क (म०), ग०।

(त्रिपुष्कर के) करण—

रूपं कृतप्रतिकृतं[1] प्रतिभेदो रूपशेषमोघश्च ।
षष्ठी वै प्रतिशुष्केत्येवं[2] ज्ञेयं करणजातम् ॥ ९२ ॥

इन करणों के नाम हैं— (१) रूप, (२) कृत प्रतिकृत, (३) प्रतिभेद, (४) रूपशेष, (५) प्रतिशुष्क तथा (६) ओघ ।

तत्र रूपं नाम द्विहस्त[3] करणविभक्तम् । यथा—घं[4] खु खु ण खु घं क्रमं तिथमं त्येत्तरं घटां घत्थि मेथि घेण्टा कट गुद्ध रण किटि घं घे कघटं घे कखम् । इति रूपम् ।

रूप :—दोनों हाथों से विभाग पूर्वक करणों को निकालना 'रूप' कहलाता है । जैसे—घं खु खुण खुघं क्रमं तिथमं त्थेत्तरं घटां घत्थि मेथि घेण्टां कट गुद्धरण किटि घंघे कघटं घे कखम् ।

कृतप्रतिकृतं नाम-यत्रैकं करणं त्रिपुष्करमुद्भावयति[5] । यथा—थं[6] घु ण खथं क्रमतिथ वग्गें रघटां घटत्थि घं त्सां इदुघे कुहुलाण्णं दोघोण इति कृतप्रतिकाख्यम् ।

कृतप्रतिकृत :—त्रिपुष्कर से जब एक करण की उद्भावना की जाए तो उसे कृत-प्रतिकृत कहते हैं । जैसे—घं घु खु ण खुथं क्रमंत्थि वग्गे रघटां घटत्थि घं त्सा इदुघे कुहुलाण्णं दोधोण।

प्रतिभेदो नाम-युगपत्कृते करणे मृदङ्गानां यदुपरिकरणेन गच्छति ।

---

१. कृतं प्रतिकृतं—क (म०) ।

२. षष्ठी च प्रतिशुष्केत्येवं—क०; षष्ठी वै प्रतिकृति शुष्केभ्यो ज्ञेयं करुणआतम्—ग० ।

३. विभक्तकरणम्—क०; विहस्तकरणकरणं—क (म०); करणविभक्तं—ख०; विहस्तन करणकरणं—ग० ।

४. घंदेघंगेवं किटिमा घटत्थि घटपटत्थि घदुगुरु किटि कट कृण्हं दोघे दोघे क्ले—क०; घेधं घेधं घेटं किटिमाद्या त्रिघतमत्थि घणु गुरु किटि किटं दो घे क्ल—ख० ।

५. त्रिपुष्करमप्यु—क० ।

६. दं खु खुणमणेक्रमधिमदां णेटो टतितोटमत्थिमानकम् । गुरुखे किहुले दोण्हं दोस्रो दोधोणखे—क० ।

यथा—धो[1] धो णा खो ला ल णा णा त्थि टभि घण्डाम्, एभिः करणविशेषः[2] प्रतिभेदो नाम विज्ञेयः।

प्रतिभेद :—मृदंगों पर दो करणों के एक साथ निकालने के उपरान्त जब उपरिपाणि को (वादनार्थ) लिया जाता है तो उसे प्रतिभेद कहते हैं। जैसे :-धो घो णा खो ला ला णा गा त्थि टघि घण्डाम्। इन विशेष करणों से प्रतिभेद जाना जाता है।

रूपशेषं नाम[3] करणानामविशेषो। यथा—खु[4] खु णो ण्णा मट घें घेण्टामटघोटा मथि आत्ल्यां घोम् इति वाद्यं रूपशेषः[5]।

रूपशेष :—करणों में भेद न रहना या विभेद की कमी हो जाना रूपशेष कहलाता है। जैसे—खु खु णो ण्ण मट घें घेण्टामटघोटा मथि आत्ल्यां घोम्।

प्रतिशुष्कं[6] नामानुस्वरो मार्दङ्गिक-पाणविक-दार्दुरिकाणाम्। यथा—घटमटत्थि[7] दुणथेर्जकिटि केघेङ् घोङ् घोण्डाघोण खो खो ख कुटकिट वकत्थि णणत्थि प्रतिशुष्काख्यं सदा करणम्।

प्रतिशुष्क :—मृदंग, पणव और दर्दुर वादकों के वादन काल में सभी वाद्यों में एकसाथ समान स्वर या अनुस्वर का हो जाना प्रतिशुष्क कहलाता है। जैसे—घटमट त्थि इत्यादि में।

ओघो नाम चतुष्काख्ये[8] सर्वभाण्डविधेयो द्रुतपाणिलय-योगेन

---

१. दाधा धाणिधा मटगतमधि घटे घटे दोगे घटमत्थि णह्लकोखो—क०।

२. विशेषैः—क०।

३. विरूपशेषं नाम विरामकृतैः—क (म०); विरामकृतं—ग०।

४. खुखुणं णणणणणां मढ़ावेव मथिटां घेटां घेदो। ये घेटमढिणष्णरवो—क०, ख०।

५. शेषं तु—क०।

६. प्रतिशुल्को नामानुस्वारो मार्दङ्गिकदर्दरवादकानाम्—क०, प्रतिशुल्का नाम—अनुस्वारो'''वादिनाभ्याम्। यथा—ख०।

७. घटमटि कुणकिटि गखाखा कथिधिजा गणकोखोणाखा। कुटकटि कुणकिटि कटखे प्रतिशुल्काख्यं सदा करणम्—क०, ख०।

८. सर्वभाण्डविधेयो द्रुतपाणिलयो नद्यौघवत्—क०, चतुकाख्ये सर्वभाण्डे विरामे द्रुतपाणिलयो नद्यौघवदोषः—क (म०)।

नद्योघघोषवदोघो । यथा—थंकिटि[1] मंथिहि किटि घेंङ् घण्टाणं घेंडा घोण घोण घट्टु घेङ् घं घे विरिणि णगेहंथैथोथो तथै घे च ।

ओघ :—सभी वाद्यों को द्रुत पाणि लय में वादन करते हुए एक निरन्तर या क्रमिक ध्वनि में अक्षरों को नदी के प्रवाह के समान निकालना ओघ कहलाता है । जैसे—धंकिटि मंथिहि किटि घेङ् इत्यादि ।

करणानां समायोगः षड्विधः[2] परिकीर्तितः ।
अनेनैव[3] विधानेन योज्यं वाष्करणं बुधैः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार करणों के योग या मिश्रण के ये छः प्रकार कहे गये हैं । चतुरजन को इन्हीं नियम के अनुसार करणों का प्रयोग करना चाहिये ॥९३॥

त्रियतिर्नाम—[4]समा स्रोतोगता गोपुच्छा चेति । यतिर्लयपाणीनां[5] त्रिविधः संयोगः । स च त्रिप्रकारो भवति । यथा—राद्धं विद्धं शय्यागतमिति । त्रिलयं नाम—द्रुतो मध्यो विलम्बितश्चेति । त्रिपाणिकं नाम—समपाणिरर्धपाणिरुपरिपाणिश्चेति । एवं त्रिप्रकारः[6] संयोगः करणेषु ।

त्रियतिः—तीन यतियों के नाम हैं—समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा । लय और पाणि का तीन प्रकार या मार्गों से होने वाला संयोग यति कहलाता है । इनके तीन प्रकार हैं—राद्ध, विद्ध और शय्यागत; तीन लय होते हैं । इनके नाम हैं द्रुत, मध्य और विलम्बित (लय) । पाणि तीन हैं—समपाणि, अर्धपाणि तथा उपरिपाणि । इस प्रकार करणों का त्रिविध संयोग होता है ।

समा यतिर्द्रुतश्चापि[7] लयो यत्र भवेदथ ।
तथैवोपरिपाणिश्च राद्धस्यैष[8] विधिर्भवेत् ॥ ९४ ॥

---

१. घंकिटि मथकिटि किटिघे घदघुदेदेण घाणदावा नशोखो । घदु गुदु घदु पदघेरेणिण एते तथौघे च—क०, थंकिटि मंथि वठि किटि धिटि धेङ् घेण्टाटाणं घोण घोण घट घट गुदु घेङ् गंधेतिरिणगेगं थोयो तथो घघु—क (म०) ।

२. समायोगं करणेषु विधीयते—क (म०); ग० ।

३. अनेन नामयोगेन—ख०; अनेन तु—क (प०) ।

४. यतिर्नाम—क (म०), ग० ।

५. लययतिपाणीनां—क०, यतिपाणीनां—क (म०) ।

६. त्रिप्रकारः सम्प्रयोगः करणेषु विधीयते । ७. द्रुतश्चैव—क० ।

८. राद्धस्त्वेष—क० ।

राद्धः—जब किसी प्रयोग में समायति, द्रुत-लय और उपरिपाणि हो तो उसे 'राद्ध' नामक वादन-विधि कहते हैं ॥ ९४ ॥

तथा वाद्यप्रधानश्चोपरिपाणिः[1] समा यतिः ।
द्रुतश्चापि[2] लयो यत्र राद्धं वाद्यन्तु तद्भवेत् ॥ ९५ ॥

और वाद्यवादन को प्रमुखता देते हुए जब उपरिपाणि, समा यति और मध्यलय रखी जाए तो उसे (भी) 'राद्ध' नामक वाद्यवादनविधि समझना चाहिए ॥ ९५ ॥

स्रोतोगता गतिर्यत्र[3] लयो मध्यस्तथैव च ।
समपाणिस्तथा चैव विद्धं वाद्यं तु तद्भवेत् ॥ ९६ ॥

विद्धः—जब स्रोतोवहा यति, मध्य-लय और समपाणि हो तो ऐसा वाद्य-वादन 'विद्ध' कहलाता है ॥ ९६ ॥

वार्तिको वृत्तिमार्गः स्याद्दक्षिणो गीतवाद्ययोः[4] ।
पात्रेषूत्तममध्येषु विद्धं वाद्यमुदाहृतम् ॥ ९७ ॥

जब उत्तम और मध्यम-पात्र की दशा में वार्तिक या दक्षिण-मार्ग प्रयुक्त हो तो संगीत के गीत तथा वाद्यों में किया जाने वाला वाद्य-वादन (भी) 'विद्ध' कहलाता है ॥ ९७ ॥

अर्धपाणिस्तु[5] यत्र स्यात्तथा चव स्थितो लयः ।
यतिश्चैव[6] तु गोपुच्छा वाद्यं शय्यागतन्तु तत् ॥ ९८ ॥

शय्यागतः—जब अर्धपाणि प्रहार हो, स्थित या विलम्बित लय हो और गोपुच्छा यति हो तो उसे 'शय्यागत' वादन कहते हैं ॥ ९८ ॥

यथा[7] च गीतिप्राधान्यं मार्गश्चैव हि दक्षिणः ।
अत्युक्तमेवातोद्येषु[8] वाद्यं शय्यागतं भवेत् ॥ ९९ ॥

जब गीत की प्रमुखता हो, दक्षिण मार्ग हो और अत्युक्त (या मुक्त नामक प्रहार) से वादन किया जाता हो तो (भी) उसे शय्यागत वादन कहते हैं ॥ ९९ ॥

---

१. प्रधानश्च परिपाणिः—ग० ।

२. भूयश्चापि—ग० । ३. यतिर्यत्र—ग० ।

४. गतिवाद्ययोः—क (म०) । ५. अवपाणिस्तु—ग० ।

६. गोपुच्छा च यतिवाद्यं तद्वै शय्यागतं भवेत्—ग०, गोपुच्छा चैव हि यतिर्वाद्यं—क (भ०) । ७. यथागीति—क० (म०) ।

८. अत्युत्तमेषु पातेषु—क (म०); अत्युव (?)—क० (ग०) ।

स्थिताल्लयात् प्रभृत्येषां प्रमाणं सम्प्रवर्तते।
कार्यहानिः[1] कलानाञ्च[2] शेषेष्वन्येषु पाणिषु ॥ १०० ॥

स्थित या बिलम्बित लय आदि से इनके प्रमाण या स्तर की उत्पत्ति होती हैं एवं शेष (दूसरे) पाणियों में कलाओं को घटा देना चाहिये ॥१००॥

यतयः पाणयश्चैव लया[3] वै वाद्यसंश्रयाः।
यथाकामं हि[4] कर्त्तव्या नाट्ययुक्तिमवेक्ष्य च ॥ १०१ ॥

नाट्य-प्रदर्शन की प्रयोगावस्था आदि पर ध्यान रखते हुए यति, पाणि, लय आदि का आश्रय लेकर या उनसे सम्बद्ध होकर होने वाले वाद्यवादन को अपनी इच्छानुसार (यथेष्ट) भी रखा जा सकता है ॥ १०१ ॥

त्रिमार्जना :—

तिस्रो[5] मार्जना नाम—

मायूरी ह्यर्धमायूरी तथा कार्मारवीति[6] च।
तिस्रस्तु मार्जना ज्ञेयाः पुष्करेषु स्वराश्रयाः ॥ १०२ ॥

त्रिमार्जना के नाम हैं—मायूरी, अर्धमायूरी तथा कर्मारवी और ये तीनों मार्जनाएँ पुष्कर वाद्यों के स्वरों से सम्बद्ध रहती हैं ऐसा समझना चाहिये ॥ १०२ ॥

गान्धारो वामके कार्यः षड्जो दक्षिणपुष्करे।
ऊर्ध्वके मध्यमश्चैव[7] मायूर्यान्तु[8] स्वराः मताः ॥ १०३ ॥

मायूरी[1] मार्जना में वामक में गान्धार-स्वर, दक्षिण पुष्कर में षड्ज-स्वर तथा ऊर्ध्वक में मध्य-स्वर होता है ॥ १०३ ॥

वामके पुष्करे षड्ज ऋषभो दक्षिणे तथा।
ऊर्ध्वके[9] धैवतश्चैवमर्धमायूर्युदाहृता ॥ १०४ ॥

---

१. मायूरी मार्जना का उल्लेख कालिदास ने भी माल० मि० में १।२४ पर किया है।

---

१. कार्या हानिः—क (भ०)। २. कुलानाञ्च—क (म०)।
३. या वै वाद्यसमाश्रयाः—क (म०)।
४. यथाक्रमं हि—क(व), यथाक्रमं विकर्त्तव्या—क (म०)।
५. त्रिमार्जनं नाम—क०, ख०। ६. कर्मारवी पुनः—ख०, घ०।
७. पञ्चमश्चैव—क०, ख०। ८. मायूर्यश्च स्वराश्रयाः—क (य०)।
९. धैवतश्चोर्ध्वगे कार्य अर्धमायूरकाश्रयाः—क (म०)।

अर्धमायूरी मार्जना में वामक तथा पुष्कर में षड्ज स्वर, दक्षिण में ऋषभ स्वर और ऊर्ध्वक में धैवत स्वर होता है ॥ १०४ ॥

ऋषभः पुष्करे वामे षड्जो दक्षिणपुष्करे ।
पञ्चमश्चोर्ध्वके कार्यः कार्मारव्याः स्वरास्त्वमी[1] ॥ १०५ ॥

कर्मारवी मार्जना के वामक पुष्कर में ऋषभ दक्षिण पुष्कर में षड्ज और ऊर्ध्वक में पंचम स्वर होता है ॥ १०५ ॥

एतेषामनुवादी तु जातिरागस्वरान्वितः[2] ।
आलिङ्ग्ये[3] मार्जनं प्राप्य निषादः स विधीयते ॥ १०६ ॥

आलिग्य में मार्जना को रखते हुए अनुवादी स्वर निषाद का—जो कि जाति, राग और स्वर से युक्त होता है—विधान (करना) होता है ॥

मायूरी मध्यमे[4] ग्रामे षड्जे त्वर्धा तथैव च ।
कार्मारवी तु गान्धारे[5] साधारणसमाश्रया ॥ १०७ ॥

मध्यम-ग्राम में मायूरी मार्जना, षड्ज ग्राम में अर्ध-मायूरी मार्जना और गान्धार ग्राम में कर्मारवी मार्जना होती है और साधारण स्वरों का ये अपने में निवेश करती हैं (या उनके आश्रित रहती हैं) ॥ १०७ ॥

स्वराः[6] स्थानस्थिता ये तु श्रुतिसाधारणाश्रयाः ।
त एव मार्जनकृताः[7] शेषाः सञ्चारिणः स्मृताः ॥ १०८ ॥

जो स्वर श्रुति साधारण से युक्त होते हैं उन्हें नियत या स्थित किया जाता है । ये मार्जनाओं से सम्बद्ध होते हैं और इसके अतिरिक्त शेष संचारी या अनियत हो जाते हैं (या माने जाते हैं) ॥ १०८ ॥

वामके[8] चोर्ध्वके कार्या आहार्यालेपतः स्वराः ।
शैथिल्यादायतत्वाच्च[9] तथा[10] त्वालिङ्ग्यकाङ्क्षिके ॥ १०९ ॥

---

१. स्वराश्रयाः—क (म०), ग० । २. जातीनां यः स्वरो मतः—क० ।

३. आलिङ्गमार्जनां प्राप्तो—क०, आलिङ्ग्य मार्जनप्रोक्तो—ख० ।

४. मध्यमग्रामे—क०, ग्रामोप्यर्धा षड्जं तथैव च—क (म०) ।

५. कर्त्तव्या—क० । ६. स्वरा ये स्थायिनो यान्ति—क (म०) ।

७. मार्जनं कृत्वा—क (म०), एवं सम्मार्जनकृताः-ख०; त एवं मार्जनं कृत्वा—ग० ।

८. वामोर्ध्वगाभ्यामाहार्या कार्या वै लेपनं—क (म), वामकोर्ध्वकाभ्यां वै आहार्या कार्या लेपनाः-घ०, वामेऽर्धगाभ्यामाहार्या कार्या लेपनाः—ग ।

९. कार्यस्त्वालिङ्गकान्तिके—क (म०) । १०. कार्या—ग० ।

वामक और ऊर्ध्वक को लेपन कर उनके वादन द्वारा आपेक्षित या आवश्यक स्वरों को निकालना चाहिए जो उनमें शिथिलता या तनाव (उत्पन्न कर) देते हैं। आलिंग्य और आंकिक में भी यही विधि करनी चाहिए ॥ १०९ ॥

शैथिल्यादायतत्वाच्च[1] चर्मस्फोटनयाऽपि च।
एवं[2] स्वरोद्भवः कार्यः मार्जनासु प्रयोक्तृभिः ॥ ११० ॥

वाद्यवादकों को वाद्य के चर्म के सिकुड़ने, तन जाने और उसके छिद जाने (की दशा) के द्वारा भी अपने अपेक्षित स्वरादि को वाद्यवादन में मार्जनाओं में निकाल लेना चाहिए ॥ ११० ॥

वामक और ऊर्ध्वक की मार्जना के लिये मिट्टी-लेपन—

मार्जना मृत्कृता[3] कार्या वामकोर्ध्वकयोः[4] सदा।
लक्षणं मृत्तिकायास्तु[5] गदतो मे निबोधत ॥ १११ ॥

वामक और ऊर्ध्वक की यह मार्जना मिट्टी के लेपनों द्वारा की जाती है। अतः (इस कार्य के लिए) उपयुक्त मिट्टी के अब लक्षण बतलाता हूँ ॥ १११ ॥

निश्शर्करा निस्सिकता निस्तृणा विस्तुषा तथा।
न विच्छिन्ना[6] न विशदा न[7] क्षारा कटुका न च ॥ ११२ ॥
नावदाता न कृष्णा[8] च नाम्ला नैव च तिक्तिका[9]।
मृत्तिका[10] लेपने शस्ता तया कार्या तु मार्जना ॥ ११३ ॥

---

१. च्चावध्राकोटनयाऽपि च—क०, शैथिल्यञ्च यतञ्चैव वर्धापीडनमार्दवात्—क (म०)।

२. स्वराणां सम्भवः कार्यो—क०।

३. तु कृता—क० ख०, मार्जनं तु मृदा कार्यं—क (म०)।

४. वामगोर्ध्वगयोस्तथा—क (म०); ग०।

५. मिश्रिकायास्तु—क (म०)।

६. पिच्छिला—क०।

७. न क्षारा न कटुस्तथा—क०; न क्षारकटुका तथा—क (म०)

८. कृष्टा च—क०; ननाकृष्टा न चाम्लानो—क (म०)।

९. तिक्तका—क०।

१०. मृत्तिकालेपनं ह्येषां यथा कार्यन्तु मार्जनम्—क (म०) ग०।

जिस मिट्टी में कंकड़, रेत, तृण या भूसा न हो और जो न बिखरने वाली, न सफेद, न खारी, न कड़वी, न पीली, न काली, न खट्टी और न तीती (तिक्तिता) हो उसे लेना चाहिए। ऐसी मिट्टी लेपन के लिए योग्य होती है और उसी के द्वारा मार्जना की जाती है ॥ ११२-११३ ॥

नदीकूलप्रदेशस्था श्यामा या[1] मृत्तिका भवेत्।
तोयापसरणश्लक्ष्णाः तया कार्या[2] तु मार्जना ॥ ११४ ॥

नदी के तट की जो मिट्टी काली हो और पानी निकल जाने के कारण जो चिकनी हो गयी हो तो ऐसी मिट्टी का मार्जना के लिए उपयोग किया जाए ॥ ११४ ॥

बाहुल्याप्यवदाता[3] च कृष्णा गुर्वी[4] न च स्थिरा।
सतुषा[5] न स्वनकरी[6] श्यामा यत्र च[7] दृश्यते ॥ ११५ ॥
तत्र[8] गोधूमचूर्णं वा यवचूर्णश्च दापयेत्।
यवगोधूमचूर्णन्तु कदाचिदुपयुज्यते ॥ ११६ ॥

और जब ऐसी मिट्टी ही मिले जो ज्यादा फैलने वाली हो, जिसका रंग सफेद[1] या काला हो, जो भारी (गुर्वी) हो, स्थिर न रहने वाली हो, जो भूसे वाली हों, काली और अपेक्षित ध्वनि को या स्वर को निकालने में अक्षम हो तो फिर गेंहू के आटे या जौ के आटे का मार्जना के लिए उपयोग करना चाहिए। कभी-कभी गेहूँ और जौ का आटा मिला कर भी उपयोग में लाया जा सकता है ॥ ११५-११६ ॥

एकस्तस्य च[9] दोषः स्यादेकस्वर[10] कृतं भवेत्।

---

१. 'पखावज' की मार्जना आज भी सफेद आटे से (गेहूँ के आटे से) की जाती है।

---

१. च मधुरा च या—क०।

२. कार्यन्तु मार्जनम्—क (म०)।

३. बधिरा ह्यवदात्ता तु—क०, ख० बहुकार्यावदाता—ग०; बहुका ह्यवदाता तु—क (य०)। ४. कुर्वीत न स्थिरा—क०।

५. न तुषा न स्वरकरी श्यामा स्वरकरी भवेत्—क०।

६. स्वरकरी—क (म०)। ७. यत्र न—ग०।

८. यवगोधूमचूर्णं वा तत्र दद्यात् प्रलेपने—क०।

९. तु दोषः—क०। १०. स्वरकरो—क (म०)।

एवं तु मार्जनायोगात् श्यामा स्वरकरी भवेत् ।
त्रिसंयोगस्य वक्ष्यामि लक्षणं द्विजसत्तमाः ॥ ११७ ॥

(पर) इसमें एक ही दोष होता है कि यह एक ही तरह की ध्वनि निकालने लगती है। इसलिये मार्जना में काली मिट्टी ही उपयुक्त है और यही अपेक्षित स्वरों को निकालने वाली भी होती है। हे मुनियों, अब मैं त्रिसंयोग का स्वरूप बतलाता हूँ ॥ ११७ ॥

त्रिसंयोग :—

त्रिसंयोगो नाम—गुरुसञ्चयो लघुसञ्चयो गुरुलघुसञ्चयश्चेति तत्र गुरुसञ्चयो नाम गुरुस्थितलयौघप्रवृत्तौ[1]। यथा—

घेतो[2] केतां चन्द्रां खेतां द्वं द्वं तथैव खेताद्धम् ।
द्वं द्वं द्राघेतां कत्तां खेतामिति गुरूणि स्युः ॥

त्रिसंयोग के नाम हैं—गुरु-संचय, लघु-संचय तथा गुरु-लघु-संचय।

गुरु संचय :—गुरु वर्णों में विलम्बित या स्थितलय ओघ (प्र) वृत्ति का संयोग होगा। जैसे—घेतो केतां चन्द्रां खेतां द्वं द्वं खेता द्वं द्वं द्वं—द्राघेतां कत्तां खेतां।

लघुसञ्चयो नाम—लघुके[3] द्रुतलयप्रवृत्तौ। यथा—
घट[4] मट मट घट मत्थि घट्टु घट्टु गुरुकृते[5] लघुसञ्चयः।
इति संयोगाज्ज्ञेयं[6] मृदङ्गवाद्यं प्रयोगज्ञैः ॥

लघुसंचय :—लघु वर्ण तथा द्रुतलय का संयोग होना। जैसे—घट मट मट घट मत्थि घट्टु घट्टु घट्टु प्रयोगज्ञ को यह जानना चाहिये।

---

१. लयौघप्रवृत्तो—क०; स्थितलयवृत्तम्—क० (म०)।

२. धंतां केतां चन्द्रां धेतं धेधं तथैव केन्तान्धम्। घदंद्रेंद्रें द्रांघें ताखें ताखें ताम् इति च गुरु स्यात् ॥—क०; त्थिकटां तकितां तकिटां धतित्ति मत्ति मतथीत्थं घटमटिमावेङ् घेण्टमटयाम् एवं गुरुलघुस्यात्—क (म०)।

३. गुरुतलघुमध्य—क०; लघुद्रुतलयप्रवृत्ते—क (म०)।

४. घट मट घट मथ टम थट मधिद्ध ड गुड धड धत्क्त लघु। घट मथि घदुगुदु खघदुघं कृतो लघुलयश्च—क०।

५. घट घट लघुद्रुते लघु—ग०।

६. इतिसंयोगौ ज्ञेयौ—क०; इति संयोगा ज्ञेयाः—क (म०), संयोगान्—ख० घ०।

गुरुलघुसञ्चयो नाम—लघुकैर्द्रु तलयप्रवृत्तौ[1]। यथा—घट[2] विमथि थे मथिथं किता घं घं घमोथिकं ताद्धं कटथिं करथिं[3] मघवे इति सञ्चयो गुरुलघु स्यात्।

गुरु लघु संचय :—लघु वर्ण (का गुरु वर्ण के साथ) तथा द्रुत लय का संयोग होना। जैसे—घट विमथि थे मथिथं मिता घ गं घमोधिकं ताद्धं कटथिं मघवे। ऐसा संचय गुरुलघुसंचय कहलाता है।

त्रिगत—

त्रिगतं नाम—तत्वमनुगतमोघश्चेति।
अक्षरसदृशं वाद्यं स्फुटपदवर्ण तथैव वृत्तसमम्[4]।
सुविभक्तकरणयुक्तं[5] तत्वे वाद्यं विधातव्यम्॥ ११८॥

त्रिगत[1] के नाम है—तत्व, अनुगत[2] तथा ओघ।

तत्व के वाद्यों के वादन से (नियमानुसार या स्वीकृत) अक्षरों के समान प्रहार ऐसे होने चाहिए जिनसे शब्दों की स्पष्ट या विभाग पूर्वक अभिव्यक्ति हो (गीत के) छन्द की संगत बैठती हो (या पुष्टि होती हो) तथा करणों का ठीक से विभाजन किया गया हो॥ ११८॥

समपाण्यवरपाणियुतं स्फुटप्रहारकरणानुगतश्चैव[6]।
गेयानुगतवाद्यस्य[7] भवेद् घातं तदनुगतम्॥ ११९॥

वाद्यों के वादन का अनुगत नामक प्रकार समपाणि या अवरपाणि से आरंभ किया जाता है तथा इसमें विविध प्रहारों से निकाले गये करण रहते हैं। यह गीत का अनुसरण करता है॥ ११९॥

---

१. त्रिगत को अन्य विद्वान् प्रकृति भी बतलाते हैं।
२. अनुगत का अन्य नाम घन है।

---

१. गुरुलघुमध्यप्रवृत्तो—क०, लघुकै द्रुतलोपे (लय) प्रवृत्तौ—ख०।
२. घटथिम्मथिथिं मथितं किटा घटघिं मथि टत्थिमटको इति संयोगो गुरुलघुप्लुतः स्यात्—क०।
३. करस्थि मघवे–इति संयोगो गुरुलघु—ख०।
४. प्रवृत्तम्—क (म०) ग०। ५. युतं—क (म०), ख०।
६. करणानुगं चैव—क०, स्फुटप्रकारकरणानुगतं भवेद् वाद्यम्—ग०।
७. गेयस्य च वाद्यस्य च भवेदवद्यातायं—क०, वाद्यं पाण्यं भवेदनुगतं च नैककरणाश्रयम्—क (म०)।

नैककरणाश्रययुतं ह्युपरिपाणिकं[1] द्रुतलयञ्च।
आविद्धकरणबहुलं योज्यं[2] वाद्यं बुधैरोघे॥ १२०॥

अनुगत नामक वाद्यवादन का प्रकार उपरिपाणि से आरंभ किया जाता है और यह किसी एक करण पर आश्रित नहीं होता, इसमें द्रुत लय रहती है और इसका आविद्धकरण होता है तथा अतिशय प्रयोग किया जाता है॥ १२०॥

वाद्यों के आठ साम्य—

सर्वस्यैव[3] हि वाद्यस्य ह्यष्टौ साम्या[4] भवन्ति हि।

तद्यथा—

अक्षरसममङ्गसमं ताललययतिसमं[5] ग्रहसमञ्च।
न्यासोपन्याससमं[6] पाणिसमञ्चैव[7] विज्ञेयम्॥ १२१॥

सभी प्रकार के (अवनद्ध) वाद्यों के आठ साम्य होते हैं। इनके नाम ये हैं—अक्षरसम, अंगसम, तालसम, लयसम, यतिसम, ग्रहसम, न्यासोपन्यास-सम तथा पाणिसम॥ १२१॥

यद्वृत्तन्तु[8] भवेद् गानं[9] गुरुलघ्वक्षरान्वितम्।
तद्वृत्तन्तु भवेद्वाद्यं[10] तदक्षरसमं स्मृतम्॥ १२२॥

अक्षरसम :—जिस वादन में गुरु तथा लघु अक्षरों से निर्मित (गीत या) छन्द का अनुगमन होता हो तथा जो अक्षरों की समता को दर्शाता हो (तो) उसे 'अक्षरसम' समझना चाहिए॥ १२२॥

ध्रुवाणां ग्रहमोक्षेषु[11] कलान्तरकलासु[12] च।
यदङ्गत्रिगतं[13] वाद्यं[14] तदङ्गसममुच्यते[15]॥ १२३॥

---

१. ह्युपर्युपरि—क०; ह्युपर्युपरिपाणिसमं द्रुत—क० (भ०)।
२. वाद्यं योज्यं बुधैरोघम्—क (भ०)। ३. सर्वस्यापि—क०।
४. साम्यानि—क०।
५. तालयत्वं यतिसमकं ग्रहसमकञ्च—क०; अक्षरसमं तालसममङ्गसमं लयसमञ्च—क (भ०)। ६. न्यासापन्यास—क०। ७. ञ्चेति—श०।
८. तत्र वृत्तं—क (भ०)। ९. वाक्यं—क (भ०); यद्वृत्तन्तु—ग०।
१०. वाक्यं—क (भ०)। ११. मोक्षे तु—क (भ०)।
१२. कालान्तर—ख०। १३. यदङ्गं क्रियते—क० ग०।
१४. वाद्ये—क (भ०)। १५. तदङ्गं सम—क (भ०), ग०।

अंगसम :—जो वादन ध्रुवा गीतों का समरूप से उसके तीनों अंगों में अनुसरण करे और ध्रुवाओं के आरम्भ (ग्रह), अन्त (मोक्ष) और उसकी कलाओं तथा अन्तरकलाओं में अंगों की समता को (जो) दिखलाए तो उसे 'अंगसम' समझना चाहिए ॥ १२३ ॥

यच्छरीरं[1] भवेद्ध गानं कलाकालप्रमाणतः[2]।
तत्प्रमाणन्तु[3] यद्वाद्यं तद् वै तालसमं भवेत् ॥ १२४ ॥

तालसम :—जो वादन कला और काल के प्रमाण के द्वारा गीत के स्वरूप या शरीर को दिखलाता हो तो उसे 'तालसम' समझना चाहिए ॥ १२४ ॥

स्थिते मध्ये द्रुते वापि लये गानञ्च यद्भवेत्[4]।
तथैव[5] यद्भवेद्वाद्यं तद्धै लयसमं भवेत् ॥ १२५ ॥

लयसम :–जिस वादन में गीत के आरंभ से ही उसमें स्थित विलम्बित, मध्य या द्रुत लय का समान रूप से अनुसरण किया जाए तो उसे 'लय-सम' समझना चाहिए ॥ १२५ ॥

समा स्रोतोगता वापि[6] गोपुच्छा च यतिर्यथा ।
तथा[7] भवेत्तु यद्वाद्यं तद्धै यतिसमं भवेत् ॥ १२६ ॥

यतिसम :—जब गीत का समा, स्रोतोवहा और गोपुच्छा का वादन में अनुसरण रहे तो उसे 'यतिसम' समझना चाहिए ॥ १२६ ॥

ततावनद्धवंशानामेकश्रुतिकृतोऽपि च ।
ग्रहो गानेन[8] सहितस्तद्धै[9] ग्रहसमं भवेत् ॥ १२७ ॥

ग्रहसम :—जब समान श्रुतियों के द्वारा तत, अवनद्ध और सुषिर वाद्यों की गीत के साथ समता रखी जाए तो उसे 'ग्रहसम' जानो ॥ १२७ ॥

न्यासापन्यासयोगस्तु स्वराणां हि[10] यथा भवेत् ।

---

१. यत्प्रमाणं—ग० । २. कलाताल प्रमाणजम्—क०, ख० ।
३. यत्प्रमाणन्तु यद्वाक्यं—ग० । ४. यथा भवेत्—क (च०) ।
५. तथा भवेत्तु तद्वाद्यं—क० ।
६. चापि—क० ।
७. यद्विधन्तु भवेद्वाद्यं—क (म०), यत्तथाहि भवेद् वाद्यं-ख०, घ० ।
८. मानेन—ख० । ९. तत्तु—क० ।
१०. तु भवेद्यथा—क०, तृतीयायां भवेद्यथा—ख० ।

वंशवीणोद्भवं[1] वाद्यं न्यासापन्यासजन्तु तत्[2] ॥ १२८ ॥

न्यासपन्यास सम :—बांसुरी और वीणा का इस प्रकार वादन किया जाए कि उनमें विद्यमान न्यास तथा अपन्यास स्वरों की गीत के साथ समता या संगति रखी जा सके तो उसे 'न्यासोपन्यास-सम' समझना चाहिए ॥१२८॥

समपाण्यर्धपाणिस्थं[3] तथैवोपरिपाणिकम्[4] ।
गीतानुगञ्च[5] यद्वाद्यं स्मृतं पाणिसमन्तु तत् ॥ १२९ ॥

पाणिसम :—जब किसी गीत या वाद्य की समपाणि, अवरपाणि और उपरिपाणि वादनों के साथ समता रखी जाए (या गीत का ये तीनों वादन अनुसरण करें) तो 'पाणिसम' समझना चाहिए ॥ १२९ ॥

अष्टादशजातिकमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा-शुद्धा[6] एकरूपा[7] देशानुरूपा देशादपेतरूपा पर्याया विष्कम्भा पर्यस्ता संरम्भा पार्ष्णिसमस्ता दुष्करकरणा ऊर्ध्वगोष्ठिका उच्चितिका एवंवाद्या मृदङ्गपणवा अवकीर्णा अर्धावकीर्णा सकलवा विधूतमिति । एतासां जातीनां लक्षणनिदर्शनान्य[8]भिव्याख्यास्यामः ।

अष्टादश जातियाँ:—अब हम उन अठारह जातियों की व्याख्या करेंगे जिन्हें पूर्व में कहा गया था । ये हैं—(१) शुद्धा, (२) एकरूपा, (३) देशानुरूपा, (४) देशादपेतरूपा, (५) पर्याया, (६) विष्कम्भा, (७) पर्यस्ता, (८) संरम्भा, (९) पार्ष्णिसमस्ता, (१०) दुष्करकरणा, (११) ऊर्ध्वगोष्ठिका, (१२) उच्चितिका, (१३) एवंवाद्या, (१४) मृदंग-

---

१. तद्वद्वाद्यं यदातोद्यं—क०, वंशवैणोद्भवं—क (म०), ग० ।

२. तथा—क (म०) ।

३. समपाण्युपपाण्युक्तं—क (म०)···पाण्योक्तं—ग० ।

४. पाणिकम्—ख०, पाणिजम्—ग० ।

५. गीतवाद्यानुगं वाद्यं ज्ञेयं—क० ।

६. क-ख. पुस्तकयोः पद्यरूपेणायं भागः समुपलभ्यते । तद्यथा—शुद्धा पुष्करकरणा विषमा विष्कम्भितैकरूपा च पार्ष्णिसमा पर्यस्ता सम विषमकृतावकीर्णा च ॥ (क) ॥ पर्यवसानोच्चितिका संयुक्ता समप्लुता महारम्भा । विगत क्रमा विगलिता वञ्चितिका चैकवाद्या च ॥—इति ।

७. रूपाऽऽदेशागुरूर्वादिशरूपा पर्याया विष्कम्भा पर्यन्त आरम्भो (म्भः) पार्ष्णिसमता दुष्करकरणा ऊर्ध्वगोष्ठिका उच्चिन्तिता एवं वाद्या—क (म०) ।

८. लक्षणमभिव्याख्यास्यामः—क (म०) ।

पणवा, (१५) अवकीर्णा, (१६) अर्द्धावकीर्णा, (१७) सम्प्लवा तथा (१८) विधूतम्। अब क्रमशः इनके लक्षण और उदाहरण बतलाते हैं।

एकाक्षरं[1] द्व्यक्षरं वा यद्वाद्यं सर्वकार्मिकम्[2]।
नित्यं[3] करणयोगेन सा शुद्धा नामतो यथा ॥ १३० ॥

शुद्धा :—(अवनद्ध वाद्य का ऐसा) वादन जिसका एक या दो अक्षरों के करणों से सभी कार्य होता हो और जो सभी कार्यों के लिये या सभी प्रकार की क्रियाओं के लिए उपयुक्त मानकर प्रयुक्त होता हो तो, उसे 'शुद्धा' समझना चाहिए ॥ १३० ॥

खो[4] खो खं खं खङ्कामेभिर्जात्यक्षरैः समायुक्ता।
सा शुद्धा विज्ञेया मध्य-(रोत्तम) स्त्रीणां भवेज्जातिः[5] ॥ १३१ ॥

जिस जाति का निर्माण खो खो खं खं खं खम्तां से होता है। उसे शुद्धा जाति समझो। यह जाति मध्यम (तथा उत्तम) स्त्री पात्रों के कार्य या अभिनय के लिये होती है ॥ १३१ ॥

गोमुखीमड्डितालिप्तौ[6] वितस्तञ्चाश्रिता[7] यदा।
वादयन्ति[8] तथैकैकम् एकरूपा हि सा यथा[9] ॥ १३२ ॥

एकरूपा :—जब एक वादक पृथक् रूप से गोमुख का अड्डित, आलिप्त या वितस्त मार्ग से वादन करे तो उसे 'एकरूपा' कहते हैं ॥ १३२ ॥

द्रोङ्[10] घोङ् दोङ् घोङ् घेघेङ् अड्डितमार्गाक्षरैः समायुक्ता।
सा त्वेकरूपा जातिर्नृणां[11] गीतविधानतः कार्या ॥ १३३ ॥

---

१. एकाक्षरकृतं वाद्यं यद्भवेत्—क०, ख०।

२. सार्वमार्गिकम—क०। ३. भवेत् करणयोगे तु—ग०।

४. धं धं द्रं द्रंकला खोखोहाणेति विहितवाक्या—क०, थखो खोथकामेभिः—क (म०), चन्द्रं इन्द्रं खोखो णाणाति या विहितवाद्या—ख०।

५. सदा जातिः—क०, ख०। ६. मड्डिका—क (म०)।

७. वाश्रितां यदा—क (म०) वितस्तावाश्रिता यदा—ग०।

८. यन्त्रि तथैकेक (?)—ग०।

९. एकरूपा लक्षणं क० पुस्तके—वामोर्ध्वकप्रवृत्तादोघे क्षिप्तावकृष्टलययुक्ता। सा करुणांशप्राया जातिः स्यादेकरूपा तु ॥ इति।

१०. द्रिङ् धोङ् धोङ् घेघेङ्—क (म०)।

११. नृत्ते—क (म०)।

जिस जाति का निर्माण अड्डित मार्ग के इन अक्षरों से होता है। जैसेः— द्रोङ् घोङ् दोङ् घोङ् घे घेङ् तो उसे 'एकरूपा' जानों। इसका पुरुष गायकों के गायन की दशा में उपयोग होता है ॥ १३३ ॥

सर्वास्वपि प्रकृतिषु प्रयोज्या सा स्थिता यद्रुता[1] वापि।
देशकालमवस्थाञ्च[2] ज्ञात्वा मध्येऽपि विनियोज्या ॥ १३४ ॥

इस जाति का सभी पात्रों की दशाओं में उपभोग तब होगा जब ध्रुवा-गीत का गायन विलम्बित या द्रुत लय में होता हो और इसका देश, काल या अवस्था को देखकर उचित (निष्कर्ष) होने पर मध्यम-लय में भी प्रयोग किया जा सकता है ॥ १३४ ॥

सर्वातोद्यानि[3] यत्रैकं करणं भावयन्ति हि।
मृदङ्गवाद्यानुगमादेकरूपा तु सा स्मृता ॥ १३५ ॥

जब मृदङ्ग वाद्य के वादन का अनुसरण करते हुए अन्य सभी वाद्य एक ही करण को दर्शाने लगें तो उसे (भी) 'एकरूपा' कहते हैं ॥ १३५ ॥

अड्डितमार्गविभक्ता सम्भोगकृते भवति हि शृङ्गारे।
देशानुरूपा[4] जातिः स्थितलययुक्ता[5] च कर्तव्या ॥ १३६ ॥

देशानुरूपाः—अड्डित मार्ग में वादन होने पर 'देशानुरूपा' जाति होती है। इसे विलम्बित लय में किया जाता है और इसकी योजना सम्भोग शृंगार-रस की दशा में रखी जाती है ॥ १३६ ॥

यथा—मीमत्थित्थमभूत्थिकिमा[6] एभिर्जात्यक्षरैः[7] समायुक्ता।
देशानुरूपा जातिः[8] शृङ्गारे चोत्तमे[9] स्त्रीणाम् ॥ १३७ ॥

देशानुरूपा जाति के वादन में रहने वाले अक्षर हैं—मीं मत्थि त्थमभू त्थि किमा। इसे स्त्री पात्र की उत्तम शृंगार दशा में प्रयुक्त किया जाता है ॥ १३७ ॥

---

१. या द्रुता—क (म०)।
२. देशं कालमवस्थां ज्ञात्वा—क (म०)।
३. सर्वाण्यातो—क (म०)।
४. देशानुरूपजातिः—क (म), ग०।
५. शृङ्गारे चोत्तमे स्त्रीणाम्—ग०।
६. मीमत्थमम्मत्थिकिमा—क (म०)।
७. जात्यन्तरैः—क (म०)। ८. नुरूपजातिः—क (म०)।
९. चोत्तरे—क (म०)।

वामोर्ध्वकप्रवृत्तबोधा[1] क्षिप्रापकृष्टलययुक्ता।
देशादपेतरूपा[2] करुणरसे सा भवेज्जातिः ॥ १३८ ॥

देशादपेतरूपा—अवकृष्ट ध्रुवाओं के द्रुत-लय में गाने की तथा वामक और ऊर्ध्वक के वादन की दशा में 'देशादपेतरूपा' जाति होती है। इसकी करुण रस में योजना की जाती है ॥ १३८ ॥

यथा—घेद्रङ् घेद्राङ् घेघेमेभिर्जात्यक्षरैः समायुक्ता।
देशादपेतरूपा सा कार्या वाद्ययोगेषु ॥ १३९ ॥

देशादपेतरूपा जाति के वाद्यवादन में रहने वाले अक्षर होते हैं—वेघेद्रङ् ग्रेद्रां घे घें ॥ १३९ ॥

पर्यवगच्छति पूर्वं[3] यस्मिन् वै[4] प्रस्तुतं करणजातम्।
त्रिविधेऽपि[5] च लययोगे पर्याया[6] नाम सा जातिः ॥ १४० ॥

पर्याया—जब करणों का पूर्वप्रस्तुत वर्ग पुनः तीनों लयों में प्रस्तुत किया जाता हो तो उसे 'पर्याया' जाति समझना चाहिए ॥ १४० ॥

यथा—घेदाङ्[7] घेदेङ् गुदुघोङ् प्राया वामोर्ध्वकवामहस्तसञ्चारा[8]।
पर्यायकृता जातिर्वीराद्भुतरौद्रयोगेषु ॥ १४१ ॥

इसमें वामक और ऊर्ध्वक पर बाएं हाथ से वादन करते हुए घेदाङ् घेदेङ् गुदुघोङ् अक्षर निकालते हैं। इसे वीर, अद्भुत और रौद्ररस में प्रयुक्त किया जाता है ॥ १४१ ॥

गुरुयुग्मं लघुयुग्मं तथैव[9] लघुगुरुणि चैव लघुश्चैव।
[10]धिङ् माङ् घट्घेङ् गुदुघेङ् द्घेङ् द्घेङ् मत्थिमेत्थम् ॥

---

१. वामोर्ध्वगतप्रवृत्ता वाद्याक्षिप्ता चतुष्टययुक्ता—क (म०)।

२. उपदेशादपेतरूपा—क (म), ग०।   ३. पूर्वा—ग०।

४. सिद्धैस्तु तं करण—क (म०), ग०।

५. त्रिष्वपि लयेषु योज्या पर्यवसाना तु सा जातिः—ख०।

६. पर्यवसाना तु सा—क०।

७. घेदोङ् घेदोङ् गुदुघुङ्प्राया वामोर्ध्वगमे—क (म०)।

८. सञ्चारः—घ०।

९. तोटकं वापि नित्यं यत्र तु वाद्ये विष्कम्भा नाम सा जातिः—क०।

१०. सिङ् माङ् घडघेन्द्र गुदुघेङ् घेङ् घमत्थिमेत्थम्—घ०।

विष्कम्भाख्या जातिः शृङ्गारे चोत्तमे स्त्रीणाम्[1] ॥ १४२ ॥

विष्कम्भा :—दो गुरु वर्ण, दो लघु वर्ण, एक लघु, तीन गुरु और एक लघु वर्ण से 'विष्कम्भा' जाति निर्मित होती है। जैसे- घिङ माङ घट घेङ गु दु घेङ् घेङ घम थि मेत्थम्। उत्तम स्त्री पात्रों के शृंगार रस में इस जाति की योजना की जाती है ॥ १४२ ॥

[2]एकैकाक्षरयोगाद्यद्वाद्यं सर्वमार्गसंयुक्तम्[3]।
पर्यस्ता[4] सा जातिः [5]समहस्तविचारसंयुक्ता ॥ १४३ ॥
आकाशे रथविमान-ऋषिविद्याधर[6] भुजङ्गमादीनाम्।
त्वरिते[7] गतिविन्यासे धारायाश्चैव[8] पर्यस्ता ॥ १४४ ॥

पर्यस्ता :—सभी मार्गों में एक अक्षर के करणों का वादन सम प्रचार से किया जाता है तो उसे 'पर्यस्ता' जाति समझना चाहिए।

जब आकाश में या धारावाहिक वृष्टि में, रथ, विमान, ऋषि, विद्याधर या सर्प आदि की तेज गति में चलने आदि की स्थिति हो तो पर्यस्ता जाति का वादन में प्रयोग किया जाता है ॥ १४४ ॥

स्थितिलयगतिविन्यासे[9] शृङ्गारे भवेत्तु योत्तमप्रकृतौ।
पर्यस्ता[10] जातिर्वै साऽधमपुरुषेषु कर्तव्या ॥ १४५ ॥

उत्तम पात्रों के आंगिक व्यापार और शृंगार रस की अवस्थाओं में विलम्बित लय में गति या पाद न्यास की दशा में इस जाति को रखा जाता है तथा इसकी अधम पात्रों की स्थिति में भी इसी प्रकार योजना की जा सकती है ॥ १४५ ॥

घेङ्[11] ताङ् घेङ ताङ घोण्हामेभिर्जात्यक्षरैः समायुक्ता।
अधमस्त्रीणां योज्या संरम्भा नाम वै जातिः ॥ १४६ ॥

---

१. चोत्तमस्त्रीणाम्—ग०। घ०। २. क्षरणयोगाच्चाद्यं—ग०।
३. संयुतम्—घ०। ४. पर्यस्ता क्रमहस्ता जातिः क (म०)।
५. समहस्ता विचार- ग०, घ०।
६. विमानर्षि—घ०। ७. चरिते—क (म), ग०।
८. विन्यासेऽथ धारायां—क (म०)।
९. स्थितिलय—क (म), ग०।
१०. अस्मात् पूर्वं घेङ् ताङ् घेङ् ताङ देण्हामेभिर्जात्यक्षरैः समायुक्ता। इति क (म) पुस्तकेऽधिम् समुचितस्थाभाति।
११. मगाठं खुकिटामेभिर्जात्यक्षरैः—क० (म०)।

संरम्भा :—घेङ् ताङ् घोण्हाम् अक्षरों से संरम्भा नामक जाति बनती है। इसकी योजना अधम स्त्री पात्रों की स्थिति में करना चाहिए ॥ १४६ ॥

अर्धपाणिकरणयुक्तं[1] ह्यादौ मध्यलयेन यत्तुल्यम् ।
संरम्भं[2] तद्विद्यात् अन्ते वापि द्रुतं यस्याः ॥ १४७ ॥

यथा—मगठं कुयुथ किम्...

जिस जाति में अर्धपाणि के करण हों आरंभ में मध्य लय हो और अन्त में द्रुतलय हो तो उसे भी संरम्भा जाति समझो ॥ १४७ ॥

जैसे—मग ठं कु युथ किम् ।

ऊर्ध्वाङ्कदक्षिणमुखे[3] क्षिप्ता प्रहता[4] वितस्तमार्गे तु ।
पार्ष्णिसमस्ता जातिः कार्या शृङ्गारहास्यगतौ ॥ १४८ ॥

पार्ष्णिसमस्ता :—यदि वितस्त-मार्ग में ऊर्ध्वाङ्किक और दक्षिण के मुंह पर तीव्र प्रहारों के द्वारा वादन किया जाए तो 'पार्ष्णिसमस्ता' जाति समझना चाहिए। इसका प्रयोग शृंगार तथा हास्य रस की गतियों के अवसर पर किया जाता है ॥ १४८ ॥

यथा—तत्थि करं मंच्छि[5] करणैः सपार्ष्णिनिष्पीडैः ।
धौन्द्राङ्[6] गुधेङ् गूधिताङ् पार्ष्णिसमस्ता पुनर्जातिः ।
धीरोत्तमपुरुषाणामन्येषां दानवादीनाम् ॥ १४९ ॥

पार्ष्णि के दबाव से तत्थिं कटं मम् छि और घोन्द्राङ्-गुधेङ् गुधिताङ् करणों के साथ वादन करने से 'पार्ष्णिसमस्ता' जाति का वादन होता है। इसकी उत्तम तथा धीर प्रकृति के पात्र एवं दानवों की गति में योजना करनी चाहिए । १४९ ॥

स्वस्तिकहस्तविचारा सर्वमृदङ्गप्रहारसंयुक्ता[7] ।
सा त्रिलयवाद्ययुक्ता दुष्करकरणा[8] भवेज्जातिः ॥ १५० ॥

---

१. अपपाणिकरणयुक्ता ह्यादौ मध्यमलयेन न यत्तुल्यम्-(म०), अव-पाणिकरणयुक्तं कृत्वादौ मध्यलयतुल्यम्—क० ।
२. आरम्भं तं विद्यादन्तेवासि श्रुतं—क (म०) ।
३. दक्षिणै—क (म०) । ४. प्रभूता
५. मत्थि—क (म०) ।
६. चंद्रांशुघेन्द्रडिताङ्—(म०) ।
७. मार्दङ्ग—क (म०) । ८. पुष्करकरणा—क० ।

दुष्करकरणा—स्वस्तिक हाथों की क्रिया के द्वारा मृदंग पर सभी लयों में वादन करना 'दुष्करकरणा' जाति कहलाती है ॥ १५० ॥

यथा—दुणु दुणु दुणा किंक धिमघेङ् घोटेङ् मदत्थिदुघकिटिघेङ्।
एभिर्जात्यक्षरयोगैर्दुष्करकरणा[1] भवेज्जातिः ॥ १५१ ॥

दुष्करकरणा जाति के अक्षरों का क्रम इस प्रकार होता है :—दुणु दुणु दुणा किंका धीमा घेङ् घोटेङ् मदत्थि दुघ किटि घेङ् ॥ १५१ ॥

दैत्येन्द्रभुजगराक्षसपिशाचगन्धर्वगुह्यकादीनाम् ।
गतिविन्यासे योज्या[2] दुष्करकरणा भवेज्जातिः ॥ १५२ ॥

दुष्करकरणा जाति की योजना दैत्यराज, नाग, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व तथा गुह्यक जैसे पात्रों के गति प्रचार (की दशा) में की जाती है ॥१५२॥

[3]ऊर्ध्वाङ्कदक्षिणमुखोत्क्षिप्तप्रहता[4] वितस्तमार्गा च ।
अङ्कोर्ध्वकप्रवृत्ता[5] दक्षिणवामप्रहारा[6] च ॥ १५३ ॥

ऊर्ध्वगोष्ठिका—वितस्त मार्ग में ऊर्ध्वक, आंगिक और दक्षिण मृदंग के मुख पर उत्क्षिप्त या हलके हाथ से प्रहारों को करना या आरंभ के पश्चात् दक्षिण और वामक पर आंकिक और ऊर्ध्वक के साथ इसी प्रकार वादन करना ऊर्ध्वगोष्ठिका जाति कहलाती है ॥ १५३ ॥

प्रायेणोद्धतवाद्या[7] वितस्तमार्गाश्रया[8] तु दिव्यानाम् ।
अधिधृङ्[9] धृङ् प्राया जातिरियमूर्ध्वगोष्ठिका[10] स्यात् ॥१५४॥

वितस्त मार्ग में प्रायः उद्धत क्रम से अधि धृङ् धृङ् का वादन करने से ऊर्ध्वगोष्ठिका जाति बन जाती है। इसकी दिव्यपात्रों की गति या चेष्टाओं के अवसर पर योजना की जाए ॥ १५४ ॥

सर्वमार्गैः[11] समुद्धृत्य यद्वाद्यकरणं[12] भवेत् ।

---

१. योगे—ग०, घ० । २. कार्या—ग०, घ० ।
३. ऊर्ध्वाङ्ग—क (म०) ग० । ४. प्रहिता—क (म), ग० ।
५. अङ्कोर्ध्वग—क (म०), अङ्कोऽर्थप्रवृता—ग० ।
६. प्रवृत्ता च—क (म०) ।
७. प्रायेणान्तर्मार्गा—क० (म०), प्रायेणान्त—ग० ।
८. वितस्तामार्गाश्रयेण—ख० । ९. अविधृङ्—क (म०) ।
१०. मूर्ध्वकोष्ठा—क (म०), मूर्ध्वङ्कोषा—ग० ।
११. सर्वैर्मार्गै—क (म०) । १२. यद्वाक्यं करणं—क (म०) ।

उच्चितिकां विजानीयाद् गूढ़श्रृङ्खलिकाकृताम् ॥ १५५ ॥

उच्चितिका :—सभी मार्गों को समाविष्ट करते हुए तथा गूढ़ शृंखला (या क्रम) से सम्बद्ध वादन करना 'उच्चितिका' कहलाता है ॥ १५५ ॥

यथा – केन्ता[1] केनाङ्गदितामेभिर्जात्यक्षरैः समायुक्ता।
राज्ञां स्वभावगमने जातिः कार्योच्चितिका[2] तु ॥ १५६ ॥

इसमें केन्ता केन्नां गदिताम् जैसे अक्षरों का क्रम रहता है और राजाओं की सहज या स्वाभाविक गति में 'उच्चितिका' की योजना की जाती है ॥ १५६ ॥

गोमुख्यक्षरसहिता सर्वमृदङ्गप्रहारसंयुक्ता[3]।
कुहकाभिनये योज्या वैडम्बिकदृष्टलिङ्गेषु[4] ॥ १५७ ॥
घेण्टा[5]-टादौ-ताथिता घेङ् घेङ् मटत्थि-घट-इंघे।
एभिस्त्वक्षरयोगैरेवंवाद्या भवेज्जातिः ॥ १५८ ॥

एवं-वाद्या :—गोमुखी के अक्षरों से वादन की जाने वाली तथा जिसमें मृदंग के सभी प्रहार रखे जाएँ तो 'एवंवाद्या' जाति कहलाती है। इसकी योजना कपटवेषधारी या कपटी जैसे दिखलाई देने वाले पात्रों द्वारा मूक मायावी चेष्टाओं के अभिनय में करना चाहिए। इसमें अक्षर क्रम इस प्रकार रहता है—घेण्टा टादौ ताथिता घेङ् घेङ् मटत्थि घट इंघे ॥ १५७–१५८ ॥

वामनविह्वलखञ्जानां[6] वाङ्गे चाशन्याहतपादानाम्।
एवंवाद्या जातिस्त्वेषां गमने तु कर्तव्या ॥ १५९ ॥

वामन बौने, विह्वल, लंगड़े, शरीर में दर्द या कष्ट से युक्त तथा पैर में चोट लगे हुए पात्र की गति को प्रस्तुत करने की दशा में (भी) इसी जाति की योजना की जाती है १५९ ॥

पृथिवीवादितं यत्र सर्वतो[7] ऽन्येषु दृश्यते।

---

१. केत्तां केत्तां गदिता—क० (म०)।
२. कार्या वितस्तिकृता—क (म०), ग०। ३. प्रकार—व०।
४. वैलाम्बिक—क (म०), वैलम्बिक—ग०।
५. घेण्डाण्डादोरकिता घेंङ् मटत्थि घटगुदुघे—क; घण्डाज्जातोदकीता-घेङ् घेङ् मदाथि घट इङ्घे—ग०।
६. खञ्जेष्वशन्यहतपादा—क (म०)।
७. पर्वतोऽन्येषु—क (म) ग०।

मृदङ्गपणवा[1] नाम सा जातिः सार्वमञ्चिकी ॥ १६० ॥

मृदङ्गपणवा—यदि करणों के विभिन्न विभागों में पृथ्वी पर प्रहार के साथ वादन किया जाए तो उसे 'मृदंगपणवा' जाति समझो। यह सभी मंचस्थ अवस्थाओं के उपयुक्त होती है ॥ १६० ॥

यथा—घ्रों[2] घ्रों टें टेमेभिर्जात्यक्षरैः समायुक्ता।
मृदङ्गपणवा[3] एषा स्त्रीणां भवेज्जातिः ॥ १६१ ॥

इसमें घ्रों घ्रों टें टें जैसे अक्षरों का क्रम रहता है तथा इनको स्त्रियों की चेष्टाओं के प्रदर्शन के समय मृदंग और पणव में नियोजित किया जाता है ॥ १६१ ॥

अवकीर्णा तु—

अवतीर्णं यद्वाद्यं त्रिगुणैर्वाद्यकरणैर्मृदङ्गानाम्।
दर्दुरपणवोपगमाद[4]वकीर्णा नाम सा जातिः ॥ १६२ ॥

अवकीर्णा तथा अर्धावकीर्णा—मृदङ्ग को तिगुने करणों से वादन करना 'अवकीर्णा' जाति कहलाती है। और जब इसे दर्दुर और पणव के साथ संयुक्त किया जाता (जोड़ा जाता) है तो 'अर्धावकीर्णा' जाति हो जाती है ॥ १६२ ॥

यथा—केन्तां केन्तां केन्तामेभिर्जात्यक्षरैस्तु[5] संयुक्ता।
गोमुखमार्गे जातिः सा चैवंगुणा विधातव्या ॥ १६३ ॥

गोमुख मार्ग में केन्तां केन्तां केन्तां अक्षरक्रम से युक्त यह अर्धावकीर्णा जाती होती है ॥ १६३ ॥

अर्धावकीर्णविधैः[6] करणैरिह मार्गयोगलघुयुक्तैः।
दर्दुरपणवमृदङ्गैरर्धार्धं वादनं कार्यम् ॥ १६४ ॥
थङ् गदघेण्डां सेन्द्रामेभिर्जात्यक्षरैस्तु संयुक्ता।
सम्प्लवमिति विज्ञेया कर्तव्या वानरैः करणैः ॥ १६५ ॥

---

१. पणवादीनां जातिः सा मार्जिकी यथा—क (म०)।
२. घ्रघों ठोंठोमेभि—क (म०)।
३. पणवादीनां स्त्रीणामेषा भवेज्जातिः—क (म०)।
४. मादधावकीर्णा—घ०। ५. सम्प्रयुक्ता—क (म०)।
६. अर्धकीर्णविविधैः—क (म०)।

सम्प्लवा—जब अर्थाविकीर्णा जाति की आधी विधि के साथ दर्दुर, पणव और मृदंग को उपयुक्त मार्ग में रहने वाले लघु अक्षरों के साथ वादन किया जाये तथा इसमें यदि घङ् गद घेण्डा सेन्द्रा अक्षरों का क्रम रहे तो उसे 'सम्प्लवा' जाति समझना चाहिए ॥ १६४-१६५ ॥

सर्वाङ्गुलिचलनकृता सर्वमृदङ्गप्रहारसंयुक्ता ।
भीतागतिनभोगत्योः[1] सम्प्लवजातिर्विधातव्या ॥ १६६ ॥

संम्प्लवा जाति को सभी अंगुलियों का और मृदंग के सभी प्रहारों का उपयोग करते हुए प्रस्तुत किया जाता है । इसकी योजना भयभीत पुरुष की चाल और आकाश में पात्रों की गति की अवस्था में करना चाहिए ॥१६६॥

दिव्यैर्नानाकरणैश्चित्रैर्मृदङ्गप्रहारसंयुक्तैः[2] ।
स्वाभाविकोत्तमगतौ विधूतजातिर्विधातव्या[3] ॥ १६७ ॥

विधूता—विविध आकर्षक एवं असाधारण करणों से मृदंग के प्रहारों के द्वारा विधूता जाति का निर्माण किया जाए और इसकी योजना उत्तम पात्रों की सहज गति में रखी जाती है ॥ १६७ ॥

यथा—दरिगे गुदुघेङ् तितिथि[4] क्राम टत्थि कणं कुकाम ।
एभिश्चाक्षरयोगैर्विधूतजातिर्विधातव्या ॥ १६८ ॥

इस विधूतजाति में (होने वाले) अक्षरों का क्रम इस प्रकार है :— दरिगे गुदुघेङ् तितिथि बलां टुत्थि कणं कुकाम ॥ १६८ ॥

एता गतिप्रचारेषु विज्ञेया जातयो बुधैः ।
याश्च नोक्ता मया चास्मिन्[5] ता ग्राह्या लोकतोऽर्थतः ॥१६९॥

पात्रों के गति-प्रचार के अवसर पर रखी जाने वाली इन जातियों को बुधजन (ठीक से) समझ लें । जिन बातों का यहाँ वर्णन छूट गया हो उसे तदनुसारी अर्थ को देखते हुए लोकव्यवहार से ले लेना चाहिए ॥ १६९ ॥

तीन गतियों में वाद्यों का वादन—

एवमेतेन विधिना कर्तव्यं वादनं बुधैः ।

---

१. भीतागतिर्नभोगत्यो—ख० ।
२. समृदङ्गप्रहार—क० (म०) ।
३. विधूय जाति—क (म०) ।
४. तिक्षिसां मथत्थि—क (म०) । ५. वास्मिन्—क (म०) ।

गतिप्रचारे[1] गीते च दशरूपे विशेषतः ॥ १७० ॥

बुधजन को वाद्यवादन इसी निर्दिष्ट विधि के अनुसार पात्रों की चाल तथा अन्य क्रियाओं में नियोजित करते हुए विशेषकर दशरूपकों में प्रस्तुत करना चाहिए ॥ १७० ॥

सप्तरूपविधाने[2] च छन्दस्यासारिते[3] तथा ।
तत्वश्चानुगतश्चैव तथोघो[4] वाद्यमिष्यते ॥ १७१ ॥

तत्व, अनुगत तथा ओघ वादन की सप्तरूप गीतों और आसारित विधि में योजना इष्ट (होती) है ॥ १७१ ॥

वाद्यं गुर्वक्षरकृतं तथाल्पाक्षरमेव[5] च ।
गतिप्रचारे कर्तव्यं गाने[6] साम्यमिहेच्छता ॥ १७२ ॥

दोनों वाद्यों के साम्य की अपेक्षा होने पर गुरु तथा लघु अक्षरों से निर्मित वादन को पात्रों की गति या अन्य क्रियाओं के अवसर पर गीत के साथ योजना कर प्रस्तुत करना चाहिए ॥ १७२ ॥

तत्वश्चानुगतश्चैव[7] औघश्चापि कदाचन ।
राज्ञां ललितभावत्वाद्[8] योज्यं वाद्यं स्वभावजम् ॥ १७३ ॥

राजा में ललित भाव से युक्त क्रियाओं की सहज दशा होने के कारण उनमें तत्व, अनुगत और कभी कभी ओघ की योजना (भी) की जाय ॥ १७३ ॥

तत्वन्तु प्रथमे गाने द्वितीयेऽनुगतं भवेत् ।
तृतीये त्वोघसंज्ञं तु वाद्यं [9]गतिपरिक्रमे ॥ १७४ ॥

---

१. गतिप्रचारगाने च—ख० ।

२. सप्तरूपे विधाने—क (य०), सप्तरूपविधानेन—ख० ।

३. छन्दसा कारितेषु च—क (म०), छन्दकासारितेषु च—क०, ख० छन्दः सारितकेषु च—ग० ।

४. तथौघं करणाश्रयम्—क (म०) ।

५. तथार्धाक्षर—क (म०) ।

६. गानसौम्यार्थदर्शनात्—क (म) गानं सौम्यार्थदर्शनम्—ग०, साम्यार्धमिच्छताम्—क (भ०) । ७. गतश्चापि—क० ।

८. गामित्वात् वाद्यं योज्यं—क०, ललितगानैश्च—ख० ।

९. गतिपराक्रमैः—ग० ।

प्रथम गीत में तत्त्व का, द्वितीय में अनुगत का और पात्रों के चलने और अन्य क्रियाओं के अभिनय के समय ओघ का वादन किया जाता है ॥ १७४ ॥

ध्रुवाओं में वाद्यवादन—

शेषाणां[1] छन्दतश्चित्रं[2] ध्रुवाणां सम्प्रयोजयेत् ।
अथ स्थितापकृष्टायां[3] वाद्यश्चानुगतं भवेत् ॥ १७५ ॥

इसके अतिरिक्त शेष ध्रुवाओं (के होने) की स्थिति में अपनी पसन्द के अनुसार विविध प्रकार के वाद्यवादन को रखा जा सकता है। परन्तु स्थितावकृष्टा-ध्रुवा में वाद्यवादन अनुगत (ही) रखा जाता है ॥ १७५ ॥

प्रावेशिकीनां कर्त्तव्यं लयश्चानुगतं[4] तथा ।
नैष्क्रामिक्यन्तरगतं[5] कार्यं त्रिलयवादितम्[6] ॥ १७६ ॥

प्रावेशिकी ध्रुवा में (भी) वाद्यवादन अनुगत लय में होता है तथा नैष्क्रामिकी और अन्तरा-ध्रुवा में तीनों लयों में वाद्यवादन रखा जाता है ॥ १७६ ॥

द्रुतं[7] प्रासादिकीनाञ्च[8] ध्रुवा पञ्चविधा भवेत् ।
एवं ध्रुवाणां कर्त्तव्यं वाद्यं प्रकरणाश्रयम्[9] ॥ १७७ ॥

प्रासादिकी ध्रुवा में वाद्यवादन द्रुत-लय में रहता है। इस प्रकार पाँच प्रकार के (सामान्यतः) ध्रुवाओं के भेदों में इसी प्रकार पात्रों की अवस्थाओं के अनुसार (प्रकरणाश्रयम्) वाद्यवादन रखना चाहिए ॥ १७७ ॥

यो[10] मात्रांशविकल्पस्तु ध्रुवापादे[11] भवेदिह ।
स तु भाण्डेन कर्त्तव्यस्तज्ज्ञैर्गतिपरिक्रमे ॥ १७८ ॥

---

१. ध्रुवासु छन्दतश्चित्रं शेषाणां—क० ।
२. छन्दसश्चित्रं—ग० ।
३. स्थितविकृष्टा—क (म०) ।
४. तत्वश्चानु—क० ।
५. क्यन्तरकृतं—क०, ख० ।
६. वाहितम्—क०, वादिना—क (म०) ।
७. द्रुते—क० ।
८. द्रुतञ्चैव वादयेत्—क० ।
९. प्रकरणान्वितम्—क० ।
१०. मात्रांशकविकल्पस्तु—क० ।
११. पादेषु यों भवेत्—क० ।

पात्रों के चलने तथा अन्य क्रियाओं के अभिनयों के अवसर पर ध्रुवाओं के पादों में मात्राओं के विभाग को वाद्यवादन के द्वारा देखते हुए चतुर जन को प्रस्तुत करना चाहिए ॥१७८॥

एवं गतिप्रचारेषु वाद्यं[1] योज्यं प्रयोक्तृभिः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ग्रहान् भाण्डसमाश्रयान् ॥ १७९ ॥

पात्रों के गतिप्रचार में इसी विधि के अनुसार वाद्यवादन की योजना करना चाहिए। अब मैं वाद्यवादन के आरंभ करने की विधि बतलाता हूँ ॥१७९॥

वाद्यवादन आरम्भ करने की विधि—

शम्यातालग्रहाः केचित् तथा[3] च तर्जनीग्रहाः ।
तथाकाशग्रहाः केचित् प्रदेशिन्या ग्रहाऽपरे ॥ १८० ॥

किन्हीं आचार्यों के मत में वाद्य का आरम्भ शम्या और ताल से और दूसरे आचार्यों के मत में तर्जनी से, कुछ आचार्यों के मत से इसे आकाश या खाली स्थान से और प्रदेशिनी या मध्यम-अंगुली के द्वारा किया जाता है ॥ १८० ॥

तत्र[3] शम्याग्रहाः ज्ञेया नित्यं दक्षिणपुष्करे ।
वामोर्ध्वके[4] ग्रहाश्चापि ज्ञेयास्तालग्रहा बुधैः ।
तर्जनीग्राहका नित्यमालिङ्ग्ये परिकीर्तिताः ॥ १८१ ॥

दक्षिण-पुष्कर में ग्रह शम्या से सदा आरम्भ किया जाता है और वामक और ऊर्ध्वक में ताल से (वाद्यवादन का) आरम्भ (ग्रह) होता है और आलिङ्ग्य में यह (ग्रह) सदा तर्जनी से किया जाता है ॥ १८१ ॥

अथाकाशग्रहः[5] प्रोक्तो निष्क्रामे वा प्रयोजितः ।
आसारिता[6] नित्यशम्या द्वितालास्तु ध्रुवाङ्गजाः ॥ १८२ ॥
लयश्च न ग्रहं गानं तत्र स्यात्तर्जनीग्रहाः ।
शीर्षकश्चोद्धता चैव प्रदेशिन्या ग्रहाः स्मृताः ॥ १८३ ॥

१. कार्यं वाद्यं—क० ।
२. तथाकाशग्रहा पुनः—क० (म०)
३. तथा—क (म०) । ४. वामोर्ध्वगे—क, ग० ।
५. ग्रहाः प्रोक्ता…प्रयोजिताः—क (म०) ।
६. आसारितानि शम्याद्यास्तालाद्यास्तु ध्रुवाङ्गजाः—क (म०) ।

निष्काम में आकाश या खाली स्थान से भी ग्रह हो सकता है। आसारित-गीतों में सदा शम्या ग्रह होता है और दो तालों के ध्रुवाओं के अंग से उद्भूत रखा जाता है। लय और गीत ग्रह नहीं होते किन्तु जहाँ तर्जनी अंगुलि से वाद्य का आरम्भ (ग्रह) करना पड़ता है तथा शीर्षक तथा उद्धता (ध्रुवाओं) के ग्रह प्रदेशिनी-अंगुली के द्वारा सम्पन्न होते हैं ॥ १८२-१८३ ॥

नत्कुटस्याडि्डतायाश्च[1] प्रासादिक्यास्तथैव च।
सन्निपातग्रहा ज्ञेयास्तथैवैककलो विधिः ॥ १८४ ॥

नत्कुट तथा अड्डिता के अतिरिक्त प्रासादिकी ध्रुवा का ग्रह सन्निपात से होता है और इसका एक कला का विधान है ॥ १८४ ॥

आकाशग्रहका ज्ञेयाश्चतुर्द्वि-कल-योगजाः[2] ।
तथा चाङ्गनिबद्धानि[3] गीतकानि यथाक्रमम् ॥ १८५ ॥

आकाश-ग्रह के दो कलाओं के चार विभाग निर्मित किये जा सकते हैं और इसके गीत भी अंगों के द्वारा यथाक्रम उपयुक्तता को ध्यान में रख कर रहते हैं ॥ १८५ ॥

एवमेते बुधैर्ज्ञेया ग्रहा भाण्डसमाश्रयाः।
ताण्डवे सुकुमारे च वाद्यं वक्ष्याम्यतः[4] परम् ॥ १८६ ॥

अवनद्ध वाद्यों से सम्बद्ध ग्रह ये ही हैं जिनका ज्ञान बुद्धिमान् मनुष्य को रखना चाहिए। अब मैं इनकी ताण्डव और लास्य (प्रकारों के नृत्य) के साथ होने वाली वादन विधि कहता हूँ ॥ १८६ ॥

अभाण्डमेकं[5] गानस्य परिवर्तं प्रयोजयेत्।
तस्यान्ते सन्निपातस्तु[6] कार्यो भाण्डग्रहे[7] बुधैः ॥ १८७ ॥

(प्रस्तुत) गीत का एक परिवर्त किसी (अवनद्ध) वाद्यवादन के बिना किया जाए और इसकी समाप्ति पर वाद्यवादन में सन्निपात पर 'ग्रह' रखा जाए ॥ १८७ ॥

---

१. ड्डिकायाश्च प्रादेशिक्या—क (म०)।
२. चतुर्विकल—क (म०)। ३. निबन्धानि—ग०।
४. वक्ष्यामि तत्वतः—क०।
५. अभाण्डमेक—क (म०) ग०, अभाण्डेनैव—ख०।
६. सन्निपाते च—क०, ख०। ७. भाण्डग्रहो—क०।

अथवा नृत्तशोभार्थमङ्गाङ्गपरिवर्तनम्[1]।
गीतकस्य[2] प्रकर्तव्यं लयस्य परिवर्तनम्[3] ॥ १८८ ॥

अथवा (प्रयोग के मध्य) अंगों का परिवर्तन नृत्तों की शोभा के लिए जैसे किया जाता है वैसे ही गीतों की शोभार्थ लय का (भी) परिवर्तन करना चाहिए ॥ १८८ ॥

[4]यत्राभिनेयमङ्गन्तु[5] न वाद्यं तत्र योजयेत् ।
यत्राङ्गहारनृत्तन्तु तत्र वाद्यं प्रयोजयेत् ॥ १८९ ॥

जब किसी (प्रयोग में) अंग का अभिनय किया जाए तो वहाँ वाद्य वादन नहीं रखा जाता है किन्तु जहाँ अंगहारों से निर्मित नृत्त हो तो वहाँ (उसकी संगति के लिए) वाद्यवादन (अवश्य) रखा जाए ॥ १८९ ॥

यदा गीतवशादङ्ग[6] भूयो भूयो[7] निवर्तते ।
तत्राद्यमभिनेयन्तु[8] शेषं नृत्तेन योजयेत् ॥ १९० ॥

यदि गीत प्रयोग के कारण उसके अंगों की बार बार आवृत्ति हो तो प्रथम उसे अभिनीत करे और बाद में (शेष आवृत्तियों के समय) उसे नृत्त से सम्बद्ध करते हुए प्रस्तुत किया जाए ॥ १९० ॥

यद्वृत्तं तु पदं गाने तादृशं वाद्यमिष्यते ।
गीतवाद्यप्रमाणेन कुर्याच्चाङ्गविचेष्टितम्[9] ॥ १९१ ॥

गीत का जो छन्द हो उसी के अनुरूप या समान वाद्यवादन (भी) होना चाहिए और गीतों के तथा वाद्यवादन के प्रमाण के अनुरूप अंगों का हलन चलन रखना चाहिए ॥ १९१ ॥

वाद्यं[10] गुर्वक्षरकृतं तथाल्पाक्षरयोजितम्[11] ।

---

१. मङ्गाना–क०, मङ्गाङ्गपरिकीर्तनम्––क (म०) ।
२. सङ्गीतस्य––क० ख०, सङ्गीतके=–ग० ।
३. च निवर्तनम्––क०, ख० । ४. यत्राङ्गहारनृत्यं––क (म०) ।
५. मङ्गे तु तत्र वाद्यं प्रयोजयेत्––क० ।
६. पाणिवशा–क०, गीतवशा–क (म०), भीतिवशा––ग० ।
७. भूयोऽपि विनिवर्तयेत्––ख० ।
८. स तत्रार्थोऽभिनेयस्तु–क०, स तत्रार्थेऽभि––ख० ।
९. कुर्यात् स्वाङ्ग—ख० ।
१०. यथा (यद्वा—ख०) गुर्वक्षरञ्चैव—क०, ख० ।
११. ल्पाक्षरमेव च—क०, ख० ।

मुखोपवहने[1] कार्यं प्रकृष्टं[2] वर्णतस्तथा ॥ १९२ ॥

मुख तथा उपोहन में गुरु तथा लघु अक्षरों के भेद को पृथक् निर्दशित करने वाला वाद्यवादन रखा जाता है जो वर्णों के निर्माण में प्रकृष्ट या व्यवधान द्वारा भेद को बतलाने वाला हो ॥ १९२ ॥

स्थिते स्वल्पप्रहारन्तु[3] मध्येऽक्षरसमं[4] तथा ।
कार्यन्तु गीतके[5] वाद्यं द्रुते चोपरिपाणिकम् ॥ १९३ ॥

गीतों के साथ विलम्बित लय में किये जाने वाले वाद्यवादन में प्रहार हलके रखे जाते हैं, मध्यम-लय में ये प्रहार वर्णों को ठीक प्रकार से उत्पन्न करने वाले होते हैं (या वर्णों की समता से युक्त वाद्यवादन किया जाता है) और द्रुत-लय में वाद्यवादन उपरिपाणि (ग्रह) रखा जाता है ॥

समं[6] रक्तं विभक्तञ्च स्फुटं[7] शुद्धप्रहारजम्[8] ।
नृत्ताङ्गग्राहि कालज्ञैर्वाद्यं[9] योज्यं तु ताण्डवे ॥ १९४ ॥

लय के विद्वानों के द्वारा ताण्डव में अवनद्ध वाद्यों का वादन सम, आनंद दायी (रक्त) कलाओं के विभाग से युक्त, स्पष्ट (स्फुट), हलके प्रहारों से होने वाला और प्रयोग के अंगों के साथ अनुगमन करने वाला करना चाहिए ॥ १९४ ॥

सनृत्तेषु[10] प्रयोगेषु तत्वं ह्यनुगतन्तथा[11] ।
अनृत्तेषु प्रयोगेषु तत्वमोघं[12] क्रमेण तु ॥ १९५ ॥

नृत्त से युक्त नाट्यप्रयोग में क्रमशः वाद्यवादन में तत्व तथा अनुगत रखे जाते हैं पर नृत्त से रहित (केवल) प्रयोग के होने पर तत्व और ओघ को क्रमशः स्थिति के अनुसार वाद्यवादन में रखना चाहिए ॥ १९५ ॥

---

१. मुखे सोपोहने—क० ।

१. प्रकृतेर्वर्णत—क०; प्रकृते— ख० ।

३. शुद्धप्रहारं तु—क०; त्वङ्गप्रहारं-क (भ०), ल्पत्वप्रहारं-क (म०) ।

४. मध्याक्षर—ग० । ५. गीतकैः—क (भ०) ।

६. समरक्तं—ख० । ७. तया—क० ।

८. शुद्धं प्रहारजम्—क०; शुद्धप्रहारकम्—(भ०), शुद्धप्रयोगजम्—क० (म०) । ९. च तथा वाद्यं कार्यस्तु-क०; लोकज्ञै—ग० ।

१०. स नृत्तेषु—ग० । ११. भवेत्—ग० ।

१२. मोघञ्च वादयेत्—ग० ।

स्थिते मध्ये द्रुते वापि यथा गाने[1] तु वादयेत् ।
पदे[2] नृत्ताङ्गहारे तु तेनैव[3] प्रक्रमेण तु ॥ १९६ ॥

गीत के अनुरूप अवसर या स्थिति में वाद्यवादन (भी) तदनुसार विलम्बित, मध्य या द्रुत-लय में रखा जाए और गीत के पद तथा नृत्त के अंगहारों के प्रयोग के (प्रस्तुत करने के) समय भी यही विधि और क्रम रहना चाहिए ॥ १९६ ॥

यो विधिर्गानवाद्यानां पदाक्षरलयान्वितः ।
स तु नृत्ताङ्गहारेषु कर्तव्यो नाट्ययोगतः[4] ॥ १९७ ॥

गीत और वाद्यवादन की अवस्था में पद और वर्णों का जो लययुक्त विधान बतलाया गया है वही नियम नाट्यप्रयोग की दशा में अंगहारों के साथ नृत्त के प्रयोग पर (भी) लागू किया जाता है ॥ १९७ ॥

एतास्तु जातयः प्रोक्ता दश चाष्टौ च भाण्डजाः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रकारान् वाद्यसंश्रयान् ॥ १९८ ॥

वाद्यवादन से सम्बद्ध इन अठारह जातियों को मैंने बतलाया । अब मैं इन से सम्बद्ध प्रकारों को बतलाता हूँ ॥ १९८ ॥

वाद्यवादन के (बीस) प्रकार तथा उनकी योजना—

अथ[5] प्रकाराः चित्रः समः विभक्तः छिन्नः छिन्नविद्धः विद्धो[6] ऽनुविद्धः स्वरूपानुगतः अनुसृतः अनुसृतविच्युतो दुर्गः अवकीर्णः अर्धावकीर्णः एकरूपः परिक्षिप्तः साचीकृतः समलेखः चित्रलेखः सर्वसमवाद्यः दृढः इति । तत्र—

इन प्रकारों के क्रमशः ये नाम हैं—चित्र, सम, विभक्त, छिन्न, छिन्नविद्ध, विद्ध, अनुविद्ध, स्वरूपानुगत, अनुसृत, अनुसृतविच्युत, दुर्ग, अवकीर्ण, एकरूप, परिक्षिप्त, साचीकृत, समलेख, सर्वसमवाद्य तथा दृढ़ ।

---

१. गानन्तु गीयते—क० ।

२. तथा नृत्ता-क०; अथ नृत्ताङ्गहारेषु—ग० ।

३. तेन चैव क्रमेण—क०, कृतेन प्रकमेण—क० (म०) ।

४. योक्तृभिः—क० ।

५. तद्यथा—क० ।

६. विद्धो वाद्यसंश्रयो ऽनुसृतः प्रतिविद्युतो दुर्गोऽवकीर्णोऽर्धावकीर्णः परिक्षिप्त एकरूपो नियमान्वितः साचीकृतः—क०;··· ···समुल्लेखश्चित्रलेखः सर्वसमवाद्यकृतो दृढ़श्चेति—ख० ।

निर्वर्तितादिभिः[1] प्रयुक्तं चित्रैः करणैरनेकविध-हस्तैः ।
त्रिलयं त्रिपाणियुक्तं चित्रं वाद्यं बुधैर्ज्ञेयम् ॥ १९९ ॥

चित्र—जो वाद्यवादन निर्वर्तित आदि करणों के साथ अनेक प्रकार के हस्तों के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है और जिसमें तीन लय और तीनपाणि रहते हों तो उसे 'चित्र-वादन' समझना चाहिए ॥ १९९ ॥

दर्दरपणवमृदङ्गैर्नानाकरणैस्तु यः समनुजातः[2] ।
तालाङ्गवंशानुयुक्तः[3] स तु विज्ञेयो समो नाम ॥ २०० ॥

सम—विभिन्न करणों के साथ दर्दुर, पणव और मृदंग का वादन जब ताल, अंग और वंशी से संयुक्त (अनुगत) किया जाए (या उनके साथ मिलाकर बजाया जाए) तो उसे 'सम' समझना चाहिए ॥ २०० ॥

नात्यायतश्च[4] यः स्यात् संस्थानतः समः विभक्तश्च ।
अक्षरपाणिलयेषु च विभक्तकरणे विभक्तस्तु ॥ २०१ ॥

विभक्त—जब वादन (अपनी) स्थिति में अधिक विस्तार न लें, (और) इसके विभक्त करणों में अक्षर, लय और पाणि भी समान रूप से विभक्त दिखलाई पड़े तो उसे 'विभक्त' समझना चाहिए ॥ २०१ ॥

वाद्यं[5] द्रुतलयं यत्र सहसा च[6] निवर्तते ।
सर्वातोद्येषु[7] भिन्नेषु प्रकारश्छिन्न एव सः ॥ २०२ ॥

छिन्न—जब सभी वाद्यों का एक साथ पृथक् पृथक् वादन हो रहा हो तभी सहसा अवनद्ध वाद्य का द्रुतलय में होने वाला वादन बन्द कर दिया जाए तो उसे 'छिन्न' जानों ॥ २०२ ॥

---

१. रिखितोजकृतश्चित्रो नानाकरणभूषितः । प्रसन्नकरणश्चैव त्रिपाणिलयसम्भवः ॥ क०, ख०; रचितादिभिः प्रयुक्तं—क (म०) ।

२. समनुयातः–क०; सम्यक्-क (म०) करणैः समं समनुजातः—ख० ।

३. वेणुयुक्तः—क०, समयतिकालाङ्गयुतः—क (म०) ।

४. नात्यायतस्तथा स्यादिह सास्थानस्थितो—क०, एकायनस्तथायत्थायतश्च संस्थानसंविभक्तिश्च—क० (म०) ।

५. वाद्यस्तु त्रिलयं—क (म०), ग० ।

६. विनिवर्तते—क० , न निवर्तते—ख०, च विवर्धते—क (म०) ग० ।

७. सङ्घातोद्येषु—ख०, सर्वातोद्यैः प्रवृत्तन्तु—क (म०) ग० ।

अवपाणिमृदङ्गानां[1] पणवोपरिपाणि[2] च।
भवति[3] यत्र वाद्ये तु छिन्नविद्ध इति[4] स्मृतः ॥ २०३ ॥

छिन्नविद्ध – जिस वादन में मृदंगों को अवपाणि के साथ और पणव को उपरिपाणि के साथ वादित रखा जाता हो तो उसे 'छिन्नविद्ध' कहते हैं ॥ २०३ ॥

मृदङ्गकरणै[5] र्वाद्यं पणवा[6] वादयन्ति चेत्।
सूचीविधैर्विचित्रैस्तु[7] करणैर्विद्ध एव[8] सः ॥ २०४ ॥

विद्ध—मृदंग में प्रयुक्त होने वाले ऐसे करणों से पणवों का वादन किया जाए जो विविध सूची वेधों वाले हो तो ऐसा वादन 'विद्ध' कहलाता है ॥ २०४ ॥

विद्धानुविद्धं[9] यद्वाद्यं सर्वातोद्येषु दृश्यते।
परस्परानुवेधाच्च[10] अनुविद्धस्तु स स्मृतः ॥ २०५ ॥

अनुविद्ध—जब सभी वाद्यों से सम्बद्ध विद्ध को अन्तःमिश्रित होकर देखा जाए तो परस्पर अनुवेध के कारण ऐसा वादन 'अनुविद्ध' कहलाता है[1] ॥ २०५ ॥

विशुद्धवाद्यप्रकृतिः समपाणिकृतस्तथा[11]।
स्वरूपानुगतश्चैव स्वरूप[12] इति स स्मृतः ॥ २०६ ॥

---

१. यहाँ के लक्षण अधिक स्पष्ट नहीं है।

---

१. अवपाणिमृदङ्गेषु—क०, अर्थपाणिमृदङ्गेषु—ख०।

२. पाणिकः—क०, ख०।

३. यदा भवति वाद्येषु—क०, भवती यत्र वाद्येषु—क (म), ग०।

४. स्त्वसौ भवेत्—क०, स्तु सा (?) भवेत्—ख०।

५. करणे—क०; करणं—ग०।

६. पणवानुगतश्च यत्—क०; पणवो वेधयेद् यदि—क (म०) ग०।

७. सूचीविद्धै—क०; सूचीविद्धैर्विधेन्तेसु (?)—ख०।

८. उच्यते—क० ख०। ९. शुद्धानुविद्धं—क०।

१०. परस्परानुवेधेन सोऽनुत्रिकद्ध इति स्मृतः—क०; परस्परविरोधेन अनु—क (भ०), परस्परविरोधे तु अनुपीडस्तु—क० (म०)।

११. समातालकृत—क (म), ग०।

१२. विज्ञेयो वाद्यसंश्रयः-क०,...गतं विद्धं विज्ञेयो वाद्यसंश्रयः—ख०।

स्वरूप—जब वादन अपनी सामान्य प्रकृति के अनुसार समपाणि के द्वारा किया जाए और अपने निश्चित स्वरूप के अनुसार (अपरिवर्तित) रहे तो उसे 'स्वरूप' कहते हैं ॥ २०६ ॥

मुरजं पणवो वापि पणवं दर्दरोऽपि वा ।
यदानुयायादातोद्यं[1] स्वरूपानुगतस्तु सः ॥ २०७ ॥

स्वरूपानुगत—जब पणव मुरज का अनुसरण करे और दर्दुर पणव का अनुसरण करे तो ऐसा वादन 'स्वरूपानुगत' कहलाता है ॥ २०७ ॥

अनुगम्य[2] यदातोद्यं गच्छेद्धि[3] सलयं पुनः ।
श्रुतवत्समतावाद्ये[4] तदानुसृत उच्यते ॥ २०८ ॥

अनुसृत—जब वादन अन्य वाद्यों का अनुसरण करने के पश्चात् उसी लय को ले ले और एक साथ इन्हीं वाद्यों के साथ लय सुनी जाए तो (ऐसा वादन) 'अनुसृत' कहलाता है ॥ २०८ ॥

एकैकानुगतं वाद्यं[5] वाद्यजातिसमन्वितम् ।
कृत्वान्यजातिकं कुर्यात् तदानुसृतविच्युतः ॥ २०९ ॥

अनुसृतविच्युत—जब अवनद्ध वाद्य का वादन दूसरे वाद्य का अनुसरण अपनी स्वयं की जाति में करे और फिर दूसरी जाति में चला जाए तो इसे 'अनुसृत-विच्युत' समझना चाहिए ॥ २०९ ॥

यत्तु[6] प्रचारविषमं[7] सर्वमार्गप्रबोधनम्[8] ।
अविभिक्ताक्षरकृतं[9] तद्दुर्गः[10] वाद्य उच्यते ॥ २१० ॥

---

१. अनुयाति यदा वाद्ये भवेदनुसृतस्तु सः–क०, अनुयाति यदा वाद्यं भवेदनुश्रितस्तु सः—ख०, तथानुयाया—क (म०) ।

२. अनुगम्यं—क० ।

३. गच्छेत्समलयं—क०; अनुगत्य मुदातोद्यं गच्छेद्यत् समयं पुनः—ग०, अनुगद्य मृतातोद्यं गच्छेद्यत् स समं पुनः—क (म०) ।

४. श्रान्तवत् समवायेषु तदा स्यात् प्रतिविद्युतः–क०, शुद्धवत् समवाद्येषु तदा स्यात् प्रतिविच्युतां—ख० । ५. गाढं—क (म०) ।

६. वाद्ये—क०, यत्र—क (म०), ग० ।

७. विषमः—क०, वाद्यप्रचारविषमः—ख० ।

८. मार्गप्रबोधनः—क०, मार्ग प्रसाधतः—क (भ०) ।

९. अतिरक्ताक्षरपदं—क (भ०) ।

१०. स दुर्ग इति कीर्तित—क० ।

दुर्ग—जो वादन अपनी गति में विषम या अनियमित (सा) होते हुए सभी मार्गों को बतलाए और बिना अक्षरों के विभाजन के किया जाए तो उसे 'दुर्ग' समझना चाहिये ॥ २१० ॥

समवृत्ते[1] मृदङ्गास्तु वाद्यन्ते पणवैर्यदि ।
[2]नानाविचित्रकरणैरवकीर्णस्तथा[3] स्मृतः ॥ २११ ॥

अवकीर्ण :—अनेक और विचित्र करणों में जब मृदङ्गों का पणवों के साथ वादन किया जाय तो ऐसा वादन अवकीर्ण कहलाता है ॥ २११ ॥

द्रुतं लयं समारुह्य[4] पणवो दर्दुरोऽपि वा ।
अवपाणौ[5] यदा स्यातामर्धकीर्णा तु सा स्मृता ॥ २१२ ॥

अर्धावकीर्ण—जब कोई पणव या दर्दुर अवपाणि के साथ द्रुत-लय में वादित किया जाता हो तो ऐसा वादन 'अर्धावकीर्ण' कहलाता है ॥ २१२ ॥

सर्वातोद्यानि यत्रैकं करणं भावयन्ति[6] च ।
समवृत्तपदान्येव[7] एकरूप इति स्मृतः ॥ २१३ ॥

एकरूप—जब सभी वाद्यों का वादन (मिलकर) एक ही करण का अनुसरण करते हुये रखा जाता है तो उसे 'एकरूप' कहते हैं ॥ २१३ ॥

पणवैश्छादितं यत्र वाद्यमल्पं[8] मृदङ्गजम् ।
अविभक्ताक्षरपदं[9] परिक्षिप्तस्तु सः[10] स्मृतः ॥ २१४ ॥

परिक्षिप्त—जब मृदंग का धीमी आवाज में बिना अक्षरों के विभाग के किया गया वादन पणव के वादन से ढक जाए तो उसे 'परिक्षिप्त' समझना चाहिये ॥ २१४ ॥

---

१. समवृत्तौ तु मुरजाश्छाद्यन्ते—क०, समवृत्तैर्मृदङ्गस्तु वाद्यते पणवैर्यदा—म (म०) । २. नानाविचित्रैः करणैः—क० ।

३. स उच्यते—ज० ।

४. समारभ्य—क०, ख० ।

५. अबधानोऽपि यत्र स्यादर्धकीर्णा—क (म०); अर्धपाणौ यदा स्यातां तदा त्वर्धावकीर्णकः—ख० ।

६. भावयेत् तत्—ख०, कारणं भावयन्ति—ग० ।

७. न्येवमेकरूपमिति—क०, ख० ।

८. पणवैश्चोदितं यत्र वाद्यमल्पमृदङ्गजम्—क (म०), ग० ।

९. सुविभक्ता—क० । १०. स उच्यते—क०, ख० ।

चित्रं हि करणं यत्र वाद्येनैकेन[1] वाद्यते।
नृत्ताङ्गहारानुगतं[2] ज्ञेयः साचीकृतस्तु तत्[3] ॥ २१५ ॥

साचीकृत—जब अंगहारों से युक्त नृत्त का एक वाद्य में विभिन्न करणों के वादन के साथ अनुसरण किया जाए तो उसे 'साचीकृत' समझना चाहिये ॥ २१५ ॥

कृत्वोपरिगतं वाद्यं पणवो दर्दरोऽपि हि[4]।
यत्रोदीक्षेत[5] मुरजान्[6] समुल्लेखस्तु स स्मृतः ॥ २१६ ॥

समुल्लेख—जब पणव या मुरज का प्रथम वादन हो चुके और तब मुखों को (पुनः) देखा या वादनार्थ लिया जाए तो ऐसा वादन 'समुल्लेख' कहलाता है ॥ २१६ ॥

चित्रं बहुविधं वाद्यं मृदङ्गपणवादिभिः।
क्रियते यत्र [7]सम्बद्धैश्चित्रलेखः स उच्यते ॥ २१७ ॥

चित्रलेख—जब विभिन्न वाद्यों का मृदंग और पणव के साथ सम्बद्ध कर विचित्र प्रकारों से वादन किया जाए तो उसे 'चित्रलेख' समझना चाहिये ॥ २१७ ॥

सर्वमार्गगतो[8] यस्तु सर्वपाणिलयाश्रयः।
विचित्रश्च विभक्तश्च सः[9] सर्वसमवायकः ॥ २१८ ॥

सर्वसमवायक—जिस वादन में सभी मार्गों का अनुसरण रहे, जिसमें सभी लय और पाणि का आश्रय या ग्रहण किया जाता है और जो विचित्र (विविध) और ठीक तरह से (अपने वर्ण क्रम में) विभक्त हो तो उसे 'सर्वसमवायक' समझना चाहिए ॥ २१८ ॥

---

१. पदेनैकेन—क (म), ग० ।

२. वृत्ताङ्गहारानुगतो ज्ञेयः—क०, ख०, ।

३. सः—क०; ख०, यत्—क (म०) । अस्मात् पूर्वं-क- पुस्तके, ख० पुस्तके च—प्रशान्तनियमोपेतः स्फुटवाद्यसमन्वितः । उपयाति च गीतं यः (न प्रयाति च गीतञ्च—ख०) स ज्ञेयो नियमान्वितः ॥ इतिपद्यमधिकम् ।

४. वा—क० ।

५. प्रयाति मुरजं यत्र समलेखः सः कीर्तितः—क०, प्रयाजमुत्तरं यत्र समुल्लेखः प्रकीर्तितः—ख० । ६. मुखान्—क० (म०) ग० ।

७. संरब्धै—क०, ख०, क (म०) । ८. कृतो—क (म०), ग० ।

९. तत्समं समवायितम्—क०, समवायकृतस्तु क०—ख० ।

यस्तु मध्यलयोपेतः समः सुविहिताक्षरः[1]।
गतिप्रचारविहितः[2] प्रकारो[3] दृढ एव सः ॥ २१९ ॥

दृढ़—जो वादन मध्य-लय में हो, सम तथा सुस्पष्ट अनुसरण या साथ करने वाले अक्षरों से निकाला गया हो तथा गति और प्रचार के अनुरूप या उपयुक्त हो तो उसे 'दृढ़' समझना चाहिए ॥ २१९ ॥

एवमेते प्रकारास्तु कर्तव्या वाद्यसंश्रयाः।
गतिप्रचारे गेये[4] च रसभावौ समीक्ष्य तु ॥ २२० ॥

वाद्यवादन के ये ही विविध प्रकार हैं जिन्हें गीतों और गति प्रचार में संगत के लिए रस और भाव का विचार करते हुए रखा जाता है ॥२२०॥

प्रकारा[5] जातयश्चैव सर्वमार्गेषु संस्थिताः[6]।
ये[7] वै गतिप्रचारेषु शुद्धास्ते केवलाः स्मृताः[8] ॥ २२१ ॥

ये प्रकार और जातियाँ सभी मार्गों पर लागू की जाती है परन्तु गति प्रचार में इन्हें केवल अपने शुद्ध-रूप में (ही) रखा जाता है ॥ २२१ ॥

वादकों का उपवेशन—

एतेषां[9] प्रयोगमिदानीं वक्ष्यामि[10]। तत्रोपविष्टः[11] प्राङ्मुखो रङ्गे कुतपविनिवेशः कर्तव्यः। तत्र पूर्वोक्तयोः नेपथ्यगृहद्वारयोर्मध्ये[12] कुतपविन्यासः कार्यः। तत्र रङ्गाभिमुखो मौरजिकः तस्य[13] दक्षिणतः पाणविकी, दार्दरिको वामतः। एष प्रथममवनद्धकुतपविन्यास[14] उक्तः। तत्रोत्तराभिमुखो गायनः[15] गायनस्य वामपार्श्वे वैणिकः, तस्य दक्षिणे[16] वंशवादकौ। गातुरभिमुखा[17] गायिका इति कुतपविन्यासः।

---

१. सः विहिताक्षरः—क (म०)।
२. प्रचारे—क०, गतिपूर्णार्धविहितप्रकारो—ख०।
३. प्रचारो—क (म०), ग०।
४. गीतो वा रसभावाववेक्ष्य च-क०, गीते च रसभावानपेक्ष्यच-ख०।
५. एते प्रकारा आत्यश्च—क (म) ग०।
६. ते स्मृताः—क (म), संस्मृताः—ग०। ७. ते वै—क (म०)।
८. मतः—क०। ९. तत्र प्रयोग—ख०। १०. वक्ष्यामः—क०।
११. प्रविष्टे प्राङ्मुखे रङ्गे कुतप एव विन्यासः—क०।
१२. नेपथ्यगृहयो—ख०। १३. तस्य पाणविकदर्दरिकौ वामतः—क०।
१४. मवनद्धकेन तस्य ततः कुतुप—क०। १५. गायकः—क०।
१६. दक्षिणेन—क०। १७. रभिमुखं—क०।

अब मैं इनका प्रयोग बतलाता हूँ। रंगमंच पर पूर्व की ओर मुख किये हुए (वाद्यवादक समूह या) वृन्दवादकों को बिठाया जाए। यह उपवेशन पूर्ववर्णित नेपथ्य के दो द्वारों के बीच में रखा जाए। इनमें मृदंग का वादक रंगमञ्च की ओर मुँह करके बैठता है और उसकी दाहिनी ओर पणव-वादक तथा बायीं ओर दर्दुर वादक बैठता है। यहाँ हमारे द्वारा सर्वप्रथम अवनद्धवाद्य के वादकों के उपवेशन का वर्णन दिया गया। इनमें उत्तर की ओर मुख किये हुए (पुरुष) गायक बैठता है। गायक की बांयी बाजू में वीणा-वादक और दाहिनी-बाजू में दो बांसुरी-वादक बैठते हैं। इस गायक के सम्मुख गायिका को बिठलाते हैं। इस प्रकार वृन्दवादकगण के उपवेशन की विधि (यहाँ) बतलायी गयी।

मार्दङ्गिकपाणविक[1] दार्दरिकेषु गायकगायिका[2] वंशिकवैणिकसहितेषु अशिथिलायततन्त्रीबद्धास्तनितेषु[3] आतोद्येषु यथाग्रामरागमूर्च्छनामार्जनानुलिप्तेषु मृदङ्गेषु[4] उद्धारण-निपीडितनिगृहीतमुक्तप्रहारकृतेषु दर्दरवादन[5]मुख्यविन्यस्तहस्तैः वादनकैः दैवतानामावाहनविसर्जनार्थं प्रथममेव[6] त्रिसाम कर्तव्यम्।

स[7] तु सर्व सचराचरोत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तुर्ब्रह्मणो मुखाभिसक्तेन[8] प्रथमेन साम्ना वामपार्श्वे चन्द्रं सम्प्रीणयति दक्षिणे पन्नगान्। अथान्तरेण जलजं[9] द्वितीयेन साम्ना मुनीन् आयतेन तृतीयेन बृहत्साम्ना दैवतानि च।

---

१. अस्मात् पूर्वं क-पुस्तके— प्रयोगेषु प्रणेतव्यो देशस्थानवशानुगः। यथास्थानस्थितेष्वेषु वामकातोद्यकेषु च॥ इति पद्यमधिकम्। स्वरङ्गाभिमुखमार्दङ्गिक—क (म०) ग०।

२. एवमचलाकम्पितास्खलितासनोपविष्टेषु मार्दङ्गिकदार्दरिकपाणविकेषु —क०। ३. शिथिलाञ्चितबध्रस्तनितेषु—क०।

४. मृदङ्गेपुरुद्वयनिपीडने तेषु निगृहीतार्थनिगृहीतमुक्तप्रकारकृतेषु—क०।

५. दर्दरवादनविन्यस्तैर्देवतानामावाहन—क०।

६. मेव तावत् त्रिसाम—क०।

७. एतस्य गद्यभागस्य स्थाने क-पुस्तके पद्यद्वयमुपलभ्यते। तद्यथा—तत्र वामे चन्द्रमसं साम तत्प्रीणयति पन्नगान्। दक्षिणे जलजं साम तदृषीन् प्रीणयत्यथ॥ उदीच्यामपि चाग्नेयं तद्गृह्यदैवतानि च। त्रिसाम कीर्तितं सम्यक् त्रिसामत्वाद् बुधैरथ॥ (इति)।

८. मुखाभिव्यक्तेन—क (म०)।

९. जलसाम्ना मुनीनाग्नेयेनेन बृहत्साम्ना दैवतेन च—क (म०)।

त्रिसाम—और जब मृदंग, पणव, दर्दर के वादक, गायक और गायिकाएँ, वीणा और वांसुरी के वादक निर्द्धारित स्थलों पर बैठा दिये गये हों जब तन्तुवाद्यों (तत वाद्यों) के तारों को कस दिया गया हो और उनकी ध्वनि को उचित ग्राम, राग और मूर्च्छनाओं से सम्बद्ध करने के लिये परीक्षापूर्वक मिला लिया गया हो और मृदंग को दबाकर निपीडित, रोककर निगृहीत, आधा रोककर अर्ध-निगृहीत तथा पूर्ण मुक्त कर मुक्त प्रहारों से वादित कर लिया गया हो, वादक गण ने अपने हाथों को उत्तम प्रकार से दर्दुर पर रख दिया हो तो ऐसे समय सर्वप्रथम देवताओं के आवाहन और उनके विसर्जन के लिये त्रिसाम नामक उत्सव किया जाए।

इनमें प्रथम साम के द्वारा जिसकी उत्पत्ति संसार के सम्पूर्ण चर अचर की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के स्रष्टा भगवान् ब्रह्मा से हुई—बायी ओर (स्थित रहने वाले) चन्द्र, दाहिनी ओर सर्प और इन दोनों के मध्य स्थित जल के प्राणि प्रसन्न होते हैं। द्वितीय साम के द्वारा मुनिजन को प्रसन्न किया जाता है जौर तृतीय बृहत् साम के द्वारा सामान्यतः देवगण प्रसन्न होते हैं।

एवं प्रीणयते यस्माद्दैवतानि यथाक्रमम्।
तस्मात् त्रिसाम्नि[1] विज्ञेयं त्रिसामत्वं[2] बुधैरिह ॥ २२२ ॥

क्योंकि इस त्रिसाम के द्वारा क्रमशः देवों की प्रीति सम्पन्न की जाती है इसलिये बुधजन इसे त्रिसाम कहते हैं। इसका त्रिसामत्व भी इसी में है कि इसमें तीनों स्तर के पूज्य देवताओं (आदि) की प्रसन्नता अर्जित की जाती है ॥ २२२ ॥

एवञ्च श्रूयते[3] यस्मात् ब्रह्माणं केशवं शिवम्।
तस्मादेतत् त्रिसामस्तु ऋषिभिः परिकीर्तितम् ॥ २२३ ॥

क्योंकि इसमें ब्रह्मदेव, श्रीविष्णु और श्री शिवजी का आश्रय लिया जाता है इसी कारण ऋषिगण इसे 'त्रिसाम' कहते हैं ॥ २२३ ॥

चतुर्णामपि वेदानामादावोङ्कार उच्यते।
तत्रात्र सर्वगीतानां त्रिसाम परिगीयते ॥ २२४ ॥

जैसे चारों वेदों के आरम्भ में ओंकार का उच्चारण किया जाता है उसी प्रकार (यहाँ नाट्यप्रयोग में) सभी गीतों के आरम्भ में त्रिसाम का गान किया जाता है ॥ २२४ ॥

---

१. त्रिसाम—क (म०) ग०।

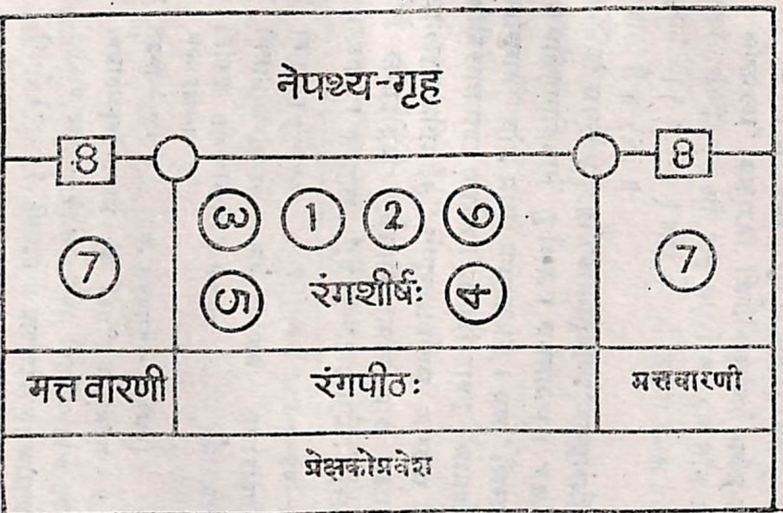
२. त्रिसामत्वाद्—क (म०), त्रिसामित्वं—य०।

३. श्रयते—घ०।

रङ्गमञ्च के आतोद्य–उपवेशन–स्थिति बोधकं चित्रम् ।

पश्चिमा दिक्

दक्षिणा दिक्



उत्तरा दिक्

पूर्वा दिक्

1. पूर्वाभिमुखो मृदङ्गवादकः । 2. तालग्राही 3. उत्तराभिमुखः पुरुषगायकः
4. दक्षिणाभिमुख्यः गायिकाः । 5. उत्तराभिमुखो वीणावादकः 6. वंशीवादकौ ।
7. पात्राणांविश्रामप्रवेशः । 8. नेपथ्यद्वारौ पात्रप्रवेशाय ।

[पृष्ठ ४१६

त्रिप्रकारं त्रिलयकं[1] तथा चैवाड्डिताश्रयाम् ।
षट्कलं[2] त्रिकलश्चैव त्रिसाम परिकीर्तितम् ॥ २२५ ॥

यह त्रिसाम तीन प्रकारों, तीन लयों, अड्डित मार्ग तथा छः या तीन कलाओं के प्रमाण वाले विभाग के वाद्यवादन के द्वारा किया जाता है ॥ २२५ ॥

त्रिविधश्चाक्षरविधौ[3] गुरुलघ्वक्षरान्वितम्[4] ।
औकारश्च[5] मकारश्च त्रिकैस्त्रिगुणितं भवेत् ॥ २२६ ॥

इनमें वर्ण भी गुरु और लघु अक्षरों से युक्त तीन प्रकार के रहते हैं और इसमें ओ (अ + उ) और म को तिगुना करके तीन बार उच्चारित किया जाता है ॥ २२६ ॥

तस्यैव[6] चान्ते पूर्वरङ्गविधानमनुप्राप्य[7] छन्दःसमेनाक्षरसमेन च[8] वाद्येन बहिर्गीतविधानं[9] तु त्रिलयं वर्तनीयम् । तत्र आसारितप्रयोगे च तत्वानुगतं[10] वाद्यं प्रायः प्रयोक्तव्यम् । यत्र [11]त्रिसप्तप्रत्याहाराद्यवतीर्णकोटिस्तत्र वाद्यं प्रवर्तते । तत्रादौ तावद् [12]वामकोर्ध्वकप्रहारयुक्तं पश्चादालिङ्ग्यकविमर्दनं[13] गोपुच्छायतिम् आसाद्य विचित्रकरणयुतं चतुर्मार्गं समार्दङ्गिकं सर्वभाण्डिकमपि वाद्यं पश्चात् विपञ्चीवाद्यं प्रवर्तयितव्यम् । कस्मात्, पूर्वं हि भाण्डवाद्येन[14] सिद्धिरुत्पादयति[15]

१. त्रिगुणितं—क० २. त्रिकलं षट्कलञ्चैव—क० ।
३. त्रिसामाक्षरपिण्डस्तु—के०, त्रिविधः साक्षरविधो—क० (म०),
४. त्रिविधं साक्षरविधोः—ग० । ५. यकारश्च—क०, क (म) अकारश्च—ग० ।
६. तदन्ते—क० । ७. मनुप्राप्तं—क (म०) । ८. वा—क० ।
९. विधानमनूवर्तितव्यम्—क; विधान वस्तुत्रितयं—क (म०) ।
१०. गतप्रायं वाद्यं—क; तत्र च सा नितम्बियोगश्च तथानुगतं वाद्यं—क (म०) । ११. त्रिसाम स प्रत्याहारो यां चासाववतीर्ण कोटि—क; वृत्ते वसु त्रिसाम्ना च प्रकृत्याहारो यं वर्तनं यो गीतिकावद् वाद्यं—क (म०) । १२. वामोर्ध्वकप्रचार युतं—क (मे०) ।
१३. दालिङ्गन विमर्दनकरं गोपुच्छाञ्च त्रिसाम्गविचित्र करण युतं मार्दङ्गिकसर्वभाण्डिकमपि वाद्यं पश्चात् प्रवर्तनीयम् ।—क; दालिङ्गन विमर्दनो गोपुच्छायदि (ति) सामाद्यपि चित्रकरणयुथं कतुर्मार्गं विपञ्चींवाद्यं प्रवर्तयितव्यम्—क (म) ।
१४. भाण्डेनाभिव्यज्जिते रङ्गे स्त्रीबालमूर्खावकीर्णे कुतूहलमुत्पादनार्थं भवति—क (म) । १५. रुत्पादनीया ।—क० ।

पूर्वं भाण्डेनाभिव्यञ्जितो रङ्गे ध्रुवाविधिः। स्त्रीबालमूर्खावकीर्णे रङ्गे कुतूहलजननसमर्थं[1] वाद्यं समुत्पन्नं भवति।

(इस) त्रिसाम के अन्त में पूर्वरङ्ग के विधान का अनुसरण करते हुए ऐसे बहिर्गीत को प्रस्तुत करना चाहिए जिसमें तीनों लय में छन्द और वर्णों (अक्षरों) की समता का वाद्यवादन अनुसरण करता हो। आसारित गीत की योजना या प्रयोग के अवसर पर तत्व और अनुगत प्रकृति का प्रायः वाद्यवादन किया जाए। जब त्रिसाम के बाद प्रत्याहारादि अंगों की समाप्ति होती हो तभी (अर्थात् इसके पश्चात् ही) वाद्यवादन का आरम्भ किया जाता है।

यहाँ सर्वप्रथम सभी वाद्यों को आगे बतलाए क्रम से वादित किया जाए—इनमें वामक और ऊर्ध्वक का सर्वप्रथम वादन किया जाता है। तब फिर गोपुच्छा यति के साथ आलिंग्यक का और फिर बाद में विचित्र करणों से युक्त चारों मार्ग में विपञ्ची (वीणा) का वादन करना चाहिए।

प्रश्न : सभी वाद्य वादनों का मृदङ्ग के साथ वादन करने के बाद अन्त ऐसा क्यों होता है ? (उत्तर—) क्योंकि अवनद्धवाद्यों का प्रथम वादन करने से सिद्धि की उत्पत्ति होती है।

ध्रुवा के प्रयोग को वाद्य के द्वारा (सर्व) प्रथम संकेतित करना चाहिए। जब रंगमञ्च स्त्रियों तथा सामान्य दर्शक गण से भरा रहता है तो ऐसी दशा में वाद्य संगीत उनमें कुतुहल और रुचि उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

(श्रोताओं की) रुचि-भिन्नता—

अपि च[2]—

आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदन्तु[3] पण्डिताः।
स्त्रियो[4] मधुरमिच्छन्ति विकृष्टमितरे[5] जनाः॥ २२७॥

(प्रयोग में) (संगीत कला के निष्णात) आचार्यगण समता को पसन्द करते हैं, पण्डित या विद्वज्जन गीत के पदों की विच्छिन्नता या छेद को चाहते हैं, स्त्रियों को (गायक की) मधुर आवाज रुचती है और शेष दर्शक

१. जननसमर्थंवाद्यपन्ना भवति—क०।
२. भवत्यापि—ग०। ३. पादच्छेदं—ग०।
४. सुकुमारं स्त्रियश्चैव—क (म); ग०।
५. विकृष्ट—क; निकृष्ट—क (म०)।

गण पूरे (खुले) गले से निकलने वाली आवाज से गाये जाने वाले गायन को पसन्द करते हैं ॥ २२७ ॥

अवरोचित वाद्यवादन :—

तस्य[1] चान्ते ताण्डवप्रयोगमधिकृत्य नर्तक्या अवतरणकाले [2]लघुवर्णसञ्चयैर्मार्दङ्गिकैरङ्गुलिप्रचालनप्रायं वाद्यं योज्यम्[3] नर्तक्यवतरणगीतान्ते सन्निपाता ज्ञेयाः। लास्यनृत्ताङ्गहारानुगतं [4]करणाश्रितं वाद्यं[5] प्रयोज्यम्। करणधातुसंयोगजमुच्यते 'समं रक्तम्' (ना० शा० ३३।१२४) इत्यादि। तत इदानीं वासोर्ध्वकप्रहारसंयुक्तम् आलिप्त[6]मार्गदेशकरण-संश्रयं समुत्थापनके वाद्यं योज्यम्। यथा—धेङ्[7] मति धङ्मथा धेङ्धिति टित् संक्कं खोक णे देव्यां केन्तां किट् धेङ् इति पूर्वरङ्ग-लयपातनिर्दिष्टप्रयोगसमुत्थापनके वाद्यं योज्यमिति।

इस (वाद्यवादन) के अन्त में ताण्डव प्रयोग के लिये (रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत होने वाली नर्तकी के प्रवेश के अवसर पर मृदंगवादक अपनी अंगुलियों के स्पर्श द्वारा लघु वर्णों के संग्रह से निर्मित वाद्यवादन की योजना करें। नर्तकी के अवतरण के समय गाये जाने वाले गीत के समाप्त होने पर सन्निपात की योजना की जाए। (इनसे सम्बद्ध) ऐसे संगीत की योजना करनी चाहिए जो करणों से युक्त या सम्बद्ध हो, लास्य नृत्य के अंगहारों से पुष्ट या संयुक्त हो और करण धातु से मिश्रित हो। करण धातु से मिश्रित होकर उत्पन्न होने के कारण ही उसका 'समं रक्तं' (ना. शा. अ. ३३।१९४)

१. तस्यैव—क०, अत्र भाण्डे—क (म०)।

२. लघुवर्णसञ्चयमङ्किकेऽङ्गुलिप्रचलन—क; लघुपादसञ्चयै—क (म०)।

३. अतोऽनन्तरं—गीतसन्निपाते च लास्यमनुवाद्यम् इत्यधिकं कपुस्तके। क (ग) पुस्तके च—तत्रान्तराभिमुखो गायकः गायकस्य वामपार्श्वे वैणिकः। वैणिकस्य दक्षिणे मृदङ्गवादकः। गातुरभिमुखा गायकाः। इति अधिकम्। ४. करणवाद्यं—क०।

५. वाद्य करणधातुसंयोगमित्युच्यते—क (म०)।

६. मार्गेण जातिकरणान्वितमुत्थापने वाद्यं प्रयोक्तव्यम्—क; मार्गदेशकरण-संश्रयं समूत्थापनकेन—क (म०)।

७, दीर्घेङ् मतिखङ् मर्थाधेङ् धिर्विदि कंखुं खोकने देघां केत्तां केत्तां किट् घेद्—क (म०)

इत्यादि के द्वारा वर्णन किया गया है। दूसरे प्रयोग के आरम्भ में आलिप्त मार्ग के कारण से सम्बद्ध (संगीत के) वादन की योजना करनी चाहिए। इसे वामक और ऊर्ध्वक पर प्रहारों के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है और इसका (अक्षरक्रम) इस प्रकार रहता है :—घेङ् मति घङ् मथा घेङ् घिति टित् सं क्रं क्रं खोक् णे देव्यां केन्तां किट् घेङ्।

तयोः[1] परं यत् परिवर्तनं चतुर्मार्गिकशुद्धजात्याश्रयं[2] यथाप्रोक्तम् खोखोणां खोखोणां खखोखोणा[3] एतद् द्रव्यैर्यद् वाद्यं स्यात्। पुनश्चयो[4] न्यासात् खोखोदो[5] खो खकेणां घत्र यंत्रांघ नपुंसकपादे[6]। तथा—कोन दुखोङ् मार्ग इति चतुर्थकारप्रवेशे च वाद्यमङ्गुलि[7]प्रचलनप्रायम्।

इन दोनों (वादन के प्रकारों) के पश्चात् चारों मार्ग में विशुद्ध जातियों से आश्रित रहने वाला परिवर्तन रखा जाता है जिसका निर्माण इन अक्षरों में होता है:—

खो खो णां खणों खोणां खोखोणां।

फिर इनके बन्द होने के पश्चात् नपुंसक पाद के (स्थापन के) अवसर पर 'खो खो दो खों ख केणां घ घ घ तांघं' को रखा जाए। और चतुर्थकार के प्रवेश के समय वहाँ वाद्य-वादन में 'कोन दु खोण' जैसे अक्षरों का वादन होना चाहिए। इनका (वाद्य पर) अंगुलियों को दौड़ाते हुए वादन किया जाता है।

वस्तूत्थापनके चापकृष्टाया[8] मर्धमपि चार्या ग्रहो यथा—घेघेन्तां घेङेङो[9] घखणादोणां घोघघेघघे इति।

---

१. ततः परं—क०।
२. जात्याश्रयं चतुर्थकारप्रवेशेषु वाद्यमङ्गलिप्रचलनप्राय—क०।
३. थखोखोणा—क (म०)।
४. पुनः स्त्री वाडन्या स्यात्।—क (म०)।
५. थोखोदोखो खक्रेणां धयेत्तां घ—क (म०)।
६. नपुंसकपदे यथास्वरं खंदु मार्गि इति—क (म०)।
७. वाद्यंमङ्ग—क (म०)।
८. चापकृष्टायामर्धमपि चार्यग्रहो—क (म०)।
९. घे खो खोङ्गी घणं दोखां दोघं दोघ घघे—क (म०)।

नान्दी शुष्कापकृष्टायां[1] प्रतिशुष्कं करणं श्रितं वाद्यं योज्यमिति। यथा—थो[2] थो थो खेखघो घेङ् णादम्थङ् खोद्घो[2] कुतां खखेखे-णकसुगुकघेङ् णोखिखेङ्[2] ताङ् खेङ् णम् किटि किटि घघेङ् घेकटुक घुदुकंलवलाखो खोखोखो वाघ्रुतेटां[2] मालिंणम्मां किटि वत्थि इति।

वस्तु के उत्थापन और अपकृष्टा चारी के अवसर पर वाद्य वादन का आरम्भ–घेघेंतां घेडे ङो घखणादोणां घोघ घेघ घे–से होना चाहिए।

नान्दी की शुष्कापकृष्टा ध्रुवा में प्रतिशुष्क-करण में जो वाद्य वादन होता है उसकी (इस) अक्षर क्रम में योजना रहती है—थो घो थो खेख खोघेङ् णादम्यङ् खोद्धो कुतां खखेखेण कसुगुक घेङ् णोखिखेङ् ताङ् खेङ् णं किटि किटि घघेङ् घे कटु कघु ुंकुं लव लाखों खोखोखो बाघ तेटां मालिं णम्मां किटि वत्थि।

रङ्गद्वार[3]प्रचरणे जर्जरश्लोकनिगदने चार्यां चाड्डितामार्गाश्रितं सन्निपातग्रहणं[4] प्रयोक्तव्यम्। महाचार्यां वितस्तमार्गाश्रितं[5] वाद्यं प्रदेशिन्या[6] ग्रहम्। अपूर्वं[7] तद्वत् पूर्वरङ्गे ताण्डववाद्यमुक्तम्[8]। सन्निपातग्रहो यथा वामकरेण[9]–खो[10] खो णां दो दो दोकः मोकः दहेण

---

१. वकृष्टासु करणाश्रितं वाद्यं—क०।

२. खो थो खो खेख थो घेड......द्रोकेतां कर्खे......गिणाणां खिखिकेङ्......कट्खुदुकं लवला......खाध्रंकेटां माणिणांमांकिटिधणि—क्र (म०)। ३. रङ्गद्वारे प्ररोचनाया जर्जरे त्रिगते चार्या चातिभार्गा श्रितं—क। ४. ग्रहं—क०।

५. वितस्ति—क; महाचार्यवितस्त—क्र (म०)।

६. प्रदेशिनीग्रहम्—क; प्रदेशिन्या ग्रही। यथा—णणणखो मधुणां खोखोमत्थि नकितां कितां किकिकितों खोखोमतितों मत्थित्र मत्तित्थं तिकिति केत्ता केत्तां द्रेतां ततकेन्तांट धेतोन्प्र केत्तां द्रात्तां किन्णां केन्तां मुद्रां धोध्र केसंध्र धाप्रांद्रा धद्रेद्रां द्राभें द्राधें द्राघेंङ्। इति केस् केङ् कोपक्षेपणात् सिद्धिः। एतावच्चतुरस्रम्। (इत्यधिकम्)—क (म०)। ७. एवं तावत् पूर्गरङ्गें—क०।

८. भाण्डवाद्यमुक्तम्—क०। ९. वामकरमें—क (म०)।

१०. काखोंगो दोदोकं मोकं दहेणणा घोथो घटभटस्थि खंधौ खोखोखो कटकटक्षं खोखाखो तिथि कटकटां घटकमत्थि धोखोमिथिणाणां किटिकिणां खकत्थम्—क (म०)।

णा थो थो णो घोघ टमटथिघं घोघोकठ कठझंखो खोखित कटकटां घटकमत्थि घोघो मिथि णां किटि किनां खकवलम् इति ।

रंगद्वार (पर) प्रचालन कर जर्जर श्लोक-पाठ के अवसर पर जब चारी का प्रयोग हो रहा हो तो अड्डित मार्ग के सन्निपात का ग्रहण किया जाए और महाचारी के समय वितस्त मार्ग में वाद्यवादन रहे । यहाँ ग्रह प्रदेशिनी अंगुलि से किया जाए ।

इसी प्रकार पूर्वरंग के प्रयोग के अवसर पर ताण्डव के उपयुक्त ऐसे विशिष्ट वाद्यवादन को लिया जाए जिसमें सन्निपात ग्रह का बाएँ हाथ से वादन होता हो । (इसका अक्षर क्रम इस प्रकार होता है) :—खो खो णां दो दोकः मोकः दहेण णाथो थोणो घोघ टम टथिघं घोघोकठ कट झंखो खोखित कटकटां घटकमत्थि घोघो मिथि णां किटि किनां खकवलं ।

आलिप्तमार्गाश्रितं वाद्यमतः परमुदाहार्यम् । वितस्तमार्गस्थितिकं वाद्यं प्रदेशिन्या ग्रहो यथा—[1]णणखोकणणो मधुणां खो खो मथि तकितां तवितां किन्ति कितां किटि किंतो खो खो मतिता मत्थित्रमति तिकिति केन्तां द्रेन्तां नत केन्तां टघेतान्द्रां क्रुन्तां द्रां द्रान्तां किन्नां किन्नां केन्तां मुद्रां घ्रें घ्रें क्लें घ्रं घ्रं द्राघ्रां घद्रे द्रां घेन्द्रां घेन्द्रां घङे क्लेङ् इति ।

इसके बाद आलिप्त मार्ग का एक प्रयोग किया जाए । वितस्त मार्ग में प्रदेशिनी से ग्रह होकर वाद्यवादन होता है जिसका क्रम इस प्रकार है :— णण खोक णणो मधुणां मतिता मत्थित्रमति तिकिति केन्तां द्रेन्तां नत केन्तां टघेतान्द्रां क्रुन्तां द्रां द्रान्तां किन्नां किन्नां केन्तां मुद्रां घ्रें घ्रें क्लें घ्रघ्रं द्राघ्रां घद्रे द्रां घेन्द्रां घेन्द्रां घङे क्लेङ् ।

पटक्षेपणात्[2] सिद्धेरेतावच्चतुरस्रे पूर्वरङ्गविधाने भाण्डवाद्यं प्रयोजयेत् । त्र्यस्रे तदेवं कालाव्यवहितम्[3] । पुनश्च नाटकादिषु धीरोदात्त-

---

१. णणणखो मधुणां खोखोमत्थि तकितां तकितां किटिकिंतों खोखोमतितों मत्थित्र मतित्थं तिकिति के तां केन्तां द्रेंतां ततकेन्तांट घेंतोन्द्रं केन्तां द्रांतां किण्णां केन्तां मुद्रां धीध्रंकेसंघ्रंध्रा घद्रेद्रां द्राघें द्राघें द्राघेंङ् इति ।—क (म०) ।

२. केस् केड्कोपक्षेपणात् सिद्धिरेतावच्चतुरस्रम् ।—क० (म०) ।

३. कलाव्यव—क (म०) ।

धीरोद्धत-धीरललित-धीरप्रशान्तानां चतुर्णां नायकानां गतिप्रचारे[1] स्वस्वावस्थासु निर्गतं वाद्यमुपदेक्ष्यामः। तत्र ध्रं[2] ध्रं ध्रं धान्द्रं प्रायो देवानां गतौ प्रयोज्यम्। घेन्तां प्रयोज्यं राज्ञाम्। ध्रंकु[3] घट्ट घेङ् घेट-टित्थिदुन क्रिटिद्रां नां नां धद्रां प्रायो मध्यमपुरुषेषु वाद्यम्।

चतुरस्र पूर्व रंग में प्रयोग की सिद्धि के लिए यवनिका (पट) को खींचने (के समय) से लेकर पूरे समय तक अवनद्ध वाद्य (भाण्ड) का वादन रखा जाता है। त्र्यस्र पूर्वरंग में भी बिना (बीच में) समय का व्यवधान दिये (हुए) इसी प्रकार वाद्य वादन रखा जाता है।

अब मैं नाटक आदि विभिन्न रूपकों के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त जैसे (चार) नायकों की गति प्रचार तथा अन्य गति-विधियों के अवसर पर उपयुक्त वाद्यवादन का निर्देश करूँगा।

दिव्य पात्रों की गति के समय वादन में ध्रुं ध्रुं ध्रां ध्रं का प्रयोग किया जाए। राजाओं की गति के समय घेन्ता का प्रयोग रखा जाता है और मध्यम पात्रों की गति के समय रहने वाले वाद्यवादन में–ध्रं वलं वंट् घेट घेट टि त्थिदुन् क्रिटिद्रां नां नां ध्रप्रां–का प्रयोग रखा जाता है।

पुनरेवं स्थितायां वाद्यविधानं वक्ष्यामि—

त्रिकलद्विकलैककलाश्चतुष्कलाश्चैव पादविन्यासाः[4]।
तत्र तु साम्यं कार्यं भाण्डेन समश्च[5] गानेन[6] ॥ २२८ ॥

अब मैं स्थिता (ध्रुवा) में होने वाला वाद्य वादन विधान बतलाता हूँ। इस समय (नृत्य के) पाद विक्षेप तीन कलाओं, दो कलाओं, एक कला या चार कलाओं के प्रमाण के (अनुसार) रहते हैं और गीत के साथ वाद्यवादन का साम्य रखा जाता है ॥ २२८ ॥

---

१. गतिप्रचारेष्व्यवस्थासु (च)—क (म०)।

२. ध्रंध्रंध्रं धान्द्रं—क (म०)।

३. धाकेसं घट्ट घेङ् घेङ् घेङ् घेङ् घटिरिथ टुन्किटिति थिद्राणां णांघ्रद्रां प्रायं मध्यमपुरुषे क (म.)।

४. पातविन्यासाः—क (म०)।

५. समं न—क (म०)। ६. क—पुस्तके इयं कारिका यथा—एवं स्वस्थावस्था गतिप्रचारे विधीयते वाद्यम्। द्विकलाश्च तथैककलाश्चतुष्कताश्चैवपादविन्यासाः। तत्र तु······समश्च गानेन ॥— (क) ॥

पुनश्चावस्थाकृतं[1] वाद्यं प्रवक्ष्यामि । त्वरितगमने वं वं घे घे टामित्येव वाद्यं प्रयोक्तव्यम् । यथा विषमादिकमङ्गुलिप्रचलकृतं विहितम् । तत्रैव पूर्वं सम्यगूलिखितं त्वङ्गुलिप्रचारेषु । पुनरन्यावस्थायि वाद्यविधानं वक्ष्यामि ।

अब (किसी रूपक में पात्रों की) विविध अवस्थाओं में किया जाने वाला वाद्यवादन बतलाता हूँ । पात्रों की शीघ्रता से चलने की दशा में वाद्यवादन में वं वं घे घे टां रखा जाए और इसे अंगुलियों के विषम प्रहारों से प्रस्तुत किया या निकाला जाता है । जिसे हमने अंगुलियों के द्वारा वादन में की जाने वाली गति के प्रकरण में बतला दिया है । यहाँ पुनः मैं अन्य दशाओं में होने वाली वाद्यवादन से सम्बद्ध आवश्यक विधियों का वर्णन करूँगा ।

स्वस्थे[2] गतिप्रचारे वाद्यं त्रिकलं चतुष्कलं वापि ।
लयगतिविधानमखिलं[3] समीक्ष्य तज्ज्ञैः प्रयोक्तव्यम् ॥ २२९ ॥

(सम्बद्ध पात्रों के)गतिप्रचार और अन्य व्यक्तिगत हलचलों में नाट्यवेत्ताजन को लय और गति के विधान आदि सभी बातों पर विचार कर तीन या चार कलाओं के ताल प्रमाण से वाद्यवादन प्रस्तुत करना चाहिए ॥

न ह्येककला द्विकला वा ध्रुवाविरामा भवन्ति वाद्येषु ।
तस्माद्भाण्डेनैव[4] च साम्यं कार्यं न गानेन ॥ २३० ॥

ध्रुवाओं के बीच में होने वाले वाद्यवादन में एक या दो कलाओं के विराम नहीं होते इसलिये वाद्यवादन के साथ गतिप्रचार को रखा जाए, गीत के साथ नहीं ॥ २३० ॥

सर्वत्र[5] त्वरितगमनेषु पाताः पूर्वोक्ता ये गतिप्रचारेषु ।
धृङ् धृङ् घेङ् घेङ् प्रायं तत्र[6] च वाद्यं प्रयोक्तव्यम् ॥२३१॥

---

१. अयं गद्यभागः क पुस्तके पद्यरूपेणोपलभ्यते । स यथा–पुनश्चावस्थाकृतं वाद्यं वक्ष्यामि त्वरितगमने । धं घं घेघेटम इत्येन वाद्यं प्रयोक्तव्यम् । रथविषमादितगतमङ्गुलिप्रचलनकृतंविहितम् । तत्रैव पूर्णं सम्यक्लिखितं गतिप्रचारेषु । पुनरन्यावस्थायां वाद्यविधानं प्रवक्ष्यामि ॥–क।

२. स्वस्थो गतिप्रचारो—क (म०) ।

३. गतिलययतिविधानं समीक्ष्य—क (म०) ।

४. भाण्डेन च तं साम्यं—क (म०) ।

५. त्वरितगमनेषु भावा ये पूर्वोक्ता—क । ६. तत्र तु—क० ।

पात्रों की शीघ्र गतियों में ताल के पात वे ही रखे जाए जिन्हें गति प्रचार के प्रकरण में बतलाया था। इस समय वाद्यवादन में निकाले जाने वाले प्रहार ये हैं—ध्रङ् ध्रङ् घेङ् घेङ् ॥ २३१ ॥

नौरथविमानयाने[1] पक्षिजलाकाशजे[2] ऽङ्गुलिप्रचलनात्।
कार्यं[3] वाद्यं चतुष्के ऽप्यन्योन्यकराभिहतं च वाद्यम् ॥२३२॥

नौका के (पानी में) चलने, रथ या विमान की गति, पक्षी, जलचर और आकाशचारी पात्र की गति के समय किया जाने वाला वाद्यवादन अंगुलियों को (मृदंग आदि वाद्यों के) मुख पर दौड़ाते हुए या चतुष्क मे दोनों हाथों से क्रमशः प्रहार करते हुए रखा जाता है ॥ २३२ ॥

दुःखार्तिव्याधितेष्ट (जन) शापक्लेशेष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धव्रतनियमोपवासादियुक्तेषु पूर्वालिप्तमार्गाश्रितमुत्थापनवाद्यं विधातव्यम्। दैत्यदानवयक्षराक्षसग्रहादीनां[4] धृङ् धृङ् खद्संयुक्तं घटु तु तंत तेतोन्द्राम् इत्येवमादिकरणैर्गतिवाद्यं प्रयोजयेत्। खञ्ज-विकल-वामन-कुब्जादीनां प्रवृत्तगमनेषु घेतां कटकामिति वाद्यं प्रयोक्तव्यम्। विदूषकनिर्मुण्डकोपस्थायक-वर्षवरादीनां घेघें स्तानोण्णो दोण्णण्णामिति वाद्यम्। पुनश्चैवाथ वृद्धश्रोत्रियकञ्चुकीस्थूलादीनां धां धों ध्राङ् द्रोङ् धिङ् द्रोणां खो खो णा इति वाद्यं प्रयोक्तव्यम्। गज-वाजि-खरोष्ट्ररथविमानयानेषु वंकिटिप्रायम्। सर्वत्रोत्तममध्यमाध-

---

१. नौरथविमाननेपत्यानिलाकाशजे ङुलीचनात्—क०; गोरथविमानयाने पक्षिजलाकाशजजडविचलनात्—क (म०); गोरं विमान ग०।

२. चलाकाश—घ०। ३. कार्यं हि तच्चतुष्के ऽप्यन्योन्यसमाश्रितं वाद्यम्।—क०।

४. अयं गद्यभागोऽपि कपुस्तके पद्यात्मकरूपेण लभ्यते। स यथा—दुाखार्दितव्याधितिष्ट धन वियोग विभवनाथ वधबन्धः। व्रतनियमोपवासादियुक्तेष्वालिप्तमार्गबन्धो विधातव्यः॥ (क)॥ दैत्यदानव यक्षराक्षस पन्नगादीर्नां धंध्रां धंध्रां धकुताम्। घेघेटा प्रायं खज्ज विकल पङ्गुवामनादीनाम्॥ (ख)॥ घघटाघेप्रायं चेटकुसत्वादीनां थोखट खुखणेत्यादिकम्। यतिपाशुपतशाक्यादीनां धड़ु धहुघेघे प्रायम्॥ (ग)॥ औपस्थापक निर्मुण्डवर्षवरादींनां घेंटांघोंटां भांटांणाणप्रायम्। वृद्धश्रोत्रियकञ्जुकिस्थूलादीनां खोंध्रीखोखोइति प्रायम्। गजवाजिखरोष्ट्तररथविमानयानेषु वंकिटिप्रायम्॥ (घ)॥

मेषु पुरुषेष्वित्थं रसान् भावान् भुवि[1] समीक्ष्य वाद्यं प्रयोक्तव्यम्। एवं तावत् पुरुषवाद्यम्।

दुःख, व्याधि से पीड़ित होने, शाप, प्रियजन के वियोग होने, सम्पत्ति नाश, वध, कारागार प्राप्ति (बन्धन) होने, व्रत होने, नियम या उपवास करने (आदि) की दशा में उत्थापन में किया जाने वाला अवनद्ध वाद्यों का वादन पूर्व वर्णित आलिप्त मार्ग के अनुसार करना चाहिए। दैत्य, दानव, यक्ष, राक्षस, ग्रह जैसे पात्रों के चलने की दशा में वाद्यवादन में जिन करणों का समावेश किया जाता है उनका स्वरूप यह है—धृङ्, धृङ् खद् से संयुक्त करते हुए घटु तु तं तं ते तो द्राम को रहना। लंगड़े, लूले, बौने या कुब्ज पात्र के चलने की स्थिति में घेतां, कटकां, जैसे करणों से वाद्यवादन रखा जाता है। यति, मुनि, पाशुपत तथा शाक्य (बौद्धभिक्षु) जैसे पात्रों के चलने की दशा में रहने वाले वाद्य वादन में दो खो द्वित्खि दुगुवो वलन्दो यति नितिकि जैसे करण रखे जाते हैं। विदूषक, निर्मुण्ड, उपस्थापक, वर्षवर (नपुंसक) आदि पात्रों के चलने की दशा में होने वाले वाद्यवादन में घें घें स्तानों ण्णो दो णं ण्णाम् का प्रयोग करना चाहिए। वृद्ध श्रोत्रिय, कंचुकी और स्थूलकाय पात्रों के चलते समय वाद्य वादन में ध्रां ध्रां ध्रां ध्रां धिङ् द्रोणां खो खो गा, का प्रयोग करना चाहिए। हाथी, घोड़े, ऊँट, गधे, रथ, विमान तथा किसी भी यान के चलने की दशा में वंकिटि से युक्त वाद्यवादन रखा जाए। उत्तम, मध्यम तथा अधम पुरुषों की गति के समय उनकी स्थिति के अनुरूप रस, भाव आदि पर विचार कर उनकी गति के अनुसार वाद्यवादन की योजना करना चाहिए। इस प्रकार पुरुष पात्रों की दशा में होने वाला वाद्यवादन (विस्तार से) बतलाया गया।

स्त्रीणां पुनरपि[2] व्याख्यास्यामः। तत्रोत्तमस्त्रीणां दिव्यानां[3] वं गति किपि धमेट प्रथि घे इतिप्रायम्। अथ राज्ञीनां[4] कथि कथि मथि दो दो खु खु इतिप्रायम्। चं[5] किति किथि घट मट थि घे इति

---

१. नभिसमीक्ष्स—क०।
२. रभिव्याख्या—ख०।
३. मध्यानाञ्च टोस्वध घिदो घेटमधिके—क०।
४. राजस्त्रीणां धंकिण्णमथिथि द्रोण्हक खुखु—क०।
५. थं किथि किघि घट मट मतिथे—क०।

ब्राह्मणीनाम् । अथ मध्यमस्त्रीणां वेश्याशिल्पकारिकाणां[1] नाटकीयानां घ खु खु घिकिटमत्थिकिण टोणां धो इति । मरथिकुले[2] केऽ खु खिखि प्रायं गीतमधमस्त्रीणाम्[3] । एवं तावत् समासादभिहितं[4] स्त्रीणाम् ।

अब मैं स्त्रीपात्रों की दशा में होने वाले वाद्य-वादन का वर्णन करता हूँ ।

उत्तम तथा दिव्य स्त्रीपात्र की दशा में होने वाले वादन में प्रायः वंगति किपि घमेट थ्रथि घे रखा जाता है । महारानी होने पर इसमें किथि किथि मथि दो दो खु खु—का प्रायः प्रयोग रखा जाता है । ब्राह्मण-स्त्री होने पर चं किति घटभट थि घे रहता है । मध्यम स्त्रीपात्रों के अन्तर्गत वेश्या, शिल्पक स्त्री तथा अभिनेत्री की दशा में—घ खु खु घिकिट मत्थि टोणां किण घो-से युक्त वाद्य वादन रखा जाता है । अधम स्त्री पात्र की दशा में वादन में मरथिकुले केऽखु खि खि को अधिकांश रखा जाता है । इस प्रकार स्त्री-पात्रों की दशा में होने वाले वाद्य-वादन के विषय में संक्षेप में बतलाया गया ।

अवस्थान्तरितानान्तु त एव[5] पौरुषवाद्यविशेषा भवन्ति । तस्मात्[6] सामान्यतो हि भय-क्लेश-शोक-क्रोधादयो विभावाः समुत्पद्यन्ते । तत्र आसामपि रसभावापेक्षं[7] मार्गाश्रितं वाद्यं[8] योज्यं भवति ।

इनकी विशेष दशा या अन्य अवस्था प्राप्त करने की दशा में पुरुष की अवस्था में होने वाले वाद्यवादन को रखा जाता है और इनसे सामान्य रूप में भय, क्लेश, शोक, क्रोध आदि विभावों की उत्पत्ति होती है । (अतः) ऐसी स्थिति में वहाँ भी रस और भावों से सम्बद्ध उचित मार्ग में वाद्य-वादन का प्रयोग करना चाहिए ।

---

१. कारीणां क्रिटिण्णाणं थंकथिमथिहुह किटिकिटि प्रायम्—क० ।

२. टमथिकुण केड खुखुखि—क० ।

३. गीतं स्त्रीणाम्—क० ।

४. सामान्यतोऽभिहितं—क० ।

५. पौरुषा वाद्यविशेषा—क०, एत एव पौरुष—क (म०) ।

६. मामान्यतोऽभिनये भयशोकक्रोधादयो हि भावा आसां समुत्पद्यन्ते—क० । ७. रसभावाभिनयापेक्षं—क० ।

८. वाद्यं भवति—क०, मार्गाश्रितवाद्यं योज्यं भवति—क (म०) ।

सा च सिद्धिर्यथा[1] मार्गाश्रया कार्या चित्रकरणा पञ्चषट्कला भवति। अपि च—

पाठ्यविरामे[2] वाद्या कर्मसाधनकृते विरामे च।
वस्त्राभरणनिपाते मुकुटस्य[3] च संयमनकाले ॥ २३५ ॥

सिद्धि में उचित मार्गों तथा चित्र करणों को रखा जाता है तथा यह पांच या छः कलाओं के प्रमाण में निर्मित की जाती है।

तथा—

पाठ्य की समाप्ति या रुकने के किसी कार्य के करने में जागृत होने या प्रवृत्त होने पर थोड़ी रुकावट आ जाने के समय, वस्त्र या अलङ्कार के गिर जाने या मुकुट या मस्तक पर धारित वस्त्र के वेष्टन करने के समय पर सिद्धि का वादन किया जाता है ॥ २३५ ॥

अथ परिच्छिन्नं सार्वभाण्डिकं ध्रुवाया ग्रहोपशमे गम्भीरधीर-प्रहारमुद्धतं यथा[4]—पञ्च षट्कलञ्च। तथोत्तमानां[5] वितस्तमार्गाश्रितं[6] घुं [7]घुं घुं त्क इति। [8]तथोत्तमस्त्रीणाम[9]ड्डितवाद्याश्रितं यथा—णणां खो खो णण्णामिति। अथाधमानां[10] खञ्ज-नत्कुटविषयं यथा—सं-[11]संकेतकिटिकिण्णामिति। अवस्थान्तरेषु पुनरेतदेवार्ध-कृतं[12] भवति[13]।

१. यथा समार्गकरणाश्रया कार्या विचित्रकरणा पञ्चकला। अवस्थान्तरे पुनरेवमेव कृता भवति—क०, ख०।

२. साध्यविरामे वाद्यं परिषत्साध न कृते—क०; पाद्यविरामे वाद्यं कर्भ—ख०। ३. प्रकुर्यादभ्यञ्जने काले—क०, ख०।

४. यथारसं च षट्कलम्—क०। ५. तत्रोत्तमानां—क०।

६. वितस्तभुजाश्रितं—क (क०)।

७. द्रंद्रंक्लेघे के—क०; घुंघुंघुं कस—क (म०)।

८. अथोत्तम—क०, ग०।

९. मड्डितावाद्याश्रयणम् खोखो खा इति—क०।

१०. अधमानां खञ्जनकुंटकस्थमकक०; खञ्जनं नत्कुट विषयं—क (म०)।

११. टेंकस्खा किटि किटि वा—क०।

१२. पुनरेवार्धकृतं भविष्यति च—क (म०)।

१३. अतः परं गपुस्तके वाद्यविरामे (इत्यादि पद्यम् २२५) कारिका पुनः पठ्यते।

ध्रुवा के आरम्भ होने के उपरान्त वादन स्पष्ट होना चाहिए और यह सभी अवनद्ध वाद्यों से सम्बद्ध वादन रखा जाना चाहिए जिसमें वितस्त मार्ग में घुं घुं घुं ल्क जैसे अक्षर रखे जाते हैं।

उत्तम स्त्री पात्रों की दशा में अङ्कित मार्ग में वाद्यवादन रखा जाता है जिसमें—ण णां खो खो णण्णाम् अक्षर रहते हैं। अधम स्त्री पात्र की स्थिति हो तो खञ्जनत्कुटकध्रुवा के उपयुक्त वाद्यवादन किया जाता है जिसमें सां के टे किटि विणां अक्षर होते हैं। अन्य अवस्थाओं के आ जाने पर इन्हें कम करके आधे परिमाण में रखा जाए।

अथ प्रासादिकीप्रावेशिक्याक्षेपिक्यवकृष्टासु; तत्र प्रासादिक्यां[1] समपाणौ विभक्तकरणं वाद्यम्। द्रुताया[2]मुपरिपाणिके चित्रकरणम्। स्थितायाम्[3] [4]अङ्कितायामवकृष्टायामर्धसन्निपातकृतमिति।

अब प्रासादिकी, प्रावेशिकी, आक्षेपिकी तथा अवकृष्टा (आदि) ध्रुवाओं में होने वाले वाद्यवादन के विषय में बतलाते हैं।

प्रासादिकी तथा प्रावेशिकी (ध्रुवा) में समपाणि के साथ करणों में विभक्त करते हुए वाद्यवादन करना चाहिए। जब कि द्रुतलय में द्रुता ध्रुवा में उपरिपाणि के साथ चित्रकरण में वाद्यवादन किया जाता है और स्थिता ध्रुवा में विलम्बित लय में तथा अवकृष्टा ध्रुवा में अर्थ-सन्निपात (के साथ) वाद्यवादन रखा जाता है।

एवमेतत् प्रयोक्तव्यं वाद्यं गतिपरिक्रमे।
प्रासादिक्यां ध्रुवायाञ्च त्वन्तरायां तथैव च॥ २३६॥

प्रासादिकी और अन्तरा ध्रुवा के समय गति-प्रचार तथा अन्य क्रियाओं में इसी विधि के अनुसार वाद्य-वादन रखा जाता है २३६॥

अभाण्डमेकं गीतन्तु परिवर्त्य[5] प्रयोजयेत्।
सन्निपातावसानेषु भाण्डवाद्यग्रहो भवेत्॥ २३७॥

---

१. प्रासादिकी प्रावेशिक्योः समवाणौ—क०; प्रासादिक्यां समपादो—क (म०)। २. द्रुतायामुपरिपाणिर्विचित्रकरणं—क०; द्रुतायामुपरिपाणिकरणम्—क (म०)।

३. स्थितावकृष्टायामर्थसन्निपातकृतमिति। यथा—धोण्णे धो धो इति—क०। १४. अजितायामपकृष्ट सामैक सन्निपातकृतमिति—क (म०)।

५. परिवर्तं—क०।

परिवर्तन के रूप में एक गीत को बिना वाद्यवादन के गाया जाए तथा सन्निपात के अन्त में वाद्य का (वादन के लिये) ग्रहण किया जाए ॥ २३७ ॥

यथा[1] द्रुतविलम्बितायाञ्चेतेलषोष[2] इति। अड्डितायाञ्च[3] पादे दे दे देदे खो खो ख इति। अथ नत्कुटकखञ्जयोः णण्णा वुवुणा णा खो-णाण्णा[4] देदे दे दे खो खो खो ख इति।

द्रुत और विलम्बित लयों में वादन के प्रहार वे (होते) हैं—तेल षो ष। अड्डिता में दे दे दे दे दे खो खो ख'। और खंजक और नत्कुटक ध्रुवाओं में—ण ण्णा वु वु णा णा खो ण्णा णा दे दे दे दे खो खो खो ख।

अथोद्घात्यम्—

सम्भ्रमावेगहर्षेऽथ[5] विस्मयावेगशोकजे ।
ग्रहे दानस्य[6] यद्वाद्यं तदुद्घात्यं प्रकीर्तितम्[7] ॥ २३८ ॥

अब उद्घात्यक में होने वाला वाद्यवादन बतलाता हूँ :—

जो वादन सम्भ्रम, अकुलाहट, प्रसन्नता, विस्मय, शोक जन्य आवेग दुःख या किसी दान के (या किसी पुरस्कार के) ग्रहण करने के समय किया जाता है उसे उद्घात्य कहते हैं ॥ २३८ ॥

मोक्षमिदानीमुपदेक्ष्यामः[8]। तद्यथा—संहननं संसरणञ्च तत्रो-द्धतद्रुतानुबन्धे घेत्तां[9] किकिटि दत्त केत्तिकिं गो दोघघे दो घ टेघो

---

१. अथ द्रुतविलम्बितायां यथा—क० ।

२. तलखो तलखो तलखो इति—क० ।

३. अड्डितायां यथा—धोण खोखोणके— ।

४. कुखुणा णाण्णा खोंदे क्लोखोंक्ले—क० ।

५. मावेगहर्षार्थे विस्मयोत्साहशोकजे—क०; मावेगहर्षोऽथ—ख०; सङ्ग-मावेगा मर्षार्थविस्मयोत्साहशोकजम्—ग० ।

६. गानस्य यद्वघं-क०; ग्रहो दानस्य यद्वाद्य—ख०; भोगायतस्य—ग० ।

७. इयं कारिका क (म०) पुस्तके गद्यरूपा । तथा अथोद्धात्यम्-सश्भ्र-मावेगामर्षार्थविस्मयोत्साहजीभोगाय तस्य यत्त यदुद्धात्यं सम्प्रकीर्तितम् इति ।

८. मोंक्षानिदानीं—क (म०) ।

९. खेन्नां निकिटि दत्त कित्तकिकिदोत्त गोगोगघेदो घेट घेघेरादों—क०; दत्तकित्ति किकदेत्तगोदोघघेदोघटेघोघे यदो—ख० ।

घे यदो इति। अथ खञ्जनत्कुटयोः—घे[1] द्रां धं द्रां तकितां तकितां गुदुघे इति।

अब मैं वाद्यवादन की मोक्ष या बन्द करने की विधि बतलाता हूँ। इसके दो प्रकार होते हैं—संहनन तथा संहरण। उद्धत और द्रुत अनुबन्धों में होने वाले मोक्ष में इन अक्षरों को रखा जाए :—घेतां किकिटि दत्त केति किं गोदो घघे दो घटे घोघे यदो।

खंज और नत्कुटक के मोक्ष में इन अक्षरों को रखा जाय। यथा—घं द्रां घं द्रां तकितां गुदुघे।

अथ[2] स्थितायाम्—घेधं घेट् मटघे घे छिमटं कंटछि मटछि कर्माक दी घिटि इति। तत्राड्डितायां-किन्त[3] किन्ताम् इति। अथ स्थितायाम्—घतताम् इति। अवकृष्टायाम्—ववताम्[4] इति।

विलम्बिता के मोक्ष में रहने वाले ये ही अक्षर होते हैं और इनमें घे घं घेट मटघे घे छिमटं कंटछि मटछि कर्माक दीधिटि को भी ले लिया जाता है। अड्डिता ध्रुवा के मोक्ष में किन्त किन्ताम् रखा जाता है और स्थिता ध्रुवा में धत् ताम् रहता है। अवकृष्टा ध्रुवा में 'व व-तां रखा जाता है।

एवमेते ग्रहा मोक्षा ध्रुवाणां[5] गदिता मया।
निष्क्रामे च प्रवेशे च आक्षेपिकयन्तरासु[6] च॥ २३९॥
एवं तालकालस्वरज्ञानेन[7] मार्दङ्गिकेन प्रयतितव्यम्।

नैष्कामिकी, प्रावेशिकी और अन्तरा जाति की ध्रुवाओं में इसी प्रकार ग्रह और मोक्ष रखे जाएँ जिनका मैंने अभी वर्णन किया है॥ २३९॥

इस कार्य में मृदङ्ग वादक के लिये ताल, समय और स्वर-ज्ञान का होना आवश्यक है।

---

१. योधं द्राधं द्रांतकितां गुट्ठ गुट्ठ घे—क०।

२. अवस्थितायम्—धंधं घेटं मटघेघे तियहटां कथतिथ मटतिथ कटघिटि इति—क०; घेघं घेट मघटे घिमटं'''कर्माक् दीघिटि—ख०।

३. यथाड्डिता—घटमथि घंघं खो खोण खो खो चेण्णं उक्कणिष्कषणु डप्प इति—क०।

४. घट मठतिथ रथिगुट्टघेट् (घोंणवंधणणोणणं)—क०; घटमघटधिठ द्विगुडुघेटा घोणवंणणोणणं—ख०। ५. पात्राणां—क (म०)।

६. त्वाक्षेपिक्य—क०। ७. तालकलाज्ञाने—क०।

भवन्ति[1] चात्र श्लोकाः—

अतालज्ञमकालज्ञमशास्त्रज्ञञ्च[2] वादकम् ।
चर्मघातकमित्येवं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २४० ॥

इस विषय में निम्न श्लोक भी है :—

वादक के दोष :—विद्वज्जन का मत है कि जिस वादक को ताल के विषय में ज्ञान न हो, न जो अवसर या काल को और शास्त्र को समझता हो तो ऐसे वादक को केवल चमड़ा कूटने वाला 'वादक' समझना चाहिए ।

अनेनैव विधानेन वाद्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः ।
अत ऊर्ध्वं[3] प्रवक्ष्यामि ह्यातोद्यानान्तु[4] लक्षणम् ॥ २४१ ॥

प्रयोक्ता जन को इन्हीं नियमों के अनुसार वाद्य वादन करना चाहिए अब मैं अवनद्ध वाद्यों का स्वरूप बतलाता हूँ ॥ २४१ ॥

अवनद्धवाद्यों का स्वरूप :—

त्रिधा[5] क्रिया मृदङ्गानां हरीतकी[6]-यवाश्रया ।
तथा गोपुच्छरूपा च भवत्येषा[7] स्वरूपतः ॥ २४२ ॥

(अवनद्ध वाद्यों में) मृदङ्ग का आकार तीन प्रकार से रखा जाता है । वह या तो हरड की तरह, जौ की तरह या गोपुच्छ की तरह रखी जाती है ॥ २४२ ॥

हरीतक्याकृतिस्त्वङ्की[8] यवमध्यस्ततोर्ध्वकः[9] ।
आलिङ्ग्यश्चैव[10] गोपुच्छाकृतिरेषां प्रकीर्तितः ॥ २४३ ॥

---

१. भवति—क० ।
२. शास्त्रसमवादकम्—क (म०) । ३. अतः परं—क० ।
४. त्वातोद्यानां—क० ।
५. त्रिधाकृतिमृंदङ्गानां हारीतक—क० ।
६. हरीतकि—क (म०) ।
७. भवन्त्येषां तु रूपतः—क; तथा संज्ञा स्वरूपतः—क (भ०), तथा नेपथ्यगोपुच्छाः आकृत्या सम्प्रकीर्तितः—ख० ।
८. स्त्वङ्को—क०, स्त्वङ्कयाः—क (म०) ।
९. स्तर्थोर्ध्वगः—क०; स्तथा स्वकः—क (म०); स्ततध्वकः (?) —ग० ।
१०. आलिङ्गश्चैव गोपुच्छः आकृत्या सम्प्रकीर्तितः—क० ।

अंकी या आंकिक मृदंग हरड के समान, ऊर्ध्वक मृदंग जौ के समान और आलिंग्यक मृदंग गोपुच्छ के आकार का होता है ॥ २४३ ॥

तालास्त्रयो[1] ऽर्धतालश्च मृदङ्गाङ्किक इष्यते ।
मुखं[2] तस्य च कर्त्तव्यं द्वादशाङ्गुल-योजितम् ॥ २४४ ॥

आंकिक मृदंग की लम्बाई साढ़े तीन ताल के प्रमाण की होती है और इसका मुँह बारह अंगुल का रखना चाहिए ॥ २४४ ॥

तथोर्ध्वकश्च[3] कर्त्तव्यश्चतुस्तालप्रमाणतः ।
मुखं[4] तस्य प्रकर्तव्यमङ्गुलानि चतुर्दश ॥ २४५ ॥

तथा ऊर्ध्वक मृदंग की लम्बाई चार ताल के प्रमाण की रखना चाहिए और इसका मुँह चौदह अंगुल का होना चाहिए ॥ २४५ ॥

आलिङ्ग्यश्चैव कर्त्तव्यस्ताल[5]त्रयमथापि च ।
मुखं तस्याङ्गुलानि स्युरष्टावेव समासतः ॥ २४६ ॥

आलिंग्यक-मृदंग की लम्बाई तीनताल के प्रमाण में रखी जाए और इसका मुँह भी सिकुड़ा हुआ तथा आठ अंगुल का होता है ॥ २४६ ॥

पणवश्चापि[6] कर्तव्यो दीर्घत्वे षोडशाङ्गुलः ।
कृशमध्योऽङ्गुलान्यष्टौ[7] पञ्चाङ्गुलमुखस्तथा[8] ॥ २४७ ॥

पणव की लम्बाई सोलह अंगुल रखी जाए, इसका मध्य-भाग आठ अंगुल पतला और मुँह पाँच अंगुल प्रमाण का होता है ॥ २४७ ॥

ओष्ठं[9] तस्य च कर्त्तव्यं तज्ज्ञैरध्यर्धमङ्गुलम् ।
मध्यन्तु[10] सुषिरं तस्य चत्वार्थेवाङ्गुलानि च ॥ २४८ ॥

---

१. तालत्रयं तथार्धञ्च मृदङ्गोऽङ्किक—क० ।

२. मुखे तस्याङ्गलानि स्युस्त्रयोदश चतुर्दश—क (म), ग० ।

३. ऊर्ध्वकोऽपि तथा कार्य—क० ।

४. अङ्गलानि मुखं तस्य कर्तव्यन्तु चतुर्दश—क०, मुखं तस्य तु कर्त्तव्यं द्वादशं वा त्रयोदशम्—क (भ०) ।

५. लयमात्रमथापि—ख० ।

६. दैर्घ्येण पणवश्चैव कर्त्तव्यः षोडशाङ्गुलः—क० ।

७. कृशमध्याङ्गुलान्यष्टौ—क०; मध्याङ्गुलन्योष्ठः—क (म०) ।

८. मुखं—क (म), ग० ।

९. ओष्ठावस्य तु कर्त्तव्यौ; ओष्ठस्तस्य—क (म०) ।

१०. मध्ये—क (म०) ।

इसके ओठ या किनारों की मोटाई आधे अंगुल की रखी जाए इसके मध्य भाग में छिद्र रखे जाएँ और चार अंगुलियों के बराबर इसका प्रमाण रखा जाए ॥ २४८ ॥

दर्दरश्च घटाकारो भवत्यष्टयङ्गुलिस्तथा[1]।
मुखं[2] तस्य च कर्तव्यं घटस्य सदृशं बुधैः ॥ २४९ ॥
द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं पीनोष्ठश्च[3] समन्ततः[4]।

दर्दर का आकार घट के समान रखा जाए तथा इसका प्रमाण सोलह (अष्टि) अंगुल हो, इसका मुँह घड़े जैसा बनाया जाए और बारह अंगुल का प्रमाण रहे। इसके कोने या किनारे चारों ओर से मोटे बनाए जाएँ ॥ २४९–२५० ॥

(वाद्योपयोगी) उत्तम चर्म का लक्षण—

अत[5] ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि चर्मलक्षणमुत्तमम् ॥ २५० ॥
न जीर्णोपहतं[6] चर्म न च काकमुखाहतम्[7]।
न[8] मेदोपगतं किञ्चिन्न च धूमाग्निदूषितम्[9] ॥ २५१ ॥

अब मैं (इन वाद्यों पर मढ़े जाने वाले) उत्तम चर्म का लक्षण बतलाता हूँ। यह चर्म न तो पुराना, न कटा हुआ या विदीर्ण, न कौए (आदि पक्षियों की चोंच के द्वारा) पीटा हुआ, न चरबी से सना हुआ और न आग या धुएँ से बिगड़ा, जलाया या काला होना चाहिए ॥ २५०–२५१ ॥

षड्भिर्दोषैर्विनिर्मुक्तं[10] चर्म निर्वर्तितं[11] गवाम्।
मुखं[12] पल्लवसङ्काशं हिमकुन्देन्दुसप्रभम्[13] ॥ २५२ ॥

---

१. नवांगुलमुखस्तथा—क० ख०, भवत्यष्टिमुखस्तथा—क (म०), ग०।
२. विधानश्चास्य—क०। ३. पीनोष्ठस्य समासतः—क०।
४. समासतः—क (म०) ग०। ५. अतः परं—क०।
६. ज्वरोपहतं—क०; ज्वरोपगतं—क (म); वरोपहतं—ख०।
७. काकमुखावहम्—क (म०); कङ्कमुखा—ख०।
८. नापि दोषहतं क्लिन्नं—ज०; न दोषापहतं—क्लिन्नं—ख०।
९. धूमादिदूषितम्—क (म); भूमाग्निविदूषितम्—ख०।
१०. एभिर्दोषै—क०।
११. निर्वर्त्यते—क०; निर्धतिसतं गवा—ख०।
१२. शुद्धपल्लव—क०; मुखपल्लव—ख०।
१३. कुन्देन्दुपाण्डुरम्—क०।

स्निग्धामिषविहीनन्तु[1] क्लिन्नं चर्म[2] प्रशस्यते ।

गौ या बैल का ऐसा चर्म जिसमें पूर्व वर्णित छः दोष न हों और जिसे ठीक से कमाया गया (या निर्ववर्तित किया) हो, जिसका स्वरूप पुष्प के समान रंग वाला स्वच्छ दिखलाई देता हो या जो बर्फ या कुन्द पुष्प के समान सफेद रंग वाला हो, जो चमक लिए हो तथा जिसमें (अन्दर सूखा) मांस न लगा हो और जो ताजा या गीला हो तो ऐसा चमड़ा (मृदंग आदि के मढ़ने के लिए) उत्तम रहता है ॥ २५२-२५३ ॥

वाद्यों पर चमड़ा मढ़ना—

विधिनैवं[3] मुखोर्णानि चर्माण्याहृत्य बुद्धिमान् ॥ २५३ ॥
शीतोदके निशामेकां स्थापयित्वा समुद्धरेत् ।
बद्धैः[4] सुललितैर्दान्तैर्गोमयैतिमर्दितैः ॥ २५४ ॥
चन्द्रकैस्तनुभिः पश्चान्मृदङ्गान् योजयेद् बुधः ।

इसी प्रकार के विधिवर्णित रोओं से युक्त चमड़े को लेकर उसे ठंडे जल में एक रात भिगोकर निकाल लें। फिर उसे साफ गोबर से रगड़ कर साफ करे और फिर उसके गोल छोटे टुकड़े करके उन्हें मृदंगों पर ठीक से प्रमाणपूर्वक बांध कर मढ़ दे ॥ २५३-२५५ ॥

पुष्पावर्तं ततः कुर्यात् त्रिवर्ति चन्द्रिकाश्रयम् ॥ २५५ ॥
कक्षाख्यं वै परिकरं ग्रीवास्थं स्वस्तिकं तथा ।
शतानि[5] त्रीणि कुर्वीत पुष्करैर्ह्यक्षराणि तु ॥ २५६ ॥

और मृदंगों पर मढ़े हुए गोल चमड़े के टुकड़ों से तीन ओर परत बनाकर पुष्पावर्त आकार बनाए और एक चन्द्रक बनाए, इसका कक्ष नामक एक परिकर रखे और गर्दन में एक स्वस्तिक कर दे। इस प्रकार के पुष्कर वाद्य से वादन में तीन सौ (बोलों के) अक्षर निकालना चाहिए[1] ॥ २५५-२५६ ॥

---

१. यह विवरण अद्‌भुत है तथा अस्पष्ट भी। यहाँ के पारिभाषिक पद भी अधिक स्पष्ट नहीं है।

---

१. अत्यामिष—क० । २. वा चर्मकर्मणि—क० ।
३. विदित्वैव सुवर्णानि—क, विधिनैव मुखार्णानि—ख० ।
४. वध्रैः—क० ।
५. त्रिशतञ्च प्रकुर्वीत पुष्करे ह्याक्षिकानि तु—क०; त्रिश्रितानि प्रकुर्वीत—क (भ०) ।

दश[1] तत्र हि बध्रास्तु प्रक्षेप्या[2] वर्तिसंश्रयाः ।
निहित्वा[3] त्वाक्षिके वध्रे तृतीये सम्प्रवेशयेत् ॥ २५७ ॥

इसमें दस बद्धे या आंटों को गोलाकार का आधार लेकर लगाया जाए तथा इन बद्धों के आरों या मध्यभाग से दो के बीच तीसरे को निकाल कर (कस कर) बांधा जाए ॥ २५७ ॥

वाद्यों पर रोहण लेपन—

सर्वेष्वेवं प्रयोगोऽयमाक्षिकेषु[4] विधीयते[5] ।
नवे मृदङ्गे दातव्यं रोहणं सततं बुधैः ॥ २५८ ॥
गव्ये[6] घृते च तैले च तिलपिष्टं तथैव च ।

आंकिक (आदि मृदंग) वाद्यों को इसी प्रकार की विधि से बनाया जाए परन्तु नवीन मृदंग पर गौ का घृत मिलाकर तिल के आटे का पिसा हुआ रोहण (लेप) लगाना चाहिए ॥ २५८–२५९ ॥

नववाद्यों का संस्कार एवं आरम्भ-महोत्सव—

बध्वा[7] ह्यनेन विधिना आङ्किकालिङ्ग्यकोर्ध्वकान् ॥ २५९ ॥
देवताभ्यर्चनं[8] कृत्वा ततः स्थाप्या[9] महीतले ।

इसी विधान के अनुसार आङ्किक, आलिंग्यक तथा ऊर्ध्वक नामक वाद्यों पर चमड़ा मढ़ने आदि के बाद बांध कर फिर देवताओं की पूजन के बाद इन्हें पृथ्वी पर रखा जाता है ॥ २५९–२६० ॥

चित्रायामथवा हस्ते[10] शुक्ले[11] पक्षे शुभेऽहनि ॥ २६० ॥

---

१. दश हि तत्र बद्धास्तु—ख०, घ० ।

२. प्रक्षेप्यावृत्ति (?) संश्रयेत्—ख०, घ० ।

३. द्वे हित्वा त्वाक्षिके वध्रे—क० । ४. मक्षिकेषु—ख० ।

५. अस्मादनन्तरम्—तन्त्रीभिः पणवं नह्येत् सुदृढाभिः समन्ततः । वातपुष्करिकां चैव योजयेत्तनुचर्मणा । एवं मृदङ्गपणवाः कर्तव्या दर्दरास्तथा ॥ इति श्लोकार्धमधिकं क—पुस्तके ।

६. गव्यं घृतञ्च तैलञ्च––क० ।

७. तथा ह्येतेन विधिना त्वाङ्गिकालिङ्गकोर्ध्वकान्—क० ।

८. भ्यर्चनां—ग० । ९. स्थाप्य—ग० ।

१०. हस्तेऽहनि पुण्ये शुभे तिथौ—ग० ।

११. शुक्लपक्षे—क, ख० ।

उपाध्यायः शुचिर्भूत्वा[1] कुलीनो रागवर्जितः[2]।
घनज्ञो[3] गीततत्त्वज्ञो मधुरो नियतेन्द्रियः[4] ॥ २६१ ॥

सोपवासोऽल्पकेशश्च शुक्लवासा दृढव्रतः।
मण्डलत्रयमालिख्य[5] गोमयेन सुगन्धिना ॥ २६२ ॥

ब्रह्माणं शङ्करं विष्णुं त्रिषु तेषु प्रकल्पयेत्।
आलिङ्ग्यं[6] स्थापयेत् पूर्वं ब्रह्मणो[7] पूर्वमण्डले ॥ २६३ ॥

ऊर्ध्वकन्तु द्वितीये[8]ऽस्मिन् रुद्रनाम्नि निधापयेत्[9]।
तिर्यगुत्सङ्गिकं[10] सम्यग् वैष्णवे मण्डले न्यसेत्[11] ॥ २६४ ॥

यह पूजन शुक्ल पक्ष की शुभ तिथियों में आने वाले चित्रा या हस्त नक्षत्र के मुहुर्त पर किया जाए। इसके लिए कुलीन नाट्योपाध्याय रागद्वेष से हीन हो स्नान आदि से पवित्र होकर बैठे। यह गीत के स्वरूप एवं घन आदि तालों के वाद्यों के वादन में दक्ष और उनके शास्त्रीय स्वरूप का तात्विक विज्ञाता होना चाहिए, यह मधुर स्वरूप एवं स्वभाव वाला, जितेन्द्रिय, उपवास किया हुआ, छोटे बालों वाला या मुण्डित मस्तक वाला, व्रत का पूर्णतः निर्वाह करने वाला तथा सफेद वस्त्र धारण किये हों। फिर यह ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के तीन मंडलों का सुगन्धित गोमय के द्वारा निर्माण कर पूर्व दिशा में स्थित ब्रह्मा के मंडल पर आलिङ्ग्यक को द्वितीय राम के मण्डल पर ऊर्ध्वक को और विष्णु के तीसरे मंडल पर तिरछा कर आंकिक मृदङ्ग को स्थापित करे ॥ २६०–२६४ ॥

बलिपुष्पोपहारैश्च [12]नानापुष्पैर्विचित्रितैः।

---

१. शुचिर्विद्वान्—क०; ख०।

२. रोग—क० ख०, राज—क (म)।

३. मतिमान् नीतितत्वज्ञो—क०; नीतितत्वज्ञो—ख०।

४. मधुरोऽविकलेन्द्रियः—क०।

५. मालिप्य—क० क (म०)। ६. आलिङ्ग्य—ग०।

७. कृते ब्राह्मणेऽथ मण्डले—क०, ब्रह्मणो मण्डले कृते—ख०, पूर्वं ब्राह्मणं पूर्वमण्डले—क (म०)।

८. द्वितीयस्मिन्—क (म०), ऊर्ध्वंगन्तु द्वितीयेऽस्मिन्—ग०।

९. निपातयेत्—क (म०), रुद्रनाम्ना निपातयेत्—ग०।

१०. तिर्यक् कृतां गतिं—क (म); ग०। ११. क्षिपेत्—क०।

१२. पूजयेत् पुष्करत्रयम्—क०; पूजयेत् पुष्करांस्तथा—ख०।

आलिङ्गये[1] च बलिर्दद्यात् मधुपायससमिश्रितम् ॥ २६५ ॥
अपूपं लोचिकामिश्रमाङ्किके सम्प्रदापयेत् ।
अनन्तरञ्च दातव्यः सर्व एवोर्ध्वके बलिः ॥ २६६ ॥
[2]स्वस्तिके लोचिकापूपपिण्डकेण्डरिकैः सह ।

फिर बलि तथा अनेक विध पुष्पों तथा पूजनोपहारों के साथ मधु मिश्रित पायस की आलिंग्य को बलि अर्पण करे। और अपूप और लोपिका की बलि आंकिक को प्रदान करे और इसके बाद ऊर्ध्वक को सभी शेष बलि प्रदान करे जो एक स्वस्तिक आकार में लोचिका, अपूप पिण्ड और केण्डरिका से मिली हों ॥ २६५–२६७ ॥

उन्मत्तकरवीरार्कपुष्पैरन्यैश्च[3] भूषितैः[4] ॥ २६७ ॥
बलिः कार्यः प्रयत्नेन रक्तो[5] रक्ताम्बरैः सह ।

इस बलि में धतूरा और करवीर तथा अर्क आदि तथा दूसरी प्रकार के पुष्प होना चाहिए तथा (इसमें) लाल वस्त्र के साथ लाल वर्ण की वस्तुएँ ही रखी जानी चाहिए ॥ २६७–२६८ ॥

वैष्णवे मण्डले स्थाप्य[6] सर्वबीजगतेऽङ्किके[7] ॥ २६८ ॥
स्रग्वस्त्रालेपनैः[8] पीतैश्चरुभिश्च सपायसैः[9] ।

वैष्णव-मण्डल पर स्थापित एवं बीज-मन्त्रों से परिवेष्टित आंकिक को पीले वस्त्र और पीले रंग के पुष्पों, मालाओं तथा अनेक प्रकार के पायस युक्त चरु बलि अर्पण करे ॥ २६८–२६९ ॥

---

१. पायसं घृतमध्वक्तं चन्दनं कुसुमानि च । शुक्लानि चैव वासांसि दत्वाऽऽलिङ्गे (ङ्गये—ख) स्वयंभुवः (स्वयं भुवे—ख) । त्र्यम्बकाय प्रदातव्यः (च दातव्यः—ख०) सगणायोर्ध्वके बलिः ॥—क०, ख० । २. स्वस्तिकैर्लाजिकापुष्परूपपिण्डाष्टकैः सह—क०; स्वस्तिकाऽपूपिकाधूपरूपकैश्च तिलैः सह—क (म०); स्वस्तिके लेपिकापूप—ख० ।

३. उन्मत्तकरवीरैश्च—क (म), ग० । ४. भूषितः—क०, ख० ।

५. रक्तकोदुम्बरैः सह—क० ।

६. स्थाप्यः—क० ।

७. सर्वबीजगतोऽङ्किकः—क; सर्वबीजगतोऽङ्किके—ख०, सर्वबीजकृतो हितम्—क (म), ग० ।

८. शुद्धस्यालम्बनैः; पीतै—क (म), ग० ।

९. संहासवैः—क. (म.) ।

वाचयित्वा द्विजान्[1] स्वस्ति दत्वा पूर्वञ्च दक्षिणाम् ॥ २६९ ॥
पूजयित्वा[2] तु गन्धर्वान् पश्चाद्वाद्यं समारभेत् ।

इस पूजन के पश्चात् ब्राह्मणों से स्वस्ति वाचन करवा कर उन्हें दक्षिणा दे तथा गन्धर्वों का पूजन करने के बाद इन्हीं वाद्यों का वादन आरंभ करे ॥ २६९–२७० ॥

तन्त्रीभिः पणवं नह्येत्[3] सुमृष्टाभिः[4] समन्ततः ॥ २७० ॥
ततः[5] पुष्करिकाश्चैव योजयेत्तत्र[6] चर्मणा ।
एवं[7] मृदङ्गपणवाः कर्त्तव्या दर्दरस्तथा ॥ २७१ ॥

पणव को चारों ओर अच्छी बुनी हुई रस्सियों से ठीक कस कर बांधना चाहिए और इसी प्रकार करने के बाद पुष्कर को चमड़े से मढ़ना चाहिए। और इसी प्रकार विधिवत् दर्दुर, पणव मृदंग आदि का निर्माण करना चाहिए ॥ २७०-२७१ ॥

दैवतानि च वक्ष्यामि यान्येषाञ्च[8] भवन्ति हि ।
वज्रेक्षणः[9] शङ्कुकर्णो ग्रामणीश्च[10] तथा महान् ॥ २७२ ॥
एताश्च[11] देवताः विप्रा मुरजेषु प्रकीर्तिताः ।

अब मैं इन वाद्यों के अधिदेवता बतलाता हूँ। वज्रेक्षण, शंकुकर्ण, तथा महा ग्रामणी नामक देवता मुरजों के अधिदेवता माने जाते हैं ॥ २७२-२७३ ॥

मृण्मयत्वान्मृदङ्गस्तु[12] भाण्डं भ्रमयतीति च ॥ २७३ ॥
[13]मुरजास्तूर्ध्वकरणादातोद्यं तोदनादपि ।

---

१. द्विजैः—क० ।
२. त्वादिगन्धर्वान्—कः, ख० । ३. तु स्यात्—क (म), ग० ।
४. संमृष्टाभिः—क. (म.) । ५. घातपुष्करिका—क (म), ग० ।
६. यो जयेत्तत्र कर्मणा—क (म); योजयेत सुचर्मणा—ख० ।
७. मृदङ्गपणवा वापि कर्तव्या दर्दुरा (दर्दुरा—ग) स्तथा—क (म०), ग० । ८. येषां ते च भवन्ति हि—क. ख० ।
९. लक्षश्लक्ष्णशङ्कुर्णो—ग० ।
१०. ग्रहश्चापि—क; श्रामणी च—क (म.); भ्रामणी च—ग० ।
११. एतास्तु—क (म), ग० ।
१२. ऋङ् (?) मयत्वान् मृदङ्गंतु भाण्डो भाण्डाकृतीनि च—क (म). ।
१३. पुरजं शुद्धिकरणादातोद्यं तोदनात्तथा—क (म०) ।

ये मिट्टी से निर्मित होने के कारण मृदंग, चारों ओर घूमने के कारण भाण्ड, ऊपर की ओर स्थित रहने के कारण मुरज तथा तोदन या प्रहार से सम्बद्ध रहने के कारण आतोद्य कहलाते हैं ॥ २७३-२७४ ॥

भाण्डस्यादौ प्रणीतोऽत्र[1] पणवश्च विधीयते ॥ २७४ ॥
दारु[2] यतो दारयति तस्माद्भवति दर्दरः ।

भाण्ड के आदि में निर्मित होने से पणव और लकड़ी को विदारण कर निर्मित होने से दर्दर कहलाता है ॥ २७४-२७५ ॥

सृष्ट्वा[3] मृदङ्गान् पणवं दर्दरञ्च महामुनिः ॥ २७५ ॥
मेघैस्तु स्वरसंवादान्[4] मृदङ्गानामथासृजत्[5] ।

इस प्रकार (स्वाति) मुनि ने मृदंग, पणव तथा दर्दर को इस प्रकार निर्मित कर उनमें मेघों की ध्वनि से समानता ले कर स्वर निर्मित किये ॥ २७५ ॥

विद्युज्जिह्वो[6] भवेद्वामे[7] मेघः स तु महास्वनः[8] ॥ २७६ ॥
ऐरावणो महामेघः तथा चैवोर्ध्वके[9] भवेत् ।
आलिङ्गये[10] च तडित्ख्यातो नाम्ना मेघो बलाहकः ॥ २७७ ॥

इनमें विद्युजिह्व नामक महा ध्वनि सम्पन्न मेघ ने वामक को, ऐरावण नामक महामेघ ने ऊर्ध्वक को और तडित् से प्रख्यात वर्षा करने वाले बलाहक नामक मेघ ने आलिंग्यक को अपना स्वर प्रदान किया ॥ २७६-२७७ ॥

दक्षिणे पुष्करो मेघः कोकिलो वामतः[11] स्मृतः ।
मृदङ्गश्चैव नाम्ना तु ऊर्ध्वके[12] नन्यथोच्यते ॥ २७८ ॥

---

१. प्रमाणेन—क (म०) ।
२. दारं शब्दं दारयति—क.; दारणाद्दण्डवाद्यानां दर्दरः परिकीर्तितः—क (म०) । ३. दृष्ट्वा मृदङ्गपणवदर्दरश्च—क (म), ग० ।
४. मेघैश्च स्वरसंयोगं—क०, मेघैस्तु रससंवादान्—ग० ।
५. मृदङ्गो नाम चाकरोत्—क (म०) । ६. जिह्वा—ग० ।
७. भवेद्वामो—ग.; भवेद्वाद्यो—क (म०) ।
८. महात्मनः—क (म०) ।
९. चोर्ध्वगतो—क (म) गु० चैवोर्ध्वको—ख० ।
१०. आलिङ्गके तडिघ्नांश्च नाम्ना चैव वलाहकः—क ।
११. नाम विश्रुतः—क०, नाम सः स्मृतः—क (म.); किकिला नाम योजितः—ख०; कोकिला नामतः स्मृतः—ग० ।
१२. उर्ध्वको नान्यथोच्यते—क (म०); उर्ध्वगो नान्यथोच्यते—ग० ।

आङ्किकः[1] सिद्धिरित्येवमालिङ्गश्चैव[2] पिङ्गलः ।

दक्षिण में पुष्कर मेघ, वामक में कोकिल, आलिंग्य में नन्दी, आंकिक में सिद्धि और आलिंग्य नामक वाद्य में पिंगल का निवास कहा गया है ॥ २७८-२७९ ॥

भूतप्रियो[3] बलिस्तेभ्यो दातव्यः सिद्धिमिच्छता ॥ २७९ ॥
पूजयित्वा[4] [5]च तान् देवान् प्रेक्षां रङ्गे प्रकल्पयेत् ।
करीषस्य च सङ्घाते मृदङ्गान् स्थापयेद्[6] बुधः ॥ २८० ॥
सुसङ्घातानचलितांस्तथा चावनताम् पुनः ।
आतोद्यपणवैश्चैव नर्तकोपनतैस्तथा[7] ॥ २८१ ॥

अपने प्रयोगों में सिद्धि के अभिलाषी पुरुषों को इन मेघों को भूतगणों को प्रिय लगने वाली बलि प्रदान करना चाहिए, इन देवगण की पूजन के पश्चात् रंगमञ्च पर नाट्यप्रयोग को आरंभ करना चाहिए। मृदंगों को करीष या उपलों के ढेर पर मढे चमड़ों को आग से सेकने के लिये रखना चाहिए जो ठीक से न दरार पड़े हुए और न पिचके हुए होने चाहिए आतोद्य और पणव वाद्यों को नर्तकों से उठवा कर स्थापित करने के पश्चात् शान्ति कर्म विधिवत् करना चाहिए ॥ २७९-२८१ ॥

शान्तिकर्म प्रयुञ्जीत विधिदृष्टेन कर्मणा ।
चत्वारः पणवाः कार्या दशरूपविधौ पुनः ॥ २८२ ॥

दशरूपकों के प्रयोग के अवसर पर चारों पणवों का वादन में उपयोग किया जाता है और इन्हीं में विभिन्न अवस्थाओं के समय या अवसर पर चारों प्रकार के पूर्व कथित आतोद्य या वाद्य वृंद का भी वादन रखा जाता है ॥ २८२ ॥

नाटकेऽङ्के[8] प्रकरणे वीथ्यां भाणे डिमे तथा ॥ २८३ ॥
मृदङ्गं[9] पणवश्चैव दर्दरश्चैव वादयेत् ।

---

१. अङ्किकः—क; अङ्गारः—क (म.), ग० ।
२. श्चाष्ट—क (म), ग० । ३. तत्प्रियोऽपि—क (म), ग० ।
४. अपूजयित्वा ह्येतान् वै नैव प्रेक्षां प्रयोजयेत्—क., ख० ।
५. तु तां देवीं—क (म), ख० । ६. मृदङ्गं—क ।
७. नर्तकोपनतास्तथा—क०, ख० ।
८. नाटके सप्रकरणे भाणे प्रहसने तथा—क० ।
९. मृदङ्गपणवाश्चापि दर्दरं चोपकारयेत्—क (म); ग० ।

एवमेतद् बुधैर्ज्ञेयं मृदङ्गानान्तु लक्षणम् ॥ २८४ ॥

(तथा) नाटक, प्रकरण, वीथी, भाण और डिम में मृदंग, पणव और दर्दर का (नियम पूर्वक) वादन रखा जाए। मृदंगों के ये ही लक्षण हैं जिन्हें बुद्धिमान् ठीक से जानें ॥ २८३-२८४ ॥

उपहस्तों के लक्षण तथा विभेद—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि उपहस्तस्य लक्षणम् ।
कर्तरी[1] समहस्तश्च हस्तपाणित्रयं तथा ॥ २८५ ॥
वर्तना दण्डहस्तश्च पञ्च शिक्षाकरास्तथा[2] ।

अब मैं उपहस्त के लक्षण बतलाता हूँ। इसके शिक्षणगत पांच प्रकार होते हैं। कर्तरी, समहस्त, हस्तपाणित्रय, वर्तना और दण्ड-हस्त ॥२८५॥

तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन सदेशाद्रुतिभिस्ततः[3] ॥ २८६ ॥
पर्यायपतनैर्ज्ञेया[4] कर्तरी हस्तयोर्द्वयोः ।

कर्तरी—दोनों हाथों की तर्जनी और अँगूठे को मिलाकर एक के बाद दूसरे की क्रमशः तेजी से पटकना 'कर्तरी' बतलाता है ॥२८६-२८७॥

समयोः समतालेन द्वयोर्हस्ततलार्धयोः ॥ २८७ ॥
पर्यायतः[5] प्रपातो यः समहस्त इति स्मृतः ।

समहस्त—दोनों सम हाथों के तलों के आधे भाग का क्रमशः समताल में (वाद्य के मुँह पर) पटकना 'समहस्त' कहलाता है ॥२८७–२८८॥

विभावितस्य वामस्य पार्ष्णिणाङ्गुलिभिस्तथा ॥ २८८ ॥
सकृद्दक्षिणहस्तस्य हस्तपाणित्रयं भवेत् ।

हस्त-पाणित्रय—बाये हाथ के पिछले भाग और अंगुलियों का सुस्पष्ट पात या पटकना बतलाने के बाद पुनः एक बार दाहिने हाथ के पिछले भाग को पटकना हस्तपाणित्रय बतलाता है ॥ २८८–२८९ ॥

पूर्वं दक्षिणहस्तेन क्रमाद् वामेन पाततः[6] ॥ २८९ ॥
चत्वारो यत्र वर्तन्ते वर्तनाद् वर्तनाः स्मृताः ।

---

१. कर्करी—क (म)। २. करस्ततः—क (म); ग०।
३. स्वत्रे जाति (?) गतिस्ततः—ग०।
४. पर्यायपतनज्ञेया कर्करी—क (म.); पर्याणापतनै—ग०।
५. पर्यायशः—क (म.)। ६. पादतः—क (म)।

वर्तना—दाहिने हाथ से आरंभ कर क्रमशः बाएँ हाथ के द्वारा चार बार पात करने को 'वर्तना' कहा जाता है, क्योंकि इसमें वर्तन या पटकने की क्रिया होती है ॥ २८९–२९० ॥

प्रथमं वामहस्तेन गृहीत्वा दक्षिणेन तु ॥ २९० ॥
प्रहाराः क्रमपातेन[1] दण्डहस्तः समस्तयोः ।

दण्डहस्त—आरंभ में बाएँ हाथ से प्रहार करते हुए फिर दाहिने हाथ से क्रमशः प्रहार कर बाद में दोनों हाथों से क्रमशः समवात बनाना 'दण्डहस्त' कहलाता है ॥ २९०–२९१ ॥

सौष्ठवं लाघवश्चैव बाहुल्यं दृढ़ताऽपि च ॥ २९१ ॥
सर्वेषाञ्चैव हस्तानां गुणाश्चत्वार ईरिताः ।
एवमेतन्मया प्रोक्तं हस्तानामपि लक्षणम् ॥ २९२ ॥

इन सभी हाथों के चार गुण होते हैं—सौष्ठव, लाघव, बाहुल्य तथा दृढ़ता। इस प्रकार मैंने वादन काल में रहने वाले हाथों के लक्षण बतलाये हैं ॥ २९१–२९२ ॥

उत्तम-वादक के लक्षण—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वादकानान्तु लक्षणम् ।
गीतवाद्यकला-लयग्रहमोक्षविशारदोऽथ[2] लघुहस्तः ।
चित्रपाणिर्विधिज्ञः[3] सिद्धिस्थानध्रुवाकुशलः ॥ २९३ ॥
कलाभिरतो[4] मधुरहस्तः सुनिविष्टो रक्तमार्जनो[5] बलवान् ।
सुविहित[6]शरीरबुद्धिः संसिद्धो वादकः श्रेष्ठः ॥ २९४ ॥

अब मैं (अवनद्ध वाद्यों के) वादकों के लक्षण बतलाता हूँ। जो गीत में दक्ष हो, वाद्यवादन, कला, लय, ग्रह और मोक्ष का ज्ञान रखता हो। वादन में जिसका हाथ हलका (लघु) हो, जिसे विभिन्न पाणियों को बोध हो, जो वादन की विधि एवं सिद्धि स्थान का ज्ञाता हो और ध्रुवाओं के गान में दक्ष हो, जो कलाओं का अभ्यास करता हो, (वाद्य वादन में) मीठे हाथ

---

१. क्रमवातेन—क (म); क्रमपादेन—ग० ।

२. गतिवाद्यताल पाठ्यग्रह—क; गीतवादकलावातग्रहमोक्षविशारदः—क (म), ग० । ३. च्छिद्रान्वेषविधिज्ञः सिद्धस्थाने—क. ।

४. कलरिभितमधुरहस्तः—क० । ५. मार्जना—क (म.), ग० ।

६. अवहितशरीरबुद्धिर्मृदङ्गवादी गुणैरेतैः—क; सुविदितशरीरबुद्धिः—ख ।

वाला हो, जिसमें एकाग्रता की शक्ति हो, जो आनन्दप्रद मार्जनाओं के निर्माण से प्रजा को अनुरक्त करने वाला हो, बलवान शरीर हो और बौद्धिक स्थिरता को लिये हो तो ऐसा गुणशाली सिद्ध पुरुष श्रेष्ठ वादक कलाकार होता है ॥ २९३-२९४ ॥

उत्तम-मृदंग वादक के गुण :—

आलेपनप्रमाणज्ञश्चतुर्मार्गकृतश्रमः ।
प्रतिगृहीता सिद्धीनामङ्गदोषविवर्जितः[1] ॥ २९५ ॥
स्वभ्यस्तकरणः[2] सौम्यः[3] गीतज्ञो गुणितग्रहः ।
सुसङ्गीतप्रयोगज्ञो मृदङ्गी तु भवेद्गुणैः ॥ २९६ ॥

जिसे वाद्यों के उचित लेपन प्रमाण का ज्ञान हो और जिसने चारों मार्गों पर परिश्रम पूर्वक वादन का विधिवत् प्रशिक्षण प्राप्त किया हो, सभी सिद्धियों को जिसने अर्जित किया हो, जिसके शरीर में कोई कमी या दोष न हो, जिसने सभी करणों के वादन करने का अभ्यास किया हो, जो शान्त स्वभाव वाला और गीत का ज्ञाता हो, जिसे ग्रहों का अनेक प्रकार से (या प्रचुर मात्रा में) ज्ञान हों (जिससे वह मात्राओं का प्रमाण गणित के आधार पर दुगुन, तिगुन आदि बढ़कर तुरन्त कर ले) जो संगीत के प्रयोग प्रस्तुत करने एवं उनका ज्ञान रखने वाला हो तो अपने इन विशिष्ट गुणों के कारण उसे श्रेष्ठ मृदंगवादक समझना चाहिए ॥ २९५-२९६ ॥

उत्तम पणव वादक के गुण :—

भ्रान्तोर्ध्वहस्तः[4] कालज्ञश्छिद्रावरणपण्डितः ।
अभ्यस्तकरणश्चैव भवेत् पाणविको गुणैः ॥ २९७ ॥

जो वादन की भ्रमणक्रिया में चतुर, ऊपर नीचे होने वाले हस्त-प्रयोग में दक्ष और काल का ज्ञान या ध्यान रखने वाला हो, जिसे प्रयोग के दोषों या (कमजोरियों) का ज्ञान होने से उन्हें छिपाने की दक्षता प्राप्त हो और करणों के वादन का ठीक से अभ्यास हो तो इन गुणों के कारण उसे श्रेष्ठ पणव-वादक समझना चाहिए ॥ २९७ ॥

---

१. मगदो निश्चलो निपुणः—क (म) ।

२. स्वभ्यस्तकरणैः—ख० ।

३. सामे—क० ।

४. अभ्रान्तो हस्तकालज्ञः—घ० ।

निश्चलो निपुणः[1] शीघ्रो लघुहस्ती[2] विधानवित् ।
वादनान्तरवेदी[3] च दर्दरी [4]तु प्रशस्यते ॥ २९८ ॥

बैठक में दर्दर का जो वादन स्थिरता और वादन में निपुणता लिए हुए करता हो,जो अपनी कला में दक्ष या स्फूर्ति सम्पन्न हो,जिसके हाथ में हलकापन हो, जिसे वादन का शास्त्रीय ज्ञान हो तथा जिसे दूसरे वाद्यों के वादन का (भी) ज्ञान हो तो ऐसे वादक की सभी ओर से प्रशंसा होती है ॥

वादन का सामान्य विधान—

एतत्सर्वं नाट्ययोगं समीक्ष्य
प्रोक्तं वाद्यं सर्वलोकानुमानात्[5] ।
नोक्तं यत्वेदागमाच्छास्त्रबुद्ध्या[6]
सद्भिः कार्यः मार्गजातीः समीक्ष्य ॥ २९९ ॥

इस प्रकार सभी प्रकार के नाट्य प्रयोगों को देखकर विचार पूर्वक यहाँ वाद्य वादन का लोकरुचि को ध्यान में रखते हुए वर्णन किया गया है । यहाँ जो बातें बतलाने से छूट गयी हों उनको अपने आगमज्ञान तथा शास्त्र-बुद्धि से गीतों के मार्ग और जाति को ध्यान में रखकर उत्तम प्रयोक्ता जन को स्वयं व्यवहार से सम्पन्न करना चाहिए ॥ २९९ ॥

स्फुटप्रहारं विशदं[7] विभक्तं रक्तं[8] विघुष्टं[9] करलेपनञ्च ।
त्रिमार्जनं[10] पूरितरागयोगं मृदङ्गवाद्यं गुणतो वदन्ति ॥३००॥

मृदंग के गुण—मृदंगों के जिस वादन में ठीक प्रहार लगते हों, जिसके विभाग एवं विस्तार स्पष्टता लिये हुए हो, नियन्त्रित ध्वनि होने से जिसमें रंजकता रहती हो तथा जिसमें हस्त-लेपन ठीक से किया गया हो, तीनों मार्जनाओं से युक्त हो तथा आनन्दप्रद स्वरों के मिश्रण से पूर्ण हो तो इन्हें श्रेष्ठ मृदंग के गुण समझना चाहिए ॥ ३०० ॥

---

१. निर्गुणः—ख० । २. लघुहस्तो—क (म.), ख; ग० ।
३. वादनान्तरवादी च—क० । ४. च—क (म०), ग० ।
५. सर्वलोकानुभावात्—क, ख० ।
६. गभाद्वस्तुबुद्धया—क; ख०, यन्मानागमा—क (म) ।
७. विषमं—क (म.) । ८. सन्नोऽपि घुष्टारिभितं कलञ्च—क (म) ।
९. विकृष्टं—क० । १०. त्रिमार्जनापूरितरागरम्यं—क० ।

नाट्यप्रयोग में वाद्य-वादन की आवश्यकता—

वाद्येषु[1] यत्नः प्रथमं तु कार्यः
शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति वाद्यम् ।
वाद्ये[2] च गीते च हि सुप्रयुक्ते
नाट्यप्रयोगे[3] न विपत्तिमेति ॥ ३०१ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे वाद्याध्यायो नाम त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।

सर्व प्रथम वाद्यों के वादन पर ध्यान दिया जाए क्योंकि नाट्यप्रयोग का आधार वाद्यवादन पर टिका हुआ है। नाट्यप्रयोग में वाद्यवादन और गीतों को अच्छी तरह बिठा देने पर फिर नाट्यप्रदर्शन निर्बाध सफलता अर्जित कर लेता है। (या उस नाट्यप्रदर्शन में कोई संकट उपस्थित नहीं होता है) ॥ ३०१ ॥

इति भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र का अवनद्ध आतोद्य विधान
नामक तैतीसवाँ अध्याय का प्रदीप-व्याख्यान समाप्त ।



१. वाद्ये तु—क; ख० ।

२. वाद्येऽविगीतेऽपि च—क (म), वाद्येऽपि गीतेऽपि च—ग० ।

३. नाट्यस्य शोभा न विनाशमेति—क (म०); नाट्यस्य योगो न विनाशमेति—ग० ।

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

प्रकृतिविचाराध्यायः

पात्रों के तीन प्रकार

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रकृतीनान्तु लक्षणम् ।
नायकानाञ्च सर्वेषां चतुर्णामपि तत्त्वतः ॥ १ ॥

अब मैं पात्रों के स्वरूप को बतलाता हूँ तथा इसी में चार प्रकार के नायकों का तात्विक विवेचन भी करता हूँ ॥ १ ॥

समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता ।
स्त्रीणाञ्च[1] पुरुषाणाञ्च उत्तमा मध्यमाधमाः[2] ॥ २ ॥

सामान्यतः पुरुष तथा स्त्री पात्रों के प्रकृतिगत तीन भेद होते हैं। यथा-(१) उत्तम, (२) मध्यम तथा (३) अधम ॥ २ ॥

उत्तम-प्रकृति-(पुरुष)

जितेन्द्रिया[3] ज्ञानवती नानाशिल्पविचक्षणा ।
दक्षिणा[4] भोगदक्षाऽथ दीनानां परिसान्त्विनी[5] ॥ ३ ॥
नानाशास्त्रार्थसम्पन्ना गम्भीर्यौदार्यशालिनी ।
धैर्यत्यागगुणोपेता[6] ज्ञेया प्रकृतिरुत्तमा[7] ॥ ४ ॥

जो इन्द्रियों को नियन्त्रित रखता हो, चतुर हो, विविध कला और शिल्प का विज्ञाता हो, ईमानदार हो, विहारादि में चतुर हो, दीनों को सान्त्वना देता हो, विविध-शास्त्रों का विज्ञाता हो और गाम्भीर्य, औदार्य,

---

१. पुरुषाणामथस्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा—क०, ग० ।

२. नरशीलगुणोपेता ह्युत्तमाधममध्यमाः । तस्मात् पृथक् पृथक् भावैर्विज्ञेया प्रकृतीर्बुधैः—क (भ०) । ३. जितेन्द्रियज्ञान—क० ।

४. दक्षिणाधमहालक्ष्या भीतानां—क., दक्षिणाथ भगा (?) लक्ष्या—ग० । ५. परिसान्त्वनी—ख० । ६. धैर्य—ग० ।

७. लोकक्रियाविशेषज्ञा धर्माधर्मविचक्षणाः । शास्त्रेतिहासकुशला शीलवृत्तव्यवस्थिताः । अहिंसासत्वसम्पन्ना प्रकृत्या तूत्तमाः स्मृताः ॥—इति घ (ह) पुस्तके पाठः ।

धैर्य, त्याग आदि गुणों से युक्त हो तो उसे प्रकृति (या पात्र) समझना चाहिये[1] *॥ ३-४ ॥*

मध्यमप्रकृति—

लोकोपचारचतुरा[1] शिल्पशास्त्रविशारदा[2] ।
विज्ञानमाधुर्ययुता[3] मध्यमा प्रकृतिः स्मृता ॥ ५ ॥

जो लौकिक व्यवहार में दक्ष, विविध कला और शिल्प में चतुर, शास्त्र-ज्ञाता, उच्चाभिलाषी और मधुर स्वभाव वाला हो तो उसे 'मध्यम-प्रकृति' का पात्र समझना चाहिये[2] *॥ ५ ॥*

अधमप्रकृति-पुरुष

रूक्षा[4] वचसि दुःशीलाः कुसत्त्वा शल्यबुद्धिकाः[5] ।
क्रोधना घातकाश्चैव मित्रघ्नाश्छिद्रघातकाः[6] ॥ ६ ॥
वृथारम्भप्रसक्ताश्च[7] यत्किञ्चिद्वादिनोऽल्पकाः ।
पिशुना[8] उद्धता वाक्यैरकृतज्ञास्तथालसाः ॥ ७ ॥

---

१. यहाँ 'भोगदक्षा' पाठ को लेकर अर्थ व्यवस्थित किया गया है। अन्य पाठान्तर अस्पष्ट हैं। उत्तम प्रकृति का लक्षण पुरुष तथा स्त्रीपात्र पर समानरूप से लागू किया जा सकता है।

२. मध्यमप्रकृति 'पुरुष' पात्र की स्थिति अधिकांश रूपकों में व्यवहार में आती है। कला, शिल्प तथा विज्ञान से युक्त उतम पुरुष केवल उसका ज्ञान से मण्डित रहता है जबकि मध्यपात्र इन्हीं ज्ञानों से अपना जीवन निर्वाह भी करता है। मृच्छकटिक में संबाहक के उद्‌गार से यह तथ्य भलीभांति स्पष्ट हो जाता है। यथा—अज्जे, कलेति, शिविखदा आजीवा दाणिं संवुत्ता (आर्ये, कलेति शिक्षिता, आजीवेदानीं संवृत्ता।)

---

१. किञ्चिल्लोकापकारज्ञा—क (म); लोकोपचारतत्वज्ञा—घ (ह)।

२. विचक्षणा—घ (ह)।

३. साधारणगुणोपेता—क (भ.); मध्यप्रायगुणोपेताः प्रकृत्या मध्यमाः स्मृताः—घ (ह)। ४. रुक्षवाचोऽथ दुःशीलाः—क०।

५. स्थूलबुद्धयः—क; स्वल्पबुद्धयः—क (भ०)।

६. कृतघ्नाश्च्छिद्रदर्शिनः—ख०,...श्छिद्रमानिनः—क; श्छिद्रदर्शनाः—क (भ०)। ७. प्रसन्नाश्च—ख (मु.)।

८. स्तूद्धतैर्वाक्यै—क; पिशुनाः पापनिरताः स्त्रीलोलाः कलहप्रियाः—ख०।

मान्यामान्यविशेषज्ञा[1] स्त्रीलोलाः [2]कलहप्रियाः।
सूचकाः पापकर्माणः परद्रव्यापहारिणः ॥ ८ ॥
एभिर्दोषैस्तु सम्बद्धा[3] भवन्ति ह्यधमा नराः।
एवञ्च[4] शीलतो नृणां प्रकृतिस्त्रिविधा[5] स्मृताः ॥ ९ ॥

जो मनुष्य संभाषण में कठोर, दुष्टस्वभाव, नीचवृत्तिवाले, अपराधी स्वभाव वाले (शल्यबुद्धिक), क्रोधी, घातक, मित्रों पर प्रहार करने वाले, बहाने या धोखे से जान लेने वाले (चित्रघातक), क्रूर, उद्धतवाक्यों के प्रयोक्ता, उपकार को न मानने वाले, आलसी, मान्य तथा अमान्य की परीक्षा में असमर्थ, स्त्रियों को देखकर चंचल हो उठने वाले, कलहप्रिय, चुगलखोर, नीच कर्म के करने वाले व दूसरों का धन अपहरण करने वाले, दोषों से युक्त प्रकृति के हों तो उन्हें अधमप्रकृति (का पात्र) समझना चाहिये।

इस प्रकार स्वभाव से होनेवाली मनुष्यों की तीन प्रकार की प्रकृति होती है ॥ ६-९ ॥

उत्तम प्रकृति-स्त्री—

स्त्रीणां[6] पुनस्तु प्रकृतिं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः।
मृदुभाषा[7] ह्यचपला स्मितभाषिण्यनिष्ठुरा[8] ॥ १० ॥
गुरूणां[9] वचने दक्षा सलज्जा विनयान्विता।
[10]रूपाभिजनमाधुर्यगुणैः[11] स्वाभाविकैर्वृता ॥ ११ ॥
[12]गाम्भीर्यधैर्यसम्पन्ना उत्तमा[13] प्रकृतिः स्मृता।

---

१. मान्यामान्या विशेषज्ञाः—क०, मानविशेषज्ञाः—ग०।
२. कुहकप्रियाः—क (म०)। ३. सम्पन्ना भवन्तीहाधमा—क०।
४. एवन्तु शीलतो ज्ञेया प्रकृतिस्त्रिविधा बुधैः—ख०।
५. प्रकृतिस्त्रिविधा स्त्रियः—ग०।
६. एवमेव तु बोद्धव्या स्त्रीणामपि यथाक्रमम्—क (भ.)।
७. मृदुभावा—क, ग०।
८. स्मितभाविन्य—ग; स्मितहासिन्य—क (भ०)।
९. कुलशीलगुणोपेता गुरूणां शासने रता—च (ह); गुणानां वचने—ग०। १०. रूपाभिनय—क. (व०)।
११. माधुर्या गुणैः स्वाभाविकी स्मृता—ग०।
१२. गभीरा धीरसत्वा वा योत्तमा—क (भ०)।
१३. विज्ञेया प्रमदोत्तमा—क०।

अब मैं क्रमशः स्त्रियों की प्रकृति बतलाता हूँ। जो स्त्री कोमल-स्वभाव वाली, चञ्चलता रहित, मुस्कुराकर बोलनेवाली, अक्रूर, पूज्यजन के साथ उचित संभाषण करने वाली, लज्जा और विनय आदि से युक्त; रूप; कुल, शील तथा माधुर्य से भूषित तथा जिसमें स्त्रियों के सभी सामान्य गुण एवं गाम्भीर्य, धैर्य तथा तेज विद्यमान हो उसे 'उत्तमप्रकृति' की स्त्री समझना चाहिये ॥ १०-१२ ॥

मध्यमा-प्रकृति-स्त्री—

नात्युत्कृष्टैरशिथिलैरेभिरेव[1] वृता गुणैः ॥ १२ ॥
अल्पदोषानुविद्धा च मध्यमा[2] प्रकृतिः स्मृता।

जो स्त्री इन उपर्युक्त गुणों और लक्षणों से पूर्णतः युक्त न हो तथा जिसमें कोई दोष न दिखाई देता हो उसे मध्यमप्रकृति की स्त्री समझना चाहिये ॥ १२-१३ ॥

अधमाप्रकृति-स्त्री—

अधमा प्रकृतिर्या तु पुरुषाणां प्रकीर्तिता ॥ १३ ॥
विज्ञेया सैव नारीणामधमानां समासतः।

अधमप्रकृति के पुरुषों का जो स्वभाव बतलाया गया वही अधम प्रकृति की स्त्री का भी होता है ॥ १३-१४ ॥

संकीर्ण या विमिश्र-प्रकृति—

प्रेष्या[3] चैव हि विज्ञेया सङ्कीर्णा प्रकृतावपि ॥ १४ ॥
नपुंसकश्च[4] विज्ञेयः सङ्कीर्णोऽधम एव च।
शकारश्च विटश्चैव ये चान्येऽप्येवमादयः ॥ १५ ॥
सङ्कीर्णा[5] प्रकृतिर्ज्ञेया नाटके च द्विजोत्तमाः।

दासी मिश्र-प्रकृति की होती है, नपुंसक अधम और मिश्र (संकीर्ण) प्रकृति का होता है। इसी प्रकार शकार, विट तथा इसी जैसे अन्य पात्रों की भी नाटक में संकीर्ण प्रकृति समझी जाती है ॥ १४-१६ ॥

---

१. रनिखिलैरेभिरेवान्विता—क०।

२. मध्या प्रकृतिरिष्यते—क०।

३. प्रेष्यादिरपि विज्ञेया सङ्कीर्णा प्रकृतिर्द्विजाः—क०; चेटयादिरपि—ग०। ४. नपुंसकं तु विज्ञेयं...र्णमधमं तथा—क (म०)।

५. सङ्कीर्णास्तेऽपि विज्ञेया ह्यधमा नाटके बुधैः—क०।

एते[1] ज्ञेयाः प्रकृतयः पुरुषस्त्रीनपुंसकाः[2] ॥ १६ ॥
आसान्तु[3] सम्प्रवक्ष्यामि विभागं[4] शीलसंश्रयम् ।

इस प्रकार पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक पात्रों की प्रकृति बतलायी गयी। अब मैं उनके स्वाभाविक आचरण से होने वाला विभाग बतलाता हूँ ॥

नायक के चार विभेद—

तत्र[5] चत्वार एव स्युर्नायकाः परिकीर्तिताः ॥ १७ ॥
मध्यमोत्तम[6] प्रकृतौ नानालक्षणलक्षिताः ।
धीरोद्धता[7] धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च ॥ १८ ॥
धीरप्रशान्तकाश्चैव[8] नायकाः परिकीर्तिताः ।
देवाः धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता[9] नृपाः ॥ १९ ॥
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा ॥ २० ॥

मध्यम और उत्तमप्रकृति के पुरुषों में अनेक लक्षण सम्पन्न नायकों के चार प्रकार किये गये हैं। ये हैं—(१) धीरोद्धत, (२) धीरललित, (३) धीरोदात्त तथा (४) धीरप्रशान्त।

देवता धीरोद्धत, राजा धीरललित, सेनापति और मंत्री धीरोदात्त और ब्राह्मण तथा वैश्यजाति के पुरुष धीरप्रशान्त प्रकृति के होते है ॥ १८-२० ॥

विदूषक के चार प्रकार—

एतेषाञ्च पुनर्ज्ञेयाश्चत्वारश्च[10] विदूषकाः ।
लिङ्गी[11] द्विजो राजजीवी शिष्यश्चेति यथाक्रमम् ॥ २१ ॥

---

१. एताः—क०, ग०। २. नपुंसकैः—क०।
३. एतेषाञ्चैव वक्ष्यामि विभागं शीललक्षणैः—घ (ह)।
४. विधानं—क०।
५. अत्र—क०; नाट्ये—ख०; अथ—क (न०)।
६. तत्रोत्तमायां—ख०, मध्यमोत्तमायां—ग०।
७. धीरोद्धतो…लितो…दात्तस्तथैव च—ख०।
८. शान्तश्चैवेति नायकाः नाटकाश्रयाः—ख०,…नाटकाश्रिताः-ग०।
९. ललितास्तु नृपाः स्मृताः—ग०।
१०. चत्वारोऽथ—ख०।
११. लिङ्गानि ते वरजवा शिष्टाश्चेति (?)—ग., लिङ्गिनी द्विजावरजा शिष्याश्चेति—घ०।

देवक्षितिभृतामात्यब्राह्मणानां प्रयोजयेत् ।
विप्रलम्भेऽमी[1] सुहृदः सङ्कथालापपेशलाः ॥ २२ ॥

इन चारों प्रकार के नायकों के विदूषक भी क्रमशः संन्यासी, ब्राह्मण, राज्याश्रित पुरुष तथा शिष्यजन होते हैं। ये नायक की वियोगावस्था में मित्र होकर नायक का मनोविनोद-अपने उक्तिचातुर्य से किया करते हैं[1] ॥२१-२२॥

नायक—

व्यसनी प्राप्य[2] दुःखं वा युज्यतेऽभ्युदयेन[3] यः ।
तथा[4] पुरुषबाहुल्ये प्रधानो नायकः स्मृतः ॥ २३ ॥

जो आपत्ति या किसी और कष्ट को पाकर पुनः अभ्युदय प्राप्त करता हो तथा जिसकी अनेक पुरुषों की तुलना में मुख्यता हो उसे 'नायक' समझना चाहिये ॥ २३ ॥

यत्रानेकस्य[5] भवतो[6] व्यसनाभ्युदयौ पुनः[7] ।
प्रकृष्टौ[8] यत्र तौ स्यातां स[9] भवेत्तत्र नायकः ॥ २४ ॥

परन्तु जहाँ पर अनेक पुरुषों में यही बात मिलती हो तो उसमें जो सर्वोत्कृष्ट हो उसे नायक समझना चाहिये ॥ २४ ॥

नायिका के चार प्रकार—

एते तु नायका ज्ञेया काव्यबन्धेषु[10] सर्वदा ।
नायिकाश्चैव वक्ष्यामि चतस्रः पुनरेव तु ॥ २५ ॥

नाट्यरचना में इन्हीं लक्षणों के नायक रहते हैं। अब मैं चार प्रकार की नायिकाओं का वर्णन करता हूँ ॥ २५ ॥

---

१. विदूषक के चार प्रकार आवश्यकतानुसार रखे गये प्रतीत होते हैं जो कथावस्तु की अपेक्षा से भी रखे गये हैं। नाट्यदर्पणसूत्र तथा भाव-प्रकाशन में भी ऐसा ही विवरण मिलता है।

---

१. विप्रलम्भसुहृदोऽमी—क.; विप्रलम्भे सुहृद्दासी (?)—ग० ।
२. प्राप्तदुःखा (?)—ग; प्राप्तदुःखो वा—घ० ।
३. भूमिपेन सा—ग० ।
४. तथा पुरुषमाहुस्तं प्रधानं नायकं बुधाः—क० ।
५. तत्रानेकस्य—ग० । ६. जायेते—क (न०) ।
७. समौ—क (न०) । ८. सपुष्टौ—क० ।
९. न भवेत्तत्र—क० । १०. नानाप्रकृतिलक्षणाः—ग० ।

दिव्या च नृपपत्नी च कुलस्त्री गणिका तथा ।
एतास्तु नायिका ज्ञेया नानाप्रकृतिलक्षणाः ॥ २६ ॥
धीरा च ललिता चैव[1] उदात्ता निभृता तथा ।
दिव्या[2] राजाङ्गनाश्चैव गुणैर्युक्ता भवन्ति हि ॥ २७ ॥
उदात्ता[3] निभृता चैव भवेत्तु[4] कुलजाङ्गना ।
ललिता[5] चाप्युदात्ता च गणिका शिल्पकारिका ॥ २८ ॥

ये हैं—(१) देवी, (२) महारानी, (३) कुलांगना तथा (४) गणिका । इनके ही अपने गुण आचार एवं लक्षण के अनुसार विभिन्न प्रकार हो जाते हैं—यथा धीरा, ललिता, उदात्ता तथा निभृता ।

देवी या दिव्यांगना तथा महारानी में ये सभी लक्षण और गुण होते हैं । कुलांगना उदात्ता और निभृता होती है तथा वेश्या और शिल्पिनी ललिता और उदात्ता होती है ॥ २६-२८ ॥

प्रकृति के दो भेद—

प्रकृतीनान्तु[6] सर्वासामुपचारो[7] द्विधा स्मृतः ।
बाह्यश्चाभ्यन्तरश्चैव तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २९ ॥

(किसी नाट्यरचना में स्थित) प्रकृतियों का दो प्रकार से व्यवहार होता है—बाह्य तथा आभ्यन्तर । अब मैं क्रमश उनके लक्षण बतलाता हूँ ॥ २९ ॥

तत्र राजोपचारो यो भवेदाभ्यन्तरस्तु[8] सः ।
ततो[9] बाह्योपचारस्तु यः स बाह्यक उच्यते ॥ ३० ॥

राजाओं के साथ व्यवहार में आनेवाला पात्र-समुदाय आभ्यन्तर तथा (बाहरी) प्रजा के साथ व्यवहार में आनेवाला पात्र-समुदाय बाह्य कहलाता है ॥ ३० ॥

---

१. च स्यादुदात्ता—क० ।
२. दिव्यानां जातयस्तैस्तैर्गुणैः—ग० ।
३. उदात्तनिभृता चैव—ग० । ४. भवत्येव कुलाङ्गना—ग० ।
५. गणिका शिल्पकारी च उदात्तललिते स्मृते—ख० ।
६. सर्वासां प्रकृतीनान्तु प्रकाशे द्विविधः—ख० ।
७. मुपचाराद् द्विधा स्मृताः—क० ।
८. भवेदाभ्यन्तरस्तु—ख० ।
९. ततो वाक्योपचारस्तु यस्य बाह्यः स उच्यते—क०; बाह्योपचारो यस्तस्माद्विज्ञेयो बाह्य एव सः—ख० ।

आभ्यन्तर प्रकृति—

तत्र[1] राजोपचारेषु अन्तःपुरसमाश्रयम् ।
स्त्रीविभागं प्रवक्ष्यामि उपचारं[2] तथैव च ॥ ३१ ॥

अब मैं अन्तःपुर में स्थित स्त्रियों के कार्य और श्रेणी को निदर्शित करूँगा जिसका राजाओं के साथ सम्पर्क एवं व्यवहार रहता है ॥ ३१ ॥

महादेवी तथा देवी[3] स्वामिनी स्थायिनी तथा ।
भोगिनी[4] शिल्पकारिणी नाटकीयाऽथ नर्तकी ॥ ३२ ॥
अनुचारिका[5] च विज्ञेया तथा च परिचारिकाः ।
तथा सञ्चारिकाश्चैव तथा प्रेषणचारिकाः[6] ॥ ३३ ॥
महत्तरा[7] प्रतीहारी कुमारी स्थविरा अपि ।
आयुक्तिका[8] च नृपतेरयमाभ्यन्तरो जनः ॥ ३४ ॥

ये हैं :—महादेवी, देवी, स्वामिनी, स्थायिनी, (स्थापिता या रक्षिता) भोगिनी, शिल्पकारिणी, नाटकीया, नर्तकी, अनुचारिका, परिचारिका, संचारिका, प्रेषणचारिका, महतरा, प्रतीहारी, कुमारी, वृद्धा तथा आयुक्तिका । राजा के अन्तःपुर में विद्यमान यही परिवार है (जिसे आभ्यन्तर-प्रकृति कहा जाता है[1]) ॥ ३१–३४ ॥

---

१. प्राचीन भारत के अन्तःपुर का एक व्यवस्थित रूप इस विवरण में विद्यमान हैं। इस विवरण से प्राचीनभारत में राजाओं के बहु विवाह का भी संकेत मिलता है जो कई शताब्दियों तक प्रचुरता से चलता रहा था।

---

१. अथ राजोपचारे च राज्ञामन्तःपुराश्रितम्—क०; तस्माद्राजोपचारेषु पुनरभ्यन्तराश्रयम्—ख०; तत्र राजोपचारं तमन्तः—ग० ।

२. विभक्तमुपचारतः—क; अन्तःपुरसमाश्रयम्—ग० ।

३. देव्यः स्वामिन्यः स्थापिता अपि—क० ।

४. भोगिन्यः शिल्पकारिण्यः नाटकीयासूसनर्तकाः (नाटकीयाश्च नर्तिकाः—ग)—क० ।

५. चारिकाश्च—क० ।

६. प्रेषणकारिकाः—क० ।

७. महत्तर्यः हार्यः कुमार्यः—क० ।

८. '''क्तिकाश्च—क०; '''कास्तु भूपानामेष आभ्यन्तरो गणः—ख० ।

महादेवी—

तत्र[1] मूर्धाभिषिक्ता या कुलशीलसमन्विता[2] ।
गुणैर्युक्ता[3] वयःस्था च मध्यस्थाऽक्रोधना तथा ॥ ३५ ॥
मुक्तेर्ष्या[4] नृपशीलज्ञा समदुःखसुखा[5] सदा ।
शान्तिस्वस्त्ययने[6] भर्तुः सततं मङ्गलैषिणी ॥ ३६ ॥
शान्ता[7] प्रीतियुता धीरा अन्तःपुरहिते रता ।
एभिर्गुणैस्तु सम्पृक्ता[8] महादेवीत्युदाहृता ॥ ३७ ॥

इनमें जो सभी रानियों में प्रधान पट्टमहिषी हो, उच्च-कुल में उत्पन्न तथा शील, गुण आदि से युक्त हो, दूसरी रानियों से अवस्था में बड़ी हो, दूसरी रानियों के झगड़ों में न पड़नेवाली या उनका विवाद निपटा देने वाली, क्रोध न करने वाली, ईर्ष्याविहीन, राजा के स्वभाव की विज्ञाता, सुख और दुःख में समभाव से भाग लेने वाली, पति के कल्याण और सन्तोष की सदा इच्छुक, शान्त वृत्ति वाली, प्रीति-सम्पन्न, धीरस्वभाव-वाली तथा रनिवास की भलाई में लगी रहनेवाली होती है उसे 'महादेवी' (पट्टमहिषी) समझना चाहिये ॥ ३५–३७ ॥

देवी—

एभिरेव गुणैर्युक्तास्तत्संस्कारविवर्जिताः[9] ।
[10]गर्वितास्त्वतिसौभाग्यात् प्रीतिसम्भोगतत्पराः ॥ ३८ ॥
शुचि[11]नित्योज्ज्वलाकारा प्रतिपक्षाभ्यसूयिकाः ।
यौवनादिगुणोन्मत्तास्ता[12] देव्यः समुदाहृताः ॥ ३९ ॥

---

१. अत्र—क० तथा—ख० । २. विभूषिता—ख० ।
३. समतुल्यचरित्रा च वयस्या क्रोधवर्जिता—ख० ।
४. अनीर्ष्या—ख०; अभीष्टानृत्त शीलज्ञा—क (न०) ।
५. ······सहा सभा—क० ।
६. ······स्वस्त्ययनैर्नित्यं भर्तृमङ्गलकाङ्क्षिणी—ख० ।
७. शान्ता पतिव्रता धीरा—क; पतिव्रता क्षमायुक्ता—ख० ।
८. संयुक्ता—क., ख० ।
९. सत्संस्कारैस्तु वर्जिता—ग०; बहुमानविवर्जिता—ख० ।
१०. श्वातिसौभाग्याः पतिसम्भोग—क, गर्विता राजपुत्री च रतिसम्भोग—ख०, घ०; । ११. बाला नित्योज्ज्वलगुणा प्रतिपक्षेष्वसूयिका—ख० ।
१२. वयोरूपगुणाढ्या यास्ता देव्य इति भाषिताः—क०; यौवनादिगुणोन्मत्ता सा देवीत्यभिधीयते—ख० ।

जो महादेवी में विद्यमान गुणों से युक्त होने पर भी उपयुक्त संस्कारों में कुछ पिछड़ी हुई हो, अपने सौभाग्य आदि पर गर्व करने वाली, राजकुल में जन्म लेनेवाली, प्रीति और सम्मेलन की भावना में लीन रहने वाली, पवित्र भावना और नित्य नवीन वस्त्रों को धारण करने में तत्पर रहने वाली, अपनी सौतों से डाह करने वाली और अपने यौवन के उन्माद में डूबी हुई हो उसे 'देवी' समझना चाहिये[1] ॥ ३८-३९ ॥

स्वामिनी—

सेनापतेरमात्यानां भृत्यानामथवा[1] पुनः ।
[2]भवेयुस्तनयास्तास्तु[3] प्रीतिसम्मानवर्धिताः ॥ ४० ॥
शीलरूपगुणैर्यास्तु सम्पन्ना नृपवल्लभाः[4] ।
स्वगुणैर्लब्धमाहात्म्याः[5] स्वामिन्य इति ताः स्मृताः ॥ ४१ ॥

जिन सेनापति, अमात्य या अन्य राजसेवकों की पत्नियों का अन्तःपुर में प्रेम और सम्मान पूर्वक पोषण किया जाए और बाद में अपने शील, सौन्दर्य और गुणों से जो महाराज का प्रेम प्राप्त कर पत्नी रूप में अधिष्ठित हो जाएँ तो वे 'स्वामिनी' कहलाती है ॥ ४०-४१ ॥

स्थायिनी—

रूपयौवनशालिन्यः[6] कर्कशा विभ्रमान्विताः ।
रतिसम्भोगकुशलाः[7] प्रतिपक्षाभ्यसूयिकाः ॥ ४२ ॥
उत्थिताश्चाप्रमत्ताश्च[8] त्यक्तालस्या ह्यनिष्ठुराः ।
मान्यामान्यविशेषज्ञाः स्थायिन्यः सम्प्रकीर्तिताः[9] ॥ ४३ ॥

---

१. यहाँ महादेवी आदि के सामान्यप्रकृत्याश्रित लक्षण ही समझना चाहिए । कहीं-कहीं इनका अपवाद भी मिलता है । जैसे पद्मावती अपनी सपत्नी वासवदत्ता से डाह नहीं करती है । (द्रष्ट-स्वप्नवासवदत्त-भास)

---

१. दण्डिता तत्पराश्च या—ख० ।

२. तनया नामतश्चैव स्वामिनीत्यभिसंज्ञिता—ख० ।

३. यास्तु प्रतिसम्मानवर्जिताः—क० ।   ४. नृपतेर्हिताः—क० ।

५. स्वगुणैर्लब्धसम्माना—क०, स्वामिसत्कारसम्पन्ना—घ (ह) ।

६. सम्पन्ना कर्कशा ललिता तथा—ख० ।

७. अति—ग० ।

८. उपस्थिता चाप्रमत्ता निद्रालस्या ह्यनिष्ठुरा—ख० ।

९. कथिता तथा—ख० ।

जो अपने सौन्दर्य और यौवन का आकर्षण रखता हो, झगड़ालू या रुखी विलास चेष्टाओं में प्रवीण, प्रीति विनोद की विशेषज्ञा, सौत से डाह करने वाली, सदा सावधान रहने और कार्य करने में तत्पर, आलस्य और क्रूरता से विहीन, पद एवं स्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के सम्मान का पूरा ध्यान रखनेवाली राजपत्नी हो तो उसे 'स्थायिनी' कहा जाता है[1] ॥ ४२-४३ ॥

भोगिनी—

दक्षाः स्फुटाः[1] ह्युदात्ताश्च गन्धमाल्योज्ज्वलाः सदा ।
नृपतेश्छन्दवर्तिन्यः [2]सर्वत्रेर्ष्याविवर्जिताः ॥ ४४ ॥
सुशीला[3] लघुसम्माना मृदुर्नात्युद्धतास्तथा ।
मध्यस्था निभृताः क्षान्ता भोगिन्य इति ताः स्मृताः[4] ॥ ४५ ॥

जो राजा के चित का अनुसरणा करने में चतुर हो, सदा आज्ञाकारिणी (दक्षा), व्यवहार में साफ, उदात्त स्वभाव वाली, सुगन्धित पदार्थ और पुष्पमाला को सदा धारण किये हुए, डाह, राग, द्वेष-विहीन, सभी से अच्छा व्यवहार करने वाली, तटस्थ, गम्भीर, शान्त और विनम्र स्वभाव वाली हो तो ऐसी राजा की प्रिया 'भोगिनी' कहलाती है ॥ ४४-४५ ॥

शिल्पकारिका—

नानाकलाविशेषज्ञा[5] नानाशिल्पविचक्षणाः ।
गन्धशिल्पविभागज्ञा[6] नानालेख्यविशारदाः[7] ॥ ४६ ॥
शयनासनयानज्ञा[8] मधुराश्चतुरास्तथा[9] ।
दक्षाश्चित्राः[10] स्फुटाः श्लक्ष्णा[11] निभृताः शिल्पकारिकाः ॥४७॥

१. स्थायिनी सामान्यतः एक सीधी सादी और वैभव तथा अधिकार मत्त 'राजपत्नी' न होकर साधारण राजपत्नी होती है यह इस विवरण से स्पष्ट है।

१. भर्तुश्च चितज्ञा—क० ।

२. नृपतेश्छन्दवर्तिन्यो न हीर्ष्यामानगर्विताः—क०; नृपतिच्छन्दवृत्ता च—ख० । ३. कुलशीललब्धपूजा मृदवो नातिचोद्धटाः—क; कुलशौचलब्ध—घ० (ब०) । ४. विश्रुताः—क (न०) ।

५. काल—क (ट) । ६. पुष्प—क० ।

७. लेख्यालेख्यविकल्पिकाः—क० ।

८. भागज्ञाश्चतुरा मधुरास्तया—क० । १०. सौम्याः—क० ।

९. मुदिता—क (न०) । ११. श्लिष्टा—क० ।

जो स्त्रियाँ अनेक कलाओं की विज्ञाता हों, अनेक शिल्प कार्यों में चतुर हो, सुगन्धित वस्तुओं के अनेक प्रकारों का निर्माण करना जानती हों, चित्रों के निर्माण की अनेक विधाओं से परिचित हों, शय्या, आसन और वाहन का पूर्ण ज्ञान रखती हो, मधुरभाषिणी, चतुर, ईमानदार, स्पष्टभाषिणी, स्पष्ट व्यवहार रखने वाली, सभ्य व अपने भाव को प्रकट न करने वाली हो वह 'शिल्पकारिका' होती है ॥ ४६-४७ ॥

नाटकीया या अभिनेत्री—

अथ[1] रूपगुणोदार्यसौभाग्यधैर्यशीलसम्पन्ना[2] ।
पेशलमधुरस्निग्धानुनादिकलचित्रकण्ठा[3] च ॥ ४८ ॥
हेलाभावविशेषज्ञाः[4] सत्वेनाभिनयेन च ।
माधुर्येण च सम्पन्ना ह्यातोद्यकुशलास्तथा ॥ ४९ ॥
स्वरतालयतिज्ञाश्च[5] तथाचार्योपसेविकाः[6] ।
चतुरा[7] नाट्यकुशलाश्चोहापोहविचक्षणाः ॥ ५० ॥
रूपयौवनसम्पन्ना[8] नाटकीयाः प्रकीर्तिताः ।

जो शरीर सौन्दर्य एवं आकर्षण से पूर्ण हो, उत्तमगुणों औदार्य, सौभाग्य, धैर्य, शील आदि से युक्त हो, जिसकी कोमल, मधुर और सुरीली आवाज हो, जिसके गले से निकलने वाला स्वर विचित्र या अचरजकारी हो, जो हेला तथा भावों के अभिनय प्रस्तुत करने में सक्षम हो, मृदु व्यवहार करनेवाली, वाद्यवादन में कुशल, स्वर, ताल और यति का ठीक से ज्ञान रखने वाली, संगीत तथा नाट्य के आचार्य की शुश्रूषा करनेवाली, चतुर, नाट्यप्रयोग में कुशल, अच्छे और बुरे का ठीक तरह से विचार करने

१. अर्धरूप—ग० । २. वीर्यसम्पन्ना—ग० ।

३. पेशलमधुरा स्निग्धा न च विकला चित्रकर्मकुशला च—ग० ।

४. विशेषाढ्या—क० ।

५. ग्रहमोक्षलयज्ञा या रसभावविकल्पिकाः—क; स्वरताललयज्ञाश्च—क (ट.) ।

६. रसभावविभाविका—ख०, तथा चार्योपसेविताः—क (ट०) ।

७. अस्मात् पूर्वं—परभावेङ्गितज्ञा च आचार्यानुगता तथा । इति पद्यार्धं खपुस्तके ऽधिकम् । चतुराभिनयज्ञा च—ख० ।

८. निपुणा भाण्डवाद्येषु—ख० ।

वाली तथा रूप-यौवन शालिनी स्त्री हो तो यह अभिनेत्री या 'नाटकीया' कहलाती है[1] ॥ ४८–५१ ॥

नर्तकी—

अङ्गप्रत्यङ्गसम्पन्नाश्चतुष्षष्टिकलान्विताः[1] ॥ ५१ ॥
चतुराः प्रश्रयोपेताः स्त्रीदोषैश्च विवर्जिताः ।
सदा[2] प्रागल्भ्ययुक्ताश्च त्यक्तालस्या जितश्रमाः ॥ ५२ ॥
नाना[3]शिल्पप्रयोगज्ञा नृत्तगीतविचक्षणाः ।
समागतासु नारीषु[4] रूपयौवनकान्तिभिः ॥ ५३ ॥
न दृश्यते गुणैस्तुल्या यस्याः[5] सा नर्तकी स्मृता ।

जिसके अंग-प्रत्यंग अतिशय सुन्दर हो, जो चौसठ कलाओं में निपुण हो, चतुर एवं विनीत व्यवहार करनेवाली, स्त्री रोगों से रहित, सदा प्रगल्भ, आलस्यहीन, थकावट न मानने वाली या परिश्रमी, अनेक शिल्प कलाओं के प्रयोग की विज्ञाता, नृत्त और गीत में चतुर, (अपने) सामने स्थित होने वाली दूसरी स्त्रियाँ रूप, यौवन और कान्ति के गुणों में सदा जिसकी बराबरी न कर पावें तो उसे 'नर्तकी' समझना चाहिये ॥ ५१–५४ ॥

अनुचारिका—

सर्वावस्थोपचारेषु[6] या न मुञ्चति पार्थिवम् ॥ ५४ ॥
विज्ञेया[7] नामतः सा तु नृपतेरनुचारिका ।

---

१. अन्तःपुर में विद्यमान नाट्यशाला में पुरुष पात्रों का प्रवेश नहीं होता था और न ही ऐसी प्रथा थी। इसका कारण राजा की सुरक्षात्मक स्थिति की रखना ही है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह आदि अनेक प्राचीन कथाकोशों से इसकी पुष्टि होती है। यहाँ सारे पात्रों के अभिनय स्त्री पात्रों के द्वारा ही प्रदर्शित होते थे।

---

१. संयुक्ता—क (न.)।

२. सदा प्रगल्भा च तथा—ख०; प्रियंवदा सलज्जा च प्रगल्भा विजितश्रमा—क (न०)।

३. यौवनादिगुणोन्मत्ता—ख०; नानाशील—क (न०)।

४. बह्वीषु—क (न०)। ५. नर्तकी सा प्रकीर्तिता—ख०।

६. सर्वावस्थाप्रचारेषु अनुगच्छति या नृपम्—ख०।

७. विज्ञेया दक्षिणा दक्षा नाट्यज्ञैरनुचारिका—क०: विज्ञेयं नाम तस्यास्तु—ख०।

जो सभी अवस्थाओं में राजा के साथ रहती हो तथा सेवा में लीन रहे तो उसे राजा की 'अनुचारिका' समझना चाहिये ॥ ५४–५५ ॥

परिचारिका—

छत्रशय्यासने[1] युक्ता तथा व्यजनकर्मणि ॥ ५५ ॥
संवाहने[2] च गन्धे च तथा चैव प्रसाधने ।
तथाभरणसंयोगे[3] माल्यसङ्ग्रहणेषु[4] च ॥ ५६ ॥
विज्ञेया[5] नामतः सा तु नृपतेः परिचारिका ।

जो सेविका शय्या, आसन, छत्र लेने तथा चंवर डोलाने के कार्य के लिये नियुक्त की गई हो, जो पैर दबाने, सुगन्धित पदार्थ का लेपन करने तथा शरीर को सजाने और अलंकार तथा पुष्पमाला आदि पहनाने का कार्य करती हों तो उन्हें 'परिचारिका' समझना चाहिये ॥ ५५–५७ ॥

संचारिका—

नानाकक्ष्याविचारिण्यस्तथोपवनसञ्चराः ॥ ५७ ॥
देवतायतनक्रीडाप्रासादपरिसञ्चराः[6] ।
यामकिन्यस्तथा[7] चैव याश्चैवंलक्षणाः स्त्रियः ॥ ५८ ॥
सञ्चारिकास्तु[8] विज्ञेया नाट्यज्ञैर्भोगवारिताः[9] ।

जो राजभवन के अनेक कक्षों में, उपवन, मन्दिर, क्रीड़ाभवन और राजप्रासाद में आती जाती हो, समय की या प्रहर की सूचना के लिये जो घंडियाल आदि बजाती हो या इसी प्रकार के अन्य कार्य करती हों तो उन्हें 'संचारिका' कहते हैं । नाट्य-वेत्ता इसमें किसी प्रकार का प्रणव व्यापार नहीं दिखलाते हैं ॥ ५७-५९ ॥

---

१. शय्यापाली छत्रधारी तथा व्यजनधारिणी—क०; शय्याछत्राधिकारिण्यः—क (न) ।

२. संवाहिका गन्धयोक्त्री तथा चैव प्रसाधिका—क० ।

३. तथाभरणयोक्त्री च माल्यसंयोजिका तथा—क० ।

४. तथा माल्यविचक्षणा—क (न०) ।

५. एवंविधा भवेयुर्याः ता ज्ञेयाः परिचारिकाः—क० ।

६. परिचारिकाः—क० ।

७. यामेष् च नियुक्ता यास्तथा च विविधाश्रये—ख० ।

८. सञ्चारिक्यस्तु—ख० ।

९. समुदाहृताः—क०; उपचारतः—ख० ।

प्रेषण-चारिका—

प्रेषणे[1] कामसंयुक्ते गूह्यगुह्यसमुत्थिते ॥ ५९ ॥
या[2] नियुक्ता बुधैस्तास्तु ज्ञेयाः[3] प्रेषणचारिकाः ।

जो स्त्री राजा के द्वारा अपने गुप्त प्रणय-व्यापार के सन्देश तथा दौत्य आदि कार्य के लिये नियुक्त की जाए या प्रायः इसी कार्य के लिये भेजी जाए तो उसे दूती या 'प्रेषणचारिका' समझना चाहिये ॥ ५९–६० ॥

महत्तरिका—

सर्वान्तःपुररक्षायां[4] स्तुतिस्वस्त्ययनादिभिः[5] ॥ ६० ॥
या वृद्धिमभिनन्दन्ति[6] महत्तर्यस्तु[7] ताः स्मृताः ।

जो अन्तःपुर की संरक्षिका होती है, स्तुति और मंगल गीतों के गान में सहकार करती है और रनिवास में पुत्र जन्म जैसे मंगल-कार्यों को अभिनन्दित या सम्पन्न करती है उसे 'महत्तरिका' समझना चाहिये ॥ ६०–६१ ॥

प्रतीहारी—

सन्धिविग्रहसम्बद्धनानाकार्य[8]समुत्थितम् ॥ ६१ ॥
निवेदयन्ति[9] कार्यं याः प्रतीहार्यस्तु ताः स्मृताः ।

जो स्त्री राजा के सन्धि, विग्रह आदि से सम्बद्ध अनेक उपस्थित कार्यों की सूचना देती हो उसे 'प्रतीहारी' कहते हैं ॥ ६१–६२ ॥

कुमारिका—

अप्राप्तरतिसम्भोगा[10] असम्भ्रान्ता अनुद्धटाः ॥ ६२ ॥
निभृता याः सलज्जाश्च ताः[11] कुमार्य इति स्मृताः ।

---

१. प्रेषणेऽकाम—क; प्रेषणैः कामसंयुक्तैः गुह्यागुह्यसमुत्थितैः—ख० ।

२. नृपै र्यामुनियुज्यन्ते ता ज्ञेयाः परिचारिकाः—क० ।

३. ज्ञेयाऽन्वेषणकारिकाः—ख०; ज्ञेया प्रेङ्खणकारिकाः—घ (ह) ।

४. रक्षासु—क० ।

५. स्वस्त्ययनेन च—क०; आशीःस्वस्त्यनेन च—क (ट) ।

६. नित्य—ख० ।

७. ता विज्ञेया महत्तराः—क०; ज्ञेयास्ताः सुमहत्तराः—ख० ।

८. नानाचार—क० । ९. राज्ञो हरन्ति याः कार्यं—क (ट) ।

१०. रससम्भोगा न सम्भ्रान्ता न चोद्भटाः—क०; अविश्रान्ता न चोत्कटाः—(ट) ।

११. कुमार्यो बालिकाः स्मृताः—क० ।

जिन्हें रति और प्रीति का कोई ज्ञान न हो, जो भ्रान्तिहीन तथा उत्तेजना रहित हो, जो विनम्र और लज्जाशील हों उन्हें 'कुमारी'[1] समझना चाहिये ॥ ६२–६३ ॥

वृद्धा—

पूर्वराजनयाभिज्ञाः[1] पूर्वराजाभिपूजिताः[2] ॥ ६३ ॥
सर्वानुचरितज्ञाश्च[3] ता[4] वृद्धा इति संज्ञिताः ।

जो स्त्रियाँ अतीत या पिछले राजा के व्यवहार और नीतियों की जानकार हो, पिछले राजाओं से सम्मान पाती रही हों तथा सभी के स्वभाव और कार्यों से परिचित (रहती) हों उन्हें 'वृद्धा' समझना चाहिये ॥ ६३–६४ ॥

आयुक्तिका—

भाण्डागारेष्वधिकृता[5] आयुधाधिकृतास्तथा[6] ॥ ६४ ॥
फलमूलौषधीनाञ्च[7] तथा चैवान्नवीक्षिकाः[8] ।
गन्धाभरणमाल्यानां[9] वस्त्राणाञ्चैव चिन्तिकाः[10] ॥ ६५ ॥
बह्वर्थेषु[11] नियुक्ता या आयुक्ता इति च स्मृताः ।
इत्यन्तःपुरचारिण्यः स्त्रियः प्रोक्ताः समासतः ॥ ६६ ॥

जिसके अधिकार में राज्य-भण्डार तथा शस्त्र हो, जो फल, फूल, औषधि और राजा के लिये पकाये गये अन्न की परीक्षा या देखरेख करती हों, जो

---

१. 'कुमारी' पात्र का उदाहरण मालविकाग्निमित्र में 'वसुलक्ष्मी' है ।

---

१. पूर्वराजनयज्ञाः या—क०; पूर्वरङ्गनयाभिज्ञा—ग० ।
२. सर्वराजसुपूजिताः—ख० ।
३. पूर्वराजानुचरितास्ता—क०; पूर्वराजोपचारज्ञा—ख० ।
४. स्थविरा इति ताः स्मृताः—क० (ट) ।
५. भाण्डागारे नियुक्ता च आयुधागार एव च—ख० ।
६. सायुधावि (धि) कृतास्तथा—ग० ।
७. चौअधीफलमूलेषु बीजेषु व्यापृता तथा—ख० ।
८. न्नवीक्षणाः—ग० ।
९. गन्धाभरणवस्त्रेषु आख्यानकथनेषु च—ख० ।
१०. चिन्तकाः—ग० ।
११. बह्वाश्रये तथा युक्ता ज्ञेया ह्यायुक्तिकास्तु ताः—क०; बह्वर्थेशुचियुक्ता या—ख (क०), बह्वाश्रयास्तथा युक्ता विज्ञेयाऽऽयुक्तिकाः स्मृताः–ग० ।

सुगन्धित-पदार्थ, अलंकार, पुष्पमाला एवं वस्त्र आदि को सम्हाल कर रखने वाली हो, इसके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रयोजनों के लिये भी जिसकी नियुक्ति की जाए तो ये 'आयुक्तिका' कहलाती है। इस प्रकार अन्तःपुर में विद्यमान स्त्रियों का मैंने संक्षिप्त वर्णन किया है ॥ ६४–६६ ॥

विशेषणं[1] तु शेषाणां तासां वक्ष्यामि वो द्विजाः।
या नियुक्ता[2] नियोगेषु प्रयोगेषु[3] तथैव हि ॥ ६७ ॥

अब मैं उन शेष स्त्री पात्रों के लक्षण बतलाता हूँ जिसकी अन्तःपुर में किसी विशेष कार्य के लिये नियुक्ति की जाती है ॥ ६७ ॥

न चोद्धटा न[4] चोद्भ्रान्ता न लुब्धा न[5] च निष्ठुराः।
शान्ताः[6] क्षान्ता प्रसन्नाश्च जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ॥ ६८ ॥
अकामा[7] निभृताश्चैव स्त्रीदोषैश्च विवर्जिताः।
अनुरक्ताश्च भक्ताश्च नानापार्श्वसमुत्थिताः ॥ ६९ ॥
ता नियोगेषु योक्तव्या वनिता[8] मदवर्जिताः।

जो अधिक उत्तेजित न होती हो, न घबराहट लिये हो, न लोभी हों, न कठोर स्वभाव वाली हों, तथा जो शान्तस्वभाव वाली, क्षमाशील, प्रसन्न रहनेवाली, क्रोध न करनेवाली, अपने में नियन्त्रित, इच्छा या वासना से हीन, स्त्रियों के विशेष रोगों से विहीन, राजा में अनुराग रखनेवाली तथा राज्य के विभिन्न प्रदेशों से आयी या लायी गयी हों तो ऐसी अहंकार रहित स्त्रियों को अन्तःपुर के पदों पर नियुक्त करना चाहिये ॥ ६८–७० ॥

अन्तःपुर के अन्य सेवक (नपुंसक आदि)—

यत्[9] स्यान्नपुंसकं नाम तृतीया प्रकृतिः स्मृता[10] ॥ ७० ॥
साप्यन्तःपुरसञ्चारे योज्या पार्थिववेश्मनि।

---

१. विशेषणविशेषेण तासां—क; विशेषणं विशेषेण—ग०; समासाल्लक्षणं तासां प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तमाः—ख०। २. नियोज्या—ख०।

३. कार्येषु विविधेषु च—क०।

४. असम्भ्रान्ता ह्यसंभ्रान्ता—क०।

५. नापि—क०; सुवेषाचारनिष्ठुराः—ख०।

६. दान्ताः—क०; क्षान्ता दीनाः सुशीलाश्च—ख०।

७. अकामा लोभहीनाश्च—क०; अकामाश्चापि पूज्याश्च; ग०—प्रकामा-निभृताश्चैव—ख०। ८. सर्वदोषविवर्जिताः—ग०।

९. या सा नपुंसका—ग०। १०. स्तु या—ख०।

कारुकाः[1] कञ्चुकीयाश्च तथा वर्षधराः[2] पुनः ॥ ७१ ॥
[3]औपस्थायिकनिर्मुण्डाः कक्ष्यास्थानेषु[4] योजयेत् ।
अपुमांसस्तु[5] पुरुषा ये तु स्त्रीभोगवर्जिताः ॥ ७२ ॥
एते[6] त्वन्तःपुरचरा कार्या नित्यं हि नाटके।

जिसे नपुंसक या तृतीया प्रकृति भी कहते हैं उनकी भी राजा के अन्तःपुर में नियुक्ति की जाती है। इन्हें राजभवन में घूमने का काम देना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो स्नातक, कञ्चुकीय, वर्षधर, औपस्थायिक, निर्मुण्ड हों उन्हें भी अन्तःपुर के विभिन्न भागों में नियुक्त करे। इसके अतिरिक्त नाटक में ऐसे पुरुषों की भी अन्तःपुर में नियुक्ति की जाये जो नपुंसक हों तथा जो स्त्री-संभोग से विरत हों ॥ ७०–७३ ॥

स्नातक तथा अन्तःपुर–अधिकृत—

द्वास्थन्तु[7] स्नातकं कुर्यादार्यमाचारसंयुतम् ॥ ७३ ॥
ब्राह्मणाः कुशला वृद्धाः कामदोषविवर्जिताः ।
प्रयोजनेषु देवीनां नियोक्तव्या[8] नृपैः सदा ॥ ७४ ॥

आचार से युक्त स्नातक[1] की द्वारपाल के स्थान पर नियुक्ति करना चाहिये। जो ब्राह्मण कुशल, वृद्ध और कामदोष से विहीन हो तो ऐसे पुरुषों की महारानी तथा देवियों के कार्यों के लिये रनिवास में राजा नियुक्ति करे ॥ ७३–७४ ॥

---

१. द्वारपाल सामान्य पद नहीं था। इसी कारण ऐसे पद पर स्नातक को रखा गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर यह अधिकारी माना गया है तथा इसका पद भी महत्वपूर्ण माना गया है। आजकल की तरह यह एक साधारण दरवान नही होता था।

---

१. स्नातकाः—ख०, घ० ।
२. वराः—क०; वराश्च ये—ख० ।
३. ये स्थायिकाश्च निर्मुण्डाः—ख (मु०) ।
४. स्त्रीणां प्रेषणकर्मणि—क, ग०; अभ्यागारास्तथैव च—क (म.) ।
५. अपुमांसोऽथ ये ज्ञात्वा स्त्रीलीलाधारिणश्च ये—क (म०) ।
६. अन्तःपुरचरास्तेऽपि कार्याः कार्यनियोगिनः—क (म०) ।
७. द्वारस्थान् स्नातकान् कुर्यादार्याचारसमन्वितान्०—क (म०) ।
८. प्रयोक्तव्या—क० ।

कञ्चुकीय—

ये[1] विद्यासत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः ।
ज्ञानविज्ञानकुशलाः कञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः ॥ ७५ ॥
प्रेषणे[2] चार्थसंयुक्ते कञ्चुकीयान्नियोजयेत् ।
तथा[3] वर्षधराश्चैव कामचारेषु योजयेत् ॥ ७६ ॥
औपस्थायिकनिर्मुण्डान्[4] स्त्रीणां प्रेषणकर्मणि[5] ।
रक्षणे च कुमारीणां बालिकानाञ्च[6] योजयेत् ॥ ७७ ॥

जो विद्याओं के ज्ञाता, सत्य-वक्ता, काम-दोष से विहीन तथा ज्ञान और विज्ञान से विभूषित हों वे 'काञ्चुकीय' कहलाते हैं[1]। इन काञ्चुकीय को राजा अपने शासकीय कार्य के लिये इधर उधर भेजने में नियोजित करे। वर्षधर की नियुक्ति प्रेम-सन्देश आदि के भेजने में राजा द्वारा की जाती है। औपस्थायिक, निर्मुण्ड की नियुक्ति स्त्रियों के प्रेषण कार्य के लिये की जावे। इसी प्रकार अन्तःपुर स्थित कुमारिकाओं तथा बालिकाओं के संरक्षण का कार्य भी इन्हें प्रदान किया जाय ॥ ७५-७७ ॥

नाटकीया—

मानकार्येषु नारीणां नियुञ्जीतानुचारिकाः ।
अन्तःपुराधिकारे[7] हि राजचर्यानुवर्तिनाम् ॥ ७८ ॥
सर्वनृत्ताङ्गयोगज्ञं[8] नाट्यागारे निवेशयेत् ।

जो स्त्रियाँ अन्तःपुर में नियुक्त होकर राजा की सभी गतिविधियों में अनुचर रहती हों, जो नृत्त नाट्य के सभी अंगों की विज्ञाता हों उन्हें

---

१. 'कञ्चुकी' को प्रायः सभी नाटकादि में देखा जा सकता है।

---

१. ज्ञान-विज्ञानसम्पन्नाः स्त्रीसम्भोगविवर्जिताः । अमत्सरा ये पुरुषा—क (म०)।
२. प्रेषणेष्टार्थरूपेण—क (म०); प्रेषणे वार्थसंयुक्ते—ख०।
३. अन्तःपुराणां रक्षार्थं योज्या वर्षवरा नृपैः—क (म०)।
४. निर्मुण्डाः—क०। ५. कारणे—ख०।
६. बालिकानां प्रयोजयेत्—क०।
७. धिकारेषु—क०; अन्तःपुराधिकारो हि राजभार्यानुवर्तनम्—ग०।
८. सर्ववृत्तान्तसंवाहाः पत्यागारे नियोजयेत्—क०; सद्योवृत्तान्तयोगज्ञं-ख. सर्ववृत्तान्तयोगज्ञं—ग०।

अन्तःपुर में स्थित रंगशाला में नियुक्त किया जाए[1]। (या रंगशाल की अधिकारिणी नाटकीया को नियुक्त किया जाए) ॥ ७८-७९ ॥

वर्षवर—

ये स्वल्पसत्वाः[1] कुशलाः क्लीबाश्च स्त्रीस्वभाविनः ॥ ७९ ॥
जात्या[2] न दोषिणश्चैव ते वै वर्षवराः[3] स्मृताः ।

जो पुरुष थोड़ी शक्तिवाले, कार्यकुशल, स्त्री के समान स्वभाव वाले नपुंसक होकर जन्म से ही विकलांग दोषादि से हीन हो उन्हें 'वर्षवर' समझना चाहिये ॥ ७९-८० ॥

निर्मुण्ड—

नपुंसका ये पुरुषाः स्त्रीस्वभावेन वर्जिताः ॥ ८० ॥
निर्मुण्डा नामतो ज्ञेयाः कामविज्ञानवर्जिताः ।
एतदष्टादशविधं प्रोक्तमन्तःपुरं मया ॥ ८१ ॥

जो पुरुष नपुंसक प्रकृति के हों, जिनका स्त्री के समान स्वभाव न हों तथा जिन्हें कामविज्ञान का कुछ भी ज्ञान न हो वे 'निर्मुण्ड'[2] कहलाते है।

इस प्रकार मैंने अन्तःपुर में विद्यमान अठारह प्रकार की प्रकृति का वर्णन किया ॥ ८०-८१ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि बाह्यं[4] पुरुषसञ्चरम्[5]।
राजा सेनापतिश्चैव पुरोधा मन्त्रिणस्तथा ॥ ८२ ॥
सचिवाः प्राड्विवाकाश्च [6]कुमाराधिकृतास्तथा ।

---

१. यहाँ पुनः कुछ अतिरिक्त कार्यों की अपेक्षा से 'नाटकीया' के लक्षण को तथा योजना को दिखलाया गया है।

२. 'निर्मुण्ड' या औपस्थायिक निर्मुण्ड एक पारिभाषिक पद है जिसका यौगिब अर्थ से अतिपूरवर्ती सम्बन्ध है।

---

१. विनीता स्वल्पसत्वा ये क्लीबा वै स्त्रीस्वभाविनः—क०; वनिता-स्वल्पसत्वा ये ये क्लीबा स्त्रीस्वभावकाः—ग०।

२. जात्या न दुष्टाः कार्ये च —ख०। ३. वर्षधराः—घ०।

४. बाह्यपुरुष—ग०।

५. पुरुषसम्भवम्-क; पुरुषाँस्तु बहिश्चरान्—क (म०)।

६. प्रयौगाधिकृतस्तथा—ख०।

एते चान्ये च बहवः सभास्तारा[1] नृपस्य तु ।
विभागमेषां[2] वक्ष्यामि लक्षणञ्च[3] पृथक् पृथक् ॥ ८३ ॥

अब मैं उन पुरुषों का वर्णन करूँगा जिनका संचार बाहर या प्रजाजन मैं होता है । इनमें हैं :—

राजा, सेनापति, पुरोहित, मन्त्री[1] प्राड्विवाक, कुमाराधिकृत,[2] तथा इसके अतिरिक्त राजा के अनेक समासद-गण । अब मैं इनके लक्षण तथा विभागों का पृथक् पृथक् वर्णन करूँगा ॥ ८२–८३ ॥

राजा :—

शीलवान्[4] बुद्धिसम्पन्नः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
दक्षः प्रगल्भः[5] स्मृतिमान् विक्रान्तो मतिमान्[6] शुचिः ॥ ८४ ॥
दीर्घदर्शी महोत्साहः कृतज्ञः प्रियवाक्[7] पटुः ।

---

१. 'अमात्य' शब्द इससे पूर्व भी आया है जिसका अर्थ भी मन्त्री होता है । यहाँ सचिव शब्द और भी इसी का समानार्थक प्रयुक्त किया है तथा दोनों को भिन्न-भिन्न दर्शाया गया है । कौटलीय अर्तशास्त्र तथा कामन्दकीयनीतिसार में भी इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रूप में यह दिखलाया गया है । इसमें कामन्दक के अनुसार 'अमात्य' को 'सचिव' के समान दिखलाया गया है । शुक्रनीति ने सचिव, अमात्य तथा मन्त्री को तीन अलग अलग उत्तरदायित्वपूर्ण दशा में दर्शाया है । (द्र० शु० नी० २।१४–१५ तया १०८) 'सचिव' और 'अमात्य' का कार्य वर्तमान प्रसिद्ध 'सचिव' (Secratary) के सदृश था यह इन उल्लेखों से स्पष्ट है ।

२. 'कुमाराधिकृत' से आशय वही है जो अर्थशास्त्र के कुमाराध्यक्ष पद से दर्शाया गया है ।

---

१. मान्या ज्ञेया—क० । २. विशेषमेषां—क० ।
३. लक्षणेन निबोधत—क; लक्षणानि निबोधत—ग० ।
४. बलवान्—क० ।
५. प्रगल्भो धृतिमान्—क०; ······मतिमान्—ग०; ······श्रुतिमान्—घ (ह०) ।
६. धृतिमाँञ्शुचिः—ख० ।
७. वाङ्मृदुः—क०; प्रियवागपि—ख (घ) ।

लोकपालव्रतधरः[1] कर्ममार्गविशारदः[2] ॥ ८५ ॥
उत्थितश्चाप्रमत्तश्च वृद्धसेव्यर्थशास्त्रवित्[3] ।
नानानयप्रचारज्ञः[4] उहापोहविचक्षणः ॥ ८६ ॥
परभावेङ्गितज्ञश्च शूरो[5] धीरः क्षमान्वितः ।
नानाशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो[6] नानाशिल्पप्रवर्तकः[7] ॥ ८७ ॥
नीतिशास्त्रे[8] च कुशलस्तथा चैवानुरागवान् ।
स्थानवृद्धिक्षयज्ञश्च पररन्ध्रविचक्षणः ।
कृतज्ञो[9]ऽव्यसनी चैव गुणैरेभिर्भवेन्नृपः[10] ॥ ८८ ॥

जो आचारसम्पन्न (शीलवान्), बुद्धिमान्, सत्यवादी, संयमी, चतुर, वाक्पटु, दूर तक सोचने वाला, उदात्तविचार तथा पवित्रता रखनेवाला, दीर्घदर्शी, शक्तिसम्पन्न, कृतज्ञ, शिष्ट, भाषण में दक्ष, लोकपालन का व्रत धारण करने वाला, विभिन्न कार्यों के विधान में चतुर, जागरुक (सावधान) रहने वाला, वृद्धों की सेवा करने वाला, अर्थशास्त्र (राजनय) में निपुण, विविध नीतियों को कार्यान्वित करने की त्वरित बुद्धिवाला, किसी तथ्य के भले बुरे पक्ष का विचार करने वाला, आकार मात्र से ही दूसरों की चेष्टा तथा भाव को पहिचानने वाला, क्रूर, धीर, क्षमावान, विविधशास्त्रों का तात्विक ज्ञान रखने वला, कला और शिल्प की विशेषताओं का पारखी तथा उन्हें प्रोत्साहित करनेवाला, नीति तथा शास्त्र में दक्ष, राजनीति में अनुराग रखनेवाला, स्थान वृद्धि तथा क्षय का सम्यक् ज्ञान रखने वाला, शत्रुओं की कमजोरी या दोषों को भलीप्रकार समझनेवाला, उपकारों को स्मरण करनेवाला और दुर्व्यसनों से रहित हो यह (इन गुणों से युक्त होने पर) 'राजा' होता है ॥ ८४-८८ ॥

---

१. चरः—ख० ।

२. शुरो धीरः क्षमान्वितः—ख; शूरो दाक्षिण्यसंयुतः—क (भ०) ।

३. वृद्धः स्मृत्यर्थशास्त्र—ख०; कलाज्ञश्चाप्रमत्तश्च वृद्धसेव्यर्थनीतिवित्—क (म०) ।

४. नानानाद्य—ख० ।

५. शूरो रक्षासमन्वितः—क; षाड्गुण्येनाप्यलङ्कृतः—ख० ।

६. ऊहापोहविचारी च—क० ।

७. प्रयोजकः—क; ख० ।

८. शास्त्रार्थकुशलस्तथा—क० । ९. धर्मज्ञोऽवसनी—क० ।

१०. रेतैर्भवेन्नृपः—क०, ख० ।

सेनापति—

शीलवान्[1] सत्यसम्पन्नः त्यक्तालस्यः प्रियम्वदः ।
पररन्ध्रविधिज्ञश्च यात्राकालविशेषवित् ॥ ८९ ॥
अर्थशास्त्रार्थतत्वज्ञो[2] ह्यनुरक्तः कुले[3] वृतः ।
देशवित् कालविच्चैव भवेत्[4] सेनापतिर्गुणैः ॥ ९० ॥

जो उत्तम चरित्रवाला, सत्यवादी, आलस्य हीन, प्रिय-भाषी, शत्रुओं के दोष तथा गतिविधियों का एवं उस पर चढ़ाई करने के लिये उपयुक्त समय का भी विज्ञाता हो, राजनय तथा अर्थ के प्रत्येक पहलू का ठीक से ज्ञान रखनेवाला हो, राजा में भक्ति रखनेवाला या अनुरागी हो, अपने कुल-परम्परागत व्रतों का सम्मान करने वाला हो, देश तथा काल का ज्ञान रखनेवाला हो तो इन गुणों से युक्त 'सेनापति' कहलाता है ॥ ८९–९० ॥

मन्त्री तथा पुरोहित—

कुलीना[5] बुद्धिसम्पन्ना श्रुतिनीति[5]विशारदाः ।
स्वदेश्याश्चानुरक्ताश्च[6] शुचयो धार्मिकास्तथा ।
पुरोधोमन्त्रिणश्चैव[7] [8]गुणैरेतैर्भवन्ति हि ॥ ९१ ॥

जो उच्च कुल में उत्पन्न हो, बुद्धिमान हो, राजनीति और वेद-विद्या के विशेषज्ञ हों, राजा के अपने देश में उत्पन्न हुए हों, राजा में अनुरक्त हों, पवित्र आचार तथा धर्म का पालन करनेवाले हों तो उन्हें इन गुणों से युक्त होने पर 'मन्त्री' या 'पुरोहित' समझना चाहिये[1] ॥ ९१ ॥

---

१. यहाँ 'क' पाठ के अनुसार अर्थ होगा—जो सभी राजपरिवार के प्रिय हों, शत्रुओं के द्वारा जो अकृष्ट या फोड़े न जा सकते हों, असावधानी से रहित तथा राजा के अपने देश में उत्पन्न हों, जिन्हें लोभ न हों, जो विनीत; अर्थ आदि के आकर्षण या ऋण आदि से विहीन (शुचयः) तथा धार्मिक हों, उन्हें 'अमात्य' समझना चाहिए ।

---

१. बुद्धिमान् नीति—क०, ग० । २. कुशलो—क० ।

३. कुलोद्भवः—क० ।

४. कर्त्तव्यः क्षितिपैः सदा—क०; भवेत् सेनापतिर्द्विजाः—(म०) ।

५. नानाशास्त्रविशारदाः—क० ।

६. स्निग्धाः परैरहार्याश्च न प्रमत्ताश्च देशजाः । अलुब्धाश्च विनीताश्च सुचयो धार्मिकास्तथा—क० ।

७. अमात्या मन्त्रिणश्चैव—ख० । ८. गुणैर्युक्ता—क० ।

अमात्य—

बुद्धिमान् नीतिसम्पन्नो विक्रान्तः स्यात् प्रियम्वदः ।
अर्थशास्त्रे च कुशलो ह्यनुरक्तः प्रजासु च ॥ ९२ ॥
यो धार्मिकस्तथामात्यः[1] कर्तव्यो भूमिपैः सदा ।

जो बुद्धिमान्, नीति सम्पन्न, शक्ति सम्पन्न या पराक्रमी, प्रियभाषी अर्थशास्त्र का विज्ञाता, प्रजा में अनुरक्त रहने वाला तथा धार्मिक पुरुष हों उसे राजा 'अमात्य' बनावे[1] ॥ ९२-९३ ॥

प्राड्विवाक—

व्यवहारार्थतत्वज्ञा[2] बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ॥ ९३ ॥
मध्यस्थाः[3] धार्मिका[4] धीराः कार्याकार्यविचक्षणाः[5] ।
क्षान्ता[6] दान्ता जितक्रोधा नोद्धताः[7] समदर्शिनः ॥ ९४ ॥
ईदृशाः प्राड्विवाकाश्च स्थाप्या धर्मासनेष्वथ[8] ।

जो विवाद या मुकदमे को समझने में दक्ष हों, बुद्धिमान् हों, विविध शास्त्रों के विज्ञाता हों, तटस्थ बुद्धि या मध्यम भाव रखने वाले हों, धार्मिक पुरुष हों, चतुर हो, धीर स्वभाव वाले और उचित अनुचित कार्य के विभेद के ज्ञाता हों, क्षमाशील तथा क्रोध को दबाने वाले हों, उद्धत प्रकृति के न हों तथा सभी पर समभाव रखनेवाले हों तो ऐसे पुरुष को 'प्राड्विवाक'[2] या न्यायाधीश बनाना चाहिये ॥ ९३-९४ ॥

---

१. 'अमात्य' तथा 'मन्त्री' के भरत मुनि ने भिन्न स्वरूप दिये हैं । इससे दोनों के विभेद स्पष्ट हैं ।

२. प्राड्विवाक पद से ही स्पष्ट है कि जो दोनों पक्षों से पूछताछ या परीक्षण के बाद विचार पूर्वक निर्णय देता हो ।

---

१. थामात्याः कर्त्तव्या—ग० ।

२. अस्मात् पूर्वं—दक्षाः प्रियम्वदाः भक्ताः शुचयः श्रमवर्जिताः ।
विनीता कुशला दान्ता प्रभवः सचिवाः स्मृताः ॥
इति क (म.) पुस्तकेऽधिकम् ।

३. वाग्मिनो—क (म०) ।

४. धार्मिका रक्ता —ख०; धार्मिकधियः—ग० ।

५. विवेकिनः—क० । ६. शान्ता—ख० । ७. सर्वत्र—ग० ।

८. धर्मासने द्विजाः—क०; धर्मपरैर्नृपैः—ग० ।

कुमाराधिकृत—

उत्थिताश्चाप्रमत्ताश्च त्यक्तालस्या जितश्रमाः[1] ॥ ९५ ॥

स्निग्धाः क्षान्ता विनीताश्च मध्यस्था निपुणास्तथा ।

नयज्ञा विनयज्ञाश्च ऊहापोहविचक्षणाः[2] ॥ ९९ ॥

सर्वशास्त्रार्थसम्पन्ना कामाद्यविकृतास्तथा ।

क्रमायाता हितासक्ताः कुमाराधिकृतस्तथा[3] ॥ ९७ ॥

जो उन्नतिशील, जागरुक, निरालस, परिश्रमी या कभी थकावट न माननेवाले, कोमल हृदय वाले (स्निग्ध) गम्भीर स्वभाव वाले, विनयशील, उचित अनुचित का विचार करने में निपुण, सभी शास्त्रों के तात्विक विज्ञाता, कामादि विकारों से अप्रभावित तथा कुलपरम्परा से राजा की हित भाव से सेवा करने वाले तथा राजा में भक्ति रखने वाले हों तो इन गुणों के कारण उन्हें 'कुमाराधिकृत'[1] बनाया जाए ॥ ९५-९७ ॥

सभासद्—

नानारूपैः समायुक्ता गुणैरेतैर्भवन्ति हि ।

बृहस्पतिमतादेषां[4] गुणाँश्चाप्यभिलक्षयन्[5] ।

विज्ञेयश्चापि[6] कर्मज्ञैः सभास्तारविकल्पनम् ॥ ९८ ॥

प्रजाजन के द्वारा आचार्य बृहस्पति के मत के अनुसार कर्मों को जानकर उनके गुणों के अनुसार राजा द्वारा सभा के सदस्यों या सभासदों[2] की नियुक्ति की जाती है ॥ ९८ ॥

---

१. 'कुमाराधिकृत' ऐसे अधिकारो थे धो राजपरिवार के बालक-बालिकाओं के रक्षण तथा शिक्षण, विनय आदि का कार्य देखते हों । इस सदर्भ में अर्थशास्त्र का सम्बद्ध विवरण भी द्रष्टव्य ।

२. सभास्तार या सभासद न्यायाधीश या राजा के निर्णय आदि में सहायता करने या समर्थन करने के लिये भी होते थे । इन्हें 'सभ्य' भी कहा गया है । यहाँ बृहस्पति के उल्लेख से भरतमुनि ने अपने कथन को अधिक आधार सम्पन्न बतलाते हुए अन्य तथ्यों को वहीं से विस्तार से देखने का संकेत किया है ।

---

१. जितक्लमा—ख० ।

२. विशारदाः—ग० । ३. कृताः स्मृताः—क (म०) ।

४. बृहस्पतिमतादेशाद् गुणानां प्रविभावकम्—ख०; बृहस्पतिमतादेतान्—ग० । ५. प्यभिकाङ्क्षयेत् क०; लक्षयेत्—ग० ।

६. श्चोपहार्यश्च सभ्यानांच्च विकल्पनम् क०; विज्ञेयं वाचि कर्मज्ञैः सभास्तारादिकत्थनम्—ख०, विज्ञेयश्चावधार्यश्च—ग० ।

इत्येतद्वो[1] मया प्रोक्तं सर्वप्रकृति[2]-लक्षणम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि लक्षणं भूमिकास्वपि ॥ ९९ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे प्रकृतिविचारो नाम
[3]चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार नाटक में स्थित विभिन्न पात्रों के मैंने—स्वरूप लक्षणादि बतलाये। अब मैं विभिन्न पुरुषों आदि के उपयुक्त भूमिकाओं का अगले अध्याय में वर्णन करूँगा ॥ ९९ ॥

भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र की प्रदीप हिन्दी व्याख्या का
प्रकृतिविचार नामक चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त।



१. इत्येष वो मया प्रोक्तः प्राड्विवाकविनिर्णयः—क० ।

२. ज्ञानविज्ञानवेदिनः । स्वदेशजा विनीताश्च शुचयो धार्मिकास्तथा । इति—क (म) पुस्तके टिप्पणमधिकं प्रक्षिप्तञ्च पद्यम् ।

३. खपुस्तके नात्राध्याय-समाप्तिः ।

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

भूमिका-विकल्पाध्याय

विभागं[1] भूमिकानान्तु सम्प्रवक्ष्यामि नाटके।
यादृशैरेव[2] कर्तव्याः पुरुषैर्भूमिकास्तथा ॥ १ ॥

नाटकों में जिन पुराणों के द्वारा जिन विभिन्न भूमिकाओं[1] को ग्रहण किया जाता है उन्हीं का अब मैं विभाग पूर्वक वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

भूमिका प्रदान करने का सामान्य-सिद्धान्त—

गतिवागङ्गचेष्टाभिः सत्वशीलैः[3] समासतः।
परीक्ष्य पात्रं तज्ज्ञस्तु[4] युञ्ज्याद् भूमिनिवेशने ॥ २ ॥

नाटक में भूमिका ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की गति, वाणी, आंगिक हलचल या चेष्टाओं के साथ उनकी सामर्थ्य और प्रकृति पर विचार करते हुए (नाट्यशास्त्र के) विद्वान् आचार्य अभिनेताओं को (उनके) अनुरूप भूमिका प्रदान करे ॥ २ ॥

तस्मादन्विष्य[5] हि गुणान् कार्यः पात्रसमाश्रयः।
न खेदजननं[6] बुद्धेराचार्यस्य भविष्यति ॥ ३ ॥

---

१. यद्यपि नाट्यविषय में 'आतोद्य' पर्यन्त निरूपण के बाद अन्य कथनीय तत्व नहीं रहते हैं तथापि नाट्यशास्त्र की प्रवृत्ति के कठिन एवं कष्टसाध्य रहने के कारण नाट्याचार्य को भूमिका प्रदान करते समय सरलता से सभी बातें ज्ञात रहने से नाट्यप्रयोग सफल होता है। इसी कारण इस अध्याय का एक प्रयोजन 'नाट्याचार्य' को भूमिका के लिये उपयुक्त पात्र चयन करने के लिये लक्षणादि निर्देश द्वारा शिक्षण भी है। क्योंकि भूमिका नाट्यप्रयोग का आधार स्थान (अवष्टम्भस्थान) मानी जाती है।

---

१. विन्यासं—क०, ख० भूभागं—ग०।

२. यादृशो यस्य कर्तव्यो विन्यासो भूमिकास्वथ—क०; यादृश्यो यस्य कर्तव्या विन्यासे भूमिकास्ततः—ख०।

३. सत्वशीलस्वभावतः—क, ···शील समासतः—ग०।

४. तज्ज्ञास्तु—ख० घ०, तज्ज्ञैस्तु योज्यां भूमिं निदेशयेत्—क (भ०)

६. जनना—क (भ०)।

अतएव अभिनेताओं का चुनाव उनके गुणों के परीक्षण के बाद करना चाहिये। निर्देशक आचार्य को ऐसा करने पर फिर किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी ॥ ३ ॥

आचार्यः[1] पात्रजाँश्चैव गुणान् ज्ञात्वा[2] स्वभावजान्[3] ।
ततः कुर्याद्यथायोगं[4] तेषां भूमिनिवेशनम् ॥ ४ ॥

और पात्रों की सहजक्षमता और अभिनय-कौशल का पता लगाकर तदनुसार ही निर्देशक आचार्य (विभाजन करते हुए उन्हें) उनको भूमिकाएँ प्रदान करें ॥ ४ ॥

देवताओं की भूमिका—

अङ्गप्रत्यङ्गसंयुक्तमहीनाङ्गं वयोऽन्वितम् ।
न स्थूलं न कृशञ्चैव न दीर्घं न च मन्थरम् ॥ ५ ॥
श्लिष्टाङ्गं द्युतिमन्तञ्च सुस्वरं प्रियदर्शनम् ।
एतैर्गुणैस्तु संयुक्तं देवभूमिषु योजयेत् ॥ ६ ॥

जिस पुरुष के शरीर के सभी अवयव व्यवस्थित (या अखण्ड) और अच्छी तरह संवारे हुए हों, जो पूर्णतः विकसित हो या जिसकी अवस्था विकसित हो, जो न मोटा और न अधिक पतला हो, न ऊँचा और न धीमा हो, जिसके सभी अवयव एक दूसरे से आश्लिष्ट एवं कान्तिवान हों, जिसकी आवाज मधुर हो और जिसका स्वरूप दिखने में सुन्दर हो तो ऐसे गुणों वाले पात्र को 'देवता' की भूमिका प्रदान की जाए ॥ ५-६ ॥

राक्षस आदि की भूमिका—

स्थूलं प्रांशुं बृहद्देहं मेघगम्भीरनिःस्वनम् ।
रौद्रस्वभावनेत्रञ्च स्वभावभ्रुकुटीमुखम् ॥ ७ ॥
रक्षो दानवदैत्यानां भूमिकासु[5] प्रयोजयेत् ।
पुरुषाणां प्रयोगस्तु [6]तथाङ्गक्रिययान्वितः ॥ ८ ॥

तथा जो पुरुष मोटे और लम्बे कद के हों, जिनकी ध्वनि मेघ के समान गहरी और कड़ी हो, जिनकी सहज दृष्टि भी भयानक दिखलाई पड़ती हो

१. अध्यायोयमजा (?) श्चैव—ख०; आधायोपगमज्ञाश्च—घ० ।
२. तज्ज्ञः—घ० । ३. स्वभावतः—क (म०) ।
४. यथान्यायं—क (र०)
५. भूमौ तं सम्प्रयोजयेत्—क (भ०) ।
६. अस्तब्धाङ्गक्रियान्वितः—क (भ०) ।

तथा मुँह पर भी जिनके सदा क्रोधी के समान भ्रुकुटी बढ़ी हुई रहती हो तो ऐसे पात्र को राक्षस, दानव या दैत्य की भूमिका दी जाए तथा पुरुषों की भूमिका में उनकी आंगिक चेष्टाएँ अतिशय संपुष्ट रखीं जाएँ ॥ ७–८ ॥

राजा तथा कुमार की भूमिका—

सुनेत्राः[1] सुभ्रुवः स्वङ्गाः सुललाटाः सुनासिकाः ।
स्वोष्ठाः सुगण्डाः सुमुखाः सुकण्ठाः[2] सुशिरोधराः[3] ॥ ९ ॥
स्वङ्गप्रत्यङ्गसंयुक्ता[4] दीर्घाश्च मदमन्थराः ।
न स्थूला न कृशाश्चैव स्वभावेन व्यवस्थिताः ॥ १० ॥
सुशीला ज्ञानवन्तश्च तथा च प्रियदर्शनाः ।
कुमारराजभूमौ[5] तु संयोज्या भरतोत्तमाः ॥ ११ ॥

पात्र जो उत्तम प्रकार के हो, जिसकी सुन्दर आँखे हों, अच्छी भौंहें हों, उन्नत ललाट हो तथा जिनकी नासिका, ओष्ठ, मुख, कपोल और ग्रीवा आदि प्रत्येक अवयव सुन्दर हों, जो ऊँचे पूरे कद के हों, जिनको देखकर प्रसन्नता होती हो और मद के कारण मन्थर गति जैसे लगते हों, जो न मोटे न पतले हों तथा अपने सहज व्यवहार में लीन हों, जो प्रकृति से ही सुशील और बुद्धिमान् हो तथा जिनका दर्शन अच्छा लगता हो तो ऐसे पुरुष को राजा या राजकुमार की भूमिका देनी चाहिये ॥ ९-१० ॥

सेनापति एवं अमात्य की भूमिका—

अङ्गैरविकलैर्वीरं[6] स्फुटं वचनकर्मणि ।
न दीर्घं नैव च स्थूलमूहापोहविचक्षणम् ॥ १२ ॥
अदीनञ्च[7] प्रगल्भञ्च प्रत्युत्पन्नविनिश्चयम्[8] ।
सेनापतेरमात्यानां भूमिकासु[9] प्रयोजयेत् ॥ १३ ॥

वे पात्र जिनके अवयव पूर्ण एवं पुष्ट हो, उत्तम एवं स्पष्ट वाणी से जिनकी वीरता प्रकट होती हो, जो न अधिक मोटे और न ऊँचे हों, जो किसी

१. सुनेत्रसुभ्रुवः—क० ।
२. सुदन्ताः—क (र); सुवर्णाः—क० (भ०) ।
३. सुसमाहिताः—क० (र) । ४. अङ्ग क (भ०) ।
५. भूमीषु प्रयोज्या—ख०; सुकुमाराश्च संयोज्या राजभूमौ नटोत्तमाः—क० (भ०) । ६. धीरं स्फुटं वसनकर्मणि—क० ।
७. अहीनञ्च—ख० । ८. प्रत्युन्नत—ख० ।
९. भूमौ तं सम्प्रयोजयेत्—क० (भ०) ।

जो तथ्य के उहापोह में चतुर हों, जो कभी दीन वचम न बोलते हों, प्रगल्भ वाणी के अभ्यस्त हों, अवसर आने पर तुरन्त निश्चय करने की जिनकी (बौद्धिक) क्षमता हो तो ऐसे पुरुष को 'सेनापतिं या अमात्य' की भूमिका दी जाए ॥ १२-१३ ॥

कंचुकी तथा श्रौत्रिय—

पिङ्गाक्षं दीर्घनासञ्च[1] ह्रस्वमुच्चमथापि वा ।
कञ्चुकी-श्रोत्रियादीनां भूमिकासु नियोजयेत् ॥ १४ ॥

जिन पुरुषों की आँखे भूरी और लम्बी नाक हो और जो या तो ऊँचे या ठिगने कद से हों तो उन्हें 'कञ्चुकी' या 'श्रौत्रिय' की सूमिका दी जानी चाहिये[1] ॥ १४ ॥

अन्य छोटी भूमिकाएँ—

एवमन्येष्वपि तथा नाट्यधर्मविभागतः[2] ।
दशावस्थानुरूपेण पात्रं युञ्ज्यात्[4] स्वभूमिषु ॥ १५ ॥

इसी प्रकार अन्य छोटी भूमिकाओं[2] में भी नाट्य-धर्मी रुढ़ियों के अनुसार विचार करते हुए भूमिका दी जानी चाहिये। और यह पात्रों की परिस्थितियाँ, अवस्था, (वय) आदि को तथा उनकी शारीरिक दशा आदि को देखकर विचारपूर्वक दी जानी चाहिये ॥ १६ ॥

मन्थरं वामनं कुब्जं विकृतं विकृताननम् ।
विष्टब्धनेत्रं[5] काणाक्षं स्थूलं चिपिटनासिकम् ॥ १६ ॥
दुर्वेषं[6] दुःस्वभावञ्च विकृताकारमेव[7] च ।

---

१. उक्त विवरण से कञ्चुकी तथा श्रोत्रिय पात्र की पूर्णरूप से आर्यजातिमूलकता दर्शित होती है।

२. जैसे तपस्वी या अन्य अमुख्य पात्रों की भूमिकाओं को तदुचित क्षमता के अनुसार स्वरूप तथा वेष के साथ रखी जाए।

---

१. घोणनासं—क; स्फाट—क (भ०)।
२. प्रवेशने—ख०; धर्मी प्रशस्यते— घ० ।
३. देशवेषानुरूपेण —क० । ४. योज्यं—क ।
५. निष्टब्ध—ख०, विसृष्टनेत्रकार्याणां स्थूलं विहनुनासिकम्—ग० ।
६. दुर्जनं— ख०; दुर्वेषि—ग०; दुर्जाति—क (भ०) ।
७. कृतचार—क० ।

दासभूमौ प्रयुञ्जीत बुधो दासाङ्कसंयुतम्[१] ॥ १७ ॥

जो पुरुष मन्थरगति से चलनेवाले हों, बौने हों, कुबड़े हों, शरीर के किसी अयवयव से हीन हों, जिनका चेहरा भद्दा हो, जिनकी आँखें धंसी हुई हों या काणी हो, जिसका शरीर मोटा हो, नासिका चिपटी हुई हो, जिसकी वेषभूषा भद्दी हो, जिसकी प्रकृति दुष्ट हो, जिनका शरीर ऊबड़-खाबड़ हो और जिनके शरीर पर दास के चिह्न[१] अंकित हो तो ऐसे पात्र को 'दास' की भूमिका दी जाए ॥ १६–१७ ॥

श्रान्त तथा स्वस्थ पुरुष—

प्रकृत्या[२] तु कृशं क्षामं[३] तत्र[४] श्रान्तेषु योजयेत् ।
तथा च पुरुषं स्थूलमरोगेषु[५] प्रयोजयेत् ॥ १८ ॥

जो पुरुष स्वभाव से ही दुबला पतला हो तो ऐसे पात्र को श्रान्त पुरुष की भूमिका दी जाए और जो पुरुष मोटा ताजा हो तो उसे स्वस्थ पुरुष की भूमिका दी जाए ॥ १८ ॥

भूमिका प्रदान करने की विशिष्ट अवस्थाएँ—

यदि वा नेदृशाः[६] सन्ति प्रकृत्या पुरुषा द्विजाः ।
आचार्यबुद्ध्या योज्यास्तु[७] भावचेष्टा-स्वभावतः ॥ १९ ॥

हे मुनियों, यदि इन कथित गुण और प्रकृति से युक्त, पुरुष (भूमिका के लिए) प्राप्त न हों तो फिर नाट्याचार्य विचार पूर्वक किन्हीं अन्य पुरुषों को उनके भाव, चेष्टा और स्वभाव को ध्यान में रखते हुए ऐसी भूमिकाएँ प्रदान करे[२] ॥ १९ ॥

---

१. 'दासों' के नाट्यशास्त्रीय विवरण से इनकी तत्कालीन स्थिति का भी आभास होता है। इससे यह स्पष्ट है कि दास अनार्यजाति के होते थे। कौटिल्य ने स्पष्टतः आर्यों के दास न होने का उल्लेख किया है—'आर्यस्य न दासभावः'। दासों के शरीर पर इस प्रकार का एक निशान भी लगाया जाता था जिससे उनका दासभाव प्रकट होता हो।

२. भाव तथा चेष्टाओं का विचार नाट्यचार्य के द्वारा हो। यहाँ चेष्टा शब्द के द्वारा प्रतिशीर्षक आदि के प्रयोग के द्वारा इष्टपात्र की भूमिका को नाट्यधर्मिता के साथ दर्शाने का भी निर्देश प्रकट होता है।

---

१. दासाङ्गसम्भवम्—क०; दासाङ्गसंयुतम्—, ग०।
२. प्रकृत्यातिकृश—क०। ३. क्षान्तं—क (भ०)।
४. तपःश्रान्तेषु—क०। ५. मुपरोधेषु—क०; मुपयोगेषु—ग०।
६. नेतराः—ख०। ७. योक्तव्या—ख०; ग०।

या यस्य सदृशी चेष्टा स्वभावः[1] कर्म वा तथा।
सा तथाचार्ययोगेन[2] नियम्या भाव-भाविनी[3] ॥ २० ॥

और इन पुरुषों के जो चेष्टाएँ, स्वभाव का कार्य सहज हों तो इन सभी को देखकर नाट्याचार्य तदनुरूप ही उचित भावों को प्रदर्शित करने वाली भूमिकाएँ उन्हें प्रदान करे ॥ २० ॥

एवमन्येष्वपि तथा नाट्यधर्मी प्रशस्यते।
देशवेषानुरूपेण पात्रं योज्यं हि भूमिषु ॥ २१ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में भी नाट्य-धर्मी विधान का अनुसरण करते हुए तथापात्रों को उनके देश, वेषभूषा आदि को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त भूमिका प्रदान की जाय ॥ २१ ॥

अनेक अवयवों वाले पात्र की भूमिका—

बहुबाहुबहुमुखास्तथा[4] च विकृताननाः।
पशुश्वापदवक्त्राश्च[5] खरोष्ट्राः[6] वारणास्तथा ॥ २२ ॥
एते चान्ये च बहवो नानारूपा भवन्ति ये।
आहार्ययुक्त्या[7] कर्तव्या मृत्काष्ठजतुचर्मभिः ॥ २३ ॥

यदि अनेक बाहुओं वाले, अनेकमुखवाले, विकृत मुखवाले (या भयंकर मुखवाले) या किन्हीं पशुओं के मुखवाले पात्रों की भूमिका देना हो या मञ्च पर सिंह, खर, ऊट या हाथी आदि पशुओं के रूप की योजना आवश्यक हो तो नाट्याचार्य के निर्देशानुसार मिट्टी, लकड़ी या लाख और चमड़े से बने हुए मुखौटों का प्रयोग करते हुए ऐसे पात्रों की भूमिकाएें (नाट्यधर्मी विधा से) प्रस्तुत करना चाहिये[1] ॥ २२-२३ ॥

---

१. ऐसे अवसर पर होने वाले आहार्याभिनय का विवरण ना० शा० अध्याय २३ पर पुनः द्रष्टव्य।

---

१. वृत्तमाधममध्यमा—क०, ख०।   २. चान्ययोगेन—ग०।
३. भावनी—क (च०)।
४. बहुबाह्वो ख०; बहुवाहा—घ०।   ५. पर्दासहाश्च—ग०।
६. खरोष्ट्राश्च गजाननाः—क०; खरोष्ट्राश्चाननास्तथा—ख०।
७. आचार्येण तु ते कार्या—क०; आहार्ययुक्त्या कार्यास्तै-ख०; आचार्यबुद्धा—ग०।

रंगमञ्च पर पात्र का प्रवेश—

स्वाभाविकेन रूपेण न[1] विशेद्रङ्गमण्डलम् ।
आत्मरूपमवच्छाद्य वर्णकैर्भूषणैरपि ॥ २४ ॥

कोई पात्र अपने स्वाभाविक स्वरूप में (बिना सज्जा के) रंगमञ्च पर प्रवेश न करे। किन्तु रंग और भूषणों के द्वारा अपना स्वरूप छिपाकर साज-सज्जा के बाद ही (मञ्च पर पात्र स्वरूप में) प्रवेश करे ॥ २४ ॥

यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तस्य[2] तादृशम् ।
वयोवेषानुरूपेण प्रयोज्यं नाट्यकर्मणि ॥ २५ ॥

और (किसी) नाट्यप्रयोग में जिसका जो स्वरूप या शारीरिक स्थिति जिस पात्र के अनुरूप हो उसे अपने वय और वेष के अनुरूप ही वैसी भूमिका दी जाए ॥ २५ ॥

यथा जन्तुः[3] स्वभावं हि परित्यज्यान्यदैहिकम् ।
परभावं[4] प्रकुरुते परदेहं[5] समाश्रितः ॥ २६ ॥
एवं बुधः परं भावं सोऽस्मीति मनसा स्मरन् ।
वेष[6]-वागङ्गलीलाभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत् ॥ २७ ॥

जैसे कोई प्राणी अपने स्वभाव का परित्याग कर दूसरे जन्म में दूसरे शरीर को प्राप्त कर उसी के अनुरूप भाव और चेष्टाओं का आचरण करता हैं उसी प्रकार चतुर अभिनेता भी जिसकी भी वह भूमिका ग्रहण करे तदनुरूप ही मैं वही हूँ यह समझकर वाणी, अंग (अवयव) गति, लीला तथा चेष्टाओं के द्वारा उसी के भावों को प्रस्तुत करे[1] ॥ २६–२७ ॥

प्रकृति के तीन प्रकार—

अनुरूपा विरूपा[7] च तथा [8]रूपानुसारिणी ।

---

१. यहाँ शास्त्रकार ने अभिनेता को अपनी भूमिका के अनुसार आचरण करने का उपदेश परकायप्रवेश की प्रसिद्ध भारतीय योगशास्त्रीय उपमा को देकर एक साधक की तरह उसकी स्थिति को दिखलाया है।

---

१. रूपेण प्रविशेद्–ख०, भावेन प्रविशेद्—ग० ।
२. तत्र—क० ।
३. जीवत्स्वभावं हि–क; जीवस्वभावस्य—ख० । ४. भावः—ग० ।
५. परभावं—क० । ६. येषां वागङ्ग—क; वागङ्गगतिलीलाभिः–ग०; वेषाङ्गगतिलीलाभिः—घ (न०) । ७. वृहद्रूपा—ख० ।
८. अविरूपानुरूपिणी—ख० ।

त्रिप्रकारा भवेन्नाट्ये[1] प्रकृतिस्तु[2] विभाविता ॥ २८ ॥

नाट्य प्रयोग में मञ्च पर प्रस्तुत की जाने वाली (मानवीय) प्रकृति तीन प्रकार की होती है। यथा—(१) अनुरूपा, (२) विरूपा तथा (३) रूपानुसारिणी ॥ २८ ॥

अनुरूपा-प्रकृति—

स्त्रियस्तु[3] स्त्रीगते भावे पुरुषाः पौरुषे तथा ।
यथावयस्तथा[4] तस्मिन्ननुरूपेति सा स्मृता ॥ २९ ॥

यदि स्त्री का स्त्री पात्र के द्वारा और पुरुष का पुरुष पात्र के द्वारा उनकी वय और अवस्था के उपयुक्त भूमिका में अभिनय प्रस्तुत किया जाता है तो उसे 'अनुरूपा-प्रकृति' कहा जाता है ॥ २९ ॥

विरूपा-प्रकृति—

यो बालः स्थाविरीं भूमिं वृद्धो वा बालभूमिकाम् ।
तद्भावैः कुरुते नाट्ये[5] सा विरूपेति कीर्तिता ॥ ३० ॥

यदि किसी बालक को वृद्ध की भूमिका दी जाए या वृद्ध पुरुष को बालक की भूमिका देने पर वे तदनुरूप ही अभिनय प्रस्तुत करते हों तो ऐसी भूमिका 'विरूपा-प्रकृति' कहलाती है ॥ ३० ॥

रूपानुसारिणी—

पुरुषः स्त्रीगतं[6] भावं यत्र[7] प्रकुरुते पुनः ।
रूपानुसारिणी[8] ज्ञेया प्रयोगे भरतोत्तमैः[9] ॥ ३१ ॥

यदि किसी पुरुष के द्वारा स्त्रीपात्र की भूमिका ग्रहण की जाय तो उसे उत्तम अभिनेतागण 'रूपानुसारिणी[1]' प्रकृति मानते हैं ॥ ३१ ॥

---

१. पुरुष के द्वारा स्त्रीपात्र की भूमिका ग्रहण करने की प्रथा एक तो आवश्यकता के अनुसार तथा दूसरे नाट्यमंडलियों में अभिनय हेतु स्त्रीपात्रों

---

१. भवेन्नृणां—ग०, त्रिप्रकारेह पात्राणां—क० ।
२. प्रकृतिश्च—क०; प्रकृतिस्तु विभूषिता—ख० ।
३. स्त्रियो हि स्त्रीगतो भावः पौरुषः पुरुषस्य च—क०,
स्त्रियास्तु स्त्रीकृतो भावः पौरुषः पुरुषस्य च—ख० ।
४. यथावयो यथावस्थमनुरूपे—च० । ५. नाट्यं—ग० ।
६. स्त्रीकृतं—क० । ७. रूपात् प्रकुरुते पुनः—क० ।
८. रूपानुरूपा सा—क०, ख० ।
९. प्रकृतिर्बुधैः—क०, प्रकृतिस्तथा—ख० ।

छन्दतः पौरुषीं कुर्याद्भूमिकां[1] स्त्रीप्रयोगतः ।
न परस्परचेष्टाभिः[2] कुर्यात्तां[3] वृद्धबालिशौ ॥ ३१ ॥

नाट्यप्रयोग में (आवश्यकता होने पर) स्त्रीपात्र स्वेच्छा से पुरुष-पात्र की भूमिका ग्रहण कर तदनुरूप अभिनय प्रस्तुत कर सकती है परन्तु वृद्ध और बालक (या युवा) परस्पर एक दूसरे की भूमिका को ग्रहण करते हुए अभिनय प्रस्तुत न [1]करें ॥ ३२ ॥

स्त्री और पुरुषों की विशेष उपयुक्ता—

उद्धता चैव पुरुषाः शौर्य–वीर्यसमन्विताः ।
पाठ्यप्रयोगे ते योज्या स्त्रियो गीते च सर्वदा ॥ ३३ ॥
प्रायः[4] प्रकृतिः स्त्रीणां गीते नृणां तु पाठ्यविधौ ।
स्त्रीणां स्वभावमधुराः कण्ठाः पुंसां तु बलवन्तः ॥ ३४ ॥

पुरुष शक्ति सम्पन्न और शौर्य-वीर्य आदि से युक्त होता है अतः उसे पाठ्य या संवाद दिये जाना चाहिये और स्त्रियों को (कोमल प्रकृति तथा मधुर कंठ के कारण) गीत दिये जाएँ। क्योंकि पुरुषों की प्रकृति पाठ्य या संवाद के उपयुक्त तथा स्त्रियों की गीत के अनुकूल होती है। इसका प्रमुख कारण है स्त्रियों की स्वभाव से ही पतली आवाज, मधुर कंठ और पुरुषों का अपने स्वाभाविक रूप में मोटी आवाज में रहना[2] ॥ ३३–३४ ॥

यद्यपि पुरुषो विद्यात् गीतविधानञ्च लक्षणोपेतम् ।
माधुर्यगुणविहीनं शोभां जनयेन्न तद्गीतम् ॥ ३५ ॥

की कमी या अनुलब्धि के कारण भी चली थी। यह कार्य भारत में आज भी चल रहा है। शेक्सपियर के नाटकों में भी पूर्व में कई युवा पुरुष स्त्रीभूमिका का निर्वाह करते थे।

१. यहाँ यह विवरण एक अनुभवपूर्ण निर्देश भी है क्योंकि किसी वृद्ध या बालक द्वारा एक दूसरे की भूमिका के ग्रहण करने पर नाट्यप्रयोग में सफलता की प्राप्ति न होने के साथ-साथ भद्दापन भी आ जाता है।

२. इस सन्दर्भ में ना० शा० अध्याय ३२।५०४ भी तथा ३२।५०५ भी द्रष्टव्य।

---

१. भूमिं स्त्री कुर्यादनुरूपतः—क०।

२. चेष्टासु कार्यो स्थविरबालिशौ—क०। ३. कुर्यात्तौ—ग०।

४. पाठ्यप्रयोगे पुरुषाः प्रयोक्तव्या हि संस्कृते—क०।

यद्यपि पुरुष लक्षणादि से युक्त गीत या शास्त्रीय विधि का ज्ञाता होता है पर उसके कण्ठ में माधुर्य गुण सहज न होने से उसके द्वारा गीत गाये जाने पर सौन्दर्य या रञ्जकता की उतनी सृष्टि नहीं हो पाती है ॥३५॥

यत्र स्त्रीणां पाठ्याद्गुणो नराणाञ्च कण्ठमाधुर्यम् ।
प्रकृतिविपर्ययजनितौ विज्ञेयौ तावलङ्कारौ ॥ ३६ ॥

और यदि स्त्री-पात्र संवाद या पाठ्य का व्यवस्थित उच्चारण करे और पुरुष-पात्र अपने कण्ठमाधुर्य के कारण उत्तम प्रकार से गीत का गायन भी प्रस्तुत करे तो अपने सहज प्रकृति के विपरीत उनके ये कार्य उनके विशिष्ट गुण हैं तथा ये उनके लिये अलङ्कारभूत हैं ॥ ३६ ॥

पुरुष की भूमिका में स्त्री-पात्र—

प्रायेण देवपार्थिव-सेनापति-मुख्यपुरुषभवनेषु ।
स्त्रीजनकृताः प्रयोगा भवन्ति पुरुषस्वभावेन ॥ ३७ ॥

प्रायः जब किन्हीं मन्दिरों, राज-प्रासादों तथा सेनापति (या श्रेष्ठिगण) आदि विशिष्ट पुरुषों के व्यक्तिगत रंगमञ्च पर कोई नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत किया जाता है तो उनमें अधिकांशतः कभी पुरुषपात्रों की भूमिका स्त्रियाँ सहज कर लेती हैं[1] ॥ ३७ ॥

स्त्रीपात्र की विशेषता—

भूयिष्ठं[1] सुकुमारञ्च नित्यं[2] स्त्रीभिरनुष्ठितम् ।
इत्यर्थं[3] मानुषीणान्तु[4] दिव्यमानुषयोस्तथा ॥ ३८ ॥

पर किसी सुकुमार प्रकृति के पुरुष पात्र की भूमिका स्त्रीपात्र के द्वारा ग्रहण की जा सकती है क्योंकि स्त्री देवता या कोमल प्रकृति के पात्रों की भूमिका स्त्रियों को ही देना उचित होता है ॥ ३८ ॥

---

१. मन्दिरों में भक्तिभाव से नृत्य प्रस्तुत करने वाली देवदासियाँ केवल नर्तकी न होकर अभिनेत्री भी होती थी तथा वे उचित अवसर पर प्रस्तुत नाट्य-प्रदर्शन में पुरुष पात्र की भूमिका भी ग्रहण कर लेती थी। इसी प्रकार राजाओं के अंतःपुर में विद्यजान व्यक्तिगत नाट्यमण्डप पर भी अभिनय प्रस्तुत करने में अनेक दासियाँ पुरुषपात्र की भूमिका ग्रहण करती थीं।

---

१. भूमिकं—क० । २. तु वृत्तं—ख० ।
३. अत्यर्थं—ग० । ४. प्रकृतीनान्तु—ख० ।

रम्भोर्वशीप्रभृतिषु[1] स्वर्गे नाट्यं प्रतिष्ठितम्[2] ।
तथैव मानुषे लोके राज्ञामन्तःपुरेष्विह[3] ॥ ३९ ॥

(यह इस कारण भी) क्योंकि स्वर्ग में नाट्य का प्रवर्तन रंभा, उर्वशी आदि अप्सराओं के द्वारा हुआ था[1] और भूलोक में भी यह कार्य इसी प्रकार अप्सराओं के द्वारा राजा नहुष के अन्तःपुर में सम्पन्न किया गया था ॥३९॥

भूमिकाओं हेतु स्त्रीपात्रों का प्रशिक्षण—

उपदेष्टव्यमाचार्यैः शास्त्रबुद्ध्याङ्गनासु[4] च ।
न[5] स्वयं भूमिकाभ्यासं[6] बुधः स्त्रीणां प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥

अतएव नाट्य-निर्देशक या आचार्य स्त्रीपात्रों को शास्त्रानुसार अभिनय का प्रशिक्षण प्रदान करें परन्तु अपने स्वयं के विचारानुसार स्त्रीपात्रों की उनकी अपनी भूमिका (स्त्रीपात्रों की सहज भावों की भूमिका) के विषय में उन्हें किसी प्रकार का शिक्षण न दें ॥ ४० ॥

स्त्रीषु योज्यः प्रयत्नेन प्रयोगः पुरुषाश्रयः ।
यस्मात् स्वभावोपगतो विलासः स्त्रीषु दृश्यते ॥ ४१ ॥
तस्मात् स्वभावमधुरमङ्गं सुलभ-सौष्ठवम् ।
पौरुषं[7] ललितं यत्तु सोऽलङ्कारः परो भवेत् ॥ ४२ ॥

(परन्तु) वे उन्हें पुरुषपात्रों के द्वारा की जाने वाली भूमिकाओं के लिये प्रशिक्षण अवश्य दें और जब वे किसी पुरुषपात्र की भूमिका ग्रहण करती है तो उनके स्वाभाविक विलास, सहज मधुर अंग और स्वाभाविक भाव-सौष्ठव के साथ जिस सुन्दरता से पुरुषभाव का प्रस्तुतीकरण किया जाता है वह एक अतिरिक्त विशेषता (बन जाती) है, क्योंकि स्त्रियों में सहज (या स्वाभाविकतया) विलास विद्यमान होता है ॥ ४१-४२ ॥

---

१. इसकी तुलना विक्र० व० अं ३ के विष्कम्भक में द्रष्टव्य ।

---

१. प्रभृतिभिः—ख० ।
२. प्रवर्तते—ख० । ३. पार्थिवानां गृहेषु च—ख०; पुरेष्वपि—ग० ।
४. प्रयत्नेनाङ्गनाजने—क०; ... बुद्ध्याङ्गनास्वपि—ख० ।
५. स्वयं तु—ग० ।
६. भूमिकाभ्यासो बुधैः कार्यस्तु नाटके—क० ।
७. ललितं सौष्ठवं—क० ।

भूमिकाओं के औचित्यपूर्ण निर्णय का फल—

तुल्यावस्थाक्रियोपेता[1] भूमिका[2] प्रकृतिस्तथा।
भृशमुद्योतयेन्नाट्यं स्वभावकरणाश्रयम्[3] ॥ ४३ ॥

जब अभिनेता की उसके अनुकूल या उपयुक्त भूमिका रहती है तथा अवस्था और कार्य भी जब एकरूपता या समानता से युक्त हो जाते हैं तथा सहज रूप में जब करणों का प्रयोग होता है तो इन सभी से 'नाट्य-प्रयोग' एकदम चमक उठता है ॥ ४३ ॥

सङ्गीतमपरिक्लेशं[4] नित्यं प्रमदाजनस्य गुण एव।
यन्मधुरकर्कशत्वं भजते[5] नाट्यं प्रयोगेण ॥ ४४ ॥

नृत्य और संगीत बिना क्लेश के स्त्री-जन में गुण के रूप सदा विद्यमान होता है और संगीत के माधुर्य और कठोरता की (भी) नाट्यप्रयोग में आंशिक रूप में अपेक्षा (आवश्यक) होती है ॥ ४४ ॥

प्रमदा नाट्यविलासैर्लतेव[6] कुसुमैर्विचित्रलावण्याः।
कामोपचारकुशला भवन्ति[7] काम्ये विशेषज्ञाः ॥ ४५ ॥

क्योंकि जब स्त्री अपनी कामोपचार की कुशलता को प्रणय-लीला के कार्य-प्रदर्शन एवं व्यवहार को अपने माधुर्यपूर्ण (या विलासपूर्ण) अभिनय के साथ रंगमञ्च पर प्रस्तुत करती है तो वह उस लता के समान दिखाई देती है जो अपने विविध लावण्यपूर्ण गुणों के कारण अति आकर्षण कर रही हो[1] ॥ ४५ ॥

---

१. प्राचीन काल में भारत में कुछ युवक या लड़के भी स्त्रीपात्र की भूमिका ले लेते थे। यह बात मालतीमाधव की प्रस्तावना से भी स्पष्ट है। लड़कों को स्त्रीपात्र की भूमिका में लगाने या देने की बात स्वीकारना उनके अभिनय कौशल पर निर्भर था। यह तथ्य शेक्सपिअर के मंचीयप्रयोग के अनुशीलन से और (द्रष्टव्य भी) Shakspears Dramatie Art Combrige 1946 स्पष्ट हो जाता है।

---

१. क्रियोपेतो—ख०; तुल्योऽपि स्थापकोपेतो—ग०।

२. भूमिकान्यास इष्यते—ग०। ३. करणाश्रयाः—ख०; करणाश्रयात्—घ०। ४. क्लेशो—क०: सङ्गीतकमपरिक्लेशो—ग०।

५. लभते नाट्यप्रयोगेण—क०, भवति नाट्य—ग०।

६. लभते यद् कुसुमैर्विचित्रलावण्यम्—क०।

७. भवति च काम्यविशेषेण—क०।

योग्यासु[1] च प्रयत्नः कर्तव्यः सततमप्रमादेन ।
न हि योग्यां[2] विना भवति भावरससौष्ठवं किञ्चित्[3] ॥ ४६ ॥

अतएव नाट्याचार्य को स्त्रीपात्र को नाट्याभिनय के योग्य बनाने में अधिक आयास करना चाहिये क्योंकि ऐसा न करने पर उनके द्वारा प्रयुक्त भाव, रस तथा सौष्ठव से नाट्यप्रयोग में किसी प्रकार थोड़ी सी भी सफलता संभव नहीं होगी[1] ॥ ४६ ॥

नाट्यप्रयोग के विभेद—

प्रयोगो द्विविधश्चायं[4] विज्ञेयो नाट्यमाश्रितः[5] ।
सुकुमारस्तथाविद्धो नानाभावरसाश्रयः ॥ ४७ ॥

नाट्यप्रयोग जिसमें अनेक रस तथा भाव होते हैं—दो प्रकार का होता है—(१) सुकुमार तथा (२) आविद्ध ॥ ४७ ॥

सुकुमारनाट्य प्रयोग का स्वरूप—

नाटकं सप्रकरणं भाणो वीथ्यङ्क एव च ।
ज्ञेयानि सुकुमाराणि मानुषैराश्रितानि तु ॥ ४८ ॥

नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी तथा अंक (नामक रूपकों के प्रकार) सुकुमार कहलाते हैं क्योंकि ये मनुष्य पात्र पर अपनी कथावस्तु को निर्भर करते है ॥ ४८ ॥

सुकुमाराः[6] प्रयोगा ये राज्ञामामोद-कारकाः ।

---

१. नाट्यप्रयोग में सफलता के लिये अतिशय पूर्वाभ्यास (Repeated rehearsal) ही आधार एवं सहायक होता है इस तथ्य का ग्रन्थकार ने यहाँ संकेत किया है ।

---

१. योग्यः स च प्रयत्नः—क० । २. योग्यया विना—क० ।

३. अस्मादनन्तरं क-पुस्तके-गीतं नृत्तं तथा वाद्यं प्रस्तारगमनक्रिया । शिष्यनिष्पादनञ्चैव षडाचार्ये गुणा स्मृताः ॥ ऊहापोहौ मतिश्चैव स्मृतिर्मेधा तथैव च । एतानि पञ्च यो वेत्ति स आचार्यः प्रकीर्तितः ॥ मेधास्मृतिर्गुणश्लाघा रागः सङ्घर्ष एव च । उत्साहश्च षडेवैताम् शिष्यस्यापि गुणान् विदुः ॥ एवं कार्यप्रयोगज्ञैर्नानाभूमिविकल्पनम् ॥ इत्यधिकम् ॥

४. द्विविधश्चैव—क०, ख० । ५. नाटकाश्रयः— क०, ख० ।

६. सुकुमारः प्रयोगोऽयं राज्ञामामोदकारकः—क० ।

शृङ्गाररसमासाद्य तान्नारीष्वेव[1] योजयेत् ।। ४९ ।।

सुकुमारप्रयोग राजाओं को प्रसन्न करने के लिये बनाये गये हैं अतः इस वर्ग में रखे गये रूपकों में शृङ्गाररस की योजना करते हुए इन्हें स्त्रीपात्रों के अभिनय द्वारा ही सम्पन्न करवाया जाए ॥ ४९ ॥

युद्धोद्धता[2] वेगकृताः संरम्भबहुलाश्च ये ।
न ते स्त्रीभिः[3] प्रयोक्तव्याः प्रयोज्याः[4] पुरुषैर्हि[5] ते ।। ५० ।।

पर जिन रूपकों में उद्धत युद्ध, गति के वेगपूर्ण कार्य और अतिशय उत्तेजक या आवेग पूर्ण चेष्टाएँ हों तो ऐसे अभिनय स्त्रीपात्रों से न करवाये जाएँ किन्तु ऐसे अभिनय पुरुष पात्र ही सम्पन्न करें ॥ ५० ॥

अनुद्धटमसम्भ्रान्तमनाविद्धाङ्गचेष्टितम् ।
लय[6]-ताल-कलोपेतं प्रमाणनियताक्षरम् ।। ५१ ।।
सुविभक्त-पदालापमनिष्ठुरम-काहलम्[7] ।
यदीदृशं[8] भवेन्नाट्यं नारीणान्तु[9] प्रयोजयेत् ।। ५२ ।।

और यदि किसी रूपक में लोक सामान्य वृत्त या कथा से पूर्ण घटनाएँ हों, जिसमें उत्तेजक या आवेगपूर्ण आंगिक अभिनय की योजना न हो, जो लय, ताल तथा कला के प्रयोग से युक्त हो, जिसे उचित अक्षरों के उच्चारण द्वारा व्यवस्थित किया गया हो, जिसमें पदों आदि का विभाजन औचित्यपूर्ण या स्पष्ट हो और जिसमें अभीष्ट रस की बहुलता परिलक्षित होती हो तो ऐसा नाट्यप्रयोग स्त्रीपात्रों के द्वारा अभिनीत करवाकर प्रस्तुत किया जाना चाहिये[1] ॥ ५१-५२ ॥

---

१. इस विवरण से यह स्पष्ट है कि जब स्त्रीपात्रों के द्वारा कोई नाट्य-प्रयोग (नाटकादि) प्रस्तुत होते हों तो वे नृत्यसंगीत की प्रचुरता लिये हुए अवश्य रहते होंगे जिन्हें हम नृत्यरूपक (Ballet type) के रूप में ले सकते हैं। प्रियप्रर्शिका के तृतीय अंक में स्त्रीपात्रों के द्वारा प्रस्तुत ऐसा ही एक नाट्य प्रयोग दिखाने की घटना मिलती है।

---

१. स्त्रीणां तत्तु प्रयोलयेत्—क, स्त्रीणां भाणं प्रयोजयेत्—ख० ।
२. युद्धोद्धताविद्धकृताासंरंभारभटाश्च ये—क० ।
३. स्त्रीणां प्रकर्त्तव्याः—क० ४. योक्तव्याः पुरुषेषु ते—क० ।
५. स्तु ते—ख० । ६. लयतालकलापातप्रमाणनियताक्षरम्—क० ।
७. मनिष्ट रस—ख०; मभीष्टसबाहुलम्—घ० ।
८. ईदृशं यद्—क० । ९. नारीभिश्च—क० ।

आविद्ध-नाट्यप्रयोग का स्वरूप—

यत्वाविद्धाङ्गहारान्तं[1] च्छेद्यभेद्याहवात्मकम्[2] ।
मायेन्द्रजालबहुलं पुस्त-नेपथ्यसंयुतम्[3] ॥ ५३ ॥
[4]पुरुषैर्बहुभिर्युक्तमल्पस्त्रीकमथोद्धतम्[5] ।
सात्वत्यारभटीयुक्तं नाट्यमाविद्धसंज्ञितम् ॥ ५४ ॥

जिस रूपक (या नाट्य रचना) में आविद्ध स्वरूप वाले या उद्धत प्रकार के अंगहारों के साथ छेदन, भेदन तथा युद्ध के दृश्य प्रस्तुत किये जाते हों, जिसमें माया और इन्द्रजाल के अतिरिक्त पुस्त कर्म से (पलस्तर) होने वाली वेषभूषा और साजसज्जा आदि कार्यों का अधिक प्रयोग होता हो, जिसमें पुरुष-पात्रों की अधिकता रहे और थोड़े स्त्रीपात्र हों, जिसमें औद्धत्यपूर्ण कार्यों की प्रचुरता हो, जिसकी रचना सात्वती और आरभटी वृत्तियों से अधिकांश में की जाए तो उसे 'आविद्ध' नाट्य-प्रयोग समझना चाहिये ॥ ५३–५४ ॥

डिमः समवकारश्च व्यायोगेहामृगौ तथा ।
एतान्याविद्धसंज्ञानि[6] विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः ॥ ५५ ॥

डिम, समवकार, व्यायोग और ईहामृग नामक जो रूपक के प्रकार हैं उन्हें भी नाट्यवेत्ताजन 'आविद्ध' नाट्यप्रयोग समझें ॥ ५५ ॥

एषां प्रयोगः कर्त्तव्यः[7] देवदानवराक्षसैः ।
एवं प्रयोगैः[8] कर्त्तव्यंभूमिकानां विकल्पनम् ।
अथोच्यते[9] यथा नाट्ये आहार्यगुणसम्भवः ॥ ५६ ॥

और आविद्ध नाट्यप्रयोग, देव, दानव और राक्षस (जैसे उद्धत प्रकृति के) पात्रों के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इसी प्रकार नाटक में होने वाले पात्रों की भूमिका एवं उनके प्रयोगों को सम्पादित करना चाहिए। अब मैं आहार्य-अभिनय (नेपथ्य रचना तथा आचार) के द्वारा होने वाले नाट्य-प्रयोग का वर्णन करता हूँ ॥ ५६ ॥

---

१. यथाविद्धाङ्गहारं तु—क०, न चाविधाङ्गभावस्तु—ग० ।
२. हवात्मिकम्—ग० । ३. नेपथ्यदीपितम्—क०, दीपितम्—ग० ।
४. पुरुषप्रायसञ्चार—क० । ५. मनोद्धतम्—ग० ।
६. एतासां विद्धसंज्ञानि—ग० । ७. कर्त्तव्यो—ग० ।
८. कार्यं प्रयोगज्ञैर्नानाभूमिविकल्पनम्—क०, प्रयोगः कर्तव्यो—ग० ।
९. अत्रोच्यते यथा नाट्यमाहार्यगुणसम्भवम्—ख० ।

राजा का व्यक्तित्व—

कथं राजगुणाः कार्याः नटैरल्पपरिच्छदैः।
अत्रोच्यते यथा[1] लोके नाट्यधर्मी-प्रवर्तिता ॥ ५७ ॥
तदेवं सर्वसम्पन्नं[2] नाट्यमेतन्मया कृतम्।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नट के पास (तो वेशभूषा तथा वस्त्रभूषण आदि) सीमित सामग्री होती है फिर वह राजा (जिसके पास अपार सम्पत्ति आदि होती है) का अभिनय जैसे प्रस्तुत कर सकेगा ? इस विषय में यही कहा जा सकता है कि यह कार्य नाट्यधर्मी-विधान कें अनुसार एवं लोकवृत्त के अनुसार सम्पन्न किया जाए क्योंकि नाट्यधर्मी-विधान के द्वारा इस प्रकार सर्वसम्पन्न नाट्यप्रयोग करने का विधान मेरे द्वारा पूर्व में भी अनेक बार कहा जा चुका है ॥ ५७-५८ ॥

वर्णकैश्छादितस्तत्र भूषणैश्चाप्यलङ्कृतः ॥ ५८ ॥
गाम्भीर्यौदार्य[3]-सम्पन्नो राजचिह्नो[4] भवेन्नटः।
सप्तद्वीपाश्रयश्चैव ह्येवमेको[5] भवेन्नटः[6] ॥ ५९ ॥

ऐसे रूपकों में (जिसमें राजा एक पात्र हो) अभिनेता को स्वयं को (अपने अंग पर) रङ्गों के पलस्तर से पोतकर तथा अंलकारों से भूषित कर, गाम्भीर्य और औदार्य गुणों से युक्त करते हुए रखा जाता है। इस प्रकार नट राजचिह्नों के धारण करने से (अभिनयकाल में) ऐसा राजा हो जाता है जिसका एक छत्र-शासन सातों द्वीपों पर होता हो ॥ ५८-५९ ॥

वर्णकैश्छादितेनेह[7] कार्यन्त्वङ्गविचेष्टितम्[8]।
आचार्यबुद्धया शास्त्रस्तु[9] [10]सौष्ठयाङ्गपुरस्कृतः ॥ ६० ॥
राजवद् भरतस्तस्माद् राजापि नटवद् भवेत्।

वह अभिनेता रंगों से अपने अवयवों को आच्छादित करते हुए जब मञ्च पर (अपनी) ऐसी चेष्टाओं को राजा के समान प्रस्तुत करता है तथा यह

---

१. यदा लोके नाट्यधर्माः प्रवर्तिताः—ख०, नाट्यधर्मिप्रवृत्तिता—ग०।
२. सर्वं सम्पन्नं—ख (मु०)।
३. व्याहार्य सम्पन्नो—ग०। ४. राजवत्तु—ख०।
५. मथवैको भवेन्नरः—ग०। ६. नटो भवेत्—ख०।
७. छादितैर्नेह—ख० वर्णकेर्याति तेनेह—ग०।
८. कार्यन्त्वर्थविचेष्टितम्—ख०। ९. शान्तस्तु—ख०।
१०. कर्तव्यं सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम्—ग०।

अभिनयादि कार्य अपने सौष्ठवपूर्ण हलचलों से नाट्याचार्य के द्वारा शिक्षित विधि से सम्पन्न करता है तो वह राजा के समान ही हो जाता है। इसी प्रकार राजा भी नट के समान शासनकाल में वेष-भूषा से भूषित होकर शासन करता रहता है ॥ ६०–६१ ॥

यथा नटस्तथा राजा यथा[1] राजा तथा नटः।
उभाभ्यां भावनिष्पतिः समलीलाङ्गसौष्ठवा ॥ ६१ ॥
यथाचार्योपदेशेन रङ्गशोभी भवेन्नटः।
एवं स्वभावतो राजा नित्यमेवोज्ज्वलो भवेत् ॥ ६२ ॥

अत एव जैसे अभिनेता वैसा ही राजा भी है और जैसा राजा होता है वैसा ही अभिनेता भी रहता है[1]। ये दोनों ही अपने भावों को समान रूप में अपनी शारीरिक हलचल से प्रस्तुत करते हैं और नाट्याचार्य या सूत्रधार की शिक्षा के अनुसार अभिनय प्रस्तुत करते हुए अभिनेता रंगमञ्च को जगमग कर देता है। जब कि राजा अपने सहज स्वरूप में सदा उज्ज्वल या अलंकृत रूप में रहा करता है ॥ ६१–६२ ॥

दिव्यानां[2] यः परीवारः पार्थिवानां स[3] एव हि।
नाटके[4] सम्प्रयोक्तव्यो वेषभाषावयोऽन्वितः[5] ॥ ६३ ॥

राजा के जो अनुगत पुरुष या परिवार के सदस्य होते हैं वे भी दिव्य-पात्र[2] सदृश ही अलंकृत (या दीक्षासम्पन्न) रखे जाते हैं। रूपक में इन पात्रों को भी उचित वेष, भाषा तथा अवस्था से युक्त रखते हुए प्रस्तुत करना चाहिये ॥ ६३ ॥

---

१. यहाँ इस तथ्य कथन का आशय यही है कि राजा या नट दोनों ही मानव है जो अपनी स्थिति के अनुसार उपयुक्त वेषादि से युक्त रहते हैं तो ऐसे सभी रूप धारण करने में सक्षम हैं जो शासन के कार्य या नाटकीय कथावस्तु के अनुरूप हो।

२. इसका कारण यह है कि राजा में शास्त्रकारों ने देवांश माना है और मनु ने—'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः'। कह कर उसे असाधारण शक्तिसम्पन्न बतलाया है।

---

१. तथा च नट उच्यते—ख०। २. द्रव्याणां—ग०।
३. भवेदिह—ख०। ४. नायकः—ख (मु०)।
५. भाषाक्रियान्वितः—ख०; देशभाषावयोऽन्वितः—ग०, देशभाषाक्रियान्वितः—घ० (व०)।

यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तस्य तादृशम् ।
वयोवेषविधानेन कर्त्तव्यं प्रयुयुक्षुणा[1] ॥ ६४ ॥

अतएव नाट्यप्रयोक्ता को, पात्र की प्रकृति, स्वरूप तथा अवस्था के अनुसार अभिनेता को उचित रूप से प्रस्तुत करना चाहिये और उसके उपयुक्त अवस्था तथा वेष को (उचित) नेपथ्य-रचना के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिये ॥ ६४ ॥

एवं राजोपचारे तु कार्यः पुरुषसंश्रयः ।
अत[2] ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रयोक्तॄणां तु तद्गुणान्[3] ॥ ६५ ॥

इसी प्रकार राजा के उपयुक्त कार्य एवं व्यवहार के अनुकूल पात्रों का चुनाव करना चाहिये । अब मैं नाट्यनिर्देशक या नाट्याचार्य आदि का लक्षण बतलाता हूँ, जिन्हें नाट्य प्रयोग प्रस्तुत करना होता है[1] ॥ ६५ ॥

सूत्रधार या नाट्यनिर्देशक—

तत्र सूत्रधारगुणान् वक्ष्यामः । अस्यादित[4] एव तावल्लक्षणज्ञता अभिमतवाक्[5] संस्कारस्तालविधानज्ञता[6] स्वरवादित्रतत्ववेदनञ्च ।

इस संदर्भ में सूत्रधार या नाटयनिर्देशक का लक्षण तथा गुणों का वर्णन मैं करता हूँ । जिसमें सर्व प्रथम उसे नाटय से सम्बद्ध प्रत्येक उपकरण का गुणदोष समन्वित ज्ञान रखना चाहिये, उसको संभाषण करने का पर्याप्त संस्कार, ताल विधान का गहरा परिचय और स्वर तथा वाद्य-वादन के सिद्धान्तों का तात्विक परिचय भी अभीष्ट (होता) है ।

---

१. यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि भरत मुनि ने नाट्याचार्य या सूत्रधार का उत्तरदायित्व अतिशय होने से उसके उपयुक्त अनेक योग्यताएँ एवं गुणों को यहाँ दिखलाया है । क्योंकि समग्र नाट्यप्रयोग की सफलता का यही मुख्य आधार होता है । इसमें सभी विधाओं की अभिज्ञता आदि का होना तो आवश्यक है ही साथ ही अपने अनुभव तथा अन्य कार्य की कुशलता भी रहनी चाहिये ।

---

१. पुनः—ख (मु०) ।
२. अतः परं—ख० । ३. सद्गुणान्—ख० ।
४. पुण्याभिधानमेघ तल्लक्षणं—ग० ।
५. अहीनो वाक्संस्कार—ख० ।
६. गीतकालविधानज्ञता स्वरवादित्रतत्ववादः—ख० ।

चतुरातोद्यकुशलः[1] नानाकर्मसु[2] शिक्षितः[3] ।
नानापाषण्डकार्यज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित्[4] ॥ ६६ ॥
वेशोपचारनिपुणः कामशास्त्रविचक्षणः[5] ।
नानागतिप्रचारज्ञ[6] रसभावविशारदः ॥ ६७ ॥
नाट्यप्रयोगकुशलो नानाशिल्पसमन्वितः ।
[7]पदच्छन्दोविधानज्ञः सर्वशास्त्रविक्षणः ॥ ६८ ॥
ग्रहनक्षत्रतत्त्वज्ञो देहव्यापारपण्डितः[8] ।
पृथिवीद्वीपवर्षाणां पर्वतानां जनस्य च ॥ ६९ ॥
प्रमाणाचरितज्ञश्च[9] राजवंशप्रसूतिवित्[10] ।
श्रोता शास्त्रार्थकार्याणां[11] श्रुत्वा चैवावधारकः ॥ ७० ॥
अवधार्य प्रयोक्ता[12] च शक्तश्चैवोपदेशने[13] ।
एवं गुणस्तथाचार्यः सूत्रधारो विधीयते ॥ ७१ ॥

जो चारों प्रकार के वाद्य-वादन में निपुण होता है, जिसे अनेक व्यावहारिक कार्यों का अनुभव हो, जिसे अनेक धार्मिक परम्परा या धर्मों का व्यवहार विदित हो, जो नीति और अर्थशास्त्र की जानकारी रखता हो, वेशोपचार का अनुभव रखता हो, जिसे कामशास्त्र का व्यवस्थित ज्ञान हो, पात्रों की अनेक प्रकार की गतियों एवं उनके रङ्गमञ्च पर चलने के परम्परागत आचार का जिसे अच्छा परिचय हो, जिसे रस तथा भावों का पूर्णतः ज्ञान हो, नाट्यप्रयोग को प्रस्तुत करने में जो दक्ष हो, सभी शिल्प और कलाओं का अच्छा परिचय रखता हो, जिसे पदों और छन्दों का विभाग विदित हो, जो अनेक शास्त्रों का जानकार हो, जिसे ग्रह, नक्षत्र आदि विज्ञानों की तात्विक

१. चतुरो नाट्यकुशलः—ख० ।
२. शास्त्ररीतिप्रतिष्ठितः—ख०, शास्त्रकर्मप्रतिष्ठितः—ख (मु०) ।
३. निष्ठितः—घ० । ४. शास्त्रार्थवित्तथा—ख० ।
५. काव्यशास्त्र—ख० । ६. नानागीत—ग० ।
७. छन्दोविधानतत्त्वज्ञः—ख०; पादच्छन्दोविधानज्ञः—ग० ।
८. देशव्यवहारतत्त्ववित्—ख० ।
९. प्रमाणाचारतज्ज्ञश्च—ख०; प्रमाणचरितज्ञश्च—ग० ।
१०. प्रसूतिवान्—ग० ।
११. कारााणां—ग०; कर्माणां—ख० (क०) ।
१२. प्रवक्ता—ग० । १३. शास्त्र (?) श्चैवो—ख०; श्चैवोपदर्शने—ग०; श्रेयोक्तावोपदेशने—ख० (मु०) ।

जानकारी हो, जिसे शारीर-शास्त्र तथा शारीरिक-गतियों का व्यवस्थित ज्ञान हो, जो पृथ्वी पर विद्यमान द्वीप, वर्ष, पर्वत वहाँ के निवासीगण और उनके उचित आचार, वेषभूषा आदि का प्रमाणिक ज्ञान रखता हो, जिसे अनेक राजाओं के वंशों का इतिहास विदित हो, जिसने शास्त्रों में बतलाये गये अनेक आचार और कार्यों का व्यवस्थित रूप में श्रवण किया हो और उन तत्वों को ठीक से हृदयंगम किया हो, उन्हें व्यवहार में लाने की चेष्टा की हो और इन्हीं तत्वों का जो दूसरों को शिक्षण या उपदेश देने में भी समर्थ हो तो इन गुणों से युक्त पुरुष नाटयाचार्य या 'सूत्रधार'[1] (नाटय-निर्देशक) कहलाता है ॥ ६६-७१ ॥

सूत्रधार में विद्यमान प्राकृतिक गुण—

स्वाभाविकान् गुणाँश्चैव गदतो मे निबोधत ।
स्मृतिमान् मतिमान् धीर उदारः स्थितवाक्[1] कविः ॥ ७२ ॥
अरोगो मधुरः क्षान्तो दान्तश्चैव प्रियम्वदः ।
मन्युदोषविनिर्मुक्तः सत्यवाग्दक्षिणः[3] शुचिः ॥ ७३ ॥
अलुब्धः प्रतिपत्तौ[4] च स्वभाविकगुणास्त्वमी ।

अब मैं सूत्रधार में विद्यमान रहने वाले सहज गुणों को बतलाता हूँ। इसे स्मृति और बुद्धि से पूर्ण होना चाहिये तथा यह धीर स्वभाव, उदार प्रकृति तथा अपने वचन पर स्थिर रहने वाला, कविता (करने) में रुचि रखने वाला, स्वस्थ, मृदु संभाषण और व्यवहार करने वाला, सहनशील, नियन्त्रित, क्रोधावेश से दूर, सत्य-वक्ता, चतुर, ईमानदार, (शुचि) तथा किसी वस्तु को पाने का लोभ न रखनेवाला होता है ॥ ७२-७४ ॥

पारिपार्श्विक—

सूत्रधारगुणैश्चैव किञ्चिदूनैः समन्वितः ॥ ७४ ॥
मध्यमप्रकृतिस्तज्ज्ञैर्विज्ञेयः पारिपार्श्विकः ।

जो पुरुष मध्यम-प्रकृति का हो तथा जिसमें सूत्रधार के कथित गुणो से कुछ कमी हो तो उसे सूत्रधार का सहायक 'पारिपार्श्विक' समझना चाहिये ॥

---

१. सूत्रधार—पर विवेचन 'प्रस्तावना' में भी द्रष्टव्य ।

---

१. स्मितवाक् शुचिः—ख० । २. सर्वदोष—ख० ।
३. दक्षिणस्तथा—ख० । ४. अलुब्ध प्रतिपत्तौ—ग०; प्रतिमन्ता च—ख०; प्रतिवक्ता—घ (न०) ।

अभिनेता—

उज्ज्वलो रूपवाँश्चैव दृष्टोपकरणक्रियः ॥ ७५ ॥
मेधावी च विधानज्ञः स्वकर्मकुशलो नटः[1] ।

जो पुरुष अच्छा शरीर और सुन्दर रूप लिये हो, जिसे नाट्य-क्रियाओं का व्यावहारिक ज्ञान हो, जो ग्रहण शक्ति या मेधा से पूर्ण हो, जिसे नाट्य-विधानों का अच्छा परिचय हो तथा जो अपने कार्यों का कुशलता से निर्वाह कर लेता हो तो उसे अभिनेता (या नट) बनाना चाहिये ॥ ७५–७६ ॥

विट—

सूत्रधारगुणैर्युक्तः सर्व एव प्रयोगे[2] यः ।
वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ॥ ७६ ॥
शास्त्रार्थतत्ववेदी च निपुणो वैशिकेषु च ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥ ७७ ॥

जो सभी नाट्यप्रयोगों का सूत्रधार के समान ज्ञान रखता हो, जिसमें सूत्रधार के सभी गुण न्यूनाधिक रूप में विद्यमान हो, जो वेशोपचार में निपुण हो, मधुरभाषी, चतुर, एवं कविता करने में दक्ष हो, शास्त्रों का तात्विक ज्ञान रखता हो और वैशिकशास्त्र (तथा कामशास्त्र आदि) का पुष्ट ज्ञान रखता हो, किसी भी पक्ष का समर्थन या खण्डन करने में निपुण हो तथा वाक्पटु और चतुर हो तो उसे 'विट' समझना चाहिये ॥ ७६–७७ ॥

शकार—

उज्ज्वलवस्त्राभरणः क्रुद्ध्यत्यनिमित्ततः[3] प्रसीदति[4] च ।
अधमो मागधीभाषी[5] भवति शकारो बहुविकारः ॥ ७८ ॥

जो उज्ज्वल आभूषण एवं वस्त्रों को धारण करता हो, बिना किसी कारण के क्रुद्ध और प्रसन्न हो जाता हो, अधम प्रकृति और मागधी भाषा में संभाषण करता हो और जिसके व्यवहार और प्रकृति में सदा निर्मलता न रहती हो तो उसे 'शकार' समझना चाहिये[1] ॥ ७८ ॥

---

१. यहाँ शकार पात्र की चेष्टाओं तथा कार्यों का ही मुनि ने वर्णन किया है जिससे स्पष्ट है कि 'शकार' का मूलस्वरूप उस समय सर्वज्ञात तथा प्रचलित

१, दृढ़—ख०; नरः—ग० । २. प्रयोगिणः—ख; ग० ।
३. कुप्यत्यनिमित्ततः—ख०, क्रुद्ध्यत्यवमानितः—घ (न०) ।
४. प्रसादी च—थ० (न०) । ५. मागधभाषी—ख० ।

विदूषक—

वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो[1] विकृताननः ।
खलतिः[2] पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥ ७९ ॥

जो पुरुष ठिंगने कद का, लम्बे दांत वाला, कूबड़ा, इधर उधर बातों का लगानेवाला, भद्दी सूरतवाला, गंजा और भूरी या पीली आँखों वाला हो उसे विदूषक रखा जाए ॥ ७९ ॥

चेट—

कलहप्रियो[3] बहुकथो विरूपो बन्धसेवकः[4] ।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटो ह्येवंविधः[5] स्मृतः[6] ॥ ८० ॥

जो पुरुष कलह प्रिय हो, बदुत बकवास करता हो, भद्दी सूरत वाला हो, किसी शर्त पर सेवा करता हो तथा मान्य और अमान्य पुरुषों का ज्ञान रखता हो उसे 'चेट' बनाया जाता है[1] ॥ ८० ॥

गणिका—

कलाप्रयोगे चाचार्यशुश्रूषाभिरता[7] सदा ।
लीलया हावभावाभ्यां सत्वेन विनयेन च ॥ ८१ ॥

भी रहा था। बाद में उसके वंशादि का भी लक्षण में समाविष्ट हुआ। यह नीच प्रकृति एवं जाति का राजश्यालक होता था। शकार की राजसम्बन्ध से ही थोड़ी सामाजिक पूछ थी परन्तु प्रजा इसका मन से सम्मान नहीं करती थी। शकार की भाषा मागधी प्राकृत होती थी जो 'श' कार के अधिक प्रयोग के कारण 'शकारी' भी कही जाती थी किन्तु थी वह मागधी प्राकृत ही। एतदर्थ पुरुषोत्तम देव कृत प्राकृतानुशासन तथा प्राकृतकल्पतरु द्रष्टव्य है।

१. 'चेट' दास होता था। मूल के 'बन्धसेवक' पद से भी यही बात पुष्ट होती है।

---

१. द्विजन्मा—ख० । २. स्खलद्गतिः पिङ्गलाक्षः—घ (र०) ।
३. कलाप्रियो—ख० । ४. गन्ध—ख०, ग० ।
५. प्येवं विधः—ग० ।
६. अस्मादनन्तरं—एवं गुणैस्तु संयुक्तो यत्नजैश्चेतरैस्तथा । अन्तःपुरं प्रवक्ष्यामि स्त्रीणाञ्च प्रकृतिं पुनः ॥ इति पद्यं ख पुस्तके अधिकम् । ग–पुस्तके तु एवं गुणैस्तु संयुक्तो नाट्ययोगविचक्षणः । कलाप्रयोगे चाचार्यैस्तोषिताभिरतः सदा ॥ इति पद्यमधिकम् । ७. कलोपभोगैराचार्य—ख०, चाचार्यैस्तोषिताभिरतः सदा—ग० ।

माधुर्येण च संयुक्ता चतुषष्टिकलान्विता।
राजोपचारकुशला[1] स्त्रीदोषैश्च[2] विवर्जिता ॥ ८२ ॥
प्रियवादी[3] प्रियकथा स्फुटा[4] दक्षा जितश्रमा।
एभिर्गुणैस्तु संयुक्ता गणिका परिकीर्तिता ॥ ८३ ॥

जो स्त्री कला एवं शिल्प की शिक्षा प्रदान करने वाले अपने आचार्य की शुश्रूषा में संलग्न रहती हो, लीला-पूर्ण चेष्टाओं, हाव-भाव तथा सत्य और विनय से युक्त हो, जिसका व्यवहार माधुर्य-पूर्ण रहता हो, जो चौसठ कलाओं तथा शिल्प में प्रवीण हो, राजोचित व्यवहारों का विशेष ज्ञान रखती हो, स्त्री में होने वाले रोगादि-दोष से रहित हो, प्रिय-संभाषण करनेवाली हो, जिसका कथन स्पष्ट रहता हो, जो निपुणता से युक्त और परिश्रमी हो (या अधिक श्रम से न कतराती हो) तो उसे 'गणिका' कहते है ॥ ८२-८३ ॥

नायिका—

रूपगुणशीलयौवनसुवर्णमाल्याभरणैः[5] सम्पन्ना।
विशदा स्निग्धा मधुरा पेशलवचनशुभरक्तकण्ठी[6] च ॥ ८४ ॥
योग्यायामक्षुभिता[7] लयतालज्ञा रसैश्च सम्पन्ना[8]।
सर्वाभरणसंयुक्ता[9] गन्धमाल्योपशोभिता ॥ ८५ ॥
एवंविधगुणैर्युक्ता[10] कर्त्तव्या नायिका तज्ज्ञैः[11]।

जो स्त्री अपने शरीरसौन्दर्य और गुणों से युक्त हो, युवती हो, जिसका शरीर सुवर्ण के अलंकारों तथा पुष्पमाला आदि से भूषित होने पर चमक

१. मृत्तोपचार—ख०, तत्रोपचार—घ (न०)।
२. दोषैस्तु—ख०। ३. प्रियवादिनी—ग०।
४. प्रिया—ग०।
५. माधुर्य···सम्पन्ना—ख०, माधुर्यशक्तिसम्पन्ना—ख०, माधुर्यशक्तिसम्पन्ना यौवनसुवर्णमाल्याभरणसम्पन्ना—घ (ह०)।
६. पेशलशुभरक्त—ख०, पेशलवचनाभिरक्त—ग०।
७. भाण्डाद्यैश्चाक्षुभिता—ख०, भाण्डाद्यैश्च क्षुभिता—घ० (ह०)।
८. संयुक्ता—ख०। ९. सर्वादोषाभिसंयुक्ता—ख०।
१०. गुणयुक्ता—ख०।
११. अस्मादनन्तरं—समागतासु नारीषु वयोरूपवतीषु च। न दृश्यते गुणैर्युक्ता सहस्रेष्वपि नर्तकी ॥ इति ख पुस्तकेऽधिकम्।

उठता हो, जिसका शरीर दमकता हो, जिसका स्निग्ध और मधुर स्वरूप हो, जिसके गले से मधुर ध्वनि में आकर्षक शब्दावली (या वचनावली) निस्सृत होती हो, जो परिश्रम करने में (या अभ्यास करने में) नियमित हो, जिसे ताल और रस का ज्ञान हो, जो सभी प्रकार के अलंकारों, पुष्पमालाओं तथा इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों को धारण करती हो तो उसे नायिका बनाना चाहिये ॥ ८४-८६ ॥

भूमिका के अनुपयुक्त स्त्रीपात्र—

अस्थानहासिनी[1] रूक्षा आविद्धगतिचेष्टिता ॥ ८६ ॥
दीर्घरोषा च दीना[2] च तथोद्धतोद्भटा सदा ।
एवं विधा न कर्तव्या प्रेक्षायां[3] प्रकृतिर्बुधैः ॥ ८७ ॥

परन्तु ऐसी स्त्री को किसी नाटयप्रदर्शन में नायिका (आदि) की भूमिका न दी जाए जो किसी अवसर का ध्यान न रखकर हंसने लगती हो, देखने में रूखी हो जिसकी पाद-गति और आंगिक चेष्टाएँ उद्धत (या अस्वाभाविक) हो, जिसका क्रोध देर तक शान्त न होता हो और जो हीन या फीकी दिखलाई देती हो ॥ ८६-८७ ॥

एवमेताः प्रकृतयो ज्ञेयाः[4] नाट्यप्रयोक्तृभिः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भरतानां[5] विकल्पनम् ॥ ८८ ॥

नाटय प्रयोक्ताजन के लिये भूमिका हेतु पात्रों के लक्षण में जानने योग्य ये ही बाते हैं। अब मैं नाटक मंडली के सहकारियों (भरतों या नटों) का वर्णन करता हूँ ॥ ८८ ॥

आदर्श नाटय-मंडली (सहकारी) परिवार—

भरताश्रयाश्च[6] भरतो विदूषकस्तौरिपो[7] नटो वापि ।

---

१. आस्थानराशिनि रूक्षा—ग०; अस्थानरूपिणी—घ (न०) ।
२. ह्यदीआ च तदा तु निभृतोद्भटा—ख०, तथा चानिभृतोत्कटा—घ० (ह०) ३. प्रेष्यायां—घ (म०) प्रकृष्टाभिनये बुधैः—ख० ।
४. विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः—घ (ह०) ।
५. लक्षणं भूमिकास्वपि—घ (ह०) ।
६. भरताश्रयाच्च—ख०, भरताश्रयो-घ०, शिल्पकारोपकारी च—ग० ।
७. सौरिकस्तथा नान्दी—क; तौरिको नटो वादो—क० ।

सूत्रधारो[1] नाट्यकारस्तथा मुकुटकारकः ॥ ८९ ॥
तथाभरणकृच्चैव[2] मालाकारस्तथैव च ।
रजकश्चित्रकारश्च कारवः शिल्पिनस्तथा ।
कुशीलवाश्च[3] विज्ञेया ये चान्ये नामतो द्विजाः ॥ ९० ॥

नाट्य-मण्डली में रखनेवाले पुरुषों में भरत, विदूषक, तौरिप, नट, सूत्रधार, (नान्दी) नाट्यकार, मुकुटकारक, आभरणकृत्, मालाकार, रजक चित्रकार, कारूशिल्पी और कुशीलव तथा अन्य अपने नामों वाले मनुष्य आदि होते हैं। ये सभी मनुष्य 'भरत' कहलाते हैं[1] ॥ ८९-९० ॥

भरत —

धुर्यवदेको यस्मादुद्धरेदनेकभूमिकायुक्तः[4] ।
भाण्डग्रहोपकरणैर्नाट्यं[5] भरतो भवेत्तस्मात् ॥ ९१ ॥

क्योंकि यह अकेला ही किसी नाट्य-प्रयोग का मुख्य रूप से अपनी विभिन्न भूमिकाओं के अभिनयों के द्वारा अनेक वाद्यवादनों के द्वारा तथा अनेक सहायकों के सहकार से निर्वाह या वहन कर्ता होता है। अतः इसे 'भरत' कहा जाता है ॥ ९१ ॥

विदूषक—

लोकाह्लादाश्रयकृतं[6] सर्वप्रकृतिवदुपचारसंयुक्तम्[7] ।
नानाश्रयं[8] प्रकुरुते तथा च नार्याश्रयं[9] वाऽपि ॥ ९२ ॥
प्रत्युत्पन्नप्रतिभो नर्मकृतैर्नर्मगर्भनिर्भेदैः[10] ।

---

१. भरत के विषय में प्रस्तावना द्रष्टव्य ।

---

१. नन्दी ससूत्रधारो नाट्यकरो नायकश्चैव—क०, ···नाट्यरसो नायकश्चैव—ख० ।

२. मुकुटाभरणविकल्पैर्विज्ञेया माल्यवस्तुविविधैश्च—क० ख० ।

३. कारुककुशीलवाद्या विज्ञेया नामतश्चैव—क०, ख० ।

४. दुद्धारोऽनेकभूमिका—क०, ख० । ५. भाण्डै

६. लोकहृदाश्रयकृतां—क०; लोको हृदाश्रयकृताम्—ख०, लोकाश्रयभावाश्रयकृतं—घ (म०) । ७. प्रकृतिप्रचारसंयुक्ताम्—क०, ख० ।

८. नानाश्रयां—क०, ख० ।

९. नारी तु सर्वत्र—क०, नार्याश्च सर्वत्र—ख० ।

१०. नर्मकृतो नर्मगर्भनिर्भेदः—क०; नर्मकृता नर्मगर्भनिर्भेदैः—ख० ।

छेकविदूषितवचनो[1] विदूषको नाम विज्ञेयः ॥ ९३ ॥

जो प्रजा के आह्लादार्थ कार्यों को करता हो, जो सभी मनुष्यों की चेष्टा तथा व्यापारों की नकल कर लेता हो, विभिन्न अर्थों को जो अपनी सहायता के लिये आश्रय लेता हो, स्त्रियों में शीघ्र मिलजुल जाता हो, जो परिहास में किये जाने वाले वचनों का तथा पारस्परिक विभेद करने वाले वचनों के प्रयोग की सूझबूझ रखता हो, बहुत विदग्ध हो और (अपने उच्चारित शब्दों से) निन्दा या अपशब्द कथन करता हो तो उसे 'विदूषक' समझना चाहिये ॥ ९२-९३ ॥

तौरिप'—

[2]तूरपतिस्तूर्यमतिः सर्वातोद्यप्रवादने कुशलः ।
तूर्यपरिग्रहयुक्तो[3] विज्ञेयस्तौरिपो[4] नाम ॥ ९४ ॥

जो पुरुष वाद्यों के वादन में दक्ष हो, जिसकी रुचि सदा (सभी) वाद्यों के वादन में बनी रहती हो और जो उन्हीं के बजाने में लगा रहता हो, जो संगीत के सभी वाद्यवादनादि में (दीर्घ साधना के कारण) दक्ष या अधिकारी (विद्वान्) हो गया हो तो उसे 'तौरिप' समझना चाहिये[1] ॥ ९४ ॥

नट या अभिनेता (शब्द की व्युत्पत्ति)

नटयति[5] धात्वर्थोऽयं भूयो नटयति च लोकवृत्तान्तम् ।
रसभावसत्वयुक्तं यस्मात्तस्मान्नटो भवति ॥ ९५ ॥

नट् धातु का अर्थ होता है कार्य करना या अभिनय करना और इसी कारण जब यह बार-बार मनुष्यों की जीवन कथाओं को रस, भाव और

---

१. 'तौरिप' की यह व्युत्पत्ति विलक्षण है। यह मुख्य संगीतवेत्ता होता था। आजकल इसे master musician के रूप में समझा जा सकता है। यह निर्देशन भी समय पर दे सकता था।

---

१. छेदविदूषित...क०; छेदविभूषितवदनो—ख०; यस्तु विभूबित —ग०, —ग०, यस्तु विदूषितवचनः—क (ड), छेको विदूषित—घ०।

२. तूर्यपतिर्यस्तु नरः—क०, नरपतिस्तूर्यमतिः—ख०; शूरपतिस्तूर्यपतिः—ग०।

३. तूरपरिग्रह—क०; तूरपतिग्रह—ख०।

४. तौरिको—क०, ग०।

५. नटनृतिधात्वर्थोऽयं भूतं नाटयति—क०; नटयति धात्वर्थभूतं —ख०।

सात्त्विक भावों के द्वारा अभिनीत करते हुए (रंगमञ्च पर) प्रस्तुत करता है तो नट या अभिनेता कहलाने लगता है ॥ ९५ ॥

नान्दी—

[1]स्तुत्यभिवादनकृतैर्मधुरैर्वाक्यैश्च [2]समङ्गलाचारैः ।
सर्वं स्तौति हि लोकं यस्मात्तस्माद् [3]भवेन्नान्दी ॥ ९६ ॥

क्योंकि इसमें स्तुति तथा आशीर्वाद से युक्त, मधुर पदावली में मांगलिक भावना एवं तदनुकूल विधान आदि को सम्पन्न करते हुए सभी दर्शक गण या प्रजा की स्तुति या तुष्टि अर्जित की जाती है, अतः इसे नान्दी कहते हैं ॥ ९९ ॥

नन्दयन्[4] यो बहुधाऽस्मिन् नृणां वदति यतो नाट्ययोगेषु[5] ।
प्राकृतसंस्कृतपाठ्यो नान्दी[6] नामैष विज्ञेयः ॥ ९७ ॥

तथा नाट्य-प्रयोग के अवसर पर प्रजाजन की प्रसन्नता के लिए जो अनेक रूपों में कही जाती हैं, जिसका पाठ्य संस्कृत या प्राकृत भाषा में होता है तो उसे (भी) नान्दी समझना चाहिए ॥ ९७ ॥

सूत्रधार—

[7]गानस्य च वाद्यस्य पाठ्यस्याप्येकभावविहितस्य[8] ।
[9]शिष्टोपदेशयोगात् सूत्रज्ञः सूत्रधारस्तु ॥ ९८ ॥

जो पुरुष विद्वानों से प्राप्त शिक्षण और शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर अपने ज्ञान को गीत, वाद्य, संगीत, तथा पाठ्य को साथ रखते हुए (प्रत्यक्षतः नाट्य-प्रयोग के द्वारा) लागू करता है तो उसे 'सूत्रधार'[1] (या नाट्याचार्य) समझना चाहिए ॥ ९८ ॥

---

१. यह 'सूत्रधार' का अन्य लक्षण है। इसी अध्याय में ६६–७४ पर इसका स्वरूप पूर्व में भी विस्तार से दिखलाया जा चुका है।

---

१. आशीर्वादनयुक्तै—क (ङ), ग०; स्तुत्याभिवादन—ख० ।

२. सुमङ्गला—क०; स्वमङ्गला—ग० ।

३. भवेद्वादी—क०; भवेद्बहुधा—ख० ।

४. भावेभ्यो बहुधाऽस्मिन् रसानसौ वदति नाट्ययोगेषु—क०; ...तस्मिन्... साश्चर्यो वदति—ख०; नान्यो बहुधास्मिन् नृणां—ग० ।

५. नाट्ययोगे तु—घ० ।   ६. नन्दी नामेति स ज्ञेयः—क० ।

७. गीतस्य च—क० ।   ८. पाठ्यस्य च नैकभाव—क० ।

९. शास्त्रोपदेश—ख०, ग० ।

नाटयकार—

यस्माद्यथोपदिष्टान् रसाँश्च[1] भावाँश्च सत्वसंयुक्तान् ।
भूमिविकल्पान्[2] नयति च नाट्यकारसंज्ञितस्तस्मात् ॥ ९९ ॥

(नाटय) शास्त्रानुसार कहे गये विविध रस, भाव तथा सात्विक-भावों को जो अपनी रचना में स्थित विविध पात्रों के माध्यम से स्थापित करता हो तथा अनेक भूमिकाओं जो कथावस्तु में निर्वाह करवाता हो तो ऐसी नाटच-रचना का लेखक 'नाटयकार'[1] कहलाता है ॥ ९९ ॥

नट—

चतुरातोद्यविधानं प्रयोगशास्त्रार्थहेतुविहितस्य[3] ।
नाट्यस्य[4] च प्रयोक्ता स[5] नटो नाम विज्ञेयः ॥ १०० ॥

चारों प्रकार के संगीत विधान (आतोद्य विधान) को लागू करते हुए तथा शास्त्र के आशय या सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए जो किसी रूपक को अपने स्वयं के विचार या अनुभवादि के साथ मंच पर प्रस्तुत करने में सक्षम हो तो उसे 'नट' समझना चाहिये ॥ १०० ॥

नाटकीया—

भाण्डकवाद्यज्ञा या लयतालज्ञा रसानुविद्धा च ।
सर्वाङ्गसुन्दरी वै कर्तव्या नाटकीया सा[6] ॥ १०१ ॥

जो स्त्री वाद्य-वादन का ज्ञान रखती हो और जिसे लय और ताल का बड़ा अच्छा ज्ञान हो, जो रसों के विधान से परिचित हो तथा जिसके सभी अंग सुन्दर हों तो उसे 'अभिनेत्री' बनाना चाहिये ॥ १०१ ॥

---

१. इसका कार्य विविध विषयों पर 'रूपक' रचना करना होता था। यह 'कवि' होता था। इस प्रकार के व्यक्तियों को नाट्यमंडली में रखना अपेक्षित होता है।

---

१. सास्वभावाद्यसत्व—ख०; तांश्च भावांश्च—ग० ।

२. विकल्पैर्नयति च नाट्यकरः कीर्तित—क०; विकल्पैति यति च-ख०; भूमिविकल्पो—ग० ।

३. सर्वस्य तु शास्त्रवेदविहि—क०; विधानप्रयोग—ग० ।

४. नाट्यस्यान्तं गच्छति तस्माद्धै नायकोऽभिहितः—क०; गच्छति यस्मान्नाट्ये तस्माद्धै नायको भवति—ख० । ५. स नायको नाम—क (ङ)

६. सा तु—घ० ।

मुकुटकार—

नानाप्रकृतिसमुत्थं करोति यः शीर्षकं मुकुटयोगे[1] ।
विविधैर्वेषविशेषैः स[2] मुकुटकारस्तु विज्ञेयः ॥ १०२ ॥

जो नाटक के विविध पात्रों के धारण करने के लिए विविध प्रकार के मुखौटे (चेहरों) और अन्य अनेक प्रकार के वेष परिवर्तन के उपकरणों का तथा मुकुट आदि का निर्माण करता हो तो उसे 'मुकुटकार'[1] समझना चाहिए ॥ १०२ ॥

आभरणकृत्—

यस्त्वाभरणं[3] कुर्यात् बहुविधिविहितं[4] स चाभरणकृत्[5] स्यात् ।
यश्चोपकरणयोगः[6] स तेन नाम्ना समभिभाष्यः[7] ॥ १०३ ॥

जो (पुरुष) अनेक प्रकार के विधानों से बनने वाले आभूषणों[2] को नाट्यप्रयोग के अनुसार निर्मित करता हो उसे आभरणकृत् कहा जाता है। इसी प्रकार जिस पदार्थ से जो पुरुष जिस वस्तु का निर्माण करे उसे अपने कार्य का उपयोग किये जाने वाले पदार्थ के निर्माता के नाम से अभिहित किया जाए ॥ १०३ ॥

माल्यकृत् तथा वेषकार—

यो वै माल्यं कुरुते पञ्चविधं माल्यकृत्स विज्ञेयः ।
यश्चापि वेषयोगं स[8] वेषकारस्तु विज्ञेयः ॥ १०४ ॥

जो (पुरुष) पांचों प्रकार की पुष्प मालाओं का निर्माण करता हो उसे

---

१. मुकुटों के विभिन्न प्रकारों का ना० शा० २३।१२६ पर विस्तार से वर्णन किया जा चुका है।

२. विभिन्न आभरणों का ना० शा० २३।११ पर तथा आगे भी वर्णन किया जा चुका है।

---

१. मुकुटयोगैः—ग०। २. स मुकुटकर—ग०।
३. यश्चाभरणं—ख०। ४. विधविहितं सचाभरणः—क०।
५. चाभरणम्—ख०। ६. करणयोगात्—क०, ख०।
७. विधातव्यः—ख०।
८. कुरुते स च वेषकारी तु-क०; स च वेषकरस्तु विज्ञेयः—ख०, ग०।

'माल्यकृत्' और जो पात्रों की वेषभूषा की देखभाल करता हो उसे 'वेषकार' समझना चाहिए[1] ॥ १०४ ॥

चित्रकार आदि—

चित्रज्ञश्चित्रकारो वस्त्रस्य च रञ्जनाद्[1] भवेद् रजकः ।
जत्वश्मलोहकाष्ठैर्द्रव्यकरः कारुकश्चैव ॥ १०५ ॥

जो पुरुष चित्र बनाता हो या भित्ति आदि के रंगने का कार्य करता हो उसे 'चित्रकार' तथा वस्त्रों को रंगने वाले पुरुष को 'रंजक' और जो लाख, काष्ठ और लोहे की वस्तु का निर्माण करता हो उसे 'कारुक' कहते हैं[2] ॥ १०५ ॥

कुशीलव—

नानातोद्यविधाने प्रयोगयुक्तः प्रवादने कुशलः ।
कुशलावदाताव्यथितं[2]यस्मात्तस्मात् कुशीलवो ज्ञेयः ॥१०६॥

जो पुरुष अनेक वाद्यों के वादन में निपुण हो तथा वाद्यसंगीत की गहरी जानकारी रखते हुए स्वयं उनके अनेक प्रयोगों को नाटय पर लागू करता हो तो अपने कौशल, निखरे हुए ज्ञान तथा उत्तेजना हीनता (गंभीरता) के कारण उसे 'कुशीलव' कहते हैं[3] ॥ १०६ ॥

अन्य सहकारी गण—

यद्यत्[3] समाश्रयन्ते[4] शिल्पं वा कर्म[5] वा प्रयोगं वा ।
तेनैवोपगतगुणा[6] विज्ञेया नामतः पुरुषाः ॥ १०७ ॥

---

१. मालाओं के विभेद तथा अन्य विवरण ना० शा० २३।११ तथा २३।११० पर पुनः द्रष्टव्य ।

२. चित्रों के विभिन्न रंगों के अतिरिक्त वस्त्रादि के विविध प्रकार तथा रंगों के विविध स्वरूप का विवरण ना० शा० अध्याय २३ के विभिन्न स्थानों पर देखना चाहिए ।

३. 'कुशीलव' शब्द की उपयुक्त व्युत्पत्ति से अर्थ स्पष्ट होना मुश्किल है । इस पर विचार प्रस्तावना में द्रष्टव्य ।

---

१. रञ्जनात्तथा—क० ।

२. आतोद्येऽप्यतिकुशलो यस्मात् स कुशीलवस्तस्मात्—ख०; कुशलवदातव्यधितं (?)—ग० । ३. यद्यः—क (ड) ।

४. समाचरन्ते—ख०; समाश्रयते—ग० । ५. क्रमं—ग० ।

६. तत्तेनोपगतगुणो विज्ञेयो—क (ड); तेनैवापगतगुणा (?) ख० ।

और जो पुरुष जिस प्रकार की कला या शिल्प के कार्य को अपनाता हो, या जिस किसी व्यवसाय आदि को अपनी आजीविका के लिए करता हो तो उसे अपने उसी कार्य के या गुणों के कारण वैसा ही नाम दिया जाता है और ऐसा पुरुष उसी नाम से प्रसिद्ध होता है[1] ॥ १०७ ॥

एवं तु नाटकविधौ जातिर्नटसंज्ञिता[1] बुधैर्ज्ञेया ।
नाट्योपकरणयुक्ता[2] नानाशिल्पप्रसक्ता[3] च ॥ १०८ ॥

रूपकों के अनेक प्रकार के प्रयोग शिल्प और अपेक्षाओं को सम्पन्न करने से सम्बद्ध या नाट्य-प्रदर्शन का व्यवसाय करनेवाली अनेक साधनों से युक्त इस नट-जाति को बुद्धिमान पुरुष इसी रूप में (जो जहाँ बतलाया गया है) समझ लें ॥ १०८ ॥

उक्तोऽत्र भूमिकान्यासः प्रयोक्तारश्च योगतः ।
आदिष्टं नाट्यशास्त्रञ्च मुनयः किमिहोच्यताम् ॥ १०९ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे भूमिकाविकल्पो नाम
पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।

हे मुनियों, इस प्रकार मैंने भूमिका प्रदान करने, नाटक के प्रयोग करने और उनकी रचना करने आदि के विषय में बतलाते हुए सभी नाट्य-सिद्धान्तों का निरूपण कर दिया है । अब और अधिक क्या कहा जाए उसे बतलाइये ॥ १०९ ॥

भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र का भूमिका-विकल्प
नामक पैंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण ।



---

१. यहाँ जिन कार्यों के आधार पर शिल्पियों या कारीगरों को अभिहित किया गया है यह बड़ा ही उपयोगी व्यवहार सिद्धान्त है । ऐसे सभी व्यक्तियों की नाट्यमंडली में आवश्यकता होती है जो अनेक वस्तुओं से नाट्योपयोगी या दृश्यों के उपयुक्त वस्तुओं का निर्माण करते हैं क्योंकि नाट्यमंडली (Theatrical Troops) का कार्य सदा सामुदायिक सहकार पर निर्भर होता है ।

---

१. नंटसंश्रया—क०, ख० । २. नाम्नोपकरण—ख० ।
३. प्रयुक्ता च—ख०; नाटकविकल्पप्रयोगे च–ग०; नाटकविकल्पयोगे—क० (न०) ।

अथ षट्त्रिंशोऽध्याय

(नाट्यावताराध्यायः)

मुनिजन का प्रश्न—

अथात्रेयो[1] वसिष्ठश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
अङ्गिरा गौतमोऽगस्त्यो मनुरायुस्तथात्मवान्[2] ॥ १ ॥
विश्वामित्रः स्थूलशिराः संवर्तः[3] प्रतिमर्दनः ।
उशना बृहस्पतिर्वत्सश्च्यवनः[4] काश्यपो ध्रुवः ॥ २ ॥
दुर्वासा जमदग्निश्च[5] मार्कण्डेयोऽथ गालवः ।
भरद्वाजोऽथ[6] रैभ्यश्च वाल्मीकिर्भगवाँस्तथा ॥ ३ ॥
स्थूलाक्षः शङ्कुलाक्षश्च[8] कण्वो[9] मेधातिथिः कुशः[10] ।
नारदः पर्वतश्चैव सुशर्मा चैकधन्विनौ ॥ ४ ॥
निष्ठ्यूतिर्भवनो[12] धौम्यः शतानन्दः कृतव्रणः ।
जामदग्न्यस्तथा रामो जमदग्निश्च[13] वामनः ॥ ५ ॥
एवं ते[14] मुनयः प्रीताः[15] सर्वज्ञं भरतं तदा ।
पुनरूचुरिदं वाक्यं कुतूहलपुरोगमम्[16] ॥ ६ ॥

यह सुनकर तब प्रसन्न होते हुए आत्रेय, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, गौतम, अगस्त्य, मनु, आयु, आत्मवान्, विश्वामित्र, स्थूलशिरा, संवर्त, प्रतिमर्दन, उशना, बृहस्पति, वत्स, च्यवन, काश्यप, ध्रुव, दुर्वासा,

---

१. आत्रेयोऽथ—ग० । २. स्तथारुमान्—ग० ।
३. संवर्तिःप्रमतिर्दनुः—क० । ४. व्यासश्च्यावनः—क० ।
५. जामदग्न्यश्च—क० । ६. द्वाजश्च—ग० ।
७. यवक्रीतस्तथैव च—क० । ८. शकलाक्षश्च—क०; कलशाक्षश्च—क० (भ०) ।
९. काण्वो—क० । १०. क्रतुः—क; कृशः—क० (र) ।
११. सुवर्माऽथैकजो द्विजः—क०; सुवर्मा चैक—क० (ड) ।
१२. नितम्बुर्भुवनः सौम्यः—क० ।
१३. कचश्चेत्येवमादयः—क० । १४. तु—ख० ।
१५. श्रुत्वा—क, ख० । १६. पुरोगमाः—क० (र०) ।

जमदग्नि, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, रैभ्य, भगवान् वाल्मीकि, स्थूलाक्ष, शंकुलाक्ष, कण्व, मेधातिथि, कुश, नारद, पर्वत, सुशर्मा, दोनों एकधन्विन् ऋषि, निष्ठयूति, भवन, धौम्य, शतानन्द, कृतव्रण, परशुराम, जमदग्नि और वामन नामक महर्षि-गण अत्यन्त कौतूहलपूर्ण शब्दों में भरतमुनि से कहने लगे[१] ॥ १-६ ॥

यस्त्वया गदितो[१] ह्येष नाट्यवेदः पुरातनः।
एकचित्तैः स[२] चास्माभिः सम्यक् समुपधारितः[३] ॥ ७ ॥

अपने जिस (पुरातन) 'नाट्यवेद' का निरूपण किया उसे हमने एक-चित्त होकर भली प्रकार ग्रहण कर लिया है ॥ ७ ॥

भगवन्[४] संशयोऽस्माकं तन्नो[५] व्याख्यातुमर्हसि।
को ह्यन्यो[६] नाट्यवेदस्य[७] निश्चयं वेत्ति[८] तत्वतः ॥ ८ ॥

परन्तु हे भगवन् आप हमारे एक (नाट्यशास्त्र-विषयक) इस संशय का भी निराकरण करते हुए स्पष्ट करें कि इस नाट्यवेद को और कौन ठीक तरह से बतला सकता है ॥ ८ ॥

न वयं परिभावेन[९] च विरोधेन नेर्ष्यया[१०]।
पृच्छामो[११] भगवन्नाट्यमुपदेशार्थमेव[१२] तु ॥ ९ ॥
अस्माभिश्च तदा नोक्तं व्यवछेदो[१३] भवेदिति।
इदानीन्तूपशिक्षार्थं[१४] नाट्यं गुह्यं निदर्शय[१५] ॥ १० ॥

---

१. यहाँ ऋषियों की अधिक संख्या दीर्घपाठ के अनुसार है। ना० शा० के १।२ पर केवल आत्रेय आदि महर्षियों का ही उल्लेख था।

---

१. द्रष्टव्य ना० शा० ?। १११-११२

१. कथितो—ग०। २. सदास्माभिः—ख०, सहास्माभिः—ग०।

३. समवधारितः—क (ङ)।

४. एकश्च संशयोऽस्माकं—क०, ख; भगवन् संशयो यो यत्—ग०; योऽयम्—क (ङ)।

५. तन्मे—क (र)। ६. वाऽन्यो—क०, ख०।

७. यन्निवेद्यस्य—ख०। ८. वक्तुमर्हति—क०; वक्तुमर्हसि—ग०।

९. परिहासेन—क०, ख०। १०. नान्यथा—क (च०)।

११. इच्छामो—ख०। १२. मुपदेशाभिपूर्वकम्—ग०।

१३. कथाच्छेदो—क; व्याच्छेदो न—ख; तदा छेदो—ग०।

१४. इदानीं रूपशिक्षार्थं—ख०। १५. प्रकाशय—ख०।

हमने आपसे यह प्रश्न केवल अपने ज्ञान-संवर्द्धन या उपदेश-ग्रहण की भावना से ही किया है और यह किसी प्रकार के परिभव विरोध या ईर्ष्या को लेकर नहीं किया गया है और यह प्रश्न हमने आपके उपदेश—काल के समय के पहिले इसलिये नहीं किया क्योंकि वैसा करने पर बीच में ही व्यवच्छेद या रुकावट आ जाती, अतः आप हमें नाट्य के इस रहस्य को स्पष्ट करते हुए सभी बात बतलाने की कृपा करें ॥ ९–१० ॥

लोकस्य चरितं नाट्यमित्यवोचस्त्व[1]मीदृशम् ।
तेषां[2] नो लोकगुह्यानां निश्चयं वक्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

आपने अभी बतलाया कि मानवों का चरित्र नाट्य है[1] तो यह भी बतलाइये कि लोक-चरित्र में कौन गुह्य तत्व हैं जिन्हें नाट्य-निर्माण में कारण माना जाय ॥ ११ ॥

देवस्य[3] कस्य चरितं पूर्वरङ्गे द्विजर्षभ ।
किमर्थं युज्यते[4] घोषः[5] प्रयुक्तः किं करोति च ॥ १२ ॥
[6]प्रीतं किं दैवतं तत्र [7]प्रीतं वा किं करोति च ।
[8]कस्मादेव पुनः शौचं [9]सम्यक् चरति सूत्रधृक् ॥ १३ ॥
कथमुर्वीतले नाट्यं स्वर्गान्निपतितं [10]विभो ।
कथं [11]तवायं वंशश्च [12]नटसंज्ञः प्रतिष्ठितः[13] ।
[14]सर्वमेतद्यथातत्वं कथयस्व महामुने ॥ १४ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, पूर्व-रंग के विधान में किस देवता का चरित्र रखा जाता है और वहाँ वाद्यों की वादनजन्य ध्वनि की योजना क्यों की जाती है

---

१. द्रष्टव्य—ना० शा० ५।८०–८३ ।

---

१. इत्यवोचः यदीदृशम्—घ० ।
२. शेषाणां—ख०; तेषां न—क (र) ।
३. लोकस्य—ख० । ४. भुज्यते—क०; पूज्यते—ग० ।
५. ह्योषः—ग० । ६. व्रीतं—ग० ।
७. प्रीतिं—क (ड) । ८. कस्माच्चैव—क०, ख० ।
९. श्रुतं—क (ड) शुचिश्चरति—घ० ।
१०. प्रभो—क (ड) । ११. तदायं—ख० ।
१२. नष्टसंज्ञः—ख० । १३. प्रकीर्तितः—ग० ।
१४. सर्वमेव यथातत्वं—क० ।

अथवा वैसा प्रयोग करने पर कौन देव प्रसन्न होते हैं तथा प्रसन्न होने पर कौन कार्य पूर्ण करते हैं? सूत्रधार किसलिए पवित्र होकर पुनः रंगमंच पर श्रौत-आचारों का विधान सम्पन्न करता है,[1] और जब नाट्य देवताओं के लिए निर्मित था तो उसका पृथ्वी पर कैसे अवतरण हुआ। इसके अतिरिक्त तुम्हारे वंश की नट संज्ञा या नट जाति में परिणति कैसे हो गयी? ॥ १२-१४ ॥

तेषान्तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं गुह्यार्थाभिनयं प्रति ॥ १५ ॥

तब उन मुनियों के इस प्रकार कथन को सुनकर भरतमुनि नाट्य-वेद के गूढ़-विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए (इस प्रकार) कहने लगे ॥ १५ ॥

भरतमुनि बोले—

भरत उवाच—

ब्रवीमि[1] वो [2]ह्ययं विप्राः यन्मां पृच्छथ सुव्रताः ।
पूर्वरङ्गविधानस्य[3] तच्च[4] सम्यङ् निबोधत ॥ १६ ॥

हे पवित्र व्रत और आचरणशील मुनियों, आपने जो पूर्व-रंग विधान के विषय में पूछा है उसे मैं पहले ठीक से बतलाता हूँ ॥ १५ ॥

प्रोक्तवानस्मि यत्पूर्वमहं[5] विघ्ननिबर्हणम् ।
तस्यानुबन्धेन मया पूर्वरङ्गः प्रकीर्तितः ॥ १७ ॥

पूर्व-रंग के प्रसंग में मैंने जो पहिले विघ्नों का निवारण बतलाया था (अध्या० ५।८०।८३) वहाँ मैंने (आपके प्रश्न के उत्तर को भी ध्यान में रखकर) उसका उद्देश्य विघ्नों का निवारण बतलाया था (और उसी को बतलाते हुए पूर्वरंग का वर्णन भी किया था) ॥ १७ ॥

शस्त्राणां[6] परि[7]हारार्थं शरीरावरणं[8] यथा ।

---

१. द्रष्टव्य—ना० शा० ५।८०-८३ ।

---

१. कथयामि कथां गुह्यां—ख० ।
२. कथां गुह्यां यन्मां—क० । ३. विधौ तस्य—ग० ।
४. तान्श्च मे सन्निबोधत—क०, ख० ।
५. पूर्वं शुभं—क० । ६. शास्त्राणां—ग० ।
७. प्रतिकारार्थं—क, ख० । ८. शरीराचरणं—ग० ।

तथा[1] सर्वगतं पापं हुतेनैव[2]प्रशाम्यति ॥ १८ ॥

जैसे शरीर के आच्छादन का उद्देश्य (वैसा करने पर) शस्त्रों से संरक्षण या बचाव करना है इसी तरह होम के द्वारा सभी प्रकार के पापों से संरक्षण पाना या सभी प्रकार के पापों का दूर होना इष्ट हैं।[1] ॥ १८ ॥

एवं जप्यैश्च होमैश्च देवताभ्यर्चनेन च।
स्तुत्याशीर्वचनैः शान्तैः[3] कर्मभावानु[4]कीर्तनैः ॥ १९ ॥
सर्वातोद्यनि[5]नादैश्च तथा[6] गीतस्वनेन च।
मया [7]पापापहरणैः कृते विघ्ननिबर्हणे ॥ २० ॥
स्तुतिगीता[8]दिसंहृष्टैर्देवैरभिहितोऽस्म्यहम्।
नितरां परितुष्टाः स्म प्रयोगेणामुना तव[9] ॥ २१ ॥
देवतासुरमानन्द्य यस्माल्लोकश्च नन्दति[10]।
तस्मादयं प्रयोगस्तु नान्दी[11]नामा भविष्यति ॥ २२ ॥

(और पूर्वरंग के अन्तर्गत नान्दी-विधान का कारण यह है कि जब) मैंने जप, होम तथा देवगणों की पूजन के द्वारा स्तुति और आशीर्वचनों के द्वारा और सभी गीतों की ध्वनियों के द्वारा जब पापों को दूर हटा और विघ्नों को शान्त कर दिया तो इस प्रकार स्तुति और गीतों को सुनकर देवगण अति प्रसन्न हो गये और वे मुझसे कहने लगे—हे मुने, हम तुम्हारे इस (पूर्वरंग के) प्रयोग से अतिशय सन्तुष्ट हैं। क्योंकि आपका यह प्रयोग देवता और असुरों को आनन्द देकर सभी प्रजाओं को भी आनन्दित कर रहा है अतएव इसका नाम 'नान्दी' हो जाएगा ॥१९-२२॥

---

१. एतदर्थ ना० शा० ५।७० तथा वहाँ का अंश द्रष्टव्य।

---

१. क्रियते हि यथा—क०।
२. स्मृतेनैव—ग०। ३. युंक्तः—ग०।
४. भावानुकीर्तनात्—ग०। ५. विधानैश्च—क०।
६. यथागीतस्वनानि च—ग०; तथा गतिस्वनेन च—ख०।
७. पापापकरणे—ख०; च पापहरणे—ग०, घ०।
८. गीताभिसंसृष्टै—क; गीताभिसंहृष्टो येनाथ ह्रियते पुमान्—ग०।
९. च ते—क०। १०. निन्दति—(?)—ख०।
११. नन्दि नामा—क (च), नान्दी नाम—ग०, घ०।

गतिवाद्यानुवादी[1] च यत्र काकुस्वरः[2] शुभः ।
तस्मिन् देशे तु[3] पापघ्नो माङ्गल्यश्च[4] भविष्यति ॥ २३ ॥

और जब गीत एवं वाद्य की ध्वनि के द्वारा अनुगत शुभावह नान्दी शब्दों का उच्चारण जिस प्रदेश को व्याप्त करेगा तो उससे सभी पापों का नाश हो जावेगा तथा वहाँ मांगल्य या शुभ-दशा (स्वतः) प्राप्त हो जाएगी ॥ २३ ॥

यावत्तं पूरयेद्देशं ध्वनि[5]रातोद्यसंश्रयः ।
न[6] स्थास्यन्ति हि रक्षांसि न[7] च विघ्नविनायकाः ॥ २४ ॥

(और पूर्वरंग की विधि में) वादन किये गये वाद्यों की ध्वनि जितने स्थान या प्रदेश को व्याप्त करेगी वहां राक्षस और विघ्न के उत्पादक तत्व नहीं स्थित हो पायेंगे ॥ २४ ॥

आवाहे च विवाहे च यज्ञे नृपतिमङ्गले ।
नान्दीशब्दमुपश्रुत्य[8] हिंसा नश्यन्ति सर्वदा[9] ॥ २५ ॥
[10]पाठ्यं नाट्यं तथा चैव गेयं[11] वादित्रमेव च ।
[12]वेदमन्त्रार्थवचनैः समं[13] ह्येतद्भविष्यति ॥ २६ ॥

और नान्दी के शब्दों का उच्चारण तथा पाठ्य, गीत और नाट्य-प्रयोग

---

१. वाद्यानुनादो—क०; वाद्यात्तु नान्दी हि—ख०; वाद्यानुनादी—ग० ।
२. काकुस्वनः—क०; काकस्वनः—ख० ।
३. विपाप्मा नो—क० ! तु पापघ्नो—क० (ड) ।
४. माङ्गल्ये च—ख० । ५. ध्वनिर्नाद्यसमाश्रयः—क०, ख० ।
६. तावतानां शुभं किञ्चिन्न च—ग० ।
७. तं देशं न विनायकाः—क०, ख० ।
८. मुपस्कृत्य—क (र०) ।
९. चैव हि—क०, ख० ।
१०. वाद्यं नाट्यं तथा गेयं—ख० वाद्यं श्रुत्वा तथा चैव—ग० ।
११. गेयं चित्रवादित्र—क०; चित्रं वादित्र—ख० ।
१२. कृता शास्त्रार्थवचनं न च यास्यत्यमङ्गलम्—क (र०) ।
१३. समगानैस्तथैव च—क (ड), ग० ।

में वाद्य-वादन को सुनकर [1]विवाहों में और राजा के कल्याणार्थ किए जाने वाले यज्ञों में विद्यमान विघ्न या विघातक तत्व तत्काल नष्ट हो जाते हैं। यह नान्दी पाठ वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के समान (पवित्र, विघ्ननाशक तथा इष्ट-प्रद) होता है ॥ २५-२६ ॥

श्रुतं मया देवदेवात् [1]तत्वतः शङ्कराद्धितम्।
[2]स्नानजप्यसहस्रेभ्यः पवित्रं[3] गीतवादितम् ॥ २७ ॥

मैंने देवताओं के स्वामी इन्द्र और भगवान शंकर से भी यही सुना है कि गीत (गायन) और वाद्य (वादन) एक सहस्र बार पवित्र नदी में स्नान करने या जपकर्म से भी श्रेष्ठ होता है ॥ २७ ॥

यस्मिन्नातोद्य[4]-नाट्यस्य[5] गीत[6]वाद्यध्वनिः शुभः।
भविष्यत्यशुभं देशे नैव[7] तस्मिन् कदाचन ॥ २८ ॥

जिस प्रदेश में वृन्द वाद्यवादन या नाट्य-प्रदर्शन (हो रहा) होगा या गीत और वाद्य-वादन होता होगा तो वहाँ निश्चित रूप में किसी प्रकार की अशुभ घटना नहीं होगी ॥ २८ ॥

एवं पूजाधिकारार्थं पूर्वरङ्गः कृतो मया।
नानास्तोत्र[8]कृतैर्मन्त्रैर्देवताभ्यर्चनं प्रति ॥ २९ ॥

अतएव मैंने पूर्वरंग को पूजा-महोत्सव बनाकर (उसे) देवताओं की अनेक स्तुति करने वाले मंत्रों से पूजन करने के लिए नाट्यप्रयोगों में प्रस्थापित किया ॥ २९ ॥

---

१. यहाँ मुनि ने आवाह तथा विवाह शब्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि ये समानार्थक हैं किन्तु इनमें थोड़ा अन्तर भी है। 'विवाह' से आशय है कि जब वधू के यहाँ आस्थान हो तथा 'आवाह' का आशय है जब वर के यहाँ विवाह महोत्सव या आस्थान हो।

---

१. भवतः शङ्करोदितम्—ख०; ततश्च शङ्करोदितम्—ग०, देवदेवाच्च—घ०।

२. गन्ध—क (र०)।   ३. यत्र सङ्गीत—ख०।

४. यस्मिन् यस्मिन् भवन्त्येषां—क० (र०)।

५. नाट्यस्थो—ग०।

६. गीतपाठ्यध्वनिः—क०; गीतवाद्यस्य निश्चयः—ग०, गीतवाद्यञ्च निश्चितम्—घ०।   ७. तस्मिन् देशे नैति—ग०।

८. स्तुतिकृतैर्वाक्यैर्देवताभ्यर्चनेन च—क०; यत्र स्तोत्रकृतै—ग०।

सूत्रधार के रंगमंच पर पवित्र होकर आने का हेतु :—

यतोऽभिवादनं[1] क्लिष्टं शिष्टं[2] तद्रङ्गमण्डले ।
[3]सूत्रधारस्य तच्छौचं विहितं तु द्विजोत्तमाः ॥ ३० ॥

हे मुनियों, रंगमंच पर बार-बार मस्तक झुकने आदि का धावक विधान क्लेशप्रद होता है इसलिए सूत्रधार की पवित्रता लिए स्नान करने का (जिससे वह स्वस्थ रहे) नियम बनाया गया ॥ ३० ॥

शौचं कृत्वा यतो मन्त्रैः[4]पूजनं जर्जरस्य तु ।
उच्यते पूर्वरङ्गेऽस्मिन्[5] तस्माच्छौचं प्रकीर्तितम् ॥ ३१ ॥

और इसी प्रकार पवित्र होकर सूत्रधार के द्वारा विधिवत् मन्त्रों से जर्जर का पूजन किया जाता है । यह सभी पूर्वरंग के विधान के अन्तर्गत विहित होने से सूत्रधार को पवित्र होकर मंच पर आना अपेक्षित है[1] ॥ ३१ ॥

[6]यथावतारितश्चैव नाट्यमेतन्महीतले[7] ।
वक्तव्यं[8] सर्वमेतद्धि न शक्यं [9]विनिगूहितुम् ॥ ३२ ॥

अब मैं आपको विस्तार से यह बतलाता हूँ कि नाट्य का स्वर्ग से पृथवी पर अवतरण कैसे हुआ क्योंकि मैं किसी भी नाट्यविषयक तथ्य को आप लोगों से छिपाना नहीं चाहता ।। ३२ ॥

भरत पुत्रों द्वारा ऋषिगण को अप्रसन्न करना—

ममैते[10] तनयाः सर्वैः नाट्यवेद[11]मदान्विताः ।
सर्वलोकं[12] प्रहसनैर्बाधन्तो[13] हास्यसंश्रयैः ॥ ३३ ॥

---

१. सूत्रधार का पूर्वरंग विधान के अन्तर्गत आचरण ना० शा० ५।११८ –११९ पर द्रष्टव्य ।

---

१. भिवादने—ख०, ग० ।
२. शितं—ख; शिरसा रङ्ग—ग०; शिरस्तद्रङ्ग—घ० ।
३. ततस्तस्य हि तच्छौचं—क० ।
४. मन्त्रंपूजनं—क; मन्त्रपूजनं ख०;''' पूजको—क (ङ) ।
५. पुनः—क (ङ) । ६. यथावतारिताश्चैव—घ (न०) ।
७. चैवमाद्य (?)–ख० ।
८. तथाविधिसमापन्नं—ग०; यथाविधिसमापन्नं—क० (ङ) ।
९. हि निगूहितम्–ग० । १०. सर्वमेतत्तया सर्वे—ख० ।
११. समन्विताः—क० । १२. सर्वलोकप्रहसनैः—क०, ख० ।
१३. बाधन्ते नाट्यसंश्रयैः—ख०; बाध्यन्ते–ग० ।

मेरे सभी पुत्र नाट्यवेद के ज्ञान से मदोन्मत होने के कारण समाज को अपने हास्यरस पूर्ण नाट्य-प्रयोगों (प्रहसनों) के द्वारा बाधित करने लगे थे ॥ ३३ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य शिल्पकर्म[1] समभ्यसन् ।
ऋषीणां व्यङ्गकरणं कुर्वद्भिर्गण्ड[3]संश्रयम् ॥ ३४ ॥
अग्राह्यं[4] सुदुराचारं ग्राम्यधर्मप्रवर्तिनम्[5] ।
निष्ठुरञ्चा[6]प्रशस्तञ्च काव्यं[7] संसदि[8] योजितम् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार करते हुए किसी समय दर्शकों के सम्मुख अपने नाट्य-शिल्प का प्रयोग करते हुए उसने एक हास्यपूर्ण नाट्यप्रयोग (प्रहसन) की योजना की जिसमें ऋषियों का परिहास करने के कारण अग्राह्यता आ गयी थी और जो दुराचरण और ग्राम्य-धर्म (या भद्दे प्रदर्शनों) से पूर्ण था तथा जिसमें क्रूरतापूर्ण अमंगल रचनाओं का समावेश था ॥ ३४-३५ ॥

ऋषियों द्वारा भरतपुत्रों को शाप—

तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे भीमरोषाः[9] प्रकम्पिताः ।
ऊचुस्ते[10] भरतान् सर्वान् निर्दहन्त[11] इवाग्नयः ॥ ३६ ॥
मा तावद् भो द्विजा युक्तमिदमस्मद्विडम्बनम् ।
को नामायं परिभवः किञ्च[12] नास्मासु सम्मतम् ॥ ३७ ॥

यह सब सुनकर वे ऋषिगण उत्तेजना से पूर्ण और क्रोध से जलते हुए उन भरतपुत्रों से बोले—हे ब्राह्मणों, आप व्यर्थ हमारी यह विडम्बना मत कीजिये । आपके लिए इस प्रकार हमें अपमानित करना उचित नहीं है ? ऐसा करने से आपकी अभीष्ट सिद्धि क्या होगी ॥ ३६-३७ ॥

---

१. शिल्पकं ग्राम्यधर्मकम्—क०; शिल्पकर्म समाभ्यदात्—ग० ।
२. व्यङ्गकरणं—ख०, मङ्गकरणं—ग० ।
३. ग्रह—ख०, घ०; भाण्ड—ग० । गण्ड—क (र) ।
४. अटव्यं—ख०; अश्राव्यं तद्—क० ।
५. प्रवर्तितम्—क० । ६. ञ्चाप्रस्तुतञ्च—क० ।
७. कार्यं—क० (ड) । ८. संसद्वियोजितम्—ख० ।
९. रोषप्रकम्पिताः—क; रोषं प्रक—ख० ।
१०. स्तान् भरतान् क्रुद्धा—क० ।
११. निन्दयन्त—ख० । १२. किं वा नास्मासु सम्मते—ख ।

यस्माद्[1] ज्ञानमदोन्मत्ताः [2]भवन्तोऽविनयाश्रिताः ।
तस्मादेतद्धि भवतां[3] कुज्ञानं नाशमेष्यति ॥ ३८ ॥

नाट्य-शास्त्र के ज्ञान में मदोन्मत्त रहने के कारण आप लोग अतिशय अविनीत हो गये हो अतएव आपका यही असत् ज्ञान नष्ट हो जावेगा ॥ ३८ ॥

ऋषीणां ब्राह्मणानाञ्च समवायेऽथ[4] सङ्गमे ।
[5]निर्ब्रह्माचरणा भूत्वा शूद्राचारा भविष्यथ ॥ ३९ ॥

और ऋषि और ब्राह्मणों के समाज में या इनकी सभाओं में जब आप लोग जायेंगे तो वेदज्ञान से हीन दिखलाई देंगे और शूद्र के समान आचरण वाले हो जायेंगे ॥ ३९ ॥

[6]शूद्रास्तु केवलं भूत्वा तत्कर्म समवाप्स्यथ ।
यश्च[7] वो भविता वंशः स[8] चाशौचो भविष्यति ॥ ४० ॥

और फिर तुम सभी शूद्र होकर उन्हीं के कर्मों का आचरण करोगे और जो तुम्हारे वंश में जन्म लेगा उसे भी समाज में अपवित्र (या आचरण-हीन) माना जाएगा ॥ ४० ॥

ये[9] च वो वंशजास्तेऽपि भविष्यन्त्यथ नर्तकाः ।
[10]परोपस्थानवन्तश्च [11]सस्त्रीबालकुमारकाः ॥ ४१ ॥

---

१. तस्माद्—ग० ।

२. न वेत्था (विद्वा) विनयान्विताः—क०; न चेच्छाविनयान्विताः—ख०; भवतोऽविनयाश्रयाः—ग० ।

३. विनयतं—क (र०) ।

४. समवायसमागताः—क०; समवायसमागमे—ख०, समबायाथ-सङ्गमे—ग० ।

५. निर्व्रताश्च विना होमैः—क०; निर्ब्रह्मणो निराहूतः—ख०; निर्ब्रह्मणो निराभूताः—क (च०) ।

६. अपाङ्क्तेयाः कुत्सिताश्चावमा एव भविष्यथ—क०; शूद्रास्ते—ग० ।

७. वा भवतां—ख०, वो भवतां—ग० ।

८. सर्वाशौचो—क०, स च शूद्रो—ग० ।

९. येऽत्रापि वंशजातास्ते—ग० । १०. तथोपस्थान—ग० ।

११. शस्त्रपण्योपजीविनः—क०; पुंस्त्रीबालोपजीविनः—ख० ।

और तुम्हारी सन्तति नर्तक कहलाएगी जो स्त्रियों और बालकों से पूर्ण अपने परिवारों सहित अन्य मनुष्यों के आश्रित होकर ही अपना जीवन यापन करेगी।[1] ॥ ४१ ॥

शापजन्म[1] ततो ज्ञात्वा सुतानां मे[2] सुरास्तदा।
सर्वे विमनसो भूत्वा तानृषीन् समुपस्थिताः ॥ ४२ ॥

जब देवताओं ने मेरे पुत्रों को ऋषियों द्वारा शाप देने का वृतान्त सुना तो वे विमनस्क होकर उन्हीं ऋषिगण के पास पहुँचे ॥ ४२ ॥

देवताओं के द्वारा ऋषिगण की भरतपुत्रों के लिए प्रार्थना—

तावद्भिश्च[3] ततः[4] प्रोक्तं देवैः शक्रपुरोगमैः।
इदानीं[5] दुःखमुत्पन्नं नाट्यमेतद् विनङ्क्षति ॥ ४३ ॥

और इन्द्र से युक्त उन देवगणों ने ऋषियों से खेद प्रकट करते हुए कहा—इस दुःखपूर्ण घटना से अब नाट्य का ही नाश हो जाएगा ॥ ४३ ॥

ऋषीभिश्च ततः प्रोक्तं न चैतद्धि [6]विनश्यति।
शेषमन्यत्तु[7] यत्प्रोक्तं सर्वमेतद् भविष्यति ॥ ४४ ॥

तब उत्तर में उन ऋषिजन ने कहा कि नाट्य का नाश तो नहीं होगा परन्तु इसके अतिरिक्त शाप का प्रभाव पूर्णरूप से होगा ॥ ४४ ॥

निराश भरतपुत्रों का अपने पिता के समीप पहुँचना—

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं मुनीनामुग्रतेजसाम्।
विषण्णास्ते सुताः[8] सर्वे पुनरात्मवधैषिणः ॥ ४५ ॥

---

१. किसी सामाजिक या व्यक्तिगत अपराध के कारण आज भी अनेक राज्यशासन रंगमंच के निर्देशक को न्यायालय में खींचा जा सकता है तथा वह दण्डभागी होता है।

---

१. शापं दत्तं तथा—क०, ख०।
२. मम देवताः—क; सुतेभ्यो मे तदा सुराः—ख०।
३. समस्तैश्च—क०; याचमानै—ख०।
४. तदा—क (ड), तथा—ग०।
५. मुक्तश्च सर्वमेतद्विनिश्चतु—ग०।
६. विनङ्क्षति—क०; न हि त्वेतद्धि वक्ष्यति—ख०।
७. मन्यत्र—क०, ख०।
८. ततः सर्वे श्रुत्वा मां समुपस्थिताः—क०; सुराः सर्वे पुनरात्मावनैषिणः ग०।

प्रोक्तवन्तश्च मां क्रुद्धा[1] बहुशो नाशितास्त्वया ।
अनेन नाट्यदोषेण शूद्राचारा[2] हि यत्कृताः ॥ ४६ ॥

उग्रतेजाः उन मुनियों के इस प्रकार के वचनों को सुनकर मेरे पुत्र निराश होकर और स्वयं को नष्ट कर डालने की उत्तेजना लिए हुए क्रोध पूर्ण वचनों में मुझसे कहने लगे—हम लोगों का आप ही ने सर्वनाश कर डाला और इस नाट्यप्रयोग के दोष से ही आज हम शूद्रों के समान आचरण करने वाले बना दिये गये हैं ॥ ४५–४६ ॥

भरतमुनि द्वारा पुत्रों को सान्त्वना—

मयापि सान्त्वयित्वोक्ता मा शोकं[3] व्रजतानघाः ।
[4]कृतान्तविहितोऽस्माकं नूनमेष विधिः सुताः[5] ॥ ४७ ॥
मुनीनां न मृषा वाक्यं भविष्यति कदाचन ।
निधने[6] च मनो मा भूद्युष्माकमिति सान्त्विताः ॥ ४८ ॥

उन्हें सान्त्वना देते हुए मैंने कहा—हे पुत्रों, तुम व्यर्थ ही शोक कर रहे हो, यह दुःख हमें विपरीत-भाग्य या समय के (कालचक्र के) कारण प्राप्त हुआ है । अतएव तुम स्वयं को नष्ट करने की भावना को दूर रखो क्योंकि ऋषियों का वचन मिथ्यान हीं होगा और इसमें किसी का दोष भी नहीं है ॥ ४७–४८ ॥

जानीध्वं[7] तत्तथा[8] नाट्यं ब्रह्मणा सम्प्रवर्तितम् ।
शिष्येभ्यश्च[9] तदन्येभ्यः प्रयच्छध्वं प्रयोगतः ॥ ४९ ॥

याद रखो यह नाट्यवेद स्वयं ब्रह्मा के द्वारा कहा गया है या चलाया गया है अतः तुम सब इसकी अपने शिष्यों को प्रयोग पूर्वक शिक्षा देते रहो ॥ ४९ ॥

मा वै प्रणश्यतामेतन्नाट्यं दुःखात्[10] प्रवर्तितम् ।
महाश्रयं महापुण्यं वेदाङ्गोपाङ्गसम्भवम् ॥ ५० ॥

---

१. पुत्रास्त्वयाहो नाशिता वयम्—क०, ख० ।
२. चारप्रियाः कृताः—ग०; घ० । ३. क्रोधं—क० ।
४. कृतानुविहितो—ख० । ५. स्मृतः—ग० ।
६. मनसा च स्थिरीभवतेत्येव सान्त्वितं मया—क० (र) ।
७. सङ्गृह्य नाट्यवेदन्तु ब्रह्मणा सम्प्रकीर्तितम्—क० (र) ।
८. तु तथा—ग० । ९. भ्यश्चैतदन्येभ्यः प्रयच्छामः—ख० ।
१०. दुःखप्रवर्तितम्—क०, ख० ।

और यह नाट्य-वेद नष्ट न होने पाये, क्योंकि यह बड़े कष्टों के बाद प्राप्त हुआ है जो बड़े-बड़े विषयों का आश्रय लेने वाला, पुण्य प्रदाता और वेद और वेदांगों से उत्पन्न होने वाला (यह नाट्य वेद) है[1] ॥ ५० ॥

अप्सरोभ्य[1] इदश्चैव यथोक्तं[2] यन्मयाश्रुतम् ।
नाट्यं दत्वा ततः सर्वे प्रायश्चित्तं चरिष्यथ[3] ॥ ५१ ॥

जब तुम इस नाट्यवेद को अप्सराओं को विधिवत् प्रदान करोगे तो यही इस शाप का प्रायश्चित होगा और फिर तुम सभी पूर्ववत् पवित्र हो जाओगे ऐसा मैंने सुना है[2] ॥ ५१ ॥

नहुष द्वारा स्वर्ग के नाट्यवेत्ताजन को पृथ्वी पर आमन्त्रित करना:—

कस्यचित्त्वथ[4] कालस्य नहुषो नाम पार्थिवः ।
प्राप्तवान्[5] देवराज्यञ्च नयबुद्धि[6]पराक्रमैः ॥ ५२ ॥
प्रशशास तदा राज्यं दैवीं[7] व्युष्टिमवाप्नुवन् ।

---

१. यद्यपि स्पष्टरूप से यहाँ ना० शा० में 'नाट्यवेद' को वेदमूलक बतलाया है फिर भी आधुनिक संशोधकों ने इस विषय पर अनेक मत बनाये हैं जिनका 'प्रस्तावना' में विश्लेषण किया गया है (द्र० नाट्य० शा० भाग १)।

२. आशय यही है कि नाट्य के तात्विक परिज्ञान के न रखने से ही तुम्हें शाप मिला है अतः पुनः इसके रसभावादि स्वरूप को ठीक करते हुए शिक्षण देकर ही इसका प्रायश्चित होगा। इसी तथ्य को वार्तिककार ने भी (इस प्रकार) दिखलाया है। यथा—

नाट्यस्य ज्ञाततत्वस्य यदभीष्टं प्रयोजनम् ।
तत्वतस्तदनिर्णीतं शापाध्यायेन दर्शितम् ॥

---

१. अप्सरोभ्युदयश्चैव—ग० ।

२. तथातत्वं यथातत्वं यथाश्रुतम्—क; यथातत्वं तथा स्तुतम्—ख० यथोक्तं न मया श्रुतम्—ग० ।

३. चरिष्यति—ख० । अत्रैव समाप्तिः क० ख० पुस्तकयोः षट्त्रिंशस्याध्यायस्य ।

४. अयमध्यायांशः क–ख–पुस्तकयोः सप्तत्रिंशत्तमेऽध्याये न्यस्तः प्राप्यते ।

५. प्राप्त वा देवराज्यं हि—ख० ।

६. तपःक्रमैः—७ (र) ।   ७. देवै—क०, ख० ।

गान्धर्वञ्चैव नाट्यञ्च दृष्ट्वा[1] [2]चिन्तामुपागमत् ॥ ५३ ॥
स[3] चिन्तयित्वा मनसा कथमेष[4] गृहे मम ।
नाट्य[5]प्रयोगो हि भवेदिति[6] देवगणैः कृतः ॥ ५४ ॥
कृताञ्जलिः प्रयोगार्थं प्रोक्तवाँस्तु सुरान्नृपः ।
इद[7]मप्सरसामित्थं नाट्यं भवतु नो गृहे ॥ ५५ ॥

प्राचीन काल में 'नहुष' नामक राजा ने अपनी नीति, बुद्धि और पराक्रम के द्वारा स्वर्ग का देवराजत्व प्राप्त कर लिया। तब वह वहाँ दैवी-सम्पत्ति प्राप्त कर शासन करने लगा। एक बार वहाँ गन्धर्वों के द्वारा प्रयुक्त गीतनाट्य का प्रयोग देखकर वह उत्सुक होकर विचार करने लगा कि यहाँ देवगण के द्वारा अभिनीत यह नाट्य-प्रयोग हमारे अपने घर में किसी प्रकार सम्पन्न हो सकता है। फिर उस राजा ने देवगण के सम्मुख अञ्जलिबद्ध प्रणाम कर यह निवेदन किया कि अप्सराओं के द्वारा अभिनीत होने वाले ये नाट्य-प्रदर्शन हमारे (भूलोक-स्थित) भवन में भी सम्पन्न किये जायें[1] ॥ ५२–५५ ॥

देवताओं द्वारा उपाय प्रदर्शन—

प्रत्युक्तः[8] स ततो देवैर्बृहस्पतिपुरोगमैः ।
[9]दिव्याङ्गनानां नैवेह मानुषैः सह [10]सङ्गतिः ॥ ५६ ॥
हितं पथ्यञ्च [11]वक्तव्यं भवान्[12] स्वर्गाधिपो हि यत् ।

---

१. नाट्यशास्त्र की अनेक मातृकाओं में तथा बड़ौदा एवं बम्बई संस्करण में पद्य सं० ५२ से ३७ वां अध्याय आरम्भ होता है। इस अध्याय का नाम गुह्यतत्वकथन अध्याय हैं तथा पूर्व का भाग 'नटशापाध्याय' है। इस अध्याय में नटों का शापोद्धार तथा नाट्य के भूलोकावतरण का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

---

१. इष्टां—ख० । २. मुपागतः—ग; मवाप्नुयात्—क (ड) ।
३. इष्टचिन्तासु—ख० । ४. मेषोऽग्रे उन्मनाः—ग० ।
५. मम नाट्यप्रदोगोऽथ भवेदिति ससम्भ्रमः—ग० ।
६. दिवि देवर एव सम्—ख०; दिति सादर एव सन् (सः—क (र))—क० । ७. अप्सरोभिरिदं सार्धं—क० ।
८. प्रयुक्तश्च—ग० । ९. सुराङ्गनानां नोक्तोऽयं—ग०, क (ड) ।
१०. सङ्गमः—ग० । ११. वक्तव्यो—क०; कर्त्तव्यं—ग० ।
१२ भगवन् खर्जयेष्यया—ग० ।

आचार्यास्तत्र गच्छन्तु गत्वा कुर्वन्तु ते [1]हितम् ॥ ५७ ॥

तब बृहस्पति आदि देवगण ने राजा को निवेदन किया कि अप्सराओं का मनुष्यों के साथ भूतल पर निवास करना कठिन होता है परन्तु आप स्वर्ग के अधिपति हैं अतः आपको वही बात कहनी चाहिए जो हितावह और उचित हो। अतः नाट्याचार्य भरत वहाँ जाकर आपकी अभीष्ट सिद्धि कर सकते हैं ॥ ५६-५७ ॥

राजा नहुष का भरत के समीप जाकर निवेदन करना—

प्रोक्तवाँस्तु[2] ततो मां तु नृपतिः सः कृताञ्जलिः ।
इदमिच्छामि भगवन्[3] नाट्यमुर्व्यां प्रतिष्ठितम् ॥ ५८ ॥

तब राजा नहुष मेरे संमुख अञ्जलिबद्ध प्रणाम करते हुए आकर बोले- हे भगवन्, मैं नाट्यप्रयोग की पृथ्वी पर प्रतिष्ठा का अभिलाषी हूँ ॥ ५८ ॥

पूर्व[4]माचार्यकञ्चैव भवता[5] हि प्रतिश्रुतम् ।
[6]व्यक्तभावात्त्विदं लब्धं त्वत्सकाशाद्द्विजोत्तम ॥ ५९ ॥

मुझसे देवताओं ने बतलाया है कि आपने ही पूर्व में सभी को नाट्य-वेद की शिक्षा दी थी। हे द्विजश्रेष्ठ, आज मैंने आपके सम्मुख आकर स्वयं यह सब देख लिया है ॥ ५९ ॥

पितामह गृहेऽ[7]स्माकमेतदन्तःपुरे जने ।
पितामह-क्रियायुक्तमुर्वश्या[8] सम्प्रवर्तितम् ॥ ६० ॥
तस्याः प्रणाशशोकेन उन्मादो[9]परते नृपे ।
विपन्नेऽन्तःपुरजने [10]पुनर्नाशमुपागतम् ॥ ६१ ॥

पूर्व में मेरे पितामह महाराज पुरुरवा के भवन स्थित अन्तःपुर में इस नाट्य की उनके कार्यों सहित उर्वशी ने उपस्थापन किया था। परन्तु जब मेरे पितामह उर्वशी के चले जाने के कारण उसी के शोक में पागल होकर

---

१. प्रियम्—क०, ख०। २. प्रोक्तवांश्च—ग०।

३. भगवन्नद्यमु (?) र्व्यां प्रवर्तितम्—ख०; भगवान् स्वर्जयेप्सया—क (ङ)।

४. पूर्वमाकुलितञ्चैव द्रव्यैर्हि किल वः श्रुतम्—ग०; पूर्वमाकलितञ्चैव—क (उ०)। ५. भवताभिहितं श्रुतम्—क०।

६. भावाश्रयं लब्ध्वा—ग०। ७. स्माभिरेतदन्तः—ख०।

८. मुर्वश्यां—क०; पूर्वस्यां—ख०; मुर्वश्याः सम्प्रकीर्तितम्—ग०।

९. दोपहते—क०; दापहृतेन वै—ग०। १०. मुपागतः—ग०।

कीर्तिशेष हो गये तो (उनके चले जाने से) अन्तःपुर के सभी व्यक्तियों के खिन्न और विच्छिन्न हो जाने से यह नाट्य पुनः वहाँ नष्ट हो गया[1] है ॥६०-६१॥

प्रकाशमेतदिच्छामो[1] भूतले[2] सम्प्रकीर्तितम् ।
तिथियज्ञक्रियास्वेतद्[3] यथा[4] स्यान्मङ्गलं शुभम् ॥ ६२ ॥

अतएव अब मैं शुभ तिथि में यज्ञों की पवित्र क्रियाओं के साथ मंगलमय एवं सुखद अवसर के योग्य इस नाट्य का पुनः पृथ्वी पर खुला प्रदर्शन देखने का इच्छुक हूँ ॥ ६२ ॥

तस्मान्मम गृहे बद्धं[6] नानाप्रकृतिसम्भवम्[7] ।
स्त्रीणां ललितवि[8]न्यासैर्यशो[9] वः प्रथयिष्यति ॥ ६३ ॥

अतएव आप अनेक पात्रों के द्वारा सम्पन्न होने वाले इन नाट्य प्रयोगों को स्त्रियों के मधुर एवं ललित अंग-विन्यासों से युक्त करते हुए मेरे भवन में प्रस्तुत कीजिये । इससे आपका यश फैलेगा ॥ ६३ ॥

भरत-पुत्रों द्वारा पृथ्वी पर नाट्यावतारण—

तथास्त्विति मया[10] प्रोक्तो नहुषः पार्थिवस्तदा ।
सुताश्चाहूय सम्प्रोक्ताः सामपूर्वं[11] सुरैः सह ॥ ६४ ॥
अयं हि नहुषो राजा याचते नः कृताञ्जलिः ।
गम्यतां सहितैर्भूमिं प्रयोक्तुं नाट्यमेव तु ॥ ६५ ॥
करिष्यामश्च[12] शापान्तमस्मिन् सम्यक्प्रयोजिते ।
ब्राह्मणानां नृपाणाञ्च न[13] भविष्यथ कुत्सिताः ॥ ६६ ॥
तत्र गत्वा प्रयुज्यध्वं प्रयोगं[14] वसुधातले ।

---

१. कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में उर्वशी के वियोग में मत्त पुरुरवा का अतिशय प्रभावशाली आलेखन किया है ।

---

१. प्रणाशमेतदिच्छामि—ख० । २. भूयस्तत् सम्प्रयोजितम्—क०, ख० ।
३. स्वेवं—ग० । ४. यथास्मन्मङ्गलैः शुभैः—ख० ।
५. तस्मिन्—क०, ख० । ६. बन्धं—ग० ।
७. संश्रयम्—क०, ख० । ८. विन्यासं प्रणाशो नाशयिष्यति—ख० ।
९. यतो नः—क० । १०. यथा—ग० ।
११. सम—ख० । १२. करिष्यामि च—ग० ।
१३. भविष्यथ न कुत्सितः—क, ख; न भविष्यन्ति कुत्सिताः—ग० ।
१४. प्रयुज्यन्तां प्रयोगान्—क, ख० ।

न शक्यश्चान्यथा कर्तुं वचनं पार्थिवस्य हि ॥ ६७ ॥

राजा नहुष के ऐसा कहने पर मैंने अपनी स्वीकृति देदी और फिर अपने पुत्रों को देवगण के साथ बुलाकर मैंने शान्ति पूर्वक समझाते हुए कहा—हमसे राजा नहुष विनयपूर्वक जो याचना कर रहे हैं उसे पूर्ण करने के लिए तथा अपने कल्याण के लिये तुम पृथ्वी पर जाकर नाट्य का प्रयोग करो। इस प्रकार करने पर तुम्हारे शाप का अन्त होगा और फिर आगे तुम राजा और ब्राह्मणों के घृणापात्र नहीं रहोगे। अतएव वहाँ (पृथ्वी पर) जाकर अवश्य नाट्य प्रयोग सम्पन्न करो क्योंकि महाराज नहुष का आग्रह हम नहीं टाल सकते हैं[1] ॥ ६४–६७ ॥

अस्माकञ्चैव सर्वेषां नहुषस्य महात्मनः।
आप्तोपदेशसिद्धिश्च नाट्ये प्रोक्ता स्वयम्भुवा ॥ ६८ ॥

हमारे सभी के और महात्मा नहुष के लिए भी ब्रह्मा ने कहा है कि नाट्य प्रयोग की सफलता उचित शास्त्र-ज्ञान (आप्तोपदेश) के द्वारा ही सम्भव होती है ॥ ६८ ॥

शेष[3]मुत्तरतन्त्रेण कोहलः[4] कथयिष्यति।
[5]प्रयोगं कारिकाश्चैव निरुक्तानि तथैव च ॥ ६९ ॥

इस नाट्य-शास्त्र का शेष शास्त्रीय स्वरूप (उत्तर-तन्त्र) भविष्य में प्रयोगगत आवश्यकता उपस्थित होने पर कोहल द्वारा उपदिष्ट होगा जिसे वह नाट्य-शास्त्र के आदर्श पर प्रयोग के अनुसार कारिका और निरुक्त सहित वर्णन करेगा[2] ॥ ६९ ॥

---

१. यहाँ दिया गया पुराकथा मूलक विवरण अतिसुन्दर है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि नाट्यप्रदर्शन एक स्वर्गीय पदार्थ है तथा देवगण की देन के रूप में यह हमें स्वर्ग से सौगात के रूप में प्राप्त हुआ है।

२. प्राचीन शास्त्रग्रन्थों में उत्तरकालीन संशोधन परक संवर्धन को 'उत्तरस्थान' कहा जाता था तथा ऐसे संशोधन हमें काश्यप तथा सुश्रुत की संहिताओं में मिलते भी है। 'उत्तरतन्त्र' इसी शब्द का पर्याय प्रतीत होता है। कोहलादि नाट्यशास्त्र के उत्तरकालीन आचार्यों के ग्रन्थों का विवरण

---

१. युष्माकं चैव सङ्क्षेपात्—ग०।
२. आत्मोपदेशसिद्धं हि नाट्यं प्रोक्तं—क०, ख०।
३. शेषं प्रस्तारतन्त्रेण—ख०। ४. कोहलस्तु करिष्यति—क०।
५. प्रयोगान् कारिकाश्चैव—क०, ख०।

अप्सरोभिरिदं शास्त्रं[1] क्रीडनीयकहेतुकम्[2] ।
अधिष्ठितं मया [3]स्वर्गे स्वातिना नारदेन च ॥ ७० ॥

मैंने मनोविनोद के लिए इस शास्त्र की अप्सराओं के अतिरिक्त नारद और स्वाति ऋषि की सहायता लेकर स्वर्ग में स्थापना की थी ॥ ७० ॥

भरतपुत्रों द्वारा पृथ्वी पर नाट्य-प्रयोग प्रस्तुत करना :—

ततश्च[4] वसुधां गत्वा नहुषस्य गृहे द्विजाः ।
स्त्रीणां प्रयोगं बहुधा बद्धवन्तो[5] यथाक्रमम् ॥ ७१ ॥

हे मुनियों, तब मेरे पुत्रों ने पृथ्वी पर अवतीर्ण हो महाराजा नहुष के भवन में जाकर वहां स्त्रियों की सहायता से क्रमशः उपाय पूर्वक नाट्य प्रदर्शनों को अनेक बार प्रस्तुत किया ॥ ७१ ॥

तत्र[6] चोत्पाद्य ते पुत्रान् मानुषीभ्यो ममात्मजाः[7] ।
बद्धवन्तोऽधिकं[8] सर्गं तेषाञ्च[9] विविधाश्रयम् ॥ ७२ ॥

और वहाँ मानुषीस्त्रियों के अनुराग में आबद्ध हो जाने पर मेरे पुत्रों से पृथ्वी पर अनेक पुत्र उत्पन्न हुए इस प्रकार वहाँ वे अनेक भावनाओं के आश्रित नाट्य-प्रयोगों को सावधानी से प्रस्तुत करते रहे ॥ ७२ ॥

पुत्रानुत्पाद्य बध्वा च प्रयोगं ते[10] यथाक्रमम् ।
ब्रह्मणा समनुज्ञाताः प्राप्ताः स्वर्गं पुनः सुताः[11] ॥ ७३ ॥

ना० शा० खण्ड १ की प्रस्तावना में विस्तार से उपपादित है। (द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र प्रथमभाग प्रस्तावना—चौखम्बा)

---

१. सार्धं—क०, ख० ।
२. क्रीडनीयैक—ख० । ३. सर्वे स्वस्तिना—ग० ।
४. ततस्ते—ग० ।
५. बुद्धिवन्तो—ख०; सृष्टवन्तो—ग० ।
६. अत्रोपभोगतस्ते तु मानुषीषु—क०; अत्रोत्पाद्य सुताँस्ते तु—क (र); तत्रोपभोगतस्ते तु—ख० ।
७. सुता मम—क (र) ।
८. बद्धवन्तोऽधिकस्नेहं—क०; बुद्धिमन्तोऽधिकस्नेहास्ते स्तुतिर्द्विजसत्तमाः—ख० । ९. तासु तद्विजसत्तमाः—क०; तेषु तेषु द्विजोत्तमाः—क० ।
१०. च—ख० । ११. तदा—ग० ।

फिर इस प्रकार पुत्रों के उत्पन्न हो जाने और नाट्य-प्रयोग के पृथ्वी पर योजनानुसार क्रमशः अपेक्षित रूप में स्थित हो जाने पर वे भरत पुत्र पुनः पितामह ब्रह्मा के निर्देश से स्वर्ग को लौट आये ॥ ७३ ॥

एवमुर्वीतले नाट्यं शापात्[1] समवतारितम्[2] ।
भरतानाञ्च वंशोऽयं भविष्यश्च[3] प्रवर्तितः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार शाप के कारण पृथ्वी पर इस नाट्य-वेद की अवतरणा हुई और तभी से पृथ्वी पर भरतों का यह वंश भी अस्तित्व में आया ॥ ७४ ॥

कोहल तथा उसके सहयोगीगण (द्वारा शास्त्र-विकास) :—

कोहलादिभिरेवं तु वात्स्य-शाण्डिल्य-धूर्तिलैः[4] ।
मर्त्यधर्मतया[5] युक्तैः कश्चित्कालमवस्थितैः[6] ॥ ७५ ॥
एतच्छास्त्रं प्रणीतन्तु[7] नराणां बुद्धिवर्द्धनम् ।
त्रैलोक्यक्रिययोपेतं[8] सर्वशास्त्रनिदर्शनम् ॥ ७६ ॥

फिर कोहल और उसके सहयोगी वात्स्य, शांडिल्य और धूर्तिल नामक भरत पुत्र पृथ्वी पर (मानव के रूप में) कुछ दिन और ठहरे और उनने इस नाट्यशास्त्र का विस्तार पूर्वक निरूपण किया जिसमें तीनों लोकों की क्रियाओं का समावेश अथवा प्रस्तुतीकरण किया जाता है, जो शास्त्र मनुष्यों की बुद्धि का विकास करने वाला है तथा इसी कारण जो सभी शास्त्रों में आदर्श-भूत है[1] ॥ ७५-७६ ॥

नाट्यशास्त्र की महिमा—

माङ्गल्यं ललितञ्चैव[9] ब्रह्मणो वदनोद्भवम् ।
सुपुण्यञ्च पवित्रञ्च शुभं पापविनाशनम् ॥ ७७ ॥

---

१. कोहलादि के द्वारा विरचित ग्रन्थों में से कुछ ग्रन्थों के खंड या अंश प्राप्त है। (तदर्थ द्रष्टव्य—नाट्यशास्त्र प्रथम खण्ड प्रस्तावना—चौखम्बा) वात्स्य, शाण्डिल्य तथा धूर्तिल का विशेष विवरण अन्यत्र प्राप्त नहीं होता ।

---

१. शिष्यैः—ख० ।
२. समवधारितम्—ग० । ३. भविष्यच्च प्रकीर्तितम्—ग० ।
४. वत्सशाण्डिल्यधूर्तितैः—क०, ख० । ५. धर्मक्रियायुक्तैः—ख० ।
६. किञ्चेच्छालमवस्थितैः—ख० । ७. प्रयुक्तन्तु—ग० ।
८. त्रैलोक्यस्य क्रियोपेतम्—क०, ख० । ९. ललितैश्चैव—ग० ।

य इदं शृणुयान्नित्यं[1] प्रोक्तञ्चेदं स्वयम्भुवा ।
प्रयोगं[2] यश्च कुर्वीत प्रेक्षते चावधानवान् ॥ ७८ ॥
या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञकारिणाम्[3] ।
या गतिर्दानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयान्नरः[4] ॥ ७९ ॥

यह नाट्यशास्त्र मंगलप्रद और मनोरंजन (ललितभाव) से पूर्ण है तथा ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट है, जो अत्यन्त पवित्र, शुद्ध, उत्कृष्ट तथा पाप विघातक है। जो इस ब्रह्मप्रोक्त 'नाट्यशास्त्र' का श्रवण करता है तथा इसके प्रयोगों का ध्यान-पूर्वक अवेक्षण करता है या उनका व्यवहार करता है तो उसे वेद के ज्ञान से अथवा यज्ञों के अनुष्ठान से या दान के द्वारा होने वाले फल की (अन्त में) प्राप्ति होती है[1] ॥ ७७–७९ ॥

नाट्य–प्रदर्शन का फल :—

दानधर्मेषु[5] सर्वेषु कीर्त्यतेऽस्य[6] महाफलम् ।
प्रेक्षणीयप्रदानं[7] हि सर्वदानेषु शस्यते ॥ ८० ॥

समस्त दान तथा धर्मों में इसका फल सबसे अधिक बतलाया गया है। क्योंकि अन्य सभी वस्तुओं के दान की अपेक्षा प्रजा को नाट्यप्रयोग दिखलाना श्रेष्ठतम दान है[2] ॥ ८० ॥

---

१. इस विवरण से नाट्यकला की अतिप्राचीनता सिद्ध होती है जिसे नाट्शास्त्र के लेखक द्वारा वैदिक विधियों के तथा वेदज्ञान के समान गरिमा प्रदान की गयी है।

२. आज अनेक राज्य वर्तमान समय में नाट्यकला पर अर्थव्यय करना लाभप्रद मानकर इस पर पर्याप्त अर्थराशि विनियोजित करते रहते हैं तथा समस्त वैज्ञानिक उपकरणों को इसके विकास के लिये सुलभ करवाते हैं।

---

१. प्रोक्तं नाट्यमेतत्—ख०, ग० ।
२. कुर्यात् प्रयोगं यश्चैवमथवाधीतवान्नरः—क०, ख० ।
३. यज्ञयाजिनः—ग०; यज्ञकारिणः—घ० ।
४. प्राप्नुयाद्धि सः—क०, ख० ।
५. नृपधर्मेषु—ग०, घ० ।
६. तु महत् फलम्-क०, कीर्तनेषु महत्फलम्-ख०; कीर्त्यतेस्स—ग० ।
७. प्रेक्षणीय—ख० ।

न तथा गन्धमाल्येन देवास्तुष्यन्ति[1] पूजिताः ।
यथा [2]नाट्यप्रयोगस्थैर्नित्यं तुष्यन्ति मङ्गलैः ॥ ८१ ॥

सुगन्धित पदार्थों के तथा पुष्पमालाओं के अर्पित करने से देवगण उतने प्रसन्न नहीं होते जितने नाट्य-प्रयोगों में कलाकारों के द्वारा किये गये मंगलमय-स्तुतिपाठ आदि से प्रसन्न होते हैं ॥ ८१ ॥

गान्धर्वश्चैव नाट्यञ्च यः [3]सम्यगनुपश्यति ।
लभते[4] सद्गतिं पुण्यां समं ब्रह्मर्षिभिर्नरः ॥ ८२ ॥

जो पुरुष गान्धर्व और नाट्य-प्रयोगों का सम्यक् ज्ञानपूर्वक ध्यान से अवलोकन करता[1] है वह अन्त में ब्रह्मर्षिगण के बीच स्थान प्राप्त कर सद्गति को प्राप्त करेगा ॥ ८२ ॥

लौकिक कार्यों के अनुकरण पर नाट्यशास्त्र के नियम—

एवं नाट्यप्रयोगे बहुविधिविहितं[5] कर्म[6] शास्त्रप्रणीतं
नोक्तं[7] यच्चात्र लोकादनुकृतिकरणात् संविभाव्यं विधिज्ञैः[8] ।
किञ्चान्यत् सस्यपूर्णा[9] भवतु वसुमती शाश्वती[10] नष्टरोगा
शान्तिर्गोब्राह्मणानां नरपतिरवनिं[11] पातु चेमां समग्राम् ॥८३॥

इस प्रकार मैंने नाट्यशास्त्र के द्वारा निर्दिष्ट कर्मों के नाट्यप्रयोग की अनेक विधियों का वर्णन किया है । इसमें जो बातें कहने से बच गयी हों या न कही जा सकी हों उन्हें विज्ञजन उन शेष विषयों लोक में विद्यमान विषयों

---

१. सम्यक् अनुपश्यति का आशय है कि जो उपदेश, व्याख्यान तथा विवरण आदि के द्वारा नाट्य नृत्य का प्रसार करता है ।

---

१. देवा मुह्यन्ति—ख० ।
२. प्रयोगज्ञैस्तुष्यन्ति स्तुतिमङ्गलैः—ग० ।
३. सम्यगनुपालयेत्—क०; सम्यक् परिपालयेत्—ख० ।
४. स ईश्वरगणेशानां लभते सद्गतिं पराम्—क०, ख० ।
५. बहु बहुविहितं—ग० । ६. कर्मशास्त्रं प्रणीतं—क० ।
७. न प्रोक्तं यच्च लोकादनुकृतिकरणं तच्च कार्यं विधिज्ञैः—ग० ।
८. तु तज्ज्ञैः—ख० । ९. सम्प्रपूर्णा—क० ।
१०. नष्टदुर्भिक्षरोगा—क० ।
११. भवतु नरपतिः पातु पृथ्वीं समग्राम्— क० ।

तथा कार्यों को देखकर समाविष्ट करले[१]। अब मैं इस विषय में और अधिक क्या कहूँ। यह वसुधा धनधान्यादि एवं निरोग प्राणियों से पूर्ण बनी रहे। गौ और सदा ब्राह्मण शान्तिपूर्वक इसमें निवास करते रहें और इस समग्र भूमण्डल की शासक गण रक्षा करते रहे ॥ ८३ ॥

महापुण्यं प्रशस्तश्च लोकानां नयनोत्सवम् ।
नाट्यशास्त्रमिदं[१] पूर्णं भरतस्य यशोवहम् ॥
इति भारतीये नाट्यशास्त्रे नाट्यावतारो नाम
[२]षट्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।[३]

भरतमुनि के यश का विस्तारक, अतिशय पुण्य-प्रदाता (प्रशस्त) प्रजाओं के नेत्रों को आनन्द देने वाला नाटयशास्त्र नामक यह ग्रन्थ इस परिपूर्ण हुआ ॥ ८४ ॥



यहाँ भरत मुनि प्रणीत नाटयशास्त्र का नाटयावतार नामक छत्तीसवाँ अध्याय परिपूर्ण हुआ तथा साहित्याचार्य एम० ए० **श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री** प्रणीत नाट्यशास्त्र की प्रदीप नामक हिन्दी व्याख्या सहित यह नाट्यशास्त्र ग्रन्थ भी सम्पूर्ण [समाप्त] हुआ ॥ शुभमस्तु ॥



१. इस विवरण में ग्रंथकार ने नाट्यशास्त्र के केवलमात्र अध्ययन को ही बढ़ावा न देकर उसे प्रयोग में लाने की बात को भी साथ-साथ दर्शाते हुए नाटकीय परम्परा के 'भरतवाक्य' के साथ ग्रंथ को समाप्त किया है तथा यह भरतवाक्य का एक आदर्श नमूना भी है जिसका संस्कृत नाटकों में अनुकरण मिलता है।

१. शास्त्रं समाप्तेदं (?) भरतस्य—ख० ।
२. सप्तत्रिंशाध्यायः—क, ख० ।
३. समाप्तश्चायं [ग्रन्थः] नन्दिभरतसङ्गीतपुस्तकम् (?)—ख० ।

परिशिष्ट

(नाट्यशास्त्र-भाग चतुर्थ : अध्याय २८-३६)

अतिरिक्त टिप्पणियाँ

अष्टाविंशोऽध्याय

(संकेत—टिप्पणियों के आरम्भ में दी गयी संख्या अध्यायगत श्लोकों की है।)

१. अब पूर्व वर्णित सिद्धयध्याय (अ० २७) के अनन्तर गेयाधिकार आरम्भ होता है। पूर्व अध्याय में 'आतोद्यानां विकल्पनम्' कह कर आतोद्य-विधि बतलाने को कहा था। इसकी संगति के लिये षष्ठअध्याय में भी यही पद्य कहा गया था अतः उसकी भी संगति के लिये यहाँ पुनः उसी को दिखलाते हुए अध्याय का अवसर प्राप्त होने के कारण आरम्भ करते हैं। क्योंकि उद्देश्य कथन के अवसर पर 'सिद्धिस्वरास्तथातोद्यम्' (६-१०) यद्यपि कह कर वस्तु संकीर्तन करते हुए सिद्धि के बाद ही स्वर एवं आतोद्य का क्रम भी दिखलाया। नाट्यपरम्परा में साम से गीत ग्रहण किया है अतः गीत साम से उद्भूत है। इस गीत का ब्रह्मा ने प्रथम गान किया अतः ब्रह्मप्रोक्त होने से गीत की साम अर्थात् सान्त्वना देने वाला होने से साम यह संज्ञा हुई तथा इसी कारण जात्यादि का सलक्षण विवरण भी प्रथम दिया गया और इसी कारण ततआतोद्य के स्वरों का भी अभिधान रखा गया। जिससे उसी में स्वर लाभ है यह भी स्पष्ट हो जाता है। इसका आतोद्य रूप चार प्रकार का है। अर्थात् इससे भिन्न अनुचित वाद्यान्तर को आतोद्य में सम्मिलित नहीं किया जाता।

२. इस पद्य से उपर्युक्त चतुर्विधत्व को स्मरण करवाते हैं—ततम् इत्यादि से। तन्त्री से तत अर्थात् कार्य होना या वादन 'तत' होता है। चमड़े से बद्ध होने से अवनद्ध है। मूर्ति की कठिनता से घन। पवन से पूरित वाद्य सुषिर। ये गायन आदि का अनुसरण कर रस और भाव के उपयोगी बनते हैं। इस प्रकार आतोद्य के चतुर्विध रहने पर भी स्वर तथा तालगत भेद से आतोद्य की द्विविधिता भी है—तत और अपनद्ध। यहाँ धन और सुषिर वाद्य इनके अङ्ग बन जाते हैं।

३. इस प्रकार इन चतुर्विध आतोद्य की प्रयोगगत त्रिविधता को दिखलाते हैं—प्रयोग इत्यादि से। जिनका आधार लेकर नाटकादि प्रस्तुत होते हैं उस पात्रवर्ग या अभिनेतृ गण के सहित। इस प्रकार ये तीन समूह प्रयोग में बनते हैं—(१) गायक समूह, (२) वादक समूह तथा (३) अभिनेतृ या पात्र-समूह। इन समूहों का जो प्रकृष्ट योग या समुदाय होना है वही प्रयोग है। ये तीनों नाट्य के उपयोगी हैं इसको तथा से मुनि ने बतलाया।

४. यहाँ तनन से स्वर की प्रधानता है यह पुष्कर में नहीं होती है और अवहन या अवघात से वर्णानुसारित्व की प्रमुखता है जो तन्त्री से निरपेक्ष होती है यह समझना चाहिए। इसी कारण 'तते कुतपविन्यासः' कहा है। परिग्रह का अर्थ है गायक का उपकरण। जैसे गायक के हाथ में कांस्यतालिका या कोण-वाद्या विपञ्ची का रहना। चकार से अन्य वाद्यादि को समझना चाहिए। गायक वर्ग के पक्ष में परिग्रह का दूसरा अर्थ होगा गायक की पत्नी भी यहाँ गायिका रूप में बैठे। (कारिकागत) तथैव चेति पद से अन्य सुषिरादि वाद्यों का परिग्रह है।

५. अब अवनद्ध राशि भी बतलाते हैं—मार्दङ्गिक इत्यादि से, यहाँ मृदङ्गानि पद से पुष्पकर को लेना चाहिए। पणव वह है जो अन्तस्तन्त्री वाला होता है, बड़े घट के सदृश आकार वाला दर्दर है। यहाँ 'च' से मर्दल आदि भी लिये जा सकते हैं, कांस्य ताल गीत और वाद्य में साम्य के लिये रहने से कुतप में उसका उपयोग भी रहता है।

७. अब नाट्योपयोगी कुतप बतलाते हैं—उत्तम इत्यादि से। यहाँ उत्त-मादि से आशय है प्रयोग के योग्य समुदाय। यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि क्या ये तीन समूह पारस्परिक कोई अपेक्षा रखते हैं या नहीं। इसका समाधान है कि—नहीं। इन तीनों समूहों का एकीभाव (युक्त करना) इष्ट है। इसका यह आशय नहीं कि जो एक मार्दङ्गिक है वह गायक भी हो जाए। यह एकता या एकीभाव प्रयत्नपूर्वक किया जाए जिससे सामाजिकों को एक सामान्य बुद्धि से ग्राह्य हो जाए या एक बुद्धि का विषय बन सके। अलात का अर्थ है तेजःकण या बलूता यह जैसे एक साथ अनेक देश का साम्य आपादित करता है तथैव प्रयोग भी एक क्रिया रूप नहीं किन्तु उसमें साम्य के आपादन के हेतु एकक्रियात्मा किया जाता है प्रयत्न लाघव के द्वारा। अतः कहा कि प्रयोग को अलातचक्रप्रतिम करना चाहिए। क्योंकि परिपूर्ण नाट्य ही सर्वानु-ग्राही होता है यही भरतमुनि को अभीष्ट है। यह भी कि नाट्य में गीत और वाद्यों की प्रचुरता भी रखी जाती है जिससे कि अभिनय का पूर्णपरिस्फुटन

हो सके । क्योंकि उपरंजक गीत वाद्यों की उपरंजकता से ही नाट्य का नाट्यत्व है । गीत को प्रथम और अंगभूत वाद्य को बीच में यह क्रम नाट्य के अनुसार रहे और त्र्यस्र या चतुरस्र का निश्चय भी गीत के अनुसार रखा जाए । इसीलिये गान नाट्य का उपरंजक तत्व है और यह उपरंजकता नाट्य को व्यवस्थित करती है । अर्थात् नाट्य को आधार बनाये बिना कुछ नहीं होता और गान तथा वाद्य का नाट्य के अनुगत ही उपयोग शक्य है ।

८–११. अब तत आतोद्य के स्वरूप को बतलाने के लिये पीठ की रचना करते हैं—यत्तु इत्यादि से । सामान्यतः तन्त्रीकृत रूप से सभी का संग्रह हो जाता है । नाना आतोद्य का निरूपण जिसका आश्रय है वह आश्रय नाट्यगत रूप के उपरंजक—रूप में किया जाता है । यह प्रधान गान्धर्व है अर्थात् गान्धर्व में यह लीन या अन्तर्भूत होता है । क्रम है—स्वर, ताल एवं पद या गीत लक्षण वाला त्रिविध गान्धर्व ।

१२. वीणा में तार मन्द्र का विषय बतलाने के लिये यह विपर्यास आदर्श के सम्मुख वाम भाग के दाहिने भाग की तरह का होगा—मुनि ने कहा **द्वयधिष्ठाना** इत्यादि से । वीणा की प्रधानता दिखलाने को प्रथमतः उद्देश्यतः कथन है । लक्षण अर्थात् गान्धर्व के लक्षण से अन्वित अर्थात् अनुगत ।

१३–१४. अब वैण-स्वरों का प्रकार उद्देश-क्रम से दिखलाते हैं—स्वरा ग्रामा इत्यादि से । समवाय का अर्थ है जिससे संक्षेप में बात कही जाय अर्थात् उद्देश ।

४५–४६. संक्षेप में गद्य में बतलायी बात को संग्रह हेतु कहते हैं—**शुद्धा** इत्यादि से । क्योंकि ये समवाय अर्थात् श्रुति, स्वर, ग्रह, आदि के समूह और संसर्ग से उत्पन्न होती है अतः उत्पन्न होने के कारण जाति हैं । इसका शुद्धा और बिकृता रूप में विभाग है । एव से यह भी दिखलाया कि शुद्धा का ही विकृतत्व होता है । इससे जात्यन्तरत्व नहीं होगा ।

५५. 'परस्पर' इत्यादि से ये जातियाँ संसर्ग से उत्पन्न तथा एक दूसरे से उत्पन्न होने वाली है यह कहा गया । यहाँ एक पाठ—'अपरस्परनिष्पन्ना' भी है । 'स्वराश्रय' पद से आशय है कि स्वर के नाम से पृथक् लक्षण वाली, शुद्धापेक्षया जातित्व युक्त और संसर्ग की अपेक्षा से जनकत्व वाली हैं यही यहाँ विभाग ज्ञान है ।

५६–५७. अब न्यूनत्वादि प्रकार से पूर्ण षाडव औडवित के विभाग को बतलाने की इच्छा से भरत मुनि पूर्णा और उसी के नियम को दिखलाते हैं—**आभ्यश्चतस्रो** इत्यादि से । आगे चार पूर्णा हैं इसे दिखलाते है—मध्यमोदीच्य वा इत्यादि से ।

५९–६०. अब पञ्चस्वरा के विभाग कहते हैं—'निषादिन्यार्षभी' इत्यादि से। षड्जाश्रिता—अर्थात् षड्जग्राम के आश्रित तथा जो मध्यमोदीच्य वा आदि चार सप्त स्वरा हैं। इनमें कभी हीनस्वरता नहीं होती। और जो षड्जादि चार हैं वे षाडव में पूर्णरूप तथा औडवित में पञ्च स्वरता वाली होगी, ये मध्यम ग्राम में हैं।

६१–६६. अब पूर्णा षाडवी के ग्रामभेद से स्वरूप को बतलाते हैं—षड्जग्रामे तु इत्यादि से। गान्धारयोगा का आशय है कि गान्धार के योग अर्थात् अंशत्व में प्राधान्य को बनाकर षाड्जी षड्ज स्वरवाली होकर भी पूर्ण ही है। यहाँ निषाद षाडवीकृत है और यह गान्धारांश में इसके संवादित्व के कारण लोप्य स्वर नहीं। कार्मारवी आदि तीन मध्यमग्राम में पूर्णस्वरा होती है।

६७-७१. सप्तम इति से यह बतलाया कि निषाद और गान्धार के अंश में षट्स्वर इष्ट नहीं है। यहाँ कारण यह कि संवादी के लुप्त न रहने के कारण षाडव निषाद के साथ नहीं होगा। यह गान्धार का संवादी है। गान्धारी आदि तीनों के ऋषभ से षाडवत्व को दिखलाया गया। यह मध्यमग्राम में पञ्चम का संवादी होता है। षाडव के अभाव से अंश में धैवत के अंश में षड्जोदीच्य वा में षाडव नहीं होगा। एवं तु द्वादशैवेति—अर्थात् गान्धारी तथा रक्तगान्धारी के आठ, षड्जमध्यमा के दो, पञ्चमी और केशकी के एक एक वे कुल योग बारह।

७२–७३. अब विचित्रा के लिये प्रयोग की विधि या नियम दिखलाते हैं—**सर्वस्वराणामित्यादि** से। पहिले किसी जाति में किसी का लोप या नाश कह दिया गया। यद्यपि धैवत तथा पञ्चम षड्ज तथा मध्यमग्राम में क्रमशः संयोजित होते हैं किन्तु अन्य ग्राम में लोप्यत्व मान्य है भी। 'तयो' पद से यह दिखलाया कि मध्यम के अतिरिक्त अन्य स्वर लोप्य या नाशी है परन्तु मध्यम अविनाशी होता है। भरत के मत में मध्यम अविनाशी है यह स्पष्ट है। गान्धर्वकल्पे—से भाषा देशी मार्ग आदि में मध्यम का भी लोप्यत्व या विनाशित्व रहता है यह भी सूचित किया है। वैसे मध्यम का अविनाशित्व का ही विधान है, इसके मंगलमय रहने के कारण।

८६. इनमें तीन का एक अंश, तीन के दो-दो, तीन के तीन, तीन के चार, चार के पाँच, एक के छः तथा एक के सात इस प्रकार कुल योग ६३ हो जाते हैं।

९८–१००. अब संख्या विभाग बतलाते हैं—सर्वासामेव जातीनाम् इत्यादि

से। गण अर्थात् समूह। यह सभी जातियों में मध्य में जो तीन जातियाँ हैं उनसे किया जाता है। एक गण जो जातिस्वर प्रयुक्त एक स्वरांश से लेकर सप्त स्वरांश तक वाला होगा। यह करण में अंश संख्या वाला होकर विभाग का प्रयोजक होता है। उपसंहार करते हैं—एवमुक्त इत्यादि से।

१०१–१०२. अब षाड्जी कहते हैं। पञ्च अंश स्वर अर्थात्—स ग म प ध यहाँ ग प अपन्यास हैं। वादी होने से गान्धार अति बहुलता से रहता है।

१०४–१०६. अब आर्षभी को दिखलाते हैं—अंशजाता इत्यादि से। इसमें ऋ ध नि अंश और अपन्यास हैं। ऋषभ न्यास है। षड्जहीन होने पर षाडवत्व और षड्ज पंचम की हीनता में औडवितत्व होगा। कुछ आचार्य यहाँ पञ्चम का लंघन मानते हैं। इसकी पूर्ण अवस्था में षड्ज, गान्धार और पञ्चम अल्पत्व प्राप्त करते हैं। औडवित स्थिति में ग म की अल्पता होगी। इस जाति का प्रायः नैष्क्रामिकी ध्रुवा में प्रयोग रखा जाता है।

१०७–१०९. अब धैवती को दिखलाते हैं—धैवत्याम् इत्यादि से। यहाँ ऋषभ और धैवत अंश और विकृतावस्था में रि ध म अपन्यास होंगे। धैवत न्यास होगा। पूर्णता में प स को आरोह कर्मगत करना पड़ता है।

११०–१११. अब नैषादी को दिखलाते हैं निषादिन्याम् इत्यादि से। इसमें नि ग स अंश और अपन्यास हैं। निषाद न्यास और षाडवादि धैवती के समान समझना चाहिए। यहाँ लंघनीय स्वर स प हैं जो ये अवरोही हैं।

११२-११३. अब षड्जकैशिकी को दिखलाते हैं—अंशास्तु षड्जकैशिक्या इत्यादि। यहाँ स ग प अंश और अपन्यास 'स प नि' हैं। न्यास ग है। यह नित्यापूर्णा है। मध्यम, ऋषभ का दौर्बल्य अंश के कारण ही सिद्ध है।

११४–११६ अब षड्जोदीच्यवा को दिखलाते हैं—**षड्जश्च** मध्यमश्चैव से। यहाँ 'स म नि ध' अंश और 'ध स' अपन्यास हैं। 'म' न्यास है। रि के लोप से षाडव और रि प के लोप से औडव रहेगा। 'स रि ग' बली हैं यह इनके आधिक्य को दिखलाने को कहा गया है। यहाँ गान्धार का मन्द्रस्थान पर बाहुल्य है।

११७–११९. अब षड्जमध्यमा को दिखलाते हैं—'सर्वेऽशा' इत्यादि से। सप्त अंश और अपन्यास हैं। स म न्यास हैं। निलोप में षाडव और नि ग के लोप से औडव रहेगा। ये सात षड्जग्रामाश्रित जातियाँ हैं।

१२०-१२३. अब अन्यग्राम के अन्तर्गत गान्धारी को दिखलाते हैं—'गान्धार्यं इत्यादि से। इसमें स म ग प नि अंश और ग न्यास तथा स प

अपन्यास होंगें। रि लोप में षाडव तथा रि ध लोप में अन्य या औडव होगा। यहाँ लंघन से आशय है पूर्ण स्थिति में ऋषभ से धैवत तक पहुँचाना या जाना।

१२३–१२५. अब 'रक्तगान्धारी' को दिखलाते हैं—'गान्धारीविहितम्' इत्यादि से। इसमें स ग म प नि ये पाँच अंश होते हैं। यहाँ विशेष बात है धैवत के बलवान् रहने की, क्योंकि यदि यह लोप्य स्वर है तो इसकी दुर्बलता मानी जायगी परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ ऋषभ लंघन के बाद स और ग की परस्पर निकटता और मिलन है। म अपन्यास है।

१२६–१२७. अब गान्धारोदीच्यवा को दिखलाते हैं—गान्धारोदीत्यादि से। यहाँ अन्तरमार्ग से आशय है परस्पर अंश स्वरों का संचार होना। यहाँ स ध अपन्यास हैं। ऋषभ लोप्य होकर भी पूर्णावस्था में अल्पत्व रखता है।

१२८–१३०. अब मध्यमा को दिखलाते हैं—'मध्यमायाम्' इत्यादि से। इसमें 'स रि म प ध' अंश हैं और ये उपन्यास भी है। 'म' न्यास है। यहाँ ग लोप से षाडव और ग नि लोप से अन्य या औडवितत्व होगा। गान्धार के लोप्यत्व से अल्पत्व स्वतः यहाँ रहेगा।

१३१. अब मध्यमोदीच्यवा को दिखलाते हैं—'मध्यमोदीच्यवायास्तु' इत्यादि से। यहाँ गान्धारोदीच्यवा के स्वरूप का अनुगमन होगा। यहाँ अपन्यास स ध तथा पञ्चम अंश रहेगा। म और ग का बाहुल्य रहेगा तथा 'म' न्यास रहेगा।

१३२–१३४. अब पंचमी को दिखलाते हैं—'द्वावंशा' इत्यादि से। इसमें रि प अंश तथा रि नि अपन्यास और प न्यास होगा। यहाँ ग के लोपत्व से षाडवत्व और ग नि के लोप से औडवत्व होगा, जो मध्यम के समान है। षड्ज और मध्यम के अंशत्व से और गान्धार के लोप्यत्व से अल्पत्व आने पर जो यह कहा गया वह इसके अल्पतरत्व को दिखलाने हेतु समझना चाहिए। यहाँ रि प की परस्पर संगति या मेलन होगा तथा पूर्णदशा में नि से ग तक गमन रहेगा।

१३५–१३६. अब गान्धारपंचमी को दिखलाते हैं—'अथ गान्धार' इत्यादि से। गान्धारी में ऋषभ से धैवत गमन का जो संचार हैं वही यहाँ भी विहित है।

१३७–१३९. अब आन्ध्री को दिखलाते हैं—'ऋषभः' इत्यादि से। यहाँ रि ग प नि अंश हैं और ये ही अपन्यास भी। ग न्यास है तथा स से लोप से षाडवत्व होता है और यहाँ औडवितत्व नहीं होता। ऋ और ग की संगति

रहती है। जिस क्रम से अंश स्वर कहे गये उसी क्रम से उन्हें अपन्यास तक किया जाए।

१४०-१४२. अब नन्दयन्ती को दिखलाते हैं—'नन्दयन्त्या' इत्यादि से। इसमें प न्यास और ग्रह भी होता हैं तथा म अपन्यास। प अंश होगा जो अपन्यास भी बनेगा जैसा कि बतलाया जा रहा है। षड्ज् से षाडवत्व होता है। कदाचित् कहने से आशय है कि यहाँ तारत्व की वैकल्पिकता है। यहाँ एक पूर्णांश और एक षाडव ऐसे दो समझना चाहिए।

१४३-१४५. अब कार्मारवी को दिखलाते हैं—'कार्मारव्या' इत्यादि से। यहाँ 'रि प ध नि' अंश और अपन्यास भी हैं। 'प' न्यास है तथा नित्य पूर्णता भी। विशेष कर गान्धार की संगति यथाशक्ति रखी जाती है।

१४६-१४७. अब कैशिकी को दिखलाते हैं—'कैशिक्यास्तु' इत्यादि से। यहाँ स ग म प ध नि ये छ अंश और अपन्यास भी है। ग नि न्यास हैं। यहाँ पर्याय से ध नि अंश रहे तो प न्यास होगा। ऋषभ के दौर्बल्य से आशय है उसका कभी कभी लोप्य रहना। रि लोप में षाडवत्व तथा रि ध के लोप में औडवत्व होगा।

१५०-१५१. अब अध्यायार्थ का उपसंहार करते हुए बतलाते हैं—एव-मेता इत्यादि से। जिस रस में जिस अंश, न्यास आदि के नियमों से युक्त जिन जातियों की योजना होगी वह सभी विषय अगले अध्याय में कहेंगे। यहाँ 'मे' पद से यह भी दिखलाया कि यह केवल मैं ही नहीं कहता यह आचार्यों का मत ही है।

अध्याय एकोनत्रिंश

(ततातोद्यविधानाध्याय)

१. पूर्व अध्याय में जो जात्यात्मक गान्धर्व भाग कहा गया उसमें किस अंश का उपयोग हो इस बात को पिछले अध्यायान्त में 'यथा यस्मिन् रसे योज्य' से दिखलाया गया। जातियों की नाट्य में उपयोगिता होती है यह पृथक् बात कहने के लिये इस नवीन अध्याय का आरम्भ भी किया। इनमें षड्जग्रमाश्रित जातियों के रस में विनियोग दिखलाने के लिये अध्याय का आरम्भ कर कहते हैं—**'षड्जोदीच्यवती'** इत्यादि से। 'श्रृङ्गारहास्ययो' से इनके मध्यम पञ्चम के बाहुल्य रहने की बात दिखलायी तथा यथासम्भव प्रयोग की भी।

२. यहाँ 'स्वस्वरांश' का आशय है स्व अर्थात् स्वर उसका अंशत्वेन परिग्रह।

७. अब मध्यमग्रामीय जातियों की योजना दिखलाते हैं—'गान्धारी' इत्यादि से। आशय यही है कि इन दोनों का निषादांश करुणरस में उपयुक्त है।

१२. अब समस्त रसों का संग्राहक सामान्य लक्षण दिखलाने के लिये कहते हैं—'यो यदा' इत्यादि से। यस्मिन् अर्थात् ग्राम, राग भाषा आदि में। आशय यही कि जहाँ कहीं कोई विशेष विनियोग दिखलाया गया हो—जैसे मालवकैशिक आदि में तो यहाँ भी सभी अंशों के योग न रहने से भाषा या भावन से उसे नियमित या सीमित किया ही जाता है।

१७-१८. यहाँ यह आशंका नहीं की जाए कि शान्त रस के लिये क्यों या किस अंश स्वर का गान हो। मुख्य बात यह है कि नाट्यप्रयोग में शान्तरस की प्रधानता नहीं रहती और रहने पर भी रसान्तर से उपरंजकता भी रखी जाती है।

१९. अब अन्य वक्तव्य दिखलाने के लिये कहते हैं—'अत ऊऽर्वम्' इत्यादि से। यहाँ यह आशंका भी नहीं करना चाहिए कि वर्णादि जाति के शरीर में प्रविष्ट ही हैं, अतः जाति के लक्षण से वर्णादि भी गतार्थ हैं। इसके उत्तर में यही है कि जाति स्वरसमूह मात्र में है परन्तु वस्तु वर्णों का व्यवहार पदसम्बन्ध के अधीन होगा। इन्हीं के आश्रित ये अलंकार होते हैं और अर्थविशेष

के वाचक पदों से बिना किसी विनियोग के सम्बन्ध भी नहीं रहेगा। इसीलिये आगे 'पदं लक्षणसंयुक्तम्' (२९–२५) कहेंगे भी। इसलिये पद का सम्बन्ध ही प्रयोजक है। परमार्थतः अलंकार पदसमुदाय का ही अलंकार करते हैं और अंश से युक्त रहने के कारण गीयमानता का सम्पादन करते हैं। ये प्रसन्नादि प्रभृति अलंकार से सम्बन्ध रखने के कारश अतिशयग्राह्यता वाले होकर अलंकृत रूप से सम्पन्न बनाते हैं। इसलिये क्रियाविस्तारवाची 'वर्ण' है और अभिनयक्रिया एक स्वरमात्रावस्थान के द्वारा आरोहणव्यापार, अवरोहण व्यापार अथवा विमिश्रव्यापार के द्वारा सम्पन्न होता है अतः चारों ही वर्ण होगें।

२०–२१. अब 'आरोहन्ति' इत्यादि से लक्षण कहेंगें। आरोही आरोहण ही करेगा। समा अर्थात् तुल्य जातिवाले अतः मन्द्र, तार तथा मध्य समय वाले एक ही स्वर का प्रयोग अभीष्ट है।

२२. यदि आरोह तथा अवरोहण के द्वारा मन्द्र तार दिखलाया यह वाद्यगत है परन्तु कण्ठ स्वर को भी यही स्थिति है ;इसे 'शरीर इत्यादि से कहेंगे।

२३. पदं कर्षति-अर्थात् जब एक पद का वर्ण, गीति क्रिया अनुकर्षण करे अर्थात् उसे दीर्घकाल वाला बनावे तो वर्ण की निष्पत्ति होती है।

२४. यहाँ 'एतान्' इत्यादि से वर्णालङ्कारों का परस्पर अव्यभिचार दिखलाया है जिन्हें सम्यक् अर्थात् इसी उपाय से जानना चाहिए।

२५–३०. अब उन्हें ही उद्देश्यरूप से दिखलाते हैं—प्रसन्नादि से। प्रसन्न का अर्थ हैं 'मन्द्र-भाव'।

३१–३२. संचारी वर्णाश्रित अलंकारों का उद्देशक्रम दिखलाते हैं—'अथ' इत्यादि से।

३३–३४. अब आरोहण क्रिया वाले अलंकार कहते हैं–निष्कर्षो इत्यादि से।

३९. अत्र अर्थात् ध्रुवाप्रयोग में जो उपगच्छन्ति अर्थात् उपयोग में आते हैं। निबोधन अर्थात् ऊह से समझ लेना चाहिए। 'च' से उनके लक्षण में भी जानना दिखलाया। अर्थात् उनका लक्षण सहित ज्ञान अपेक्षित होता है।

३९–४२. अब उद्देशतः उसे दिखलाते हैं **प्रसन्नादि** इत्यादि से।

१२४. अब विस्तार धातु इत्यादि से 'आश्रावणा' को कहते हैं। प्रवि- भागशः जिन्हें विस्तार धातु प्रसङ्ग में शास्त्रकार ने कहा वे चौदह भेद (सात

के दूने) द्विरभ्यस्त होकर । द्विरभ्यस्त अर्थात् प्रत्येक को दो बार प्रयुक्त करते हुये । करण अर्थात् स्वगत क्रिया के अपचय (अर्थात् पूर्व युक्ति से होने वाले प्रभेदों) से उपलक्षित्त आश्रावणा होगी । **विशाखिल आचार्य** के मत में अंश की स्वर विस्तार से वृद्धि ही अपचय है ।

१२५–१२६. इस प्रकार वीणावादन के कथन के बाद उनमें स्थित शुष्क ध्रुवाकर्म प्रस्तार को कहते हैं—'**गुरूणि** त्वादाविति' से । गुरूणि अर्थात् शेष गुरु होते हैं लघु अक्षर नहीं । इसी प्रकार दूसरा खण्ड है । फिर पन्द्रह अक्षरों वाले तीसरे खण्ड में तीन गुरु और शेष लघु होंगें ।

१२७–१२८. अब इसमें ताल विशेष को कहते हैं—'त्रिःशम्योपरि' से । असम में प्रयुज्यमान स्थिति में तालावप्येनवम् अर्थात् गीत वाद्य में समपाणि में दो अर्थात् शम्या और ताल पुनः शम्यातालों का आशय है कि पूर्व में गीत और फिर वाद्य अवपाणि (इस प्रकार) रहे और उत्तर में षट्ककल पञ्चपाणि ।

१२९–१३०. आरम्भ के आदि में गीत पद के प्रस्तार को कहते हैं—'**दीर्घाण्यादा**' इत्यादि से । नैधन अर्थात् अन्त में गुरु गुणितरूप में दुगुनी कृत दो गुरु हों ।

१३१–१३४. अक्षरों में द्वादश कलाओं की तालविधि कहते हैं—'**ताल-स्त्रिकल**' इत्यादि से । अर्थात् तृतीय कला में ताल, एक में शम्या और दूसरी में ताल । द्वितीय में शम्या तृतीय में ताल । कुछ आचार्य एक कल ताल भी बतलाते हैं । इनके मत में शम्या के बाद ताल होगी । तृतीय में सन्निपात और षट्पितापुत्रक द्विकल करना चाहिये और पञ्चपाणि भी द्विकल ही यहाँ क्रमादि शब्द पूरणार्थ में प्रयुक्त समझना चाहिये । इस प्रकार आश्रावणादि के समान बाईस कला को आरम्भ भी रहेगा इसके प्रथमभाग में केवल पातगत भिन्नता होगी ।

१३५–१३७. अब प्रसङ्ग प्राप्त 'वक्त्रपाणि' की वीणावाद्यविधि को '**आविद्धकरण**' इत्यादि से दिखलाते हैं । आविद्ध धातु और करण धातु से युक्त । यहाँ दो अङ्ग आगे कहेंगे—मुख और प्रतिमुख नामक वर्णों के अङ्गों का एक विदारी रूप होगा और दूसरा षट्पद विदारी रूप में । इस प्रकार अङ्ग होते हैं ।

१३८–१४०. अब इसकी तालविधि 'द्विकले मन्द्रके' इत्यादि से बतलाते हैं । 'तस्याधस्तात्' इत्यादि का आशय है कि अष्टकलात्मक मुख के पश्चात्

पञ्चपाणि चतुष्क प्रतिमुख हो। कुछ आचार्यों ने अष्टकल मुख और शेष प्रति-मुख समझाया है।

१४२-१४३. अब संघोटना को बतलाते हैं—'गुरूणि लघूनि' इत्यादि से। 'नैधनं' अर्थात् अन्त में गुरु किया जाए। अतः संघोटना में विधि के अनुरोध से द्विविधता होगी।

१४४-१४६. अब 'अधिदण्डाम्' इत्यादि से इसकी वीणावाद्यविधि को कहते हैं। यहाँ वीणाशब्द तन्त्री या तन्तुवाद्यन्त्र के लिये भी हो सकता है। यहाँ अनुवादी स्वर मिलना समभाव से युक्त या मिलाते हुये गुणात्म-कता सम्पन्न कर प्रकाशित होते हुए रहेंगें। यहाँ इन तीनों की अपेक्षा जो वादी हैं उनकी मध्य में अल्पता होगी जब प्रयोग हो।

१४७-१५०. अब परिघट्टना का ध्रुवा विभाग कहते हैं---दीर्घण्या दावष्टौ' इत्यादि से। आगे 'वाद्यं चास्यामित्यादि से इसकी वीणावादन विधि कहते हैं। यहाँ अस्य पद से शुष्कभेद का आशय है तथा सोद्वहन से उसकी आरोहप्रमुखता इष्ट है। व्यञ्जनधातुसमुत्थ से ललित जाति को दिखलाया है। जो करण धातु के प्रभेद कहे उनका आश्रय लेते हुए व्यञ्जनभेद का सम्पादन करना इससे युक्त होना। 'सम्पर्केष्टाक' ताल का लक्षण अगले अध्याय पर है। यहाँ विकल करते हुए निष्काम और प्रवेश के योग से सम्प-केष्टाक संयोजित किया जाताहै। यहाँ गुरु शब्द से यथाक्षर लघुपद से विकल तथा द्विकल और योग पद से प्लुत समझना चाहिए।

१५१-१५३. अब मार्गासारित को कहते हैं। इसका चित्र पूर्वरंग के पक्ष में ताण्डवादि में उपयोग के अतिरिक्त दूसरा उपयोग तन्त्रीवाद्य की प्रधानता है। जैसा कि—तन्त्रीभाण्डसमायोगात् इत्यादि (ना० शा० ५।२०) से कहा भी है। यही दिखलाने के लिये यहाँ प्रथम वीणावाद्यविधि ली भी है तथा उसे 'मार्गासारित वाद्यम्' इत्यादि से कहा है। इसमें व्यञ्जनधातु से रहित शेष तीन धातुओं का प्रयोग किया जाता है।

१५४. वीणावाद्य विधि के साथ प्रत्याहार के उपयोगी गुरु लघु गत विचित्रता के आपादक तथा ध्रुवा के विवरण के लिये प्रयोजनीभूत गुरु लघु संचय को अथवा 'चत्वारि तु' इत्यादि से कहते हैं।

१५५. इसके बाद उद्देश क्रम में 'लीलाकृत' लिया गया है किन्तु कहीं लक्षण नहीं दिया गया। पूर्वरंग के प्रसङ्ग में जब लीलाकृत का नाम ही नहीं गया तो आसारित के प्रकरण से लगा हुआ यहाँ इसका विचार क्यों रखा

गया ऐसी आशंका अवश्य होती है। क्योंकि लीलाकृत का मार्गासारित से विकल्प मान कर यहाँ प्रयोग रखा गया था अतः उसे यहाँ दिखलाया है। इसकः आसारित के बीच संग्रह होने से यहाँ इसकी चर्चा और लक्षण भी रखा गया है जिसे—'श्रवणामधुराणि' इत्यादि से बतलाया है। अन्तशब्द से यहाँ लयान्तर समझना चाहिए।

अध्याय त्रिंश

(सुषिरातोद्यविधान)

१. इस प्रकार पिछले अध्यायों में नाट्योपयोगी गान्धर्व का प्रतिपादन, जाति का विनियोग; वर्णालङ्कारादि का स्वरूप तथा ततातोद्य स्वरूप के साथ साथ शुष्क वादन का भी वितरण दिया गया। अब तत के बाद यद्यपि उद्देश्य से अवनद्ध का क्रम आता है तथा यह उपयुक्त भी है तथापि वैण स्वरों का मार्ग गत उपयोग ध्यान में रख कर तत के उपरान्त वैण या सुषिर का स्वरूप ही अपेक्षित रहने से इसे ही कहते हैं—'आतोद्यं सुषिरं' इत्यादि से। प्राचीन काल में महामाहेश्वर के आराधन का साधन मानकर मतङ्गमुनि ने इस वेणु का निर्माण किया था तभी से वेणु की प्रसिद्धि (बांसुरी आदि के निर्माण हेतु) हो गयी इसका विशेष छिद्रात्मक सुषिर रूप में है और इससे निष्पन्न स्वरों से इसका उपयोग भी होता है। खदिर आदि लकड़ी से भी बांसुरी का निर्माण किया जा सकता है। इसी कारण बांसुरी को लकड़ी तथा धातु से भी बनाने की बात कही गयी। यथा—

वंशे सृष्टा यदा पूर्वं वंशसंज्ञा तु वैणवी।
वंशास्तु खदिरा रौप्याः कांस्यजा वा सकाञ्चनाः।'

इसी कारण सुषिर के योग से प्राणों या मुख की वायु का जब योग होकर उसे वादन किया जाए तो यह 'सुषिरातोद्य' वाद्य कहलाएगा। आतोद्य शब्द की चार प्रकार के वादन के कारण चार प्रकार से व्युत्पत्ति मानी गयी है। यथा—तोद्यते आतोद्यते हन्यते वाद्यते इति। यहाँ तोदन से निष्पन्न स्वरों के कारण तत और सुषिर वाद्य में उपयोग रहेगा। यहाँ तुदति की व्युपत्ति से वादन अर्थ होगा। 'ज्ञेयं' पद से इस वेणु की बीणा से विलक्षणता भी द्योतित होती है।

यहाँ इसके बाद 'नववंशाः' इत्यादि पद्य है जिसको प्रक्षिप्त मान कर व्याख्या नहीं की गयी है। 'नववंशा' इत्यादि कुछ प्रतियों में मूल के साथ मिलता है।

२. यहाँ 'कम्पमानार्धं' इत्यादि से वंशी के छिद्र पर रखी गयी अंगुली की क्रिया के द्वारा तीव्र, अतीव्र, मध्यरूप प्राणवायु के भरने से उत्पन्न स्वर का विभाग हो जाता है। यहाँ आदि गान्धार तथा अन्त्य स्वर मध्यम रहेगा।

इसी कारण साम में मध्यम प्रथम और गान्धार द्वितीय रहता है। जैसा कि नारद ने कहा—'यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः' (१. ५. १) इति।

३. शारीर और शारवी वीणा में यथा एक स्वर आधार भूत होकर स्वरान्तर के विषय की स्थिति में अन्य बन जाता है उसी तरह वैण या वेणु का भी स्वर स्वान्तर की स्थिति में अन्यता प्राप्त कर लेता है।

७. यह श्रुति विभाग कहाँ हो इसके लिये—'एते स्युर्मध्यम' इत्यादि से कहते हैं।

१३. अध्यायार्थ का उपसंहार कर उसकी अगले अध्याय से संगति दिखलाते हैं—'एवमेतत्' इत्यादि से। स्वर के इस प्रसंग निरूपण के उपरान्त कोई बात दोष नहीं है। इसी कारण अगले अध्याय में घनातोद्य का निरूपण होगा यह भी कहा।

अध्याय एकत्रिंश

(तालविधानाध्याय)

१–२. स्वर-कृत रूप वीणा और अंश की तरह अवनद्ध में भी प्राप्त होता है क्योंकि नादात्मक होने से स्वर शब्दरूप में नित्य या व्यापी होता है। अतएव अवनद्ध में मार्जनाओं की स्वर विशेष की योजनाएँ बतलायी गयी हैं। पूर्व अध्याय में 'घनातोद्य' विकल्पन कहा गया। 'घन' का निर्वचन है 'हन्यते इति घनः' जो किसी कड़े रूप का होगा वह 'घन'। यहाँ दबाना, उठाना और शिथिलता के योग से अक्षर वैचित्र्य और स्वर वैचित्र्य के अनुरोध से उपयोगी कांस्य तालादि भी घन कहा जाएगा। उस घन का जो आतोद्य अर्थात् हनन या पीटना उसका विधान अर्थात् शीघ्रता, समत्व आदि का विभाग पूर्वक विवरण अर्थात् चच्चतपुट आदि में रहने वाले द्रुत, गुरु, लघु का विभाग जहाँ हो वह यहाँ दिखलाया जाएगा यही इस अध्याय की सङ्गति और उपक्रम भी है। इसे ही—'वाद्यं तु यद्' इत्यादि से कहते हैं। घन नामक जो आतोद्य कहा गया था यही उद्दिष्ट है। जिसका आगे दिखलाये जाने वाले ताल अर्थात् शम्या आदि सशब्द, आवाप, निष्क्राम, निशब्द क्रियाविशेष से योग होने पर जो ताल परिच्छिन्न क्रियात्मक कालखण्ड में क्रियारूप द्रव्यात्मा है वही गीत की क्रिया के प्रमापन का उपायभूत होगा। आवापादि क्रिया से काल को परिच्छिन्न करने वाली 'कला' है। लोकव्यवहार में जो काल की काष्ठा अर्थात् परमसौक्ष्म्यत्व से समता लिये हुये रहे वह 'कला' है। परन्तु यह ताल कला नहीं है। तालकला दूसरी ही होगी।

३–४. गीतकाल के परिच्छेदक 'पाँच निमेष' प्रमाण की कला होगी अर्थात् पाँच ह्रस्व अक्षरात्मक काल 'कला' है। 'कला' का लय के बिना अपना स्वरूप लाभ नहीं होने से तथा आगे 'लय एव हि तालः कथन के कारण लय की व्याख्या करते हैं—'ततः कला' इत्यादि से। लय का विभाग भी कहते हैं—'त्रयो लया' इत्यादि से।

७–१०. कला के विभाजन के अनन्तर तत्समूहात्मक ताल का विभव कहते हैं—'चतुरस्रश्च त्र्यस्रश्च' इत्यादि से। प्रकृति अर्थात् मूलभूत प्रकृति। अतः गुरुद्वय या गुरुचतुष्क मूल प्रकृति या 'योनि' हैं। इसे भी 'कीर्त्यमानम्' अर्थात् प्रसिद्धि होने से कथित। यही मूल प्रकृति है। आगम आदि में

भगवान् महेश्वर के चारों मुखों से उत्पन्न होने वाले इन चार अक्षरों की आवृत्ति ही अभ्युदय और यश प्रदात्री है यह प्रसिद्ध है।

१०–१८. प्रस्तार सिद्धि आदि की प्राप्ति के उद्देश से अब उनका विस्तार से विवरण देते हैं—'चतुरस्रस्तुविज्ञेय' इत्यादि से।

४६–४७. 'न ह्येषाम्' इति। अर्थात् ये केवल यहीं उपयोग में आते हों ऐसा भी नहीं। इनके लक्षण अमिश्रित या शुद्ध (स्पष्ट) रहने से इनकी कल्पना की गयी है। अतः इनका विशेषसंज्ञाकरण उपयोगी है। व्यतिरेक के द्वारा 'प्रवृत्तादिषु' इत्यादि से इसी तथ्य को दिखलाया है। अर्थात् गीतक, वर्धमान, आसारित, पाणिका, गाथा, छन्दक और निर्गीत (आदि) में चच्चत्पुट आदि बार बार हो सकेगें। बार बार करने के व्यवहारार्थ ही इनका विशेषसंज्ञा-करण भी है।

६२–७०. पूर्व में 'ताण्डव यत्र युज्यते' इत्यादि से वर्धमानक के प्रयोग की प्रधानता के कारण उसमें उपयोगी आसारित का लक्षण प्रथम बतलाना आवश्यक है। **दत्तिल** आदि ने इसका गीत के लक्षण के पश्चात् लक्षण दिया था अतः यहाँ आसारित का लक्षण **'अथासारित'** इत्यादि से कहते हैं।

७६–८१. नृत्त के उपयोग में प्राधान्य के कारण जिस उद्देशक्रम से लक्षण रहे उनमें वर्धमानक की ही प्रमुखता रहेगी यह दिखलाने के लिये उसका पृथक्भूतता लिये हुए लक्षण कहते हैं 'आसारितानां' इत्यादि से। इसकी प्रवृत्ति एक तो नृत्ताश्रयता के कारण है तथा दूसरे भगवान् शिव से प्रथम उद्भूता की परम्परा के कारण भी है। इनमें सर्वप्रथम उत्पत्ति और बाद में प्रवृत्ति समझते हुए 'निहत्य दानवं' इत्यादि से पुराकथा को दिखलाते हैं। अत-एव लक्ष्य-लक्षण सम्पन्न अर्थात् इन प्रकार सी लक्षण सम्पदा से घटित या उपलब्धि वर्धमानक का जो प्रयोग करते हैं वे दृष्टादृष्ट रूप परम श्रेयरूपता (शिवगोचरत्व) को प्राप्त करेंगे। यहाँ 'यास्यन्ति' के बहुवचन से गायक, वादक तथा नर्तकों को समान फलप्राप्ति होती है यह भी दिखलाया गया है।

११९–१२४. अब पदगत विशेष विभेद की बनलाते हैं—'आसारिताम्' इत्यादि से। यहाँ 'सर्वेषां' से यह दिखलाया है कि यह केवल वर्धमान के अन्तर्भाव में ही नहीं किन्तु सभी में होगा तथा स्वतन्त्रता से भी।

१२५–१२६. इसी बात को स्थिर करने के उद्देश से कहते हैं—'न मार्गं' इत्यादि से। अर्थात् मार्ग में सभी में उतने ही अक्षर रहेगें (जो कहे हों)। ऐसा होने पर फिर प्रति मार्ग में कालभेद होगा तो इस आशंका के लिये

कहते हैं 'वर्णमात्रा' इत्यादि से। गीत में भेद अर्थात् मार्ग वैचित्र्य होगा। इसी तथ्य का उपसंहार—'यथाक्षरेषु भूयिष्ठम्' से करते हैं।

१४४–१४५. उपोहन की उपयोगिता और उसका स्वरूप दिखलाने के लिये—'उपोह्यन्ते इत्यादि से कहते हैं। अर्थात् गात्रवीणा में जिस कारण मात्र के द्वारा स्वरों को उपोह्यन्ते—अर्थात् ऊह का विषय और संधारण करते हैं वह उपोहन या उपवहन है। इसकी व्यक्तिवाक् के अनुकरण के कारण गीत में भी प्रतिपत्ति होगी। यह कैसी हो—इसे 'शुष्काक्षर' इत्यादि से बतलाया है।

इस प्रकार गात्र और दारवी वीणा के उद्देश से उपोहन का निर्वचन बतलाकर उसकी नृत्यगत उपयोगिता को 'अन्यथा' इत्यादि से कहते हैं। अतः प्रयोग की सूचना के अभिप्राय से अभिनय के द्वारा जहाँ ऊह या उपोहन हो तो वहाँ भी 'उपोहन' होता है।

१९९–२०० मद्रक आदि गीत की जो षट्मात्रा आदि वस्तु और अङ्ग आदि है उनका प्रयोग तालगत वैचित्र्य से परिकल्पित है। ऐसे आसारित का स्वरूप दिखलाया। अब आगे 'गीत' का स्वरूप कहते हैं—'गीतकानां तु लक्षणम्' इत्यादि से। वस्तुनिबद्ध अर्थात् वस्तु षट्क-निबद्ध अवयवों में (रहने या) होने के कारण ये अङ्ग हैं।

२०२–२०४. अब इनके विशेष लक्षण को 'एककं तु' इत्यादि से कहते हैं। एक अर्थात् विच्छेद के कारण एकक और विशिष्ट वध अर्थात् दो अवहनन जहाँ विभक्त करने के लिये किये जाएँ तो वह विवध होता है (यह इनका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ हुआ)। जहाँ भूयान् अर्थात् अनेक बार विभक्त हो तो 'वृत्त' होगा। ये तीनों दो अङ्गों वाले (होकर) है जिनको 'संहरण किया जाता है। 'संहरण' अर्थात् गीत की परिसमाप्ति जहाँ होती है। अतः यह वर्ग का अङ्गभूत होता है।

२२०–२२२ अब इनके नियत रूप को कहते हैं—'प्रकर्योवेणकम्' इत्यादि से। इनमें कुछ वस्तुनिबद्ध और कुछ अङ्गनिबद्ध होते हैं यह बात ताण्डवाध्याय में संकेतित की गयी है। यहाँ ताल का अङ्ग ही अङ्ग है। वस्तु का शरीर व्यापक होकर प्रयुक्त होता है। (अर्थात् वस्तु महाशरीर या व्यापक होती है।) कुछ आचार्य इसके अल्प रहने पर 'अङ्ग' मानते हैं। अन्य आचार्य—कहते हैं कि वर्णांग की प्रधानता का जब विभाग हो तो ऐसी आरब्ध ताल को अङ्ग-निबद्ध समझना चाहिये। आगे वस्तुनिबद्ध का वस्तु विभाग दर्शाया गया है।

२२३. अब अङ्गनिबद्ध में अङ्गविभाग दिखलाने के लिये 'रोविन्दुकस्तु' इत्यादि से कहते हैं। यहाँ अङ्गनिबद्ध में ताल की थोड़ी प्रमुखता रहती है। जैसे कि वस्तु निबद्ध में वस्तु की प्रमुखता रही थी।

२४६. यथाश्रय गीतत्व और वर्णागगत वैचित्र्य को बतला कर अब वर्णाङ्ग से गाये जाने वाले नियतप्रमाण वालों का निरूपण करते हैं—'अत परम्' इत्यादि से। 'वसतो वर्णाङ्गतालाङ्गे यस्मिन् इति 'वस्तु' यह इसकी व्युत्पत्ति है अर्थात् जिसमें वर्णाङ्ग तथा तालांग रहें वह 'वस्तु' है। इसका कलन अर्थात् परिमाण की विचित्रता को बतलाता हूँ यह अर्थ हुआ।

२७४–२८५. अब 'अपरान्तक' को कहते हैं 'गुर्वक्षराणि' इत्यादि से। चार गुरुओं में तीसरे और चौथे पर शम्या तथा ताल होंगें। यथाक्षर एक कलरूप होगा। द्विकल को 'आदौ कलोपवहन' इत्यादि से आगे कहते हैं जिसका कार्य है उसे दुगुना करते हुये दिखलाना। इसके विश्लेषण में यथा-पूर्व कला को पूर्ववत् निविष्ट किया जाता है। द्विकल में एक कला का उपोहन तथा इतना ही प्रत्युपोहन होगा। आगे 'एतदेव द्विगुणितम्' से चतुष्कल को बतलाते हैं। आवाप विक्षेप की योजना से यह कार्य होगा। यहाँ मद्रक की तरह पादभाग रहेंगे जैसा कि 'पूर्वं पूर्वं निवेशयेत्' से कहा गया है।

२९०–२९१. अब इसकी उपोहनविधि को 'उपोहनं तु वस्त्वर्धम्' से दिखलाते हैं। **दत्तिल** के मत में आद्य अस्तु में द्वादशकलाओं में अन्य में यदि दक्षिण मार्ग और वार्तिक में द्वितीयपाद विभाग आ नि वि श रूप का और चतुर्थ आ नि वि प्र रूप का होगा। अब प्रतिशाखा को—'पश्चिमार्धं' इत्यादि से बतलाते हैं।

२९२–२९४. अब शाखा प्रतिशाखा के प्रसंग से प्राप्त तथा वस्तुनिबद्ध प्रकरी को छोड़ने पर होने वाले उल्लोपक की व्याख्या करने के लिये कहते हैं—**'उल्लोप्यकम्'** इत्यादि से। यहाँ सभी उत् अर्थात् ऊर्ध्व लोप्य होते हैं अतः इसकी व्युत्पत्ति हुई 'उल्लोप्यक'।

२९८. 'यदा तु' इत्यादि से विशेष बात प्रकट करते हैं। 'अन्तेन संहितेना-हरणम्' इस व्युत्पत्ति से 'अन्ताहरण' पद बनता है अर्थात् अंकित से लगकर जिसका आहरण हो वह। यह आहरण अर्थात् जो सूचक हो। यह एक कला के पञ्चपाणि से संहार की स्थिति रखे होता है।

२९९. स्वताल अर्थात् 'वैहायसक', इसी से संहार अर्थात् समाप्ति करना इष्ट है। यह सामान्यतः कहा गया है।

३००–३०३. इस प्रकार स्वयं निर्णय देते हुये कहते हैं—'त्र्यस्रश्च' इत्यादि से तथा त्रिविध का प्रयोगगत वैचित्र्य 'स्यात् पञ्चपाणि' से दिखलाते हैं।

३०४–३१०. निवृत्ततात की व्याख्या है 'निवृत्तिरस्यास्तीति' इस प्रकार यह मत्वर्थीय पद है 'निवृत्तस्तालः तालान्तो भाग इति निवृतः तालः' इस व्युत्पत्ति से यह कला चतुष्टयरूपवाला होकर आवृत्त होना चाहिए। आद्य चार कलाओं की निष्पत्ति ही 'पात' है केवल महाजनिक होना निवृत्ति में उपयुक्त नहीं।

३१५–३२१. वस्तुनिबद्ध अपरान्तक को बतलाकर अब यथा प्रस्तुत 'प्रकरी' कहते हैं—'प्रकरी वस्तु' इत्यादि से; 'आद्य मात्रे'त्यादि से पात बतलाये हैं। यहाँ षोडशी कला पर शम्या और मात्रा मात्रा में दूसरी (पर) ताल होगी। शेष तीन में सोलहवीं शम्या 'षष्ठयां तु' से चतुष्कलत्व से उपयुक्त पात आवाप निक्षेप का निषेध दिखलाया गया है। 'इति वस्तु' अर्थात् यह वस्तु छ मात्रा वाली होगी।

३२३–३२९. अब ओवेणक को दिखलाते हैं—'पाद पूर्व' इत्यादि से। अपरान्तक की जो वस्तु वही शाखा उससे उक्त वस्तु 'शाखा-ख्य' है। अतः चौबीस कला का पाद होगा। उसकी प्रतिशाखा दूसरी होगी। यहाँ विशेष कथन तुल्यगीतित्व के रहने पर भी अन्य पदों के इसके अभाव को दिखलाने के लिये यह है। जैसा कि दत्तिल ने (२०१–२०२ में) बतलाया है। यहाँ अनित्य पद से इसमें शीर्षक वैकल्पिक है यह दिखलाया है। 'माषधातः तत' इत्यादि से उद्घट्टक की अनिवार्यता का विकल्पनिषेध इष्ट है। इसके एकक या विविध अङ्ग इत्यादि से चतुरस्ररूप तथा उसके अङ्ग में 'प्रवृत्त' को द्विकल चच्चत्पुट कहा गया है यही चतुरस्र विवधांग है।

३३०–३३३. सन्धिताल के समान वज्र भी एकक के तथा विवध के अंगत्व को रखता है। यहाँ वज्र का एकक-जो कि एक कला अन्त में रखता है—अंग होता है। इसी कारण इसे वज्रक कहते भी हैं क्योंकि यह न टूटने या अखंड बने रहने से दृढ़ होकर स्थित होने से 'वज्र' है। उसमें चतुरस्र से व्यवहित त्र्यस्र की बुद्धि वज्रलेप के समान वृद्धि के रूप में स्थिति से होती है इसी कारण भी यह 'वज्र' कहलाता है।

३३५–३३८. 'प्रवेणी' का प्रथम भेद विविध से तथा दूसरा वृत्त से युक्त होता है। प्रथम का ताल यथाक्षर पञ्चपाणि तथा दूसरे का वही द्विकल होता है। प्रवेणी की व्युत्पत्ति है प्रकृष्टा वेणीति प्रवेणी। इससे वेणी का शिरस्थता या शीर्षत्व लक्षित हुआ तथा यह प्रधान की तरह अंगत्व (भी) रखती है।

यहाँ भेद भी प्रथम के विविध और दूसरे के वृत्त अंग रहने से भी विभेद है। दूसरे प्रवेणी के भेद में उपवर्तन अर्थात् आवृत्ति होती है तथा कदाचित् ही इसमें पञ्चपाणि यथाक्षर संयोजित होता है।

३३८–३४१. अब 'रोविन्दके तु' इत्यादि से रोविन्दक को दिखलाते हैं। दत्तिल ने भी इसी बात को (दत्ति० २११) बतलाया है। यहाँ चतुष्कल मद्रक की जो अन्तिम मात्रा षष्ठी कही है तत्तुल्य ही इसमें भी होगी।

४४२–३४३. यहाँ आठ कला का उपोहन इष्ट है। अंगनिबद्ध कहने से पात की प्रमुखता होगी। मुनि ने यहाँ यह दिखलाया कि यहाँ अन्यकल्पना नाट्य के उपयुक्त नहीं (वह इसको छोड़ती है)। प्रतिपात में एक एक के किये जाने पर अन्तिम मात्रा पर सन्निपात होगा वह विदारी होने से विवध निबद्ध बनेगा। क्योंकि पात द्वय की अपेक्षा वाली मात्रा होती है जिसे—'पाताः स्युः सन्निपात' इत्यादि से कहा गया है। यहाँ 'अन्ते प्रस्वार उच्यते' पाठ भी है (पर प्रस्तार पाठ उचित मानकर व्याख्या की गयी है।)

३४४–३४९. अब द्वितीयपाद का स्वरूप—'तुल्यवर्णोप' इत्यादि से कहते हैं। वही गीति और वही उपवहन होगा पर स्तुतिपद अन्य रहेगा। शरीर ताल उसे कहेंगे जो पूर्व वर्ण के आकर्षण से प्रस्वाररूपत्व वाला होता है या किया जाता है। यह द्विकल पञ्चपाणि से किया जाता है क्योंकि इसमें पूर्व वर्ण का अनुकर्ष होता है जिससे प्रस्वार क्रिया की जाए। एक कल पञ्चपाणि के द्वारा वर्णाङ्गों से यथारुचि दो या तीन आवर्तन या अनावर्तन से इसे किया जाए यह बात 'अनिशेषम्' इत्यादि से कही है। इसी की विशेष बात–**'आकारैक'** इत्यादि से बतलायी है। वृत्त के अवरोही प्रवृत्त नामक भेद को जो पहिले बतलाया था उसे शीर्षक के अन्त में नियमपूर्वक रखा जाए।

३५०–३५४. उत्तर के आदि में मुख प्रतिमुख में विभक्त सोलह कला मात्रा, फिर बारह कलाओं से शाखा होगी। इसमें छः पात होंगें तथा द्विकल ताल। इसी प्रकार अन्यपदा प्रतिशाखा। यहाँ रोविन्दक के बाद शरीर का उपजीव्यत्व रहने से प्रस्तार प्रतिशाखा में अनुष्ठेय होता है।

३५५. इसके प्रस्वार के प्रमाण को दिखलाते हेतु कहते हैं—'अविशेषा दित्यादि से। यहाँ प्रतिशाखात्मक ही अन्त रहेगा क्योंकि यहाँ कार्य है प्रतिसंहरण या समाप्ति। यह वर्णनिवृत्तिरूप वाला सामान्यतः किया जाएगा जो कि यहाँ नियत है।

३५७. अब इसकी मार्गगत विचित्रता को—'तालोऽयम्' इत्यादि से कहते

हैं। अतः यहाँ प्रयोग विलम्बित-लय में रहेगा। यह दक्षिणमार्ग की बात वृत्तिमार्ग में भी यथोचित विचार से सन्निविष्ट रहेगी।

३६१-३६३. शेष में प्रकृति का आशय है कि चतुष्कलत्व या स्वस्वरूप में रहना। उपलक्षित प्रकृति में चतुष्कलता (ही) रहेगी। यह आशंका कि औवेणक में पादान्तप्रकर्ष नहीं फिर वृत्तियोग को सामान्यतः कैसे कहा गया है। अतः कहते हैं 'य एव दक्षिणे' इत्यादि से। अर्थात् जो दक्षिण मार्ग में है वही यहाँ भी रहेगा।

३६४. 'चित्रे' इति। दक्षिण में जो तालविधि चतुष्कल तथा वृत्ति में द्विकल है ये दोनों चित्र में एककल होती है क्रमशः या एक साथ भी। व्यस्त-पक्ष में कदाचित् द्विकल तथा कदाचित् चतुष्कलत्व में तथा समस्तपक्ष में कुछ भाग द्विकल और कुछ चतुष्कल किये जाते हैं। विचित्रता के कारण समस्त का अपवाद भी है जिसे मुनि ने **'शाखानिवृत्तात्'** इत्यादि से कहा है।

४२७. लास्यमित्येव इत्यादि। क्योंकि लास्य का स्वरूप पूर्व में बतलाया था परन्तु अब क्रमशः उसका प्रयोग भी कहेंगें यही 'लास्यमित्येव' से कहते हैं। (पूर्व से ताण्डवाध्याय में 'तथा दशरूपकनिरूपणाध्याय में लास्य की चर्चा थी जिसे मिलाकर स्मरणार्थ कहा है) 'लास्य' का निर्वचन है 'लसनमर्हति' इति लास्यम्। अथवा 'लसनं क्रीडा' या चित्त का एक लगाव जो पुरुष का स्त्री के प्रति या स्त्री का पुरुष के प्रति रहे तो ऐसा भाव 'लास्य' होगा। क्रीड़ा की जो उपयुक्तता रखे अर्थात् 'लासमर्हतीति लास्यम्' तत्र साधु वा लास्यम्। यदि स्त्रीपुरुष दोनों का लगाव हो तथा एकत्र रखा जाए तो श्रृंगार हो जाएगा। इसीलिये पूर्व में 'स्त्रीपुंसयोस्तु संलापः' कहा गया था। इसके एकार्थ तथा पृथगर्थ भेद से दो प्रभेद इसी अध्याय में बतलाये गये हैं (जो शिष्य बोधार्थ हैं)। यहाँ 'भाणवच्चैकहार्यम्' से सन्ध्या में कही गयी बात का स्मरण करवाया गया है। एक पात्र से अभिनीत 'वस्तु' वाले 'भाण' की तरह। ऊह्यवस्तु इत्यादि का अर्थ है कि जो अभिहित शब्दों से व्यक्त किया गया हो (अभिनयादि से)। यहाँ एकहार्य से पात्रान्तर की भी संभावना कही गयी है (जो भाण में नहीं होती)।

४३५-४४१. अब सुकुमार-प्रयोग के उपयुक्त तत्व को दिखलाने के लिये 'तत्र गेयपदं' से उपक्षिप्त को दिखलाते हैं। भाण्ड अर्थात् त्रिपुष्कर मृदंग को यथास्थान स्थापित कर अर्थात् ब्रह्मस्थान को ध्यान में रख नर्तकी की दोनों बाजुओं में वीणावादक तथा गायकों को स्थापित कर त्रिसाम को प्रयुक्त कर तन्त्रीवाद्य तथा वेणु से मुक्त मार्गासारित प्रस्तुत करे। इस विधान से प्रस्तुत

लास्य से परमेश्वर के आराधन के साथ अन्तरंग अदृष्टसिद्धि को साधने से विघ्नों की शान्ति भी पर्याप्त मात्रा में बन जाती है। इस प्रकार गीतकविधि के स्थान पर पाणिका और बाद में गेयपद को संक्षेप से उपस्थित करने में उसके उपस्थापन तथा परिवर्त के स्थान बतलाकर अब **'त्र्यस्रेण** द्विकलेन' इत्यादि से लक्षण कहते हैं। त्र्यस्र अर्थात् चाचपुट जो दो कला वाला हो उससे। **परिधानकम्**—यह त्र्यस्र, अपकृष्ट तथा एकाक्षर, चतुर्वस्तु और द्विगुण कलोपवहन का होता है। यहाँ वस्तु की प्रधानता 'प्रत्यर्थ' से दिखलायी तथा शृंगाररस के वर्णन की प्रमुखता भी।

४४१–४४४. 'स्थितपाठ्य' को कहते हैं 'स्थितपाठ्यस्य' इत्यादि से। **ततः परम्**—से इसकी नान्दीस्थानता कही है। वृत्त की नान्दीस्थानता के कारण तद्धर्मक अर्थ होगा। त्वरितं पञ्चपाणिना—अर्थात् द्विकल पञ्चपाणि में गायन और नृत्य किया जावे।

४४५–४५१. अब 'आसीनपाठ्य' को **'उपोहनतालम्'** इत्यादि से बतलाते हैं। यह उपोहन चाचपुट के द्वारा शुष्करूप में किया जाता है। कुछ विद्वान् इसे द्विकल उपोहन भी कहते हैं। इस उपोहन से स्थानक अर्थात् आसन पर बैठ कर 'आसीनपाठ्य' प्रस्तुत करे। पौरुषभाव का आशय है कि लक्षणालंकार तथा गीत के स्पर्श के साथ। यहाँ लास्य की प्रस्तुति के कारण सर्वत्र स्त्री तथा पुरुषपात्र के संलाप की अनुवृत्तिरूप में योजना समझना चाहिए।

४५२–४५६. पूर्व में नान्दीस्थान के दो अंग कहे गये। अब शुष्कापकृष्टा के अवसर पर 'पुष्पगण्डिका' को दिखलाते हैं—**'स्यात् पुष्पगण्डिका'** इत्यादि से। समवृत्त श्लोक को पौरुषपूर्ण जनस्तुति वाला रखे। इसका चच्चत्पुट ताल रहने से चार सन्निपात तक इस श्लोक का गायन हो। **पादे पादे**- का आशय है कि एक पद के अभिनय के बाद इतना ही शुष्काक्षर गान रहे। माल्यग्रथन जैसे इस प्रयोग के कारण इसका यथोचित नाम पुष्पगण्डिका रखा गया। **अन्ते**—अर्थात् शुष्कापकृष्टा के अन्त में रंगद्वार के कथित प्रयोग के सूचक नृत्यगान के समय। इस प्रकार उक्त 'रंगद्वार' होता है।

४५७–४६३. चारी-प्रस्थान के प्रसंग में **'प्रच्छेदक'** को बतलाते हैं—**'त्र्यङ्गं द्विधातु'** इत्यादि से। **ज्योत्स्नायाम्** इत्यादि से प्रयुज्यमान गेयकाव्य स्वाधीनभर्तृका नायिका के योग्य रखने से उसके विषय पान, गोष्ठी, अन्योन्यप्रसाधन जैसे रहेंगे। **'त्र्यङ्ग'** में तीन अंग दिखलाये जिसमें प्रथम चच्चत्पुट के द्वारा प्रक्रीडित अंग की सार्थकता द्वितीय तोटक नामक अंग तथा नाराचक छन्द नामक तृतीय अंग होगा।

४६३–४६७. अब महाचारी प्रस्थान के प्रसंग में '**त्रिमूढ़क**' को 'अनिष्ठुर' इत्यादि से बतलाते हैं। अनिष्ठुर तथा श्लक्ष्ण पद से गेयकाव्य को माधुर्य, श्लेष जैसे गुण की मुख्यता वाला रहना चाहिए। विष्कम्भ पद का अर्थ है विस्तार अतः अविष्कम्भात् अर्थात् विस्तार सहित यह दिखलाया। अर्थात् यहाँ विस्तीर्य रूप में अंगहारों को न रखे। 'न पाठ्यं स्वल्पम्' इत्यादि से त्रिविध अभिनय में 'वाचिक' रखे आहार्य नहीं।

४६७–४७३. अब चारी के अंग से सम्बद्ध '**सैन्धवक**' को दिखलाते हैं '**नातिस्पष्टार्थं**' इत्यादि से। सैन्धवी भाषा सरसता और सुकुमारता से रहित होगी तथा यह केवल शुद्ध रहेगी काव्य रचना में भी। वीर, अद्भुत तथा रौद्र रसों का वितस्तालिप्त मार्ग से वादन किया जाता है। इसमें रचना क्रोध, शोक, विस्मय तथा उत्साह की छाया लिये हुए रहती है तथा गीतवाद्य प्रधान लास्य भी होता है अतः यहाँ काव्यार्थ प्रमुख नहीं होता। '**मुखप्रतिमुखोपतम्**' इत्यादि से महाचारी के अंग को कहा गया। यहाँ त्रिमूढ़क ही ताल तथा काव्य के रचनावश 'द्विमूढरूप' हो जाता है अपनी शरीरगत अल्पता के कारण।

४७३–४७५. अब त्रिगतस्थानिक '**उत्तमोत्तम**' को कहते हैं–'उत्तमोत्तमके' इत्यादि से। यहाँ नर्कुटक वृत्तविशेषरूप में रहेगा। तथैव—अर्थात् पाठ्य के कार्य द्वारा न कि गीत से। अनन्तर द्विपदी योजना के द्वारा वृत्त—जो वस्तु नामक है—उसे चौबीस कला वाली ताल के द्वारा प्रयोजित करना चाहिए। उत्तम लास्यांगों से भी जो उत्तम है हेलादि के योग से अतः यह 'उत्तमोत्तक' हो जाता है।

४७६–४८७. अब '**कोपप्रसाद**' इत्यादि से 'उक्तप्रत्युक्त' को कहते हैं। '**एवमेतद्**' से तालरूप प्रमाण को हमने दिखलाया। **बुधैः**—प्रमाण को जाननेवाले तालज्ञों से।

४८३–४८९. क्योंकि ऋग् आदि का स्वरूप सप्तरूप में आता है परन्तु गीतक आदि से अभिन्न भी होता है किन्तु यह त्र्यस्र, चतुरस्र ताल के प्रकारों से भिन्न होता है जिसे कहा भी जा चुका है '**षड्भ्योऽष्टगुणपर्यन्तम्**' इत्यादि से। **यस्तु तालम्**—नाट्यप्रयोग ताल के सूत्र से आबद्ध होकर ही नटों के प्रवेश की योग्यता रखता है अतः ताल की प्रमुखता यहाँ होगी यह स्पष्ट है। ताल का सामान्य लक्षण होगा 'यतिपाणिलय का समूह'। क्योंकि ताल ही सारी क्रिया का परिच्छेदक होता है। लय का स्वरूप—'**त्रयो लयास्तु**' से कहते हैं। यह लय का त्रिविध विभाग है। अब—'**छन्दोऽक्षर**' इत्यादि

से लय का स्वरूप कहते हैं। अतः छन्दोगत, अक्षरगत; पदगत और सकल वाद्यगत भी लय होगा यह स्पष्ट है।

५०२. यहाँ पाठान्तर है—'इत्येष लक्षणविधिर्निर्दिष्टो गानयोक्तृभिः' यहाँ जो लक्षण अर्थात् ताल की विधि मैंने गान के योग के विधिज्ञों द्वारा कही गयी या बतलाई है। इस अध्याय में कथित वस्तु ताल से ही 'ध्रुवा' का क्रम प्राप्त हो जाता है अतः उसे अगले अध्याय में बतलायेगें यह कहकर अध्याय समाप्तिरूप उपसंहार किया गया।



अध्याय द्वात्रिंश
(ध्रुवाविधानाध्याय)

१–३. पूर्व अध्याय में ध्रुवा के लक्षण की बात कही गयी थी जिसे अवसर प्राप्त होने से तथा ध्रुवा की व्याख्या हेतु—**'ध्रुवासंज्ञानि'** इत्यादि से कहते हैं। पूर्व में—'नारदाद्याश्च गन्धर्वाः' (ना. शा. १।५१) इत्यादि से यह सम्बन्ध बताया कि नारद आदि वीणावादकों ने जिन गीताङ्ग, वर्णाङ्ग, सदनरूपाङ्गु मुखप्रतिमुख तथा सप्तरूप के प्रमाणक त्र्यस्र चतुरस्रादि ऋग्-गाथा, पाणिका को जो गानयोग में नियोजित किया था वे ही 'ध्रुवा' भूत होंगे। कारिका में प्रयुक्त या निपद से ऋग्गाथा पाणिका आदि का संग्रह है। अर्थात् नाट्य में। अनेकशः अर्थात् व्यस्त समस्त रूपों में। यहाँ सर्वशब्द इह—प्रकृत में समग्रता को दिखाता है अर्थात् रंजनातिशय के लिये जितने अंग संयोजित रहें वे सब समुदित होकर 'ध्रुवा' होते हैं। **ध्रुवासंज्ञानि**—आशय यही कि गीताङ्ग, सप्तरूपाङ्ग तथा सप्तरूप प्रमाण की संज्ञा 'ध्रुवा' है। ऋग्गाथा पाणिका की ध्रुवा मूलप्रकृति होगी। इस कारण से तथा ध्रुवा के व्यवहार से उसके कार्यरूप समुदाय भी ध्रुवा ही कहलाएगें। इन कार्यों के विनियोगगत प्रभेद होते हैं जिन्हें आगे दिखलाया गया है।

४–६. गीतकों के अंग से भी एक विशेषता (आंशिक) बनती है। इसी आंशिक या थोड़ी-सी विशेषता लाने के कारण ये 'अंग' अपनी उपयोगिता भी रखेंगें तथा रँजकता भी साधेंगे। जैसे इनमें 'मुख' से प्रधानार्थ की सूचना, प्रतिमुख से वस्तु की सूचना, वैहायस से वस्तु में अलंकार योजना, प्रवृत्त से स्थित का अनुसन्धान, वज्र से अर्थ का आपादन तथा सन्धि से अनुसन्धान, सँहरण से वाक्यार्थ की समाप्ति, प्रस्वार से वर्ण का अवरोहण या अनुत्कर्ष, माषघात से एकत्रार्थ का योग, उपवर्तन से गीत का पुनरावर्तन, उपपात से गीत के पूर्वार्ध का निगमन, वेणी और प्रवेणी दोनों एक ही अर्थ में विचित्रता जोड़ना, चतुरस्रक से उनके दो भाग या काटना, शीर्षक से प्रधानार्थ की विश्रान्ति या पूर्ति, सम्पिष्टक से छन्दोगत गुरु, लघु में गति तथा विचित्रता लाना, अन्ताहरण से भावी या आगामी घटना या अर्थ का आक्षेप करना ऐसे ये अंग के कार्य होते हैं।

७. **'एकवस्तु'** इत्यादि। आशय यह कि जहाँ एक ताल और वर्ण अंग से निर्वाह हो तो वह 'ध्रुवा' जहाँ समवृत्त पाद और उससे परिच्छिन्न गीति

को ताल सहित रखें तो 'परिगीतक', जहाँ तीन अपूर्व वर्णाङ्गों से स्तुति के द्वारा अंगों का निर्वाह हो तो मन्द्रकगीत की तरह तीन अंगोवाला 'मद्रक' तथा विषमवृत्त की तरह चतुर्थ तत्व के साथ ताल आदि वर्णाङ्ग के योग रखने पर 'चतुष्पदा' नामक ध्रुवा होगी।

८. 'ध्रुवा' को अन्य रूप में भी अब बतलाते हैं—**'ध्रुवा वर्णा'** इत्यादि से। 'ध्रुवा' का आधार 'पद' है वह जिस वृत्त या जाति में हो तो वह 'ध्रुवा' है अतःलक्ष्य में गीयमान रूप ही ध्रुवा होगा। अक्षरयोजना से द्रुत आदि लाभ, उसकी वर्णाद्यपेक्षा को आश्रित रहने वाले अन्य अंग भी परस्पर सम्बन्ध होकर रहने से 'ध्रुवा' हो जाते हैं। पद के कारण प्रावेशिकी आदि भेद होते हैं वे भी 'ध्रुवा' होगें।

९. इनके विभाग को दिखलाते हैं—**'ध्रुवास्तु पञ्च'** इत्यादि से। प्रावेशिकी आदि से पाँच प्रभेद ही होते हैं जो गुरु, लघु के सन्निवेश, अक्षर, मात्रा, की सीमाओं से तथा रस, भाव, प्रकृतिगत विभेदों तथा आधार के भेद से 'नानात्व' धारण करते हैं।

१०–१३. अब प्रावेशिकी ध्रुवा में विनियोग किये जाने वाले अंगों को दिखलाते हैं—**'उपपातः'** इत्यादि से। इसी प्रकार क्रमशः अड्डिता, अपकृष्टा, स्मिता तथा अन्तरा ध्रुवाओं के अंगों की योजना कही गयी है।

१४. पूर्वकथित ध्रुवागत छन्दोवृत्त का संस्थान दिखलाने के लिये **'यान्यङ्गानि'** इत्यादि से कहते हैं। अङ्ग—विवध आदि अंग, कला—गुरु, लघु, प्लुत, द्रुत आदि, गीतकान्तर्गत—मुख, प्रतिमुख तथा लय, यति आदि। आशय यह कि कलादि सभी छन्दोगीतवाले वृतों से ही निर्मित होकर देखे जाते हैं।

१४–१५. पूर्व में 'ध्रुवास्तु पञ्च' इत्यादि से छन्दोवृत्तरूप जिस संस्थान को कहा उसकी जिस अंश में उपयोगिता होगी अब उसे—**'यान्यङ्गानि'** से बतलाते हैं। अङ्गानि—विवध आदि अंग, कलाः—गुरु, लघु, प्लुत, द्रुत आदि। त्र्यस्र चतुरस्र रूप ध्रुवात्मक और मूलप्रकृति रूप वाले होते हैं वे तालरूपमें षट् और अष्ट कलात्मक किये जाएँ।

१७–१८. विदारी के निवेश से शोभातिशय को दिखला कर अब विदारी का स्वरूप दिखलाते हैं—**'पद वर्ण'** इत्यादि से। अर्थात् अवान्तर वाक्य की समाप्ति पर स्थायी आदि वर्णों का भी अपन्यास या न्यास के द्वारा समाप्त होना **'विदारी'** कहलाता है। अतः इसके योग से गीतखण्ड को भी विदारी कहते हैं।

१८-१९. रस तथा भाव के प्रसादन में उपयोगी प्रधानता के कारण 'प्रासादिकी' ध्रुवा की स्थिति को कहते हैं—**'त्र्यस्रं वा'** इत्यादि से। त्र्यस्र या चतुरस्र पाठ्य को जानकर उसके पद के प्रमाण के अनुरूप 'प्रासादिकी' रखी जाए। अवसान अर्थात् निश्चय या रस को लक्ष्य या प्रयोजन रखने वाली ध्रुवा को 'आवसानिकी' कहेंगे यह इसकी सार्थक व्युत्पत्ति है। अब इसके वर्णवृत्त कहते हैं—**'गायत्र्याम्'** इत्यादि से।

२०-२१. वर्णवृत्तों से प्रासादिकी की ताल व्यक्ति को दिखला कर अब मात्रावृत्तों में उसे कहते हैं—**'शक्वर्याश्चाभि'** इत्यादि से। मात्रावृत्त शक्वरी आदि के जो नियत कहे गये तन्मयी अवसानिकी 'ध्रुवा' रखी जाए। इस प्रकार छन्दोविनियोग दिखलाया गया।

२२-२३. इस प्रकार पाठ्ययोजना में त्र्यस्र आदि तालविधान को दिखला कर अब उसे पात्र या प्रकृति में भी दिखलाते हैं—**'मध्योत्तमानां'** से। पूर्णपदी-पूर्ण अर्थात् 'द्वितीयपाद' या समवृत्त वाले छन्दः। प्रमाणतः—चतुरस्र आदि रूपों में निश्चय कर।

२५. अब उत्तम आदि पात्रों के विषय को ग्रह के द्वारा सूचित करते है—**'कनिष्ठिकाग्रहा'** इत्यादि से।

२८. गान्धर्व की स्वर विधि और ताल विधान बतलाया जा चुका है अतः अब ध्रुवा में प्रवेशादि भेद के साथ रसभावादि के औचित्य को भी दिखला कर 'पद' में उस गान्धर्व की स्थिति को दिखलाते हैं—**'गान्धर्वम्** इति। 'गान्धर्व' ऐसा कि जिसमें स्वर ताल की प्रमुखता हो, यद्यपि उसमें अदृष्ट की प्रधानता भी रहेगी परन्तु यहाँ केवल उसके नाट्यगान की स्थिति दिखलाना ही इष्ट है।

२९-३०. यहाँ गान्धर्व में अक्षरसम्पन्न 'पद' की स्थिति बतलाने को उसका लक्षण कहते हैं—**'यत्किञ्चिदक्षर'** इत्यादि से। जो अक्षरों से सम्बद्ध हो वह 'पद' होता है। यही 'तान्यक्षराणि वक्ष्ये यानि पुरा ब्रह्मगीतानि' (ना. शा. ३१।१०४) में कहा भी है। पद के प्रभेद—निबद्ध तथा अनिबद्ध। इनमें निबद्ध वृत्तादि पद्य तथा अनिबद्ध गद्य कहलाता है।

३१-३२. वाक्करण—स्वरालाप में वाक्क्रियामात्र हुँकार जिसमें ताल आदि प्रतिष्ठित न हो ऐसा अनिबद्ध 'पद' होना। इसमें वर्णालंकार रस आदि की अपेक्षा नहीं होती। यह ध्रुवा का रंजक होकर आतोद्य (आदि) की शोभा बनता है।

३७–३८. अत्युक्त से गायत्री छन्द तक क्रमशः अक्षरों वाले छन्दों की जातियों का विलम्बित दशा में स्थितापकृष्टा ध्रुवा में त्र्यस्र भेद में योजना हों और उष्णिक् अनुष्टुप्, आदि की प्रासादिकी में त्र्यस्र भेद में योजना करे।

३९. अब द्रुता में प्रयुक्त छन्दों को दिखलाते हैं—**'अनुष्टुप् बृहती'** इत्यादि से। यहाँ द्रुता में ये वृत्त रहेंगें।

४४. 'वृत्तान्योज' इत्यादि। ओजःकृतानि—त्र्यस्र भेद से युक्त या उनके विषय वाली अपकृष्टा ध्रुवा में स्थित उपयुक्त वृत्त।

४८. प्रतिपाद में ताल की समत्वेन योजना की विधि को बतलाते हुए कहते हैं कि यहाँ शम्या चच्चत्पुट ताल से युक्त रहे। सभी जातियों अर्थात् ध्रुवाओं का। छन्दोवृत्त—दण्डकादि छन्दों को छोड़ कर शेष छन्दों को। ध्रुवा के प्रसंग में छन्दोवृत्त का निदर्शन **स्थान—**नियोज्य का विषय या लक्ष्य, **प्रमाण—**लक्ष्य तथा संज्ञा—छन्दों के नाम जैसे—श्री आदि अर्थात् छन्दों के ध्रुवागत लक्षण तथा उनके उदाहरण और नाम को दिखलाते हैं। इनको अब मुनि क्रमशः दिखलाते हैं।

१५४–१५५. उपसंहार करते हैं—**'एतास्तु जातयो'** इत्यादि से। अब आक्षेपिकी अर्थात् जो आक्षेप करे ऐसी और जो रसादि को अवकृष्ट करे ऐसी अवकृष्टा ध्रुवा। इनमें सुप्रतिष्ठा आदि मिताक्षर वृत्तों को अवकृष्टा में केवल—समग्र ध्रुवागान में नहीं-संगत करे। आशय यही कि नाट्य की उपरंजक अवकृष्टा की योजना या विधान पूर्वरंग में होने वाले गान्धर्व की अवकृष्टा ध्रुवा तक रहे शेष देवस्तुति विषयक वृत्त जैसे—'ईशं वन्दे' इत्यादि हैं वे भी अवकृष्टा ध्रुवा में योजित होगें।

१५८. पूर्व श्लोक के—'कलान्तरकृताक्षरेति' में जो कहा उसकी व्याख्या करते हुए आगे कहते हैं—**'अवकृष्टा'** इत्यादि। वृत्त तथा जाति में जो अक्षरों की गुरु, लघु रूप में स्थिति है उनका कला में सन्निवेश अवकृष्टा में किया जाता है।

१५९. अवकृष्टा मिताक्षर छन्द की या लघुवर्ण की होती हैं पर यहाँ उसके अन्त में वर्ण विशेष या गुरु भी हो सकते हैं यह भी—'अल्पवस्तुपदा' इत्यादि से दिखलाते हैं। प्रावेशिकी में भी संक्षेप ऐसा ही होगा परन्तु यह किसी कारणवश अर्थात् अक्षर, लय आदि के अवकर्ष के होने पर रहेगा।

१६१. मुखे—आरब्ध के प्रथम पाद में दोधक के बाद शेष तीन पाद ह्रस्व किये जाए। युग्म में चच्चत्पुट तथा ओज को चाचपुट या मिश्र सप्तकलिक की योजना रखी जाए। दोधक-मात्राओं का पूरक ही लघुसंचय (ह्रस्व

वर्ण की योजना) हो पर अन्य आचार्यों के मत में इन पादत्रय में जगती से लेकर अतिधृति तक के छन्दों में लघुसंचय करना चाहिए।

१६२. द्रुता ध्रुवा की विशेषविधि को—**'जगत्यादि'** से बतलाते हैं। अर्थात् द्रुता में जगती के द्वादशाक्षर से लेकर अतिधृति के उन्नीस अक्षरों वाले छन्द रहेंगें। अब क्रमशः सोदाहरण इन्हें आगे दिखलाते हैं।

१८६. एता अष्टौ इत्यादि। पूर्व में जगती से लेकर अतिधृति तक तथा विक्रान्ता से मुखचपला तक जो दिखलाये हैं वे द्रुता की मूल या शुद्ध जातियाँ हैं; जिनको उत्तम पात्र में योजित करना चाहिए या मध्यम में भी परन्तु इनके मिश्र या विषमादि को अधमपात्र में निर्माण कर लगाया जा सकता है।

१८७. इन पूर्ववर्णित आठो का विषयादि दिखलाते हैं—**'एतास्तु'** इत्यादि से। उत्तम पात्र की दूसरे का अनुगमन करने, स्थगति आदि की दशा में 'द्रुता' को विक्रान्त आदि वृत्तों में रखा जाए। औपम्यगुण संश्रयाः—अर्थात् सादृश्य को दिखलाकर जैसे ऐरावत, हंस आदि के उदाहरण से जो मुनि ने ही कहे हैं।

१८८. इस प्रकार उत्तम की स्थिति को दिखलाकर अब मध्यम और अधम को—**'सप्तदश'** इत्यादि से कहते हैं। प्रकरणवश यहाँ मध्यम, अधम में समान रूप से द्रुता होगी ऐसे कथित छन्दों में। जैसे—छिप्ता।

२५५. 'गुर्वादि' इति। द्रुतगत या द्रुत विषयक ध्रुवाबन्ध की जो गुरु लघु क्रिया है उसमें आदि में गुरु या लघु होगें। अथ शब्द में मध्य में भी त्र्यस्र, चतुरस्र या मिश्र ताल को एक उक्त लक्षण वाले सत्रह अक्षरों के वृत्त में योजित किया जाता है। आगे तालभेद तथा लय के भेदों की दशा को भी मुनि ने यथास्थान दिखलाया है जो आगे कहा आ रहा है। पूर्व में वृहती से अति जगती तक के छन्दों की द्रुता ध्रुवा में स्थिति कही थी। यहाँ उद्‌गता ध्रुवा में छन्दों की स्थिति कहते हैं—**'आद्ये ह्यथनिधने'** इत्यादि से आगे बीस लक्षणों तक।

२५९-२६०. समवृत्तपदानां तु—जिनके समवृत्त छन्दों के लक्षण वाले पाद हैं उनमें क्रमशः अक्षरादि की वृद्धि से होने वाले ध्रुवागत रूपों को दिखाते हैं।

इनमें जो चार अक्षरों से आरम्भ कर जगती तक के छन्दों में अक्षरों की वृद्धि से होने वाले समपाद छन्दों को केवल उदाहरणों से दिखलाया जा रहा है। इनमें उष्णिक्‌गत वर्धमान को त्र्यस्र में तथा अर्थों की चतुरस्र में स्थिति समझना चाहिए।

२७१. इस प्रकार जो वर्ण वृत्त बतलाये उनकी ताल योजना दिखला कर अब मात्राविभाग को **'अतः ऊर्ध्वम्'** इत्यादि से बतलाते हैं। **गण**—चतुर्मात्रिक। मात्रा ग्रहण यहाँ दो तीन आदि के लिये हैं। गणशब्द के ग्रहण से वर्णवृत्तों की मात्र यहाँ योजना इष्ट है यह दिखलाया गया है तथा मात्रा के ग्रहण से जातिवृत्तों की।

२८४–२८५. त्र्यस्रा तालगत पांच गण चतुर्मात्रिक हैं। सन्निपात—अर्थात् परिच्छेद। चतुरस्रा के आठ गण चतुर्मात्रिक होगें। इसी प्रकार गुरु लघु से युक्त वृत्तों में गण—विभाग की कल्पना के द्वारा पाद में या दो पादों में त्र्यस्र और चतुरस्र की योजना रखी जाए। जैसे—वसन्ततिलक में त्र्यस्रदशा में पांच गणों जी मात्राओं का विभाजन होगा।

२८८–२८९. द्रुत के विषय को **'एष त्वक्षर'** इत्यादि से निर्दिष्ट करते हैं। द्रुतलय में अनेक वर्णों का गीत में सन्निदेश रहेगा इस कारण आधा गण अधिक होगा। अतः द्रुताध्रुवा में त्र्यस्र प्रकार में साढे पांच गण बनेगें। अर्धषष्ठगण—साढे पांच गण।

२९०. द्रुता की विधि के बाद अब शीर्षकों को दिखलाते हैं—**'शीर्षकाणामनियमो'** इत्यादि से। ध्रुवा के उपयुक्त शीर्षक अनेक वृत्तों से निर्मित या उत्पन्न होते हैं। इनकी वृत्तों के गणविभाग के द्वारा कल्पना रहती है। इनकी तालविधि को—**'गुर्वादिरथ'** से दिखलाया है। गुर्वादि से प्रथम प्रस्तार भेद तथा लध्वादि से अन्य प्रस्तार भेद को दिखलाया गया है। सर्वलघु से होने वाले भेद की स्थिति होती है तथा यहीं प्रस्तार समाप्ति भी।

२९७. अब तालविधि में विचित्रता को दिखलाते हैं—**'एकद्विकलास्त्रिकला'** इत्यादि से। प्रासादिकी तथा आक्षेपिकी ध्रुवा में तीन, चार, छः तथा आठकला को रखा जाए। एक कलानुसार यथाक्षर विधि के द्वारा प्लुत, गुरु, लघु, द्रुतरूप में रखे जाने से यहाँ विचित्ररूपता बनती है।

२९८. प्रावेशिकी और नैष्कामिकी में तालवैचित्र्य दिखलाते हैं—**'त्र्यस्रे विराम'** इत्यादि से। विवक्षित सभी तालों के अन्त में विराम रखना चाहिए (यह सामान्य बात है) तथा मध्य में नहीं।

३००–३०१. स्थिता आदि के दो पादों की समाप्ति पर विराम रखना इष्ट है। वृत्तविभाग की यथाक्षार स्थिति में तालगत विचित्रता की विधि **'कलाकलाध'** इत्यादि से कही गयी। अर्थात् जो प्लुत, गुरु, लघु तथा द्रुत रूप से उपलक्षित समाहृत संयोग वृत्ताश्रित रखे जाएं।

३०२–३०३. वृत्ताश्रित ताल की विधि को दिखलाते हैं—**'गुरुप्राया'**

इत्यादि से। **वृत्तसम्भवाः**—वृत्त तथा गीत के गुरु, लघु अक्षरों के स्वरूपों वाली ध्रुवाओं की जातियाँ। इनके तालप्रस्तारों को इसी विधि से जानना चाहिए। आगे शीर्षक के प्रकृति से लेकर उत्कृति तक के वृत्तों में 'शीर्षक' के लक्षण तथा उदाहरण दिये जा रहे हैं। ये सभी शीर्षकप्रभेद उत्तमपात्रों के विषय तथा युग्मताल में रहेंगें।

३२१–३२२. अब शीर्षकों को दिखलाकर आगे अधम पात्रों में संयोजित की जाने वाली प्रासादिकी आदि ध्रुवाओं में 'नर्कुटक' को दिखलाते हैं—**'पुनर्नकुटकानाम्'** इत्यादि से। इस नकुर्टक पद की व्युत्पत्ति है—'नटोऽधमप्रकृतिः तत्र भवानि 'नर्कुटकानि' वृत्तानि। अत्र 'संज्ञायां कन्' इति कन्। अर्थात् अधमप्रकृति नट में रहने वाली या उनके लिये निर्मित वृत्त को 'नत्कुटक' कहेंगें। अधमप्रकृति रहने से यहाँ त्र्यस्र ताल नियत है। इसकी आठ जातियाँ रथोद्धता आदि वृत्त हैं।

३४७–३४८. 'नक्र्टक' के बाद अब 'खञ्जक' को जो मध्यम और अधमपात्र के उपयुक्त वृत्त होता है उसे **'पुनश्च खञ्जकानाम्'** से दिखलाते हैं। प्रासादिकी आदि ध्रुवाएँ हो जब उत्तम, मध्यम और अधम विषय में संयोजित रहें तो नर्कुटक तथा खञ्जक में होगी। इनके इस स्वरूप के वैचित्र्य विशेष को ही पुनपद से कारिका में दिखलाया है। इस खञ्जक की तीन जातियाँ होती हैं। गति विकल पात्र वृद्ध हो तो 'खञ्जक' प्रस्तुत होता है। अन्य आचार्य गतिविकल पात्र के युवा रहने पर भी उसे 'खञ्जक' कहते हैं उसकी गति आदि विषयों में संयोजित 'खञ्जक' वृत्त हैं जिनकी ध्रुवा में योजना रखी गयी। खञ्जक गति विकलता की स्थिति में निबद्ध होती हैं अतः यह आवश्यक नहीं कि वह वृद्ध ही हो या अन्य पात्र जो अन्तःपुर में हों वे भी (कञ्चुकी आदि भी गति वैकल्य आदि) 'खञ्जक' जाति के वृत्तों से युक्त रखे जा सकते हैं।

३५६. इन सभी ध्रुवाओं में 'गायत्र' की मुख्यता को—'चतुःषष्ठि' इत्यादि से कहते हैं। षडक्षर गायत्र के चौंसठ भेद बनते हैं इस गायत्र से ही नीवृत् भुञ्ज नामक दो भागों से पादक्रमता लाकर सभी प्रभेद बनते हैं या उनकी सिद्धि होती है। गायतः त्रायते इति 'गायत्रम्' यह इसकी व्युत्पत्ति है जो सार्थक है।

३५७. गावत्र ताल एवं समवृत्त से सम, अर्धसम एवं विषम भेद वाली ध्रुवाएँ होती हैं। इनके ताल भेद भी त्रिविध बनते हैं-युग्म, ओज तथा मिश्र। इस प्रकार इनके नौ भेद होगें।

३६५. अनेक रस, भाव तथा अर्थवाले विभावादि से युक्त सामाजिकों के हृदयों में जिस प्रयोजन से 'प्रवेश' में गान हो वह 'ध्रुवा' प्रावेशिकी है। यहाँ इसका प्रयोजन प्रवेश होगा।

३६६. प्रविष्ट पात्र का निष्क्रमण अवश्य होगा ही अतः नैष्क्रामिकी ध्रुवा को—'**अङ्कान्ते**' इत्यादि से दिखलाते हैं। अङ्क की समाप्ति हो जाने पर अथवा असमाप्ति या बीच में ही जब पात्रों (पात्र) का निष्क्रमण हो तब प्रयुक्त ध्रुवा नैष्क्रामिकी होती है। इसकी व्युत्पत्ति हैं—निष्क्रमण क्रिया में उपगत—अर्थात् वर्ण्यभाव से स्वीकृत गुण हो जहाँ अतः हंस, राजादि उपचरितार्थ हैं—जहाँ ऐसी ध्रुवा।

३६७. अब आक्षेपिकी का स्वरूप '**क्रममुल्लङ्घ्य**' इत्यादि से कहते हैं। जब रसापेक्षी योजना उसके विषयवार प्रयुक्त हो तो आक्षिप्यमाण रस के दीप्त होने पर द्रुता तथा वाक्यादि के श्रवण से रस के मसृणरूप के आक्षेप्य बनने के कारण बिलम्बिता होगी तथा ये दोनों स्थितियाँ आक्षेपिकी में रहेगी।

३६८. अब प्रासादिकी को कहते हैं—'**या च रसा**' इत्यादि से। जो उपगत अर्थात् प्रस्तुत रसविशेष को जब प्रसादयति—निर्मल करती है—जैसे अनुक्त विभावादि समुदाय को आक्षेपादि से स्थिरीकृत करने में समर्थ रहे। काव्यगत उत्कर्ष के द्वारा जहाँ राग प्रसादन गीतिशोभा के द्वारा जब सामाजिक-हृदय तन्मयीभावना से प्रसन्न हो उठे तो 'प्रासादिकी'। इसकी प्रावेशिकी और आक्षेपिकी के बाद योजना होती है तथा आवश्यक रूप में यह रखी ही जाती है।

३६९–३७९. अब आन्तरी ध्रुवा को—'**विषण्णे**' इत्यादि से कहते हैं। अन्तरा की व्युत्पत्ति है—'अन्तरे छिद्रे गीयते इत्यन्तरा' अर्थात् जो किसी छिद्र या दोषादि होने पर रहे। इसका प्रयोजन है—दोषप्रच्छादन। इन्हीं को 'विषण्णे' आदि से यहाँ कहा है। अतः इसमें सार्थक पदों की वाक्ययोजना नहीं होती यह लक्षण में शुष्काक्षरों से गाये जाने के कारण नाट्यधर्मीप्राया होती है।

३७१–३७२. अब पूर्वकथित—'**जाति स्थानं**' में कहे गये तत्वों का विवरण —'ध्रुवाणां' इत्यादि से कहते हैं। स्थान का सामान्य लक्षण है — 'यत्र गेयं प्रयत्नतः' अर्थात् रसोपयोगी पात्रविशेष ही स्थान है। इस स्थान के दो प्रभेद होते हैं परसंस्थ तथा आत्मसंश्रय। इनमें परसंस्थागत जैसे लक्ष्मण का तथा आत्मसंस्थ जैसे राम का।

३७३–३७५. अब आक्षेपिकी ध्रुवा में दोनों स्थानों के उपयुक्त लय

विभाजन से विशेष योग के निरूपणार्थ कहते हैं—**'बद्धे निरुद्धे'** इत्यादि से। अवकृष्टा—विलम्बिता। करुणाश्रये—करुण निर्वेद आदि में। स्थिता—मध्या तथा विलम्बिता ध्रुवा।

३७६. परगत दुःख में सर्वत्र ध्रुवा नहीं होती किन्तु इसे कुछ निर्दिष्ट अवसरों या प्रदेश में योजित करते हैं—इसे **'यत्र प्रत्यक्षजम्'** इत्यादि से बतलाते हैं। इस दशा में स्थिता (विलम्बिता) ध्रुवा रखते हैं।

३७७–३७८. उत्पात आदि दशाओं में द्रुता ध्रुवा रखी जाए जिसमें द्रुत लय हो।

३८१. **'शरीरव्यसने'** इत्यादि। अनुबन्ध—त्वरा अतः सानुबन्धा—द्रुत लय वाली अन्तरा ध्रुवा रखी जाए। इसकी शरीर व्यसनादि दशाओं में योजना की जाए।

३८२. जहाँ प्रधान या इसके सम्बन्धी पात्र का गाते या रोदन करते हुए प्रवेश हो अथवा सम्भ्रमादि में हो तो प्रावेशिकी ध्रुवा के समय त्वरावश अध्रुव प्रवेश रखा जाए।

३८३. अब कविशिक्षार्थ—**'एवमर्थविधिं'** इत्यादि से कहते हैं। अर्थ-विधि—ध्रुवाओं के प्रयोजन तथा प्रभेदों को जानकर।

३८४–३८९. प्रावेशिकी आदि में प्रत्येक के प्रभेदवश छः प्रकार होते हैं—उन्हें—**'शीर्षका'** इत्यादि से कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक ध्रुवा के छः प्रभेद हैं जिनके क्रमशः लक्षण दिये गये हैं।

३९०–३९५. अब योजना हेतु इनका विषयगत दिशादर्शन करते हैं—**'या च प्रावेशिकी'** इत्यादि से। 'प्रासादिकी' भी अवसरवश खञ्ज-नर्कुट रूप में हास्य शृङ्गार में क्रमशः योजित की जाए तथा ललितभाव में भी।

३९६. **'कुर्यान्नीचे'** इत्यादि। उत्तम तथा मध्यम पात्रों की दशा में भी करुण रस में 'अपकृष्टा' ध्रुवा रखी जाए।

३९७–३९८. **'सन्निपाताः'** इत्यादि। प्रावेशिकी के चार सन्निपात—ताल परिवर्त होंगे। शेष नैष्क्रामिकी आदि के दो परिवर्त तथा षट्परक अवरता होगी। मन्थरभावादि के अवसर पर अपवाद रूप में पूर्वोक्त की पुनः स्मृति दिखलाते हैं—**'स्थितं चाप्यद्रुतं''** इत्यादि से।

३९९–४००. किन भावों के रूपों से इनका प्रधानतः प्रमाण सम्मतरूप हो इसे **'त्रयो भावः'** से कहते हैं। हास्य शोकादि ओजः प्राचुर्य वाले होते हैं। अब इनकी पूर्णता को स्मरण करवाते हैं—**'वस्तु प्रयोगं'** इत्यादि से।

४०१–४०५. आगे क्रमशः वस्तु आदि की व्याख्या करते हैं–**'वस्तु देश'** इत्यादि से **'अवस्था यत्'** तक। स्थानानि–जो प्रदेश ध्रुवा के अपने कारणों से निश्चित हों। नानावस्थानि—अर्थात् अपरिमित दशाओं से युक्त अनन्त प्रभेद वाले। रसभावौ—रस तथा भावों का विचार कर। तु पद से यहाँ गीतिभाव का भी विचार करना इष्ट है। गीतिभाव रंजन के उपयोगी रहने से अधिक गुणशाली रहेगा यह स्पष्ट है।

४०६. जो बात काव्य या वाक्य से वर्णित न हो सके उसे गीत के द्वारा बतलाना इष्ट है क्योंकि गीत भी अनुभावादि की इस प्रकार पूर्ति कर रसावेदक होगा। इसे औपम्य वाले काव्य से भी साधा जाए।

४०७–४२०. वर्णनीय में किस का किस से औपम्य हो इसे **'ध्रुवाणामाश्रयाः'** से दिखलाते हैं। आश्रय—वर्णनीय, औपम्य–सादृश्यं। आगे की कारिका में किसके लिये क्या औपम्य रहे इसे भी—**'आदित्य'** इत्यादि से दिखलाते हैं प्रयोज्यास्तु प्रयोक्तृभिः तक। इनमें राजा के प्रताप, आल्हादकता, शीघ्रता आदि गुणों की स्थिति को देखकर उपमा रखनी चाहिए।

४३२–४३४. 'नास्ति किञ्चिद्' इत्यादि। गान समाश्रय—गीतिस्थान गत उद्धत, मसृणादि के आश्रय से सम्पन्न जो गीति वर्णअंगादि रूपवाली हो ऐसी ही ध्रुवा को विचार कर योजित करे। इसे—**'तस्माद्'** इत्यादि से बतलाते हैं—अङ्गानाम् वर्णों का, गान एककादि का और श्येन बिन्दु आदि अलंकारों की समता उचित लय में एकता या बराबर संगति। पदैः—इस प्रकार के अक्षरों की रचना से युक्त 'ध्रुवा' को रखा जाए। आशय यही कि ऐसी रचना हो जो वाहन, गति आदि कार्य, वर्ण तथा समता में लय ताल की एकता रखे हो।

४३५–४३६. अब इस साम्य में क्रम को दिखलाते हैं—**'पूर्वं गानम्'** इत्यादि से। प्रधान रूप में पूर्व में गीत के बाद ही रंजक साधारण भाव के कारण वाद्य और उसी के अनुवर्ती पात्रों का गात्रविक्षेपात्मा 'नृत्त' के कारण इस प्रकार इस स्थिति को व्यवस्थित किया जाता है जिससे प्रयोगसिद्धि होती है जो इनके संयोग से ही साधी जाती है।

४३७–४३९. अब प्रासादिकी ध्रुवा में होनेवाली शेष बात को पूर्ति के लिये बतलाते हैं—**'अथ प्रासादिकी'** इत्यादि से। यहाँ इन निवृत्यंकुर, सूचा आदि विषय वाले भावों में प्रासादिकी की योजना उपयुक्त होती है। **'आकाशपुरुषो'** यत्र से अन्य विषयों को दिखलाया है—जैसे–प्रविष्ट पात्र का जिससे प्रथम सम्भाषण हो वह आकाशभाषणादिसे लक्षित हो। अर्थात् जो मंच पर

पात्र नहीं प्रवेश करे तो वह आकाशपुरुष तथा उसके भाषण आकाश-भाषित जैसे भाषादि में—होते हैं। यहाँ सूचिका से अर्थानुकूलता की अनुसारिणी ध्रुवा योजित रहेगी।

४४०-४४३. प्रकृति या पात्रों की भाषा के ध्रुवाविषम रहने से उसका विभागयुक्त कथन करते हैं—**'भाषां तु'** इत्यादि से। ध्रुवा की रचना की सामान्यविधि है शौरसेनी भाषा में उसका होना। नर्कुटक में 'मागधी' होना चाहिए। दिव्य पात्रों की संस्कृत भाषा होगी। प्रमाणगुण संश्रय—प्रमाण अर्थात् गान्धर्व-शास्त्र उसके गुण अर्थात् अविकृत जात्यशों वाले विधानों से गान किया जाता है।

४४८-४५०. स्वरविधि को **'गान्धारपञ्चमा'** से दिखलाते हैं गान्धारी मध्यम और पञ्चमी जाति का यहाँ प्रयुक्त होगा। दिव्य विशेष में प्रयुज्यमान ध्रुवाओं को दिखलाते हैं—**'प्रासादिकं स्थित'** इत्यादि से। प्रमाण—ताल से परिच्छिन्न गान। अन्तरा या बिना—वहाँ अन्तरा ध्रुवा भी हो नहीं सकती है यह पाठान्तर से अर्थ रहेगा। परन्तु रंग में बहुतर प्रविष्ट अंगों की दशा रखने पर तथा संस्कृत भाषा की प्रयोग दशा में अन्तरा ध्रुवा की भी योजना हो सकती है।

४५१-४५४. अब वृत्तों का विभागशः विवरण देते हैं—**'वक्त्रं च'** इत्यादि से। देवताओं के पात्रभूत रहने पर वक्त्र, अपरवक्त्र, माला तथा पुट चूलिका नैष्क्रामिकी में, उद्‌गता प्रासादिकी में, अनुष्टुब् आक्षेपिकी में संयोजित की जाए।

४५५-४५७, दिव्यजन की भी मनुष्यभाव में अवतारणा की पीठिका दिखलाते हैं—**'उन्मादनार्थं'** इत्यादि से। और दिव्य पात्र की मानवरूप में स्थिति के प्रसङ्ग में दिव्यविधि के अनुसार शास्त्र विधान से लौकिक छन्दों में गान रखा जाय।

४६३-४६५. 'देवताभियुंता—यहाँ देवतापद के बहुवचन से स्पष्ट है कि जिस अंग में जो विहित हों उसे उसी प्रकार की स्तुति से युक्त ध्रुवा में प्रस्तुत किया जाय। जैसे—'वंदे पितामहम्' इत्यादि। गति को स्मरण करवाते हैं—'तत्र पातः' इत्यादि से। त्र्यस्रा और चतुरस्रा से दो प्रकार के पूर्वरंग को स्मरण करवाया गया है। नाट्याभिनय के प्रक्रम आदि की यही गति विधि है यह भी यहाँ समझना चाहिए।

४६५-४६७. उत्तमादि प्रकृतित्रय की योजनाविधि बतलाते हैं-**'उत्तमे'** इत्यादि से। चारी महाचारी तथा रंगद्वार आदि में त्रिकलगति से अधिक भी

रहती है इसे **'विधिः स्वस्थगतो'** इत्यादि से कहा है। भाण्डादि की संगति दिखलाते हैं—**त्रिकलद्विकल'** इत्यादि से। यहाँ तालसाम्यत्व ही दिखलाना अभीष्ट है अतः उसकी विधि कही गयी।

४७९-४८१. अब द्रुता-ध्रुवा के विषय में—**'सम्भ्रमावेग'** से कहते हैं। यदि सम्भ्रमदशा में प्रवेश हो तो गान के सम (साथ ही) 'ग्रह' रहता है। भूषणादि के पात में भी 'उद्घात्य' का प्रयोग होगा। उपसंहार करते हैं **'एव प्रयोक्तृभिः'** इत्यादि से। आशय यही कि प्रवेशादि के अवसर पर उत्तमादि प्रकृति में पूर्वरंग के अवसर पर गानविधान रहेगा।

४८२. पूर्वरंगगत 'गान' की रसोपयोगिता आदि को—**'यथा वर्णादृते'** इत्यादि से कहते हैं। विचित्रता के लिये नाट्य में गीत की योजना रहनी चाहिए पर उसे रसानुकूल रखे यह बात कही जा चुकी है।

४८७. ध्रुवा की अवश्य प्रयोज्यता और महत्व को दिखलाते हैं—**'यथा-रसकृताः'** इत्यादि से। प्रकरणाश्रया—प्रवेशादि यथा प्रकरण से विशिष्ट कार्यों के लिये तदनुसारी ध्रुवा योजित की जाए। इसका फल नाट्य की सफलता या शोभाधिक्य होगा।

४९१. इन ध्रुवा गीतियों की योजना केवल पूर्वरंग में ही नहीं किन्तु नाट्यगत ध्रुवागान में भी होती है इसे **'गानयोगे'** इत्यादि से बतलाया है। अब गुणनिरूपण के अर्थ को दिखलाने के लिये—**'पूर्णस्वर'** इत्यादि से कहते हैं। पूर्णस्वर-स्फुट वर्ण स्थायी आदि। स्थानत्रय—उरःप्रभृति त्रिस्थान। सम—ताल से युक्त। श्रोत्र-मधुर तथा नाट्योपरंजक गान उपयुक्त होता है।

४९३. पूर्व कथन को समर्थित करते हैं—**'गीते प्रयत्नं'** इत्यादि से। प्रथम रस का गीत से मुख्य सम्बन्ध रहने से गीत का प्रयत्न मुख्य होगा। क्योंकि यह नाट्य में भित्ति स्थानीय आधार रहता है जिस पर सभी अनुगत वाद्यादि प्रयुक्त किये जाते हैं।

४९५. 'गुणात् प्रवर्तते' इत्यादि। यहाँ से लेकर कुछ संस्करण में अध्यायान्तर भी है परन्तु यहाँ दीर्घपाठ की प्रतियों तथा संस्करण में अध्याय समाप्ति नहीं है। तदनुसार ही व्याख्या भी की जा रही है। गुण के योग से उत्कृष्ट तथा उसके अभाव रूप दोष से गान व्यर्थता या विपरीत स्वरूप वाला हो सकता है अतः नाट्याचार्य गुणाधान तथा दोषपरित्याग पर ध्यान दे।

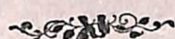
४९६. अब शारीर स्वर पूर्वक गुणों को क्रमशः गायक तथा विपञ्चीवादकों तथा वंशवादकों के गुणों को **'गाता प्रत्यग्रवया'** इत्यादि से दिखलाते हैं।

मधुर स्वर से पूर्ण कण्ठ से कण्ठगत स्वर की मधुरता अपेक्षित है।

५०३-५०४. अब गायिकाओं के रखने का कारण दिखलाते हैं—**'प्रायेण'** इत्यादि से। यहाँ उपमा की गर्भता से संकेत दिया गया है कि स्वभावतः स्त्री गान की तथा पुरुष पाठ्यगत संवादादि उपयोगिता रखता है किन्तु पुरुषों की गान में तथा स्त्री पात्रों की पाठ्य में दक्षता रहना अलंकारभूत है।

५१४-५१८. कण्ठ के गुण को—**'श्रावकोऽथ'** इत्यादि से कहते हैं। मुनि ने इनके क्रमशः लक्षण भी किये हैं। त्रिस्थान शोभिता को पूर्व में काकुस्वराध्याय में दिखला चुके हैं।

५१९-५२३. अब उद्देश तथा लक्षणों से दोष को दिखलाते हैं-**'कपिलो'** इत्यादि से। कपिल शब्द की व्युत्पत्ति हैं—कम्पनं कपिस्तं लयतीति **'कपिलः'**। अथवा स्थान के कारण नाद अव्यवस्थित होता है, वह अव्यवस्थितता काकी जब स्वर तन्तु और वीणाशब्द जैसी शब्द की समानता वाला हो तो काकी। यहाँ पाठान्तर में सम प्रहरण की तरह जो दोनों में समान रूप से योग्यता रखे वह 'हस्तगुण' है यह अधिक मिलता है जिसकी व्याख्या सरल है।



अध्याय त्रयस्त्रिंश

(अवनद्धातोद्यविधान)

१–३. पिछले अध्याय में अवनद्ध विधि की बात कही थी उसी को स्पष्ट करने के लिये अध्यायारंभ में—**'ततवाद्य'** इत्यादि से कहते हैं। अवनद्ध अवहननं चर्मणा बन्धः अर्थात् जिसमें चमड़े को बांधा या मढ़ा जाय ऐसा वाद्य अवनद्ध-वाद्य कहलाता है। मृदंग, दर्दर तथा पणव का विधान अर्थात् चर्मादि कारणता जिसका वाद्य फल है उसे संक्षेप से कहते हैं। यहाँ 'नारद' पद से गायक को मृदंगादि वाद्यों का ज्ञान आवश्यक है यह बतलाने के लिये है। तथा यहाँ स्वातिपद के पूर्वनिपात से स्वाति की इस अध्याय में प्रमुखता है यह भी स्पष्ट होता है।

५–१०. पुराकल्प को दिखलाते हैं—**'अनध्याये कदाचित्'** इत्यादि से। अवधारितवान् अर्थात् उस प्रकार के शब्द ही चित्तवृत्ति के रंजक होंगे ऐसा विचार करे। मृदङ्ग—मृत् अङ्गं येषाम् इति 'मृदङ्गः' अर्थात् जिसमें अंगरूप में मृतचर्म को लगाया या मढ़ा जाता हो ऐसा वाद्य **'मृदंग'** अथवा मर्दन के कारण भी मृदंग होता है। इसके भेदों में त्रिपुष्कर तथा पक्षातोद्यक भी हैं जिनकी मृदंगजाति मानी गयी है।

१२–१३. **काष्ठायसकृतानि**—काष्ठ जिसमें छिद्र रखकर और आयस अर्थात् ताम्र और लोह आदि धातुओं से मिलकर निर्मित। झल्लरी—कांस्य का तालवाद्य संभवतः झांझ। आदि शब्द से प्राचीन करन, हुडुक्क, मर्दल आदि वाद्यों को समझना चाहिए।

१४–१७. आतोद्यसमवाये—आतोद्य के पूरक वाद्य-वृन्द में। **अङ्ग**—वह है जो अपने पूर्णस्वरूप के साथ आवश्यक उपकरण बने तो वह 'अङ्ग'। **प्रत्यंग** इससे जो भिन्न हों वे गौण उपकरण 'प्रत्यंग' होगें। ये अङ्ग-प्रत्यङ्ग तत तथा अवनद्ध वाद्यों के होते हैं जिन्हें क्रमशः कारिका से दिखलाया है।

१८. इस प्रकार नाट्य में किसी भी वाद्ययन्त्र को ऐसा नहीं माना जाता है कि उसकी योजना नहीं होती। यही बात **'नास्ति किञ्चिद्'** से दिखलाते हैं। किन्तु इन्हें रसभाव का ध्यान रखकर योजित अवश्य करे।

१९–२१. किन्हीं प्रसङ्गों या अवसरों पर कई प्रकार के या अनेक वाद्यों

का वादन हो सकता है इसे—**'उत्सवे चैव'** इत्यादि से कहते हैं। ये अवसर नाट्य-प्रदर्शन में तथा लौकिकदशा में उत्सववादि में रहें तो वहाँ भी यह योजना रहेगी।

२२. जब शृंगाररस की स्थिति में परिक्रमणादि रहें जो कि दीप्तरस की स्थिति से रहित हों तो वाद्यवादन कैसा हो इसे **'अङ्गानां'** से दिखलाते हैं। अंगों की समत्वस्थिति की संगति के लिये, उत्तरध्रुवागान जिससे किसी दोष की प्रच्छादन दशा रहे तो। विश्रामहेतो पद से आक्षेपिकी तथा शोभार्थ पद से प्रासादिकी के गान के अवसर पर वाद्यवादन रहेगा।

२३-२५. इस प्रकार उत्पत्ति, स्वरूप तथा प्रयोजन आदि को दिखला कर अब अवनद्ध के विधान को—**'तत्रावनद्धे'** से दिखलाते हैं। स्वरसमुत्थित स्वर शब्द को लेकर जो विधि प्रवृत्ति अर्थात् यह इस प्रकार शब्द युक्त है ऐसा नियम उसे कहेंगें। यह शब्दानुहार तथा स्वरानुहार सभी अवनद्ध वाद्यों से सम्बद्ध होते हैं जिनसे उनका वादन संभव होता है। इसके विविध प्रभेदों में वादन स्थिति बनती है जिनमें त्रिपुष्कर का अब विवरण देते हैं **'किन्तु त्रिपुष्करस्यास्य'** से।

२९-३०. त्रिपुष्कर की प्रसंग प्राप्त विधि में शब्द का स्वरूप दिखलाते हैं—**'नाट्यात्मक'** आदि से। शब्द का वायु आत्मस्वरूप है, यह जन्म में उपादान तथा अभिव्यक्ति में निमित्त कारण होता है। जैसा कि कहा भी है—वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते (वाक्यप० ब्रह्म० का०)। उसके नित्य स्वरात्मक को नादात्मक तथा अभिधानात्मक को वर्णात्मक प्रभेद समझना चाहिये। इनमें स्वरवान् शब्द आतोद्योपयोगी होता है।

३२-३४. अब इनकी गौणता और प्रधानता को—**'पूर्वं शरीरात्'** इत्यादि से कहते हैं। आशय यही कि वीणा के स्वरों में जैसी 'रक्तिः तथा पूर्णता' है वैसी पुष्कर में केवल अनुहारमात्र रहेगी जिसे 'ध्वनिमनुयान्ति' से यहाँ कहा भी है। वाष्करणैः—स्तोभाक्षरों से उनके उच्चारण से ज्ञान हो जाता है। स्तोभाक्षर है—झण्टुं जगति कादि जैसे जो कारिका में हैं। वीणावाद्य के प्रयोग में ये कारणीभूत होते हैं।

३६-४९. यहाँ केवल स्वराक्षरवादन के कारण पुष्कर का विवरण नहीं दिया जा रहा है परन्तु उसके फल के कारण भी है जिसे मृदंग और पणव के आश्रित भी आनुषंगिकभाव से कहेंगें। विधान—स्वराक्षर सम्पादन की विधि को कहेंगें। इसके विधान या योजना को 'षोडषाक्षर संपन्नं' से लेकर 'वाद्यं पुष्करजं भवेत्' तक कहा गया है।

४१. एतावत् सूत्रम्—यहाँ तक वस्तुतत्व दिखलाया तथा शेष आगे ग्रन्थयोजनामात्र है जिसे मुनि ने कहा है। इस सूत्र में जो पद या अवान्तर वचन है उनकी व्याख्या की जा रही है यह तदर्थक ग्रन्थ हुआ। अब पणव, दर्दर, मृदंग का अक्षरविभाग पुष्कर पर बतलाते हैं।

४३. षोडशाक्षर नियम की उपयोगिता यह है कि इससे वाष्करण की अनुहार सादृश्य के द्वारा विवेककुशल (बुध) जन योजना कर लेगें। इससे अधिक अक्षरों की अपेक्षा नहीं रहेगी। इसी कारण वाद्य से उत्पन्न होने वाले तथा अपना स्वरूप प्राप्त करने वाले ये सोलह ही अक्षर मिलेंगें।

४४–४६. अब इन वर्णों के चार भेदों में समूहीभाव से रसविशेष के उपयोग में योजित करने की विधि दिखलाते हैं—**'चतुर्मार्गम्'** इत्यादि तथा **'अड्डिता'** इत्यादि कारिका से। अब इन मार्गचतुष्टय में उन अक्षरों को दिखलाते हैं—**'एतेषां तु'** (४६ का०) इत्यादि से।

५५. मार्गवैचित्र्य को उत्पन्न करने के लिये तथा करणषट्क को निरूपित करने के क्रम में इनके उपयोगी दर्दर तथा पणव वाद्यों को मान कर इनमें पणवगत विधि को दिखलाने के लिये **'अतश्च भूयो'** से 'पणवविधि' कहते हैं। यहाँ सामान्यतः एवं **भूयः** पद से विशेष विधि भी दिखलाने का संकेत है।

५९–६२. शिथिलीकरण तथा पीडन के द्वारा विचित्रवर्ण निर्वातित क्रियासम्पादित होती है जिसे—**नानाकरण** इत्यादि से कहा है। कोण या मिजराफ। इस कोण तथा अनामिका के साथ मिलने पर भ्रान्तकवादनयोग होता है जिसे—**भ्रान्तवादनाग्रेण** से दिखलाया है।

७०. दर्दरवाद्य का विवरण देते हैं—**'वक्ष्यामि'** इत्यादि से। दर्दर शब्द दृ विदारणे धातु से कर्ता में क्यच् (यङ्लुक्) प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। पुराण में इसकी ध्वनि से मंगल प्राप्ति माना गया है। यथा—'तस्य ये मङ्गलान्याहुः श्रुत्वा दर्दरजं ध्वनिम्।' वैसे मुरज, पणव तथा दर्दर की कुछ व्युत्पत्ति लभ्य अर्थवाली व्याख्या भरत ने भी दी है। जो यथास्थान द्रष्टव्य है (ना० शा० ३३।२८६)।

७६. शीघ्र क्रिया के अनुबन्ध के द्वारा (चिरकाल तक अनुवर्तन से) जिस शब्द की स्थिति रहे वह **'खलितक'** है क्योंकि इससे इसका शब्दसंचय रूप होता है। खल संचय धातु से शब्द बनता है। यही लोक में भी है।

८५–८६. गतिप्रचार तथा परिक्रमण आदि में मुरज की प्रधानता होती

है अतः क्रमशः करण योग को दिखला कर उसको 'पणव' से भी किया जाए यह—**'यद्यत् कुर्यात्'** इत्यादि से दिखलाया। अनुगत रसादि के अनुरोध से अनुगत करते हुए। विचित्रता की दशा में जो पादसंचार सम-विषम–प्रभेद में रहे उसे लक्षणयुक्त रखे।

९१–९२. अब जिसके लिये पणव, दर्दर का लक्षण बतलाया उन करण षट्क को बतलाते हैं—**'रूपं कृत प्रति'** इत्यादि से। **कृतप्रतिकृत**—यहाँ एक पणवादि का करण अपने बाद होने वाले पुष्कर वाद्य का अनुकरण करे तो 'प्रतिकृत'। उदाहरण को भी खण्डशः विभाग कर समझना चाहिए। जैसे—'थंखुं खुणमणे' को मुरज पर और 'ममत्थि मग्गे' को पणव पर रखे। यही आगे भी समझना चाहिए।

९३. अब इस प्रकरण का उपसंहार कर करणों का सामान्य स्थितिभेद कहते हैं—**'करणानां'** इत्यादि से। आशय यह है कि जब भिन्न-भिन्न वाद्य-क्रियाओं की मिश्रता जिससे की जाए वह **'करण'** है। इसी के अनुसार वाक्-करण या उद्धतिका रखी जाए।

१०३–१०४. 'गान्धारो' इत्यादि। मध्यम–ग्राम में नि० ध० रि० को इसके पीडन (दबाने) से सम्पादित करने की स्थिति बनती है। षड्जग्राम में अर्धमायूरी की स्थिति **'वामके पुष्करे'** से स्पष्ट है।

१०६. यहाँ साधारणाश्रय विधि लक्षित की गयी। साधारण अर्थात् ग्रामद्वय का समानरूप में आश्रय लेना जिसमें स्वर-त्रय के न्यास करने पर भी स्वरान्तर की प्रधानता रहे अर्थात् यहाँ निषादंशता प्रधान होती है अतः अनुवादी वादी हो जाता है।

१०८. जात्यंशगत स्वर स्थायी साधारण प्राधान्य को बतलाकर अब स्थान स्वरकृत प्राधान्य को—**स्वराः स्थानस्थिता'** से दिखलाते हैं।

११८–१२०. तत्व को दिखलाते हैं—**'अक्षरसदृशं'** इत्यादि से। विचित्र में (अर्थात् वैचित्र्यपूर्ण प्रस्तुति में) यथाक्षर सादृश्य भी (केवल) नहीं आता (कभी-कभी) 'दुकट रथ' जैसे अक्षरों से समानता आती है तो (भी) 'तत्व' होगा। यथावाद्य या वाद्य के अनुसार ताद्रूप्य नहीं बनने से सादृश्य वाली स्थिति से हटकर ताद्रूप्य में अनुगत नहीं। अतः उच्चारित से जो अथ-प्रतीति बने वही तत्वादि होगी। यहाँ सभी विभाग पूर्वक रख कर प्रहार क्रिया करते हैं जिससे गान के साथ ताद्रूप्य हो। तत्व में गीत प्रधान रहता है पर यहाँ वाद्य भी प्रधान होता है अतः सम पाणिप्रहार वाले अवपाणियों के द्वारा वर्तनागत विचित्रता-युक्त बादन हो तो वह 'अनुगत' होगा।

१२०. नैक शब्द का अर्थ यहाँ 'विविध' लेना चाहिए । करण क्रियाघात । उपर्युपरि पाणि का आशय है कि यहाँ विभक्त प्रहार नहीं रहते । अतः अक्षर सादृश्य भी (कम या) नहीं होगा ।

१३०. इस अठारह जातियों के कहीं लक्ष्य और कहीं लक्षण दिये गये हैं । सर्वमार्गिक अर्थात् रसभावगत औचित्य को देखकर किसी भी मार्ग में रखना ।

१७०. अब इस जाति विवेचन का उपसंहार—'एवमेतेन' से करते हैं । इस अष्टादश भेद वाली जाति के रूपों का प्रयोग एक इतिकर्तव्यता के रूप में नाट्य, नृत्त की अपेक्षा से कहा गया था अब उसकी उभयरक्षता गतिप्रचार तथा गीत में भी होती है यह दिखलाया गया । दशरूपक में गीत अर्थात् ध्रुवगीतों में ।

१७१. यहाँ छन्दस्यासारिते के स्थान पर 'छन्दकासारितेषु' पाठ भी है । तदनुसार अर्थ होगा—सप्तगीत के प्रयोग में तथा छन्दक और आसारित में वादन करना चाहिए विशेषतः गति प्रचार में । यहाँ (वाद्य) की भी प्रमुखता स्पष्ट है क्योंकि नाट्य में गति की अपेक्षा से वाद्य भी नियत रहता है जिसे—'गत्या वाद्यानुसारिण्या' (अ० ४) में कहा जा चुका है ।

१७४. अब यदि कहीं नृत्तांश में प्रावेशिकी आदि में या क्रम योजना की स्थिति में इन तीनों तत्वादि का प्रयोग करना पड़े तो इनका क्रमविधान **'तत्वं तु प्रथमे'** इत्यादि से दिखलाया गया है ।

१७५. शेष प्रकृति में । छन्दतः—इच्छानुसार । चित्र–विचित्रता युक्त ।

१७७. 'योमात्रांशक' इत्यादि । प्रधानरूप से ध्रुवाओं में तत्व योजित रहता है उसमें भी तत्व के आठ रूपों में मात्रासम तथा अक्षरसम प्रमुख रूप से रहें ।

१८८. अङ्गानाम्–सम्पिष्टक आदि अंगों का । आशय यह कि कहीं शाखा के अनुरूप कथित परिवर्तन (उपवर्तन आदि में रहे) और कहीं अनुपम भी नृत्तशोभार्थ होता है । यह वस्तु प्रायः सारे गीत का परिवर्तन या आवृत्ति की जाती है तथा यह कार्य गति की शोभा के लिये होता है ।

१९२–१९३. गुरु अक्षरों से वादन जो हो वह गीत के योग से आवृत्त होना चाहिए । स्थित या विलम्बित लय में वर्ण, अंगात्मक गीति भाग को ध्यान में रखकर प्रहार शुद्ध जातिगत रहेंगे तथा मध्यलय में अक्षरसम और द्रुतलय में उपरिपाणि में वादन होगा ।

१९७. **'यो विधि'** इत्यादि। जो विधि नाट्य के लिये निश्चित हो उसे नृत्त में भी लागू करे।

१९८. प्रयोग से युक्त जाति की ही प्रधानता होती है तथा प्रयोगापेक्षी उन्हीं का विवरण भी दिया है। न केवल अठारह जातियाँ स्वरगत होती हैं परन्तु वाद्यजातियाँ भी अठारह होती हैं। इनके बीस अलंकार होते हैं जिन्हें दिखलाने के लिये आगे **अत ऊर्ध्वम्'** से लक्षण कहते हैं। क्योंकि वाद्यवादन जात्यात्मक होता है अतः ये उसी का उत्कर्ष करने वाले होते हैं, यहाँ अन्य वाद्य के आन्तरमेलन से उत्कर्ष होता है।

२०२. अन्य वीणादि वाद्यों के बजाने पर भी अवनद्धवाद्य का बीच में रुक जाना 'छिन्न' है।

२२१. इस प्रकार उद्देश को लक्षणादि से दिखलाकर प्रयोग में नाट्यपरिक्रम में जातिमार्ग शुद्ध वृत्त में अलङ्कारगत आधिक्य को—'यो वै' इत्यादि से दिखलाते हैं। अब **'प्रयोगमिदानीम्'** इत्यादि गद्य भाग से पूर्वरंग में प्रयोग दिखलाते हैं।

आगे अदृष्टसिद्धि के लिये त्रिसाम के उपक्रम हेतु भाण्ड वाद्यों के परीक्षण को दिखलाते हैं–**'अचल'** से। देवतानाम् अर्थात् पूजित देवगणों के आवाहन तथा तन्त्र के विसर्जनार्थ 'त्रिसाम'।

२२७. **आचार्याः** इति। आचार्य नाट्यतत्व के वेत्ता विद्वान् पण्डित शास्त्रादि व्याकरणादि के विज्ञाता। विकुष्ट या विक्रुष्ट का अर्थ है खुले गले से गीत की बार-बार प्रतिवृत्तस्थिति या दोहराना।

२३४. **'ऐश्वर्ये'** इत्यादि। अभिनय और पाठ्य में अशंकित वैभव की प्राप्ति रूप सिद्धि की पूर्ति हेतु प्रयुक्त करते हैं।

२३८. **उद्घात्य** 'उत्कृष्टं हननं यत्रेति उद्घात्यम्' यह इस पद की व्युत्पत्ति है। इस प्रकार ग्रह को बतला कर अब प्रशमन या उसकी समाप्ति दिखलाते हैं—**'वोक्षमिदानीम्'** आदि गद्यांश से।

२४० **'भवति चात्र'** इत्यादि से तण्डु का मत उद्धृत करते हैं–**'अतालज्ञ'** इत्यादि। यह अर्थवाद परक वाक्य है (वादक की निंदा परक स्थिति दिखलाने के कारण) तथा इससे वादक में शास्त्रज्ञत्व-लक्षण ज्ञान, तालज्ञता-प्रयोग कौशल तथा काल-द्रुतादि तथा ताल-चच्चत्-पुटादि का ज्ञान आवश्यक है।

२५०. अब वाद्यों के मुखों पर मढ़ने में उपयोगी चर्म को दिखलाते हैं—**'अत ऊर्ध्वम्'** इत्यादि से।

२६०. अब मुरजादि वाद्यों का प्रथमपूजन मुहूर्त दिदिखलाते हैं **'चित्रायाम्'** इत्यादि से। उपाध्याय—वाद्यज्ञाता पण्डित तथा वेदज्ञ—यज्ञादि वेत्ता।

२७३. अब मृदङ्गादि वाद्यों के नामों की व्युत्पत्ति दिखलाते हैं—**'मृण्मयत्वात्'** इत्यादि से। मुरज—सभी करणादि में मुरात् अर्थात्-वेष्टन कर्म से जाता-जो स्वरूप पाते हैं, वे 'मुरज'। इनमें इसी कारण ऊर्ध्वंकरण गुंजन होगा। अन्य विवरण मूल में ही है या पूर्व व्याख्यात भी।

२७५-२७६. अब पुराकल्प के द्वारा देवों की वाद्यों में अधिष्ठातृता सूचित कर मेघगर्जन को आधार बनाकर स्वर योजना की स्थिति बतलायी गयी। पुष्कर पत्रों से वर्णों को षोडशसंख्या में योजना भी इस प्रकार इष्ट है।

२९३-१९३. कलाभिरतो चतुर तथा दीत हस्तवाला, मधुर-श्रुतिसुखद, सुनिविष्ट-सुश्लिष्ट या दृढ़हस्त। भ्रान्त-भ्रमणक्रिया चतुर।

२९८. वादनान्तर-वेदी—मुरजादि वाद्यों के मध्यान्तर का विज्ञाता।

२९९-३०२. **'नोक्तं यच्चेद्'**—समग्र वाद्यों—जैसे हुडुक्का आदि को यहाँ बतलाया नहीं और सभी का वर्णन संभव भी नहीं है। विकृष्ट-जो समीप से ही श्रवण करने योग्य हो। वाद्ये गीते च-गीत और आतोद्य के द्वारा अभिनय के स्पर्श होने से रस तथा भाव की चर्वणागत औचित्य की स्थिति निर्मित होती है तथा समता की स्थापना भी हो जाती है। गीत शब्द का अर्थ वाणी भी लें तो ऐसा नाट्यप्रयोग भी स्थायित्व लेता है तथा सिद्धि का आपादक भी होता है।



अध्याय चतुस्त्रिंश

(प्रकृतिविकार अध्याय)

१–४. यद्यपि स्त्रियों एवं पुरुषों के विचित्र स्वभाव होते हैं किन्तु प्रकृति के माध्यम से उनका संकलन करना लाघव है अतः इसे ही **'समासतस्तु प्रकृति'** इत्यादि से कहेंगें। समासतः-लाघव के कारण संक्षेप से। कामोप्रचार का शृङ्गार-पर्यवसायी नायक ही होता है जिसका अन्तःपुर अभ्यन्तर तथा बाह्य उसका परिवार है इसे नाट्यरचनाकार कवि के द्वारा समझ रखना चाहिए। इस प्रकार प्रकृति, नायकपरिवार तथा उसके भेद-प्रभेदों को दिखलाने के लिये प्रकृति अध्याय का आरंभ किया गया यही इसकी पूर्व अध्याय से संगति भी है। आगे—**'जितेन्द्रिय-ज्ञानवती'** इत्यादि से उत्तम प्रकृति दिखलाते हैं।

५. लोकोपचारे अर्थात् लोकव्यवहार में चतुरा–दक्ष। अकृतज्ञ–कृतघ्न। यह भाव है तथा यह अमात्र इस भेद को जो नहीं जानते वे 'मान्यामान्यासर्ग दोषज्ञा हैं।

१०–११. कारिका में प्रयुक्त 'पुनः' शब्द का आशय है कि कामोपचार के पूर्व में कृतिगत त्रिविध भेदों को दिखलाया था अब यहाँ सभी व्यवहारों के विषय में उन्हें दिखलाया जाना इष्ट है। उत्तमादि प्रभेद विषय के कारण है। सत्वगुण के उद्रेक से रस्य तथा स्निग्ध आहार सात्विक प्रकृति को इष्ट रहते हैं यह सत्वविषयक व्यवहार से है। कटु आदि आहार करके व्रतधारी मुनि सात्विक आहारी या उसका विषय व्यवहार वाला नहीं होगा और न ही घृत, गुड़ और पय आदि से मिश्रित अन्न का सेवी कोई अधम प्रकृति या आचार वाला चोर ही सात्विक होगा। कारिका में प्रयुक्त 'सलज्जा' पद का आशय है कि यह स्त्री वचनकुशल होकर भी पूज्यजन के प्रति लज्जावृत्ति से युक्त होती है।

१४–१६. 'सङ्कीर्ण'—जो मिली–जुली प्रकृति (मिश्र) वाला रहे और कभी तो मध्यम प्रकृति का हो तो वह **'संकीर्ण'** है। इसी कारण स्वामी के चित्त के अनुरोध पर प्रेष्या भी संकीर्णप्रकृति रहती है तथा विट और शकार भी। शकार वैभवशाली तथा उत्तमपदार्थ सेवी रहकर भी मध्यम चेष्टाओं से मिश्रित रहने से 'संकीर्ण' है और इसी कारण ये सभी (विट, प्रेष्य तथा शकार) अधम प्रकृति के वर्ग में आते हैं।

१७–२०. अब प्रकृतिभेद के बाद नायक भेदों को **'तत्र चत्वार'** इत्यादि से दिखलाते हैं।

२१. (नायिका के) प्रणव विषयक मान में जो सबन्धगत मनमुटाव रूप विग्रह होता है उसे जो सन्धि के द्वारा विशेषतः दूषित कर दे वह **'विदूषक'** है। (यह विदूषक पद की अर्थ-परक व्युत्पत्ति है) अथवा जो दोनों के विप्रलंभ को नवीन कथाओं के वर्णन से मनोविनोद करते हुए दूषित कर देता हो या विस्मृत करवा दे तो उसे भी **'विदूषक'** समझना चाहिए।

३०-३४. **'तत्र राजोपचारम्'** इत्यादि से परिवार गत विभेद को दिखलाते हैं। यहाँ महादेवी से आयुक्तिका तक सत्रह स्त्रीगण का तथा एक नपुंसक प्रकृति को मिला कर अठारह प्रकार के अन्तःपुर को दिखलाया गया है जिसको भरत ने **'एतदष्टादशविधम्'** कहा। यह सभी परिवार है तथा आभ्यन्तर भी।

३५-३७. महादेवी प्रभृति के लक्षणक्रम में महादेवी का स्वरूप कहते हैं--**'तत्र मूर्धाभिषिक्ता'** इत्यादि से। जो प्रधान स्थान पर सर्वाग्रणी होकर अभिषिक्त की गयी हो वह 'मूर्धाभिषिक्ता'। मध्यस्था—मध्यम वय में स्थित।

३८-४९. महादेवी शृङ्गार के योग्य स्थिति रखकर भी अतिशय शोभा आदि से युक्त रूपकादि में नहीं होती अतः कविगण वासवदत्ता आदि में देवी शब्द रखते हैं तथा इसी कारण **'देवी'** का लक्षण भी कहते हैं। यह कभी प्रधान महिषी से भिन्न भी होती है।

८१-९०. अब बाह्य परिवार को दिखलाते हैं—**'अतः परम्'** इत्यादि से। यहाँ युवराज भी राजशब्द से अभिधेय मानकर कहा गया। अमात्य-अमा यह सहार्थ या साथ उत्पन्न होने वाले अर्थ में है अतः जो राजा का सहचारी है यह **'अमात्य'** यह व्युत्पत्ति हुई। प्रजाजन में अनुरागयुक्त होना अर्थात् बिना प्रयास के। जैसा कि **कौटल्य** ने कहा है—अनुरागो हि सार्वगुण्यम् (अर्थात् सर्वसम्पन्नता होना अनुराग है)। अव्यसनिनः—जो स्त्री मद्य, मृगया आदि में आसक्त न हों। परिहार्या—दूसरों से जो भेद प्राप्त नहीं कर पाते हो ऐसे। ज्ञान—अर्थशास्त्र विषयक ज्ञान उसकी कुशलता से युद्ध या लक्ष्य लक्षणज्ञान से युक्त।

९५-९७. यहाँ नय का अर्थ है अर्थशास्त्र जिसका नीति ही आधार होता है। विनय--धर्मशास्त्र के ज्ञान से युक्त। यहाँ इन सभी का स्वरूप संक्षेप में दिखलाया है किन्तु इनका स्रोत शास्त्रादि में हैं जैसे अर्थशास्त्र का ज्ञान बृहस्पति के ग्रन्थ से जानना चाहिए।



अध्याय पञ्चत्रिंश

(भूमिका विकल्प)

१. इस प्रकार समग्र आतोद्य पर्यन्त नाट्य के विवरण को दे देने पर अब कथनीय नहीं है तथापि इस शास्त्र की कठिनोपदेश प्रवृत्ति होने के कारण नाट्याचार्य के द्वारा भूमिका निवेश का इदमित्थं प्रयोग कैसा हो इस विधान का शिक्षण देने के लिये भूमिका विषय को दिखलाने के लिये अध्याय को आरम्भ करते हैं—**'विभागं भूमिकायास्तु'** इत्यादि से। भूमिका नाटच की अवष्टम्भ स्थानीय होती है तथा अवष्टम्भ है योग्य बल के कारण अनुभावों के आहरण से रस तथा भावों के प्रयोगों में कौशल आना।

२-३. **सत्व**—मानस व्यापार (जिसका विवरण दिया जा चुका है—ना० शा० अ० २३)। शील—शरीर का तथा आहार्यगत भी।

४. स्वभाविका गुणाः—सहजगुण सामान्याभिनय में इनका विवरण दिया जा चुका है।

५-६. श्लिष्टाङ्ग—जिसके सभी अवयव व्यवस्थित हों तथा सतत दीप्ति से युक्त रहे। जिसका स्वर उत्तम हो (सुस्वर)।

९-११. सुकुमारतया पुरुषों के जो धर्म भूमिका के उपयुक्त हों वे ही उसकी पत्नी की भूमिका में स्त्रीपात्र में भी रखने चाहिए।

१५-१७. **एवमिति**। इसके अतिरिक्त जो अन्य तापसादि पात्र हैं उनके लिये नाटचधर्म से प्रवेश तथा वेशादि के अनुगत वयोवस्थावर्णादि रूप वाली भूमिका का प्रयोग रखना चाहिए।

१९-२०. यदि परिजन भूमिका स्वाभाविक न बनें तो ऐसी दशा में आचार्य के परामर्श से भूमिका के स्वभावादि के योग्यचेष्टावाली भूमिका रहनी चाहिए। यहाँ चेष्टा के ग्रहण से आकारादि को भी वर्णकलेपन, प्रतिशीर्षक आदि साधनों से रखना चाहिए। यह चेष्टा भी आचार्य के द्वारा निर्देशित रखना चाहिए। ऐसा होने पर भूमिका कुछ कमी वाली रहने पर भी उसकी स्थिति को उत्तम बनाने वाली हो जाती है।

८८. इतने अभिनेतृ वर्ग के बिना नाटच का निर्वाह नहीं होने से तथा भरतों के परिवार का विवरण उपयोगी होने के कारण यहाँ दिया जा रहा है।

९१. जो कि सर्वत्र प्रतिज्ञागर्भित रसभार का उद्वहन करे तथा गीति वैचित्र्य को करते हुए अनुभावादि को प्रतिजागृत करने का भी भार उठावे तो वह भरत।

१०५. 'पञ्चविध'–यह आहार्याभिनय में दिखलाया जा चुका है। (द्र० ना० शा० अ० २३)

१०६–१९८. कुशीलव—कुशान् लातीति कुशलः। अतः कुशजातिं कुशां वा यो लुनाति सः कुशलः। अर्थात् जो कुश या विकारादि का छेदक होकर या आन्तरस्वगत विकारों का जो आच्छादक हो वह कुशीलव। माल्यकृत आदि भी नाट्यो-पकरणादि शिल्प के प्रयोक्ता हैं अतः वे भी 'कुशीलव' है जो अपने शिल्प या हुनर से उत्तम उपकरण बनावें।



अध्याय षट्त्रिंश
(नाट्यावताराध्याय)

१-८. पिछले अध्यायों में जो 'नाटच' बतलाया और इस शास्त्र का रसभावरूपता के प्रतिपादन आदि से विस्तारपूर्वक विवेचन कर पूर्वरङ्ग का नाटचशाला का भी विशेष दिखलाया। इसी तथ्य को अब इस अध्याय में प्रश्नोत्तर के द्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से पुष्ट करेंगें। 'नाटच' पूर्वरंग पूर्वक है यह भी स्पष्ट होगा तथा नियतानुकारानुकारता भी नाटच में उभरेगी। अब **'एवं तु मुनय'** इत्यादि से प्रश्न को दिखलाते हैं।

९-१०. यह नटों का जीविकोपायभूत रहने से परिहास के योग्य यह 'नाटचशास्त्र' है। इस आशंका को **'न वयं परिहासेन** इत्यादि से दूर करते हैं। उपशिक्षार्थ—तात्विक निर्णय के लिये। नाटच-गुह्य—नाटच के तात्पर्य को ठीक से न जताने वाले तथ्य।

११-१२. **लोकस्य चरितम्**—लोक में जो दिखाई देते हैं तथा पूर्वरङ्ग में जो सम्पादित होते हैं, वे लोकचरित। ये जब नाटच हैं तो फिर इनके अतिरिक्त लोकगुह्य भी कहिये यह उक्ति प्रश्नवक्ताओं की साभिप्राय तथा अध्यारोपगर्भ उक्ति है।

१२. नाटचवेद का विज्ञाता आपका वंश आज नटसंज्ञा या अज्ञत्व सम्पन्न होकर प्रसिद्ध क्यों हैं? यद्यपि इस विषय में कई अन्य प्रश्न भी है परन्तु नाटचविषयक इस आशंका या संशय को आप दूर कीजिये क्योंकि यह अनेकधर्म विषयक है।

१५-१६. गुहार्थाभिनय—गुह्यार्थो यत्र तादृगभिनयं नाटचम्। अर्थात् जहाँ अभिनय गूढ़ार्थक हो ऐसा नाटचाभिनय। इसी को स्पष्ट करने के लिये इतिहास बतलाता हूँ।

१७-२०. विघ्ननिवर्हण—विघ्नों का अपहारक रंगदैवत पूजन दिखलाया जा चुका है। तस्यानुबन्धेन इसी प्रसंग में (के द्वारा)। शरीरावरण-कवचादि।

२२. नान्दी—नन्दन के कारण 'नन्दी' संज्ञा है अतः नान्द्यन्ते का अर्थ हुआ पूर्वरंग के अन्त में।

१३-२४. काकुस्वर—पूर्वरंग की सिद्धि में पाठच जिसके बाद शृङ्गार

रससंयुक्तां पठेदार्याम् (ना० शा० ५।१२२) इत्यादि विधि रहती है यह सभी स्वरादिनिगम के अनुगत रहे ।

२७. अब इस तथ्य की आगम से भी पुष्टि दिखलाते हैं—'श्रुतं मया' इत्यादि से । तत्वतः देवादिदेव शंकर से ।

३२–३३. भूतल के स्पर्श से मलिन या अपवित्र हो जाने वाले स्वर्ग से अवतरित नाट्य को छिपाना संभव नहीं अतः । नाट्यसंश्रयैः प्रहसनैः—अभिनय से जीविका चलाने के कारण अपमानित हो रहे हैं । इसका कारण यह कि नाट्य के अनुकारतत्व या अनुकीर्त्तनतत्व को न समझ कर उसे साधारण अनुकरण या नकल से जिसमें दूसरों की चेष्टाओं की अनुकृति थी ऐसे प्रहसनादि काव्यों का जब उनने प्रस्तुतीकरण किया तो इससे सभी का चाहे मनोरंजन मात्र हुआ हो परन्तु नाट्यसिद्धि नहीं ।

३३–३५. गण्डसंश्रय—गण्ड के समान अन्यापदेश के द्वारा । विडम्बकं—नकल उतारने वाला ।

३८–४०. ज्ञानमदोन्मत्त—ज्ञान का दुरुपयोग करने से वह ज्ञान दुःख में पर्यवसित हो जाता है यह इस पद से दिखलाया । निर्ब्रह्माचरण—वेदबाह्य तथा परिभूयमान दशा वाले ।

४३–४४. कुत्सित तथा अनियत कार्य के अस्वाभाविक या भद्दे प्रयोग से रसभावादि प्रयोग के अनवस्थित किये जाने से यह 'नाट्य' नष्ट हो जाएगा । यह देवगणों ने आशंका रखी । ऋषियों ने देवों की इस आशंका को दूर किया और केवल 'शाप' रूपी गुह्यतत्व को शेष माना ।

४९–५१. वास्तव में तत्व के परिज्ञान के अभाव से 'शाप' मिला अतः अब रसभाव के स्वरूप रूपतत्व का बोध हो जाने से अब उसका परिहार हो गया । क्योंकि यह 'आस्वादकानां प्रीत्यर्थं केवलं रसयोजनम्' है । अतः नाट्य (यह) जीविकोपार्जन से सम्बद्ध है । यही प्रायश्चित्त भी है जिसको भूतल पर अप्सराओं को (अर्थात् स्त्रियों को) सिखला कर प्रायश्चित्त करना है । स्त्रियों के द्वारा इस प्रयोग के अनुष्ठान से वेदमार्गत्याग की आशंका भी नहीं है तथा शास्त्रप्रमाद भी कभी नहीं होगा ।

५२–५७. अब जिस कारण नाट्यशास्त्र उपादेय हुआ उस उपदेश के मूल तथा भूलोकावतरण रूप नाट्य के पुराकालिक इतिहास को दिखलाते हुए गढ़रूप वाले उपदेशयोग्यतत्व को सारभूत मानकर कथायोग्यरूप में दिखलाते हैं—**'कस्यचित् त्वथ'** इत्यादि से । नहुष ने देवगण से कहा कि ऐसा

'नाटच' भूतल पर भी प्रस्तुत हो। अर्थात् अप्सरागण तथा अन्य सभी भूतल पर अवतरित हों तथा वहाँ 'नाटच' प्रस्तुत करें।

६०–६१. जो नाटच पितामह ब्रह्मा के लोक में उपदिष्ट तथा भरतादि के प्रयोग के द्वारा अवस्थित था वही ब्रह्मप्रोक्त 'नाटच' हमारे पितामह पुरुरवा के गृह के अन्तःपुर प्रदेश में उर्वशी ने प्रस्तुत किया भी था अतः उस समय यह 'नाटच' गृह में ही अवतीर्ण रहा। उस उर्वशी के स्वर्ग में चले जानेपर तथा महाराज पुरुरवा के इसी शोक में विपन्न हो जाने से इस नाटच का भी प्राणसंकट उपस्थित हुआ।

६८–७०. तत्वतः ब्रह्मा के ही द्वारा नाटच के प्रोक्त होने से 'नाटच स्वरूप' निश्चित तथा ये विधियाँ अलंघ्य होकर अनिवार्यतः अनुष्ठेय हैं। जो हमने लोक तथा अनुमानादि से सिद्ध होने के कारण अनुक्त या छोड़ दिया है उसे कोहल कहेंगे। विधि में केवल उपदेश-मात्र-फलत्व ही नहीं मनोरंजन भी है अतः इसे भी 'क्रीडनीयकहेतुक' कहा गया।

७५–७६. कोहलादिभिः सर्वशास्त्रनिदर्शन—अर्थात् कोहल जिनमें प्रथम तथा मुख्य है; ऐसे नाटच के आचार्यों ने इस शास्त्र को सभी शास्त्रों के निबन्धन, दर्शन से युक्त तथा इतिहास, पुराण एवं अर्थवाद से पूर्ण कार्यों में चित्र पुस्तलेपादि से सम्पन्न तथा गेय नाटचविद्या का प्रणयन किया।

८२. गान्धर्वं चैव—नृत्य तथा नाट्य का जो उपदेश व्याख्यान तथा विवरणादि से अनुशीलन करता है तो उसे शिवसायुज्य मिलता है। यहाँ पाठान्तर है—**'ईश्वरगणेशानां'** अर्थात् शिवसायुज्य या परा सद्गति।

इति आचार्य श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्रि प्रणीत नाट्यशास्त्र के
प्रदीप हिन्दी व्याख्यान की विशेष टिप्पणियाँ पूर्ण हुई
तथा नाट्यशास्त्र ग्रन्थ भी सम्पूर्ण हुआ॥

॥ शिवम्॥



परिशिष्ट २

पद्यार्धानुक्रमिका

म

श

ह

सन्दर्भ एवं आधारग्रन्थ-सूची

अभिनयदर्पण । नन्दिकेश्वर । म० मो० घोष—कलकत्ता

अभिनवभारती—अभिनवगुप्तप्रणीत नाट्यशास्त्रव्याख्या (भाग-१-४), बड़ौदा ।

अर्थशास्त्रम् । कौटिलीयम् । वाराणसी ।

कल्पलताविवेक । सम्पा० नागर तथा शास्त्री—अहमदाबाद ।

काव्यादर्श । दण्डी । चौखम्भा—वाराणसी ।

काव्यालंकारसूत्रम् । वामन । चौखम्बा—वाराणसी ।

काव्यालङ्कारसूत्रम् । भामह । चौखम्भा वाराणसी ।

काव्यालङ्कारसूत्रम् । उद्भट । बड़ौदा तथा बम्बई ।

काव्यप्रकाश । मम्मट । वामनाचार्यटीका—पूना ।

काव्येन्दुप्रकाश । कामराजदीक्षित । चौखम्भा वाराणसी ।

दशरूपक । धनञ्जय । धनिककृत अवलोकादि सहित—अड्यार ।

नाटकचन्द्रिका । रूपगोस्वामी प्रभुपाद । चौखम्बा—वाराणसी ।

नाटकलक्षणरत्नकोश । सागरनन्दी । चौखम्बा—वाराणसी ।

नाट्यशास्त्रम् । भरत । ग्रासे संस्करण (अध्ययाय १—१४ तक) पेरिस ।

नाट्यशास्त्रम् । काव्यमाला संस्करण । बम्बई ।

नाट्यशास्त्रम् । काशी सं० सी० संस्करण । चौखम्भा वाराणसी

नाट्यशास्त्रम् । अभिनवभारती सहित—१-४ भाग । बड़ौदा

नाट्यशास्त्रम् । अध्याय २८ से २९ तक । ममो० घोष, कलकत्ता ।

नाट्यशास्त्रम् । म० मो० घोष—अंग्रेजी अनुवाद—१-२ भाग ।

नाट्यशास्त्र । तेलगु अनुवाद पी. एस. आर. अप्पाराव । हैदराबाद ।

नाट्यसर्वस्व दीपिका । हस्त० ग्रन्थ । पूना ।

नाट्यशास्त्रसंग्रह । मद्रास । भाग १-२ ।

नारदीयशिक्षा । मैसूर ।

वृत्तरत्नकोश । कुम्भ नृप । राज० पुरातत्व ग्रन्थमाला ।

नृत्तरत्नावलि । जायसेनापति । बडौदा ।

नृत्याध्याय । अशोकमल्ल । बडौदा ।

तालदश प्राणदीपिका । गोविन्द कवि । तंजौर ।

पाणिनीय शिक्षा । चौखम्बा, वाराणसी ।

भरतकोश । म० म० रामकृष्ण कवि । भाण्डा० सं० पूना ।

भरतसार । चन्द्रशेखर कवि ।

भरतभाष्य । नान्यदेव नृपति । भाग—१-२ । खैरागढ़ संगी० विश्व०, खैरा ।

भावप्रकाशन । शारदातनय । बडौदा ।

मानसारवास्तुशास्त्र । प्रो० के० पी० आचार्य ।

रसकौमुदी । श्रीकण्ठकवि । बड़ौदा ।

रसार्णवसुधाकर । सिंहभूपाल । त्रिवेन्द्रम् ।

रागतालचिन्तामणि । गोविन्द कवि । मद्रास ।

राजतरङ्गिणी । कल्हण, जोनराज तथा श्रीवर । वाराणसी ।

लक्ष्य संगीत—श्रीभातखण्डे ।

शृङ्गारप्रकाश । भोज । जोश्यार सम्पादित भाग १-४ । मैसौर ।

सरस्वतीकण्ठाभरण भोज । कलकत्ता तथा बम्बई संस्क० ।

साहित्यदर्पण । विश्वनाथ कविराज । कलकत्ता तथा वाराणसी ।

सङ्गीतोपनिषत्सारोद्धार । सुधाकलश । बडौदा ।

सङ्गीतशब्दार्थचन्द्रिका । सत्यनारायण मूर्ति । विजयवाड़ा ।

सङ्गीतमकरन्द । नारद । बडौदा ।

सङ्गीतरत्नाकर । शार्ङ्गदेव । अड्यार—भाग १-४ तक ।

सङ्गीतराज । महाराज कुम्भकर्ण । सं० प्रेमलता शर्मा, का० हि० विश्व० ग्रन्थमाला (भाग प्रथम तथा द्वितीय)

भरत का संगीत सिद्धान्त—कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पति ।

अनामिका—(कलकत्ता) नाट्यशास्त्र विशेषांक ।

अंग्रेजी ग्रन्थ (समालोचनात्मक)

1. Ancient Indian theatre—D. R. Mankad
2. Bharat's Natya and Costumes—G. S. Ghurye
3. Bibliography to Sanskrit Darma—Schuler
4. Classical Sansrikt Literature—A. B. Keith
5. Classical Indian Dance in Literature and Arts—Dr. Kapila Vatsyayana.
6. Comparative Aesthetics Val. I (Indian) Dr. K. C. Pandey.
7. Contribution to the History of the Indian Drama—Dr. M. M. Ghosh.
8. Dictionary of Hindu Archetecture—P. K. Acharya.
9. Drama in Sanskrit Literature—Adyarangacharya.
10. An Introduction to Bharat's Natyashastra—Adyaragachary.
11. History of Indian Litrature Vols. I to III—A. M. Winternitz.
12. History of Classical Sanskrit Literature—Krishnamachariar : Delhi.
13. History of Classical Sanskrit Literature—S. K. De and S. N. Dasgupta.
14. History of Sanskrit Literaure—A. B. Keith.
15. History of Sanskrit Poetics—Dr. P. V. Kane
16. History of Sanskrit Poetics—Dr. S. K. De.
17. Indian Theatre—C. B. Gupta.
18. The Laws and Practice of Sanskrit Drama—Dr. S. N. Shastri.
19. The Numbre of Rasas—Dr. V. Raghavan.
20. Theatre of the Hindus—H. H. Wilson, Raghavan Pisharoti, Vidya Bhushan.
21. The Types of Sanskrit Darma—D. R. Mankad.

22. Abhinave Gupta—An Historical and Philosophical Study—Dr. K. C. Pandey.

23. Sanskait Drama—Its origin and decline—Dr. Indushekhar.

24. Sanskrit Darma and Dramaturgy—Dr. Vishvanath Bhattacharya.

